मेरी जीवन-यात्रा

[२]

"बेड़ेकी तरह पार उतरनेकेलिये मैंने विचारोंको स्वीकार किया, न कि सिरपर उठाये-उठाये फिरनेकेलिये।"

राहुल सांकृत्यायन

किताब महल
इलाहाबाद
१९५०

प्रकाशक
किताब महल
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण (१९५०) २०००

मुद्रक
कृष्ण प्रसाद दर
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

प्राक्कथन

मैंने जीवन-यात्राके द्वितीय भागको भी पहिलेके साथ ही (१९४४ अक्तूबरमें) लिखकर दे दिया था, किंतु कई कारणोंसे वह अब पाठकोंके हाथमें जा रहा है। इस भागके लिखनेमें श्री सत्यनारायण द्विवेदीकी कलमका सहयोग प्राप्त था, जिसके लिये उन्हें अनेक धन्यवाद हैं।

जीवन-यात्राके इस भागके बाद मेरी जीवन-यात्रा चलती ही जा रही है, और अब तीसरे भागको लिखनेकी अवश्यकता है, किंतु उसके लिये साठवें वर्षके पूरे होने (९ अप्रेल १९५३)की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। वैसे मेरी लेखनी विश्राम नहीं ले रही है, जिसकी कि पाठकोंको कोई शिकायत हो सके।

इस भागके शीर्षकोंमें कितने हो स्थानोंपर गड़बड़ी हो गई है, इसलिये अच्छा होगा, यदि पाठक पढनेसे पहिले उन्हें विषय-सूचीके अनुसार ठीक कर लें।

नैनीताल
२७-४-५०

राहुल सांकृत्यायन

विषय-सूची

पंचम खंड

पंचम खंड

पर्यपण, पर्यटन

१

लंकाकेलिये प्रस्थान

धूपनाथ अब हमारे और नजदीक हो गये थे। उनके आग्रहके अनुसार सुल्तानगंज-जहाँपर वह उस वक्त बनैलीके राजकुमारके खजांची थे—होते हुए मुझे कलकत्ता जाना था। धूपनाथ और उनके भाई देवनारायण सिंह तहसीलदार भी बड़े स्नेही और उदार जीव थे। अभी तक ईश्वरपरसे मेरा विश्वास पूरी तौरसे उठा न था, किन्तु नास्तिकताकी बातें—खासकर समाजसे विद्रोहके बारेमें—मैं खूब करने लगा था। बूढ़े देवनारायण बाबूको मैंने देखा, कि वह इन बातोंमें अपनी शिक्षा और समयसे आगे बढ़े हुए थे। सबसे बड़ी बात उनमें यह थी, कि वह अपने चचेरे और सगे भाइयोंके सारे परिवारको संयुक्त, स्नेहबद्ध देखना चाहते थे, और इसकेलिए अपने मनको काफ़ी दबा रखनेमें समर्थ थे। धूपनाथ अब भी वैराग्य और वेदान्तके फंदेसे निकले न थे, किन्तु एक-एक करके मुझे उनकी सरलहृदयता, उदारता, समझ और ज्यादा प्रकट होती जा रही थी। अब मुझे अल्फी उतारकर पंडित वेषमें जाना था, जिसकेलिए उन्होंने भागलपुरी चद्दर और एकाध कपड़े ला दिये। उन्होंने इतने पैसोंका इन्तिजाम कर दिया, जिससे मैं तीसरे दर्जेमें लंका पहुँच सकूँ।

८ मईके सवेरे मैंने सुल्तानगंजसे हवड़ाकी गाड़ी पकड़ी। रास्तेमें बोलपुर स्टेशनपर उतर पड़ा। शान्ति-निकेतनके देखनेकी बड़ी इच्छा थी, और भारतसे बाहर जानेसे पहिले उसे देख लेना चाहता था। लेकिन, दुर्भाग्यसे उस वक्त वहाँ न कवीन्द्र रवीन्द्र थे, न कोई और प्रमुख अध्यापक। मईका महीना शान्ति-निकेतनकी शान्तिको भी भंग कर देता है, और समर्थ लोग पहाड़ोंपर भागनेकेलिए उतावले हो जाते हैं।

कलकत्तामें महाबोधि सोसाइटीमें (९-११ मई) ठहरा। शायद अनागरिक धर्मपाल उस वक्त युरोप गये हुए थे। ब्रह्मचारी देवप्रियसे बोधगया कमेटीके सम्बन्धसे

काफ़ी परिचय हो गया था, और उन्होंने मेरे निर्णयको बहुत पसन्द किया। भिक्षु श्रीनिवासने मेरे बारेमें भिक्षु नाराविल धर्मरत्नको लिख दिया था। वह विद्यालङ्कारके छात्र थे, और भारतकेलिए प्रचारक बननेकी तैयारी कर रहे थे। उनके विहारने उनसे भी किसी संस्कृतपंडितके भेजनेकेलिए आग्रह किया था। नारावितजीने मुझसे वेतनके बारेमें पूछा। मैंने कहा—मुझे वेतनकी आवश्यकता नहीं, खाना-कपड़ा और पुस्तकें मिलनी चाहिएँ, और सबसे जरूरी बात—पाली पढ़नेका अच्छा प्रबन्ध। इसके बारेमें उन्होंने पूरा विश्वास दिलाया। उसी वक्त विद्यालङ्कारको उन्होंने तार दिया, और दूसरे या तीसरे दिन सौ रुपये मार्गव्ययकेलिए आ गये।

श्वेत धोती, कुर्त्ता, चादरके विनीत वेषमें कुछ पुस्तकोंके साथ मैं हवड़ा स्टेशनसे मद्रास-मेलकी ड्योढ़ा गाड़ीमें सवार हुआ। खड्गपुरसे आगे दो-दो बार इस रास्तेसे रेलका सफ़र कर चुका था, इसलिए बाहरके दृश्योंमें मेरेलिए कोई नवीनता नहीं थी। रास्तेकी सिर्फ़ एक घटना याद है। मैं रेस्तोराँ-कार (भोजन-गाड़ी) में खाना खाने गया। खानसामाँने खानेकी चीज़ोंके साथ छुरी-काँटा रख दिया। कभी उनका इस्तेमाल तो किया न था, न नजदीकसे किसीको इस्तेमाल करते देखा था, इसलिए खानेमें सहायक होनेकी जगह वह बाधक बनने लगे। खानसामाँसे यह देखा न गया, वह बोल उठा—'रख दीजिए छुरी-काँटेको, हाथसे खाइए।' मैं शरमा गया।

मद्रासमें (१४ मई) आनन्दभवन होटलमें ठहरनेका इरादा था, किन्तु रिकशावालेने एक दूसरे ही हिन्दुस्तानी होटलमें पहुँचा दिया। धनुषकोडीको डाक बारह घंटे बाद रातको जानेवाली थी, इसलिए मैंने घूमकर शहरके परिचित स्थानोंकी स्मृति जागृत करनी चाही।

नारविलजीने बतला दिया था, कि मद्रासमे कोलम्बोका दूसरे दर्जेका टिकट ले लीजिएगा, नहीं तो मंडपम् (रामेश्वरम्) में कोरंटीनमें हफ्तेभर पड़ा रहना होगा। मैं दूसरे दर्जेका टिकट ले मेलपर सवार हुआ। तब उस वक्त (१९१३ ई०) की वह घटना याद आई, जब कि सिर्फ सैदापटका टिकट ले मैं वाड़के वकील साहेबके साथ इसी मेलपर जबर्दस्ती चढ़ाया गया, और उतार देनेपर बहुत प्रसन्न हुआ था। परसामें रहते वक्त मैं बराबर दूसरे दर्जेमें ही सफ़र करता था, इसलिए दूसरे दर्जेकी गाड़ी मेरेलिए नई चीज न थी, तो भी उसके कमोडका इस्तेमाल मैं अबतक न जानता था।

मंडपम्में सीलोन सर्कारके कर्मचारियोंने आकर टिकट देखा, कुछ पूछा-पेरा की, डाक्टरने आकर नब्ज देखी। धनुषकोडीसे स्टीमरपर सवार हुआ। १४ साल पहिले धनुषकोडी देखी थी। लंकासे लौटे कुछ पंजाबी सिक्खोंने रामेश्वरमें मेरे सामने ही कानपुरकी सेठानीको गोमराज, और दो-एक और तरहके रत्न-खंडों-को दिखलाया था। उस वक्त लंका एक अद्भुतसा द्वीप मालूम होता था। आज मैं उसके क़रीब था और वह उतना अद्भुत नहीं मालूम होता था, तो भी मेरे हृदयमें एक प्रकारकी उत्सुकता थी। जहाजमें सामुद्रिक बीमारी, मिचली और कै की बात मैं सुन चुका था, इसलिए मैंने मद्राससे काफ़ी कागज़ी नीबू ले लिये थे। लेकिन आध घंटा चलनेपर भी जब वह आकर्षक और भयद अनुभव सामने नहीं आया, तो लेमोनेडकी दो-तीन बोतलें ऐसे ही पीता रहा। समुद्रयात्रा सिर्फ़ दो घंटेकी रही होगी, जिसमें भी कोई किनारा न दिखाई देता हो, ऐसा समय कुछ मिनटों हीका था।

१५ मईको अँधेरा हो गया था, जब कि हमारा स्टीमर तलैमन्नार बंदरगाहपर पहुँचा। मैंने स्टीमर हीपर कुछ सिक्कोंको सीलोनके रुपयेवाले नोटों और सेंटोंमें बदल लिया था, किन्तु अभी उनके मूल्यसे अभ्यस्त नहीं हुआ था। स्टीमरके पास ही कोलम्बोकी ट्रेन खड़ी थी। अधिकारियोंने देखभाल की, और मैं दूसरे दर्जेकी एक गाड़ीमें सवार हो सो रहा। लंकाकी प्राकृतिक छवि, उसके जलवायुके बारेमें श्रीनारावेल धर्मरत्न और भिक्षु श्रीनिवाससे बहुत सुन चुका था, उसे देखनेकेलिए बड़ा लालायित था, किन्तु उस रातको देखनेका सुभीता कहाँ था?

सवेरा होते मैं उठ बैठा। बाहर पाँतीसे लगे नारियलोंके साफ़-सुथरे बगीचे एकके बाद एक चले आते थे। बीच-बीचमें फूस या विलायती खपड़ैलसे छाये मकान थे। मकानोंके सामने अब भी फूल-पत्तों और कागजकी लालटेनोंकी सजावट थी। लोगोंने बतलाया—वैशाख पूर्णिमाकेलिए यह सजावट की गई है। भगवान् बुद्धके जन्म, बुद्धत्व-प्राप्ति और निर्वाणका दिन होनेसे यह बौद्ध लोगोंका बहुत पुनीत दिवस है। इतने दिनोंसे सुनते आते बुद्धके नाममें अब एक विचित्र प्रकारका आकर्षण, एक अद्भुत माधुर्य, एक विशेष आत्मीयता मालूम होती थी।

१६ मई—नारावेलजीने मरदाना स्टेशनसे उतरकर फिर एक स्टेशन पीछे केलनिया आनेको बतलाया था। उन्होंने मेरे रवाना होनेके बारेमें तार भी दे दिया था, और कोई आदमी मरदाना गया भी था, किन्तु मुझसे मुलाक़ात न हुई। दूसरी ट्रेनसे केलनिया उतरकर मैंने विद्यालंकार विहारके बारेमें पूछा, और जरासी दिक़्क़तके साथ मैं पक्की सड़कसे उस रास्तेकी ओर बढ़ा, जो विहारके भीतर जाता

था। चारों तरफ़ हरे-हरे नारियल तथा दूसरे दरख्त, और पानीसे भरे हुए खेतों विद्यालयको द्वीपके रूपमें परिणत करनेका वह नज़ारा अनिर्वचनीय और चिरस्म णीय रहा।

मैं धोती, चादरके उत्तर-भारतीय वेषमें था, इसलिए तमिल पोशाकसे भि होनेके कारण विहारके साधुओंको यह समझ जानेमें मुश्किल नहीं हुई, कि मा "दम्बदिउ ब्राह्मण पंडितुमा' (जम्बूद्वीपीय ब्राह्मण पंडितजी) हैं। दाहिनी ओ एक दो-महला आवास, बाईं ओर 'धर्मशाला' (व्याख्यानशाला) तथा घंटा-मीनार छोड़ते जबतक मैं पश्चिमके बँगलेमें पहुँचूँ, तबतक मेरे आनेकी खबर विहारके प्रधा लुनुपोकुनी श्रीधर्मानन्द नायक-महास्थविरके पास पहुँच गई, और कितने ही अध्य पक और विद्यार्थी भिक्षु भी वहाँ जमा हो गये। मेरे बैठनेकेलिए एक छोटी-स 'पाकेट' कुर्सीनुमा मचिया रख दी गई।

मैंने महास्थविरको विनम्रभावसे प्रणाम किया। उन्होंने संस्कृतमें मार्ग कुशल-प्रसन्नताके बारेमें पूछा। पहिले ही दर्शनके वक्त महास्थविरके ओठोंत परिमीमित हास, आँखोंमें स्नेहकी चमक और मधुर भाषणने मेरे दिलसे स्थानव अपरिचितताको दूर कर दिया। अभी मैंने न मुँह धोया था, और न नाश्ता कि था, पहिले उसकेलिए मुझे छुट्टी दी गई। उत्तर ओरकी गृहपंक्तिमें पश्चिम सिरेव विशाल हवादार कमरा मेरेलिए पहिले हीसे तैयार रखा गया था। वहाँ साफ़-सुथ वार्निश किये गये मेज, कुर्सियाँ, एक आलमारी तथा नई उजली बारीक मसहरीं साथ पलंग रखी हुई थी। खानेकेलिए मैंने पावरोटी, मक्खन, दूध और चीनीं स्वीकृति दी और बतला दिया, कि मैं निरामिष भोजन पसंद करता हूँ—अभी मांसा हारका पक्षपाती मैं बन नहीं पाया था।

यहाँके अध्यापकों, विद्यार्थियों, उनके निवासोंको देखकर मैं जब भारतके साधु सन्यासियोंसे तुलना करता, तो मुझे जमीन-आसमानका अन्तर मालूम होता था। इनकी चेष्टायें ज्यादा संयत थीं, व्यवहार अधिक संस्कृत, वेषभूषा बहुत परिष्कृ घर और उसके सामान स्वच्छ तथा वाकायदगीके साथ रखे हुए थे। अपने कमरें सामानको देखकर तो मुझे ख्याल हुआ, कि एक आगन्तुक परदेशी अध्यापकके आराम का ज्यादा ख्याल होना ही चाहिए; किन्तु जब दूसरे भिक्षु विद्यार्थियोंकी कोठरियों को भी देखा, वहाँ भी वही स्वच्छता, वही चमकती वार्निशके काले मेज और कुर्स थी, मेजपर झालरवाली सुन्दर टेबुललैम्प पलंगोंपर सफ़ेद मसहरी टँगी थी, तथ सफ़ेद चादर गिलाफ़से ढके गद्दे तकिये थे; तो पहिले मुझे इसमें शौक़ीनी

बू आई, किन्तु यह समझनेमें बहुत देर न लगी कि शौकीनी भी एक सापेक्ष चीज है। जो एक जगहकी शौकीनी समझी जाती है, वही दूसरी जगह जीवनकी साधारण आवश्यकता हो सकती है। लंकाके साधारण लोगोंकी जीविकाका मान हमारे यहाँसे ऊँचा होनेसे वहाँ इसे शौकीनी नहीं कहा जा सकता था।

विद्यालंकार परिवेण (विहार)में चन्द घंटे ही रहनेके बाद मुझे यह तो मालूम हो गया, कि यहाँ भी मुझे आत्मीयतासे वंचित रहना नहीं पड़ेगा; किन्तु अब आगेके कार्य-क्रमको बनाना था—विद्यार्थी क्या पढ़ना चाहते हैं, और मेरे पाली अध्ययनका काम कैसे चलेगा। विद्यालंकार भिक्षुओंका विद्यालय है, यहाँके अध्यापक सभी भिक्षु हैं; सिवाय चन्द संस्कृत और वैद्यकके विद्यार्थियोंके, जो कि दिनमें कुछ घड़ी पढ़कर चले जाते हैं। १८-२० विद्यार्थी और तीन-चार अध्यापक काव्य, व्याकरण और न्याय पढ़ना चाहते थे। संस्कृत पाली मिला-जुलाकर मुझे भाषाकी दिक्कत नहीं रही, और संस्कृतको मैंने अध्यापनके माध्यमके तौरपर इस्तेमाल किया। संस्कृत पालीपर निर्भर रहनेका एक परिणाम यह हुआ, कि मैं लंकाकी भाषा-सिंहल—को हिन्दीमें नजदीक होनेपर भी नहीं सीख सका।

विहारके प्रारम्भिक श्रेणीसे ऊपरके प्रायः सभी विद्यार्थी और सारे अध्यापक संस्कृत पढ़ते थे। संस्कृत सीखनेका वहाँका तरीका उत्तर भारतके पंडितोंका-सा पुराना था। शुरू हीसे व्याकरण रटानेकी प्रवृत्तिको छोड़कर मैंने ऐसे तरीकेसे पाठ देना तै किया, जिसमें थोड़ा भी परिश्रम और समय लगानेपर विद्यार्थीको अपनी सफलताके प्रति आत्मविश्वास बढ़े। इसकेलिए पढाते हुए मैंने पाँच पुस्तकें बनाईं, जिनमें चार भाषा और व्याकरणसे सम्बन्ध रखती थी, और पाँचवी छन्द-अलंकारकी सम्मिलित पुस्तक थी। पहिली तीन पुस्तकें कई वर्ष पहिले ही सिंहल अक्षरमें सिंहल भाषाके साथ छप भी चुकी हैं। व्याकरण पढ़नेवालोंकेलिए लघु और सिद्धान्त कौमुदीपर मैंने भाषावृत्ति और काशिकाको तर्जीह दी।

लंकामें पहिली बारका १९ मासका निवास गम्भीर अध्ययन-अध्यापनका जीवन था। रात-दिनमें आठ नौ घंटे खाने-सोने-टहलनेमें लगते, बाकी समयमें पाँच घंटे पढ़ाने और आठ-नौ घंटे अपने पढ़नेकेलिए निश्चित थे। सबेरे-सड़के मैं उठ जाता। शौच, मुंह-हाथ धो कूऍपर जा स्नान कर लेता। कमरेके दर्वाजेको भेड़ कुछ मिनट शीर्षासन करता। तबतक पावरोटी, मक्खन, दूध, चीनी और सहिजनका नारियल-खटाईमें बना हुआ झोल आ जाता। मैं कितने ही दिनोंतक इस झोलको बड़े चावसे पीता रहा। उसमें कुछ तलछट बच जाती थी, जो देखनेमें

हल्दीके मोटे चूरेकी तरह मालूम होती, किन्तु खानेमें सुस्वादु। हफ्तों बाद एक दिन मैंने पूछा, तो मालूम हुआ, वह हल्दीका नहीं बल्कि समुद्रकी सूखी चिमड़ी मछली (उम्मलकड)का चूरा है, जो कि मसालेके तौरपर वहाँ इस्तेमाल किया जाता है। निरामिषाहारसे विश्वास पहिले हीसे डिग चुका था, और अब हफ्ते दो हफ्ते उम्मल-कडके टुकड़ोंको खा लेनेपर फिर अपनेको बचपनके प्रिय आहार—जिसे मुहैया करनेमें कंठीबंध वैष्णव नाना-नानी आनाकानी नहीं करते थे—से अपनेको वंचित रखना मुझे निरी मूर्खता जँची।

२

लंकामें उन्नीस मास

(१६ मई १९२७ से १ दिसम्बर १९२८ ई०)

विद्यालंकार विहार लंकामें भिक्षुओंके दो प्रधान केन्द्रोंमेंसे है। विद्यार्थियों और अध्यापकोंकी संख्यामें कोलम्बोका विद्योदय विहार बड़ा था, किन्तु उसका बहुत कुछ श्रेय उसका कोलम्बो शहरमें होना था। विद्यालंकारके संस्थापक श्रीधर्मा-लोक महास्थविर और विद्योदयके संस्थापक श्रीसुमंगल महास्थविर गुरुभाई थे, और दोनों विहारोंकी स्थापना पाली त्रिपिटकके गम्भीर अध्ययनकेलिए एक ही समय हुई। विद्योदयके संस्थापक सुमंगल महास्थविर अपने समयके महान् पंडित थे, किन्तु धर्मालोक महास्थविरके शिष्य श्रीधर्माराम महास्थविर अपने समयकी लंकामें पाली-संस्कृतके सर्वोच्च पंडित थे। श्री धर्मारामके शिष्य विद्यालंकारके वर्तमान प्रधान श्री धर्मानन्द महास्थविरका पाली व्याकरणके पंडितोंमें बहुत ऊँचा स्थान था। विद्यालंकार विद्यालयमें उस समय डेढ़ सौके करीब विद्यार्थी (विद्योदयमें पाँच सौके करीब) पढ़ते थे, जिनमें चालीसके करीब वहीं रहते थे, बाकी आसपासके छोटेछोटे मठों (विहारो) में रहते और पढ़नेकेलिये दोपहर बाद विहारमें चले आते थे। भिक्षुओंकी पढ़ाईकी गति बहुत मंद हुआ करती है। वे समझते हैं, जल्दी क्या है, सारा जीवन तो पढ़नेके लिये है ही। मुझको इसका अफसोस जरूर होता था, कि वह मेरे समयका पूरा उपयोग नहीं ले रहे हैं। तो भी जहाँ तक मेरी पढ़ाईका सम्बन्ध था, महीना बीतते बीतते वह बड़ी द्रुत-गतिसे चल निकली। मैंने पहले सुत्तपिटकके

ग्रन्थोंको शुरू किया। संस्कृतके अत्यन्त सन्निकट होनेसे पाली मेरे लिये आसान थी, और भारतमें रहते मैंने उसे स्वयं पढ़ना भी शुरू किया था। पढ़नेकेलिये मैं अपनी पुस्तकोंको इस्तेमाल करता, और भौगोलिक ऐतिहासिक बातोंपर निशान करके पीछे उन्हें नोटबुकमें उतारता जाता। नायक महास्थविर, आचार्य प्रज्ञासार, आचार्य देवानन्द, आचार्य प्रज्ञालोक हर एकसे डेढ़-डेढ़ दो-दो घंटे लेता, तो भी मेरी तृप्ति न होती। पालीत्रिपिटकमें बुद्धकालीन भारतके समाज, राजनीति, भूगोलका बहुत काफ़ी मसाला है। उन्होंने मेरी ऐतिहासिक भूखको बहुत तेज कर दिया था। पालीटेक्स्ट सोसाइटी (लंदन) के त्रिपिटक संस्करणोंकी विद्वत्तापूर्ण भूमिकाओंने आगमें घी डालनेका काम दिया, और पाली टेक्स्ट सोसाइटी जर्नलके पुराने अंकोंको पढ़नेके लिये मैं मजबूर हुआ। फिर ब्रिटेनकी रायल एसियाटिक सोसाइटी, सीलोन, बंगाल, बंबईकी उसकी शाखाओंके पुराने जर्नलोंका बाकायदा पारायण शुरू हुआ। ब्राह्मी लिपिसे मेरा परिचय हजारीबाग जेलमें हुआ था और यहाँ तो एपीग्राफ़िया इंडिकाकी सारी जिल्दें उलट डाली। छै-सात मास बीतते-बीतते भारतीय संस्कृतिकी गवेषणाओंके सम्बन्धमें मेरा ज्ञान, गुण और परिमाण दोनोंमें इतना हो गया था, कि जब मारबुर्ग (जर्मनी) के प्रोफ़ेसर रुडाल्फ़ ओटो विद्यालंकार विहारमें आये, तो मुझसे बातचीत करके उनको तअज्जुब हुआ, कि मैं कभी किसी विश्वविद्यालयका विद्यार्थी नहीं रहा। वस्तुतः इस सारी योग्यताका श्रेय इन कुछ महीनोंके अध्ययनको नहीं दिया जा सकता। अव्यवस्थित रूपसे छिटफुट पढ़ते रहनेकी मेरी आदत पहिले हीसे थी। डी० ए० वी० कालेजमें पंडित भगवद्दत्तके सम्पर्कमें अन्वेषण-पत्रिकाओंकी ओर नजर कुछ जरूर गई थी, किन्तु पूर्वजोंके ज्ञानकी उपयोगिताका महत्त्व यहीं साफ़ झलकने लगा। जब-तब पढ़े संस्कृतके दर्शन-काव्य ग्रन्थ, घूमते-फिरते वक़्त दृष्टिगोचर हुई भौगोलिक तथा स्थानीय भाषाओंकी विशेषतायें—इन सभी तरहके ज्ञानोंने मस्तिष्क और स्मृतिके भीतर उथल-पुथल करके एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा कर दिया।

ढाई हज़ार वर्ष पहिलेके समाज और समयमें बुद्धके युक्तिपूर्ण सरल और चुभनेवाले वाक्योंका मैं तन्मयताके साथ आस्वाद लेने लगा। त्रिपिटकमें आये मोजिजें और चमत्कार अपनी असम्भवताकेलिए मेरी घृणाके पात्र नहीं, बल्कि, मनोरंजनकी सामग्री थे। मैं समझता था, पच्चीस सौ वर्षोंका प्रभाव उन ग्रन्थोंपर न हो यह हो नहीं सकता। असम्भव बातोंमें कितनी बुद्धने वस्तुतः कहीं, इसका निर्णय आज किया नहीं जा सकता, फिर राखमें छिपे अङ्गारों, या पत्थरोंसे ढँके रत्नकी तरह बीच-बीचमें आते बुद्धके चमत्कारिक वाक्य मेरे मनको बलात् अपनी

श्रोर खींच लेते थे। जब मैंने कालामोंको दिये बुद्धके उपदेश—किसी ग्रन्थ, परम्परा, बुजुर्गका ख्यालकर उसे मत मानो, हमेशा खुद निश्चय करके उसपर आरूढ़ हो—को सुना, तो हठात् दिलने कहा—यहाँ है एक आदमी जिसका सत्यपर अटल विश्वास है, जो मनुष्यकी स्वतन्त्र बुद्धिके महत्त्वको समझता है। जब मैंने मज्झिम-निकाय-में पढ़ा—बेड़ेकी भाँति मैने तुम्हें धर्मका उपदेश किया है, वह पार उतरनेके लिए है, सिरपर ढोये-ढोये फिरनेकेलिए नही; तो मालूम हुआ, जिस चीजको मैं इतने दिनोंसे ढूँढ़ता फिर रहा था, वह मिल गई।

एक तरफ़ आरम्भिक दिनोंमें मेरे मनकी यह दशा थी, दूसरी तरफ़ पढ़ाते वक़्त ईश्वर शब्दका अर्थ विद्यार्थियोंको समझानेमें मैं बहुत कठिनाई अनुभव करने लगा। अब मेरे आर्यसामाजिक और जन्मजात सारे विचार छूट रहे थे। अन्तमें इस सृष्टि-का कर्त्ता भी है, सिर्फ़ इसपर मेरा विश्वास रह गया था। मैं समझता था, ईश्वरका ख्याल मनुष्यमें नैसर्गिक है, और यहाँ मैंने अपने समझदार विद्यार्थियोंको भी देखा, कि वह उससे बिल्कुल कोरे थे। प्रकृतिके विकास, उसकी दैनिक घटनाओंकेलिए जहाँ मैं ईश्वरकी आवश्यकता अनुभव करता था, वहाँ ये लोग उसे स्वाभाविक कहकर छुट्टी पा लेते थे। बौद्ध-धर्म नास्तिक है, अनीश्वरवादी है—इसे मैंने संस्कृत ग्रंथोंमें पढ़ा था, किन्तु वहाँ वह घृणा-प्रदर्शनके लिए खास तौरसे इस्तेमाल किया गया था, जिसका मेरे दिलपर असर होना बहुत पहिले ही से असंभव हो गया था; किन्तु अब तक मुझे यह नहीं मालूम था, कि मुझे बुद्ध और ईश्वरमेंसे एकको चुननेकी चुनौती दी जायेगी। मैंने पहिले पहिल कोशिश की, ईश्वर और बुद्ध दोनोंको साथ ले चलनेकी; किन्तु उसपर पग-पगपर आपत्तियाँ पड़ने लगीं। दो-तीन महीनेके भीतर ही मुझे यह प्रयत्न बेकार मालूम होने लगा। शामके वक़्त मैं एक घंटे केलनियासे तलेमन्नार आनेवाली रेलवे लाईनपर घूमने जाता। मैं अकेला घूमना चाहता, और अक्सर अकेला रहता। उस वक़्त मेरा अन्तर्द्वन्द इतना तीव्र होता, कि बाज वक़्त मुझे डर लगता, कहीं आगे-पीछेसे आनेवाली ट्रेनको देखना न भूल जाऊँ। सौभाग्यसे लाईन दुहरी थी, और ट्रेनको सामने रखकर मैं टहलता था। ईश्वर और बुद्ध साथ नहीं रह सकते, यह साफ़ हो गया, और यह भी स्पष्ट मालूम होने लगा, कि ईश्वर सिर्फ़ काल्पनिक चीज है, बुद्ध यथार्थवक्ता है। तब कई हफ़्तोंतक हृदयमें एक दूसरी बेचैनी पैदा हुई।—मालूम होता था, चिरकालसे चला आता एक भारी अवलम्ब लुप्त हो रहा है। किन्तु मैंने हमेशा बुद्धिको अपना पथप्रदर्शक बनाया था, और कुछ ही समय बाद उन काल्पनिक भ्रान्तियों और भीतियोंका ख्याल आनेसे अपने

भोलेपनपर हँसी आने लगी। जब ५ जनवरी (१९२८ ई०) को ब्रह्मचारी विश्वनाथ आये, तो देखा वह भी उन्हीं मानसिक अवस्थाओंसे गुजर रहे हैं। किन्तु जहाँ उन सारे संघर्षोंसे मुझे अकेले लोहा लेना पड़ा था, वहाँ उनकेलिए मेरा तजर्बा हाजिर था, और वह कम ही समयमें प्रकृतिस्थ हो गये। अब मुझे डार्विनके विकासवादकी सच्चाई मालूम होने लगी, अब मार्क्सवादकी सच्चाई हृदय और मस्तिष्कमें पैवस्ता जान पड़ने लगी।

विद्यालंकार-विहार कांडी जानेवाली सड़कपर कोलम्बो शहरसे दूर है। शहरसे दूर रहना मैं अपने घाटेका नहीं, नफेका सौदा समझता था; लेकिन प्रायः हर रविवारको मैं कोलम्बो जाता, इसका कारण सीलोन-शाखीय रायल एसियाटिक सोसाइटीके पुस्तकालयमें पढ़ने जाने और पीछे कोलम्बोके परिचित भारतीयोंसे मिलते रहनेकी इच्छा थी। बल्कि पुस्तकालयका जाना पीछे अनावश्यक हो गया, जब कि श्री डी० बी० जयतिलककी कृपासे वहाँकी पुस्तकें मेरेलिए विद्यालयमें पहुँचने लगीं। श्री (पीछे 'सर') डी० बी० जयतिलक विद्यालंकारके अधिपति श्रीधर्मारामके शिष्य थे, इसलिए विद्यालयके साथ उनकी बड़ी आत्मीयता थी। उस वक्त वह लंकाके बौद्धोंके सर्वमान्य नेता, तथा सर्कारद्वारा पोषित सिंहल-कोषके प्रधान सम्पादक थे। अभी वह राजनीतिमें उस स्थानपर नहीं पहुँचे थे, जो नये सुधारोंके बाद प्रधान मंत्री हो पिछले दस-ग्यारह वर्षोंमें उनको प्राप्त हुआ। कोलम्बोमें पहिले-पहिल, शायद, पंडित जगतरामसे परिचय हुआ। लंकावाले उत्तर भारतको जम्बूद्वीप और दक्षिण भारतको इंडिया या दमिल कहते हैं। जहाँ जम्बूद्वीपके प्रति उनकी अपार श्रद्धा है, वहाँ दमिल या इंडियाका नाम लेते ही पिछले बाईस सौ वर्षके राजनीतिक संघर्षकी कटु स्मृतियाँ प्रबल हो उनके दिलमें घृणा पैदा कर देती हैं। पंडित जगतराम जम्बूद्वीपके ज्योतिषीके नामसे बहुत ख्याति पा चुके थे। एक रविवारको मैं उनसे मिलने गया। मेरे उत्तर-भारतीय वेषको देखते ही उन्होंने आदरसे बैठाया। लेमोनेडकी बोतल और पान मँगाया—पान यहाँ भी मद्रासकी तरह अलग-अलग चूने लगे पत्ते, और सुपाड़ीके साथ बिना कत्थेके खाया जाता है। उनका गोरा, लम्बा, दीर्घ-वयस्क होनेपर भी स्वस्थ शरीर पंजाबकी झलक दे रहा था। पूछनेपर मालूम हुआ, वे जम्बूके रहनेवाले हैं। उनका जीवन सारा तो मैंने न सुन पाया, किन्तु उसमें असाधारणता जरूर थी। हिन्दीमें वह पढ़भर लेते थे, संस्कृतका ज्ञान नहींके बराबर था, किन्तु आज वह सारे लंकाके सर्वोच्च भविष्यद्वक्ता ज्योतिषी समझे जाते थे। ज्योतिषके माननेमें हर धर्मके लंकावासी एक दूसरेसे होड़ लगाये

हुए हैं। हमारे यहाँ भी ऐसे आदमियोंकी कमी नहीं है, किन्तु सर और बड़े-बड़े खिताबधारियोंकी मोटरें ज्योतिषीजीके घरपर धरना देती फिरें, ऐसा अवसर यहाँ बहुत कम मिलता है। पंडित जगतराम किसी सर्कसमें खेलका काम करते थे, जिसमें कुछ मराठा और दूसरे लोग भी शामिल थे। एक बार उनकी पार्टी लंका आई। उनको कुछ ज्योतिषका ज्ञान था, जिसकेलिए लंकाकी भूमिको बहुत उर्वर देखकर वह वहीं ठहर गये, और अपनी व्यवहार-बुद्धिके कारण एक सफल ज्योतिषी बन गये। उसी समय एक तमिल अब्राह्मण स्त्रीसे उनका प्रेम हो गया। मुझे तो समझना मुश्किल था, कि ऐसा सुन्दर स्वस्थ आदमी उस कुरूपाके प्रेमपाशमें कैसे बद्ध हुआ? किन्तु

'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे गर्दभी ह्यप्सरायते।'

अथवा 'दिल लगने'की बात हो सकती है। उनके चार लड़कोंमें बड़े अंग्रेजी जानते थे, और बापका व्यवसाय करते थे; दूसरा लन्दनका बी० एस्-सी० होकर एडवोकेट बननेकी तैयारी कर रहा था, छोटे दो स्कूलमें पढ़ते थे। शहरमें उनके दो अपने मकान थे, और काफी रुपया जमा था। मुझसे उनकी घनिष्ठता हो गई थी। कोलम्बोमें दो हिन्दी-भाषा-भाषी वैद्य थे—दोनों ही कानपुरके आस-पासके रहनेवाले थे। एक तो महीनेमें पाँच छै सौ रुपये कमा लेता था, किन्तु दूसरेके मारे मकानका किराया देना उसकेलिए मुश्किल था। दूसरे बहुत बूढ़े थे। उनकी एक लड़की अपने देशकी स्त्रीसे थी, जिसे हमारे रावलपिंडीके एक तरुण दोस्त दासने ब्याहा था। यह जहाजकी नौकरी और कराँचीके रेस्तोराँमें काम करते हुए कोलम्बो पहुँचे थे। पहिले वह मदनथियेटरके सिनेमामें रेस्तोराँमें काम करते थे। पीछे फ़ोटोग्राफ़ीकी फेरी करने लगे। उनका आना अक्सर हमारे यहाँ होता था। एक दिन एक बड़े मजेकी बात कह रहे थे। सिंहालियोंकी ज्योतिषकी कमजोरी उन्हें मालूम थी, इसलिए फोटोके सिलसिलेमें घूमते हुए वह ज्योतिषपर भी हाथ-साफ़ करते थे; लेकिन कह रहे थे, अभी मैं उसके पैसेको अपने काममें नहीं लाता। एक दिन एक सिंहाली भद्रपुरुषके बँगलेमें गये। ज्योतिष-संबंधी प्रश्न सामने आनेपर उन्होंने वहीं दूकानके साथ घरके लड़कोंकी संख्या भी गिनकर बतला दी। घरवालोंको अब उनकी भविष्यद्वादितापर क्या सन्देह हो सकता था? मैंने पूछा—तुमने लड़कोंकी संख्या कैसे बतला दी? उसने जवाब दिया—आते वक्त मोटरपर उन्हें खेलते देख लिया था।

कोलम्बोके गर्भिणयोंमें श्री गोविन्दसुन्दर परमार और पंडित रविशंकर गुजराती

बड़े प्रेमी सज्जन थे। दोनों गुजराती वोहरा सेठके यहाँ मुनीम थे। वोहरा लोग मुसलमान हैं, किन्तु उन्हें अपनी गुजराती भाषाका बड़ा अभिमान है। सिंहल, दक्षिण अफ्रीकाके निकट तकमें वोहरा वहीखाता रखना स्वीकार करते हुए वह गुजरातीमें ही अपना हिसाब किताब रखते हैं। इस्लाममें मुझे यदि कोई चीज बहुत बुरी लगती है, तो वह स्थानीय भाषा और संस्कृतिके प्रति अवहेलना और विद्रोहका भाव; और जहाँ यह बात नही रहती, वहाँ उसके ऐतिहासिक महत्त्वका मैं बहुत प्रशंसक हो जाता हूँ। गोविन्द भाईका बराबर आग्रह था, कि कोलम्बो जानेपर दोपहरका खाना उन्हींके यहाँ खाऊँ। विद्यालंकारके पावरोटी-दूध-मक्खन, मिर्चोंके मारे धोकर खाने लायक़ मांस-मछलीके स्थानपर हफ्तेमें एक बार गुजराती खाना—जो हमारे विहार-युक्तप्रान्तके खानेका छोटासा रूपान्तरमात्र है—मुझे क्यों न पसन्द आता। अवसर सवेरे मरदाना स्टेशनपर बुखारी होटलमें मुर्ग़-मुसल्लम और चाय खाता, दोपहरके वक़्त गोविन्द भाई या रविशंकर भाईके यहाँ निरामिष गुजराती भोजन।

दिसम्बर (१९२७ ई०)में कांग्रेस मद्रासमें हुई। राजेन्द्र बाबूका पत्र आ गया था, कि वह कांग्रेसके बाद सीलोन देखना चाहते हैं। मैंने उनको आनेकेलिए लिखा, और दर्शनीय स्थानोंमें ले जाने आदिका इन्तिज़ाम किया। फोर्ट स्टेशनपर १ जनवरी (१९२८)की ट्रेनमें हीरेन्द्रनाथ दत्त और बहुतसे ग्रामीण बंगाली आये। मैंने कोलम्बोके दर्शनीय स्थान, और केलनियाके प्राचीन विहारको दिखलाकर उन्हें मोटर-बससे नूर-एलिया, कांडी, अनुराधपुरकेलिए रवाना कर दिया। ३ जनवरीको राजेन्द्र बाबू सदलबल पहुँचे। कोलम्बोके डक, म्यूजियम, टाउन हाल आदि दिखलाते हुए हैवलाक टाउनमें उस नये विहारको भी दिखलाया, जिसको एक करोड़पती पिताने अपने तरुण पुत्रकी शहादतके स्मारकके तौरपर बनाया था। इस नवजवानको सिंहल जातीयतासे बड़ा प्रेम था। वह वालंटियर सेनामें अफ़सर था। युद्धके समय १९१५ ई०में सिंहल-मुस्लिम झगड़ेको उग्र रूप धारण करते हुए देख, अंग्रेजोंने लंकामें मार्शललॉ घोषित कर दिया, और उस मार्शललाके ऊपर बलि चढ़नेवालोंमें अपने बापका अकेला पुत्र यह तरुण भी था। उसे गोली मार दी गई थी। पिताने उसीके स्मरणमें यह छोटा किन्तु बहुत सुन्दर विहार बनवाया था। मूर्तियों और भित्तिचित्रोंके बनानेमें सिंहलके सर्वश्रेष्ठ कलाकार नियुक्त किये गये थे। सिंहलके बौद्ध मन्दिरोंकी अद्वितीय स्वच्छता यहाँ भी थी। प्रधान द्वारकी एक तरफ़ भीतरकी ओर उस तरुणका रंगीन चित्र था। केलनियाके विहारका दर्शनकर पार्टी

थोड़ी देरकेलिए विद्यालंकार विहारमें भी आई। नारियलोंकी घनी छाया, एकान्त और शान्त स्थानमें उस विहारको देखकर मेरे देशभाई बहुत प्रसन्न हुए।

दूसरे दिन हम लोग एक या दो बसमें नूर-एलियाकेलिए रवाना हुए। नूरएलिया लंकाका शिम्ला छै हजार फीटके ऊपर बसा हुआ है। भूमध्यरेखासे चार ही पाँच डिग्री उत्तर होनेसे यहाँ सिवाय वर्षाकी कमी-बेशीके मौसिम एकसा रहता है। यहाँके पहाड़ोंमें जंगल है, किन्तु देवदारोंकी मनोमोहक सुन्दरता और जाड़ोंका बर्फ यहाँ दिखलाई नहीं पड़ता। दिनभर रास्तेके वन, पर्वत, ग्रामीण कुटियों, बाजारकी दूकानोंको देखते हम शामसे पहिले नूरएलिया (नगर-आलोक) पहुँच गये। एक होटलमें रहनेकेलिए कहनेपर होटलवालेने पहिले इन्कार कर दिया। उसका इन्कार करना बजा था, क्योंकि कलके आये भारतीयोंने नहाने, धोने, पेशाब-पाखानेमें अपनी भारी अज्ञानता और बेपरवाहीका परिचय दिया था। लेकिन जब उसे मालूम हुआ, कि मैं विद्यालंकार विहारका अध्यापक हूँ, और ये सब मेरे साथी हैं, तो उसने जगह दी। और लोग तो कमरोंमें ठहरे, किन्तु पैसेकी कमी और सनातनधर्मिताके कारण कुछ लोग नीचे एक कमरेमें ठहराये गये। खैर, और बातोंमें तो उन्होंने मेरी चेतावनी और भारतकी बदनामीका ख्याल किया, किन्तु एक एम० ए० 'सनातनी' विद्वान्‌ने सड़कके नलकेके ऊपर जा नहानेमें संकोच नहीं किया। उनको यह नहीं समझमें आया, कि पीनेके नलकेके ऊपर शरीरके छींटेको शायद यहाँके लोग बर्दाश्त नहीं करेंगे।

सवेरे हमलोग सीता-एलिया देखने गये। लंका जब रावणका द्वीप है, तो उसकी राजधानी और हरकर लाई सीताके रखनेका भी कोई स्थान होना चाहिए। बाबू मथुराप्रसादने स्थानकी एकान्तता और रमणीयता, पास बहती सघुसरिताकी स्वच्छ धारा और पहाड़ोंमें फूले लाल 'अशोक'के वृक्षोंको देखकर कहा—ठीक, यही जानकी महारानीका अशोकवन है। उन्होंने बड़ी श्रद्धासे अशोकके पत्ते पासमें रख लिये। मैंने पासके पहाड़ोंपर घासके नीचे डेढ़-दो फ़ीट मोटी काली मिट्टीको दिखलाकर कहा—और यह देखिए मारुतिकी लङ्काका दहन। लङ्काके बारेमें पूछने-पर मैंने कहा—रावणकी कहानी सच्चाईके बारेमें मैं कसम खानेकेलिए तैयार नहीं, किन्तु यदि वह कोई है, तो यही है।

उसी दिन हमलोग कांडी चले आये। वहाँके दन्त-मन्दिरका देखना आवश्यक था। दन्तमन्दिर बौद्धोंकेलिए एक पवित्र तीर्थ-स्थान बन गया है। उनका विश्वास है, कि यह भगवान् बुद्धकी असली दाढ़ है। यद्यपि यह भी है, कि पोर्तुगीजोंने असली

दाँतको जला डाला था। यदि यह दाँत उसी दाँतके आकार-प्रकारका है तो कहना पड़ेगा, कि यह भी नक़ली ही दाँत रहा होगा। भला अँगूठेके इतना मोटा क़रीब एक इंचका दाँत कहीं मनुष्यका हो सकता है? लेकिन श्रद्धाके सामने तर्कका क्या बस चल सकता है?

कांडी एक हरा-भरा रमणीय पहाड़ी स्थान है। इसकेलिए "जनु बसन्त ऋतु रही लुभाई" कहा जा सकता है। भूमध्यरेखाके नजदीक होनेसे यहाँ मौसिममें अधिक परिवर्तन नहीं देखा जा सकता और जो मौसिम बारहो महीना रहता है, उसे हम बसन्त ही कह सकते हैं। कांडीमें लंकाके भिक्षुसंघके महानायक रहते हैं। अभी वहाँ युनिर्वासिटी नहीं बनी थी, लेकिन नगर बहुत स्वच्छ और उसका सरोवर अतिसुन्दर था।

कांडी देखनेके बाद हमारी मोटर-बस अनुराधपुरकी तरफ चली। सड़क बहुत अच्छी और हरे-भरे पर्वती भागमेंसे गुजरी। रास्तेमें कहीं-कहीं कोकोके भी बाग़ मिले। उसदिन शामको हम अनुराधपुर पहुँचे।

अनुराधपुर लंकाकी पुरानी राजधानी है। यहीसे लंकाका इतिहास शुरू होता है और बौद्ध धर्मका भी। प्रथम बौद्ध धर्म-प्रचारक अशोकपुत्रने ईसा पूर्व तीसरी सदीमें यही धर्मकी ध्वजा गाड़ी थी। तबसे आजतक बौद्ध धर्मही इस द्वीपका प्रधान धर्म बना है। अनुराधपुर आज न राजधानी है और न उसे छोटा नगर ही कह सकते हैं। नगरका दर्शनीय ध्वंस दूरतक फैला पड़ा है। रत्नमाल्य (रुवण्वलि) चैत्य एक छोटा-मोटासा पहाड़ है। और भी कितने ही ध्वस्तप्राय स्तूप हैं। हम इधर-उधर घूमते हुए बोधिवृक्षके नीचे पहुँचे। वहाँ बिजलीके सैकड़ों दीपक जल रहे थे। अशोकपुत्री भिक्षुणी संघमित्रा बोधगयाके पीपल वृक्षकी एक शाखा लेकर यहाँ आई थी, यही वहऐतिहासिक वृक्ष है—कहते विशेषता मैंने राजेन्द्र बाबूको बतलाई, तो उन्होंने कहा—बोधगयाके पीपलकी यह शाखा है, जिसकेलिए ख़ास तौरसे इंजन रखकर बिजलीकी रोशनीका प्रबंध किया गया है; और वहाँ हमारे यहाँ मूल बोधिवृक्षकी क्या कदर है, यह हम जानते हैं। बोधगयाके मंदिरपर क़ब्ज़ा करके वस्तुतः हम अन्याय कर रहे हैं। मैंने कहा—इसीलिए मैं कह रहा था, बोधगया-के मंदिरको सोलहो आने बौद्धोंके हाथमें दे देना चाहिए।

अनुराधपुरसे ट्रेन पकड़कर राजेन्द्र बाबूका दल तलैमन्नार तथा भारतकेलिए रवाना हो गया। मुझे साथ छूटनेपर कुछ एकान्तता महसूस होने लगी।

कुछ दिनों बाद ७ जनवरीको ब्रह्मचारी विश्वनाथ भी पहुँच गये। एकमासे

डाक्टर कैशियस परेरा और उनके भाई जैसे युरोपीय रंगवाले हालके युरोपीय सन्तानोंके भी सिंहालियोंमें खप जानेमें कोई दिक्कत नहीं हुई। ब्याह-शादीमें ये लोग धर्मका बिल्कुल ख्याल नहीं रखते। पति ईसाई है, और स्त्री बौद्ध—ऐसे उदाहरण हजारों हैं। मुसलमान और तमिल हिन्दूके साथ ब्याह-शादी नहीं होती, किन्तु इसका कारण ज्यादातर सांस्कृतिक और ऐतिहासिक है।

लंकाके उन्नीस मासके निवासमें जब तब घूमनेका भी मुझे मौका मिला था। अनुराधपुरमें पहिले-पहिल मैं मेलेके वक्त गया था। हजारों स्त्री-पुरुष लंकाके कोने-कोनेसे मोटरबसोंमें आये थे और एक खुली जगहमें मोटरें पाँतीसे खड़ी हुई थीं। अनुराधपुरके बारेमें उसी वक्त मैंने "सरस्वती"में एक सचित्र लेख लिखा था।[1]

× × ×

इस यात्रा (१३-१६ जून १९२७)में अनुराधपुरसे हम महिन्तले और त्रिकोमले (लंकाके पूर्वीय तटपर) गये थे। वहाँसे काकवर्ण विहारकी यात्रा बहुत अच्छी रही। जाफना, अनुराधपुर, त्रिकोमले अब भी लंकाके भाग हैं, और किसी वक्त सिंहल लोगोंके पूर्वज भारतमें यहीं आकर बसे थे; किन्तु आज इन भागोंके शहरों और बाजारोंमें अजनबीकी भाँति दो-एक सिंहल स्त्री-पुरुष मिलेंगे, इन अंचलोंमें सिंहाली भाषा समझी तक नहीं जाती। त्रिकोमलेमें हम नाव द्वारा समुद्रकी छोटीसी खाड़ी पार हुए। हवा तेज थी, इसलिए पाल एक बार टूटकर एक ओर लटक गया, जिससे नाव करवट होने लगी थी; खैर कोई दुर्घटना नहीं हुई, नहीं तो उस बड़ी नावपर बहुतसे स्त्री-पुरुष यात्री चढ़े हुए थे। पार तमिल-भाषा-भाषी मुसल्मानोंके गाँव थे। शायद हमें पैदल ही चलना पड़ा था। महावली गंगाको पार करनेपर, याद है, मुझे बहुत भूख लगी थी, उस वक्त किसी सिंहल गृहस्थने ताजा प्याज डालकर टिनकी सोलमन मछली प्रदान की थी। रास्तेमें यात्रियोंके ठहरनेकेलिए कुछ धर्मशालायें थीं, जिनमें चटाइयाँ भी मिल जाती थीं, किन्तु सूखी मछलियोंकी गन्धके मारे मेरी तो नाक फटती थी। काकवर्ण विहार (सेरुवाविल)का स्तूप जंगलमें है। हालमें ही कुछ जमीन साफ की गई थी, किन्तु वह स्तूपके आस ही पास, जंगलमें अब भी वन्यपशुओंका डर था। भिक्षुओंने अपना अस्थायी आवास बना लिया था,) और स्तूपकी मरम्मतका थोड़ा-बहुत काम शुरू हो गया था। अनुराधपुरकी भाँति यदि यहाँ रेल, मोटरका सुभीता होता, तो

---

[1] [illegible]

काकवर्ण विहारमें सिंहल भिक्षुओं और गृहस्थोंकी एक अच्छी खासी बस्ती बन जाती।

दक्षिण-पूरबके कोनेको छोड़कर सिंहल (लंका) द्वीपके प्रायः सारे भागोंमें मुझे जानेका मौका मिला था, मैंने उसकेलिए मौका निकाला था। याद नहीं गालसे तिस्समहाराम और कत्तरगम् एक ही बारमें गया था या दो बारमें। यह दोनों स्थान लंकाके दक्षिण अंचलमें हैं। तिस्समहाराम किसी वक्त अच्छा नगर था, किन्तु यह हजारों वर्ष पहिलेकी बात है, अब आसपास सिंहल लोगोंके गाँव हैं, और पुरातन सरोवरसे सींचे हुए धानके खेत सालके अधिक भागोंमें लहलहाते रहते हैं। कत्तर-गम्में कार्तिकेयका मन्दिर है, अब भी इसके आसपास घोर जंगल है, जिसे कई मील पार होकर वहाँ पहुँचना पड़ता है। मैं रातको एक भिक्षुके साथ जंगलके किनारे-वाले गाँवमें पहुँचा था। लंकाके हर एक बड़े गाँवमें भिक्षु-विहार होना जरूरी है। हमलोग गाँवसे बाहर उसी विहारमें ठहरे। रात अधिक चली जानेसे उस वक्त तो नहीं, किन्तु बड़े तड़के ही कितने ही गृहस्थ तालपत्रपर लिखी जन्मकुंडलियोंको ले जम्बू-द्वीपीय पंडितका नाम सुनकर पहुँचे। खुशक़िस्मतीसे हमलोग उस वक्त तक बैलगाड़ी-पर कत्तरगम्केलिए रवाना हो गये थे। जंगलके रास्तेमें हमारे साथी कहते जा रहे थे, कि यहाँ अब भी जंगली हाथी हैं, और कभी-कभी राहगीरोंपर टूट पड़ते हैं। वह इस तरह बात कर रहे थे, जिससे मालूम होता था हमारी गाड़ी भी अबतबमें उलटना ही चाहती है। कत्तरगम् एक-छोटीसी पहाड़ी नदीके तटपर है। यहाँ कार्तिकेय मन्दिर तथा बौद्धविहारके अतिरिक्त एक हिन्दूमठ और दो-चार और घर हैं। हमलोग किसी मेलेके वक्त गये थे, इसलिए हजारों तमिल हिन्दू स्त्री-पुरुष —अधिकांश चाय-रबरके बगीचोंके कुली—आये हुए थे, और दूकानदारोंने फूसके झोपड़े बना लिये थे। हम बौद्धविहारमें ठहरे थे, किन्तु उत्तर-भारतीय हिन्दू-संन्यासी के बारेमें सुनकर मैं हिन्दूमठमें भी गया। धूनी लगी हुई थी, चिमटा और चिलम रखी थी, मृगछाला या कम्बलपर एक अधेड़ गोसाईं साधु बैठे हुए थे। सीलोनमें गाँजाकी मनाही होनेसे गोष्ठी जम नहीं रही थी। मेरे वेषको देखते ही उन्होंने आसन देकर बैठाया। पूछनेपर मालूम हुआ, उनका जन्मस्थान युक्तप्रान्तमें किसी जगह है, और तीर्थयात्राके सिलसिलेमें रामेश्वर आये थे, यह मठ रामेश्वरके मठकी शाखा है, इसलिए वहाँसे यहाँ भेज दिये गये। गाँजेके अभावके सिवा उन्हें कोई शिकायत न थी। वह अनपढ़से आदमी थे, किन्तु ज्यादा दिन रहते-रहते तमिल और सिंहल भाषाओंको बोल लेते थे। साथमें एक नेपाली योगिनी थी, जो उनकी अपेक्षा कम

उसकी थी। इस घोर जंगलमें जन्मस्थानसे इतनी दूर, अपने प्रिय पदार्थ गाँजे-सुलफ़ेसे वंचित रहनेपर उनके मनको लगानेमें उस योगिनीका हाथ कम न था। सन्तानके कारण मठ गृहस्थका घरना न मालूम होने पावे—बस इस शर्तके साथ योगी-योगिनीका संग क्या बुरा है।

खतरगामके कार्तिकेयकी पूजाकेलिए आए हुये तमिल नरनारी अँधेरा हो जानेपर गलेको अपने-अपने सिरोंपर मिट्टीके बर्तनोंमें आग जलाये हुए, पाँतीसे खड़े थे, और वहाँ श्रद्धासे अर्धजंगली स्वरमें जयकार मना रहे थे। मन्दिरके प्रधान सिंहल बौद्ध हैं, और इस बातको तमिल हिन्दू पसन्द नहीं करते—लेकिन यह सब सिर्फ़ चढ़ावेके बँटवारेको लेकर, नहीं तो, सिंहल लोग विष्णु, विभीषणकी भाँति कार्तिकेयको भी एक बड़ा देवता मानते हैं, और गृहस्थ लोग उनकी पूजा भी अपने ढंगसे करते हैं। यदि भिक्षु पूजा नहीं करते, तो उसका कारण यह है, कि भिक्षुके शिर नवानेसे देवताका—जो कि सभीके सभी गृहस्थ हैं—अनिष्ट हो सकता है, उसका शिरतक गिर सकता है। देवताको आशीर्वाद देनेमें कोई भिक्षु कोताही नहीं करता।

उस पंडितवेषमें भी, जब कि मैं भिक्षु न होनेसे गृहस्थगा समझा जाता था, मेरे व्याख्यानोंकी वहाँ माँग थी, और देशदर्शनका सुभीता देखकर मैं कितनी ही जगह चला जाता था। व्याख्यान मैं संस्कृतमें देता, और मेरे शिष्योंमेंसे कोई सिंहल भाषामें अनुवाद करता जाता। बौद्ध धर्मोपदेश (बण, बण) सिंहलमें खा-पीकर १० या ११ बजे रातको शुरू होते हैं, और कभी-कभी तो वे सवेरे तक चले जाते हैं। व्याख्यान देते वक्त मैं देखता, थोड़ी ही देरमें आधी श्रोतृमण्डली ऊँघने लगती, किन्तु जागनेवालोंके ख्यालसे तो वक्ताको अवश्य अपना व्याख्यान जारी रखना पड़ता। इन सभाओंमें स्त्री-पुरुष—विशेषकर स्त्रियाँ—सजधजकर आती थीं। व्याख्यानके बीचमें बहुत जगह आतिशबाजी छोड़ी जाती। बहुतोंके सो जानेपर भी इसमें शक नहीं सिंहल नरनारी भाषणकी कदर करते हैं, और उसके कारण अपने धर्मके बारेमें काफ़ी जानते हैं।

मद्रासकी भाँति सिंहलमें भी पर्दाका नामतक नहीं है। साधारण श्रेणीकी स्त्रियाँ ग्राम तौरसे सफ़ेद लुंगी, अठारहवीं सदीकी युरोपीय स्त्रियोंवाला ज्वौस (चोली) पहनती हैं। इसके अतिरिक्त यदि उनके पास कुछ रहता है, तो एक छोटीसी रूमाल और छाता। सिर बराबर नंगा रखती हैं, और सँवारकर बाँधे जूड़ेको फूल या रत्नजटित केश-सूचियोंसे सजाती हैं। पिछली यात्राओंमें मैंने अपने सामने साड़ीके रवाजको बढ़ते देखा, और साड़ीमें वह ज्यादा शिष्ट मालूम होती

है, इसमें शक नहीं। विद्यालंकार विहारके बाहर सड़ककी दूसरी तरफ एक गृहस्थ-का घर था, उसमें एक तरुण कन्या रहती थी। मुझे टहलने तथा डाकखानेमें जाते वक्त उधरसे गुजरना पड़ता था। एकाध बार हमारी चार आँखें हुईं, उसके बाद मैं देखने लगा, कि जब भी मैं उधरसे गुजरता, या धर्मोपदेश सुनने या पूजा करने वह विहारमें आती, तो मेरी ओर निस्संकोच हो—हाँ, दूसरोंसे दृष्टि बचाकर—देखती। मेरा हृदय भी उधर आकर्षित हुआ था, क्योंकि वह गोरी और कुछ सुन्दर-सी थी। इसमें भी शक नहीं, कुमारी होनेसे उसके साथ व्याह करनेमें कोई बाधा नहीं हो सकती थी, किन्तु व्याहका नाम आते ही मेरे रोंगटे खड़े हो जाते, मेरे पर कटकर गिरतेसे दिखलाई पड़ते। और कन्या-संसर्गका यह छोड़ दूसरा परिणाम क्या होता? मैंने दृढ़तासे काम लिया, लेकिन साथ ही इस दृढ़तामें मेरा स्वाभाविक संकोच और उस लड़कीकी लज्जाशीलता मुख्यतः सहायक हुई, नहीं तो, उसकी तरफ़से मामला आगे बढ़नेपर मेरेलिए बचना मुश्किल होता। तीन साल बाद मैंने उसी तरुणीको एक बच्चेकी माँ हुई देखा। उसका वह सौन्दर्य न जाने कहाँ उड़ गया था, जिसके कारण कि मैं उस ओर आकर्षित हुआ था। यौवन-सौन्दर्यके अचिर प्रभावके ख्यालने मुझे अपनात्व खोनेमें बड़ी सहायता की है।

आनन्दजी अब मेरे साथ रहते थे, इसलिए अपने निर्णयमें एक और सहृदय व्यक्तिकी सहायता सुलभ थी। मेरे तिब्बत जानेके बारेमें वह भी सहमत थे। अन्य कामोंके साथ-साथ मैंने पुस्तकसे स्वयं तिब्बती भाषा सीखनी शुरू की। १९२८ के उत्तरार्द्धमें कोलम्बोमें मंगलोर जिलेके एक तरुण ब्राह्मण अनन्तराम भट्टसे मुलाकात हुई। वह संस्कृतके अच्छे पंडित थे, लंकामें सारी परीक्षायें लन्दन विश्वविद्यालयकी होती हैं, इसलिए मेट्रिक देनेके ख्यालसे वह यहाँ चले आये थे। मेरे चले जानेपर विद्यार्थियोंके संस्कृताध्ययनमें बाधा होती, इसलिए मैं चाहता था, कि कोई संस्कृतका विद्वान् यहाँ आ जाये। नायकपादने भारतसे किसीको मँगवा देनेकेलिए कहा था, किन्तु उस वक़्त वैसा व्यक्ति कोई नजरपर न आ रहा था। अनन्तरामजीसे पूछनें-पर मालूम हुआ, कि वह स्वावलम्बी हो पढ़ना चाहते हैं, और अभी उन्हें स्थायी काम नहीं मिला। मैंने उन्हें विद्यालंकारमें अध्यापनकेलिए कहा, और वे तो ऐसा कोई काम चाहते ही थे। अनन्तरामजीके मेट्रिक पास करनेमें मैं असहमत था, मैं उनसे कहता था अन्वेषण-सम्बन्धी पुस्तकों-पत्रिकाओंको पढ़ो। कुछ पैसा जमाकर दो वर्षकेलिए जर्मनी चले जाओ, वहाँसे पी० एच्० डी० होकर चले आओगे। क्या ज़रूरत है लन्दन विश्वविद्यालयका मेट्रिक, फिर बी० ए० फ़ेल-पास करते ज़िन्दगीके

उम्रकी थी। इस घोर जंगलमें जन्मस्थानसे इतनी दूर, अपने प्रिय पदार्थ गाँ सुलफ़ेसे वंचित रहनेपर उनके मनको लगानेमें उस योगिनीका हाथ कम न था सन्तानके कारण मठ गृहस्थका घरगा न मालूम होने पावे—बस इस शर्तके स योगी-योगिनीका संग क्या बुरा है।

खत्तरगमके कार्तिकेयकी पूजाकेलिए आए हुये तमिल नरनारी अँधेरा जानेपर रातको अपने-अपने सिरोंपर मिट्टीके बर्त्तनोंमें आग जलाये हुए पाँतीसे थे, और बड़ी श्रद्धासे अर्धजंगली स्वरमें जयकार मना रहे थे। मन्दिरके प्रधान सिंह बौद्ध हैं, और इस बातको तमिल हिन्दू पसन्द नहीं करते—लेकिन यह सब सिर्फ चढ़ावेके बँटवारेको लेकर, नहीं तो, सिंहल लोग विष्णु, विभीषणकी भाँति कार्तिकेय भी एक बड़ा देवता मानते हैं, और गृहस्थ लोग उनकी पूजा भी अपने ढंगसे कर हैं। यदि भिक्षु पूजा नहीं करते, तो उसका कारण यह है, कि भिक्षुके सिर नवाने देवताका—जो कि सभीके सभी गृहस्थ हैं—अनिष्ट हो सकता है, उसका सिरत गिर सकता है। देवताको आशीर्वाद देनेमें कोई भिक्षु कोताही नहीं करता।

उस पंडितवेषमें भी, जब कि मैं भिक्षु न होनेसे गृहस्थसा समझा जाता था, मेरे व्याख्यानोंकी बड़ी माँग थी, और देशदर्शनका सुभीता देखकर मैं कितनी ही जग चला जाता था। व्याख्यान मैं संस्कृतमें देता, और मेरे शिष्योंमेंसे कोई सिंह भाषामें अनुवाद करता जाता। बौद्ध धर्मोपदेश (बण, भण) सिंहलमें प्रायः १० या ११ बजे रातको शुरू होते हैं, और कभी-कभी तो वे सवेरे तक चले जाते हैं व्याख्यान देते वक्त मैं देखता, थोड़ी ही देरमें आधी श्रोतृमंडली ऊँघने लगती, कि जागनेवालोंके ख्यालसे तो वक्ताको अवश्य अपना व्याख्यान जारी रखना पड़ता इन सभाओंमें स्त्री-पुरुष—विशेषकर स्त्रियाँ—सजधजकर आती थीं। व्याख्यान शुरूमें बहुत जगह आतिशबाजी छोड़ी जाती। बहुतोंके सो जानेपर भी इसमें श नहीं सिंहल नरनारी भाषणकी कदर करते हैं, और उसके कारण अपने धर्मके बारेमें काफी जानते हैं।

मद्रासकी भाँति सिंहलमें भी पर्दाका नामतक नहीं है। साधारण श्रेणीकी स्त्रियाँ आम तौरसे सफेद लुंगी, अठारहवीं सदीकी युरोपीय स्त्रियोंकासा ब्लौस (चोली) पहनती हैं। इसके अतिरिक्त यदि उनके पास कुछ रहता है, तो एक छोटीसी रूमाल और छत्ता। सिर बराबर नंगा रखती हैं, और सँवारकर बाँधे जुड़ेको फूल या रत्नजटित केश-सूचियोंसे सजाती हैं। पिछली यात्राओंमें मैंने अपने सामने साड़ीके रवाजको बढ़ते देखा, और साड़ीमें यह ज्यादा विनीत मालूम होतीं

है, इसमें शक नहीं। विद्यालंकार विहारके बाहर सड़ककी दूसरी तरफ एक गृहस्थका घर था, उसमें एक तरुण कन्या रहती थी। मुझे टहलने तथा डाकखानेमें जाते वक़्त उधरसे गुज़रना पड़ता था। एकाध बार हमारी चार आँखें हुईं, उसके बाद मैं देखने लगा, कि जब भी मैं उधरसे गुज़रता, या धर्मोपदेश सुनने या पूजा करने वह विहारमें आती, तो मेरी ओर निस्संकोच हो—हाँ, दूसरोंसे दृष्टि बचाकर—देखती। मेरा हृदय भी उधर आकर्षित हुआ था, क्योंकि वह गोरी और कुछ सुन्दर-सी थी। इसमें भी शक नहीं, कुमारी होनेसे उसके साथ व्याह करनेमें कोई बाधा नहीं हो सकती थी, किन्तु व्याहका नाम आते ही मेरे रोंगटे खड़े हो जाते, मेरे पर कटकर गिरतेसे दिखलाई पड़ते। और कन्या-संसर्गका यह छोड़ दूसरा परिणाम क्या होता? मैंने दृढ़तासे काम लिया, लेकिन साथ ही इस दृढ़तामें मेरा स्वाभाविक संकोच और उस लड़कीकी लज्जाशीलता मुख्यतः सहायक हुई, नहीं तो, उसकी तरफसे मामला आगे बढ़नेपर मेरेलिए बचना मुश्किल होता। तीन साल बाद मैंने उसी तरुणीको एक बच्चेकी माँ हुई देखा। उसका वह सौन्दर्य न जाने कहाँ उड़ गया था, जिसके कारण कि मैं उस ओर आकर्षित हुआ था। यौवन-सौन्दर्यके अचिर प्रभात्वके ख्यालने मुझे अपनात्व खोनेमें बड़ी सहायता की है।

आनन्दजी अब मेरे साथ रहते थे, इसलिए अपने निर्णयमें एक और सहृदय व्यक्तिकी सहायता सुलभ थी। मेरे तिब्बत जानेके बारेमें वह भी सहमत थे। अन्य कामोंके साथ-साथ मैंने पुस्तकसे स्वयं तिब्बती भाषा सीखनी शुरू की। १९२८ के उत्तरार्द्धमें कोलम्बोमें मंगलोर जिलेके एक तरुण ब्राह्मण अनन्तराम भट्टसे मुलाकात हुई। वह संस्कृतके अच्छे पंडित थे, लंकामें सारी परीक्षायें लन्दन विश्वविद्यालयकी होती हैं, इसलिए मेट्रिक देनेके ख्यालसे वह यहाँ चले आये थे। मेरे चले जानेपर विद्यार्थियोंके संस्कृताध्ययनमें बाधा होती, इसलिए मैं चाहता था, कि कोई संस्कृतका विद्वान् यहाँ आ जाये। नायकपादने भारतसे किसीको मँगवा देनेकेलिए कहा था, किन्तु उस वक़्त वैसा व्यक्ति कोई नज़रपर न आ रहा था। अनन्तरामजीसे पूछनेपर मालूम हुआ, कि वह स्वावलम्बी हो पढ़ना चाहते हैं, और अभी उन्हें स्थायी काम नहीं मिला। मैंने उन्हें विद्यालंकारमें अध्यापनकेलिए कहा, और वे तो ऐसा कोई काम चाहते ही थे। अनन्तरामजीके मेट्रिक पास करनेसे मैं असहमत था, मैं उनसे कहता था अन्वेषण-सम्बन्धी पुस्तकों-पत्रिकाओंको पढ़ो। कुछ पैसा जमाकर दो वर्षकेलिए जर्मनी चले जाओ, वहाँसे पी० एच्० डी० होकर चले आओगे। क्या ज़रूरत है लन्दन विश्वविद्यालयका मेट्रिक, फिर बी० ए० फ़ेल-पास करते जिन्दगीके

आठ-दस वर्षोंको वर्बाद करनेमें। किन्तु मैं लंका छोड़ते वक़्ततक उन्हें यह बात समझा देनेमें समर्थ नहीं हुआ था।

प्रस्थान करनेसे पहिले विद्यालयने मुझे (३ सितम्बर १९२८) 'त्रिपिटकाचार्य'की उपाधि प्रदान की।

३

लंकासे प्रस्थान

१ दिसम्बर (१९२८)को मैं भारतकेलिए रवाना हुआ। असलमें यह भारतकेलिए नहीं, तिब्बतकेलिए रवाना होना था। पाली त्रिपिटिक और दूसरी बहुतसी पुस्तकें मैंने लंकामें जमा कर ली थीं, जिनको रेलवेसे पटनाकेलिए रवाना कर दिया। मैं जिस वक़्त लंका आया था, उस वक़्त पालीको सिर्फ़ छूआ भर था, संस्कृतको मैंने अच्छी तरह पढ़ा था, लेकिन पुरातत्त्व, पुरालिपि, और इतिहासकी मौलिक सामग्रीका मेरा अध्ययन नहींके बराबर था। अब इन चीज़ोंका मुझे काफ़ी ज्ञान था। मैंने १९ महीनोंमें सिर्फ़ पाली त्रिपिटकका ही अध्ययन नहीं किया, बल्कि भारत, लंकाकी पुरातत्त्वकी रिपोर्टों, हिन्दुस्तान और विदेशोंकी इतिहास-सम्बन्धी अनुसन्धान-पत्रिकाओंका विधिवत् पारायण किया था। भोट (तिब्बत) भाषाका किताबोंसे थोड़ासा अध्ययन किया था, और भारतीय सर्वे-विभागके नक़्शोंको देखकर यह भी तय कर लिया था, कि नेपालके रास्ते ही मैं तिब्बतके भीतर घुस सकता हूँ। लेकिन नेपाल शिवरात्रिके समय ही जाया जा सकता था, इसलिए मैंने इन तीन महीनोंको भारतके बौद्ध ऐतिहासिक स्थानोंको देखनेमें लगानेका निश्चय किया।

विद्यालंकार विहारके नायक श्री धर्मानन्द महास्थविरसे मैं विदाई ले रहा था, मैंने देखा उनकी आँखें गीली हैं। महास्थविरका स्वभाव बहुत ही सरल और मधुर है, जिससे मैं भी बहुत प्रभावित था। मैं अपने पीछे भिक्षु आनन्द कौसल्यायनको छोड़े जा रहा था।

कोलम्बोसे रेलमें सवार हो मैं तलेमन्नार पहुँचा और वहाँसे जहाज पकड़कर समुद्रकी छोटीसी खाड़ी पार हो धनुषकोडी। किताबोंको ऐसे ही छोड़ जाता, तो कस्टमवाले चार मन पुस्तकोंको देखनेमें न जाने कितनी देर लगाते; इसलिए मैंने उन्हें अपने सामने ही दिखलाकर पटनाकेलिए रवाना करा दिया। उस वक़्त पंडित

जयचन्द्र विद्यालंकार बिहारविद्यापीठमें अध्यापक थे, मुझे विश्वास था कि वह उन्हें सँभाल लें। अब मैं खाली हाथ था। यात्रामें आदमी जितना ही कम सामान रखे, उतना ही अच्छा रहता है। रामेश्वरमें १,२ दिन और मदुरामें भी उतना ही ठहरा। मदुरामें मैं एक उत्तर भारतीय आर्यसमाजी उपदेशकका नाम जानता था, इसलिए उनके पास चला गया। वहाँके विशाल मीनाक्षी मन्दिरको देखना चाहता था। वैसे एक बार १५ साल पहिले भी इस मन्दिरको देख चुका था, किन्तु उस वक्त मेरे पास ऐतिहासिक दिव्यदृष्टि नहीं थी। मन्दिरकी विशालता और उसका प्रस्तर-शिल्प आकर्षक जरूर था, लेकिन वही मूर्त्तियाँ जो कभी मुझे अच्छी मालूम होती थीं, अब भद्दी मालूम हो रही थीं। हाँ, मदुरा (दक्षिण-मथुरा) में मुझे एक बात बहुत नई मालूम हुई। वहाँके साड़ी (रेशमी और सूती) बुननेवाले पटकार तमिल भाषा नहीं, बल्कि उत्तर-भारतीय भाषा बोलते हैं। रंग-रूपमें भी वह उत्तर-भारतके गेहुँए रंगवालोंसे ज्यादा मिलते थे। इनकी संख्या मदुरा शहरमें आधेसे कम नहीं है। यद्यपि ये लोग अपनेको सौराष्ट्र (काठियावाड़) से आया कहते हैं, लेकिन उनकी भाषा कुछ मगही और बँगलाके बीचकी मालूम हुई।

श्रीरंगम्‌में १, २ दिन रहकर पूना पहुँचा। अभिधर्मकोषके खंडित अंशोंको फ्रेंच अनुवादसे पूरा करके उसपर मैंने एक संस्कृत टीका लिखी थी। तिब्बत जानेके-लिए कुछ रुपयोंकी जरूरत थी, समझा था पूनाके किसी प्रकाशकसे इस पुस्तकके लिए कुछ रुपये मिल जायँगे। लेकिन संस्कृत पुस्तकोंके प्रकाशक लेखकोंको रुपया देना कम पसन्द करते हैं। पूनासे मैं कार्लेके गुहाविहारको देखनेकेलिए उतरा। शायद पहिले आया होता, तो उसकी चैत्यशाला, भिन्न-भिन्न कोठरियों और खंभोंपर खुदे दाताओंके नामोंको न समझ पाता, लेकिन अब वह मेरेलिए बहुत कुछ खुली पुस्तक-सी थी। कार्लेको देखकर फिर मैं नासिक गया और वहाँकी गुफाओंके देखनेके बाद एलौरा जानेकेलिए औरंगाबाद उतरा। जिस वक्त स्टेशनसे बाहर हुआ, उसी वक्त पुलिस पीछे पड़ी। नाम, गाँव तो मैंने बतला दिया, लेकिन बाप-दादोंका नाम जब पूछने लगे तो मैंने बतलानेसे इनकार कर दिया। फिर क्या था, पुलिस मुझे पकड़कर वहाँके हकिम तहसीलदारके यहाँ ले चली, कितनी ही देरतक इधर-उधर घुमानेके बाद तहसीलदार साहबके सामने खड़ा किया। मैंने पुलिसकी धींगामुस्तीका विरोध किया, और न जाने क्या सोचकर तहसीलदारने मुस्कराते हुए कहा—नहीं, गलती हुई। लेकिन आजकल मदरासके गवर्नर एलौरा देखनेकेलिए आये हैं, इसीलिए पुलिसको ज्यादा सावधानी रखनी पड़ती है।' पूनासे मुझे किसी महाराष्ट्र सज्जनका

नाम मालूम हो गया था, उनके घर चला गया और जो थोड़ा-बहुत सामान था, उनके पास रखकर एलौराकी मोटर लॉरी पकड़ी।

लॉरीसे जिस वक़्त उतरा, उस वक़्त एक यूरोपीय सज्जनको भी उतरते देखा; लेकिन हम दोनों अपना-अपना रास्ता नापने गये। एलौराका परिदर्शन कई दिनका काम है, वहाँकी तीसों विशाल गुहाएँ, जिनमें बहुतोंको गुहा नहीं महल कहना चाहिए, भारतीय मूर्तिकला, वास्तुकलाके बहुत सुन्दर नमूने हैं। मैं पहिले कैलाश मन्दिरमें घुसा। एक शिखरदार विशाल मन्दिर पहाड़ खोदके निकाला गया है और जिसकी दीवारोंमें हजारों सुन्दर मूर्त्तियाँ हैं। उनमें कहीं रामायणका दृश्य है, और कहीं दूसरे पौराणिक दृश्य। निश्चय ही इस अद्भुत कलाके सामनेसे मैं जल्दी-जल्दी पार नहीं हो सकता था। यूरोपीय सज्जन—जो एक अमेरिकन ईसाई-मिशनके प्रधान व्यक्ति मिस्टर सूथर थे—भी देख रहे थे। उन्होंने मुझसे कुछ पूछा और चन्द ही मिनटोंमें हम दोस्त बन गये। हमने अँधेरा होनेतक गुफाओंको घूम-घूमकर देखा। मिस्टर सूथर अंकोटवाट (कम्बोडिया) के विशाल मंदिरको देखकर आए थे, लेकिन कह रहे थे, कि एलौराके सामने वह कुछ नहीं है। हिन्दू देवी-देवताओंका तो मुझे परिचय था ही, बौद्ध मूर्तियोंमें मैं महायानकी मूर्तियोंसे अभी कम परिचित था, लेकिन और बौद्ध मूर्तियोंको तो जानता था। एलौरा गुफाके पास ही पुलिसवालोंकी चौकी थी, हमने उन्हें कुछ खाना पका देनेके लिए कहा, तो सिपाहियोंने बड़ी खुशीसे, शायद रोटीके साथ अण्डा उबालके दिया था। हम दोनोंने कैलाशके चश्मे पर बैठकर दोपहरका जलपान किया; शामको भी सिपाहियोंने खाना बना दिया, और दो चारपाई भी सोनेकेलिए दे दी। औरंगाबादका तजर्बा बहुत कड़वा था, लेकिन यहाँके सिपाहियोंने बहुत सौजन्य दिखलाया।

दूसरे दिन खुल्दाबादमें औरंगजेबकी कब्र और देवगिरि (दौलताबाद) में यादवोंके गिरि-दुर्ग और वीरान नगरको देखते हम औरंगाबाद चले आए। मिस्टर सूथरको भी अजंता देखना था, वह डाक-बँगलेमें ठहरे हुए थे, मुझे भी उन्होंने साथ ही रहनेका आग्रह किया। सामान लेकर मैं भी डाकबंगले पर चला आया।

दूसरे दिन मोटर-लारीसे फर्दाबादके लिए रवाना हुए। जाड़ोंके दिन थे इसलिए गर्मीकी कोई फिकर नहीं थी, फर्दाबाद डाकबँगलेमें हम लोग ठहरे। सूथर भी जपानी को पेटभर खा सकते थे, इसलिए खानेकी कोई दिक्कत नहीं थी। डाकबँगलेके सिपाहीने मुर्ग-मुसल्लम और अण्डे बनाकर भी हाजिर कर दिए थे। यद्यपि हिन्दुस्तानसे लंकाकेलिए रवाना होनेसे पहिले भी मुझे खाने-पीनेमें छुआछूत-

का ख्याल नहीं था, लेकिन भक्षाभक्ष्य जरूर गाय गया था। लंकाने मेरेलिए ईश्वर-की बची-बचाई टाँग हीको नहीं तोड़ दिया, बल्कि खानेकी भी आज़ादी दे दी थी और साथ ही मनुष्यताके संकीर्ण दायरोंको तोड़ दिया था। दूसरे दिन हम अजंता देखने गये। जिन चित्रों और मूर्त्तियोंको मैंने तसवीरोंमें देखा था, अब वह हमारे सामने थे। अकेले होने पर भी मैं अजन्ता देखने में उतना ही समय लगाता, लेकिन दो रहनेसे हमें देखनेमें बहुत आनन्द आया। वस्तुतः ऐसी यात्रायें अकेली करनेके लिए नहीं हैं। हाँ, यदि हम दोनोंकी इन दृश्योंके प्रति एक समान दिलचस्पी न होती, तो शायद उतना आनन्द न आता। अजन्ता देखकर जब हम डाकबँगलेको लौट रहे थे, तो हमारे आगे आगे दो मूर्तियाँ जा रही थीं—एक था नौजवान हाकिमजादा और दूसरा उसका नौकर। दोनों एक दूसरेसे १५ क़दम आगे-पीछे चल रहे थे। हम दोनों बात करते हुए लौट रहे थे, लेकिन सूथरका ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुए बिना न रहा। उन्होंने मुझसे पूछा—यह दोनों क्यों नहीं साथ-साथ बातचीत करते चल रहे हैं?

मैंने कहा—यह सामन्तयुगके लोग हैं, मालिक नौकरसे कैसे बातचीत करते चल सकता है, तब तो मालिक-नौकर बराबर हो जाएँगे।

सूथरको कुछ ताज्जुब ज़रूर हुआ, लेकिन फिर हम अपनी बातमें लग गये।

फ़र्दापुरसे हमने आगे किसी गाँवतक बैलगाड़ी की और फिर लॉरीसे जलगाँव चले आये।

सूथरको भी साँचीके स्तूप देखने थे, लेकिन, रास्तेमें कुछ काम था या क्या, वह इसी ट्रेनसे नहीं जा सके। मैं साँची उतरा, और घूम-घूमकर वहाँके स्तूपों और उनके तोरणोंपर उत्कीर्ण इक्कीस सौ बरस पुरानी मूर्तियोंको देखा। जब मैं स्टेशन-की ओर लौट रहा था, तब मिस्टर सूथर आते दिखाई पड़े। एक बार फिर मैं उन्हें दिखानेकेलिए गया। यद्यपि साँचीके बाद हम दोनों फिर मिल न सके, सूथर अमेरिका चले गये और मैं दुनियामें कहाँ-कहाँ भटकता रहा; लेकिन वर्षोंतक हम अपने पत्रों द्वारा एक दूसरेसे मिलते रहे।

साँचीके बाद दूसरी मंज़िल थी, कोंच (ज़िला जालौन)। स्वामी ब्रह्मानन्द, पन्नालालजी, श्यामलालजीके साथ इतनी आत्मीयता स्थापित हो गई थी, कि हो नहीं सकता था, मैं उधरसे गुज़रूँ और कोंच न जाऊँ। यद्यपि हमारा स्नेह आर्य-समाजीके नाते हुआ था और मैं अब आर्यसमाजी नहीं था, मेरा एक पैर था बौद्धधर्ममें और दूसरा साम्यवादमें; लेकिन हमारे स्नेहमें कोई अन्तर नहीं था। फिर मैंने

दो-चार दिनतक बुंदेलखंडी भोजन और मधुर भाषाका आनन्द लिया। अकेली यात्रा तो फक्कड़ोंकी ही अच्छी होती है, इसलिए मैंने फिर घूमनाथके दिए अंडीकी कम्बलकी अल्फी और मदरासी पीतलकी ढक्कनदार डोलची हाथमें ली। कानपुरसे छोटी लाइन पकड़कर कन्नौज पहुँचा। शहर पारकर किसी बगीचीमें एक धर्मशालामें ठहरा।

कन्नौज किसी समय हिन्दुस्तानका सबसे बड़ा शहर था। कन्नौजके वैभवको छीनकर १३वी सदीमें दिल्ली आबाद हुई और तबसे कन्नौज उजड़ता ही गया। अब भी उसकी गलियोंमें अतरकी खुशबू आती है, लेकिन मैं जानता था कि, यह अपने लिए नहीं, दूसरोंकेलिए है। शहरके आसपास जितने ऐतिहासिक स्थानोंका पता लग सका, मैं उनकी खाक छानता फिरा। एक जगह मैंने देखा, बुद्धकी खंडित मूर्त्ति किसी देवीके नामसे पूजी जा रही है। पूजनेवाले शायद समझते हैं, कि देवताओंमें स्त्री-पुरुषका भेद नहीं होता। गरीब चमारोंके यहाँसे मुझे कुछ पुराने सिक्के मिले, लेकिन वह मुसलिमकालके पैसे थे। रेल जानेमें देर थी, इसलिए मैं मोटरके अड्डेकी तरफ जा रहा था। रास्तेमें कुछ मुसलमान भद्रजन मिले। मेरी उमर पैंतीस साल-की थी, लेकिन देखनेमें शायद ५, ७ सालका कम लगता, तो भी उस उमरतक तो दाढ़ी काफी बढ़ आती है। मेरे चेहरेपर १०, १२ दिनके बढ़े बाल भले ही हो सकते हैं, लेकिन उन्हें दाढी नही कहा जा सकता था। तो भी मुसलमान भद्रजनोंने न जाने क्यों "अस्सलामलेक, आइए शाहसाहब!" कहकर मुझे बैठनेकेलिए निमंत्रित किया। हो सकता है मेरी काली अलफ़ीने शाहसाहबका रूप दे दिया हो। मुझे लॉरी जल्दी पकड़नी थी, इसलिए उनसे क्षमा माँगते हुए छुट्टी ली। आगे फ़र्रुखाबाद या फ़तेहगढ़में मैंने लॉरी छोड़ी और रेल पकड़ी। मोटा स्टेशनपर रातको चारों ओर खुले मुसाफ़िरखानेमें सोना पड़ा और अलफ़ी जाडेकेलिए काफी नहीं मालूम हुई।

दूसरे दिन संकिसा (संकास्य) गया। संकिसा भी बौद्धोंका एक पवित्र स्थान है। मैंने बौद्धग्रन्थोंमें पढ़ा था, कि कैसे बुद्धको एक बार अपनी माता मायादेवी याद आई। वह सात दिनके भी न हो पाये थे कि मायादेवीका देहान्त हो गया और वह तुषित देवलोकमें जाकर पैदा हुई। देवताओं और देवलोकको आर्यसमाजने मेरेलिए ध्वस्त कर दिया था, इसलिए बुद्धका अनुयायी होते हुए भी मैं इन बच्चोंकी कहानियों-पर विश्वास करनेकेलिए तैयार नहीं था। खैर, कथा यह थी कि बुद्ध अपने धर्मामृत-का पान करानेकेलिए माँके पास देवलोक गये और उपदेश देते हुए वर्षाके तीन मास

वही विताये। फिर मृत्युलोकमें उतरते वक़्त यह यही संकास्यमें उतरे। सीढ़ियोंसे उतरते वक़्त दाहिने-बाएँ ब्रह्मा और इन्द्र उनकी सेवामें चल रहे थे। सम्भव है बुद्धके सभी वर्षावासोंके स्थान आदिका पता भिक्षुओंको था, लेकिन एक वर्षावास उन्होंने किसी अज्ञात स्थानमें बिताया, और उसकेलिए तुषितभवनकी कथा गढ़ी गई। बुद्ध-निर्वाणके सवा दो सौ वर्ष बाद इस कथापर अक्षर विश्वास किया जाता था, तभी तो अशोकने संकास्यमें अपना पाषाणस्तंभ स्थापित किया। उस स्तंभका पता नहीं लगा, लेकिन किसी समय उसके ऊपर जो हाथी शोभा दे रहा था, वह अब भी यहाँ मौजूद है।

संकिसासे मैं फिर स्टेशनको लौटा और फिर्रुखाबाद होते भरवाड़ी (इलाहाबाद) उतरा।

अब मुझे कौशाम्बी जाना था। भरवाड़ीसे पहिले मैं पभोसा जाना चाहता था, क्योंकि यमुनासे उत्तर मैं समझता था कि कोई पहाड़ी नहीं है, लेकिन लंकामें त्रिपटक पढ़ते वक़्त इस पहाड़ीका पता लगा था। पहिले तो मैं इसे गलत समझ रहा था, लेकिन आनन्दजी देख गये थे, इसलिए विश्वास करना ही था। भरवाड़ीसे मैंने इक्केकी सड़कतककेलिए इक्का किया था। जब इक्का छोड़कर सराड़ी(?) गाँवसे बाहर निकल रहा था, तो एक बहुत सीधेसादे मुसलमान भद्रपुरुष मिले, सलाम किया, हाथ मिलाया और शाहजीको "गरीबखाने"पर ले जानेकेलिए बहुत आग्रह करने लगे। शाहजी जो गाँवके भीतर रहते, तो शायद मान भी लेते, लेकिन वह गाँवसे बाहर चले आये थे और साथ ही मजूरीपर दो पथप्रदर्शक लड़कोंको साथ ले लिया था। खैर, वहाँसे छुट्टी ली। आगे चले। मालूम तो था ही नहीं कि पभोसा कितनी दूर है, लड़कोंमें भी एक कन्नी काट गया, और दूसरेको हिचकिचाते देख मैंने उसे लौटा दिया। जबतक दिन था और आदमी मिलते गये, तबतक मैं रास्ता पूछते हुए आगे बढ़ता गया। निश्चय होने लगा कि दिन-दिनमें पभोसा नहीं पहुँच सकता। रास्तेमें एकाध जगह रहनेकी कोशिश की, लेकिन जगह नहीं मिली। नालेतक पहुँचते-पहुँचते अँधेरा हो गया। चोरवत्तीसे कभी-कभी देखकर यह तो मालूम होता था, कि मैं रास्तेपर चल रहा हूँ, लेकिन कहाँका रास्ता, इसका कौन ठिकाना था। काफ़ी अँधेरा हो गया था, और मैं गाँवसे निराश होने लगा। उस वक़्त मुझे बगलमें पोखरेका भीटा दिखाई दिया। वहाँ एक कोई देवीका टूटा-फूटा मन्दिर था। मैंने सोचा, अब रातको यहीं विश्राम किया जाय। लेकिन ज़रा ही देरमें आदमियोंके बोलनेकी आवाज कानमें आई। पासमें ही

कुछ गाड़ीवान ठहरे थे। वहाँ जानेपर उन्होंने पुआल दे दिया, और रातको मैं सो गया।

सवेरे देखा तो गाँव बिल्कुल नजदीक है और जैनधर्मशाला और भी नजदीक है। यमुनामें मुँह-हाथ धोया, शायद स्नान भी किया। धर्मशालेमें गया, तो वहाँ कुछ तीर्थयात्री जैन नर-नारी मिले। उन्होंने खानेकेलिए आग्रह किया, यह तो बड़े उपकारकी बात थी, मैं क्यों न स्वीकार करता। उनके साथ ही पहाड़ीकी जड़में बने जैनमन्दिरमें गया। मन्दिर तो नया है। उसके आँगनमें भी पक्का फ़र्श है। फ़र्शपर जहाँ-तहाँ कुछ नीले-पीले छोटे-छोटे दाग थे। जैनगृहस्थने समझाया कि किसी वक्त यहाँ केसरकी वर्षा हुआ करती थी, अब कलियुगके प्रतापसे यही पीली-पीली चीज आसमानसे पड़ती है। पहाड़में कुछ जैनमूर्तियाँ खुदी थीं। २०.२१ सौ सालका पुराना कोई शिलालेख था, जो कुछ ही साल पहिले चट्टानके टूटनेसे नष्ट हो गया। आस ही पासमें दो पहाड़ियाँ थीं। मैंने दोनोंको घूमकर देखा। बुद्धके वक्त यहाँ कोई प्राकृतिक जलाशय (देवकटसोब्भ) था, किन्तु अब उसका कोई पता नहीं। भोजन और विश्रामके बाद मैं पैदल ही कोसमकेलिए रवाना हुआ, जैनगृहस्थ नावसे चलनेवाले थे, और उन्होंने मुझे भी साथ चलनेके लिए निमंत्रण दिया, लेकिन मैंने पैदल चलना ही अच्छा समझा।

बुद्धके वक्तमें कौशाम्बी भारतकी बहुत बड़ी नगरी थी, यह वत्सदेशके राजा उदयनकी राजधानी थी। उदयनके रँगीले जीवन और उसका प्रद्योत-सुता वासव-दत्ताके साथ प्रेम सहस्राब्दियोंतक कवियोंको शृंगाररसकी प्रेरणा देता रहा। कौशाम्बी सिर्फ़ राजधानी ही नहीं थी, बल्कि व्यापारका एक बड़ा केन्द्र थी। उस समय नदियाँ स्वाभाविक और बहुत सस्ते वणिक-पथका काम देती थीं। कौशाम्बीमें जहाँ मथुरा होते हुए पश्चिमका मार्ग आता था, वहाँ पूर्वमें समुद्रतक रास्ता खुला हुआ था। वर्षामें सम्भव है, सामुद्रिक जहाज़ भी यहाँतक आते हों। यहाँसे एक रास्ता दक्षिणा-पथ (दक्षिण देश) को गया था, जो वही रास्ता है, जिससे आज मानिकपुर, जबलपुर-वाली लाइन जा रही है। लेकिन मगधकी प्रधानताके बाद, जान पड़ता है, कौशाम्बी-को राजधानी बननेका सौभाग्य फिर नहीं प्राप्त हुआ। तो भी मुसलमानोंके आरं-भिक ज़मानेतक छोटी-मोटी मंडी ज़रूर रही थी। आज तो वह उजाड़ है। यद्यपि पुरानी बस्तीके निशान मिट्टीके गढ़की भीटों जैसी दीवालोंसे बहुत दूर-दूरतक मिलते हैं, जहाँ-तहाँ छोटे-छोटे गाँव भी हैं, लेकिन सभी श्रीहीन। गढ़के भीतर अब खेती होती है, लेकिन अब भी वहाँसे पुराने पैसे, मिट्टीके सुन्दर-सुन्दर पुराने खिलौने (गुज-

रिया) मिलते हैं। जहाँ-तहाँ कुछ टूटी-फूटी मूर्तियाँ भी हैं। मैं उस जगह गया, जहाँ अशोक-स्तंभ अब भी खड़ा है। किसी समय पास ही पास दो अशोक-स्तंभ थे। जिनमें एकपर अशोकका शिलालेख था और पीछे समुद्रगुप्तका अभिलेख खुदा। आजकल वह स्तंभ इलाहाबादके क़िलेके भीतर है। बिना सिरवाले स्तंभको देखा और अब आगे चलनेके सिवा कोई काम नहीं था। अबकी अकिलसरायका रास्ता लिया। आज भी अँधेरा होनेका डर लग रहा था। मैं ग्रामोंके बागमेंसे जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाए चला जा रहा था, उसी समय कानोंमें आवाज़ आई—"शाह साहब अस्सलामालेकुम्"। मैंने बग़लकी ओर मुँह करके देखा, तो कोई आदमी बकरियोंके-लिए पत्तियाँ तोड़ रहा था। मैंने भी 'वालेकुमस्सलाम्" किया। मैं आगे बढ़ता जा रहा था, लेकिन मेरे दिलमें ख्याल होता था, क्यों एक ही हफ़्तेमें तीन जगह लोगोंने मुझे शाह साहब समझा। मुझे तो कोई बात नहीं मालूम हो रही थी, लेकिन जान पड़ता है कि वेषमें कोई बात ज़रूर थी।

अकिलसरायमें बाज़ारके भीतर एक पक्का कुआँ था, और पास हीमें मन्दिर। मैंने मन्दिरके बरामदेमें आसन लगाया। मेरे पास पैसे थे, इसलिए किसीकी दया-की ज़रूरत नहीं थी। दो दिन मंज़िल मारता रहा, इसलिए थकावट होनी ही चाहिए, मैं लेटा हुआ था। जब ठाकुरजीकी आरती होने लगी, तो मैं शायद बैठ तो ज़रूर गया था; लेकिन ठाकुरजीसे मुझे क्या लेना-देना था, कि उन्हें हाथ जोड़ता। भक्तोंको बुरा लगा। खैर, रात काटनी थी, उसे किसी तरह काट लिया। दूसरे दिन लॉरीपर चढ़कर मनोरी आया, फिर रेलसे इलाहाबाद। सारनाथ गया और बनारस तो खास करके अभिधर्मकोषके प्रकाशन और हो सके तो कुछ रुपया प्राप्त करनेके ख्यालसे गया। एक प्रकाशकने, पहिले तो यह जानना चाहा कि यह किसी कामकी पुस्तक है भी या नहीं, लेकिन जब मालूम हो गया कि महत्त्वपूर्ण पुस्तक है, तो छपनेके बाद १०, १५ कापी देनेकी बात कही। कह रहे थे—मैं तो इसी तरह पुस्तकें छापा करता हूँ। खैर विद्यापीठमें आचार्य नरेन्द्रदेवसे बात हुई। विद्यापीठने उसे छापना स्वीकार किया और मुझे कुछ रुपये भी मिले। शायद इस प्रबन्धकेलिए मुझे दूसरी बार बनारस आना पड़ा था।

छपरा तो मेरा घर जैसा था, वहाँ जाना ज़रूरी था। पटनामें पुस्तकें आ चुकी थीं। मैं पंडित जयचन्द्रजीके साथ जायसवालजीसे मिलने गया। पहिली बार उनसे १९२५में मेरी मुलाक़ात हुई थी, वह भी बोधगया मन्दिर जाँचकमेटीके मेम्बर थे और मैं भी; इसलिए कमेटीकी रिपोर्ट लिखते वक़्त हमें इकट्ठा होना पड़ा था।

लेकिन शायद उस वातका उन्हें स्मरण भी नही था। जयचन्द्रजीने मेरे बारेमें कुछ कह रखा था, इसलिए अबकी बौद्धसाहित्यके बारेमें कुछ ज्यादा बातचीत हुई। बोधगया, कसया (कुशीनगर), रुम्मिनदेई और सहेट-महेट (जेतवन श्रावस्ती)की फिर यात्रा की, १० वर्ष पहिले मैं एक बुद्धभक्त आर्यसमाजीके तौरपर इन बौद्ध-तीर्थोंमें गया था, अबकी मैं एक बौद्धके रूपमें गया था। उस समय मुझे पता नहीं था, कि बौद्धसाहित्यमें इन स्थानोंका कितना महत्त्व है, और इनके बारेमें वहाँ क्या लिखा है; अब मैं त्रिपिटकाचार्य था। बहुतसे ग्रन्थोंसे इन स्थानोंके बारेमें सामग्री एकत्रित की थी। पुरातत्त्व विभागकी रिपोर्टोंको अच्छी तरह देखा था। निश्चय ही अब इन स्थानोंके देखनेमें ज्यादा लुत्फ आ रहा था। सहेट-महेटसे बलरामपुर आकर मैंने रेल पकड़ी और बीचमें नावसे गडकको पार करके फिर रेलमें नरकटिया गज स्टेशन पहुँचा। मालूम हुआ शिवरात्रि मेलेकेलिए अब भी कुछ देर है। रक्सौल या वीरगंजमें जाकर ठहरनेकी जगह मैंने ख्याल किया कि पास ही सिकारपुरमें विपिन बाबू (विपिनबिहारी वर्मा)का घर है हमलोग असहयोगके जमानेसे कांग्रेसके सहकर्मी थे, इसलिए काफ़ी परिचय था। घरपर जानेपर मालूम हुआ, वह मोतिहारीमें हैं। लेकिन उनके बड़े भाई और छोटे-भाई विभूतिबाबू भी उसी तरह स्वागतके लिए तैयार थे। बड़े-भाईके साथ तो मैं रमपुरवा (पिपरिया) के दोनों अशोकस्तंभोंको देखता, भिखनाठोढ़ीतक गया। भिखनाठोढ़ी नेपालके गजमें है, वहाँसे भी एक रास्ता नेपाल गया है, लेकिन मुझे तो शिवरात्रिवे सीधे रास्तेमें जाना था। मैंने वहाँ थारुओंके गाँव देखे, उनपर एक छोटासा लेख भी लिखा। थारुओंकी आँखोंपर हल्कीसी मगोलछाप होती है, लेकिन आश्चर्य यह है कि चितवनियाँ थारुओंकी बोली आसपासकी बोलीकी अपेक्षा मगहीसे ज्यादा मिलती है। मगही कैसे गंगाको लाँघती हुई यहाँ हिमालयकी तराईमें पहुँच गई?

रक्सौल पहुँचनेपर देखा, कि अब यहाँसे एक छोटी रेल वीरगंज नहीं और आगे अमलेखगंजतक गई है। और वहाँसे भी भीमफेदीतक लॉरी जाती है। पहिले नैपालकी राहदारी (आज्ञापत्र)में भी कुछ दिक़्क़त होती थी, लेकिन अब तो शिव-रात्रिके यात्रियोंको वह स्टेशनपर ही थमा दी जाती थी। मुझे दो-एक और दोस्तोंका इन्तज़ार करना था, क्योंकि वह भी शिवरात्रिमें नेपाल जाना चाहते थे। वह लोग वीरगंजमें आये, लेकिन आगे जानेकेलिए नहीं। मैंने कमसे कम तीन साल तिब्बतमें रहनेका संकल्प किया था, इसलिए उनसे अपनी लम्बी यात्राकेलिए विदाई ली।

अमलेखगंजकेलिए ट्रेन पकड़ी और वहाँसे माल ढोनेवाली खुली लॉरी मिली।

फिर पैदल भीसागढ़ी (भीमफेदी) और चन्द्रागढ़ीके पहाड़ोंको पार किया और नेपाल पहुँच गया। नेपालमें फिर थापाथलीके बैरागी मठमें ठहरा। पशुपति और गुह्येश्वरीके दर्शन किये, लेकिन मैं वहाँ उनके दर्शनकेलिए तो गया नहीं था। महाबौधा बौद्धोंका एक अच्छा तीर्थ है। पहिली यात्रामें मैं वहाँके चीनीलामासे मिला था। वहाँ जानेपर मालूम हुआ कि चीनीलामा तो नहीं रहे, अब उनके दो लड़के हैं। लेकिन यह देखकर बड़ी खुशी हुई कि एक बहुत ही प्रभावशाली लामा—डुक्पालामा अपने ३०, ४० शिष्य-शिष्याओंके साथ यहींपर आजकल ठहरे हुए हैं।

४

नेपालमें अज्ञातवास

लदाखमें मेरे कई परिचित थे, जिनमें हेमिसलामा वहाँके सबसे बड़े मठाधीश ही नहीं थे, बल्कि वह भी उसी डुक्पा सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखते थे, जिससे हमारे यह डुक्पालामा। मेरे पास हेमिसलामाका एक बहुत अच्छा परिचयपत्र था और दो-तीन और चिट्ठियाँ। यद्यपि मैंने पुस्तकसे तिब्बती शब्द बहुतसे सीख लिये थे, पर अभीतक बोलनेका अभ्यास नहीं था। जब मैं डुक्पालामाके शिष्योंसे बात करनेकी कोशिश करने लगा, तो लाहुलके दोनों जवान—रिन्-छेन और उसका साथी मिल गये। दोनों हिन्दी जानते थे। रिन-छेनको साथ लेकर मैं डुक्पालामासे मिला। उन्हें लदाखकी चिट्ठियाँ दिखाईं, और बताया कि मैंने सिंहलमें रहकर त्रिपिटकका अध्ययन किया है, लेकिन बौद्धधर्मके सभी ग्रन्थ सिंहलमें प्राप्य नहीं हैं, इसलिए उनके पढ़नेकेलिए मैं तिब्बत जाना चाहता हूँ। भारतमें बौद्धधर्मका प्रचार करना चाहता हूँ, आप मेरे पुण्यकार्यमें मदद कीजिए। डुक्पालामाने बहुत खुशी जाहिर करते हुए कहा—आप हमारे साथ रहिए, हम यहाँ कुछ दिन और रहने-वाले हैं, फिर स्वयं तिब्बतकी ओर जायँगे, फिर आप खुशीसे चल सकते हैं। मुझे बड़ी खुशी हुई, मैंने तो समझा अब मंजिल मार ली।

थापाथलीसे अपना सामान लेकर चलना कुछ दिक्कतकी बात थी, क्योंकि महन्तजी पूछते, तो क्या जवाब देता कि मैं कहाँ जा रहा हूँ। लेकिन वहाँसे निकलना ही था। सामान भी बहुत ज्यादा नहीं था। एक दिन बहुत तड़के मैं अपना सामान लेकर डुक्पालामाके पास चला आया। रिन्छेनको मैंने कह दिया था, कि शिवरात्रिके

बाद अगर नेपाल सरकारको मालूम हो गया, तो वह मुझे सीधे वीरगंज लौटा देगी, इसलिए मुझे बहुत छिपकर रहना होगा।

महाबौद्धा एक विशाल स्तूप है, जिसकी चारों तरफ एक महले दो महले मकान बने हुए है। मकानोंके नीचे के तले दूकानोंके लिए हैं और कोठों पर तिब्बती तथा दूसरे बौद्धयात्री ठहरते और घरवाले भी रहते हैं। रिन्-छेन्नेने पहले मुझे एक नेपालीकी कोठरीके कोठेपर रखा, लेकिन मुझे डर लगने लगा कि कोई यहाँ पहचान न ले। मैंने अपने लिए भोटिया लोगोंका एक पुराना चोगा (छुपा) और लंबा जूता खरीद लिया। मैंने रिन्-छेन्से जब अपना टर बनवाया, तो उसने उसी कोठेपर रहनेका इंतजाम कर दिया, जिसमें लामाके शिष्य-शिष्यायें रहते थे। यद्यपि मैं अब भोटिया कपड़ेमे था, मूंछ दाढ़ी बनानी भी बन्द कर दी थी, और नहाना धोना छोड़ हाथ और मुह पर मैल जमा करनेमे लगा हुआ था, लेकिन तब भी मुझे डर लगता था, कि कहीं कोई पहिचान न ले कि यह मधेसका आदमी है। चमगादड़की तरह मैं दिनमे घरसे बाहर निकलनेकी कोशिश नही करता था। रातके वक्त भोटिया वेषमें स्तूपकी परिक्रमा कर आना। मुझे इस तरहका जीवन वहाँ एक महीनेसे ज्यादा बिताना पड़ा।

डुक्‌पा लामा आगमजानी सिद्ध है, वह चौबीसो घंटे समाधिमें रहता है, इस तरहकी ख्याति नेपाल-उपत्यकाके सभी बौद्धोंमें थी। एक हफ्ते तक मैंभी ऐसाही समझता था, रात-दिन जब देखो वह आसन मारे बैठे रहते थे। कभी उनकी आखें खुली रहतीं किसीसे बात चीतभी करते, और कभी उनकी आँखें बन्द रहतीं। कभी वह दोपहरको पूजा-भाण्ड मँगा पूजा करने लगते और कभी आधीरातको। नेपालके बौद्ध गृहस्थ अक्सर उनके पास उपहार ले पहुँचा करते थे। खैरियत यही थी कि मुझे बगलके कमरेमें रखा गया था, जहाँ दूसरा कोई नहीं आता था।

"वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता" महायान बौद्धधर्मकी एक बहुत ही पूज्य पोथी है। डुक्‌पालामाके पास वह सारी पोथी उलटे अक्षरोंमें लकड़ीपर खुदी हुई है। लामाके शिष्य-शिष्यायें स्याही लगा हाथके कागजपर उसे दिनभर छापा करते थे। लामा पुस्तकको प्रसाद-रूपमें बाँटा करते थे। दिनभर शिष्य-शिष्यायें स्तूपके पास जाकर छापनेका काम करते रहते, और उनके कमरेमें मैं अकेला बैठा रहता; मेरे पास अँगरेजी द्वारा तिब्बती सीखनेकी पुस्तक थी, मैं उसे पढ़ा करता।

कुछ ही दिनों बाद डुक्‌पालामाकी बहिन, भानजी और ६, ७ बरसके भानजे निम-जिनसे मेरी घनिष्ठता हो गई। लेकिन अभी मैं बहुत कम शब्द बोल समझ

सकता था। हमलोग बीचवाले तल्लेपर थे। सबसे ऊपरके तल्लेपर मृत नोनीलामाकी सुन्दरी लड़की रहा करती थी। वह विवाहित नहीं थी और उसके चाहनेवाले बहुत थे। एक दिन मैं अपने कमरेमें चुपचाप बैठा था, उसी वक्त एक नेपाली तरुण भीतर आ गया, वह पासके आसनपर बैठ गया। मुझसे वह बातें करने लगा। मुझे बहुत भय लगने लगा। याद नहीं उसे क्या जवाब दिया। मैं तो समझता था, कि अब भंडा फूटा और सारा परिश्रम व्यर्थ गया; लेकिन पीछे मालूम हुआ कि वह तरुणीसे मिलनेकी इन्तजारमें यहाँ बैठा है; शायद उस समय तरुणीके पास कोई दूसरा प्रेमी था। जान पड़ता है तरुणीको भी मेरे बारेमें पता लग गया था। मैं जितना ही अपनेको छिपानेकी चिन्ता करता था, मेरे भोटिया साथियोंको उसकी ख़तांश चिन्ता भी नहीं थी। जैसे भोटिया लोगोंकेलिए नेपालमें आने-रहनेकी कोई दिक़्क़त नहीं थी, वैसे ही वे मेरे बारेमें भी समझते थे। मालूम नहीं डुक्पालामा और उनके शिष्योंने न जाने कितनोंसे मेरे बारेमें कहा हो। एक दिन तीसरे तल्लेकी तरुणी मेरे कमरेमें आई। मैं साबुन तो क्या पानीसे भी हाथ-मुँह धोनेकी क़सम खा चुका था, लेकिन मैंने १, २ टिकिया साबुनकी अपने पास रखी थी। तरुणीने आकर साबुनकी टिकिया लेकर यह कहके चल दिया—कि मैं इसे देखूँगी। जब मैं ऊपर साबुन लेने गया, तो उसने बिल्कुल नंगे शब्दोंमें मुझे आकर्षित करना चाहा; लेकिन मेरेलिए वहाँ दूसरा ही आकर्षण था, जिसकेलिए कि मैंने अपनेको जोखिममें डाला था। मैं वहाँसे चुपकेसे नीचे चला आया। उसका दरबार खुला था, इसलिए पुरुषकी कमी थोड़े ही थी कि वह मेरे पीछे पड़ती।

डुक्पालामाकी बहिन और नवतरुणी भानजीके केश दो-दो अंगुलके थे। मैंने समझा था, कि यह भी भिक्षुणी है, लेकिन पीछे पता लगा कि डुग-युल (भूटान) में यह आम रवाज है, स्त्रियाँ वहाँ बाल कटाके रहती हैं। वह मुझे खाना पकाके खिला दिया करती थी, मैंने छोटे लड़के तिन-जिनको बहुत जल्दी अपना दोस्त बना लिया। मुझे इसकी बड़ी जरूरत थी, क्योंकि मैं समझता था कि किताबसे ज्यादा जल्दी वह मुझे भोटिया भाषा सिखा सकता है; तो भी अभी वह सारे दिनका दोस्त नहीं बन सका था, वह समय अभी आगे आनेवाला था।

शामको जब लामाकी शिष्य-शिष्यायें छापनेका काम खतम करके आते, तो उन्हीं दोनों कमरोंमें सोते। वहाँ सोने-लेटनेमें स्त्री-पुरुषका कोई भेद न था, गर्भ न हो जाय तो वहाँ कोई किसी बातकी परवाह भी नहीं करता। शिष्याओंमें कुछ तिब्बतके इलाक़ेकी थीं, कुछ नेपालकी। यद्यपि दोनों ही भोटिया जातिकी थीं तो

ध्यान रक्खा जाता था। मेरे बारेमें मालूम होनेपर, मुझे जरूर विफल मनोरथ हो नीचे चला जाना पड़ता। दसरतनसाहु बड़े धर्मभक्त थे, साथ ही मेरी कठिनाइयोंका उन्हें ख्याल था। उन्होंने किसीको मेरे पास आने नहीं दिया। इस घरमें रहते भी १५, २० दिन हो गए, लेकिन लामा अभी चलनेका नाम नहीं ले रहे थे। लामाके सर्वज्ञ होनेपर तो मुझे कभी विश्वास नहीं हुआ था, लेकिन एक हफ्तेतक उनके शराब पीकर बैठे-बैठे सोनेको मैं समाधि समझता रहा। मैं अब जानता था, कि जबतक पूजा काफ़ी चढ़ती रहेगी, तबतक लामा चलनेका नाम नहीं लेंगे। बागमतीके एक ओर काठमांडो और दूसरी ओर ललितपट्टन दोनों काफी बड़े शहर हैं, वहाँ बौद्धों-की संख्या अधिक है। पूजा-चढ़ावा तो शायद असाढ़तक भी खतम न हो। मुझे पता लगा था, कि लामा यहाँसे सीमान्त इलाक़े एल्मोके गाँवमें जाएँगे। मैंने दसरतनसाहुसे कहा कि मुझे एल्मो पहुँचा दो। काठमांडोसे ४, ५ दिनके रास्तेपर हट जानेसे खतरा कुछ कम रहता। उन्होंने इस बातको स्वीकार किया।

देशके ढंगके कपड़े पहनकर तो चलनेका ख्याल ही नहीं हो सकता था। लम्बे क़द और मुखमुद्रापर मोटिया कपड़ेमें छिप जानेका मुझे बहुत कम विश्वास था, इसलिए मैंने नेपाली पाजामा, बगलबंदी और फुन्दीदार काली टोपी पहिनी, आँखोंको छिपानेकेलिए काला चश्मा भी ले लिया। हम दोनों एक दिन सवेरे चल पड़े। दसरतनसाहुने कपड़ेका एक नया बूट लाके दे दिया। एक-डेढ़ मील जाते-जाते उसने पैर काट खाया। अब चलना बहुत मुश्किल हो गया, लेकिन चलनेके सिवा कोई चारा न था। हम सुन्दरी जलकी ओर गए, जहाँसे एक पाइप काठ-मांडोको आता था। मैंने यहाँ ईंटोंको उन्हीं नरम कोयलेसे पकाए जाते देखा, जिनको छै बरस पहिले लोग प्राकृतिक खाद समझते थे। और जब मैंने एक टुकडे-को आगमें जलाके एक राजवंशी तरुणको दिखलाया था, तो उसे आश्चर्य हुआ था। नेपाल प्रकृतिकी तरफसे बहुत धनिक देश बनाया गया है, लेकिन वहाँके शासनके ढाँचेने उसे ऐसा बना रक्खा है, कि वह धरतीकी देनका शतांश भी इस्तेमाल कर सकेगा, इसमें सन्देह है। उद्योग-धन्धेको बढ़ानेकी ओर नेपालके प्रभुओंका बिल-कुल ध्यान नहीं है, यह उनके खतरेकी चीज होगी, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन सबसे बड़ी खतरेकी चीज तो हिन्दुस्तान है। इसलिए नहीं कि स्वतंत्र हिन्दुस्तान नेपालको जीतकर उसे अपने भीतरमें डालेगा, बल्कि हिन्दुस्तानकी क्रान्तिके प्रभावको नेपालमें आनेसे रोका नहीं जा सकता।

सुन्दरी जलके पाससे हम पहाड़पर चढ़ने लगे। अब बराबर पहाड़ोंको लाँघ

कर ही चलना था। जूता तो पैरको काट ही रहा था, ऊपरसे इतने दिनों कोठरीमें बन्द रहा, इससे पैर चलनेमें असमर्थ थे। मैं हिम्मतके बल हीपर आगेकी ओर लुढ़कता जा रहा था, लेकिन वह हिम्मत किसी भी वक़्त जवाब दे सकती थी। इसी वक़्त एक बहुत हट्टा-कट्टा पहाड़ियोंकेलिए असाधारण डीलडौलका आदमी आता दिखाई दिया। दसरतन मेरी कठिनाईको समझते थे। उन्होंने उससे बीमार साथी-को ढोनेकेलिए मजूरीकी बातचीत की। वह शायद दूनी मजूरी माँग रहा था। मैंने अपने साथीके कानमें कहा—मोलतोल मत करो, जो माँगता है, मंजूर कर लो। आदमी कर लिया गया। उस दिन तो वह शामको मिला था, इसलिए थोड़ी ही दूर जानेपर शाम हो गई और हम एक गाँवमें ठहर गए। यद्यपि हमारा जाना अधिकतर पहाड़ोंके रीढ़ोंको आर-पार करने, पगडंडीसे हो रहा था; लेकिन चढ़ाईमें मैं दूसरेकी पीठपर चलता था, इसलिए यात्रा कठिन नहीं मालूम होती थी। काठमांडो छोड़नेके चौथे या पाँचवें दिन हम एल्मो गाँव पहुँचे। दुनियामें सभी जगह हिमालय जैसे पहाड़ोंकी उपत्यकाएँ पचासों जातियोंके पृथक् अस्तित्वको अपने भीतर क़ायम रखे होती हैं। नेपालमें भी गोरखा, नेवार, थारु, तमंग, गुरुंग, एल्मो, शरवा, आदि कितनी ही ऐसी जातियाँ हैं। जान पड़ता है जिस तरह पहाड़ी दीवारें पानीको एक-दूसरेसे मिलने नहीं देतीं, उसी तरह जातियोंको मिलकर वह एक नहीं बनने देतीं। मैं गोरखा, नेवार, तमंग आदि बस्तियोंसे गुज़रकर अब भोटिया भाषाभाषी एल्मो लोगोंके गाँवोंमें पहुँचा था। नेपालमें नेवार जाति ही व्यापारकुशल जाति है। नेवार अधिकतर बौद्ध हैं। डेढ़ सौ बरस पहिले यही नैपालके शासक थे, जब कि गोरखाके राजा पृथ्वीनारायणने सारे नेपालको जीतकर गोरखा-राजकी नींव डाली। पृथ्वीनारायणका ही वंशज आज भी नेपालके सिंहासनपर बैठता है। लेकिन सौ बरस हुए, जब कि राना जंगबहादुरने पुराने मंत्रियों और अधिकारियोंका क़त्लआम किया। जंगबहादुरने खुद सिंहासनपर नहीं बैठना चाहा और अब भी गद्दीका मालिक पाँच सरकार पृथ्वीनारायणका वंशज ही होता है; लेकिन उसे एक तरह जंगबहादुरके खानदानका पेनशनिहा बन्दी समझना चाहिए। राजकी सारी शक्ति उसका सारा धन जंगबहादुरके राना-वंशके हाथमें आया। जंगबहादुरके इस काममें उनके भाइयोंने भी मदद की थी, इसलिए उन्होंने प्रधानमंत्री (तीन सरकार)के पदको स्वीकार करते हुए उसे सिर्फ़ अपने बेटे-पोतोंकेलिए सुरक्षित नहीं रखा। जंगबहादुरके मरनेपर ज्येष्ठतमके अनुसार भाइयों और भतीजोंकी बारी आई। बराबर एक-दूसरेके

खिलाफ़ षड्यंत्र होते रहे, जिस षड्यंत्रमें जंगबहादुरके अपने पुत्र-पौत्र उड़ गए। नेपालकी इस शासन-व्यवस्थाने प्रजाको दरिद्र बनानेमें और भी ज्यादा काम किया है, क्योंकि लोगोंको अपनी कमाईसे १०, ५ आदमियोंके भोग-विलासका प्रबंध नहीं करना पड़ रहा है, बल्कि राना खानदानके बढ़ते हुए सैकड़ों छोटे-बड़े राणाओं और उनके रनिवासके ऐशऐशका भी प्रबंध करना पड़ता है।

नेवार लोगोंके राज्यको जब गोरखा-वंशने छीन लिया, तब सभी शासक जातियोंकी तरह उन्हें भी व्यापारके सिवा सुखी जीवन बितानेका कोई रास्ता नहीं रह गया। यह भी एक कारण है, कि नेवार लोग अब अधिकतर व्यापारी हैं। नेपालके पहाड़ोंमें दूर-दूर मुश्किलसे मुश्किल जगहोंमें भी कोई न कोई नेवारकी दूकान जरूर मिलेगी। वह ज्यादातर बौद्ध हैं, इसलिए सीमान्तकी जातियोंसे मिलने-जुलनेमें संकीर्णता नहीं बरतते। हम भी रास्तेमें रातको अधिकतर नेवार घरोंमें विश्राम करते आये थे।

एल्मो गाँव अभी कुछ दूर रह गया था, तभीसे देवदारु वृक्षोंका अनुपम हरित सौन्दर्य दिखलाई देने लगा। अब यहाँ काठमाडोकी गरमी नहीं थी। ऊपरसे यह स्वर्गीय हरीतिमा हमारी आँखोंको अपने कोमल मधुर स्पर्शसे आप्लावित कर रही थी। मुझे बहुत खुशी हुई, इस सुन्दर दृश्यको देखकर ही नहीं, बल्कि यह ख्याल करके, कि अब मैं राजधानीसे बहुत दूर हूँ। दसरतनसाहु अपने एक परिचित दोस्तके घरपर ले गए। एल्मो लोग बहुत सुन्दर भूखंडमें ही नहीं रहते, बल्कि उनमें सौन्दर्य भी ज्यादा है, खासकर स्त्रियोंमें तो और भी। यद्यपि यह मंगोलीय भोटिया जातिके हैं, जिसका स्पष्ट चिह्न उनकी आँखों और गालोंपर दिखलाई देता है, लेकिन हिन्दुओंके रक्तका भी इतनी अनुकूल मात्रामें सम्मिश्रण हुआ है, कि उनका मुँह न उतना भारी होता, न उतना चिपटा। आँखें भी उनकी काफ़ी खुली रहती, और गुलाबी रंगके बारेमें पूछना ही क्या? एल्मो श्यामाओंकी काठमांडोके अन्तःपुरमें बहुत माँग हो तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। हम जिस घरमें गए, उसकी गृहपत्नी पचासको पहुँच रही थी, लेकिन अब भी सौन्दर्यकी सन्ध्या उनसे काफ़ी दूर थी। उनके घरमें एक लड़का और उसकी बहू थी, इस प्रकार परिवार बहुत बड़ा नहीं था। आसपास देवदारोंका जंगल था, इसलिए लकड़ीकी कोई कमी नहीं थी, और लोगोंने अपने मकानोंको बनानेमें बहुत उदारतासे उसका खर्च किया था। यह गाँव समुद्रतलसे ९, १० हजार फीट ऊँचाईसे कमपर नहीं बसा होगा, इसलिए जाड़ेके कई महीनों चारों तरफ़ बर्फ़

ही बर्फ़ रहती होगी, लेकिन मैं तो वहाँ मई या जून महीनेमें पहुँचा था, इसलिए बर्फ़का कहींसे पता होता। मकान अधिकतर दोतल्ले थे और गिर तोड़नेवाली छोटी-छोटी छतोंवाले नहीं, जैसे मकान नेपालमें हर जगह ही मिलते हैं। छतें भी लकड़ीके फट्टोंसे छाई थी। घरके भीतर दरवाजोंपर और दूसरी जगह कुछ काष्ठ-कार्य भी था, जिनसे सुरुचि प्रकट होती थी। मुझे वहाँ छोड़कर दसरतन साहु लौट गए।

चावल यहाँ नही होता, लेकिन एक ही दो दिन नीचे धानके खेत हैं, और सम्पन्न लोग चावल खाना पसन्द करते हैं। आलू-मूलीकी तरकारी और भात खानेमें अपूर्व स्वाद मालूम होता था। तरकारीमें वह मसाला भी ज्यादा नहीं डालते थे, लेकिन जंगली प्याज (जिम्बू) अकेले ही हजारों मसालोंके बराबर थी। लोगोंके मकान भी साफ़-सुथरे थे और शरीर भी। यद्यपि यह उम्मेद नही की जा सकती थी, कि वह हर दूसरे-चौथे नहाते होंगे।

दो-चार दिन बाद गाँवकी वृद्धा भिक्षुणी काठमांडोसे लौट आई। वह भी डुक्पा-लामाकी शिष्या थी, और कुछ महीनोंसे उन्हींके यहाँ रह रही थी। उसका असली नाम क्या था यह तो नहीं कह सकता, लेकिन हम उसे अनीबुट्टी कहा करते थे—अनी भोटभाषामें भिक्षुणीको कहते हैं। अनीबुट्टीका अपना घर था। किसी वक़्त वह अच्छा खाता-पीता घर रहा होगा, जब उसमें कितने ही स्त्री-पुरुष रह रहे होंगे; लेकिन अब तो अनीबुट्टी अकेली थी। दोतल्ला मकान था, नीचेके हिस्सेमें जानवर बाँधे जाया करते या लकड़ी-घास वगैरह चीजें रखी जाती थीं। लेकिन मैं नहीं समझता अनीबुट्टीके निचले घरमें कोई पशु था। ऊपरी कोठेकी लकड़ियाँ पुरानी नहीं थी, लेकिन जान पड़ता था, अभी पूरी तौरसे मकानको तैयार नही कर पाए थे, कि बनानेवाले हाथ सदाकेलिए विदा हो गए। अनीबुट्टीको इसकेलिए कभी मैंने रोते या उदास होते नहीं देखा। उसका चेहरा सदा प्रसन्न रहा करता था। धर्मके प्रेम और पूजा-पाठने अवश्य उसे अपने शोकको भुलवानेमें मदद दी थी। अनीबुट्टीके आनेपर मैं उसके मकानमें चला गया। छतके ऊपर ही खाना पकानेकेलिए लकड़ीकी अँगीठी थी। अनीबुट्टीके हाथमें भी भोजनको अमृत बनानेकी शक्ति थी। वह मुझे किसी तरहकी तकलीफ नही होने देना चाहती थी। यद्यपि अनीबुट्टीकी उमर पचास या ऊपरकी होगी, लेकिन एक तरुणके साथ एक ही मकानमें रहनेसे शायद किसीको सन्देह होता, इसलिए रातके वक़्त वह किसी और औरतको अपने पास बुलाकर सुलाया करती थी। मैंने समझा यह दोनों हीके-

लिए अच्छा है। महाबौधामें रहते वक़्त मुझे भोटिया भाषा बोलनेका अभ्यास हो चला था, लेकिन किन्दोलके पासके सुनसान मकानमें रहते वक़्त मैं इससे वंचित हो गया था। अनीबुट्टीके यहाँ भी मुझे भोटिया बोलनेका उतना अवसर नहीं मिलता था। अनीबुट्टी दिनमें अपने दूसरे कामोंमें भी लगी रहती, और वैसे भी उसकी भाषा उतनी अच्छी नहीं थी। यद्यपि गाँवमें भोटिया बोलनेवाले और भी कितने ही मिल सकते थे, लेकिन मैं उनसे ज्यादा मेल-जोल नहीं रखना चाहता था, क्योंकि इसमें रहस्य खुल जानेका डर था।

कुछ ही दिनों बाद काठमाडोंसे डुक्पालामाकी शिष्यमंडलीके बहुतसे लोग एल्मो चले आए और यह गाँवसे थोड़ा नीचे एक काफ़ी बड़े बुद्ध-मंदिरमें ठहरे। जा करके देखा, तो मेरा दोस्त तिन-ज़िन भी वहाँ मौजूद था। भाषा मजबूत करनेकेलिए इतने अच्छे अवसरको मैं हाथसे कैसे जाने देता? यद्यपि वहाँ जानेपर मुझे खाने-पीनेकी दिक्कत जरूर होनेवाली थी, लेकिन मैं अपना डंडा-कुंडा लेकर वहाँ पहुँच ही गया।

अब वर्षा कुछ-कुछ शुरू हो गई थी। जंगलमें स्ट्राबरी ढूँढ़ने मैं अक्सर जाया करता था। स्ट्राबरी मीठी कम और खट्टी ज्यादा होती, लेकिन तिन-ज़िन उसे बहुत पसन्द करता था, मैं तिन-ज़िनकेलिए स्ट्राबरियाँ ढूँढके लाता और वह मुझसे बातें करता। वह सिर्फ़ तिब्बती भाषा बोल सकता था और वह भी बच्चोंकी बहुत सीधी-सादी भाषा, मुझे तिन-ज़िनको गुरु बनानेमें बहुत फ़ायदा हुआ।

डुक्पालामाके शिष्य-शिष्याएँ यहाँ भी हाथके काग़ज़पर "वज्रच्छेदिका" छापनेमें लगे हुए थे। उलटे अक्षरोंमें खुदी पट्टीको जमीनपर रख दिया जाता और आमने-सामने दो व्यक्ति बैठ जाते। एक स्याहीका पोचारा पोतकर काग़ज रखता और दूसरा कपड़ा लपेटे लकड़ीके रोलरको उसपर दोनों हाथोंसे दबाते हुए रगड़ देता। वहाँ आठ-दस रोलर दिनभर चलते रहते थे। एक बड़े कड़ाव (कड़ाह-कराह)में दिनभर गाविस गेहूँ उबला करता। पकानेवाली बुढ़िया भूटानकी थी। उसने पूछनेपर बताया, कि आटेकी लेई उतनी पतली नहीं हो सकती, इसलिए हाथके क पतले काग़ज़ोंको एक-दूसरेके साथ चिपकाकर मोटा हो जानेपर वह ठीक नहीं होते इस इलाक़ेमें हाथका काग़ज बहुत बनता है। २०, २५ स्त्री-पुरुषोंको मैं द महीनेसे उसी एक पुस्तकको बराबर छापते देख रहा था। मुझे कभी कभी ख्याल आता था कि क्या कभी उनका यह काम ख़तम भी होगा।

महाबौधा और किन्दोलमें भिक्षु-भिक्षुणियोंको खाना अच्छा मिलता था

कभी-कभी कुछ पैसा भी मिल जाता था। एल्मोवाले भी अच्छे भगत थे, लेकिन कहाँतक खर्च करें। उत्तर तरफ दो-तीन मीलपर देवदारोंके घने जंगलमें एक छोटी-सी कुटियापर सफ़ेद फरहरा फहरा रहा था। यहाँ कोई आरण्यक लामा तपस्या कर रहा था। गाँवकी दूसरी तरफ़ ऊपरकी ओर भी एक मठ था, जिसमें एक लामा भजनमें लगा हुआ था। जंगलवाले लामाके पास दूर होनेसे बहुत अधिक स्त्री-पुरुष नही जाते थे, लेकिन दूसरे भजनानंदी लामाके पास दरजनों स्त्रियाँ भजनमें शामिल होती थीं। वह अधिकतर बोधिसत्व अवलोकितेश्वरका व्रत कराता था। इसमें आधा उपवास रहना पड़ता, कई हज़ार मन्त्रोंको जपना पड़ता और फिर हज़ारों बार साष्टांग दंडवत करनी पड़ती। मैं समझता हूँ, यही स्त्रियाँ तीसों दिन इस व्रतको नहीं कर सकती थीं, क्योंकि बीचमें थोड़ेसे विश्रामके बाद सवेरेसे दस बजे ग्यारह बजे राततक पूजा-दंडवत चलती रहती थी। मैं एक दिन वहाँ गया। अब मुझे किसी दुभाषियाकी जरूरत नहीं थी। मैं काफ़ी तिब्बती बोल लेता था। लामा कुछ पढ़ा-लिखा था और स्वभाव तो उसका और अच्छा था। उसने मुझे वहीं खाना खिलाया। मैंने वहाँ अपनी काठमांडोवाली परिचित भिक्षुणीको भी देखा। अब वह डुक्‌पालामाकी मंडलीसे यहाँ चली आई थी। यहाँ वह अच्छी तरह थी।

हमारे यहाँ तो बीसियों दिनसे अब सिर्फ़ मड़ुवा या मकईके आटेका नमकीन सूखासा हलुवा सवेरेको मिलता और शामको उसीकी पतलीसी लेई। चाय भी नमकका काढ़ा थी। मेरा मन कभी-कभी ऊब जाता था, किन्तु मैं तो जान-बूझ करके इस बलामें फँसा था। एकाध दिन ख्याल आया, कि गाँवसे कुछ चावल, आलू, मूली, प्याज और मक्खन ले आऊँ; लेकिन मैंने सोचा जबतक मेरे और साथी मडुंवामकई खारहे हैं, तब तक मुझे अपने खानेका विशेष प्रबन्ध नही करना चाहिए। मैं जानता था कि डुक्‌पालामा के यहाँ होनेपर उनके लिए छप्पन परकार अलग बनता, और उस वक्त मैं उनकीही रसोईमें शामिल रहता; तोभी मैंने इन्हींके साथ खाना पसन्द किया। दिन काटनेकी यहाँ दिक्कत नही थी, क्योंकि तिनजिन मेरे साथ था, और पासही जंगलमें जहाँतहाँ लाल स्ट्राबरियाँ भी।

दूसरे भिक्षु सवेरेको कुछ थोड़ीसी पूजा पाठ करते और रातको तो दोदो ढाईढाई घंटा वह बड़े रागसे भिन्न-भिन्न देवताओंकी स्तुति किया करते। मुझे वह लंबे स्तोत्र याद नहीं थे, इसलिए उनके साथ शामिल नहीं हो सकता था। छापते वक्त भी भिक्षुणियाँ अकसर बड़े रागसे कोई स्तोत्र गाया करती थीं। मैं गलतीसे एकाध आदमियों-

का हाथ देख बैठा, यह साधारण बुद्धिकी बात थी। मैं खूब सँभालकर उनके बारेमें भविष्यद्वाणी करता। जहाँ ६० फ़ीसदी निशाना ठीक लग रहा हो, और १० फ़ीसदी भी गोल-गोल बातोंमें उलझा हुआ, वहाँ फिर हाथ देखनेकी माँग क्यों न बढ़े। जबतक हमारी ही मंडलीके भिक्षु-भिक्षुणियोंके हाथ देखनेकी बात थी, तबतक तो कोई बात नहीं थी। और वह दिखलाते भी नहीं थकते, भिक्षुणियाँ तो और भी। गाँववालोंने इस मंदिरको सैकड़ों वर्ष पहिले बनवाया था, उसमें कुछ खेत भी था। लेकिन अब वह श्रीहीन था, और शायद हमलोग न रहते, तो वह सूना ही रहता। उसकी पूजा-पाठका इन्तजाम करनेवाला पुजारी एल्मो नहीं, एक दूसरा अवगोरखा परिवार था। जो उसी मन्दिरके ऊपरके कोठेपर रहता था। उस परिवारके भी स्त्री-पुरुषोंने हाथ दिखलाया। एक दिन मैंने देखा कि एल्मोमें आनेपर जिस घरमें मैं पहिले-पहिल ठहरा था, उस घरकी बहू भी हाथ दिखलाने आई है। वह बाईस-तेईस वर्षकी बहुत स्वस्थ सुन्दरी थी, उसका पति उमरमें ४, ५ वर्ष छोटा और दुबला-पतला नौजवान था। वह ज्यादातर यही जाननेकेलिए आई थी, कि उसके हाथमें कोई लड़का-बाला है कि नहीं। एक भिक्षुणीने मुझसे बहुत प्रार्थना करके कहा, कि इसके हाथको देख लीजिए। मैं इधर हाथ देखनेसे तंग आ गया था। भिक्षुणी बहुत हाथ-पैर जोड़के कहने लगी—सास-ससुर इसे बाँझ समझकर लड़केका दूसरा व्याह करना चाहते हैं, आप इसका जरूर हाथ देख लें। मैंने हाथ देखकर कह दिया—पुत्रका योग है, जो पुत्र नहीं हुआ, तो इसमें इसका नहीं पतिका कसूर समझना चाहिए। तरुणीको बहुत सन्तोष हुआ, लेकिन उनकी समस्या इतनेसे हल होनेवाली थोड़े ही थी।

मैं जब काठमांडोसे एल्मो आया था, तो डुक्‌पालामाने वचन दिया था, कि मैं एल्मो जरूर आऊँगा और तुम्हें साथ लेकर ही तिब्बत जाऊँगा। मैं इसी आशामें दो महीनेसे ज्यादासे उनका पल्ला पकड़े हुए था। काठमांडोसे बीच-बीचमें जो आदमी आते थे, वह भी कहते थे, कि लामा जल्दी ही यहाँ आनेवाले हैं। एक दिन शामको लामाके दो चेले आकर बोले, लामा काठमांडोसे सीधे ञेनम् (कुत्ती) की ओर रवाना हो गए। सुनकर मेरा हृदय सन्न हो गया। मैं जिस डालीपर इतमीनानसे बैठा था, वह कटकर जमीनपर आ गिरी। अब क्या करना चाहिए? थोड़ी देरमें मैंने उन्हें अपना निश्चय सुनाया कि मैं कल यहाँसे ञेनम्‌केलिए रवाना हो जाऊँगा। मुझे रास्ता भी नहीं मालूम था, कोई साथी भी नहीं था, फिर ऐसा निश्चय सुनाते

देख उन्हें आश्चर्य होना ही चाहिए। उसी रातको मैं और मेरे दोस्तोंने ञेनम्-केलिए साथी ढूँढनेकी कोशिश की, लेकिन कोई नहीं मिला। सवेरे मैं मन्दिरके पुजारीके पीछे पड़ा। यह नमक-लानेका मौसम था। तिब्बतकी सारी झीलोंसे नमक बटोरकर लोग भेड़ों (बकरियों)पर उसे ञेनम् पहुँचाते, और नेपालके पहाड़ी लोग चावल या मकई पीठपर लादे नमक बदलनेकेलिए ञेनम् पहुँचा करते। पुजारी कहने लगा, कि मुझे नमक लेने जाना ही है, लेकिन खेत कटनेमें १०,१५ दिनकी ही देर है, यदि अभी चला जाऊँगा, तो फ़सल बरबाद हो जायगी। मैंने कोशिश की, मेरे दोस्तोंने समझाया और फिर दूनी मजूरी देनेकेलिए मैं तैयार था; अन्तमें वह मान गया। उसी दिन पहरभर दिन चढ़े हम दोनों एल्मोसे रवाना हो गए।

गाँवसे हमने चावल और दूसरी खानेकी चीजें खरीद ली थीं। साथीने मक्खनकेलिए कहा, कि रास्तेमें उसे गोठ (गोष्ठ)परसे ले लेंगे। उस मौसिममें गाँववाले अपने पशुओंको चरानेकेलिए दूर-दूर जंगलोंमें चले जाते थे। वहाँ वह अपनी छोटीसी झोपड़ी बना लेते, जो उनका छोटासा घर हो जाता था। हम उसी झोपड़ीमें गए, और वहाँसे आधसेर मक्खन लिया, पेटभर मट्ठा मुफ्त पीनेको मिला, फिर लम्बा-लम्बा पग बढ़ाने लगे। मेरे पास जो कुछ भी सामान था, वह बहुत ज्यादा नहीं था, और फिर वह दूसरेकी पीठपर था। मन-डेढ़ मन बोझा ढोनेवाले-केलिए दस-पन्द्रह सेर क्या होता? एल्मोमें मैं खूब चलता-फिरता रहता था, इसलिए पैर मजबूत हो गए थे। पगडंडी सीधी जाती थी, इसलिए पहाड़ोंकी चढ़ाई भी सीधी पड़ती थी। दूसरे या तीसरे दिन हम काठमांडोसे ञेनम् जानेवाले रास्ते-पर पहुँच गए। हम हर जगह लामाकी जमातके उधरसे गुजरनेके बारेमें पूछते जा रहे थे।

काठमांडोसे ञेनम् जानेके दो रास्ते हैं, एक नीचे-नीचे जाता है, और एक पहाड़ोंके डाँडोंके साथ ऊपर-ऊपर। ऊपरका रास्ता ज्यादा ठंडा होता है, और हमें उमेद थी कि लामा निचले-गरम रास्तेको नहीं पकड़ेंगे। हम भी ऊपर ही ऊपर चल रहे थे। शायद दूसरे दिन हमें लामाका पता लगा। और एक दिन हमने उन्हें जा पकड़ा। वह एक गाँवमें ठहरे हुए थे। वैसे पहाड़ी लोगोंका शरीर बहुत हल्का होता है, क्योंकि उन्हें पहाड़ोंपर चढ़ना-उतरना बहुत पड़ता है, इसलिए शरीर-पर चर्बी नहीं जम सकती; लेकिन डुक्पालामाको तो कहीं हिलना-डुलना नहीं था, ऊपरसे खूब मांस, मक्खन, दही और बढ़िया-बढ़िया खाना; इसलिए शरीर ढाई-

५

तिब्बतमें सवा बरस

१. ल्हासाकी ओर

आगे चन्द ही मीलोंके बाद मोटकोसीपर एक लकड़ीका पुल मिला, जिसे पार करके हम तिब्बतकी सीमाके भीतर चले गए। अँगरेजी सीमाको तो कुशल-क्षेमसे रक्सौल हीमें मैंने पारकर लिया था, अब यह दूसरी सीमा भी निकल गई। तिब्बतवालोंसे मैं कुछ ज्यादा निश्चिन्त था, क्योंकि मैं जानता था कि यह चार-पाँच सौ बरस पुरानी दुनियामें रह रहे हैं। सिरसे हजारों मनका बोझ उतरता गया मालूम हुआ। शायद प्राकृतिक सौन्दर्य कुछ और पीछे हीसे शुरू हो गया था, लेकिन अबतक मेरी आँखें उसकेलिए बन्दसी थीं, अब मैं आँख भरके पार्वत्य-सौन्दर्य-की ओर देखता था। डुक्-पालामा अब भी धीरे ही धीरे चल रहे थे। लेकिन मैं आगे १, २ फ़र्लाङ्ग बढ़के किसी चट्टानपर बैठ जाता, और फिर पक्षियोंके मधुर कलरव, कोसीकी घर्घर ध्वनि और सिरसे पैरतक हरियालीसे ढँके पहाड़ोंको देखता।

बोधगयामें अबकी बार जब गया था, तो वहाँ एक मंगोल भिक्षु मिला था। वह फिर यहाँ मिल गया। वह रहनेवाला पूर्वी मंगोलियाका था, मगर अब कई सालोंसे ल्हासाके पास डे-पुङ विहारमें रहा करता था। बोधगया में मिलते वक्त मैं तिब्बती नहीं बोल सकता था, लेकिन अब हमलोग खुल करके बात कर सकते थे, इसलिए अब रास्ता मेरेलिए और आनन्दका हो गया था। शामके वक्त हमें एक गाँव (डम) दिखाई पड़ा, लेकिन गाँव और हमारे बीचमें एक नाला था। हमलोगोंको यहीं ठहराया गया। डमवाले लोग यहींपर बाजे-गाजेके साथ डुक्-पालामाका स्वागत करना चाहते थे। स्वागतके साथ मक्खनकी चाय भी पीनी थी। लदाखमें मैंने मक्खनकी चाय पी तो थी, लेकिन वह उतनी पसन्द नहीं आई थी; लेकिन अब तो मुझे पूरा भोटिया बनना था, और वह चाय-सत्तूसे लेकर सूखे (कच्चे) गोश्त तक पहुँचनेसे ही हो सकता था। नहाने-धोनेकी साधना तो मैं पूरा कर चुका था। चाय पीकर हम डमकी ओर चले। नाला पार करनेकेलिए जंजीरोंका एक पुल था जो चलनेपर काफ़ी हिलता था। गाँवमें एक अच्छा घर लामाके ठहरनेकेलिए ठीक किया गया था। हमलोग वहाँ पहुँचे और मंगोल और मैंने पास-पासमें आसन लगा लिए। डुक्-पालामाकी पूजा उधर कुछ कम हो गई थी, क्योंकि पूजा चढ़ाने-

वालोंकी कमी हो गई थी। अब यह फिर भोटिया प्रदेशमें चले आए थे, इसलिए लम्बा विधिविधान शुरू होना था। दूसरे दिन सवेरे ही रिन-छेंन्ने बतलाया, कि अब तीन दिनतक लामाजी अवलोकितेश्वरका व्रत शुरू करेंगे। मेरे मनने भी जोर मारा कि व्रतमें अपनेको भी शामिल होना चाहिए, क्योंकि इससे उनके और नजदीक आ जाऊँगा। खैर दो दिन आधा-आधा उपवास और एक दिन पूरा उपवास तो मेरेलिए डरकी बात नहीं थी, लेकिन दिनभर साष्टांग दंडवत करना आसान काम नहीं था, वह पूरी दंड-बैठक थी, और दोपहर बाद मैं उसे छोड़ बैठा।

यहाँसे ञेनम् तीन दिनसे ज्यादाका रास्ता नहीं था, लेकिन अब हरेक बस्तीमें लामाकी भेंट-पूजाकेलिए लोग बेक़रार थे। और लामा तबतक गाँव छोड़नेकेलिए तैयार न थे, जबतक गाँवसे एक डलियाभर चावल या चाँदीका छोटासा सिक्का भी आता रहे। मुझे कुछ कुफ्त तो होती थी, लेकिन सन्तोष भी अब बहुत था। रास्तेमें एक जगहपर किसीने नया घर बनाया था, मैं आगे-आगे जाया करता था, शायद मंगोल भिक्षु भी मेरे साथ थे। उस घरमें मालिकसे जब हमने कहा कि डुक्पा-रिन्-पोछे पधार रहे हैं, तो वह बड़ा खुश हुआ। लामाके आनेपर उसने चरण छुए, भेंट चढ़ाई और घर पवित्र करनेकेलिए कहा। उसके घरमें पानीका चश्मा निकल आया था, बेचारेको डर था, कि कहीं नाग देवता आकर न बैठ जायं। लामाने मंत्र पढ़कर आशीर्वाद दिया और कहा कि घरमें पानीका निकल आना अच्छा सगुन है। पाँच साल बाद दूसरी तिब्बत यात्रासे जब मैं उसी रास्ते लौटा, तो मकानकी दीवारें भर खड़ी रह गई थीं, सचमुच ही उस घरमें नाग देवताने निवास करके ही छोड़ा। आगे हमारा कुछ लम्बा पड़ाव चक्-सम्के गरम चश्मे-वाले गाँवमें पड़ा। यहाँ भी लामाको अच्छे घरमें ठहराया गया। रातको हम-लोग पतले बाँसकी—जो इधर पहाड़ोंमें बहुत ज्यादा होता है—मशालवाले थोड़ा नीचे उतरकर गरमकुंडतक पहुँचे। मुझे भी अब हिम्मत हो आई थी, मैंने साबुनकी टिकिया निकाली और खूब मल-मलके नहाया, समझ लिया था, कि अब सारी बला चली गई। मेरे साथी सब नंगे ही नहा रहे थे; उस वक्त मुझे कुछ आश्चर्य हुआ था। यह इसीलिए कि मैंने अभी औरतोंको खुले आम नंगा नहाते नहीं देखा था।

आखिर एक दिन हम ञेनम् पहुँच गए। तिब्बती लोग ञेनम् कहते हैं, लेकिन नेपाली कुत्ती कहकर पुकारते हैं। ञेनम् अच्छी मंडी है, नेपालियोंकी पचीसों बड़ी-बड़ी दूकानें हैं, और एक तरहसे सारा ञेनम् ही दूकानोंका गाँव है। आजकल नमक-का मौसम था, रास्तेमें हजारों नेपाली कोई पीठपर अनाज लिये हुए ञेनम्की ओर

जा रहा था और कोई ञेनमूसे नमक लेकर लौटा आ रहा था। ञेनमूके बाहर जहाँ-तहाँ भोटिया लोगोंके काले तम्बू और काले याक दिखाई पड़ते थे। नेपाली सौदागरोंका काम था, नमक और अनाज दोनोंको ले लेना, और जिसको जिसकी जरूरत हो दे देना। इनके अतिरिक्त कपड़ा और दूसरी चीजें भी बिकती थीं। लामाके लिए एक बड़ा-सा मकान रहनेके लिए मिला था। नेवार लोगोंमें पहले ही से अवतारी लामाकी प्रसिद्धि थी, और भोटिया भी बहुत जल्दी सिद्ध महात्माके गुनसे परिचित हो गये। चावल, चाँदीका टका, अंडा, मक्खन और चायके साथ सफ़ेद रेशमकी पतली चीट (खाता) दिनभर चढ़ावेमें आता रहता। अंडा तो इतना जमा हो गया था, कि कोई खानेवाला नहीं था। मैंने मक्खन-चूरा और अंडेको देखा, तो भोजनका एक तजरबा करना चाहा। खूब मक्खन डालकर चूराको भुना और उसमें बहुतसे अंडे और चीनी डाल दी। अच्छा हलवासा बन गया। साथियोंने खाकर बड़ी तारीफ़ की। वह मेरे हाथकी तारीफ़ कर रहे थे और मैं समझता था कि घी-चीनी पड़ जाय, तो मिट्टी भी अमृत बन सकती है।

इस इलाकेका मजिस्ट्रेट यहीं ञेनमूमें रहता है। इलाक़ेके अफ़सरोंको तिब्बतमें जो-ङ्-पोन् कहते हैं और उसके इलाकेको जोङ् कहा जाता है। तिब्बतमें छोटे-बड़े १०८ जोङ् बतलाए जाते हैं। तिब्बतका शासक एक अविवाहित महन्त (दलाईलामा) होता है, इसलिए सरकारके हरेक विभागमें भिक्षु अफसर भी होते हैं—सेनाको छोड़कर। सभी जगह जोड़े अफसर होते हैं, जिनमें एक प्रायः सदा ही भिक्षु होता है। लामाके पास जोङ्पोन्का निमंत्रण आया। मुझे भी चलनेके-लिए कहा, लेकिन मैंने वहाँ जाना पसन्द नहीं किया। दो-तीन दिनतक तो मैं निश्चिन्त बैठा रहा, फिर देखा लामा अभी जानेका नाम नहीं ले रहे हैं, मुमकिन था वह महीनों वहीं रहें, लेकिन मैं इतने दिनों तक कैसे प्रतीक्षा कर सकता था। पता लगा कि, गाँवके पासही जहाँ पुलसे नदीको पार किया जाता है, वहाँका पहरेदार किसी बाहरी आदमीको आगे नहीं जाने देता, जब तक कि वह जोङके हाथकी लिखी राहदारी (लम्-यिक्) न दिखलादे। लम्-यिक् लेनेके लिए मैंने इधरउधर कोशिश करवाई, लेकिन कोई फल नहीं हुआ। कुछ नेपाली सौदागर ल्हासाकी ओर जारहे थे, वह आसानी से एक आदमीकी और राहदारी ले सकते थे, लेकिन कोई खतरा उठानेके लिए तैयार न था। एक दिन लामाको एक नेपाली सौदागरके घरमें पूजा करनेके लिए बुलाया गया। आधीरातके बाद पूजा हो रही थी, बीच-बीचमें आदमी (खास करके स्त्री) के जाँघकी हड्डीका बाजा बज रहा था, उसके स्वरमें एक अजीब तरहकी करुणा सुनाई पड़ती। रौर,

मेरे ऊपर इन सब चीजोंका प्रभाव नहीं पड़ सकता था, क्योंकि मैंने सारे ढोंगको भीतरसे देखा था। नेपाली सौदागरकी स्त्री भोटिया थी, अभिषेकका जल उसके सिरपर भी डाला गया। नेपाली लोग वरसोंकेलिए तिब्बत जाते, लेकिन अपने साथ बीबीको नहीं ले जाते। ब्राह्मण राजगुरु पुरुषको तो कुछ रुपया लेकर प्रायश्चित्त दे देते हैं, लेकिन स्त्रीको नहीं; इसीलिए प्रायः हरएक नेपालीको तिब्बत में अलग स्त्री रखनी पड़ती है। नेपाल और भोट सरकारके क़ानूनके मुताबिक़ बापकी सम्पत्तिमें भोटिया लड़के और उसकी मांका कोई अधिकार नहीं है, यह सरासर अन्याय है, क्योंकि दूसरे रूपमें यह खुली वेश्या-वृत्ति है। उसी सौदागरके यहाँ मैं दिनमें गया, तो वहाँ एक लम्बी दाढ़ीवाले हिन्दू साधूको देखा। मैं तो भोटिया वेशमें था और बातें भी भोटियामें कर रहा था, इसलिए साधूको मेरे बारेमें क्या पता चलता? मुझे किसीने बतलाया कि वह तिब्बत जाना चाहता है, यहाँतक पहुँच गया, अब जोङ्पोन्ने पकड़ लिया है। अब वह ऊपर नहीं जा सकता, नीचे छोड़नेकेलिए तैयार हैं, लेकिन कोई जमानत देनेवाला नहीं।

जब मैं इस प्रकार सब तरहसे निराश हो रहा था, उसी समय मैंने इसका ज़िक्र अपने मंगोल दोस्तसे किया। उसने कहा—"इसमें क्या मुश्किल है, राहदारी मैं ले आता हूँ।" और सचमुच ही वह थोड़ी देरमें दो राहदारी लेकर चला आया, जिसमें डेपुङ्-विहारके दो भिक्षुओंका नाम था, जो बोधगया दर्शन करके अपने विहारको लौट रहे थे। अब हम सत्तूके देसमें घुस रहे थे, फिर पीठपर बोझा लादे पैदल ही चलना भी था। सत्तू पेटभर खा सकूँगा, इसमें मुझे सन्देह था, इसलिये चूरा चीनी और कितनी ही चीजें थोड़ी-थोड़ी जमा कीं। मंगोलके पास मनसे ज्यादा बोझ था और मेरी पीठकेलिए भी २०, २५ सेरका सामान हो गया था। लामाने मेरेलिए एक अच्छी चिट्ठी लिख दी, रास्तेकेलिए कितनी ही खाने-पीनेकी चीजें दीं, और दोपहरके बाद हम दोनों चल दिए। हम दोनों हीका भेस ऐसा था, कि जिसको देखकर भिखमंगा छोड़कर और कोई कुछ कह ही नहीं सकता था। मेरा छुपा (चोगा) फटा तो नहीं था, लेकिन उसका लाल रंग बहुत जगह फीका पड़ गया था और कपड़ा भी था टाट जैसा। पैरका जूता भी उसीके अनुसार था। हाँ, अब वह काटता नहीं था। पीठपर दो कमानीदार लकड़ियोंके बीचमें सामान बाँधकर उसे दोनों बाहोंको बाहर निकाले हुए मैंने मोढ़ेमें रस्सीसे लटका लिया था। हमलोगोंके हाथमें एक-एक डंडा भी था। चारों ओर नंगे पहाड़, जिसमें एक तरफ़ दुनियाका सबसे ऊँचा शिखर गौरीशङ्कर अपने रुपहले सौन्दर्यको नीले आसमानमें प्रतिफलित

कर रहा था। दो भिखमंगे पुल पार करके चढ़ाई चढ़ने लगे। मुमकिन है, तुरन्त चढ़ाई नहीं मिली होती, तो थोड़ी देरतक और मैं गौरीशङ्करके सौन्दर्यकी झाँकी करता, किन्तु वहाँ थोड़ी ही देरमें सारी दुनिया कड़वी मालूम होने लगी। मेरा मोढ़ा टूटने लगा, पिंडली फटने लगी, और मंगोल साथीकी हँसानेवाली बातें मुझे बुरी लगने लगीं। डेढ़-दो मील जानेके बाद तो मैं उससे बार बार पूछता कि पड़ाव कहाँ है, यद्यपि अभी अपनी कायरताको बाहर प्रकट करनेकेलिए तैयार नहीं था। १२, १३ हजार फ़ीटकी ऊँचाईपर वैसे ही आक्सीजनकी कमीसे साँस फूलने लगती है और आदमी जल्दी थक जाता है; फिर मैं तो साथ ही पीठपर बोझा भी लिये हुए था, मंगोलभिक्षु मेरे कंधेके बराबर भी नहीं था, लेकिन वह कूदता चल रहा था। मैंने उस दिन पहिले अपने नानाको फिर अपनेको बहुत बुरा-भला कहा। मैं समझने लगा कि लड़केको सुकुमार कभी नहीं बनाना चाहिए, उससे पूरा शारीरिक परिश्रम लेना चाहिए। बोझा ढोना, जमीन खोदना यह सबसे अच्छे शारीरिक व्यायाम हैं। भीतर ही भीतर रोता ३, ४ घंटा चलने और बैठनेके बाद हम एक बड़े मठमें पहुँचे। तिब्बतके भीतर यह पहिला अच्छा खासा मठ देखनेको मिला। दर्शन वैसे भी करता, लेकिन अब तो उसके बहाने विश्राम करना था। वहाँके भिक्षु अच्छे थे। हमलोग दर्शन करने गए, और उधर गर्मागरम चाय तैयार होके चली आई। तिब्बतमें एक बैठकीमें एक प्यालेसे थोड़े ही काम चलता है। मैं धीरे-धीरे चाय पी रहा था, यह ख्याल करके कि जरा और अबेर हो जाय, जिसमें आगे जानेकी बात न आए। डाम्‌में मुझे एक सुसंस्कृत भोटिया सज्जन मिल चुके थे। वह गोरखा भाषा और थोड़ी-थोड़ी हिन्दी भी बोल लेते थे। हमारे साथ ही वह ञेनम् तक आए थे। अब पता लगा, कि वह अगले गाँवमें ठहरे हुए हैं। उस गाँवका एक लड़का अपने घर लौट रहा था, मंगोलभिक्षुने कहा कि चलो उसी गाँवमें आज रहेंगे। कितना दूर है पूछनेपर बतलाया गया, यही पाव-पाव भर। वहाँसे उठनेको मन तो नहीं कर रहा था, लेकिन मंगोलभिक्षुने लालच दिखाई, उस गाँवमें चलेंगे तो उक्त सज्जनकी मददसे कोई बोझा ढोनेवाला मिल जायगा। उठ पड़ा।

अब जो वह चाप चढ़ना शुरू हुआ, तो मालूम नहीं होता था, कि उसका अन्त सौ कोसपर होगा या दो सौ कोसपर। पाँच-छै बार तो "कितना दूर है" मैंने पूछा लेकिन वही जवाब "अब दूर नहीं"। मैंने फिर बात पूछनी बन्द कर दी, और भीतर ही भीतर घुनने लगा। उन दोनोंके पीछे मैं रस्सीसे घसीटा हुआ वैसे ही जा रहा था, जैसे क़साईके पीछे गाय। रातके नौ या दस बजे थे, जब हम उस गाँवमें पहुँचे।

कुशोक् (सज्जन) जिस घरमें ठहरे थे, वहाँ पहुँचकर मैंने रस्सीमेंसे बोझ निकाली, और बिना बोले ही बिछौनेपर गिर पड़ गया। मंगोलने चाय चलाई होगी। रसोई आगके मोटेकी अँगीठीपर थुक्-पा पक रहा था—सत्तू या चावलके साथ मूली, हड्डी और मिल सके तो थोड़ा मांस भी बहुत पतली लेईकी तरह घंटों पकाया थुक्-पा कहा जाता है। थुक्-पा तैयार हुआ, तो मैंने भी अपना काठका प्याला (स्टोंग) निकाला और दो-चार प्याले पिए।

कुशोक् लपूचीके बड़े तीर्थको जा रहे थे। ग्यारहवीं सदीमें हमारे ८४ सिद्धोंकी परम्परामें तिब्बतमें एक बहुत बड़ा सिद्ध पैदा हुआ था, जिसका नाम जे-चुन्-मिला-रेपा है। उसकी बहुतसी सिद्धियां प्रसिद्ध हैं। मिलारेपा सिद्ध होनेके साथ-साथ तिब्बतका सबसे बड़ा कवि है। तिब्बतकी सर्दीमें भी वह एक सूती कपड़ेको पहनता था, इसीलिए उसको रेपा—सूती कपड़ेवाला कहते हैं। लपूचीमें मिला-रेपा कई वर्षोंतक रहा था, इसीलिए उसे आजकल बहुत बड़ा तीर्थ मानते हैं। डुक्पालामा भी अपना अन्तिम जीवन बितानेकेलिए वहीं जा रहे थे। हमारे कुशोक् भी लपूचीके रास्तेमें थे। उन्होंने मंगोलभिक्षुको भी चलनेकेलिए कहा। उसके मुँहमें पानी भर आया। जब उसने मेरी राय पूछी, तो पहिले मैंने चलनेमें अपनेको असमर्थ बतलाया, लेकिन कुशोक्ने यह कहके मेरा मुंह बन्द कर दिया, कि सामान दूसरा आदमी अपनी पीठपर ले चलेगा। मैं समझता था, कि हम रास्तेसे बेरास्ते जा रहे हैं और एककी जगह दो बड़ी-बड़ी ऊँची जोतें (डाँड़े, ला) पार करने होंगे। लपूचीके आगे बोझा ढोनेवाला कोई मिलेगा, इसकी भी आशा नहीं थी। लेकिन अब नहीं कहनेका मतलब था अपनेको अश्रद्धालु प्रकट करना, इसलिए मौन रहकर स्वीकृति देनेके सिवा कोई चारा न था।

दूसरे दिन हम लपूचीकी ओर चले। पीठ खाली रहनेसे चलनेमें कोई दिक़्क़त नहीं थी, सिर्फ़ एक जगह रास्ता पहाड़के ऊपरसे नीचेकी ओर बहती पथरीली मिट्टीकी धार परसे था; वहां मेरा रोंगटा खड़ा होने लगा। मैंने तीनसाल पहिले लदाखसे लौटते वक़्त ऐसीही एक बड़ी धार पार की थी। सोचने लगा, इस रास्तेमें न जाने कितनी ऐसी धारें मिलेंगी। सबसे पीछे छूटा देखकर लोग मुझे हाथ पकड़कर पार करना चाहते थे, लेकिन मैं अपने आत्माभिमानको छोड़नेके लिए तैयार नहीं था और जीपर खेलकर उसपार चला गया।

जब जोत चार-पांच मील रह गई तो वहीं रातको ठहरनेका विचार हुआ, क्योंकि आगे चाय पकानेके लिए सूखे कंडे भी न मिलते और सर्दी भी अधिक पड़ती, संभव है

बर्फभी मौजूद होती। कुशोक्‌की रावटी (छोलदारी) तान दी गई, लोगोंने जहाँ-तहाँसे याकके सूखे गोबरको जमा किया। अभी आग जलाके आँधीकी धौंकना शुरू नहीं हुआ था कि रुईके बड़े-बड़े फाहेकी तरह बरफ पड़ने लगी। शायद मैंने यह पहिली बार बरफको आसमानसे पड़ते देखा था। बर्फ बराबर पड़ती गई, बहुत मुश्किलसे हमलोग चाय पका सके। चायको चोड़ीमें थोड़ा नमक मक्खन मिलाकर कूटनेकेलिए गुंजाइश नहीं थी। लोगोंके प्यालोंमें चायके ऊपर थोड़ा-थोड़ा मक्खन डाल दिया गया। हमलोगोंने उस दिन चिउरा खाया और कुछ प्याले चायके पिए। कुशोक्‌के पास लालटेन थी, उन्होंने धर्मचर्चा करनेकेलिए कहा। मेरे पास शान्तिदेवकी "बोधि-चर्या" संस्कृतमें थी। कुशोक्‌को श्लोक तिब्बती अनुवादमें याद थे। मैं संस्कृत श्लोक पढ़कर टूटी-फूटी भाषामें कुछ भावार्थ कहता, इसपर वह तिब्बती श्लोकको बोल जाते और चार-पाँचकी श्रोतृमंडलीकेलिए व्याख्या भी कर देते थे। बड़ी राततक हमारी चर्चा रही, बर्फ वैसी ही पड़ती जा रही थी। रावटीपर जब ज्यादा बर्फ जमा होती, तो झटककर उसे गिरा दिया जाता। मेरे शरीरमें अभीतक जूएँ नहीं पड़ी थी, लेकिन अब उसी छोटीसी रावटीके भीतर पाँच-छ आदमी सट-सटकर सोये थे। रातको मालूम होने लगा, कि शरीरमें सैकड़ों चींटियाँ काट रही हैं। जब हमने खानेमें बाँट-चोंट लगाई थी, तो जूओंसे भी लगाना चाहिए। सवेरे उठकर देखा, तो चारों ओर जमीन हाथ-हाथ भर मोटी बरफसे ढँकी थी। मेरे कहनेसे कुछ पहिले ही लोब्‌जङ्-शेरब् मंगोलभिक्षुने आकर कहा—जब यहाँ इतनी वर्फ है, तो और ऊपर चढ़नेपर तो वह और ज्यादा होगी। मैंने कहा—फिर क्या सलाह है? उन्होंने कहा—लद्‌दाखका इरादा छोड़ देना चाहिए। मैंने दो-एक मजाक किये, और उनसे सहमत तो था ही। लोब्‌जङ्-शेरब्‌का अर्थ है सुमतिप्रज्ञ, सुमतिप्रज्ञ या सुमति कहनेसे पाठकोंको नाम ज्यादा याद रहेगा, इसलिए आगे मैं मंगोलभिक्षुको इसी नामसे पुकारूँगा।

सुमतिने कुशोक्‌से लौट चलनेकेलिए कहा। वह खुद तो जानेका निश्चय कर चुके थे, इसलिए वहाँ लौटने लगे; लेकिन हमलोगोंको विदाई दे दी। कुछ घंटोंमें लौटकर हम उसी गाँवमें चले आए। और अबकी गोबा (गाँवके मुखिया)के घरमें ठहरे। रातको मालूम हुआ, कि कुशोक् और उनके आदमी भी सूर-सदकके लौट आए। बर्फमें कोई रास्ता नहीं मालूम हुआ और आदमियोंके पास खाने-चरने भी नहीं थे, इसलिए वह हिमांच हो गए थे। हम दोनोंने अपने भाग्यको सराहा।

सुमति कई सालोंसे हर जाड़ेमें बोधगया तीर्थ करने आते थे, और रास्तेमें गंडा और दूसरा प्रसाद देते यजमानोंसे दक्षिणा वसूल करते लौटते थे। उन्हें पढ़ने-बढ़नेसे कोई वास्ता नहीं था। सालके ९ महीने तो यात्रामें कट जाते थे और इसीमें कुछ पैसे भी मिल जाते थे, जिन्हें वह डेपुङ् विहारमें रहकर खाते थे और फिर नई यात्रा शुरू कर देते थे। उन्होंने गाँवासे चिरौरी-मिनती करके दूसरे दिनकेलिए एक आदमी कर लिया। सामान उसकी पीठपर रखकर हम चल पड़े। और अगले गाँवमें—जो मुख्य रास्तेपर था—वहाँके गाँवाके घरमें पहुँच गए। उस घरमें दो ही परानी थे, एक २५ वर्षका जवान और एक बयालीस-तैंतालीसकी बुढ़िया। हमें आज यहीं रहना था। एक तो आगेकेलिए हम कोई भरिया (भारवाहक) लेना चाहते थे, दूसरे सुमतिके इस गाँवमें कुछ यजमान थे, जिन्हें कपड़ेका गंडा और प्रसाद बाँटना था। तिब्बतमें लोग तो नहाते साल-दो-साल बाद ही हैं, लेकिन मर्दों और औरतों दोनोंके लम्बे-लम्बे बालोंमें तेल डालने और झाड़कर बाँधनेकी जरूरत हर महीने-दो महीने पड़ती है। गृहपत्नीका आज शृंगारका दिन था। यहाँकी औरतोंका शृंगार और भी मुश्किल है। बालोंको दो फाँक कर दो चोटियाँ बनाना और फिर बाँसकी कमानीपर लाल कपड़ा और क्षमताके अनुसार मोती-मूँगा-फ़िरोजा लपेटे धनुषको सिरपर दोनों चोटियोंके सहारे खड़ा करना पड़ता है। गृहपत्नीका शृंगार जवान कर रहा था। माँका शृंगार कर रहा हो, इसमें कोई अचरज नहीं, और इसीलिए मैंने सुमतिसे पूछा कि ये दोनों माँ-बेटे हैं? मेरी आवाज कुछ शायद ऊँची थी, सुमतिने मेरे हाथको दबाया और कानमें कहा—"चुप, दोनों पति-पत्नी हैं।" मैंने पढ़ा तो था कि तिब्बतमें बड़े भाईकी शादी होती है और वही सभीकी पत्नी होती है—कितने ही छोटे पति तो ब्याहके बाद भी पैदा होते हैं; क्योंकि सगे भाइयोंकी एक ही पत्नी हो सकती है। लेकिन किताब पढ़नेसे काम थोड़े ही चलता है, आँखो देखनेसे विश्वास होता है।

सुमति गाँवमें घूम-घाम आए, फिर मुझे साथ चलनेकेलिए कहा। तिब्बतके बड़े-बड़े कुत्ते बड़े ही खतरनाक होते हैं। मैं बाहर निकलनेकी हिम्मत नहीं करता था, लेकिन सुमति अपना डंडा लिए हुए गाँवभर घूमा करते थे। मैंने पूछा—कहाँ चलना है? बोले—"एक धनी गृहस्थिनके सन्तान नहीं है, उसकेलिए एक तावीज लिख देना है। कुछ भी लिख देना, जो तीर लग गया तो हर यात्रामें मक्खन, मांस, सत्तू और कुछ पैसेका बन्धान हो जायगा।"

मित्रके लिए इतनी सहायता कोई बड़ी चीज नहीं थी, मैं उनके पीछे-पीछे चल

पड़ा। घरपर पहुँचा। सीढ़ियोंसे ऊपर चढ़ना था और सीढ़ीकी बग़लमें ही ए
खूँख्वार कुत्ता लोहेकी जंजीरसे बँधा था। वह हाँव-हाँव करने लगा। खैर, ए
औरत आकर अपने कपड़ेसे कुत्तेके मुँहको ढाँककर बैठ गई। हमलोग ऊपर च
गए। डेढ़ बालिश्त ऊँचे मोटे गद्देका आसन पड़ा हुआ था, सामने चायकी पतली चौ
रखी थी, हम दोनों बैठ गए। गृहपत्नीने लाकर प्यालेमें चाय डालना शुरू किया
सुमतिने कागज-पत्र मँगवाया। वह कागज-पत्र लेने गई, मैंने पूछा—"किसकेलि
तावीज लिखवा रहे हो?" उन्होंने कहा—"यही तो गृहपत्नी है।" मैंने आश्चर्य
साथ कहा—"इस बावन बरसकी बुढ़ियाको तुम पुत्र देने जा रहे हो!" सुमति
धीरे बोलनेकेलिए इशारा करते हुए कहा—"हमारा क्या जाता है, कुछ सत्तू-मक्ख
तो मिलेगा ही।" मैंने तावीज लिख दी। पुत्र हुआ कि नहीं, इसकी बात सुमति
जानें। सुमति स्तोत्रकी पुस्तकें, कुछ टोने-टोटके पढ़ लेते थे, लेकिन उन्हें लिखना नहीं
आता था। आगेकेलिए गोवाने हमें आदमी दिया। यह नेपालसे तिब्बत जानेक
मुख्य रास्ता है। फरी-कलिङ्पोङ्का रास्ता जब नहीं खुला था, तो नेपाल ही नहीं
हिन्दुस्तानकी भी चीजें इसी रास्ते तिब्बत जाया करती थीं। यह व्यापारिक ही नहीं
सैनिक रास्ता भी था, इसीलिए जगह-जगह फ़ौजी चौकियाँ और किले बने हुए है
जिनमें कभी चीनी पल्टन रहा करती थी। आजकल बहुतसे फ़ौजी मकान गिर
चुके हैं। दुर्गके किसी भागमें, जहाँ किसानोंने अपना बसेरा बना लिया है, वहाँ घर
कुछ आबाद दिखाई पड़ते हैं। ऐसा ही परित्यक्त एक चीनी किला था। हम वहाँ चाय
पीनेकेलिए ठहरे। तिब्बतमें यात्रियोंकेलिए बहुतसी तकलीफ़ें भी हैं, और कुछ
आरामकी बातें भी। वहाँ जाति-पाँति, छुआ-छूतका सवाल ही नहीं है और न
औरतें परदा ही करती हैं। बहुत निम्नश्रेणीके भिखमंगोंको लोग चोरीके डरसे
घरके भीतर नहीं आने देते; नहीं तो आप बिलकुल घरके भीतर चले जा सकते हैं।
चाहे आप बिलकुल अपरिचित हों, तब भी घरकी बहू या सासको अपनी झोलीमें
से चाय दे सकते हैं। वह आपकेलिए उसे पका देगी। मक्खन और सोडा-नमक दे
दीजिए, वह चायचोंगीमें कूट कर उसे दूधवाली चायके रंगकी बनाके मिट्टीके टोंटी-
दार बरतन (खोटी)में रखके आपको दे देगी; यदि बैठककी जगह चूल्हेसे दूर है
और आपको डर है, कि सारा मक्खन आपकी चायमें नहीं पड़ेगा, तो आप खुद
जाकर चोंगीमें चाय मथकर ला सकते हैं—चायका रंग तैयार हो जानेपर फिर
नमक-मक्खन डालनेकी जरूरत होती है।

परित्यक्त चीनी किलेमें जब हम चलने लगे, तो एक आदमी राहदारी माँगने

आया। हमने वह दोनों गिटें उसे दे दीं। शायद उसी दिन हमथोड्लाके पहलेके आखिरी गाँवमें पहुँच गए। यहाँ भी सुमतिके जान-पहचानके आदमी थे, और भिखमंगे रहते भी ठहरनेकेलिए अच्छी जगह मिली। पाँच साल बाद हम इसी रास्ते लौटे थे और भिखमंगे नहीं, एक भद्र यात्रीके वेशमें घोड़ोंपर सवार होकर आए थे; किन्तु उस वक्त किसीने हमें रहनेकेलिए जगह नहीं दी, और हम गाँवके एक सबसे गरीब झोपड़ेमें ठहरे थे। बहुत कुछ लोगोंकी उस वक्तकी मनोवृत्तिपर ही निर्भर है, खासकर शामके वक्त छङ् पीकर बहुत कम होश-हवासको दुरुस्त रखते हैं।

अब हमें सबसे विकट डाँड़ा थोड़्ला पार करना था। डाँड़े तिब्बतमें सबसे खतरेकी जगहें हैं। सोलह-सत्रह हजार फीटकी ऊँचाई होनेके कारण उनकी दोनों तरफ़ मीलोंतक कोई गाँव-गिराँव नहीं होते। नदियोंके मोड़ और पहाड़ोंके कोनोंके कारण बहुत दूरतक आदमीको देखा नहीं जा सकता। डाकुओंकेलिए यही सबसे अच्छी जगह है। तिब्बतमें गाँवमें आकर खून हो जाय, तब तो खूनीको सजा भी मिल सकती है, लेकिन इन निर्जन स्थानोंमें मरे हुए आदमियोंकेलिए कोई परवाह नही करता। सरकार खुफ़िया-विभाग और पुलिसपर उतना खर्च नहीं करती और वहाँ गवाह भी तो कोई नहीं मिल सकता। डकैत पहिले आदमीको मार डालते हैं, उसके बाद देखते हैं कि कुछ पैसा है कि नही। हथियारका क़ानून न रहनेके कारण यहाँ लाठीकी तरह लोग पिस्तौल, बन्दूक लिये फिरते हैं। डाकू यदि जान से न मारे तो खुद उसे अपने प्राणोंका खतरा है। गाँवमें हमें मालूम हुआ, कि पिछले ही साल थोड्लाके पास खून हो गया। शायद खूनकी हम उतनी पर्वाह नहीं करते, क्योंकि हम भिखमंगे थे, और जहाँ-कहीं वैसी सूरत देखते, टोपी उतार जीभ निकाल, "कुची-कुची (दया-दया) एक पैसा" कहते भीख माँगने लगते। लेकिन पहाड़की ऊँची चढ़ाई थी, पीठपर सामान लादकर कैसे चलते? और अगला पड़ाव १६, १७ मीलसे कम नही था। मैंने सुमतिसे कहा कि यहाँसे लङ्कोर तककेलिए दो घोड़े कर लो, सामान भी रख लेंगे और चढ़े चलेंगे।

दूसरे दिन हम घोड़ोंपर सवार होकर ऊपरकी ओर चले। डाँड़ेसे पहिले एक जगह चाय पी और दोपहरके वक्त डाँड़ेके ऊपर जा पहुँचे। हम समुद्रतलसे १७, १८ हजार फ़ीट ऊँचे खड़े थे। हमारी दक्खिन तरफ़ पूरबसे पच्छिमकी ओर हिमालयके हजारों श्वेत शिखर चले गए थे। भीटेकी ओर दीखनेवाले पहाड़ बिलकुल नंगे थे, न वहाँ बर्फकी सफ़ेदी थी, न किसी तरहकी हरियाली। उत्तरकी तरफ़ बहुत

क्रम बरफवाली चोटियाँ दिखाई पड़ती थीं। सर्वोच्च स्थानपर डाँड़ेके देवताका स्थान था, जो पत्थरोंके ढेर, जानवरोंकी सींगों, और रंग-बिरंगे कपड़ेकी झंडियोंसे सजाया गया था। अब हमें बराबर उतराईपर चलना था। चढ़ाई तो कुछ दूर थोड़ी मुश्किल थी, लेकिन उतराई बिलकुल नहीं। शायद दो-एक और सवार साथी हमारे साथ चल रहे थे। मेरा घोड़ा कुछ धीमे चलने लगा। मैंने समझा कि चढ़ाई की थकावटके कारण ऐसा कर रहा है, और उसे मारना नहीं चाहता था। धीरे-धीरे वह बहुत पिछड़ गया, और मैं दोन्क्विक्जोतकी तरह अपने घोड़ेपर झूमता हुआ चला जा रहा था। जान नहीं पड़ता था, कि घोड़ा आगे जा रहा है या पीछे। जब मैं जोर देने लगता, तो वह और सुस्त पड़ जाता। एक जगह दो रास्ते फूट रहे थे, मैं बाएँका रास्ता ले मील-डेढ़ मील चला गया। आगे एक घरमें पूछनेसे पता लगा, कि लङ्कोरका रास्ता दाहिनेवाला था। फिर लौटकर उसीको पकड़ा। चार-पाँच बजेके क़रीब मैं गाँवमें मीलभरपर था, तो सुमति इन्तज़ार करते हुए मिले। मंगोलोंका मुँह वैसे ही लाल होता है, और अब तो वह पूरे गुस्सेमें थे। उन्होंने कहा—"मैंने दो टोकरी कन्डे फूँक डाले, तीन-तीन बार चायको गर्म किया।" मैंने बहुत नरमीसे जवाब दिया—"लेकिन मेरा कसूर नहीं है मित्र? देख नहीं रहे हो, कैसा घोड़ा मुझे मिला है। मैं तो राततक पहुँचनेकी उम्मेद रखता था।" और सुमतिको जितनी जल्दी गुस्सा आता था, उतनी ही जल्दी वह ठंडा भी हो जाता था। लङ्कोरमें वह एक अच्छी जगहपर ठहरे थे। यहाँ भी उनके अच्छे यजमान थे। पहिले चाय-सत्तू खाया गया रातको गरमागरम थुक्पा मिला।

अब हम तिङ्रीके विशाल मैदानमें थे, जो पहाड़ोंसे घिरा टापूसा मालूम होता था, जिसमें दूर एक छोटीसी पहाड़ी मैदानके भीतर दिखाई पड़ती है। उसी पहाड़ीका नाम है तिङ्री-समाधि-गिरि। आसपासके गाँवमें भी सुमतिके कितने ही यजमान थे। कपड़ेकी पतली-पतली चिरी बत्तियोंके गण्डे ख़तम नहीं हो सकते थे, क्योंकि बोधगयासे लाए कपड़ेके ख़तम हो जानेपर किसी कपड़ेसे बोधगयाका गण्डा बना लेते थे। वह अपने यजमानोंके पास जाना चाहते थे। मैंने सोचा, यह तो हफ़्ताभर उधर ही लगा देंगे। मैंने उनसे कहा कि जिस गाँवमें ठहरना हो, उसमें भले ही गण्डे बाँट दो, मगर आसपासके गाँवोंमें मत जाओ; इसकेलिए मैं तुम्हें ल्हासा पहुँचकर रुपए दे दूँगा। सुमतिने स्वीकार किया। दूसरे दिन हमने भरिया ढूँढ़ने-की कोशिश की, लेकिन कोई न मिला। सबेरे ही चल दिये होते तो अच्छा था, लेकिन अब १०, ११ बजेकी तेज़ धूपमें चलना पड़ रहा था। तिब्बतकी धूप भी

बहुत कड़ी मालूम होती है, यद्यपि थोड़ेसे भी मोटे कपड़ेसे सिरको ढाँक लें, तो गर्मी खतम हो जाती है। आप २ बजे सूरजकी ओर मुँह करके चल रहे हैं, ललाट धूपसे जल रहा है, और पीछेका कन्धा बर्फ हो रहा है। फिर हमने पीठपर अपनी-अपनी चीजें लादीं, डंडा हाथमें लिया, और चल पड़े। यद्यपि सुमतिके परिचित तिङ्-रीमें भी थे, लेकिन वह एक और यजमानसे मिलना चाहते थे, इसलिए आदमी मिलनेका बहाना कर लेकर विहारकी ओर चलनेकेलिए कहा। तिब्बतकी जमीन बहुत अधिक छोटे-बड़े जागीरदारोंमें बँटी है। इन जागीरोंका बहुत ज्यादा हिस्सा मठों (विहारों)-के हाथमें है। अपनी-अपनी जागीरमें हरेक जागीरदार कुछ खेती खुद भी कराता है, जिसकेलिए मजदूर बेगारमें मिल जाते हैं। खेतीका इन्तजाम देखनेकेलिए वहाँ कोई भिक्षु भेजा जाता है, जो जागीरके आदमियोंकेलिए राजासे कम नहीं होता। शेकरकी खेतीके मुखिया भिक्षु (नमसे) बड़े भद्र पुरुष थे। वह बहुत प्रेमसे मिले, हालाँकि उस वक्त मेरा भेष ऐसा नहीं था कि उन्हें कुछ भी ख्याल करना चाहिए था। यहाँ एक अच्छा मन्दिर था; जिसमें कन्जुर (बुद्धवचन-अनुवाद) की हस्तलिखित १०३ पोथियाँ रखी हुई थीं, मेरा आसन भी वहीं लगा। वह बड़े मोटे कागजपर अच्छे अक्षरोंमें लिखी हुई थीं, और एक-एक पोथी १५, १५ सेरसे कम नहीं रही होगी। सुमतिने फिर आसपास अपने यजमानोंके पास जानेके बारेमें पूछा, मैं अब पुस्तकोंके भीतर था, इसलिए मैंने उन्हें जानेकेलिए कह दिया। दूसरे दिन वह गए। मैंने समझा था, २, ३ दिन लगेंगे, लेकिन वह उसी दिन दोपहर बाद चले आए। तिङ्री गाँव वहाँसे बहुत दूर नहीं था। हमने अपना-अपना सामान पीठपर उठाया और भिक्षु नम्सेसे विदाई लेकर चल पड़े।

तिङ्रीमें भूतपूर्व जोङ्-पोन् सुमतिका परिचित था। जब उन्होंने जोङ्पोन्के घर चलनेको कहा, तो मुझे बहुत डर लगा। मैंने और जगह ठहरनेकेलिए कहा, लेकिन मेरा साथी बोला—कोई हरज नहीं, वह तुम्हें नहीं पहचान सकेगा। बाहरके आँगनमें जंजीरमें बँधे कुत्तोंने हाँव-हाँवसे स्वागत किया। हम भीतरके आँगनमें जैसे ही पहुँचे, तैसे ही गृहपति स्वयं उठकर मुस्कुराते हुए बोले—"ओ हो सोग्पो गेलोङ (मंगोल भिक्षु) और यह लदापा (लदाखी) भी।" वह अपने हाथसे हमारे पीठके बोझेको उतारकर जमीनपर रखने लगे। वहीं आँगनमें आसन बिछा दिया गया और सूखा मांस-सत्तू और चाय तुरन्त हमारे सामने चली आई। अभी सूखा मांस खानेकी तैयारीमें मेरे काफ़ी दिन लगने थे, लेकिन चाय पीने लगा। अबतक मैं अपनेको खुनूपा (कनौरवाला) कहता था, लेकिन दो-तीन जगह लोगोंको

युद लदापा कहते सुनकर मैंने भी अब अपनेको लदापा कहनेका निश्चय किया। गृहपति सुमतिसे रास्तेके बारेमें पूछते रहे। उनकी चाम-कुशो (भद्रमहिला) भी सुमतिसे परिचित थीं। दोनों ही हमारे स्वागतकेलिए तैयार थे। मेरा उर जाना रहा। मैं समझता था कि वह अब भी जोङ्पोन् हैं, लेकिन जोङ्पोन्का पद छोड़े उन्हें काफी समय हो गया था और अब वह एक खासे व्यापारी थे। वह रहनेवाले तो ल्हासाके थे, लेकिन अब ज्यादातर यहीं निङ्रीमें रहते थे। यहाँ वह एक अच्छे खासे अमीरकी तरह रहते थे, लेकिन कितने ही महीने बाद मैंने जब ल्हासामें देखा, तो वे बहुत मामूली कपड़ेमें थे।

शामके वक्त वर्त्तमान जोङ्पोन् (मजिस्ट्रेट) भी उस घरमें आया—शामके ५ बजेमें ही तिब्बतमें छड्का समय हो जाता है। उसे चाँदीके प्यालेमें छड् प्रदान की गई, लेकिन वह खड़े ही खड़े दो-एक प्याला पीकर चला गया। सूर्यास्तके समय गृहपतिने अपनी वीणा (एक तारा और वीणाके बीचका बाजा) उठाई और पत्नीको साथ लिये सुमतिसे कहा—अब तो मैं चला नृत्य-गोष्ठीमें, और तुम नौकरोंसे जिस चीजकी जरूरत हो, माँग लेना। अमीरोंके घरोंमें शामके वक्त पान और नृत्य-गान खूब चलता है। वहाँ अमीरजादियाँ और बड़े-बड़े घरोंकी औरतें भी खुलेआम नाचनेमें कोई लज्जा नहीं करतीं। रातको हमलोगोंके सोनेका इन्तजाम रसोईघरमें हुआ। तिब्बतमें लकड़ी जलानेकेलिए बहुत कम मिलती है, इसलिए लेंडी और उपले ईंधनका काम देते हैं। रास्ते चलते भी आदमीको आग जलानेकेलिए भाथीकी जरूरत पड़ती है, तो रसोई-घरकी बातही क्या। चूंकि सभी भाइयोंकी एक ही पत्नी होती है और लड़कियोंकी संख्या लड़कोंसे कम नहीं, इसलिए बहुतसी स्त्रियोंको आजन्म कुँआरी रह जाना पड़ता है। स्त्रियाँ ज्यादातर बाल कटाकर साधुनी हो जाती हैं। कोई भिक्षुणियोंके मठमें रहने चली जाती हैं, कितनी ही माँ-बापके घरमें रहती हैं और कुछ गरीब घरोंकी लड़कियाँ किसी अमीरके यहाँ परिचारिकाका काम करती हैं। उस घरमें तीन परिचारिकाएँ थीं। एक दस-ग्यारह सालकी छोटी लड़की, एक षोड़शी और तीसरी थी साधुनी रसोइया। साधुनीको अनी कहा जाता है, यह मैं कह आया हूँ। अनीकी उमर ३०, ३५की होगी। उसका मुँह और हाथ बिल्कुल कोयले जैसा काला था। काले मुँहके भीतरसे लाल किनारीवाली सफ़ेद-सफ़ेद आँखें डरावनीसी मालूम होती थीं। सचमुच ही हमारे यहाँका कोई लड़का जो उसे रातको देखता, तो जरूर डरके मारे उसे बुखार आ जाता। क्योंकि उसने स्नान ही नहीं छोड़ दिया था, बल्कि मैल, कालिख, जो कुछ भी हाथमें आता वह उसे बदनपर

लपेटती जा रही थी। मक्खन तेलकी भी, मालूम होता है, पालिश कर लेती थी, इसीलिए काले मुँहमें भी एक तरहकी चमक थी। कभी ख्याल आता था, कि वह इन्हीं गन्दे हाथोंसे खाना पकाती होगी, लेकिन जब कलछीसे थुक्पा निकालकर उसने मेरे प्यालेमें डाला, तो पीते वक्त मुझे कोई उबकाहट नहीं आई। बहुत काफ़ी रात गए गृहपति बाजा किन-किन करते लौटे और हल्कीसी शराबीकी आवाज़में सुमतिसे खाने-पीनेके बारेमें पूछकर सोने चले गए। हम बहुत राततक थुक्पा पीना समाप्त कर सके। मैं सोनेकी जगहका ख्याल कर रहा था। मालूम हुआ कि इसी रसोई-घरमें सोना है। खैर इस वक़्त अब चूल्हा जलनेवाला नहीं था, इसलिए धूँएका डर नहीं था। दीवारके सहारे चबूतरेसे बने थे। मैंने आसन लगाया, मेरे सिरहाने हम दोनोंके सिरको इकट्ठा रखते हुए सुमतिने आसन लगाया। पोड्सी-का आसन उनके पैरोंके पास था। मेरे पैरोंके पास छोटी लड़कीने बिस्तरा लगा दिया। कालोगार्दने भी एक कोनेमें अपना बिछौना डाल दिया। यद्यपि यह गर्मी-का वह महीना था, जब कि आदमी भारतमें दिनरात पसीने-पसीने रहा करता है, लेकिन तेरह हज़ार फ़ीट ऊँची जगहमें सर्दीका क्या पता होगा? वहाँ तो माघ-पूसका सख्त जाड़ा था, लेकिन अब मैं जाड़ेसे अभ्यस्त होता जा रहा था, इसलिए मुझे वह उतना मालूम नहीं होता था। चिराग़ टिमटिमा रहा था, तभी सबने अपना-अपना कपड़ा उतारा। हाँ, इतना जरूर था, कि उन्होंने कपड़ेको अलग करके दिगंबरोंका रूप धारण नहीं किया। सोनेके पहिले तिब्बतके बौद्ध स्त्री-पुरुष कुछ प्रार्थनावाक्य बोलकर अपने ही सिरहानेकी ओर मुँह करके बुद्ध और गुरुको दण्डवत करते हैं। सुमतिने भी किया; पोड्सीने भी, और शायद बाक़ी दोने भी। मैंने दण्डवत नहीं की, यद्यपि यह उचित नहीं था। डुक्पालामाके यहाँ अपनेको सिंहलवाले धर्मका कहकर मैं बच सकता था, लेकिन यहाँ कोई बहाना नहीं हो सकता था। वस्तुतः मैं स्वाभाविक अभिनेता नहीं हूँ, इसीलिए अपने पार्टको पूरी तरहसे अदा नहीं कर पाता था।

मैंने तो सोचा था कि जहाँ इतना स्वागत हुआ है, सुमति इतना जल्दी चलनेके-लिए तैयार नहीं होंगे, लेकिन तड़के ही उन्होंने सूचित किया—हमें चलना है। गृहपतिने हमें कुछ खाने-पीनेकी चीज़ें दी, और हम चाय पीकर तिङ्रीसे रवाना हुए। थोड़ी ही दूर चलनेपर मैदान छूट गया, और हम दाहिने ओरके पहाड़के साथ-साथ चलने लगे। जमीन बहुत कुछ समतल थी। पहिले दिन जैसा कन्धा कट तो नहीं रहा था, लेकिन मैं आरामसे नहीं चल रहा था। मेरा बोझा आमदनी-

खर्च मिलाकर बराबर हो गया था। कई मील चलनेके बाद हम एक गाँवमें पहुँचे अभी दोपहर था, हम लोग चाय पीनेकेलिए एक घरमें चले गए। चाय बनी, सत्तू खाया और घरकी औरतोंसे तीर्थोंकी बात छिड़ गई। मैं भी चाहता था, कि सुमति बातमें सुध लगजायें, क्योंकि थकावटके मारे अब मैं और आगे चलना नहीं चाहता था। सुमति सच-मुचही बातमें फँस गए और जब ३,४बजनेका वक्त आया तो फिर चलनेके लिए बोले; लेकिन तिब्बतके गाँव ५-५,७-७,मीलसे कहीं कम दूरीपर नहीं होते; मैंने देर होनेकी बात कहकर आज वहीं रहनेके लिए कहा, सुमतिभी मान गए। हमने समझा था, कि जिस घरमें हमने चाय पी है, वहीं एक कोनेमें सोनेकी जगहभी मिल जायगी। लेकिन मालूम होता है, शामको खेतों और भेड़-बकरियोंमेंसे घरके और प्रभावशाली व्यक्ति आ गए थे, इसलिये दिनका परिचय कोई काम नहीं आया और हमें दूसरी जगह जानेकेलिए कहा गया। डम्‌बा छोटासा गाँव था। जब हम जानेमें हिचकिचा रहे थे, तो आदमीने गाँवके भीतरकी धर्मशालाके बारेमें बतला दिया। धर्मशाला क्या दो छोटी-छोटी कोठरियाँ थीं, जिनमें एकमें किसीने भुस भर रखा था, दूसरी कोठरीमें हम लोगोंने अपना आसन लगाया। लेकिन सुमति बहुत घबराये हुए थे। मैं समझानेकी कोशिश करने लगा तो बोले—"तुम्हें मालूम नहीं, इस गाँवमें सारे कुमा बसते हैं। (कुमा चोर और डाकू दोनोंकेलिए कहा जाता है)। उन्होंने इसीलिए हमें बाहर-निकाल दिया कि रातको मारकर जो कुछ मिले छीन लें।" मैंने कहा—"हमारे पास क्या है, जो वह छीन लेंगे (मेरे पास डेढ़ सौसे ऊपरके नोट कहीं बँधे हुए थे) ?" सुमतिने जवाब दिया—"पहिले तो वह अपनी लम्बी तलवारसे दो टूक कर देंगे, फिर सत्तू-वत्तू जो कुछ मिलेगा, उसे ले जाएँगे। यहाँ खून होनेपर कोई गवाह नहीं मिल सकेगा, इसीलिए हमें यहाँ भेज दिया है।" किसी तरह उनको शान्त न होते देख मैंने कहा कि—जाइये, ठहरनेकेलिए किसी-का घर ढूँढ़ आइए। वह एक गरीब बुढ़ियासे बात ठीक कर आए और अँधेरा हो रहा था, जब हम अपना सामान लेकर बुढ़ियाके घरमें चले गए। लङ्कूरीसे चलनेके बाद मैं अब निर्भय हो गया था, मुझे अपने लदाखी होनेपर पूरा विश्वास था। बुढ़ियाके घरमें बीचमें कन्डेकी अँगीठीपर चाय पक रही थी। उसके किनारे बुढ़िया और दो आदमी और बैठे हुए थे। हम भी जाकर आगके किनारे बैठ गए। उन्होंने सुमतिसे यात्राके बारेमें कुछ पूछा, डम्‌बाके सामने चिबरीका अत्यन्त पवित्र पहाड़ था, जिसकी परिक्रमामें १०८ मन्दिर बतलाए जाते हैं। चित्रकूटके कामतानाथसे भी ज्यादा पवित्र इस पहाड़को तिब्बती श्रद्धालु भगत मानते हैं। आजकल यात्रा

समय था। दूर-दूरके यात्री परिक्रमाकेलिए आए हुए थे। बहुतसे उग्र भक्त तो अपने शरीरसे नापते हुए परिक्रमा करते हैं। मुझे ख्याल नहीं, बुढ़ियाके पास बैठे दोनों डावा (साधू) दण्डवत करते हुए परिक्रमा कर रहे थे, या साधारण। उन्होंने चिवरीका थोड़ासा महातम कहा और यह भी कि अबकी साल यात्री ज्यादा आए हैं। सुमतिने कहना शुरू किया, तब तो हमें भी परिक्रमा करनेकेलिए चलना चाहिए. लपूचीकी तरह मामला कहीं और आगे न बढ़ जाय, इसलिए मैंने एक साङ् (तीन-चार आना) पैसा डावाके सामने रखकर हाथ जोड़कर कहा—'हमारी ओरसे भी आप चिव्री धामको प्रणाम कर देंगे और यह पैसा वहाँ चढ़ा देंगे। हम दोनोंको जल्दी ल्हासा पहुँचना है, इसलिए अबकी बार परिक्रमा नहीं कर सकते, दूसरी बार जरूर आएँगे।" सुमतिको पसन्द तो नहीं आया होगा, लेकिन उन्होंने बात और आगे नहीं बढ़ाई।

सबेरे फिर हम पीठपर सामान लिये चल पड़े। अगला गाँव गेमो था। यह कस्बासे बड़ा गाँव था। यहाँ भी सुमतिको अपने यजमानोंके पास जाना था। पहिले एक गरीबके घरमें अपना सामान और हमें छोड़कर सुमति देखने चले गए, फिर आकर साथ चलनेकेलिए कहा। एक लड़का आगे आगे चल रहा था, फिर सुमति और सबसे पीछे मैं। एक फाटक आया। फाटकके भीतर लम्बी जंजीरसे कुत्ता बँधा हुआ था, हमें देखते ही वह जोर-जोरसे भूकने लगा और जंजीरको झटका देने लगा। जरा ही देरमें जंजीर टूट गई, कुत्ता हमारी ओर लपका। मैं सबसे पीछे था, लेकिन भागनेमें सबसे पहिले। मैं भागकर फिर उसी घरमें चला आया। सुमति डंडा हिलाते हुए भागकर सीढ़ीके पास चले गए, घरवालोंने आकर बचाया, फिर वह हमें भी लिवा ले गए। सुमति बहुत भर्त्सना कर रहे थे—"तुम कुत्तोंसे इतना क्यों डरते हो? कुत्तोंका जितना बड़ा शरीर होता है, उतना दिल नहीं होता।" लेकिन मैं दिलकी परीक्षा करनेकेलिए तैयार नहीं था, मेरेलिए अपने दिलकी परीक्षा ही काफी थी। कोठा क्या एक लम्बा-चौड़ा खंभोंपर खड़ी छतके नीचे हालसा था, जिसमें एक दर्जनके करीब परिवार रहते थे। आरंभिक युगमें जब मनुष्यकी जीविका और घर सम्मिलित हुआ करते थे, उस वक्त शायद वह ऐसे ही घरोंमें रहा करते होंगे। घरवाले खाते-पीते किसान मालूम होते थे। सुमतिको मालूम था कि मट्ठा मुझे चायसे भी ज्यादा प्रिय है। मैंने पेटभरके मट्ठा पिया। सुमतिने बोधगयाका प्रसाद बाँटा। घरवालोंने हमें दस सेर सत्तू भेंट किया। चलने लगे तो सुमतिने कहा, इसे अपनी पीठपर रख लो। मैं उतने ही बोझसे मर रहा था।

और उसमें एक सेर भी बढ़ानेको तैयार नहीं था, सुमतिका भी बोझा काफ़ी था, इसलिए सत्तू लेनेसे इनकार करना पड़ा। सुमति क्षुब्ध जरूर हुए।

यहाँसे चलकर हम चकोर गाँवमें पहुँचे। गाँवके पहिले ही चीनी सैनिकोंकी चौकीके खँड़हर मिले, फिर एक पहाड़के ऊपर किसी पुराने महलकी दीवारें खड़ी दिखाई पड़ीं। अकबर और जहाँगीरके समय तिब्बतमें हर दो-दो चार-चार गाँवके स्वतंत्र राजा शासन किया करते थे, उस वक्त ऐसे राजमहल जगह-जगह पहाड़ोंपर मौजूद थे। १६४२ ई०के आसपास मंगोलोंने इन छोटे-छोटे राजाओंको खतम करके सारे तिब्बतको जीतकर दलाई लामाको भेंट कर दिया, तबसे तिब्बतपर दलाई लामा उत्तराधिकारी महन्त-राजोंका शासन शुरू हुआ। प्रथम शासक पाँचवें दलाई लामा थे, और इस समय तेरहवें दलाई लामा राज कर रहे थे। दलाई लामाकी गद्दीका उत्तराधिकारी चेला नहीं होता। मरनेपर वह कहीं अवतार लेते हैं, और जोतिसी, ओझा आदि मिलकर अवतारको ढूँढ निकालते हैं, फिर वही बच्चा दलाई लामा बनकर गद्दीपर बैठता है।

चकोर गाँवमें हम काफ़ी दिन रहते पहुँच गए थे। सुमतिके यजमान एक गरीब घरवाले थे। चकोर किसी समय एक छोटी राजधानी थी, उस वक्त बस्ती ज्यादा बड़ी थी, लेकिन अब कुछ थोड़ेसे घर रह गए थे, जिनको देखने ही से मालूम हो जाता था, कि गाँव श्रीहीन है। अब भी खेतके लायक बहुतसी जमीन पड़ी हुई थी और कितने ही पुराने आबाद खेत अब परती पड़े थे। सब भाइयोंकी एक ही शादी होनेसे तिब्बतमें जनसंख्या बढ़ नहीं सकती। आज पाँच भाइयोंकी एक स्त्री है, मान लो उनके तेरह लड़के हुए, तेरहोंकी फिर एक ही स्त्री होगी। तीसरी पीढ़ीमें शायद उस घरमें एक ही लड़का रहे। किसी घरमें यदि लड़का नहीं है लड़की है, तो घर-जमाई लाकर वंश आबाद रह जाए। इसीलिए घरोंकी संख्या कम होनेकी ही आशा की जा सकती है। तिब्बतमें एक पीढ़ीने जितने खेत आबाद कर लिये, अब वह बीसियों पीढ़ीकेलिए काफ़ी हैं, क्योंकि खेतोंको भाइयों-में बँटना नहीं है। चकोरके पासकी दूरतक फैली खेती लायक जमीन वर्तमान जनसंख्याके रहते आबाद नहीं हो सकती। पास हीमें कोसीकी एक बड़ी धार बहती है, जिससे नहर निकालकर जितना चाहे, पानी लाया जा सकता है। पहाड़ वृक्ष-वनस्पति-शून्य हैं, इसलिए उनकी मिट्टीसे खाद मिलनेकी संभावना नहीं है, लेकिन खादकी पूर्ति गोबर और मींगनी से हो सकती है।

उस दिन वर्षा होने लगी, जिससे हमारा आगे जाना भी रुक गया। किसी समय

तिब्बती लोग अनगढ़ पत्थरोंसे बड़ी सुन्दर दीवारें बनाते थे। चार-चार सौ पाँच-पाँच सौ बरस पुरानी दीवारें अबभी जहाँ-तहाँ खड़ी मिलती हैं, लेकिन अब उस तरहकी जुड़ाई नहीं दिखाई पड़ती। अबतो पत्थरोंकी जगह मिट्टीकी दीवारें ज्यादा बनती हैं, उनभी मिट्टीकी होती है, लकड़ीकी कमीके कारण उसे कमसे कम इस्तेमाल करना चाहते हैं। वर्षा बहुत कम होती है, इसलिए चार अंगुल मोटी मिट्टी बहुत काफी समझी जाती है। छत जब कहीं चूने लगती है, तो उसपर मिट्टी डालकर पैरसे दबा देते हैं। यहाँ पर उस दिन चूने लगा था और हमें इधर-उधर हटके बैठना पड़ा। दस सेर सत्तू मैं छोड़ आया था, इसके लिए सुमति बहुत जलभुन गए थे। वह यजमानिनसे मेरी क्या-क्या शिकायतें करते रहे, मैं ज्यादा सुनना नहीं चाहता था। आखिर मैंने कसूरतो किया ही था।

दोनों कोठरियोंके बाहर एक चौड़ा हाता था, जिसके दरवाजेके पास जंजीरसे कुत्ता बँधा हुआ था। कल मैंने देख लिया था, कि कुत्तोंकी जंजीरपर भरोसा नहीं करना चाहिए, आज फिर वही हुआ। कुत्ता हम लोगोंको देखकर झटका दे रहा था, सुमति आगे थे, और मैं उनसे दस हाथ पीछे। जंजीर टूटी, सुमति पीछेकी ओर भाग आए और मुझे डाटने लगे कि तुम साथ-साथ क्यों नहीं रहते। खैर, मालकिनने कुत्तेको पकड़कर रखा और हम लोग फाटकसे बाहर निकल गए। यहाँसे सक्याकेलिए भी एक रास्ता जाता था, लेकिन हमने शेकरका रास्ता लिया था। कुछ दूर जानेपर कोसीकी प्रधानधार मिली। जाँघभर पानी था, और चलकर ही उतरना था। धार बहुत ज्यादा तेज नहीं थी, लेकिन पानी तो बरफसे पिघलकर आ रहा था, उसकी सर्दीके बारेमें क्या कहना? हमने अपना जूता और दूसरा कपड़ा भी उठाकर पीठपर डाल लिया। सुमति बहुत छोटे थे, इसलिए उन्हें कमरतक नंगे होकर चलना था। ऐसी जगहोंमें तिब्बती नर-नारी बहुत बेतकल्लुफी बरतते हैं। धार काफ़ी चौड़ी थी, आधी दूर जाते-जाते तो मेरी जाँघ सुन्न मालूम होने लगी। खैर, किसी तरह नदी पार हुए। फिर कभी चलते कभी बैठते हम आगे बढ़ने लगे। चार-पाँच मील जाते-जाते मैं बहुत थक गया, पीठपर बोझ लेकर एक क़दम भी चलना मुश्किल मालूम होने लगा। इसी समय लङ्कोरके चार-पाँच आदमी मिले; वह भी शेकर जा रहे थे। सुमतिने बड़ी प्रार्थना की, और मजूरी देनेकेलिए कहा। फिर एक आदमीने मेरे सामानको उठा लिया, और फिर पहाड़ियोंको जहाँ-तहाँ उतरते हम शेकर पहुँचे। इतनी कमजोरीका मुख्य कारण था, सत्तू-भोजन; जिसे मैं आधा पेट भी नहीं खा सकता था।

से माल लेकर कुछ गदहे ब्रह्मपुत्रकी ओर जा रहे हैं, हमने उन्हींकी आशा लगाई। गधेवालेने तीन-चार साङ् (दस-बारह आना पैसा) में हमारे सामानको ल्हर्चेतक ले चलनेकेलिए स्वीकार किया। उनके साथ एक बड़ा कुत्ता था। मैं सत्तू खाते वक्त उसे खूब सत्तू खिलाया करता था। मैंने समझा, इसके साथ दोस्ती करनेके सिवा कोई चारा नहीं है। गधेवाले बहुत थोड़े चला करते हैं सो भी रातको ही ज्यादातर। शायद गधेवाले तीन थे और तीन ही व्यापारी थे, जिनमें एक दोकरके खनूपोका भतीजा था। इस प्रकार हमारी संख्या आठके करीब थी। गधोंकी संख्या काफ़ी थी, सामानमें ज्यादातर चमड़ेकी थैलीमें बँधा नेपालका चावल था। एक बहुत बड़ा डाँड़ा हमें पार करना पड़ा, कह नहीं सकते वहाँसे ब्रह्मपुत्र दिखलाई पड़ा या नहीं। चन्द दिनों बाद हम ब्रह्मपुत्रके किनारे गधेवालोंके गाँवमें पहुँचे। सामान गाँवके बाहर रख दिया गया। हम दोनों पासमें एक बुढ़ियाकी झोपड़ीमें चले गए। शायद यहाँ दो-एक दिन सुस्ताए। मैं एक बार ठहरनेकी जगहसे जहाँ सामान रखा था, वहीं जा रहा था; आदमी भी वहाँ खड़े थे, लेकिन वही कुत्ता मुझे काटने दौड़ा, जिसको मैं रास्तेमें सत्तू खिलाता आया। सुमति मेरे सामने बराबर लेक्चर दिया करते थे—"कुत्तोंका दिल उतना बड़ा नहीं होता, जितना शरीर।" आज वह छत्ता लेकर यजमानोंके पास जानेकेलिए निकले थे। बुढ़ियाकी कोठरीके बाहर छातीभर ऊँची चहारदीवारी थी। चहारदीवारीके दरवाजेसे दस क़दम भी ज्यादा आगे नहीं बढ़े थे, कि चार-पाँच कुत्ते उनके ऊपर टूट पड़े। आवाज सुनते ही मैंने चहारदीवारीके पास जाकर देखा कि सुमतिकी जान खतरेमें है, मैंने पत्थर उठाकर कुत्तोंको मारना शुरु किया। इन खूँखार तिब्बती कुत्तोंमें बड़ी बेवकूफ़ी यह है, कि यदि आप पत्थर फेंकें, तो पत्थर जितनी दूरतक लुढ़कता जायगा वह भी उतनी ही दूरतक पीछा करते जायेंगे। ख़ैर सुमति भीतर चले आए। मैंने पूछा—"कुत्तोंका दिल छोटा होता है या बड़ा"? बेचारे घबराये हुए थे।

अब हमें ब्रह्मपुत्रके दाहिने किनारेसे चलकर ल्हर्चे पहुँचना था, लेकिन वह बहुत दूर नहीं था। खनूपोके भतीजेने कहा, कि ल्हर्चेमें हमारा माल ब्रह्मपुत्रके किनारे गिर जायगा फिर वहाँ चमड़ेकी नाव जैसे मिलेगी, हम उसपर चढ़कर टशील्हुन्पो पहुँच जायेंगे। सुमतिकी सलाह थी कि हम ल्हर्चेकी गुंबामें ठहरें, लेकिन मैंने गुंबामें ठहरनेकी जगह सौदागरोंके साथ नदीके किनारे ठहरना ज्यादा पसन्द किया। सुमति नावसे जाना भी नहीं चाहते थे।

अब चमड़ेकी नाव कब आएगी, परसों आएगी कहने में नदीके किनारे सौदागरों-

का माल अगोरने लगा, और सुमति अपने जजमानोंके पास घूमनेमें लगे। अबतक जितनी दूर मैं आया था, उसमें लेनम्, तिङ्‌री, शेकरके बाद यह चौथा जोंट (मजिस्ट्रेटका स्थान) था। यहाँ खानेकेलिए चाय बना लेते थे, और सत्तू पासमें मौजूद ही था। सौदागरोंमें एक ल्हासाका गृहस्थ नौजवान था और दो ढाबा (भिक्षु) थे। सौदागर ढाबोंमें मीठे स्वभाववाला शायद ही कोई मिले। खाओ-पिओ मौज करो, चाहे जैसे भी हो, यही उनके जीवनका उद्देश्य होता है। वह छङ् शराब खूब पीते हैं, लेकिन तिब्बतमें यह चीजें इतनी सस्ती है, कि इनके पीनेसे कोई दिवालिया नहीं होता। औरतें तो पडाव-पड़ावपर होती हैं। हमारे दो ढाबोंमें खन्‌पोका भतीजा अच्छा था, लेकिन दूसरा तो निरा जानवर था। ठिलियाकी ठिलिया छङ् कोई तरुणी उसके पास लाती, और वह खूब पीता। बडा ढाबा तो अक्सर गाँवमें सोने जाता था। वहाँ स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध कितना सरल है, इसे मैंने यही घाटपर देखा। एक षोडशी नदीपर कपड़ा धोने आई थी। हमारे साथी ढाबाने आके दस-पाँच मिनट मजाक़ किया और फिर देखा कि दोनो तम्बूके भीतर आकर प्रणय पूर्ण कर रहे है—वर्षासे बचानेकेलिए सामानपर उन्होने तम्बू तान दिया था। जोङ्‌पोन्‌के महलमें शायद कोई मकान बन रहा था। बेगारमें औरत-मर्द पत्थर ढो-ढोके ले जा रहे थे। बीच-बीचमें वह गाते भी रहते थे। उनमे ज्यादातर नौजवान और नवयुवतियाँ थीं। मजाक़-मजाक़में मैं देखता था कि वह कपड़ोंको छीनकर औरतोंको नंगा कर देते थे। ये गर्मीके दिन थे और जिसको नहाना हो वह सालभरमें इन्हीं दिनों नहा सकता था, मैं देख रहा था कि कितने ही स्त्री-पुरुष नंगे नहा रहे हैं। पानी बहुत ठंडा था लेकिन मैं उन्हें कूद-कूदकर दो-दो सौ गजतक बहते देखता था। औरतोंके सामने पुरुषोंका नगे होकर बालोंका पानी निचोड़ना या शरीर सुखाना बिल्कुल मामूली बात थी। इन बातोंको सुनकर पाठक समझेंगे, कि तिब्बती लोग बहुत कामुक होंगे, इसके बारेमें मैं इतना ही कह सकता हूँ, कि कामुकतासे जो अर्थ हम लेते हैं,उसमें वह हिन्दुस्तानियोंके शतांश भी नहीं हैं। बात इतनी ही है कि वहाँ स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध बहुत कुछ खुला सा है और इसको खान-पानसे बहुत थोड़ा ही अधिक महत्त्व दिया जाता है।

ल्हर्चेसे टशील्हुन्पो या शिगर्चे चमड़ेकी नावसे दो दिनमें पहुँचा जा सकता है। नाव पानीके वहावके साथ नीचे तो जा सकती है, किन्तु ऊपर नहीं आ सकती। ब्रह्मपुत्रकी कछारमें यहाँ कुछ जंगली झाड़ भी उगते हैं। इन्हींकी डालियोंको काट-कर रस्सीसे बाँधकर एक चौकोरसा ढाँचा बनाया जाता है, जिसपर भिगाए चमड़े-

को लपेट दिया जाता है। यही चमड़ेकी नाव है। बहावके साथ गंतव्य स्थानपर पहुँच कर चमड़ेको निकाल लिया जाता है और सुखाके गदहे या पीठपर लादे मल्लाह फिर पहिली जगहपर पहुँच जाता है। ल्हासाकी तरफ़ मैंने कहीं-कहीं नावको सुखा-कर आदमीको पीठपर लादे लौटते देखा था।

एक युग बीत गया इन्तजार करते-करते। आखिर नावें आईं, लकड़ी काटी जाने लगी। दूसरे दिन चलना था, उससे एक दिन पहिले मैंने पूरी भेड़का सूखा मांस खरीदा। सूखा मांस पकाया नहीं रहता, लेकिन तिब्बतमें उसे पका समझकर ही खाया जाता है। मैं अभी वैसा समझनेकेलिए तैयार नहीं था। मैंने सोचा कि दो दिनकी नावकी यात्रा होगी, इसलिए मांसको उबालकर रख लिया जाय। छोटे-छोटे टुकड़े करके उसे उबाले। उबले टुकड़ोंको थैलीमें रखा, बड़ा बाबा बैठा-बैठा देख रहा था। मांसका रस चार-पाँच प्याला था, मैंने उसके प्यालेमें भी डाला और अपनेमें भी रखा। मैं नहीं समझ रहा था, कि मैं कोई खतरेकी बात कर रहा हूँ। उसने मांसरस पीनेसे इनकार कर दिया। इनकार ही नहीं कर दिया, बल्कि उसकी चेष्टासे मैंने देखा कि वह बहुत गुस्सा हो गया। मांसको मैंने इसीलिए अभी खर्च करना नहीं चाहा था, कि मैं उसे पाथेय बना रहा था। मैंने स्वयं उसमेंसे एक टुकड़ा भी न खाया, फिर उसे गुस्सा होनेकी क्या जरूरत थी? लेकिन देशके शिष्टा-चारमें तर्क-वितर्ककी गुंजायश नहीं होती, और हरेक नवागंतुकको शिष्टाचार सीखते वक्त कितनी ठोकरें खानी पड़ती हैं—यद्यपि यह अच्छा है, नवागंतुक सिर्फ़ दूसरों-के फिसलकी नकल भर करता रहे। दूसरे दिन नाव बँधकर तैयार हो गई, सामान लदने लगा, देवताओंकी लाल-पीली झंडियाँ भी नावकेलिए आ गईं। बड़े डावेवा एकाएक कहा कि नावमें जगह नहीं है। मैं समझ नहीं पा रहा था। आखिर दो हफ़्तेसे मैं यहाँ उनकी चीजोंकी रखवाली कर रहा था, इसी आशासे कि साथ मैं शिगर्चे जाऊँगा। छोटा डावा उसके सामने कुछ बोल नहीं सकता था। दो-तीन बार कहनेके बाद मुझे मालूम हो गया कि वह साथ नहीं ले जायगा। सुमति मुझे विदाई देनेकेलिए आए थे, मैंने उनसे सारी बात कही और अपना सामान उठाए गुंबा (मठ)में चला गया। घंटा-दो घंटा बाद छोटा डावा और ल्हागायाला सौदा-गर दोनों मेरे पास आए और चलनेकेलिए कहने लगे। मैंने कहा, सुमतिको भी साथ ले चलो तो चलूँगा। वह अकेले चलनेकेलिए बहुत आग्रह करते रहे, लेकिन मैं राजी नहीं हुआ। ब्रह्मपुत्रमें नौकायात्रा आनन्द नहीं मिला।

ल्हर्चे जराग और नेपाल दोनोंके वणिक्-व्यापार एक अच्छी खासी बस्ती है।

कुछ छोटी-छोटी दूकानें भी हैं, और यहाँ कुछ भोटिया मुसल्मान भी रहते हैं। सौदागर तो आते ही रहते हैं, इसलिए खच्चर, घोड़ा या गधेका मिलना मुश्किल नहीं होता, लेकिन हमें उनके जल्दी मिलनेकी उमेद नहीं थी। सुमति पता लगाने गए, तो मालूम हुआ कि शिगर्चे जानेवाले कुछ खच्चर मौजूद हैं। हमने वहाँतक केलिए खच्चर किराये किए। खच्चरवाले किसी सौदागरका माल ले जा रहे थे।

गधोंसे खच्चर तेज चलते हैं, लेकिन तिब्बतकी घड़ी बहुत सुस्त होती है। लोग यात्रामें भी मौज-मेला करते चलते हैं। खच्चरवाले तीन थे, और खच्चर तीसके क़रीब। खैर अब दूसरेकी पीठपर चलना था। इधरके गाँवोंमें मुर्ग़ीका अंडा बहुत मिलता था। सत्तूका गलेसे नीचे उतारना मेरेलिए मुश्किल हो रहा था, इसलिए मैंने क़रीब-करीब फलाहार व्रत ले लिया। २०, ३० अंडे उबालकर सत्तूवाले थैलेमें रख लेता, और जब जब भूख लगती, उसीको खाता। दिनमें पचीस-तीस अंडे मामूली बात थी। सुमति वैसे तो बहुत ही अच्छे थे, लेकिन जब गुस्सा आता, तो बहुत गरम भी हो जाते थे, और मेरे ठंडे पड़नेसे भी कोई फ़ायदा नहीं होता था। गुस्सा होनेकी एक बड़ी बात तो यह थी, कि पड़ावपर घोड़ेसे उतरकर जहाँ मैं कोठे-पर पहुँचता, तो फिर नीचे आने या दरवाज़ेसे बाहर जानेका नामतक नही लेता था। अँधेरेमें तिब्बतियोंसे डरता हूँ, यह बात नही थी, लेकिन कुत्तोंके छोटे दिल होते हैं, यह नहीं मानता था। कभी ईंधन लाना पड़ता था, कभी कोई दूसरा काम होता था, वह सब सुमतिको करना पडता था। मैं चूल्हा जला सकता था, चाय या थुक्पाको उबाल सकता था, लेकिन इतनेसे सुमति सन्तुष्ट नहीं थे। कई दिनों चलनेके बाद हम नरथड पहुँचे। नरथड ग्यारहवीं शताब्दीका एक पुराना मठ है। यह उस वक़्त बना था, जबकि हिन्दुस्तानमें बौद्धधर्म जिन्दा था। कंजुर (बुद्ध-वचन अनुवाद) तंजुर (शास्त्र-अनुवाद)के ३३८ बड़े-बड़े पोथे जिनमें दस हज़ारके करीब भारतीय ग्रन्थोंका तिब्बती अनुवाद सुरक्षित है, उसका छापाखाना यहीं है। लेकिन खच्चरवालोंको तो सीधे शिगर्ची जाना था। कुछ घंटे बाद पहाड़की जड़में अनेक सोनेकी छतों और बड़े-बड़े महलोंवाले टशील्हुन्पोके सुन्दर महाविहार (गुबा)को सामने देखा, सबने सादर प्रणाम किया। मैंने भी सिर नवाया। टशील्हुन्पो गुंबासे लगा ही हुआ शिगर्चे नगर है। जिस तरह दलाई लामाके बाद तिब्बतके सबसे ज्यादा प्रभावशाली व्यक्ति टशी लामा हैं, उसी तरह ल्हासाके बाद तिब्बतका सबसे बड़ा शहर शिगर्चे है। कई सालसे टशी लामा भागकर चीन चले गए थे, इसलिए शिगर्चीका वैभव कुछ कम हो गया था, तो भी वहाँका जोड़ बहुत

को लपेट दिया जाता है। यही चमड़ेकी नाव है। बहावके साथ गंतव्य स्थानपर पहुँच कर चमड़ेको निकाल लिया जाता है और मुसाके गदहे या पीठपर लादे मल्लाह फिर पहिली जगहपर पहुँच जाता है। ल्हासाकी तरफ़ मैंने कहीं-कहीं नावको मुड़ाकर आदमीको पीठपर लादे लौटते देखा था।

एक युग बीत गया इन्तजार करते-करते। आखिर नावें आईं, लकड़ी काटी जाने लगी। दूसरे दिन चलना था, उससे एक दिन पहिले मैंने पूरी भेड़का सूखा मांस खरीदा। सूखा मांस पकाया नहीं रहता, लेकिन तिब्बतमें उसे पका समझकर ही खाया जाता है। मैं अभी वैसा समझनेकेलिए तैयार नहीं था। मैंने सोचा कि दो दिनकी नावकी यात्रा होगी, इसलिए मांसको उबालकर रख लिया जाय। छोटे-छोटे टुकड़े करके उसे उबाले। उबले टुकड़ोंको थैलीमें रखा, बड़ा डाबा बैठा-बैठा देख रहा था। मांसका रस चार-पाँच प्याला था, मैंने उसके प्यालेमें भी डाला और अपनेमें भी रखा। मैं नहीं समझ रहा था, कि मैं कोई खतरेकी बात कर रहा हूँ। उसने मांसरस पीनेसे इनकार कर दिया। इनकार ही नहीं कर दिया, बल्कि उसकी चेष्टासे मैंने देखा कि वह बहुत गुस्सा हो गया। मांसको मैंने इसीलिए अभी खर्च करना नहीं चाहा था, कि मैं उसे पाथेय बना रहा था। मैंने स्वयं उसमेंसे एक टुकड़ा भी न खाया, फिर उसे गुस्सा होनेकी क्या जरूरत थी? लेकिन देशके शिष्टाचारमें तर्क-वितर्ककी गुंजायश नहीं होती, और हरेक नवागतुकको शिष्टाचार सीखते वक्त कितनी ठोकरें खानी पड़ती है—यद्यपि यह अच्छा है, नवागंतुक सिर्फ़ दूसरोंके किएकी नकल भर करता रहे। दूसरे दिन नाव बँधकर तैयार हो गई, सामान लदने लगा, देवताओंकी लाल-पीली झंडियाँ भी नावकेलिए आ गईं। बड़े डाबेने एकाएक कहा कि नावमें जगह नहीं है। मैं समझ नहीं पा रहा था। आखिर दो हफ्तेसे मैं वहाँ उनकी चीज़ोंकी रखवाली कर रहा था, इसी आशासे कि साथ में खिसकें जाऊँगा। छोटा डाबा उसके सामने कुछ बोल नहीं सकता था। दो-तीन बार कहनेके बाद मुझे मालूम हो गया कि वह साथ नहीं ले जायगा। सुमति मुझे विदाई देनेकेलिए आए थे, मैंने उनसे सारी बात कही और अपना सामान उठाए गुंबा (मठ)में चला गया। घंटा-दो घंटा बाद छोटा डाबा और ल्हासावाला सौदागर दोनों मेरे पास आए और चलनेकेलिए कहने लगे। मैंने कहा, सुमतिको भी साथ ले चलो तो चलूँगा। वह अकेले चलनेकेलिए बहुत आग्रह करते रहे, लेकिन मैं राजी नहीं हुआ। ब्रह्मपुत्रमें नौयात्राका आनन्द नहीं मिला।

ल्हर्चे लदाख और नेपाल दोनोंके वणिक्-पथपर एक अच्छी खासी बस्ती है।

कुछ छोटी-छोटी दूकानें भी हैं, और यहाँ कुछ भोटिया मुसल्मान भी रहते हैं। सौदागर तो आते ही रहते हैं, इसलिए खच्चर, घोड़ा या गधेका मिलना मुश्किल नहीं होता, लेकिन हमें उनके जल्दी मिलनेकी उमेद नहीं थी। सुमति पता लगाने गए, तो मालूम हुआ कि शिगर्चे जानेवाले कुछ खच्चर मौजूद हैं। हमने वहाँतक केलिए खच्चर किराये किए। खच्चरवाले किसी सौदागरका माल ले जा रहे थे।

गधोंसे खच्चर तेज़ चलते हैं, लेकिन तिब्बतकी घड़ी बहुत सुस्त होती है। लोग यात्रामें भी मौज-मेला करते चलते हैं। खच्चरवाले तीन थे, और खच्चर तीसके क़रीब। ख़ैर अब दूसरेकी पीठपर चलना था। इधरके गाँवोंमें मुर्ग़ीका अंडा बहुत मिलता था। सत्तूका गलेसे नीचे उतारना मेरेलिए मुश्किल हो रहा था, इसलिए मैंने करीब-क़रीब फलाहार व्रत ले लिया। २०, ३० अंडे उबालकर सत्तूवाले थैलेमें रख लेता, और जब जब भूख लगती, उसीको खाता। दिनमें पचीस-तीस अंडे मामूली बात थी। सुमति वैसे तो बहुत ही अच्छे थे, लेकिन जब गुस्सा आता, तो बहुत गरम भी हो जाते थे, और मेरे ठंडे पड़नेसे भी कोई फ़ायदा नहीं होता था। गुस्सा होनेकी एक बड़ी बात तो यह थी, कि पड़ावपर घोड़ेसे उतरकर जहाँ मैं कोठे-पर पहुँचता, तो फिर नीचे आने या दरवाज़ेसे बाहर जानेका नामतक नहीं लेता था। अँधेरेमें तिब्बतियोंसे डरता हूँ, यह बात नहीं थी, लेकिन कुत्तोंके छोटे दिल होते हैं, यह नहीं मानता था। कभी ईंधन लाना पड़ता था, कभी कोई दूसरा काम होता था, वह सब सुमतिको करना पड़ता था। मैं चूल्हा जला सकता था, चाय या थुक्पाको उबाल सकता था, लेकिन इतनेसे सुमति सन्तुष्ट नहीं थे। कई दिनों चलनेके बाद हम नरथङ पहुँचे। नरथङ ग्यारहवीं शताब्दीका एक पुराना मठ है। यह उस वक़्त बना था, जबकि हिन्दुस्तानमें बौद्धधर्म ज़िन्दा था। कंजुर (बुद्ध-वचन अनुवाद) तंजुर (शास्त्र-अनुवाद)के ३३८ बड़े-बड़े पोथे जिनमें दस हजारके क़रीब भारतीय ग्रन्थोंका तिब्बती अनुवाद सुरक्षित है, उसका छापाखाना यहीं है। लेकिन खच्चरवालोंको तो सीधे शिगर्ची जाना था। कुछ घंटे बाद पहाड़की जड़में अनेक सोनेकी छतों और बड़े-बड़े महलोंवाले टशील्हुन्पोके सुन्दर महाविहार (गुंबा)को सामने देखा, सबने सादर प्रणाम किया। मैंने भी सिर नवाया। टशील्हुन्पो गुंबासे लगा ही हुआ शिगर्चे नगर है। जिस तरह दलाई लामाके बाद तिब्बतके सबसे ज्यादा प्रभावशाली व्यक्ति टशी लामा हैं, उसी तरह ल्हासाके बाद तिब्बतका सबसे बड़ा शहर शिगर्चे है। कई सालसे टशी लामा भागकर चीन चले गए थे, इसलिए शिगर्चीका वैभव कुछ कम हो गया था, तो भी वहाँका जोड़ बहुत

घास खरीदनेकी जरूरत नहीं थी। हाँ वकला और जौका दाना कुछ जरूर देना पड़ता था।

नगाचे बहुत ठंडी जगह है। इसकी ऊँचाई १४,-१५ हजार फीटसे कम न होगी। हमारा रास्ता एक दिन झीलके किनारे-किनारे रहा। दूसरे दिन सबसे बड़े डांड़े खम्बालाको पार किया। अब हम फिर ब्रह्मपुत्रके किनारे आ गए। छूश्रोरीमें नावसे ब्रह्मपुत्रको पार हो, चलते-चलते १६ जुलाईको हमें कई मील दूरसे पोतलाकी सुनहली छत दिखलाई दी। उस वक्त न जाने क्या-क्या भाव दिलमें पैदा हो रहे थे। हिन्दुस्तान और सीलोनमें रहते तिब्बतके बारेमें जो कुछ पढ़ा-सुना था, उससे मैं अच्छी तरह समझता था, कि पोतलाका दर्शन दुनियाकी सबसे कठिन चीजोंमें है और आज उसी पोतलाको मैं अपने सामने देख रहा था। एक बड़ी नदीके पुलको पारकर दो-तीन घंटे चलनेके बाद हम ल्हासामें दाखिल होनेकेलिए पोतलावाले फाटकके अंदर घुसे। आगे बाईं ओर कई तलोंका लालरंगसे रंगा दलाई लामाका प्रासाद पोतला था। अब हम तिब्बतकी राजधानीमें थे। खच्चरवालोंको मंत्री शाठाके यहाँ सामान उतारना था। वह सीधे वहाँ गए। मैं सोच ही रहा था, कि धर्मसाहुकी कोठी छु-शिङ्-शामें पहुँचनेकेलिए किसीकी मदद लूँ। उसी वक्त एक नेपाली जवान मंत्रीके महलकी ओर जाते दिखाई पड़े। मैंने उनसे पूछा, तो उन्होंने कहा, ठहरिये मैं छुशिङ्साको जानता हूँ; दरबारसे होकर आता हूँ, फिर आपको साथ ले चलूंगा। घोड़ेकी पीठपर रखे जानेवाले चमड़ेके थैलों (ताड़ू) में मेरा सामान पड़ा हुआ था, मैंने सबको समेटकर फिर बोझ तैयार कर लिया और फिर धीरेन्द्रवज्र—यही उस तरुणका नाम था—के आते ही पीठपर सामान लाद हाथमें डंडा और सिरपर भिक्षुणियों जैसी पीली टोपी लगाए चल पड़ा—अभीतक मैं पीला कंटोप लगाए चला आता था, लेकिन मुझे यह नहीं मालूम था, कि यहाँ ऐसी टोपी भिक्षुणियाँ लगाती हैं।

२. ल्हासामें

काठमांडोमें चलते वक्त मैंने धर्मसाहूसे चिट्ठी ले ली थी। मेरे पास जितने रुपये थे, उनमेंसे कितनेका तो नेपालमें तिब्बती सिक्का भुना लिया था, लेकिन सौ रुपयेसे कुछ अधिक मैंने अलग रख लिए थे। मैं ल्हासामें आया था डटकर तिब्बती भाषा और बौद्धग्रन्थोंके अध्ययनकेलिए। सौ रुपयेका उस वक्त तिब्बती सिक्केके हिसाबसे डेढ़ सौ साङ् मिलता, जिसमें सिर्फ खानेपर साढ़े चार साङ् (तीन रुपया) मासिक लगता, बहुत सादगीसे रहनेपर। लेकिन जाड़ेकेलिए कपड़ा बनवाना

पड़ता, जिसकेलिए कमसे कम ४० रुपये लगते। बरतन-भांड़ा और दूसरी चीजों-पर भी ५० रुपये लग जाते। उसके बाद किताबोंकी जरूरत होती। सब देखनेसे रुपयेकी दिक़्क़त ही दिक़्क़त सामने थी। लेकिन मैं इन पासके रुपयोंके भरोसे तो अँधेरेमें नहीं कूदा था ?

धर्मासाहुके पुत्र पूर्णमान और ज्ञानमान दोनों ही नौजवान थे। यद्यपि अपने पिताकी तरहकी भक्तिकेलिए वह उमर नहीं थी, लेकिन वह दोनों ही बड़े सुशील थे। उन्होंने खुलकर मेरा स्वागत किया। ५ महीनोंसे मैंने अख़बार नहीं देखा था। त्रिरत्नमान साहु 'स्टेट्समैन'का साप्ताहिक संस्करण मँगाते थे। चिट्ठी देने और थोड़ी-बहुत बात करनेपर मैंने कई महीनेके अख़बारोंको लेकर पढ़ा। अब मैं सभ्य लोगोंमें आ गया था, इसलिए मैल जमा करनेकी जरूरत नहीं थी। दूसरे दिन (२० जुलाई) मैंने स्नान करनेकी इच्छा प्रकट की। मिट्टीकी छतोंवाले घरोंमें स्नानका इन्तिजाम करना बहुत मुश्किल है। उसी घरमें क़ादिर भाई भी रहते थे। उनकी लड़की रास्ता बतानेकेलिए चली और मैंने ल्हासासे पच्छिमवाली नहरमें जाकर स्नान किया।

धर्मासाहु बहुत दिनोंसे अपने घर हीपर रहते थे। लड़के छोटे-छोटे थे, और दूकानका इन्तजाम उनके भानजे जगतमान किया करते थे। मेरे जानेके दूसरे दिन कई बरस बाद अब वह नैपाल लौट रहे थे। उनको बहुत अफ़सोस हुआ, कि मेरी सेवा नहीं कर सके। मैं भी समझता था, उनका बड़े-बड़े लोगोंसे बहुत परिचय है और वह कुछ दिन और रह जाते, तो जरूर मेरे काममें बड़ी सहायता करते। यात्रा-केलिए सारे मंगलानुष्ठान हुए, मंगल-पाठ हुआ। भूनी मछली, सारसका उबला अंडा यात्रामें मंगल भोजन समझे जाते हैं। इसके बाद थोड़ा शराबका पीना भी। मित्रों, बन्धुओंने सफ़ेद खाता (रेशमी चीट) उनके गलेमें डाला, और जगत-मान साहु ख़ुशी-ख़ुशी वहाँसे बिदा हुए।

अब चूँकि मुझे प्रकट होके रहना था, इसलिए दलाई लामाके पासतक सूचना पहुँचा देनी जरूरी थी। मैंने पढ रखा था, तिब्बतमें सैकड़ों भारतीय पंडित गए, उन्होंने हज़ारों ग्रन्थोंका तिब्बती भाषामें अनुवाद किया, और हज़ारों तरुणोंको बौद्धतत्त्वज्ञानकी शिक्षा दी। मैंने सोचा था, मैं भी तो पंडित हूँ, यद्यपि शताब्दियोंसे तिब्बत और भारतका धार्मिक सम्बन्ध नहीं रहा, और जहाँ भारतीय गुरु बनकर आते थे, वहाँ मैं शिष्य बननेकेलिए आया हूँ; तो भी मेरे जैसे भारतीय विद्यार्थीकेलिए यहाँ जरूर सुभीता होगा। २१ जुलाईको मैंने दलाई लामाकी सेवामें अर्पण करनेके-

लिए १५ श्लोक बनाये। लेकिन संस्कृत भेजनेसे फ़ायदा क्या ? इसलिए अनुवादक ढूंढनेकी जरूरत पड़ी, जो उतना आसान काम नहीं मालूम हुआ।

त्रिरत्नमान और ज्ञानमान दोनों भाई तो मेरी सहायता करनेकेलिए तैयार थे ही; लेकिन अभी वह ल्हासामें पूर्ण परिचित नहीं थे। उनसे भी ज्यादा मेरी सहायताकेलिए तत्पर थे धीरेन्द्रवज्र, जिनको वहाँ लोग गुभाला कहा करते थे, जो गुभा (गुरुभाजू, गुरुमहाराज)के साथ तिब्बती भाषाके ला (जी)को मिलाकर बना है। गुभाला मेरी यात्रामें जितने आदमी मिले, उनमें कुछ चुने हुए रत्नोंमेंसे एक थे। मैंने जब दलाई लामाके पास खबर पहुँचानेकेलिए किसी प्रधान व्यक्तिको ढूँढ निकालनेकेलिए कहा, तो गुभालाने ठी-रिन्पो-छेका नाम लिया; अर्थात् तिब्बतमें बौद्धोंके चार प्रधान सम्प्रदायों—ञिङ्‌मापा, कर्‌ग्युद्‌पा, सक्यपा और गेलुग्पा—में सबसे प्रभावशाली गेलुग्पाकी मूल गद्दीके स्वामी। यद्यपि ठी-रिन्पो-छेने गद्दी छोड़ दी थी, तो भी उनका सम्मान बहुत ज्यादा था। गुभालाके साथ मैं उनके पास गया। उनकी अवस्था ७० से अधिक थी। स्वभाव बहुत ही शान्त और वाणी बहुत ही मधुर। उनसे मैंने तिब्बत आनेका उद्देश्य बतलाया और कहा कि आप दलाई लामाको सूचित कर दें, जिससे कि मैं निश्चिन्त होकर अपने अध्ययनमें लग जाऊँ। उन्होंने सलाह दी कि चुपचाप अपना काम करो। मैं जानता था, यद्यपि १९११की चीनी क्रान्तिके बाद दलाई लामाकी जिसने सबसे ज्यादा सहायता की, वह अँगरेज ही थे, किन्तु साथ ही डेढ़ सौ बरसोंसे चला आता सन्देह अब भी तिब्बती लोगोंके खूनमें है और अँगरेजोंको वह बड़ी शकित दृष्टिसे देखते हैं। दुर्भाग्यसे मैं अँगरेजी प्रजा था। वहाँ किसको मालूम था, कि अँगरेजोंसे बचकर आनेमें मुझे कितना कष्ट उठाना पड़ा। मुझे किसी तरह अपने पत्रको दलाई लामाके पास भेजना था। चुपचाप रहनेमें शायद मैं सफल होता, लेकिन पीछे मेरेलिए न जाने कितने लोगोंको कष्ट उठाना पड़ता; इसलिए मैंने इसे पसन्द नहीं किया। ल्हासामें धनी लड़कोंको अँगरेजी और तिब्बती पढ़ानेकेलिए दार्जिलिंगके एक भोटिया-भाषी सज्जनने प्राइवेट पाठशाला खोल रखी थी। पहिले उन्होंने तिब्बतीमें अनुवाद करना स्वीकार किया, पर पीछे डर गए। ल्हरी-छाङ् दलाई लामाके एक बहुत ही विश्वासपात्र दरबारी थे। उनकेलिए मेरे पास लदाखका एक पत्र था। पता लगानेपर मालूम हुआ, कि वह आजकल ल्हासासे ५, ७ मील दूर क्येमोलिङ्‌के अपने उद्यान-प्रासादमें हैं। एक नेपाली साहूका उनसे बहुत परिचय था, उन्होंने साथ ले चलने-

केलिए यहा भी, लेकिन उस दिन बहाना कर गए। त्रिरत्नमान साहुने घोड़ेका इन्तजाम कर दिया, और मैं अकेला ही घोड़ेपर चढ़कर चल पड़ा। रास्ता भूल जानेसे २, ३ मीलका चक्कर पड़ा, लेकिन आखिर वहाँ पहुँच गया। वह बड़े स्नेहसे मिले। जूता उतारकर तिब्बतमें जानेका रिवाज नही है, गर्मियोंमे भी घरका फर्श इतना ठंडा रहता है, कि लोग जूता पहिने ही घूमते है। आसनपर भी जूता पहिने ही बैठते है। मैं अपना जूता नीचे छोड़ आया था, डरी छाङ् किसी कामसे नीचे गए थे, वह मेरा जूता भी उठाकर लेते आए। उनसे मैंने सारी बातें कही। उन्होंने विश्वास दिलाया, कि मै आपके पत्रको जरूर दलाई लामाके पास पहुँचा दूँगा। कई आदमियोंसे मदद लेकर श्लोकोंका भोटिया अनुवाद तैयार किया। संस्कृतमें मैंने बहुत सुन्दर अक्षरोंमें लिखा, और ६ अगस्तको बड़े तड़के ही गुभालाके साथ दलाईलामाके राजोद्यान नोर्बूलिङ्का (मणिउद्यान) गया। अनुवाद-सहित श्लोकके पत्र और एक रेशमी खाताको डरीलामाके हाथमें दिया। मै तो उस दिन दूसरी जगह चला गया था, लेकिन डरीलामा स्वयं छुशिङ्-शार्में आकर कह गए कि मैंने दलाईलामाको पत्र दे दिया। पडित आपकी कोठीमें रहें। सरकार किसी दिन उन्हें बुलाएँगे।

एक बातसे तो संतोष हो गया, कि अब मुझे छिपकर रहनेकी जरूरत नही; लेकिन मैं डेपुङ या सेरामेंसे किसी एक गुबामें रहना चाहता था, जहाँ विद्वानोंका सत्संग होता और चौबीस घंटा तिब्बती भाषा बोलनेका मौका मिलता। छुशिङशार्में त्रिरत्नमान साहु, ज्ञानमान साहु, माहिला साहु और दो-तीन दूसरे कर्मचारी नेपाली थे, सब हिन्दी बोलते थे। कोठेकी एक कोठरी कादिर भाईकी थी, वह भी हिन्दी बोलते थे; इस प्रकार तिब्बती भाषा बोलनेका उतना मौका नहीं था। लेकिन क्या करता?

वहाँ भोजन था सत्तू, चाय और मांस। दो बजे चिउरा और सूखा तला मांस, शामको भात-दाल और मांस। चायके प्यालोंकी तो कोई गिनती ही न थी; वह तो सोते वक्त तक चलते ही रहते थे। लेकिन मैं यह पसन्द नही करता था। मै वर्षों रहनेकी इच्छासे आया था, फिर इतने दिनों तक अपना भार छुशिङशाके ऊपर रखना कैसे ठीक होता? आगे मैंने भोजनके लिए पैसा देनेका आग्रह किया, जिसे साहु लोगोंने अनिच्छापूर्वक सिर्फ मेरा ख्याल करके स्वीकार किया।

डरीछाङ्को पत्र देकर मैं उसी दिन डेपुङ् गुंबा चला गया। डेपुङ् तिब्बतका सबसे बड़ा मठ है, जिसमें सात हजार भिक्षु रहते है। यह एक शहर सा है। मैंने ख्याल किया कि आज्ञा मिल गई, तो यहीं आकर किसी कोठरीमें रहूँगा। कई घरों-

को देखा, लेकिन जगह पाना वहाँ इतना आसान नहीं था। सारा गुंबा बहुतसे छात्रावासों (खम्ज़न) में बँटा हुआ है और हरेक खम्ज़न एक-एक देशकेलिए निश्चित है। लदाखवाले पितोक्-खम्ज़न्में रहते हैं, कनौरवाले गूगे-खम्ज़न्में। भारतका तो वहाँ कोई खम्ज़न् था नहीं। नवागतुक छात्र अपने देशके खम्ज़न्पर अपना खास अधिकार समझते हैं। इन खम्ज़नोंके बनानेमें उन देशोंने आर्थिक सहायता दी है और सचालनकेलिए रुपयेका दान भी किया है। सभी खम्ज़नोंके पास छोटी-बड़ी जागीरें हैं। २० साट (१४ रुपया) वार्षिकमें एक आदमीकेलिए एक अच्छा कमरा मिल सकता था। १०, १२ रुपयेमें खानेका भी काम चल जाता। ३, ४ रुपया और खर्च देनेपर रसोई बनी-बनाई मिल सकती थी, गोया २० रुपया महीनेमें किताब छोड़कर मैं बाक़ी काम चला सकता था। ४, ५ महीने तो पासके रुपयोंसे गुज़ारा हो ही जाता, फिर कोई न कोई रास्ता निकल आता। लेकिन इन खम्ज़नोंमें नाम लिखाना आसान न था। सुखराम और कुछ दूसरे कनोर निवासी छात्र कुङ्गारवा महलमें रहते थे, मालूम हुआ कि वहाँ नाम लिखानेकी ज़रूरत नहीं। यह वही महल है, जिसमें दलाईलामा-राजके आरंभ करनेवाले पाँचवें दलाईलामा शासक बननेसे पहिले रहा करते थे, अब भी यह दलाईलामाका महल है। लेकिन जब वर्त्तमान दलाईलामा पोतला जैसे भव्य प्रासादको पसन्द नहीं करते, और नोर्बूलिङ्का (मणिद्वीप)के उद्यान-भवनमें रहते हैं, तो वह कुङ्गारवामें क्यों आने लगे? सम्लो-खम्ज़न् रूसी इलाकेके मगोल-छात्रोंका छात्रावास है। गेशे वब्-दङ्-गेरब् भारत हो आए थे, उनका जन्मस्थान साइबेरियामें बैकाल सरोवरके पास बुरयत प्रजातंत्रमें है। आजकल वह यहींपर थे। पहिली रात मैं उन्हींके यहाँ रहा, सुमतिप्रज्ञ भी डेपुङ् पहुँच गए थे। १० अगस्तको उनकी ओरसे भोज था, और उन्होंने मंगोल लोगोंका एक बहुत ही प्रिय भोजन मासका परोठा तैयार किया था। मगोलियाके ४ इलाके हैं, जहाँसे भिक्षु-विद्यार्थी तिब्बतके मठोंमें पढने आया करते थे—बाहरी मगोलिया (उरगा, आधुनिक उलनबातुर), भीतरी मगोलिया, बुरयत (बैकालके पास) और कल्मुख (वोल्गा नदीके दक्षिणी तटपर अवस्थित); लेकिन रुसी क्रान्तिके बाद बुरयत और कल्मुख सोवियत प्रजातंत्र बन गए (पिछले युद्धमें कल्मुख वोल्गातट छोड़ पूर्वकी ओर चले गए), बाहरी मंगोलियामें भी साम्यवादी शासन कायम हो गया। अब भीतरी मंगोलिया ही एकमात्र ऐसा इलाका रह गया था, जहाँसे मगोल भिक्षु तिब्बत पढ़नेकेलिए आया करते थे। सुमति भिक्षु भीतरी मंगोलियाके थे। जहाँ पहिले डेपुङ्में हजारके क़रीब मंगोल भिक्षु रहा करते थे, अब उनकी

संख्या २, ३ सौसे ज्यादा नहीं थी। साम्यवादी प्रजातंत्रोंसे तो नए भिक्षु अब एक तरहसे आते ही नहीं। उनकेलिए ३०, ३० सालतक मठोंकी पुरानी विद्या पढ़ना बेकार है। लेकिन अब भी सबसे मेधावी और परिश्रमी छात्र और पंडित मंगोल ही देखे जाते हैं। मैंने गुमतिको जितना कहा था, उससे भी अधिक पैसे दे दिए, वह बहुत खुश हुए, और अपनी ही कोठरीमें रहनेकेलिए कह रहे थे। रहना तो छुशिङ्शामें ही था, अब पढ़ने-लिखनेका प्रबंध ठीक करना था। मैंने नैपाली लोगोंके मंदिरों (पाला) में जो नौ संस्कृत ग्रन्थ (नव व्याकरण) थे, उनको मँगाया और तिब्बती अनुवादके साथ मिलाकर पढ़ना शुरू किया। मुझे ख्याल आया कि यदि इन शब्दोंको अलग करता जाऊँ, तो एक भोट-संस्कृत-कोष तैयार हो सकता है; इसलिए मैंने छोटे-छोटे कागजके टुकड़ोंपर शब्दोंको लिखना शुरू किया। भिक्षुओं और तिब्बती विद्वानोंसे बातचीत और सत्संगके बाद मेरा तिब्बती पढ़नेका ज्यादातर काम संस्कृत और भोट-अनुवाद ग्रन्थोंके द्वारा ही होता रहा। अन्तमें मैंने १६ हजारके करीब शब्दोंको अपने कोषके लिए जमा कर लिया। ठी-रिन्पो-छे ने तंजूरकी पोथियोंको देनेकेलिए मुरु विहारको कह दिया। वहाँसे पुस्तकें मेरे निवासस्थान-पर चली आया करतीं।

मैं जिस कोठरीमें रहता था, उसमें कई और आदमी भी थे, इसलिए त्रिरत्नमान साहुने एक दूसरी कोठी दे दी। भीतरकी ओर तो कुछ चीज-वस्तु रहा करती थी, लेकिन मेरेलिए बाहरका बरांडा काफी था। सर्दी बढ़ती गई। मैंने अपना पुराना रद्दी चोगा तो हफ्ते-डेढ़ हफ्ते बाद ही किसीको दे डाला और २५, ३० रुपये लगा-कर ऊनी भिक्षु वस्त्र बनवा लिया। जब सर्दी और बढ़ी तो २० रुपयेमें एक पोस्तीन-का लम्बा चोगा खरीदा। यह कुछ पुरानासा था और गुदड़ीबाजारसे लिया था। पहिले तो किसी-किसीने महँगा कहा। लेकिन पीछे एक आदमी उसके ऊपरके लाल रेशमकेलिए ही आधा दाम देनेकेलिए तैयार थे। खैर, मुझे अब जाड़ेका डर नहीं रह गया था। लेकिन लिखते वक्त हाथ और अँगुलियोंको कैसे छिपा सकता था। अक्तूबरके अन्ततक अँगुलियाँ फटने लगीं और हाथसे खून निकलने लगा। जाड़ेमें बस यही एक तकलीफ रही, लेकिन वेसलीन लगाके काम चलने लगा। मैं एक दिन कलमसे लिख रहा था, देखता था स्याही कागजपर नहीं आ रही है, झटका देकर लिखनेकी कोशिश की, तब भी स्याही नहीं उतरी। देखा तो स्याही बरफ बनके क़लमकी नोकपर जम गई है। फिर मैं फ़ाउनटेन्पेनका इस्तेमाल करने लगा। वह नहीं जमती थी।

युद्धके बादल—मेरे आए अभी १ महीना भी नहीं हुआ था, कि तिब्बतपर लड़ाईके बादल मँडराने लगे। सीमाओंपर जुलुम, नेपाली प्रजापर जुलुम इत्यादि कई तरहकी शिकायतें नेपाल सरकारको तिब्बती सरकारसे थी। इधर एक और दुर्घटना घटित हुई। शरबा ग्यलपो एक बहुत ही खुशहाल भोट-भाषा-भाषी व्यापारी नेपाली प्रजा था। वह कुछ ज्यादा निर्भीक था, और कभी-कभी तिब्बती शासन और दलाईलामा तककी कड़ी आलोचना कर बैठता था। पिछली शताब्दीकी कई लड़ाइयोंमें हराकर नेपाल सरकारने भोट सरकारसे कई रियायतें हासिल कर ली हैं। उनमेंसे एक यह थी, कि नेपाली प्रजाके मुकदमेका फ़ैसला नेपाली प्रतिनिधि ही कर सकता है, तिब्बती अदालतको इसकेलिए कोई अधिकार नहीं। हाँ, यदि दोनोंकी प्रजा किसी मुकदमेमें हो, तो दोनोंकी संयुक्त अदालत फ़ैसला करेगी। शरबाको भोट सरकारकी क्या परवाह थी, वह नेपाली प्रजा था। दलाईलामाके पास शरबा-की शिकायत पहुँच चुकी थी, किसीने कहा कि शरबा नेपाली नहीं भोटिया प्रजा है। शरबा बहुत वर्षोंसे ल्हासामें रह रहा था, भोट सरकारका कर्त्तव्य था कि पहिले उसके बारेमें ज्यादा जाँच करती। लेकिन जहाँ एक आदमीके हाथमें शासनकी असीम शक्ति होती है, वहाँ कर्त्तव्य और क़ानूनको कौन देखता है। दलाईलामाने हुकुम दिया और शरबा पकड़के जेलकी हवालातमें डाल दिया गया। मामूली क़ैदियोंकी हवालातमें नहीं रखा गया, नहीं तो उसका जीवन और भी नरक हो जाता। मामूली कैदियोंकी हवालात है गन्दी अँधेरी कोठरी, जिसमें पिस्सुओं और खटमलो-की गिनती नहीं। वहाँ यदि बरस दिन रह जाना पड़े, तो विरला ही जीता निकल पाता है। १४ अगस्तको शरबा मौका पा भागकर नेपाली दूतावासमें आ गया। नेपाली राजदूतको मेरे आनेकी खबर मालूम हुई तो, उन्होंने मुलाक़ात करनेकेलिए बुलाया था। मैं जब राजदूतसे मिलकर लौट रहा था, तो देखा कि एक बहुत हट्टा-कट्टा लम्बा आदमी वहाँ टहल रहा है, यही शरबा था। दलाईलामाका क्रोध और भड़का। यह सिर्फ कुछ जिम्मेवार अफ़सरोंके सजा दे देनेपर ठंडा नहीं हो सकता था। शहरमें तरह-तरहकी अफवाहें उड़ने लगी। नेपाली ल्हासाके मारवाड़ी हैं, एक-एक कोठीमें लाखोंकी सम्पत्ति है। सब डरने लगे कि भोट सरकारने अगर जबर्दस्ती की और राजदूतने कुछ भी विरोध किया, तो शहरके गुंडे बदमाश नेपालियोंको लूट लेंगे। २३ अगस्तको हल्ला हुआ कि भोटिया पलटन शरबाको पकड़नेकेलिए नेपाली दूतावास गई। लोगोंने धड़ाधड़ दूकानें बन्द कर दीं। सड़कपर थोड़ी-थोड़ी चीज लेकर बेचनेवाले, फेरीवाले नर-नारी भी चम्पत हो गए। जहाँ अभी थोड़ी ही देर

पहिले चहल-पहल थी, वहाँ बिल्कुल नीरवता छा गई। सब लोग अपने-अपने पिस्तौल और बन्दूकको सँभाल-सँभालकर बैठे थे। पीछे मालूम हुआ कि सिपाहियोंमें आपसमें झगड़ा हो गया है। २७ अगस्तके १२ बजे फिर उसी तरह दूकानें दनादन बन्द हो गईं। अबकी झूठी खबर नहीं थी, दलाईलामाके सैनिक नेपाली दूतावासमें शरवाको पकड़नेकेलिए घुस गए। अन्तर्राष्ट्रीय विधानके अनुसार दूतावासपर हमला करना अभद्रोचित समझा जाता। लेकिन जब सोवियत दूतावासोंके साथ इंग्लैंड और चीन वैसा बर्ताव कर चुके हैं, तो पाँच सौ वर्ष पिछड़े तिब्बती सरकारके बारेमें क्या पूछना ? सबको आशङ्का थी कि राजदूत भरसक शरवाको नहीं देना चाहेगा। दूतावासमें बहुत ज्यादा नेपाली सैनिक नहीं थे, लेकिन जो थे, वह भोटिया सैनिकोंकी तरह नवसिखिये बन्दूकची नहीं थे। यदि वह चाहता, तो नेपाली प्रजामेंसे भी हजार-डेढ़ हजारको हथियारबन्द कर सकता था। कुछ घड़ी, कुछ, दिन तो वह जरूर डटकर मुकाबिला कर सकता था। शायद इसे बहादुरी समझा जाता, लेकिन बुद्धिमानी हरगिज नहीं; क्योंकि अब एक शरवा हीके प्राणोंकी बात नहीं थी, बल्कि हजारों नेपाली मारे जाते। राजदूतने जबानी विरोध किया। भोटिया सैनिक शरवाको पकड़कर ले गए। उसी दिन शरवाके ऊपर दो सौ बेंत पडे। उसका मांस और चमड़ा कट गया। लोग कह रहे थे, शरवाने एक बार मी भी नहीं किया। १७ नवम्बरको शरवा मर गया। ल्हासा कोई आधुनिक शहर नहीं, यद्यपि वहाँकी दूकानोंपर आधुनिक चीजें भी बिकती हैं। शहरोंकी हड़तालके बारेमें हम लोग समझते हैं कि यह आधुनिक दुनियाकी चीज है। लेकिन जान पडता है, नागरिकोंकी हड़ताल या दूकानबन्दी पुराने जगतमें भी होती थी। २९ अगस्तको नगरके अधिकारीने सौदागरोंको बुलाकर पहिले तो सांत्वना दी, और फिर कहा, कि जो फिर दूकान बन्द की गई तो सख्त सजा दी जायगी। दूकान तो खैर तबसे बन्द नहीं हुई, लेकिन नेपालियोंमें बड़ी बेचैनी फैल गई। अब साफ़ मालूम होने लगा कि तिब्बत और नेपालमें जरूर लड़ाई होके रहेगी। सेनाकेलिए तम्बू बनने लगे और बाजारमें जितना जीन कपड़ा मिला, सरकारने सब खरीद लिया। सितम्बरके अन्तमें चीनके इलाके सीनिङसे सैकड़ों खच्चर बिकनेकेलिए आए, सरकारने सबको खरीद लिया। नेपाली भी १, २ करके ल्हासा छोड़ने लगे। ज्ञानमान साहुने अपने बड़े भाई त्रिरत्नमानको २० अगस्तको ही भारतकेलिए रवाना कर दिया। अक्तूबरके पहिले हफ्तेमें नेपाली सौदागरोंके पास नेपाल और कलकत्तासे चिट्ठीपर चिट्ठी और तारपर तार आने लगे—सब कुछ बेंच-बाचकर चले आओ।

३ अक्तूबरको सरकार ल्हासाके नागरिकोंकी मर्दुमशुमारी करा रही थी। ५ अक्तूबरको मालूम हुआ, कि दोनों सरकारोंमें तारसे बात हो रही है; यह भी मालूम हुआ कि नेपाली सेना तिब्बती सीमाकेलिए चल चुकी है। ६ तारीखको ज्ञानमान साहूको भी सब छोड़कर चले आनेका तार आ गया, लेकिन वह जानेकेलिए तैयार नही हुए, शायद कितने ही नेपालियोंकी तरह उन्हें भी विश्वास था, कि युद्ध नहीं होगा। ८ अक्तूबरको मालूम हुआ कि नेपाल सरकारने दो शर्तें रखी हैं—अपराधी अधिकारियोंको दंड दिया जाय और तिब्बती सरकार खुले तौरसे माफ़ी माँगे। तिब्बती सरकार इसकेलिए तैयार नही थी। ८ तारीखको पता लगा कि दलाई-लामाने डेपुङ्, सेरा, गन्दन तीनों गुंबाओंके प्रतिनिधियोंको सलाहकेलिए बुलाया, लोग युद्धके पक्षमें नहीं हैं। लेकिन दलाईलामा, प्रधान सेनापति और कुंमेला—लामाके प्रिय दरबारी—तीनों युद्धकेलिए उतारू थे। ४ नवम्बरको ल्हासाकी सड़कोंसे भोटिया पलटन "राइट-लेफ्ट" करती निकली। बिलकुल महादेवबाबाकी बरात, कोई ५५ बरसका बूढा, कोई १२ बरसका छोकरा। उरदी-फुरदीकी कोई जरूरत नही। लेकिन इससे लोगोंको युद्धकी आशंका और बढ़ गई। अब फौजी तम्बू तैयार हो गए थे, चाय पकानेकेलिए बड़े-बड़े बरतन भी खरीदे जा रहे थे। १० नवम्बरको पता लगा, कि शरबाके पकड़नेकी सारी जिम्मेवारी दलाई-लामा और उनके भतीजे लोङ्छेन (प्रधान मंत्री)के ऊपर है। इग्लैंडसे पढ़कर लौटे प्रधान सेनापति भी युद्धके पक्षमें हैं। मैंने एक भोटिया भद्रपुरुषसे पूछा—आधुनिक सैनिक दृष्टिसे नेपालकी पलटन भी लठियल फ़ौज है, लेकिन वह भोटिया फ़ौजसे तो हजार गुना अधिक शिक्षित है। संख्या भी उसकी ज्यादा है, फिर किस उमेदपर भोटिया सरकार तनी हुई है? उन्होंने कहा—रूस मदद करने आएगा। मैंने कहा—रूसके मदद करनेकेलिए आनेका मतलब है, इंग्लैंडका भी उसमें कूदना, यह असंभव है। फिर रूसका तो तुम्हारा तारका भी सम्बन्ध नही, बेतार भी तुम्हारे पास नहीं, छ महीनेमें जब तक मास्को खबर पहुँचेगी, तबतक तो नेपाली पलटनें ल्हासा पहुँच जायेंगी। फिर उन्होंने कहा—चीन हमारी मददकेलिए आएगा। मैंने सोचा—यह कोरा भाग्यवाद है। ११ नवम्बरको नेपालसे आई चिट्ठियोंसे मालूम हुआ कि कुत्ती और केरोङ्के रास्ते तैयार हो गए हैं, पलटनें दनादन जा रही हैं। शरबाने अपने आदमियोंको जल्दी आनेकेलिए जोर दे रहे थे। १४ या १५ तारीख-को किसी नेपाली सौदागरने अपने आदमीको बुलाया था जिसके जवाबमें नेपालसे तार आया था "आना खतरेकी बात है" (Unsafe to Come)।

हिन्दुस्तानसे ल्हासातक तार है, जिसमें ग्यान्चीतक अँगरेजी तार है, इसके बाद भोट सरकारका। उस वक्त तारके खंभोंको बदलनेकेलिए भारतीय तार-विभागने मिस्टर रोजमेयर—एक एंग्लो-इंडियन सज्जन—को उधार दिया था। वह उस वक्त ल्हासामें थ। मेरे पास एक दिन मिलने आ चुके थे। मैं समझता था कि वह सौजन्य दिखलानेकेलिए नहीं, बल्कि यह जाननेकेलिए मेरे पास आये, कि मैं क्या कर रहा हूँ। मेरा काम तो बिलकुल साहित्यिक था। लेकिन उन्होंने सरकारको क्या लिखा होगा, यह कौन जाने? १७ नवम्बरको फिर रोजमेयर आए, वह दूसरे रोज हिन्दुस्तानको रवाना होनेवाले थे। उन्होंने कहा—अँगरेजी सरकार अपने दोनों दोस्तोंमें कैसे लड़ाई होने देगी? यह बात बिलकुल सच थी। इस युद्धकी ख़बर आनन्दजीके पास मैंने सीलोनमें भी भेज दी थी। हमारे नायक स्थविर यह सुनकर बहुत घबडा गए थे और आनन्दजीसे पूछ रहे थे, कि वहाँ हवाई जहाज पहुँच सकता है या नहीं। मैंने जवाब लिख दिया था—"आजतक तो तिब्बतके आकाशमें कोई हवाई जहाज नहीं उड़ा।" २१को नेपालसे तार आया कि नेपालका सम्बन्ध सब सुन्दर है, डरना नहीं चाहिए, पूर्ववत् कार्य करो। पहिली दिसम्बरको मालूम हुआ, कि सुलह होनेमें बहुत सन्देह है।

उधर महीनोंसे लामा लोग पुरश्चरण कर रहे थे। नेपालके महामंत्री चंद्रशमशेर बहुत बूढ़े थे, २५ नवम्बरको उनका देहान्त हो गया; लेकिन ल्हासामें इसकी खबर दो दिन बाद मिली। सब जगह हल्ला हो गया, कि तान्त्रिक लामाओंका पुरश्चरण सफल हुआ, उसीके कारण नेपालके प्रधान मंत्री मरे। २८ दिसम्बरको सुना कि नेपालसे युद्ध होनेमें कोई सन्देह नहीं है। नेपालमें अब चन्द्रशमशेरके छोटे भाई भीमशमशेर प्रधान मंत्री हुए। मुझे निश्चय हो गया, कि अब लड़ाईकी कोई संभावना नहीं है। ११ और १२ फरवरीको पता लगा कि नेपाली सेना सीमापर पहुँच गई। तिब्बती अधिकारियोंमें अब ज्यादा घबराहट थी। इसी समय चीन सरकारका दूतमंडल ल्हासा पहुँचा, जिसमें एक स्त्री भी आई। १३ फ़र्वरीको नाव और पैदल दोनों रास्तोंपर सिपाही बैठा दिये गए और अब कोई नेपाली या अर्द्ध-नेपाली (भोटिया औरतोंसे नैपाली पुरुषोंकी सन्तान) ल्हासा छोड़कर बाहर नहीं जा सकता था। अब युद्धमें क्या सन्देह हो सकता था?

१३ फ़र्वरीको यह भी पता लगा कि नेपाल और भोटमें मेल करानेकेलिए सरदार बहादुर लेदन्ला आ रहे हैं। लेदन्ला दार्जिलिंगके एक भोट-भाषाभाषी सज्जन थे। वह पुलीसमें मामूली थानेदारसे तरक्की करते-करते सुपरिन्टेन्डेन्ट बने थे।

अँगरेजी सरकारके बड़े खैरख्वाह थे, लेकिन, साथ ही भोटके लोगों और बौद्धधर्मसे उन्हें बहुत प्रेम था। यह कुछ दिनोंतक भोटिया पुलिसके नवसंगठन और शिक्षणके लिए ल्हासामें भी रह चुके थे। १५फरवरीको तोप लिए पलटन शहरके भीतरसे घूमी। युद्धका पारा बहुत ऊँचा हो गया। नेपाली न चलेजानेके लिए अब पछता रहे थे। उसी दिन यह भी मालूम हुआ, कि लेदन्‌ला ल्हासासे दो दिनके रास्तेपर आकर लौट गए। ल्हासामें इस वक्त चीनी दूत भी आकर मौजूद थे, इसके कारण भोटिया लोगोंको ज्यादा बल मालूम हो रहा था। १६फर्वरीको लेदन्‌ला ल्हासा पहुँच गए। २५फर्वरीको पता लगा, कि लेदन्‌ला दलाईलामासे तीन घंटा एकांतमें बात करते रहे, उसके बाद उन्होंने मंत्रियोंसे बात की। २६ फर्वरीको मालूम हुआ कि कुम्-भेला और सेनापति समझौतेके पक्षमें नहीं हैं। ७ मार्चतक लेदन्‌लाको अपने काममें सफलता नहीं हुई। ११ मार्चको खबर मिली, कि लेदन्‌ला अपने प्रयत्नमें सफल हुए हैं, और समझौतेकी बातें नेपाल सरकारके पास स्वीकृतिकेलिए भेज दी गईं। १६ मार्चको फिर खबर उड़ी, कि लेदन्‌ला हताश होकर लौटे जा रहे हैं। १८ ता०-को अब भी युद्धकी आशंका थी, लेकिन प्रामाणिक लोग सुलहकी आशा कर रहे थे। २० नवम्बरको मैं लेदन्‌लासे मिला, वह बड़े ही चतुर और मिष्टभाषी मालूम हुए। २२ मार्चके मध्याह्नको खबर आई, कि समझौता हो गया। चारों ओर खुशी ही खुशी दिखलाई देने लगी। लेदन्‌ला ही थे, जो इस गुत्थीको सुलझा सके, नहीं तो भोटिया पागल राजनीतिज्ञ न जाने क्या कर बैठते। लेकिन पीछे यह देख मुझे बड़ा अफसोस हुआ, कि अँगरेजी सरकारने लेदन्‌लाके प्रयत्नका उचित सत्कार नहीं किया। यदि कोई अँगरेज उतनी सफलता प्राप्त किये होता तो वह 'सर' या न जाने क्या बनाया जाता।

उधर यह सारा तूफान चल रहा था, उसी वक्त ल्हासामें रहकर मुझे अपने काममें लगा रहना पड़ता था। शायद ऊपरके लिखनेसे मालूम हो, कि मैं बड़े प्रयत्नसे इन सूचनाओंको जमा करता था। बात यह नहीं थी। नेपाली या भोटिया जिससे भी मेरी मुलाक़ात होती, बातके दौरानमें युद्धकी बातें जरूर आती थीं, और मैं उनको डायरीमें नोट करता जाता, दिमाग़ भी बातोंके विश्लेषणमें लग जाता था। मैं लड़ाईसे बहुत चिन्तित नहीं था, यह जरूर था, कि उसके छिड़नेपर मुझे ल्हासा छोड़कर किसी दूसरी जगह जाना पड़ता। जिस नई कोठरीमें मैं चला आया था, उसकी बगल हीमें क़ादिर भाईकी स्त्री सतीजा रहती। क़ादिर भाई आधे तिब्बती और आधे कश्मीरी थे, लेकिन सतीजा शुद्ध तिब्बती थी, और सिर्फ तिब्बती

बोल सकती थी। सब लोग जानते थे कि मैं अपने काममें दत्तचित्त रहता हूँ, इसलिए ज्यादा बातचीत करने नहीं आते। ८ सितम्बरको धीरेन्द्र गुभालाको उनके मालिकने निकाल दिया। मालिककी कोठी ल्हासाके नेपालियोंकी बड़ी कोठियोंमें थी, बड़ी कोठीवाले अक्सर औरत नहीं रखते—खासकर खुल्लमखुल्ला नहीं रखते—लेकिन यह मालिक अर्धचीनी तरुणीको घरमें बैठा ऐश-जैशमें अंधा-धुंध खर्च करता था। लोगोंको आश्चर्य होता था, कि कोठीका असली मालिक उसका मामा इसपर क्यों नहीं ध्यान देता। इस मालिक और नौकरके झगड़ेसे एक फ़ायदा हुआ कि धीरेन्द्रवज्र छुशिङ्शामें चले आए। ल्हासामें ५, ६ सौ घर अर्धकश्मीरी मुसलमानोंके हैं, इनके अतिरिक्त कुछ चीनी मुसलमान हैं, लेकिन दोनोंमें कोई वैसी घनिष्टता नहीं। कश्मीरी मुसलमान १७वीं सदीके मध्यमें पाँचवें दलाईलामाके शासनके वक्त ल्हासामें प्रथम-प्रथम आए। अबतो उनकी काफ़ी संख्या है। पहिले वह अपने मुर्दोंको नदीमें बहा देते थे, लेकिन पीछे दलाईलामाने जमीन देदी, जहाँ मसजिद और कबरस्तान बना। एक दिन कादिरभाईके घर मौलूदशरीफ़की कथा हुई, मौलवीने उर्दूमें कथा कही, फिर भोज हुआ। कादिरभाईने एक अच्छे करीगरसे घेवर बनवाया। प्रसाद पड़ोसमें रहते मेरे पास क्यों न आता ?

सितंबरमें अब फ़सल कटने लगी, इस वक़्त ल्हासामें पतंगबाजी होती है। शायद नेपालियोंने इस खेलको ल्हासामें फैलाया। सर्दी बढ़ रही थी। १७सितंबरको दक्षिणके पर्वतोंपर पहले-पहले बर्फ पड़ी। लड़ाई और उसके बाद तिब्बत और अंग-रेजोंसे जो घनिष्ठता बढ़ी, उसका एक फल यह हुआ कि ल्हासा तक तार लग गया। इससे मुझे भी फायदा था, क्योंकि मैं हिन्दुस्तान या लंका आसानीसे तार भेज सकता था। तारकी दर कई वर्षों पहिले मुक़र्रर की गई थी, लेकिन तबसे भोटिया सिक्के-का मोल अब चौथाई रह गया था, तो भी वही दर क़ायम थी। इसी घनिष्टताके वक़्त दलाईलामाने तिब्बतके ४, ५ लड़कोंको इंगलैंड पढ़नेकेलिए भेजा था, जिनमें एक तो लौटकर मर गया। एक बिजलीका इंजीनियर बना, और पानीसे बिजली तैयार की, जो सारी टकसालमें काम आती है, और लामाके उद्यानप्रासादमें भी लगी हुई है। शहरमें अभीतक बिजली नहीं आई थी। एक नौजवान आजकल भोटका प्रधान सेनापति था, और चौथा एक छोटेसे जोङ्का अफ़सर बना दिया गया था।

ल्हासामे दो-दो, तीन-तीन मीलपर डेपुङ् और सेराके बड़े-बड़े विहार हैं। डेपुङ्में सात हज़ारसे ज्यादा और सेरामें पाँच हज़ारसे ज्यादा भिक्षु रहते हैं।' वैसे तो ये नालन्दाकी तरहके विश्वविद्यालय हैं, लेकिन इनमें रहनेवाले पाँच-पाँच, सात-

सात हजार भिक्षु सारेके सारे विद्या पढ़नेकेलिए यहाँ नहीं रहते। मामूली पढ़नेवालोंकी संख्या शायद बीस, पच्चीस सैकड़ा हो। असली विद्यार्थी तो दस सैकड़े ही होंगे। बचे हुओंमें बाकी संख्या उजड्ड ढावोंकी है। यह मठका रसोई-पानीसे लेकर जागीरका इन्तजाम और व्यापारतक करते हैं। जरा-जरा बातमें झगड़ पड़ते हैं, और कितने ही समय तो द्वंद्वयुद्धकी नौबत आ जाती है। उनका द्वंद्वयुद्ध मामूली कुश्ती नहीं होता। वह तलवार खूब तेज करते हैं, युद्धस्थान निश्चित कर लेते हैं, फिर शराब पीकर वहाँ अपने मित्रोंके साथ पहुँचते हैं। तलवार लेकर अखाड़ेमें कूदते हैं, जिसमें एकका मरना निश्चित है, दूसरा फिर वहाँसे किसी दिशाकी ओर चला जाता है। इन ढावोंसे लोग बहुत डरते हैं। गुंबाके बड़े अफसरोंको छोड़ वह किसीको कुछ नहीं मानते। गेलुग्पा सम्प्रदायके भिक्षुओंका शराब न पीना मशहूर है और मठोंमें तो वह बिल्कुल नहीं जा सकती, इसलिए छङ् पीनेकेलिए उन्हें शहर आना पड़ता है। उनकी नशा कभी-कभी खतरनाक सूरत ले लेती है। कभी-कभी तो बिना शराब पिये ही ऐसी नौबत आ जाती है। ३० सितंबरको कटे पतंगका सूत लूटनेकेलिए एक पुलीसमैनका ढावासे झगड़ा हो गया, ढावाने पत्थर मारकर पुलीसवालेको वहीं खतम कर दिया।

लदाखमें ठिक्से एक अच्छा विहार है। मठोंमें जब कोई प्रभावशाली महन्त हो जाता है, तो उसके मरनेपर यहाँवाले अवतारकी कल्पना कर लेते हैं, और शिष्यकी जगह किसी लड़केको उसका अवतारी मान कर गद्दी पर बैठाते हैं। तिब्बती बौद्धधर्म जहाँ-जहाँ आया, सभी जगह ऐसे अवतारी लामाओंका प्रचार है, आजकल उनकी संख्या कई हजारोंतक पहुँच गई है। इन अवतारी लामाओंका ही तिब्बतमें सबसे ज्यादा मान है। लेकिन विद्याबुद्धिमें शायद ही कोई अच्छा निकलता हो। अवतारी लामाओंसे एक फ़ायदा जरूर है, ये आमतौरसे बड़े खान्दानोंके लड़के होते हैं, छोटे घरका होनेपर भी अपनी शिक्षा-दीक्षाके कारण वह बड़ी जातिवाले बन जाते हैं। इनकी सारी मनोवृत्ति राजाओं और सामन्तों जैसी होती है। बचपनहीमें उनका बहुत अदब और दुलार किया जाता है, बड़े-बड़े लोग तीन-तीन बरसके बच्चेके सामने आशीर्वाद पानेकेलिए अपना सिर नवाते हैं, फिर उसका दिमाग क्यों न आसमानपर चढ़ जाये? पढ़नेकेलिए मेहनत करनेकी उन्हें क्या जरूरत? ऊँचे तबकेके लोग उनके आसपास रहते हैं, इसलिए उनकी भाषा स्वभावसे ही अधिकांशतः परिमार्जित हो जाती है। ठिक्से है तो लदाखमें, लेकिन यहाँका अवतारी लामा बना ल्हासासे ले जाया गया एक लड़का। जवान होनेपर उसे मठका जीवन पसन्द

नहीं आया। वह खुल्लमखुल्ला विलासी बन गया। अन्तमें, मठवाले भिक्षुओंको विरोध करना पड़ा, और वह ल्हासा चला आया। आजकल ल्हासाके पच्छिमी थानेमें वह अफ़सर था। आदमी होशियार था। मुझसे अक्सर बात होती रहती थी। इसका बाप एक अच्छा अफ़सर था, लेकिन दोनोंकी पटरी नहीं बैठती। एक बार ठिक्सेके भूतपूर्व अवतारी लामा, इस रंगीले तरुणसे मैंने हँसते हुए पूछा। "क्या तुम इन अवतारी लामाओंको मानते हो?" उसने कहा—"मैं खुद अवतारी लामा हूँ, लेकिन उसे बिल्कुल धोखा समझता हूँ। दलाईलामाको छोड़ मैं किसीको अवतारी नहीं मानता। दलाईलामा राजा है। राजाको अवतारी माने बिना जान कैसे बच सकती है।"

२२ नवंबरको वह तिथि थी, जिस दिन बुद्ध देवलोकमें माँको उपदेश देकर पृथ्वीपर उतरे थे। यह घटना संकास्यमें हुई थी, इसे पहिले मैं बतला चुका हूँ। देवावतरणका उत्सव ल्हासामें बहुत धूमधामसे मनाया जाता है। कुछ दिन पहिले हीसे घरोंकी सफ़ाई और सफ़ेदी होने लगती है। नवंबरमें अब जाड़ेका दिन था। जाड़ोंमें पशुओंको चारेका सुभीता नहीं होता, इसलिए वह दुबले हो जाते हैं, उनका मांस घटने लगता है; अतएव अक्तूबर और नवंबरमें पशुओंको मारकर ८ महीनेके लिए मांस जमा कर लिया जाता है। भेड़ोंका मांस तो आमतौरसे चमड़ा निकालनेके बाद पूराका पूरा टाँग दिया जाता है, और धीरे-धीरे वह सूख जाता है। याक और दूसरे बड़े जानवरोंके मांसको टुकड़े-टुकड़े काटकर रस्सियोंपर टाँग दिया जाता है। काहिर भाईने एक याक मरवाया था और उसका मास मेरी ही कोठरीके भीतर सूखनेकेलिए टाँगा था। याक आमतौरसे काले रंगका होता है, लेकिन कितनों हीकी पूँछें सफेद होती हैं। मरनेके बाद उसे थोड़ीसी पूँछके साथ काट दिया जाता है, जिसमें बाल उसमें लगा रहे। इसी कटी पूँछको चाँदी या किसी और धातुके मुट्ठेमें जमा दिया जाता है और वह हमारा पवित्र चँवर बन जाता है।

याक् ल्हासासे बहुत उत्तर अब भी जंगली अवस्थामें मिलते हैं, और वह पालतू याकसे तीन-तीन, चार-चार गुने बड़े होते हैं। पालतू याक भैंसके बराबर होता है। वह ठंडी जगहका बैल है, लेकिन हमारे हिन्दुस्तानी बैलों (गायों)की अपेक्षा वह यूरोपीय बैलोंकी तरह ककुद-शून्य होता है। हमारी गाय और याक् दोनोंके जोड़से पैदा हुई नसल बराबर चलती है, इसलिए दोनोंकी जाति एक है; इसमें सन्देह नहीं। नेपाली लोग तिब्बतमें याकका मांस बराबरसे खाते आए हैं, और अब भी खाते हैं। मैं तो पहिली यात्रामें, उसे नहीं खा सका, क्योंकि मुझे पूरा विश्वास था कि

वह गाय है और पुराने संस्कार मुझे उसके आस्वादकी ओरसे विरक्ति पैदा करते थे।

मेरे पास पैसे बहुत थोड़े थे, यह मैं कह चुका हूँ। मैंने पहिले चाहा था कि महीनेमें दो-तीन लेख किसी अखबारकेलिए लिख दिया करूँ, और उससे बीस-पचीस रुपये चले आएँगे, लेकिन अभी मैंने एक ही दो बरससे हिन्दी पत्रिकाओंमें लेख देने शुरू किये थे, इसलिए पत्रोंसे क्या आशा हो सकती थी। हाँ, अपने मित्रोंको मैंने सूचना दे दी थी और ल्हासा पहुँचनेके डेढ़ महीने बाद ही आचार्य नरेन्द्रदेवजीने बनारससे डेढ़ सौ रुपये भिजवा दिये। हफ्तेभर बाद एक सौ चौदह रुपये चार आना उन्होंने और भेजवा दिये। उधर आनन्दजी भी स्थायी प्रबन्धकी कोशिश कर रहे थे। अब आठ-दश महीनेके खाने-कपड़ेकी चिन्तासे तो मैं मुक्त था। लेकिन निश्चिन्त हो लम्बा प्रोग्राम तो मैं तभी बना सकता था, जब कि खाने-पीनेका स्थायी प्रबन्ध कर लेता। मैंने पहिले सोचा था, कि मेरा संस्कृतका ज्ञान लंकाकी तरह तिब्बतमें सहायता करेगा, लेकिन यहाँ संस्कृतको कोई पूछनेवाला नहीं था। मंत्र तिब्बतमें भी संस्कृत हीमें जपे जाते हैं, लेकिन भोट भाषाको वह संस्कृतसे कम पवित्र नही मानते। और वैसे भी देखा जाय, तो जहाँतक बौद्धसाहित्यका सम्बन्ध है, आज संस्कृत भाषा भोट भाषाके सामने अत्यन्त दरिद्र है। यह ठीक है कि तिब्बती भाषाके दस हजार ग्रन्थोंका संस्कृतसे ही अनुवाद किया गया था, लेकिन अब तो दो-ढाई सौसे अधिक ग्रन्थ संस्कृतमें नहीं मिलते। इनमें भी ज्यादा वही हैं, जिन्हें पीछेकी तीन यात्राओंमें मैंने तिब्बतके पुराने मठोंमें पाया। जनवरी (१९३०)में आनन्दजी और आचार्य नरेन्द्रदेवकी चिट्ठियाँ आई थी कि वह स्थायी प्रबंध कर रहे हैं। आनन्दजीने यह भी लिखा था, कि यहाँसे रुपया जानेपर आपको सारी किताब वहींसे खरीद कर चला आना पड़ेगा। नरेन्द्रदेवजी काशीविद्यापीठसे प्रबंध करवा रहे थे और वह प्रबंध हो जानेपर मैं तिब्बतमें रहके पढ़ सकता। दोनों जगहोंमें मैं विद्या-पीठकी छात्रवृत्तिको ही पसन्द करता था, क्योंकि मैं तिब्बतमें कुछ वर्षोंतक रहकर पढ़ना चाहता था। तेईस फ़र्वरीको आनन्दजीका तार आया कि दो हजार रुपये लंका-से भेज दिये गये। नरेन्द्रदेवजीका पत्र उससे चार दिन पहिले (उन्नीस फ़र्वरी)को ही मिल गया था। जिसमें पचास रुपये मासिक और डेढ़ हजार रुपये पुस्तकोंकेलिए सहायताकी बात लिखी थी, लेकिन उसमें अभी मुझसे राय माँगी गई थी और फिर बैशाखमें वह मिलता। मुझे लंकावाले प्रस्तावको स्वीकार करना पड़ा, बहुत पछताते हुए। नायक स्थविर उसमें पड़े हुए थे, और मैं उनको निराश नही कर सकता था।

इस तरह कमसे कम तिब्बतमें तीन सालतक रहनेका मेरा संकल्प पूरा नही हो सका।

मंगोल भिक्षुओंकी ओर मैं ल्हासामें बहुत ज्यादा आकृष्ट हुआ, क्योंकि मैंने उन्हें ज्यादा मेहनती और मेधावी पाया। मेरे रास्तेके साथी सुमतिप्रज्ञने तो इसके बारेमें बिलकुल उलटा असर डाला था। हो सकता है, इसमें कारण पिछले बारह सालोंसे बढ़ता हुआ मेरा सोवियत प्रेम भी हो। यद्यपि अभीतक मुझे मार्क्स, एंगेल्स और लेनिनके ग्रन्थोंके पढनेका मौक़ा नही मिला था, और न किसी दूसरे साम्यवादीके किसी मौलिक ग्रन्थको पढ़ा था। तो भी छ साल पहिले मैं 'बाईसवीं सदी' लिख चुका था। और मुझे दृढ़ विश्वास हो गया था, कि दुनियाकी भलाईकेलिए साम्यवाद छोड़ दूसरा कोई रास्ता नहीं। धर्मसे मैं अब लम्बी-लम्बी आशायें नही रखता था, लेकिन अभी धर्मविरोधी नही बना था, खासकर बुद्धके धर्ममें मेरी बड़ी ही श्रद्धा थी, वस्तुतः उसीके प्रतापसे मैं अनीश्वरवादी बना था। से-रा, डे-पुङके मंगोल छात्र ज्यादातर साम्यवादी इलाक़ेके थे। उन्होंने क्रान्तिके पहिले अपने देशको छोड़ा था। उन्हें जो खबरें पीछे मिलती थी, उनसे यही मालूम होता था कि गुंबा (मठ) उजड़ती जा रही हैं, भिक्षु कम होते जा रहे है। मेरा परिचय ज्यादातर पब्-दङ्-शेरब और गेशे तन्-दर जैसे मेधावी विद्वानोंसे था। वह सोवियतके विरोधी नहीं थे, बल्कि अपने मातृभूमिके साथ-साथ सोवियत् व्यवस्थाकेलिए कुछ गर्व करते थे। गेशे तन्-दर पाँच साल बाद तिब्बतकी सबसे श्रेष्ठ परीक्षामें सारे तिब्बतमें प्रथम आये थे। ल्हारम्-पा (डाक्टर या आचार्य)की पदवी सरकारकी ओरसे प्रतिवर्ष सिर्फ़ सोलह आदमियोंको मिलती, और ऐसे ही विद्वानोंको, जो शास्त्रार्थ और कड़ी मौखिक परीक्षाओंमें पास होते हैं। गेशे तन्-दर् अभी ल्हा-रम्-पा नही हुए थे, लेकिन उनकी विद्वत्ताकी ख्याति हो चली थी। वह से-राके विद्यार्थी थे। बारह अक्तूबरको मैं उनके साथ से-रा गया। (अफसोस १९४७ ई० इस महान् विद्वान्के खन्-पोको गुंडे ढाबोंने शांतिका उपदेश करनेके लिए मार डाला)।

से-रा भी मानो एक छोटासा शहर है। पाँच-छः हजार भिक्षु जहाँ रहते हों, वह शहर छोड़कर और क्या हो सकता है ? से-रामे चार ड-सङ् (कॉलिज) हैं। और हर ड-सङ्का प्रमुख खन्-पो (पंडित) कहलाता है। लेकिन चारोंमेंसे तीन—ग्ये, म्ये, ङ ग्-पा इन तीन ही ड-सङ्मे पढ़ने-पढानेका काम होता है। ङ ग्-पा ड-सङ् सबसे छोटा है और उसमें कोई खम्-जन् (छात्रावास) नहीं है। ग्येमें बीस खम्-जन् है और म्येमें चौदह। खम्-जन् हरेक देशके अलग-अलग हैं, यह मैं डे-पुङ्के प्रसंगमें

चलता आया है। गुंबामें कई बड़े-बड़े देवालय हैं और पाँच सदियोंसे श्रीवृद्धि होते रहनेके कारण यहाँके अनेकों देवालयोंमें बहुत सोना-रतन भरा हुआ है, बीस-बीस, तीस-तीस सेरके सोनेके दीपकोंमें घीका चिराग जलता रहता है। मैं म्वेके टन्-पोके पास गया, वह मुझे बहुत सूखासा असंस्कृत आदमी जान पड़ा। टन्-पोकी नियुक्तिमें चूँकि दलाईलामा और उनके खुशामदी दरबारियोंका हाथ होता है, जो कि खुद पंडित नहीं होते, फिर अच्छे आदमियोंकी नियुक्ति कैसे हो सकती है? १९३३में दलाईलामाके मरनेके बाद आनेवाले दलाईलामाकी नाबालिगी भरके-लिए रे-डिङ् लामा रिजेन्ट (स्थानापन्न राजा) बने। उस समय रे-डिङ् लामा अठारह वर्षके तरुण थे, और से-रामें पढ़ते थे। गेशे तन्-दर् मुझे उनके पास ले गये। वह मुझे बहुत ही सौम्य तरुण मालूम हुए। एक बहुत बड़े मठके अवतारी लामा होनेके कारण उनकी पढ़ाई उतनी अच्छी नहीं थी, यह स्वाभाविक ही था।

नवंबर-दिसंबर पहुँचते-पहुँचते सर्दी खूब बढ़ गई थी और तापमान अक्सर हिमबिन्दुसे नीचे रहता था। घड़े या लोटेका पानी रातको जम जाता था। गमलेके फूल शाम होनेसे पहिले ही घरके भीतर रख लिये जाते थे, जिससे कि वह सूख न जायँ। दलाई लामा, टशी लामा जैसे बड़े बड़े लामा, गनदन, सेरा, डेपुङ् और टशी-लुहुन्-पो जैसे बड़े-बड़े विहार जिस गेलुक्-पा संप्रदायके अनुयायी हैं, उसके संस्थापक चोङ्-ख-पाका भोटिया दसवें महीनेकी दसवीं तिथिको (पूस बदी दशमी) देहान्त हुआ था, वह अबकी बार २५ नवंबरको पड़ी थी। उस रात ल्हासा और से-रा, डे-पुङ आदि विहारोंमें खूब धूमधामसे दीवाली मनाई गई। ल्हासा एक बड़ी चौड़ी उपत्यकामें बसा हुआ है, जिसमें पहाड़ पाँच-पाँच, छ-छ मील दूर पड़ते हैं। इन पहाड़ोंमें जहाँ-तहाँ सैकड़ों छोटे-छोटे विहार हैं। उस रात सभी जगह दीप जलाये गये थे। कृष्ण-पक्षकी दशमीकी अँधेरी रातको यह दीपमालिका देखनेमें बड़ी सुन्दर मालूम होती थी। ल्हासाकी सड़कोंपर यह प्रकाशपर्व देखनेके-लिए दर्शकोंकी भीड़ लगी थी। मंत्री लोग भी अपने परिचारकोंके साथ घूम रहे थे। लेकिन साढ़े सातबजे बाद ही स्त्रियोंका सड़कोंपर घूमना खतरेकी बात थी।

१९ जनवरीको खबर फैली, कि सातवें दलाईलामाकी समाधिमें चोरी हो गई, और चोरी करनेवाला पुजारी अफसर पकड़ा गया। दलाईलामाओंके शवको फूँका नहीं जाता, उसे दो तीन महीना नमककी ढेरमें डाल दिया जाता है, नमक शरीरके सारे रसको सोख लेता है, और सड़नेसे भी बचाता है, फिर मसालेका लेप लगा आँख आदि लगाके लाशको पद्मासन बैठी मूर्त्तिसा बना देते

हैं—पंचासन तो प्राण छूटते ही बना देते हैं। लोग इस नमकका प्रसाद समझकर उपयोग करते हैं। चार साल बाद जब फिर मैं ल्हासा आया था, तो हाल हीमें मरे तेरहवें दलाईलामाका यह लवणप्रसाद बाँटा जा रहा था। मूढविश्वासके बारेमें मत कुछ पूछिये। हमारे सभ्य कहलानेवाले भारतीय भी तो धर्मके नामपर गुरुओंकी थूक और नहाये जलको ग्रहण कर अपनेको पुण्यवान् समझते हैं। विवेकानन्दके प्रशंसकोंने यहाँतक लिख दिया है कि वह एक बार रामकृष्ण परमहंसके कफ (थूक, खखार) भरे बरतन (उगालदान)को गुरु-श्रद्धाके मारे उठाकर पी गये! फिर यदि तिब्बतके कुछ भोलेभाले भगत अपने अवतारी लामोंके मूत्र-पुरीषका चरणामृत बनाते हों, तो इसकेलिए बहुत आश्चर्य नहीं है।

दलाईलामाका मृत शव एक बड़े स्तूपमें रखा जाता है, और उसके साथ-साथ लामा की बहुतसी प्रिय वस्तुएँ,—हीरा, मोती, रत्न-जड़े प्याले, हस्तलिखित पुस्तकें और न जाने क्या क्या डाल दी जाती हैं। स्तूपके बाहर भी कितनी ही कीमती चीजोंसे उसे सजाया जाता है। पाँचवा दलाईलामा ही पहिला शासक था, उससे लेकर आगेके सभी दलाईलामाओंकी समाधियोंपर बड़े स्तूप बने हुए हैं। उनकी पूजा और पहरेदारीकेलिए एक भिक्षु अफसर और कितने ही सहायक रहते हैं। उक्त अफ़सरने कितने ही महीनोंसे सातवें दलाईलामाकी समाधिके मोती, फ़ीरोजे आदि बेचने शुरू किये थे, जब बदली होनेका वक़्त करीब आया, तो वह वहाँसे भाग गया। साल या अधिकसे कन्-छी लम्-मर (एक सुन्दरी) के साथ वह बड़े मौजसे रहता था। किसीने सन्देह नहीं किया, कि उसके पास इतना पैसा कहाँसे आता है। उसने ज़्यादातर माल नेपाली सौदागरोंके हाथ बेचा था और वह अबतक अधिकतर जवाहिरात तिब्बतसे बाहर निकाल चुके थे। ख़ैर, चोरी तो की, लेकिन उसमें उतनी अक़्ल नहीं थी। दक्खिन (हिन्दुस्तान) भागनेकी जगह वह उत्तरकी ओर भगा। किसी पहाड़में दो-तीन दिनतक छिपा रहा, फिर भूख लगी, तो बस्तीमें खाना लेने आया और पकड़ लिया गया। वह और कन्-छी लम्-मर दोनों पकड़े हुए पोतलाकी हवालातमें गये, और तब उनपर ख़ूब मार पड़ी। उन्होंने सबका नाम बतला दिया और जिन-जिनने माल खरीदा था, सब पकड़े जाने लगे। नेपाली प्रजाकी जिम्मेदारी नेपाली राजदूतने ली। हमारे सामने मोतीरत्न रहते थे, उन्होंने भी दोनोंको एक रात-दिन अपने घरमें छिपाया और एक बड़े बकसमें बन्द करके रखा था। सब पकड़े गये।

२४ जनवरीको अख़बारोंसे मालूम हुआ कि श्री मजहरुलहकका देहान्त हो गया। उनके नामके साथ 'मौलाना' लगानेमें मुझे संकोच होता है, क्योंकि वह जितने महान्

थे, उसकेलिए यह उपनाम बिल्कुल तुच्छ है। उतने सीधे-सादे, सच्चे, निर्भीक, निष्पक्ष त्यागी व्यक्ति दुनियामें बहुत दुर्लभ है। मैंने उन्हें नजदीकसे देखा था। एक मरतबे उन्होंने अपने "आशियाना"में रहनेकेलिए आग्रह किया था, किन्तु उड़ती चिड़ियाकेलिए आशियाना भी पिंजड़ा है। मुझे हक साहबके प्रति अटूट श्रद्धा थी। किसी समय काफी दिनोंतक उनके साथ रहनेकी मेरी इच्छा कभी पूरी न हुई। मृत्युकी खबर सुनकर मुझे बड़ा अफसोस हुआ। मैंने उस दिन अपनी डायरीमें लिखा, कि छपरामें उनकी स्मृतिमें एक हक कालेज खोला जाय। १९३०में छपरामें कालिजकी बात बहुत दूर थी। पीछे कालिज तो खुला, लेकिन हक कालेज नहीं, राजेन्द्र कालेज। राजेन्द्र बाबू भी बिहारके एक अद्वितीय रत्न हैं, इसलिए उनके नामसे कालेज खोलकर लोगोंने अच्छा ही किया, मगर मुझे डर है कि लोग धीरे-धीरे अपने इस अद्वितीय देशभक्तको कहीं भूल न जायें। छपरा-डिस्ट्रिक्टबोर्डको अपने हाथमें लेकर हक साहबने वहाँ शिक्षामें कायापलट कर दी। छपरावालोंको हमेशा याद रखना पड़ेगा, कि गाँवोंमें शिक्षा-प्रसारकेलिए सबसे प्रथम सबसे बड़ा काम हक साहबने किया है।

शो-गङ् जेनरलका परिवार तिब्बतके सबसे धनी रईसों हीमें नहीं है, बल्कि बहुत सम्माननीय भी है। तिब्बतके रईसोंकी आठ श्रेणियाँ हैं, जिनमें ऊपरवाले चार अपने केशको आभूषणके साथ चाँदपर बाँधते हैं। पाँचवी-छठवी श्रेणीवाले भी अपने केशोंके ऊपर बाँधते हैं, किन्तु वहाँ आभूषण नहीं होता। सातवी-आठवी श्रेणीके रईस चोटी गूँथकर उसे पीठपर लटकाते हैं, साथ ही उसमें आभूषण भी लगाते हैं। प्रथम तीन श्रेणीके अमीरोंकी स्त्रियाँ ल्हाचम-कुशो कही जाती हैं और बाकी की चामकुशो। शो-गङ् जनरल प्रथम श्रेणीके अमीर हैं। तिब्बतमें स्त्रियोंका कितना अधिकार है, इसका अच्छा उदाहरण शो-गङ् जनरलकी जीवनी है। जनरल कहनेसे यह न समझें, कि पुराने सैनिक-साइंसके भी वह बड़े भारी पंडित थे। बड़े घरके होनेसे वह जनरल बन गए थे। जनरल साहबने दार्जिलिङ (दोर्जे लिङ) से गई एक तरुणीको अपना दिल दे डाला। मैंने उनकी प्रेयसीको नहीं देखा, लेकिन ल्हाचम्को कई बार देखा। मैं नहीं समझता, वह तरुणी ल्हाचम्से ज्यादा सुन्दरी होगी। घरमें रहनेवाला उनका कोई भाई भी नहीं था, कि जिससे अपनी अलग स्त्री रखनेका लोभ होता। ल्हाचम्ने जब वैसा रंग ढंग देखा, तो पतिको महलसे निकाल बाहर कर दिया। बेचारे जनरल किराएके एक छोटेसे मकानमें रहते थे। ल्हाचम् सत्तू-मक्खन जो कुछ भिजवा देती थीं,

उसीपर गुजारा करते थे। जब कभी कपड़ा बनवानेकी जरूरत होती, तो पहिले पता लगवा लेते, कि ल्हाचम् महलकी खिड़कीपर बैठी हैं या नहीं, और फिर अपने फटे-पुराने कपड़ेको पहिने बहुत धीरे-धीरे सामने सड़कसे निकलते। ल्हाचम् सच-मुच ही बहुत दयालु स्त्री थीं, और वह उनके पास कपड़ा-लत्ता भिजवा देतीं। धो-गङ् देपोन (देपोन-सेनापति) की यह घटना सर्वसाधारणको इतनी आकर्षक मालूम हुई, कि किसी अज्ञात कविने गीत बना डाले और चन्द ही दिनोंमें लड़के उस गीतको गलियोंमें गाते फिरते थे। बहुत दिनों तक वह गीत लोगोंका प्रिय गीत बना रहा। धो-गङके नौकरने एक-दो बार मुझसे भी आकर कहा था कि जरनैल आपसे मिलना चाहते हैं। मैंने समझा, कोई जोतिस-ओतिसकी बात पूछेंगे, इसलिए नहीं जा सका।

६ फर्वरीको ल्हासामें पहली हिमवृष्टि हुई, लेकिन वह हलकी-सी थी। पीछे एक दिन सोलह अंगुल मोटी बर्फ पड़ी थी, किन्तु दोपहर तक गल गई। ल्हासा शहरके बीचो-बीच तिब्बतका सबसे पुराना बुद्ध-मन्दिर जोखङ है, यह सातवीं शताब्दीके मध्यमें बना था। मैं वहाँ अनेक बार दर्शन करने गया था। वह एक पवित्र स्थान ही नहीं, बल्कि तेरह शताब्दियोंकी मूर्ति-कलाका एक सुन्दर संग्रहालय है। जोखङके दरवाजेके बाहर एक सूखा हुआ पुराना पेड़ है, कहते हैं कि यह उसी समयका पेड़ है, जब मंदिर बना था।

पहिली मार्च (माघ सुदी परवा) को तिब्बती नववर्षका प्रथम दिन था। नववर्षके प्रथम दिनसे एक महीने तक ल्हासाका राज दलाई लामा छोड़ देते हैं, और उनकी जगह डे-पुङ विहारके निर्वाचित भिक्षु राज करते हैं। मैं बतला चुका हूँ, कि प्रथम महंतराज पाँचवें दलाई-लामा डे-पुङके एक महंत (खनपो) थे। शायद उसी स्मृतिमें यह राज्य डे पुङ विहारकी ओरसे होता रहा। पाँचवें दलाई लामा बौद्धभिक्षु और अच्छे पंडित थे। हो सकता है, उन्होंने व्यक्तिकी जगह भिक्षुओंके संघकी ओरसे एक महीने राज करनेकी प्रथाको चलाकर संघके राजकी खूबी दिखलानी चाही हो। यदि यह बात सोची हो, तो नतीजा बिलकुल उल्टा हुआ है। राज करनेके लिए भिक्षु अपने-अपने चुनावके लिए खूब रिश्वत देते हैं। जुर्माना और दूसरी तरहसे एक महीनेमें काफ़ी आमदनी करते हैं। और फिर इन अधिकारियोंके चुननेमें कुछ मुट्ठीभर खुशामदी दरबारियोंका हाथ होता है। इतना जरूर होता है, कि एक महीनेके लिये ल्हासाका फैला हुआ शरीर खूब चुस्त हो जाता है।

दो मार्चको नये शासक घोड़ेपर चढ़े डे-पुङसे ल्हासा पहुँचे। दो बजे चौरस्तेपर

उनके शासनकी घोषणा की गई। जोखङ ही उनकी कचहरी और बेंत मारने आदिके स्थान हैं। जान पड़ता है, शासक चुननेमें डील-डौल और क़दका भी ख्याल किया जाता है। शासक और अनुशासक दोनों ही बहुत लम्बे-चौड़े थे। ऊपरसे जाकटके भीतर कन्धेपर कपड़ेकी मोटी तह रखकर उन्हें और विशालकाय मल्ल बना दिया गया था। आगे-पीछे खूब मोटे-तगड़े भिक्षु अरदलीकी ड्यूटी बजा रहे थे। अरदलियोंके हाथमें छोटा डंडा या तलवार नहीं, बल्कि पाँच इंच गोलाईका एक चार हाथ लंबा और दूसरा उससे कुछ कम मोटा तथा दो हाथका डंडा—या पेड़की डाली थी। सभी चीजें दर्शकके दिलमें भय-संचार करनेके लिये थीं। शासक अनुशासक सड़कपर चलते तो उनके अनुचर बड़े जोरसे चिल्लाकर बोलते—"फा-क्यु-क्ये ! पी क्ये मा शमो !" (हटो रे, टोपी उतारो रे)। उनके कहनेकी जरूरत नहीं थी। लोग पहिले हीसे सड़क छोड़कर भाग जाते थे। कोई खड़ा रहा, तो वह बहुत पहलेसे टोपीको उतारे रहता था। वैसे ल्हासाकी सड़कोंको साफ करनेकी किसीको परवाह नहीं होती, न कोई म्यूनिसपैल्टीका ही इंतजाम है। इस महीनेभरके राजकी कुछ न पूछो, लोग दिनमें दो-दो बार अपने सामनेकी सड़कें बुहार रखते थे, इतना ही नहीं, सफ़ेद मिट्टीसे चौक पूरते थे। महीनेभर तक घोड़ोंके गरदनमें घंटी नहीं बाँधी जा सकती। डे-पुङ, सेरा, गन्दन तथा दूसरे मठोंसे बीस-पच्चीस हजार भिक्षु ल्हासा शहरमें आकर जमा हो जाते। उनकेलिये पानी भी तो पर्याप्त नहीं होता। लेकिन हरेक कुएँको चौथाई पानी निकालकर जोखङके रसोईघरमें भेजना पड़ता था। पानी जल्दी सूख सकता था, इसके लिये शहरसे पच्छिम तरफ बहती नहरका पानी ल्हासाके सभी गड्हों में भर दिया जाता। ये गड्हे ११ महीने तक पाखानेका काम देते हैं। आस-पासका कूड़ा-करकट इन्हींमें फेंका जाता है। मरे कुत्तों, बिल्लियोंके यही श्मशान हैं। पानी भर देनेसे कैसा माजूम तैयार होता है, यह आप खुद अनुमान कर सकते हैं। यही खैरियत है, कि ल्हासा ११–१२ हजार फीट ऊँचाई पर बसा है, ठंडा है, उसपरसे यह माघ पूसका महीना होता है; नहीं तो हैजा हर साल ही होता। लोग भी ठंडा पानी पीनेकी जगह उसे गरम चायके रूपमें पीते हैं। नैपाली छोड़ दूसरे दूकानदारोंको "नई सरकार" को पैसा देकर लैसंसका-काग़ज लेना पड़ता है। मार-पीट या कोई दूसरा मुकदमा कचहरीमें जाता है, तो न्यायाधीश जेल या बेंतकी सजा कम देते हैं, बड़े-बड़े जुरमाने ही करना चाहते हैं—उसीमें फायदा भी तो है। महीनेभर जोखङमें खूब पूजा होती है। भिक्षु तीन-तीन बार दर्शन करने जाते हैं। मुँहमें कपड़ा बाँधे पचासों परोसनेवाले टोटीदार बर्तनोंमें चाय लिए तैयार रहते हैं।

६ मार्चको दलाईलामा जलूसके साथ शहरमें पधारने वाले थे। पता लगा, दो मंगोल भक्तोंने इसके लिए लामाको बड़ी भेंट चढ़ाई थी। मैंने एक बार दलाई लामाको लीला देखते हुए पोतलामें देखा था, उस दिन उनके जुलूसको देखा। सवेरे ७ बजेसे पहिले लोग अपनी-अपनी देखनेकी जगहपर खड़े हो गए। फिर कोई सड़क भी आर-पार नहीं कर सकता था। पहिले मंत्रियोंके परिचारक गोल तवेसे लटकती लाल झालरोंवाली टोपी पहने चल रहे थे। उनके बाद गृहस्थ-राजमंत्री थे, तब भिक्षु-अफसर, फिर गृहस्थ-अफसर, फिर नागरिक वेषमें प्रधान सेनापति, तब छारोङ भूतपूर्व मंत्री सैनिक वेषमें, फिर दो जनरल, फिर सेनापतिके वेषमें लेदन-ला। तब दलाई लामाकी डोली चारों ओर रेशमी पर्देसे ढँकी चरा रही थी, पीछे चलनेवाले अनुचरोंमें कितने ही मंगोल भेषमें थे, कुछ चीनी और कुछ नैपाली वेषमें भी थे।

सप्ताह भर राज करते हो गये, ल्हासाकी आबादी भी दूनीसे ज्यादा हो गई और स्वास्थ्य सफाईका कोई इंतजाम नहीं, फिर थोड़ी-बहुत भी बीमारी न हो, यह कैसे हो सकता था? सड़कपर तो गंदगी नहीं थी, लेकिन घरोंके पिछवाड़ेकी गंदगी कैसे रोकी जाय—जब कि गंदा करनेवाले वही भिक्षु हैं, जो महीनाभरके लिये राजा बन गये हैं। स्वास्थ्य सफाई विभागका स्थान वहाँ लामा पुजारियोंने अपने हाथमें ले लिया था, और सड़कोंपर जगह-जगह मंत्र-जाप होते देखा जाता था। ६ मार्चकी रातको २ अंगुल बरफ पड़ी। १०के सवेरेको तो छत, आंगन, सड़क, भूमि और पासके पहाड़ सभी सफेद कपाससे ढँके जैसे मालूम होते थे। लोग सवेरेसे ही बरफको झाड़कर गलियोंमें फेंकने लगे; छतकी बरफको भी नीचे गिराने लगे, नहीं तो धूपसे पिघलनेपर मिट्टीकी छत फाड़कर वह नीचे चूने लगती है। दोपहर तक सारी बरफ गल गई।

अमावस्याको बहुत बड़ा उत्सव मनाया जाता है। आज सब जगह परिक्रमा (ल्हासाकी मूल सड़क वस्तुतः जोखङ्की परिक्रमा है) में खंभे गाड़े और सजाये जा रहे थे। फिर परदा करके लोग तरह-तरहकी मूर्तियाँ बनानेमें लगे हुये थे। राजमंत्री और सामन्तों, तथा भिन्न-भिन्न विहारोंमें होड़ लगी हुई थी। शामके वक्त पर्दे खोल दिये गये। रंग-बिरंगी पत्तियोंसे सजी सैकड़ों तरहकी सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ वहाँ सजाई हुई थी और घीके दियोंसे चारों ओर जगमग-जगमग हो रहा था। पहिले सिपाही सड़कमें घूम-घूमकर देखते फिरे, फिर दर्शकोंकी भीड़ टूट पड़ी। प्रमुख लोग अपने-अपने प्रदर्शनके पास खड़े थे। उस साल रामोछे विहारके भिक्षुओंका स्तूप और मूर्तियाँ सजावटोंमें सबसे सुन्दर मानी गईं। लोग तिनकोंका मशाल लेकर चल रहे थे। भीड़ होनेपर मोटे डंडेवाले लोगोंको मारकर हटाते थे। इक्की-दुक्की स्त्रियोंकी

खैरियत नहीं थी, ढावा पकड़कर उन्हें गरियोंकी ओर ले जाते थे। १२ बजे रात तक बड़ी भीड़ रही। नाच-गाना तो सारी रात और दूसरे दिन तक था। दूसरे दिन १५ मार्चको चैत बदी पड़वा थी। आज हीसे वस्तुतः नया वर्ष शुरू हो रहा था। लोग एक दूसरेसे मिलनेपर मंगल-गाथा पढ़ते थे। पहिले महीनेकी चौबीसवीं तिथितक भिक्षुराज्य रहता है। महीनेभर बाद फिर १२ दिनके लिये उन्हें राज करनेको मिलता है। २३ तारीखको बड़ा भारी जलूस निकला। पुराने युगके वेषमें सैनिक वर्मधारी सवार, धनुष और खड्ग लिये पैदल हजारोंकी तादादमें चल रहे थे, कितने ही सिरपर पंख सजाये पुरानी बदूकोंको लेकर चल रहे थे। कहते हैं, आज हीके दिन मंगोल सरदारने तिब्बतको जीतकर उसे दलाई लामाको भेंट चढ़ाया था। २४ तारीखको बड़े सवेरे मैत्रेय बोधिसत्त्वकी रथयात्रा थी। आगे शंख-झाल लिये पीली टोपी और उत्तरासंग धारण किये भिक्षु चल रहे थे। फिर चमड़ेका बाजा बजाते कंचुकधारी पुरुष थे। उनके पीछे रथारूढ़ मैत्रेयकी प्रतिमा थी, जिसके पीछे दो हाथी चल रहे थे। तिब्बत-जैसी सर्द जगहमें हाथीका जीना बहुत मुश्किल है और उसका हिन्दुस्तानसे लाना और भी। लेकिन बचपन ही में यह हाथी पहाड़ पार करा लिये जाते हैं। जाड़ोंमें उनके घरको गरम रखनेकी कोशिश की जाती है। आज ही भिक्षुओंका राज खतम हुआ और दलाई लामाने फिर राजको अपने हाथमें लिया। २५ मार्चको सवेरेसे दोपहर तक हिमवर्षा होती रही और धरतीपर १६ अंगुल वर्फ जम गई। वर्फके कारण सर्दी भी बहुत बढ़ गई थी। उस दिन घुड़दौड़ और वाणवेधका तमाशा हुआ। २८ मार्चको गर्मी खतम मालूम हो रही थी। अब पोस्तीन पहनकर चलना मुश्किल था।

सम्येकी यात्रा—आनंदजीका तार पाते ही यह तो निश्चय कर लिया था, कि अब मुझे लंका लौटके जाना है, इसलिए हर तरहकी पुस्तकोंको मैं खरीदने लगा। कुछ अच्छी-अच्छी तसवीरें भी खरीदीं। ३० मार्चको पता लगा कि सैनिक हटा लिये गये। अब रास्ता खुल गया था। मैंने मंगोल-भिक्षु धर्मकीर्ति (छोइठक)को कहा। वह साथ चलनेके लिये तैयार थे। मैंने तिब्बतके सबसे पुराने बुद्धमंदिरको तो देख लिया। लेकिन सबसे पुराने मठ (सम्ये)का दर्शन करना भी जरूरी था। ५ अप्रैलको मध्यान्हके समय हम ल्हासावाली नदीसे चमड़ेकी नावपर रवाना हुए। ४ बजेसे हवा बहुत तेज हो गई। रातको नदीके बगलके मनूडो गाँवमें ठहरे। हमारी नावपर एक ५० सालकी बुढ़िया और उसका २४,२५ सालका पति भी चल रहा था। यहाँ मैंने पूछनेमें गलती की, लेकिन धर्मकीर्तिने ठीक कर लिया। तरुण ओझा था,

उसके सिरपर देवता आया करता था। मौसिम साफ़ बदला दिखाई देता था। वृक्षोंपर पत्तियाँ कोपलकी शकलमें निकल आई थीं। एक रात और हमें रास्तेमें ठहरना पड़ा। ७ ता० को सवेरे हम ब्रह्मपुत्रमें पहुँच गये। अब हम ल्होखा-प्रदेशमें थे। चाङ् प्रदेशकी स्त्रियाँ सिरमें धनुषको आभूषण बनाके पहिनती हैं। उइ (मध्य)-प्रदेश यानी ल्हासाकी औरतें एक बड़ा त्रिकोणाकार शिरोभूषण धारण करती हैं। ल्होखामें आधा उल्टा कंटोप उनका शिरोभूषण है।

मध्याह्नको हम कनेनुमुवा नामक ६,७ घर वाले छोटेसे गाँवमें पहुँचे। तिब्बतकी नदियोंमें मछलियाँ, काफ़ी होती हैं। तिब्बती लोग मछली और चिड़ियाके मांसको खाना बुरा समझते हैं, लेकिन इस गाँवमेंका तो, मालूम होता था, मछलीका व्यापार है। डेढ़-डेढ़ दो-दो सेरकी मछलियाँ सुखाई जा रही थीं। हमने भी दो मछलियाँ उबलवाकर मँगाई, लेकिन उनमें मोटे काँटोंके अतिरिक्त बाल-जैसे बारीक काँटे सब जगह भरे पड़े थे। खाना मुश्किल था और स्वाद भी कुछ नहीं था। हमने समझा था, थोड़ी देर विश्राम करके चल देंगे, लेकिन बुढ़ियाके पतिके ऊपर देवता आने लगा। उस दिन देवता चढ़ा रहा और ८ अप्रैलको भी दोपहर तक भूत-खेलाई जारी रही। हमारे मल्लाह और गाँव वालोंके लिये वह दलाई लामासे कम नहीं था। अनाज, पट्टू और क्या-क्या चीजें उसे उपहारमें मिली। हमने अपने भाग्यको सराहा, जब हमारी नाव आगे चली। उस दिन ७ बजे हम ब्रह्मपुत्रके किनारे "सो-नम्-फुन-सुम" नामक शिलाके पास पहुँचे। वहाँ छोटी-बड़ी तीन चट्टानें हैं, जिनमें दोको माता-पिता और एकको पुत्र कहा जाता है। ८ बजे हम "डक्-छेन-फुर-बु" शिलाके पास रातके विश्रामके लिये उतर पड़े। यह चट्टान ब्रह्मपुत्रके बीचमें हैं और १०० हाथ ऊँची त्रिकोणके शकलकी। कहते हैं, जब सम्ये-विहार बना, तो चित्रपट टाँगनेके लिये इसी शिलाको भारतसे लाया गया। लाने वालेने गलतीसे यहाँ रख दिया और तबसे वह यहीं है। दूसरे दिन मध्याह्नमें हम जम्-लिङ घाटपर उतरे। ब्रह्मपुत्रसे दाहिने कुछ दूर हटकर यहाँ एक बड़ा स्तूप है, जो नेपालके महाबौद्धासे बहुत मिलता जुलता है। वहाँसे परलेपार हम नाववाले गाँवमें पहुँच गये। गाँवमें आदमी नहीं मिला, इस-लिये जो कुछ थोड़ा बहुत सामान था, उसे हम लिये दिये पैदल ही सम्-येकी ओर चल पड़े। सम्-ये यहाँसे चार मीलसे ज्यादा नहीं था। कुछ दूर जानेपर पत्थर काटकर बने पुराने स्तूप मिले। आखिर हम सम्-ये पहुँच गये। सम्-येको नालंदाके आचार्य शान्त-रक्षितने आठवीं सदीमें उडन्तपुरी विहारके नमूनेपर बनवाया था। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी तक तिब्बतके विहार (मठ) समतल भूमिपर बना करते थे, पीछे तो दुर्गम

पर्वत-स्कंधोंको लोगोंने विहारके लिये सबसे अनुकूल स्थान समझा। सम्-ये समतल भूमिपर बना हुआ है। चारो ओर चहार दीवारी, जिसके भीतर चारों कोनोंपर चार पक्की ईंटोंके छनधारी चार स्तूप हैं। बीचमें प्रधान देवालय है। विहारका मुख्य-दरवाजा पूर्वकी ओर है। हमलोग पच्छिम दरवाजेसे घुसे और पहिले ही शिकमके विद्वान भिक्षु 'उ-ग्येन कुशो" से भेंट हुई। उनसे पूछा-पेखी हुई, फिर मिलने की बात कहकर हम लोग पहिलेसे निश्चित किये स्थानमें चले गये।

उस दिन तो हम कहीं नहीं आये-गये। दूसरे दिन दर्शनके लिये निकले। पहले प्रधान मंदिरमें गये। यह लकड़ीकी तीन-तला इमारत है। बीचमें किसी वक्त सम्-ये जल गया था, इसलिये यही वह मंदिर नहीं हो सकता। मंदिरमें मुख्य मूर्ति बुद्धकी है। विहारके निर्माता और भारतके प्रचंड दार्शनिक आचार्य शांतरक्षित, उनके शिष्य भोटभिक्षु वैरोचन और आचार्यके गृहस्थ-शिष्य सम्राट् "ठि-स्रोङ"-की भी मूर्तियाँ हैं। आचार्य ७० वर्षसे अधिक उम्रमें तिब्बत गये थे और उनका देहांत यहीं सम्-येमें ही हुआ। आचार्यकी मूर्तिके मुँहमें एक दाँत बचा हुआ दिखलाई देता है। सबसे अधिक प्रभावित मैं तब हुआ, जब मैंने अपनी आँखोंके सामने शीशेके भीतर आचार्य शांतरक्षितका कपाल देखा। वही कपाल, जिसके भीतरसे "तत्त्वसंग्रह" जैसा महान् दार्शनिक ग्रन्थ निकला। मैं कुछ देर तन्मय होकर उस ओर देखता रहा। आचार्यके देहान्त होनेके बाद उनके शरीरको पूरबवाली पहाड़ीके ऊपर एक स्तूपमें रखा गया था। कुछ ही साल पहले जीर्ण-शीर्ण हो वह स्तूप गिर गया और आचार्यकी हड्डियाँ बिखर गईं। उन्हींको लाकर लोगोंने यहाँ रख दिया। मुख्य मंदिरके अतिरिक्त बारह और मंदिर तथा निवास हैं। इन मंदिरोंको लिङ्-द्वीप कहते हैं। ग्य-गर लिङ् (भारतद्वीप) वही स्थान है, जहाँ रहकर कितने ही भारतीय पंडितोंने संस्कृत पुस्तकोंका भोटभाषामें अनुवाद किया था। ग्यारहवीं शताब्दीके मध्यमें सम्-येमें संस्कृत पुस्तकोंका कितना विशाल संग्रह था, यह इसीसे मालूम होगा, कि भारतीय पंडित दीपङ्कर श्रीज्ञानने उसे देखकर कहा था—यहाँ कितनी ऐसी पुस्तकें हैं, जो विक्रम-शिलामें भी नहीं मिलती। आज वहाँ कोई संस्कृतकी पुस्तक नहीं सुननेमें आई। दीपङ्कर श्रीज्ञानके देहांतके कुछ समय बाद सम्-येमें आग लगी। फिर रा-लो च-वा (बारहवीं सदी) ने उसे नए सिरेसे बनवाया। संभव है, उसी आगमें, बहुत-सी पुस्तकें जल गई हों। यह भी हो सकता है कि कुछ पुस्तकें स्तूपों और मूर्तियोंके भीतर अब भी सुरक्षित हों।

हम दोनों उ-ग्येन् कुशोके पास भी गए। वह भोटियाके पंडित तो थे ही, साथ ही

चान्द्र व्याकरणके सारे सूत्र उन्हें कंठस्थ थे। लेकिन संस्कृत-भाषाका ज्ञान कुछ भी नहीं रखते थे। मैं दो-चार दिन और रहना चाहता था, लेकिन तिब्बती सरकारने चाँदीके सिक्कोंको हटाकर सिर्फ ताँबेके सिक्के रख छोड़े थे, जिनका दाम बहुत गिर गया था, कितना ताँबा बाँधकर साथ ले चलते। फिर यहाँ हमें कितने ही चित्रपट और हाथकी लिखी भोटिया पुस्तकें मिल रही थीं। हमने २५ चित्रपट और एक पुरानी हस्तलिखित पुस्तक "पद्म-क-थड्" खरीद लिया था। अब और ज्यादा पैसे रह नहीं गए थे। छु-शिङ्-शासे हम उनके एक भोटिया दोस्तके नाम पैसेकेलिए चिट्ठी लाए थे, लेकिन वह इस वक्त यहाँ मौजूद नहीं थे। उर्गेन् कुशोकी मेहरबानीसे दो घोड़े किराये पर ले हम कुछ दूर निकल गए थे, तब चिट्ठीवाले सज्जन मिले। उनका घर आगे "हङ्गो-चङ्-गङ्" गाँवमें था। गाँवसे कुछ पहले ही हमने एक छोटा-सा मकान देखा, यही वह जगह है जहाँ तिब्बतके अशोक, सम्राट् "ठि स्रोङ्" पैदा हुए थे।

यद्यपि हम दोही आदमी थे, घोड़ेपर सवार और कपडे-लत्तेसे भी अच्छे, इसलिए देखनेवाला समझ सकता था कि यह पैसेवाले आदमी हैं। रास्ते भी सुनसान और आगेका डाँड़ा तो और भयंकर तथा खतरनाक था। लेकिन हमें अब आत्मविश्वास ज्यादा था। धर्मकीर्ति भी भिक्षुके वेषमें होनेपर भी अपने पूर्वज चंगेजखाँके एक मंगोल सैनिककी तरह हट्टे-कट्टे थे। ऊपरसे हमलोगोंके पास भरे हुए पिस्तौल थे।

१२ तारीखको सूर्योदयके पहिले ही दोनो घुड़सवार गाँवसे निकल पड़े। इधरके पहाड़ोंमें कुछ छोटे-छोटे जगली वृक्ष भी दिखाई दिये। ल्हासाकी अपेक्षा सम्-ये और उसके पासकी-भूमि ज्यादा गरम है, ब्रह्मपुत्रके कारण उपत्यका भी बहुत चौड़ी। यहाँ वीरी और सफेदा ही नही, अखरोटके भी वृक्ष होते हैं। तिब्बती लोगोंको शौक नहीं है, नही तो यहाँ सेब, अंगूरके भी अच्छे बाग लग सकते हैं। अब हम डाँडेकी ओर जा रहे थे। ऊपर सर्दी ज्यादा थी। एकाध जगह कुछ वर्फ दिखाई पडी। चढ़ाई उतनी कड़ी नही थी, लेकिन उतराई ज्यादा मुश्किल थी। उतराईमें हमलोग घोड़ों-से उतर गये। रास्तेमें देखा एक गदहा मर रहा था, और उसकी मालकिन बैठी रो रही थी। उतराईमें दूर तक बरफ ही बरफपर चलना पड़ा। रास्तेमें एक जगह हमने चाय पी और सात बजे ल्हासावाली नदी (उइ छु) के बाँये किनारेपर अवस्थित "दे-छेन् जोङ्" गाँवमें पहुँचे।

गन्-दन्‌की यात्रा—गे-लुग्-पा संप्रदायके संस्थापक चोङ-खा-पाने जिस विहारको स्थापित किया था, जहाँ अब भी तिब्बतका वह अद्वितीय पंडित अनंत निद्रामें लीन है; दलाई लामाके वैभवके बढ़ जानेपर भी उनके गे-लुग्-पा संप्रदायकी गद्दी जहाँपर है,

ही क्यों रोना रोवें ? ल्हासाके भीतर १८, १६ साल पहले "तन्-ग्ये-लिङ्"का एक बहुत बड़ा विहार था। दलाईलामा और चीनियोंका झगड़ा १६०७ ई० के आस-पास जब हुआ और दलाईलामाको भागकर अंगरेजोंकी शरणमें दार्जिलिंग आना पड़ा, उस समय तिब्बतपर चीनी सीधे शासन करने लगे। तग्ये-लिङके लामाका यही कसूर था, कि चीनी उसका बहुत सन्मान करते थे। १६११के बाद जब दलाईलामा फिर शासनसूत्र अपने हाथमें लेनेके लिए सफल हुए तो तं-ग्ये-लिङ् गुंबाको उन्होंने तोपसे उड़वा दिया और लामाको कुँएमें डुबाके मरवाया। लामाके साथ चाहे जो भी करते लेकिन गुंबा तो बुद्ध और बोधिसत्वोंके देवालयोंसे भरी थी, उसपर तोप लगाना क्या महमूदके हमलेसे कम था।

प्रस्थान—लंकाके तीन हजार रुपयोंमेंसे प्रायः दो हजारकी हमने चीजें खरीद ली थीं। कंजुर मिल गया था, लेकिन तंजुर नहीं मिला था, इसलिए हमें उसके छपवाने-केलिए नर-थङ् जाना जरूरी था। धर्मकीर्ति भी हमारे साथ लंका चलनेके लिए तैयार थे। हमलोग भाड़ेके खच्चरोंका भरोसा नहीं कर सकते थे, क्योंकि उनको जगह-जगह बदलना पड़ता और मिलनेमें भारी अड़चन होती। इससे बचनेकेलिए हमने दो खच्चर खरीद लिए, जिसमें करीब ढाईसौ रुपये लगे। रास्तेकेलिए दो पिस्तौल भी ले लिए। चौबीस अप्रैलको ७॥ बजे सवेरे हम दोनोंने ल्हासा छोड़ा। दोपहर बाद ने-थङ् गाँवमें पहुँचे। इसके पास ही वह ऐतिहासिक तारामंदिर "डोल-मा-ल्ह-खङ्" जहाँपर भारतीय पंडित दीपंकर श्रीज्ञानने १७ वर्षतक तिब्बतमें बौद्धधर्मका प्रचार करनेके बाद १०५२ ई०में शरीर छोड़ा था। ठहरनेकी जगहसे मंदिर दो मीलपर है। हम दोनों वहाँ गए। लालचंदनके खुरदरे खंभे ही बतला देते हैं, कि मंदिर ६०० वर्षसे क्या कम होगा। यहाँ २१ तरहकी ताराओंकी मूर्तियाँ हैं। एक ओर एक बड़ा-सा पिंजड़ा है, जिसमें दीपंकरका भिक्षापात्र, खक्खर-दंड और ताँबेका धर्मकरक रखा हुआ है। भीतर ही कुछ अनाज और भक्तोंके फेंके चाँदीके सिक्के पड़े हुए हैं। सरकारी मुहर लगी हुई थी, इसलिए हम खुलवाके देख नहीं सकते थे।

२५ अप्रैलको हम फिर आगेकेलिए रवाना हुए (१६३० ई०)। अब खेत बोए जा रहे थे। नीचे छुशोरमें तो अंकुर भी जम आए थे। रातको हम छुशोरमें रहे। गृहस्वामिनीने हमारे आरामका बहुत ख्याल रखा। वह किसी चीनीकी स्त्री थीं। पति बहुत दिनोंसे बाहर चला गया था, लौटा नहीं। उन्होंने कहा कि जो हिन्दुस्तानमें कहीं मिले, तो उसे भेजनेकी कोशिश करेंगे।

२६को हम नावसे ब्रह्मपुत्र पार हो गए। ग्यान्ची जानेवाले तीन और सवार

आगए, अब हम पूरे पाँच सवार थे। पिछली बार जितने रास्तेको हमने दो-दो तीन-तीन दिनमें काटे थे, उसे हम एक-एक दिनमें पार हो रहे थे। हमारी खचरियाँ भी मजबूत थीं। उसी दिन खंबाला पारकर रातको हम लुङ्गाँवमें ठहरे। २७को बड़े सवेरे फिर रवाना हुए। हवा तेज चल रही थी। सर्दी बहुत अधिक थी। रास्तेमें पानी जमा हुआ था, लेकिन महासरोवरमें नहीं। महासरोवरके किनारे-किनारे चलते साढ़े तीन बजे नगाचे पहुँचे। दूसरे दिन जरालाकी ओर रवाना हुए। पिछली बार जहाँ हमारे खच्चरवालोंने मुकाम किया था, वहाँ अब बहुत बर्फ थी। रास्तेमें हमें अच्छेसे अच्छे घरमें टिकनेको जगह मिलती थी। इसमें सिर्फ हमीं दोनोंके खच्चर और पोशाकका प्रताप नहीं था, बल्कि हमारे तीन साथियोंका परिचय भी सहायक था। ल्हासासे चलकर छठें दिन हम दोपहरको ग्यान्ची पहुँच गए। अब मैं चोरकी तरह ग्यान्ची नहीं जा रहा था, कि ग्यान्चीके अंगरेजी किलेमें जानेसे डरता। अगरेज इसे किला नहीं कहते, लेकिन तिब्बती और दूसरे लोग इसे किला ही कहते हैं। तिब्बती हथियारोंकेलिए यह काफी मजबूत है। पत्थरकी दीवारोंके भीतर, कहते हैं, फौलादकी मोटी-मोटी चादरें लगी हुई हैं। मशीन-गन और छोटीतोप भी है। सौके करीब सीखे हुए जाट सिपाही और उतने ही भूत-पूर्व गोरखा सिपाही खेतीका काम करते हुए रह रहे हैं। बेतारका भी इंतिजाम है। उस वक्त वहाँ ट्रेड-एजेन्ट, सहायक ट्रेड-एजेन्ट और डाक्टर तीन अंगरेज अफसर थे। किलेके भीतर ही डाकखाना और तारघर है। डाकमुंशी और तारबाबू मेरे नामसे अच्छी तरह परिचित थे, क्योंकि मेरी चिट्ठियाँ उन्हींके हाथसे होकर ल्हासा जाती थीं। ग्यानचीमें पलटनकी रसदके ठेकेदार एक मारवाड़ी सज्जन हैं, जिनके दो गुमास्ते वहाँपर रहते हैं। भोटियालोग मारवाड़ियोंको "काइयाँ" कहते हैं। मारवाड़ी भाषाके "काइयाँ" (क्यों) शब्दको लेकर उन्होंने यह नाम दिया है।

पहिली मईको सूर्योदयके साथ ही हमने शिगर्चेका रास्ता पकड़ा। बादल घिर आया, बरफ पड़ने लगी, फिर कुहरेने चारों ओर अंधेरा कर दिया। हम रास्ता भूल गए; लेकिन हमें नदीके बाएँ-बाएँ जाना था और अपनी बाँई ओरके पहाड़को हम लाँघ नहीं सकते थे, इसलिए उम्मीद थी कि रास्तेसे बहुत दूर हटकर नहीं जाएँगे। आगे एक बड़े गाँवके बड़े घरमें चाय पीनेकेलिए ठहरे; साथमें अण्डे भी मिल गए। रास्तेमें एक दिन ठहरकर दूसरे दिन दोपहरको शिगर्चे पहुँच गए। हम ल्हासासे अपने साथ पैसे ढोकर नहीं ले आए थे, लेकिन एक खम्बा (खमदेशीय) सौदागरके नाम छु-शिङशा-की चिट्ठी थी। कुछ हिचकिचाके उसने रुपया देना स्वीकार किया। ट्शीलहुन्पोमें भी

सौ रुपयेकी पुस्तकें खरीदीं। ४०० रुपयेका कागज़-स्याही खरीद तंजूर छापनेकेलिए नरथङ् पहुँचाया। ८ अप्रैलको नरथङ्-विहारमें गए। यह ग्यारहवीं शताब्दीका पुराना विहार है। २०० भिक्षु रहते हैं। यद्यपि संस्कृतकी पुस्तकें यहाँ नहीं हैं, भारतकी लाई मूर्त्तियोंकी तरफ़ उस यात्रामें मेरा ध्यान नही गया था, लेकिन पीछे मैंने वहाँ कई भारतीय चित्रपट देखे। बोधगया मंदिरका पत्थरका नमूना भी वहाँपर मौजूद है, जिसे ग्यारहवीं-बारहवी शताब्दीमें कोई गयासे बनवाके लाया था। हमारे काममें हमारे मेजबान मणिरत्नके साले भिक्षु धोलाने मदद की। धोला खचरा-नेपाली थे। नेपाली पिता और भोटिया माँके लड़केको खचरा कहा जाता है और लोग इसे बुरा नहीं मानते, शायद वह खचरा शब्दका अर्थ नही जानते या तिब्बतमें खच्चरको बुरा नहीं समझा जाता। उस वक्त भारतमें गाँधीजीका सत्याग्रह चल रहा था। उसकी खबर हिमालयके उस पार भी पहुँच गई थी। एक तिब्बती भिक्षु बड़ी गंभीरतासे कह रहा था—गाँधीजी लोबोन् रिन्-पो-छे (सिद्ध पद्म-संभव)के अवतार हैं। तिब्बतमें लोबोन्‌रिन्पोछे बुद्धसे भी ज्यादा सिद्ध और पूज्य समझे जाते हैं।

तंजूरके ऊपर १४०० साङ $\frac{(१४००\times२०)}{३}\times$ १७ रु० लगे। कंजूर-तंजूर दोनोंपर २१-२२ सौ रुपए खर्च हुए।

१६ अप्रैलको जब मैं शिगर्चे हीमें था, तभी शलू विहारके रिमुरलामाने "वज्रडाकतंत्र"की तालपत्रकी पुस्तक भेंट की। मैंने ल्हासामें अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता जैसी मुद्रित एक-दो पुस्तकोंके खडित तालपत्र देखे थे, लेकिन यह दुर्लभ पुस्तक थी, और लिपिसे भी ग्यारहवीं शताब्दीसे पीछेकी नहीं मालूम होती थी।

मुझे अब सारी पुस्तकें और यहाँसे खरीदे चित्रपटोंको कलिम्पोङ रवाना करना था। फरी तकके गधे भी मिल गए थे। पुस्तकोंकी रक्षाकेलिए ज़रूरी था, कि उन्हें कपड़े और फिर चमड़ेसे लपेटकर भेजा जाय। मैंने शिगर्चेके कसाईको याक्के चमड़ेकेलिए पैसा दिया। उसने याक्की जगह गायका चमड़ा भेजा। मैंने उसे बुलाकर जब शिकायत की, तो वह गुर्राने लगा। वैसे मुझे गुस्सा बहुत कम आता है, लेकिन कभी-कभी ऐसे अवसर आये, जब मैं अपनेपर संयम नहीं कर पाया। १७ मईको उस वक्त ऐसे ही हुआ। मैं बहुत गुस्सेमें होगया और उसे धकेलकर बाहर कर दिया—मारा नहीं यह सच है।

यद्यपि ल्हासामें लड़ाईका बुखार उतर गया था, लेकिन शिगर्चेमें उसकी गर्मी कम

नहीं हुई थी। नेपालियोंके आने-जानेका रास्ता नहीं खुला था। गाँवके जवानोंका अब भी सेनाकेलिए नाम लिखा और उनके हाथोंमें पैसा बाँधा जा रहा था। ल्हासासे दो महीना उत्तरके रास्ते सिनिङ् (कनसू)मे आए एक लामाने बताया, कि उधर लाल (बोलशेविकों)का राज्य है, डाकुओंका अब उपद्रव नहीं है। लाल न लामाओंका विरोध करते हैं, और न पक्षपात ही। तिब्बतके लोगोंमें प्रतिसैकड़ा जितने लोग बोलशेविकोंके नामसे परिचित थे, उस वक्त हिन्दुस्तानमें भी उतने लोग परिचित नहीं थे। इसका कारण यही था, कि बोलशेविकोंकी व्यवस्था उन देशोंमें पहुँच गई थी, जहाँका धार्मिक नेतृत्व तिब्बती लामा करते थे। लेकिन यह सिनिङवाले लाल रूसी बोलशेविक नहीं थे, यह चीनी बोलेशेविक थे।

२० मईको ९ गदहोंपर लदवा यहाँसे खरीदी पुस्तकों और दूसरी चीजोंको हमने फरीकेलिए रवाना कर दिया। दूसरे दिन सवेरे ही हम दोनों शलू विहारकेलिए रवाना हुए। शलू ग्यानचीके रास्तेसे मील-डेढ़ मील हटके पड़ता है। ३ घण्टेके बाद हम वहाँ पहुँच गए। यह भी ग्यारहवीं, बारहवीं शताब्दीका पुराना विहार है, और समतल भूमिपर बना हुआ है। विहारके चारों तरफ कच्ची चहारदिवारी है। हम रिसुर लामाके पास पहुँचे। ये मेरे तिब्बतके उन दोस्तोंमें है, जिन्होंने मेरे काममें बराबर सहायता पहुँचाई। उन्होंने रहनेकेलिए कहा, लेकिन हम विहार देखके चले जाना चाहते थे। इस पहिली तिब्बतयात्रामें मै पहिले-पहल तो संस्कृत पुस्तकोंके खोजनेमे बड़ा उत्साह दिखाता था, लेकिन कई मर्तबेके प्रयत्नमें असफल होनेपर मेरी धारणा बँध गई कि भारतसे यहाँ लाई संस्कृत पुस्तकें नष्ट हो चुकी हैं, या मूर्तियों अथवा स्तूपोंके भीतर बन्द कर दी गई हैं, जिससे वह देखनेकेलिए मिल नहीं सकतीं। चलते-चलाते रिसुर लामाने "वज्रडाकतंत्र"की तालपोथी देकर मेरी गलत धारणापर चोट पहुँचाई, लेकिन मुझे क्या मालूम था कि दो ही मील दूर इसी शलूगुवाके शाखा-विहारमें तीन दर्जनसे अधिक अनमोल तालपोथियाँ रखी हुई हैं। लामाने भी उनके बारेमें मुझे कुछ नहीं बताया। यदि वह बतलाते तो मैं ५,७ दिनकेलिए वहाँ डट जाता। मैंने विहारको घूमकर देखा। वहाँ कितनी ही भारतीय मूर्तियाँ थीं। दीवारोंपर सुन्दर चित्र थे। भारतीय पुस्तकोंके भोटिया अनुवादोंको कंजूर और तंजूरके दो बृहत्-संग्रहोंके रूप-में क्रमबद्ध करनेवाले महाविद्वान् बु-तोन इसी शलूविहारके थे, यह मैं जानता था। उस कंजूर-तंजूरको भी यहाँ देखा, जिसके आधारपर सत्रहवीं सदीमें मि-वङ्ने नरथङ्के छापाखानेके लकड़ीके ब्लाकोंको खुदवाया था, और उन ब्लाकोंपर छपे प्रथम कंजूर-तंजूर भी इस विहारमें मौजूद हैं। रिसुरलामाने चलते वक़्त दो चित्रपट भेंट

किए। हम १२ बजे शलूसे रवाना हुए। रातको रास्तेमें रहकर दूसरे दिन ग्यानची पहुँच गए, गोया गिगर्चेसे ग्यानचीके रास्तेको डेढ़ दिनमें तय किया। ग्यानचीमें हमारी छोटी उमरवाली खचरी बहुत बीमार होगई। हमें तो डर लगने लगा था।

२३ मईको दोपहर बाद हम भारतकी ओर रवाना हुए। ग्यानचीसे कलिम्-पोङ्का रास्ता अच्छा है। कितने ही सालोंतक यह अंगरेजोंके हाथमें रहा। अब भी ग्यानचीका डाकखाना और तारघर भारतीय तारविभागके आधीन है। थोड़े-थोड़े दूरपर यहाँ डाकबँगले भी बने हैं, टेलीफून और तार भी है। अगर सरकारी आज्ञा मिल जाय, तो ग्यानची तक आदमी आरामसे जा सकता है। मुझे डाकबंगलोंकी जरूरत नहीं थी, न मेरे पास आज्ञा थी, न उतना खर्च करनेकेलिए पैसे ही। इस रास्तेमें भी जहाँ-तहाँ पत्थरकी बहुत अच्छी चिनाईके उजड़े घर मिले। लोग कहते हैं, अठारहवीं सदीमें दलाईलामाके खिलाफ हुई बगावतको दबानेकेलिए जब दूसरी बार मंगोलसेना तिब्बतमें आई, तो उसीने इन घरोंको उजाड़ा। पहिले दिन हम थोड़ा ही चले थे, खचरीको भी आराम देना चाहते थे। तीसरे दिन (२५मई) हम विशाल सरोवरके किनारे-किनारे चलकर रातको दोजिङ्गाँवमें ठहरे। ऊँचाई बहुत होनेसे यहाँ खेती कम होती है, लोग भेड़-बकरी ज्यादा पालते हैं। इसी घरमें पहले-पहल एक पुरुषकी दो स्त्रियाँ देखी। लेकिन दोनों सगी बहनें थी। उनके बापको कोई लड़का नहीं था, घरजमाईने आकर दोनों लड़कियोंको ब्याहा था।

दूसरे दिन (२६ मई) थोड़ा आगे चलनेपर सरोवरका अन्त हो गया। हमारे सामने विशाल मैदान था और आगे ऊपरकी ओर हिमाच्छादित हिमालयकी चोटियाँ थीं। सर्दी अधिक थी। रास्तेमें एक छोटासा घर मिला, जिसमें हमने चाय पी। निर्जनप्रदेशमें चलते एक डाँड़ेको पार किया। वस्तुतः यह डाँड़ा नहीं था, जल-विभाजक होनेसे ही हम इसे डाँड़ा कहते हैं। साढ़े तीन बजे हम फरी पहुँच गए। फरी बहुत ठंडी जगह है। जौ-गेहूँ यहाँ बड़े-बड़े तो हो जाते हैं, लेकिन बीज पड़नेसे पहिले ही जाड़ा आ जाता है, और वह पक नहीं पाते। कलिम्-पोङ् और ल्हासा दोनों ओरसे रोज सैकड़ों खच्चर यहाँ आया करते हैं। लोगोंको गेहूँ-जौके डंठलको दानेके दामपर बेचनेसे काफी नफा होता है। यहाँ भोट-सरकारका जोङ् और अंगरेजी तार-डाकघर भी है। १९०४के पहिले यहाँके जोङ्की इमारत बहुत बड़ी थी, लेकिन अंगरेजी तोपोंने उसे तोड़ दिया, अब इमारत छोटीसी है। दक्खिनके पहाड़को पार करके आधे ही दिनमें आदमी भूटान पहुँच सकता है। एक घरके भीतर खानेकी चीजोंकी हाट लगती है, जिसमें भूटानी लोग चावल-चूरा लाके बेचते हैं।

यहाँसे किरायेके खच्चर हमें मिल सकते थे। अपने खच्चरोंके २७० रु० मिल रहे थे, लेकिन लोगोंने बतलाया कि कलिम्-पोङ्में और दाम मिलेगा—यद्यपि यह बात गलत निकली।

२८ मईको फरीसे हम आगेकी ओर चले। अब हम नीचे-नीचेकी ओर जा रहे थे। कितने ही मील चलनेके बाद छोटे-छोटे वृक्ष शुरू हुए और आगे बढ़ते-बढ़ते काफ़ी देवदार आने लगे। यह डोमो (छुम्बी)का इलाका है। अँगरेजोंकी लड़ाईके बाद डोमोंको उन्होंने लड़ाईके हरजानेके तौरपर दखल कर लिया और कई सालोंतक उन्हींका शासन रहा। फरीसे तीन घंटा चलनेके बाद नगेपहाड खतम हुए थे, अब तो गाँवमें घरोंकी छतें भी लकड़ीकी थीं—मानो मैं फिर एल्मोमें आगया था। यहाँकी स्त्रियाँ एल्मोकी ही तरह सुन्दर हैं, लेकिन पुरुषोंकेलिए वही बात नहीं कही जा सकती। डोमोवाले ज्यादातर खच्चर लादनेका काम करते हैं। इनकी स्त्रियाँ बाहर जानेपर भोटिया कपड़ा पहनती हैं, नहीं तो कनौरियोंकी तरह ऊनी साड़ी उनकी पोशाक है। ३१ तारीखको १० बजे हम स्या-सीमा पहुँचे। पहिले यहाँ अंगरेजोंकी काफी बड़ी पलटन रहा करती थी, लेकिन अब ४०-५० सिपाही रहते हैं। डाकबँगला, तारघरके अतिरिक्त एक खासा अच्छा बाजार भी है। मकान ज्यादातर टीनसे छाए हुए हैं। बरस भरसे आँखें हरियालीकेलिए तरस रही थीं, अब पहाड़में जिधर देखो हरियाली ही हरियाली थी। हर गाँववाले खच्चरोंसे एक-एक टका चराई वसूल करते हैं। मैंने १६ रु०पर खच्चर किराया किया था। धर्मकीर्ति पैदल चल रहे थे और दोनों खच्चर इसलिए खाली ले चल रहे थे, कि कलिम्-पोङ्तक वह काफ़ी तगड़े हो जाएँगे। दोनों खच्चरोंकेलिए हरगाँवमें दो टंका चराईका देना पड़ता था। उस दिन रातको हम ग्यू-यङ्में ठहरे। चारो ओर बड़े-बड़े देवदारोंका जंगल था। कई प्राइवेट सरायें थीं। हमलोगोंकेलिए एक अच्छी कोठरी मिली। मकानकी दीवारें, छत सब कुछ देवदारकी लकड़ीकी थी। सरायवाली बुढ़ियाने हमारे स्वरूपको देखकर समझ लिया कि भद्रपुरुष हैं, चलते वक़्त छङ्रिन् (इनाम) देंगे। हमारे बैठनेके थोड़ी ही देर बाद दो स्त्री-पुरुष आए। बुढ़ियाने उनकेलिए पान प्रस्तुत किया। थोड़ी ही देर बाद स्त्री अगँड़ाई लेने लगी। पुरुष बार-बार हाथ जोड़ने लगा। धर्मकीर्तिने बतलाया कि स्त्रीके ऊपर देवता आ रहा है, और पुरुष उसे न आने देनेकेलिए नकल कर रहा है। स्त्री उठ खड़ी हुई, देवताकी पोशाक पहन डंडे लगा डफ बाजा लिवाए वह मालकिन बुढ़ियाकी कोठरीमें चली गई। सामने बत्ती बाल दी गई, धूप जलने लगी और पतली लकड़ीमें बाजेपर ताल देते देवता धाराप्रवाह पद्यमें बोलने लगा। सारे खच्चर-

वाले और दूसरे मुसाफिर देववाहिनीके सामने पैसा रख-रखकर अपने दुख-सुखके बारेमें पूछने लगे, गद्यमें नहीं, सारा जवाब पद्यमें था। फरीसे हमारे साथ धर्मासाहुके भानजे कानछा चल रहे थे। मैंने उनसे मजाक करनेकेलिए कहा—कुछ पैसा रखकर तुम भी देववाहनीसे पूछो कि मेरा लड़का नेपालमें बीमार है, उसका क्या होगा। कानछाने पूछा। देववाहनीने कहा—"कुछ देवता नाराज हैं, लेकिन बहुत अनिष्टका डर नहीं।" कानछाका व्याह भी नहीं हुआ था। लेकिन जो लोग वहाँ देववाहनीसे पूँछके संतोष-लाभ कर रहे थे, वह इस झूठको थोड़े ही मानते।

पहिली जूनको हम फिर आगे बढ़े। कल भी हमें दो-ढाई घंटा चढ़ाई चढ़के आना पड़ा था, लेकिन वह चढ़ाई उतनी कठिन नहीं थी। आज यह जेलपला (डाँड़े)की चढ़ाई थी, खूब कड़वी। वर्षा भी काफी हुई। बर्फ बहुत कम थी। दोपहरके वक्त हम डाँड़ेके सर्वोच्च स्थानपर पहुँच गए। यहीं सिकम और तिब्बतकी राजसीमा है। अब उतराई थी। २,३ मील चलनेपर कुपुक आगया। यहाँ बाकायदा चाय-रोटीकी दूकानें थीं। गोया हम पद्रहवींसे बीसवींसदीमें आगए।

२ जूनको जरासा चढ़ करके हम तुकोला पार हुए। अब हिमालयकी उतराई शुरू हुई, जो उतरनेमें जितनी कड़ी थी, इधरसे तिब्बतकी ओर जानेमें भी उतनी ही कड़ी होगी। कई मीलतक हम देवदारोंके क्षेत्रमें ही चलते रहे। फदुम् चेड़् गाँव पहुँचते-पहुँचते देवदार पीछे छूट गए। अब घरोंमें बाँसकी छतें थीं। गर्मी काफी मालूम होती थी। चाय-रोटी सब जगह तैयार थी, उसके साथ मक्खियोंकी भरमार थी। रातको हम इसी गाँवमें रहे। रोलिङ्-छुगड् तक उतराई ही उतराई रही। यहाँ छपराकी एक दूकान थी, लेकिन मैंने अपनेको प्रकट नहीं किया। नदी पार करनेपर फिर कुछ कड़ी चढ़ाई मिली, यहाँ महुवेकी तरहके बड़े-बड़े चम्पा-वृक्षोंका जंगल था, नीचे फूलोंका ढेर लगा हुआ था। अब गोरखोंके गाँव मिल रहे थे। नारंगीके वृक्ष और मक्काके खेत थे। दोपहर बाद डुमुपे फड्गें पहुँचकर हम ठहरे। यहाँसे ४ मील और सिकमराज्य है, उसके बाद अंगरेजी इलाका आ जाता है। अब हमें कलिम्-पोङ् पहुँचनेकेलिए १६ मील और चलना था। ४ जूनको हम फिर चले और एक-दो बस्तियोंको पार करते अलगरहा पहुँच गए। यहाँ छपराकी कई दूकानें थीं, पूछनेपर शीतलपुर-चरेंजाके एक ब्राह्मण-देवता मिल गए। उनकी ससुराल परसामें है, फिर परसाके नाते वे मुझे खिलाए-पिलाए बिना कैसे आगे जाने देते। पुआ बना हुआ था, उन्होंने खिलाया। दो घंटेके विश्रामके बाद फिर चले और शाम तक कलिम्-पोङ्

पहुँच गए। भाजू रत्नसाहुके द्वारा ही हमारी सारी चीजें नीचे रेलतक पहुँचने वाली थीं, पहिले हीसे मेरे आनेकी उन्हें खबर थी।

यद्यपि कलिम्-पोङ् चार हजार फीटसे ऊँचेकी एक ठंडी जगह समझी जाती है किन्तु सवा बरस हिमालयमें रहनेके बाद यहाँ मुझे बहुत गरम मालूम हो रहा था, और धर्मकीर्ति बेचारा साइबेरियाका बाशिन्दा, उसने इतनी गरम जगह तो जिन्दगीभरमें कभी नहीं देखी थी। मैंने ख्याल किया, जल्दीसे जल्दी लंका पहुँचने हीमें खैरियत है, नहीं तो वह कहीं और अधिक बीमार न हो जाय। हम एक ही दिन कलिम्-पोङ्में ठहरे। खचरियोंके बेंचने-बाचनेका काम भी भाजूरत्नसाहुके जिम्मे लगाया और ६ जूनको तीन बजे मोटरसे सिलीगुड़ीकेलिए रवाना हो गये। एक तो पहाड़ोंके घूम-घुमौवे रास्तेमें ऐसे भी बहुत आदमियोंको मोटरमें चलनेसे कै होती है, धर्मकीर्ति तो गर्मीके मारे भी परेशान थे, उधर मोटरपर भी पहिली मरतबे चढ़े थे। सिलीगुड़ी हम शामको पहुँचे, वहाँ पहुँचते-पहुँचते वह बहुत परेशान हो गए। उन्होंने लौट जानेकेलिए कहा। मैंने खरच दे उसी मोटरसे उन्हें कलिम्-पोङ् लौटा दिया। रातको कलकत्ताकी गाड़ी मिली और ७ जूनको मैं वहाँ पहुँच गया। बड़ा-बाजारमें सत्याग्रहियोंपर लाठी पड़ते देखी। मेरा दिल बहुत ललचाने लगा, लेकिन मैं इक्कीस खच्चरोंपर ग्रंथराशि तिब्बतसे जमा करके लाया था, जब तक उन्हें सीलोन नहीं पहुँचा देता, तब तक मैंने अपने लालचको दबाना ही पसन्द किया।

१० तारीखको पटना पहुँचा। सदाकत आश्रममें बिहार प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीका केन्द्र था, ब्रजकिशोर बाबूसे मुलाकात हुई। देखा सरकारकी इतने दमनपर भी देशभक्त किस तरह काम कर रहे हैं। ११ जूनको पता लगा, बीहपुरमें राजेन्द्र बाबूपर पुलीसने लाठी चलाई। १२को सारनाथ गया। वहाँ मालूम हुआ कि छपराकी पुलीस मेरी खोजमें यहाँ भी कई बार हैरान होनेकेलिए आई। बनारसमें डा० भगवान दाससे मुलाकात हुई। वह थ्योसोफीके पुराने भक्त हैं। थ्योसोफीके नेताओंने तिब्बतके नामपर सैकड़ों तरहका मिथ्या विश्वास फैलाया है। उनके लालसिंह, कुथुमी आदि कितने ही महात्मा तिब्बतमें रहते हैं। डा० भगवान-दासने उनके बारेमें पूँछा। मैं उनकी श्रद्धापर चोट नहीं करना चाहता था, मैंने सिर्फ इतना ही कहा कि वहाँवाले इन महात्माओंका कोई ज्ञान नहीं रखते। १५को मैं फिर कलकत्ता चला आया। सिन्धिया कम्पनीके जहाज कलकत्तासे कोलंबो जाया करते हैं, मैंने उनसे अपने बहुमूल्य संग्रहके बारेमें बतलाया, और उन्हें हिफाजतसे कोलंबो पहुँचा देनेकेलिए कहा। १६को मद्रास-

मेल पकड़ा, और वहाँ होके २० जूनको लंकामें विद्यालंकार विहारमें पहुँच गया।

६

लंकामें दूसरी बार (१९३० ई०)

ल्हासामें रहते ही वक़्त लाहौर-कांग्रेस और नमक-सत्याग्रहकी खबर मिल चुकी थी। तिब्बतमें संग्रहीत पुस्तकों और चित्रोंको सुरक्षित स्थानमें बिना पहुँचाए मुझे सत्याग्रहमें भाग लेनेकेलिए व्यग्रताको दबाना पड़ा। जूनमें ही मेरे भिक्षु-उपसम्पदा लेनेका निश्चय हुआ था, इसलिए भारतमें ज्यादा ठहरकर राजनीतिक आन्दोलनको देखनेका अवसर नहीं था।

कलकत्तासे लौटकर लंका (२० जून) जानेपर भिक्षु आनंदजीके बाद जिससे मिलकर सबसे अधिक प्रसन्नता हुई, वह थे नायकपाद। तिब्बतकेलिए विदाई देते वक़्त उनकी आँखें कितनी अश्रुपूर्ण हो गई थी, यह मुझे अब भी याद है।

लंकामें बौद्धभिक्षुओंके रामण्य, अमरपुर, स्याम—तीन निकाय (संप्रदाय) हैं, स्याम निकाय सबसे पुराना संख्या और प्रभावमें सबसे बड़ा है। लंकामें पोर्तुगीज और डच शासनकाल तक धीरे-धीरे भिक्षुसंघ उच्छिन्न हो गया था। फिर १७५४ ई०के क़रीब मध्यलंकाके स्वतंत्र नरेश कीर्तिश्रीराजसिंहने स्यामसे भिक्षुसंघको बुलाकर शरणांकर संघराज आदिकी उपसंपदा करा भिक्षुसंघकी स्थापना कराई थी। उस वक़्तकी राजधानी कांडीमें यह कार्य संपन्न हुआ था, और तबसे स्यामीय निकायका केन्द्र मल्लवत्तविहार कांडी ही है। स्यामनिकायके भिक्षुओंकी उपसम्पदा सालमें एक ही बार एक निश्चित मासमें होती है। उपसम्पदामास *समाप्त हो रहा था, और सिर्फ मेरे लिए अभी समाप्तिको रोक रखा गया* था।

उपसम्पदाकेलिए कांडी जानेसे पहिले विद्यालंकार विहारमें नायकपादके उपाध्यायत्वमें मेरी प्रव्रज्या (२२ जून) हुई। मैं लंकामें रामोदार स्वामीके नामसे प्रसिद्ध था, और लंका छोड़नेसे पूर्व ही अपने गाँवको जोड़कर अपनेको रामोदार सांकृत्यायन बना चुका था। मैं समझता था, यही नाम बना रहेगा, क्योंकि इस नामसे मैं साहित्यिक

क्षेत्रमें अवतीर्ण हो चुका था; किन्तु प्रव्रज्या संस्कार शुरू होनेके चन्द ही मिनट पहिले नायकपादकी आज्ञा हुई नये नामकरणकी। समय होता, तो मैं समझानेकी कोशिश करता, किन्तु अब कुछ करना आज्ञाभंग होता। नाम शायद एकाध और पेश किये गये थे, किन्तु मैंने रामोदारके राकी साम्यताके देखते हुए राहुल नामका प्रस्ताव किया और वह स्वीकृत हुआ। इस प्रकार राहुल सांकृत्यायनके नामसे मैं प्रव्रजित (श्रामणेर) हुआ।

२ जूनको कांडीमें मेरी उपसम्पदा हुई। उपसम्पदाकी कारवाई बहुत प्रभावोत्पादक होती है, यह इसीलिए नहीं कि वह ढाई हज़ार वर्ष पहिलेकी भाषा और स्वर में होती है, वल्कि उसमें उस समयके वैशाली और कपिलवस्तुके प्रजातंत्रोंकी सांघिक कारवाइयोंकी झलक दिखलाई पड़ती है। बड़ी शालामें संघका अध्यक्ष प्रमुख स्थानपर किन्तु समान आसनपर बैठता है। उसकी दोनों तरफ़ पांतीसे अपने उपसम्पदा वर्षके क्रमसे भिक्षुलोग बैठते हैं। दो जानकार भिक्षु सारे संघको 'सुणातु भन्ते संघो' (सुने माननीय संघ) कह संबोधित करते हुए उम्मीदवार (उपसंपदा पेक्ष) को पेश करते हैं। संघ उम्मीद-वारकी योग्यताकी परीक्षा सिर्फ विद्या हीमें नहीं करता है, वल्कि उन शारीरिक मानसिक व्याधियोंके बारेमें भी जाँच करता है, जिनके कारण एक व्यक्तिको संघमें नहीं लिया जा सकता। इस उपसम्पदासे पहिले ही मैंने त्रिपिटक पढ़ा था, बुद्धकालीन भारतको मानस-पटलपर साकार देखनेकी कोशिश की थी, उस समय गणतंत्रों और उनकी नकलपर भिक्षु-उपसम्पदाके बारेमें बहुत कुछ जान चुका था। भारतके बाहर तिब्बत-जैसे बौद्धदेशमें सवासाल रह भी चुका था; इसलिए उपसम्पदाकी सारी कार्रवाईका मुझपर बड़ा असर हुआ।

वर्षावास नजदीक था। बौद्धभिक्षुओंका सारा संघठन संघवादके आधारपर है। वैशालीके गणतंत्रकी दृढ़ता, उसकी स्वातंत्र्यप्रियता आदिको देखकर बुद्धपर इतना असर पड़ा था और साथ ही अपने शाक्य गणतंत्रकी कार्रवाईयोंमें भाग लेनेका भी उनपर काफ़ी असर था, इसीलिए सांघिककर्म—सांघिक स्वाध्याय, सांघिक विवाद-निर्णय आदि—पर उनका बहुत जोर था। भिक्षुओंके नियमोंमें महीनेमें दो बार—अमावस्या और पूर्णिमाको—सारे भिक्षुओंका संघसन्निपात (सम्मिलन) आवश्यक करार दिया गया है, किन्तु बीचकी पच्चीस शताब्दियोंमें इतने सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन हुए, कि उसका महत्त्व लोगोंकी दृष्टिमें जाता रहा; और अब संघसन्निपात या उपोसथ सिर्फ वर्षाके दो या तीन महीनोंमें होता है। उपसंपदाकी भाँति प्रथम उपोसथका भिक्षुसन्निपात भी मुझे बड़ा प्रभावशाली मालूम हुआ।

उस दिन (९ जूलाई आषाढ़-पूर्णिमा) पागके एक विहार (मठ) के नए बने उपोसथागारमें प्रथम उपोसथ करके उसकी प्रतिष्ठा भी करनी थी, इसलिए हमें वहाँ जाना पड़ा। दोपहरका भोजन समाप्त हुआ, थोड़े समयके विश्रामके बाद लोगोंने अपने अंतरवासकको कटिबंधसे ठीक तौरसे बाँधा। फिर दाहिने कंधेको नंगा रखते उत्तरासंगके दोनों कोनोंको मिलाकर उसपर चौपेती संघाटी रख कटि-बंधन (एक बालिश्त चौड़ी कई हाथ लम्बी चीट) से ठीकसे बाँधा। कुछ भिक्षुओंने पहिले ही शालामें जा आसन बिछा रखा था। पैर धो हाथमें ताल-व्यजन लिए हरएक भिक्षु उपसम्पदा-वयसके क्रमसे उपोसथागारमें प्रविष्ट होने लगा। सबके आ जानेपर दर्वाजा भीतरसे बंद कर दिया गया। आसनोंके सिरेपर पंखेके साथ एक रिक्त आसन धर्मासनकेलिए रहता है। धर्मासनको तीन बार प्रणाम करके उपस्थित संघ सबसे पहिले अपनेमेंसे किसीको—चाहे वह कल ही उपसम्पदा पाए क्यों न हो—धर्मासनपर बैठकर (सभापति बन) आजकी कार्रवाईको संचालित करनेकेलिए चुनता है। यह बात विशेष तौरसे ख्याल रखनेकी है, कि शालामें बुद्धमूर्तिके होनेपर भी प्रणाम उसकी ओर न कर सिर्फ धर्मासनकी ओर किया जाता है। उपोसथके समय सारे प्रातिमोक्ष सूत्र (भिक्षुनियमों) को दुहराना चाहिए, किन्तु आज-कल उसके आरंभके थोड़े भागोंको ही दुहराया जाता है। अपराध-स्वीकारका भावी जीवनपर कोई असर नहीं रहता, इसलिए यह कार्रवाई यंत्रवत् मालूम होती है।

वैसे भी लंकाके गृहस्थों और भिक्षुओंमें मेरी खासी इज्जत थी, किन्तु भिक्षुसंघमें शामिल हो जानेपर वह सम्मान कई गुना बढ़ गया था। लंकामें सिंहल और अंग्रेजी अखबार सार्वजनिक शिक्षाके विस्तारके कारण बहुत पढ़े जाते हैं, इसलिए मेरी तिब्बत-यात्राके बारेमें लिखे लेखोंके बाद उपसंपदा-संबंधी लेखों और चित्रोंसे जनतामें काफ़ी प्रसिद्धि हो गई थी; और धर्मोपदेशकेलिए अनेकों निमंत्रण बराबर आते रहते थे—आनंदजीने भी धर्मोपदेश देनेमें काफ़ी ख्याति प्राप्त कर ली थी। मुझे अब समय भी था, इसलिए हर महीनेमें मैं एक-दो व्याख्यान दे आता। विहारमें रहते वक्त अध्यापनके साथ मैंने हिन्दीमें एक बुद्धकी जीवनी लिखनेमें हाथ लगाया। अपने शब्दोंमें स्वतंत्र जीवनी लिखनेकी अपेक्षा मैंने पसंद किया, कि वह त्रिपिटकसे संग्रह कर उसीके शब्दोंमें हो, ताकि लोग त्रिपिटककी ऐतिहासिक, भौगोलिक सामग्रीका लाभ उठाते हुए बुद्धके जीवनको पढ़ें और स्वतंत्र निर्णय करें। पढ़ते वक्त किए नोटोंसे मुझे सामग्री जुटानेमें बड़ी आसानी हुई, और इस प्रकार मैंने बड़ी तेज गतिसे "बुद्धचर्या" लिखनेका काम शुरू किया।

तिब्बतसे मैं पंडित अनन्तराम भट्टको बराबर पत्र लिखता, तथा उन्हें जर्मनी जानेकेलिए उत्साहित करता था। वह लंदन-मेट्रिककी परीक्षामें असफल रहे, इसलिए और भी इतने समय बर्बाद करनेकी जगह मेरी जर्मनी जानेकी सम्मतिको उन्होंने पसन्द किया। उनके मामा (जो ससुर भी थे) के पास कुछ धन था, किन्तु उसमेंसे कुछ मिलना मुश्किल था। मैंने जर्मनीमें प्रोफेसर रुडाल्फ ओटोको उनके बारेमें लिख दिया था, उन्होंने टुबिंगेन्के एक प्रोफेसरको लिखा। फीस माफ़ तथा कुछ सहायताका इन्तिज़ाम तो हो गया, किन्तु साथमें जहाजके किराएके अतिरिक्त चार-पाँच सौ रुपये चाहिए थे। मैं नहीं समझता, उतने रुपये भी वह पूरे कर सकते थे। उसी वक्त अनागारिक धर्मपालने मेरेलिए डेढ़ सौ रुपये भेजे थे। बेकार रुपया जमा रखना मुझे भारी लगता है, और इधर भट्टके कामसे बढ़कर उसका क्या उपयोग हो सकता है। खैर, किसी तरह ढकेलकर मैंने भट्टको जर्मनीकेलिए रवाना किया। १९३०में अभी (१९४० ई०) तक वह वहीं हैं।

लंकामें जोतिसकी भाँति भूत-प्रेत, जादू-मंतरपर साधारण जनता नहीं शिक्षितों तकका बहुत विश्वास है। भिक्षु-नियमके विरुद्ध होनेपर भी भिक्षु लोग पैसेके लोभसे इन बातोंके प्रचारमें खासतौरसे सहायता पहुँचाते हैं। ईश्वरवादके विरुद्ध कहनेपर तो वह खुश होते हैं, किन्तु भूतवादके विरुद्ध बात करना पसंद नहीं करते। विद्यालंकारमें मैं भूतवाद, मंत्रवाद, जोतिसवादका खूब खंडन किया करता था, इसलिए यहाँके भिक्षु उसे सहते तथा कितने ही विश्वासहीन भी होने लगे थे। तिब्बतसे लौटनेपर एक दिन मैं तिब्बतके भूतों और तांत्रिकोंका वर्णन मजाकिया तौरसे करने लगा। तरुण भिक्षु हँस रहे थे, किन्तु उस वक्त हमारे गुरुभाई प्रज्ञाकीर्तिके पिता वहाँ आगए, उन्हें बहुत बुरा लगा। बेचारे बड़े श्रद्धालु जीव थे। संघके दायाद (संबंधी) बनने तथा बौद्धधर्मकी सेवाकेलिए उन्होंने अपने एकमात्र पुत्रको भिक्षु बना दिया था। लंकामें ऐसे गृहस्थ आसानीसे मिल जावेंगे, जिन्होंने एकलौते पुत्रको भिक्षु बना दामाद, या दत्तक पुत्रसे अपना वंश चलाना पसंद किया। हमारे दूसरे गुरुभाई आचार्य प्रज्ञालोक भी ऐसे ही पिताकी एक मात्र सन्तान थे।

भारतमें सत्याग्रह चल रहा था। महात्मा गांधीके पत्र 'यंग इंडिया'की कितनी ही टाइप की हुई कापियाँ लंका भी पहुँचती थीं, और उन्हें भारतीय बड़े चावसे मेरे पास पहुँचाते थे। ऐसे समयमें आन्दोलनसे अलग रहना मेरेलिए असह्य मालूम हो रहा था, यही अवस्था आनंदजीकी भी थी। किन्तु अभी तिब्बतसे लाई पुस्तकें, चित्रपट आदि कलकत्तासे कोलंबोके रास्तेमें थे। उन्हें सुरक्षित तौरसे रखना भी जरूरी था। मैं

आनंदजीको उसका जिम्मा देकर भारत आ जाना चाहता था, किन्तु उनका भी कहना बजा था—पुस्तकोंके बारेमें उनकी जानकारी नही थी। नायकपादसे भारत जानेकी इजाजत मिल नहीं सकती थी, इसलिए एक दिन चुपकेसे वे कोलम्बोसे तलैमन्नार-केलिए रवाना हो गये। नायकपादको बहुत दुःख हुआ, जब उन्होंने उनके चले जाने तथा उसके भीतर छिपे अभिप्रायको सुना। वे पुराने ढंगके भिक्षु थे, जिन्हें राजनीति उतनी ही त्याज्य थी, जितना गृह-परिवारका संबंध।

आखिर सिंधिया नेवीगेशन कम्पनीके जहाजसे तिब्बतकी चीजें भी पहुँच गईं। कम्पनीके कोलम्बोवाले प्रतिनिधि श्री नानावतीने मुफ्त मँगवा देनेका इन्तिजाम कर दिया था। चीजें कई महीनेसे चमड़ेमें सीकर बंद थीं। तिब्बतके अक्षांश, उन्नतांश और सर्दीमें बंद होकर अब भूमध्य-रेखाके पास लंकाकी गर्मीमें खुलीं। बड़ी बदबू आ रही थी। मैंने अपने रहनेका बड़ा कमरा पुस्तकोंकेलिए खाली कर दिया। नेप्थलीन गोलियोंका अच्छा प्रबंध किया, तो भी उस बदबूके सामने नेप्थलीनका क्या वश चलता?

तिब्बतकी चीजोंको सँभालकर रख दिया गया। चित्रोंका प्रदर्शन भी कोलम्बोमें हुआ। समाचार-पत्रोंने फोटो आदि छापे। हमारे विहारवालोंकेलिए यह बड़ी खुशीकी बात थी, और नायकपादकेलिए खासतौरसे। अब मैंने भारत जानेका निश्चय किया, किन्तु आनंदजीकी भाँति मैं बिना पूछे जाना नही चाहता था। एक दिन शामको, जब कि दूसरे भिक्षु सायंप्रणाम करके चले गए, मैं नायकपादके पास बैठ गया। और बातोंके बाद मैंने भारतके राजनीतिक आन्दोलनका जिक्र छेड़ा—वैसे भी नायकपाद उसके बारेमें कभी-कभी पूछा करते थे। फिर बड़ी सावधानीसे उसमें भाग लेनेकी कितनी आवश्यकता है कहकर, मैंने अपने जानेकी आज्ञा माँगी। मैंने सोचा था, उत्तर 'हाँ', 'नहीं' अथवा समझाने-बुझानेके रूपमें होगा। लेकिन मैंने विस्मित हो एक चीख सुनी, जिसकी प्रतिध्वनि विहारके कोने-कोनेमें व्याप्त हो गई। खैरियत यही हुई, कि वहाँ पासमें कोई था नही, और मेरे तुरन्त वहाँसे चले आनेपर दूसरी बार वैसा नहीं हुआ।

नायकपाद स्नेहमय जीव थे, और मेरे ऊपर उनका स्नेह बहुत ज्यादा था। वह अखबारोंमें पढ़ रहे थे, भारतमें कैसे लोगोंपर लाठियाँ पड़ रही हैं, कैसे लोग जेल जा रहे हैं; यही बातें मेरे साथ भी होंगी, इसी बातका ख्याल करके उस वक्त उनका चित्त विचलित होगया था। मैंने कुछ दिनोंतक फिर उस बातकी चर्चा न की।

इधर "बुद्धचर्या"का लिखना भी समाप्त (७ अक्तूबरसे लेकर १४ दिसम्बरको)

होगया था, जिसमें मन किसी काममें नहीं लगता था। आनन्दजीके बारेमें मालूम हुआ, कि वह दर्भगामें गिरफ्तार हो गये, और कुछ दिनों जेलमें उन्हें रखकर छोड़ भी दिया गया। मैंने धीरे-धीरे नायकपादको समझाना शुरू किया, और बतलाया कि बौद्धभिक्षुको अपने आचरणसे दिखलाना चाहिये, कि वह दूसरोंकेलिये कितना कष्ट सह सकता है। अन्तमें नायकपादने आज्ञा दे दी। १५ दिसम्बरको मैं भारतकेलिये रवाना हो गया।

७

सत्याग्रहकेलिये भारतमें (१९३०-३१ ई०)

उस वक्त अभिधर्मकोश (मेरी टीका सहित) काशी-विद्यापीठकी ओरसे छप रहा था, प्रूफकी गड़बड़ीकी वजहसे छपनेमें दिक्कत हो रही थी, इसलिये एक महीनेके भीतर पहिले मुझे उसको खतम करना था, इसलिये मैं पटना, छपरा सिर्फ आन्दोलनकी स्थिति जाननेकेलिये गया। दिसंबरका महीना काशी-विद्यापीठमें बीता और जनवरीका भी कुछ भाग (२१ दिसम्बरसे—१५ जनवरी)। देखा, प्रेसवाले भी प्रूफ देनेमें ढिलाई करते हैं, इसलिये उसके शीघ्र प्रकाशनकी आशा छोड़ मैं (२५ जनवरीमें) छपरा चला गया। अपना कार्यक्षेत्र छपराको ही बनाना था।

उस वक्त सरकारका दमनचक्र बड़े जोरोंसे चल रहा था। जेलखानोंमें इतने सत्याग्रही भर गये थे, कि वहाँ और भी भरना सरकारको तरद्दुदकी चीज मालूम होती थी। उसने इसकेलिये बड़े-बड़े जुर्माने और मारपीटका इन्तिजाम कर रखा था। एकमा गया, देखा, बहुतसे कार्यकर्ता जेलमें चले गये हैं, आश्रमकेलिये जब्त होनेकी डरसे कोई घर नहीं मिलता। स्वयंसेवकोंने स्टेशनसे पच्छिम रेलकी सड़कसे दक्खिन एक कूँयेके पास अरहर-ऊखसे ढँकी भूमिमें अपना आश्रम बनाया था। एक झंडा छीन ले जानेपर दूसरा झंडा गाड़ दिया जाता था। बरेजाके लोगोंने सत्याग्रहमें बड़ी बहादुरी दिखलाई थी, जिसके फलस्वरूप वहाँ गोर्खा पल्टन लाकर रख दी गई थी। देशी सिपाहियोंमें लोगोंके प्रति सहानुभूति पैदा होनेका डर था, इसलिये गोर्खा लाये गये; तो भी बरेजाके लोग त्रस्त न थे। गिरीशका छोटाभाई पंडित बचपनमें हम लोगोंकी दृष्टिमें बौड़म-सा था, किन्तु आज वह वहाँके स्वयंसेवकोंका नेता

बन गया था। गाँवसे पच्छिम-उत्तरकी परतीमें उन लोगोंने राष्ट्रीय झंडा गाड़ा था। गोर्खे हटा देते थे। मैंने झंडेको फिर भी फहराते देखा था। पंडितसे पूछा—पंडित कैसे झंडा गड़ा रहता है? उत्तर मिला—"हमलोग अरहरके खेतमेंसे चुपकेसे जाकर गाड़ आते हैं। अब उसे उतारते-उतारते सिपाही इतने तंग आगये हैं, कि हरवक़्त उतारनेकेलिये नहीं आते।" मैंने (२८ जनवरीसे २ फ़रवरी तक) एकबार सारे जिलेका चक्कर लगाया। सालभरके दमनके बाद भी आन्दोलन जारी रखनेकेलिये धन, जनकी कमी न थी। जिलेके बड़े-बड़े ज़मीदार और धनी सर्कारसे थर-थर काँपते, तथा अमन-सभाओं द्वारा जनताको डराने-धमकानेमें लगे हुये थे। गांधीजीका उपदेश था कि सत्याग्रही अपनी किसी कारवाईको छिपाकर न करे, किन्तु सालभरके तजर्बेने राष्ट्रकर्मियोंको समझा दिया था, कि बिना गुप्त-संगठनके कार्य चलाया नहीं जा सकता। उस वक्त छपरा जिलेमें अन्दोलनके संचालक गुह्यबाबू (यतीन्द्रनाथ गूर) और जगन्नाथ मिश्र थे। बाहर रहकर स्वयं-सेवकोंको जमा करना, उनके खाने-पीनेका इन्तिजाम करना जेल जानेसे कहीं मुश्किल काम था। जेलमें चले जानेपर तो निश्चिन्त हो पढ़ते-खेलते-खाते अपने समयको बिताया जा सकता था। बनारससे आन्दोलनमें भाग लेनेकेलिये छपरा आकर रहने लगा, तो गुह्यबाबू और जगन्नाथ पंडितका आग्रह हुआ, कि उनका काम मैं सभालूँ और उन्हें विश्राम करनेकेलिये जेल जाने दूँ। कई महीनेसे जितने परिश्र जितनी मानसिक चिंतासे वे लोग काम कर रहे थे, उसे देखकर उनकी माँग मु युक्ति-युक्त जँची। मैं जानता था, कि छपराकी पुलिस मुझसे काफ़ी परिचित है और बाहरसे काम न दिखलाई देनेपर भी वह कुछ उपाय किये बिना नहीं रहेगी; तं भी अपनेको बाहर रहता दिखलाते हुये मैंने काम करना तय किया। गुह्यबाबू, औ जगन्नाथ पंडित उसी दिन गांजेकी दूकानपर धरना देने गये, और वहींसे पकड़क जेल भेज दिये गये। छपरामें एक बड़ा जलूस निकला, मैं जलूससे अलग-अलग फुटपाथसे चल रहा था। मेरे पुराने परिचित दारोगा नन्दीने देखा, प्रणाम किया मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई, कि इन पुलिस-अफसरोंमें एक ईमानदार अफसर भी है। शहरके थानेके दारोगा आदि भी अच्छे आदमी थे।

धरना, जलूस आदि का काम बराबर जारी रहा। राजेन्द्रबाबूके बड़ेभाई बा महेन्द्र प्रसादका मेरा पुराना परिचय था। उनके हृदयकी थोड़ी-बहुत पहिचान मुझे पहिलेसे भी थी, किन्तु बिहार बैंक—जिसके कि वह छपराशाखाके मैनेजर थे—मे अपने कमरेमें उनके मुँहसे निकले हुये शब्दोंको यादकर आज भी उनके हृदयकी

महानता, उनके देशप्रेमके प्रति श्रद्धा उमड़ आती है। उन्होंने कहा था—"बाबू" (राजेन्द्र प्रसाद) जेलमें हैं, उतनेसे मेरा कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता है, यह मैं मानता हूँ; तो भी घर-परिवारका ख्याल करके मैं जेल नहीं जा रहा हूँ, किन्तु, मैं एक काम कर सकता हूँ, वह है आन्दोलनको जारी रखनेकेलिये रुपयोंका इन्तिजाम करना। आपको जब जरूरत हो मुझसे कहनेमें संकोच न करें। . . . रुपये-पैसेकी समस्या उस समय सबसे बड़ी समस्या थी।

३१ जनवरीको मैंने सुना कि नारायणबाबूके गाँवमें पुलिसने जुल्म ढाया है। गोरखा गारदने लोगोंके घरोंमें घुस-घुसकर मार-पीट की है। मैंने बाबू जानकीशरण शाही वकीलको फोटोके कैमरेके साथ चलनेको कहा। हमलोग १० फर्वरीको छपरासे चलकर सिधवलिया स्टेशनपर उतरे। मसरखसे थावेतककी नई रेलवेलाइनसे जानेका मुझे यह पहिला मौका मिला था। इस लाइनको निकले एक ही डेढ़ वर्ष हुए थे, और अब भी गाड़ीके चलनेपर धूल खूब उड़ती थी। जलालपुरमें बाबू लालचंदरायके घरपर जानकी बाबूने कैमरेमें नई प्लेटें भरी। गोरयाकोठीमें गोरखा सिपाही पड़े हुए थे, और हमारे काममें बाधा होनेका डर था, इसलिये हमलोग चुपकेसे पैदल वहाँ पहुँचे। नारायण बाबूके घरमें गोरखोंने कुर्सी पलंग, चौकियोंको काट डाला था। गाँवके एक ग़रीबके घरमें देखा, उसकी चौखट-किवाड़ोंको उखाड़ फेंका गया था, कोठिलीको तोड़कर अनाजको मिट्टीमें मिला छींट-छाँट दिया गया था। काँसे-ताँबेके बर्तनों-घड़ोंको तोड़ दिया गया था। यही हालत कितने ही और घरोंकी हुई थी। लोगोंपर मार पड़ी थी सो अलग। पुलिसने सारे गाँवमें आतंक फैलानेकी कोशिश की थी। सरकार लोगोंको कानूनन् सजा देते-देते तंग आ गई थी। जेलों और कैम्पोंके भर जानेपर जेलकी सजा जितनी जनता-को घबड़ाहट नहीं पैदा कर सकती थी, उतनी सरकार और उसके कर्मचारियोंको परे-शानी में डाले हुये थी। इसीलिये सरकार इस बर्बरतापर उतर आई थी। लेकिन तो क्या जनताको वह भयभीत करनेमें समर्थ हुई थी? नहीं—जौके साथ घुनोंको पिसते देख, आन्दोलनसे अलग रहनेवाले लोग भी अब उसमें सम्मिलित हो रहे थे, सरकारके खैरख्वाहोंकी संख्या शून्य बनती जा रही थी। इतने अत्याचारपर स्त्रियों तकके धैर्यको देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। नारायण बाबूकी स्त्रीको मैं सान्त्वनावाक्य कह रहा था, किन्तु वह पहिले हीसे बहुत दृढ़ थीं। कह रही थीं—मुझे घबराहट नहीं है। मैं बच्चोंके साथ जेलमें जानेकेलिये तैयार हूँ। और वस्तुतः, उनकी सबसे छोटी लड़की अपनी मझली बहिनके साथ जलूसमें भाग ले

रही थी, और छपरामें धरनामें शामिल हुई थी। सैकड़ों वर्षोंमें पर्देकी घृणित प्रथाकी मारी बिहारकी इन कुलांगनाओंमें एक भारी सामाजिक क्रान्ति फैलती साफ़ दिखलाई पड़ रही थी।

हमलोगोंने फोटो लिये। कई घंटे राततक गाँवमें फिरकर लोगोंको समझाया, और फिर आकर रातको जलालपुरमें विश्राम किया। सवेरे छपरा पहुँचे। राष्ट्रीयपत्र अधिकांश बंद हो चुके थे, इन अत्याचारोंकी खबर छापनेवाला कोई पत्र मिलना मुश्किल था। हमने प्रयागके "भविष्य" में चित्रोंको प्रकाशित कराया। किन्तु, क्या सरकारको अपने कर्मचारियोंकी काली करतूतोंसे शरम आती थी? बंबईमें स्त्रियोंतकपर लाठियोंकी वर्षाको तो विदेशी पत्रकारोंतकने अपनी आँखों देखा, अमेरिकन और दूसरे पत्रोंमें उनके संबंधमें लेख छपे, किन्तु उससे क्या वृटिश सरकारपर कोई असर हुआ? क्या उसने अपने रवैयेको बदला? विलायतकी मजदूर-सरकारके भारतमंत्री मिस्टर वेजवूड बेननें जब उसका समर्थन किया, तो बाहरी सहानुभूति तथा संसारकी नैतिक शक्तिके बलपर भारतको स्वतंत्रता पाना असंभव है, यह मालूम हो गया। आशा सिर्फ उस शक्तिसे हो रही थी, जो इन आततायी कृत्योंके कारण जनतामें अपार घृणा तथा स्वार्थत्यागकेलिये होड़के रूपमें उत्पन्न हो रही थी। अंग्रेज केवल अपने संसारमें फैले प्रतिद्वंदियों और अपनी भविष्यकी विपताका ख्यालकर जनताके इस सर्वव्यापी क्रोधसे डर रहे थे। संसारके दूसरे देशोंके शासनकी बागडोर जिनके हाथोंमें है, उन्हें तो वे अपने ही जैसे जनताकी आँखोंमें धूल झोंकनेवाले समझ रहे थे।

इस वक्त तक बिहारके कितने ही राष्ट्रकर्मियोंको गाँधीवादमें निराशा हो गई थी, और वे समाजवादके आधारपर जनताको तैयार करनेकी जरूरत महसूस करने लगे थे। गाँधी-इर्विन समझौतेके बाद हमने बिहार सोशलिस्ट पार्टीकी स्थापना (१३ जुलाई) की, मैं उसका एक मंत्री बनाया गया। जबसे राष्ट्रीय आन्दोलनमें मैंने भाग लिया, मुझे तो ऐसा समय नहीं मालूम होता, जब कि मैंने सरकारके साथ शोषकोंको भी अपनी आलोचना अपनी घृणाका लक्ष्य न बनाया हो; अब समयको उस आदर्शके प्रचारके अनुकूल देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, जिसका चित्रण मैंने बाईसवीं सदीमें किया था।

मैं बहुत दिनों काम नहीं कर सका था, कि इसी बीचमें ५ मार्च (१९३१ ई०) को गाँधी-इर्विन समझौतेकी बात अखबारोंमें पढ़ी। जेलोंमें पड़े राजनीतिक कैदी छूटने लगे। १० मार्चको छपरा जेलसे छूटनेवाले कैदियोंके स्वागतकी प्रतीक्षामें कई

साथियोंके साथ मैं जेलपर पहुँचा। इंतिजार करते बारहके करीब बजनेको आये। उस वक्त भिक्षु होनेसे मैं दोपहरके बाद खाना नहीं खाता था। खाना खानेकेलिये अपने मेजवान बाबू गुणराज सिंहके घरपर जानेमें देर होती, मैंने जुमराती मियाँसे पूछा तो उन्होंने कहा—खाना तैयार है। उनका घर जेलके नजदीक था। बाहरके बैठकेमें चौकीपर बैठा, और जुमराती मियाँने खाना लाकर सामने रखा। छूआ-छूतको मैं कबका न छोड़ चुका था, किन्तु छपरामें निस्संकोच हो मुसलमानके घर खाना खानेका यह पहिला अवसर था। मेरे कितने ही साथी जनतामें इसकेलिये घृणा पैदा होनेका डर दिखला रहे थे, किन्तु मैं कह देता—"आप कह सकते हैं, कि अब वह राम-उदारबाबा नहीं राहुल सांकृत्यायन है, हिन्दू नहीं बौद्ध है।" राजनीतिक क्रान्तिके साथ सामाजिक क्रान्तिकी मैं अनिवार्य आवश्यकता बहुत पहिलेसे समझ रहा था। मुसाफिर विद्यालयके समयसे ही छुआछूत और जात-पाँतके विरुद्ध कड़ीसे कड़ी आलोचना करनेमें मैं जरा भी नहीं हिचकिचाता था। जुमराती मियाँके घर खाना मैंने खुल्लंखुल्ला खाया था, और खुल्लखुल्ला उसकी चर्चा करता था। मुझे तो ऐसी कोई घटना याद नहीं आती, जब इसकेलिये मैं किसीके तिरस्कारका भाजन हुआ। वस्तुतः जिनकेलिये हम काम करते हैं, वे तो हमें हमारी सार्वजनिक सेवासे तौलते हैं, बाकी प्रतिगामी, सरकारपरस्त मक्कारोंकी हमें पर्वा क्या होनी चाहिये ?

अबके (२९–३१ मार्च) काँग्रेस कराँचीमें हुई। मैं भी कई साथियोंके साथ (२३ मार्चको) कराँचीकेलिये रवाना हुआ। रास्तेमें जब हमारे साथी पूरी तर्कारी ढूँढते, तब मैं रोटी-गोश्त लेता—युक्तप्रान्त विहारमें उस वक्ततक स्टेशनोंपर रोटी-गोश्तकी फेरी करनेवाले मुसलमान ही होते थे। २६ को कराँची पहुँचे। वहाँ आनन्दजी भी मिल गये। हम लोग एक ही जगह ठहरे। काँग्रेसमें सम्मिलित सारे प्रतिनिधियों और जनतामें भगतसिंह और उनके साथियोंकी फाँसीसे एक भारी उत्तेजना थी। गाँधी-इर्विन समझौतेसे कितने लोगोंने समझा था, अंग्रेजी सरकारका हृदय-परिवर्तन हो गया, किन्तु ऐसी सरकारोंके पास हृदय कहाँ होता है ? गाँधीजी घुटने टेककर बगुलाभगत क्रिश्चियन वायसराय इर्विन्से भगतसिंहके प्राणोंकी भिक्षा माँगते ही रह गये, किन्तु देशके एक श्रेष्ठ नेता लाजपतरायपर प्रहार करनेवाले एक अंग्रेज पुलिस अफसरको उसके कियेका मजा चखानेवाला भगतसिंह कैसे क्षमा किया जा सकता था ?

काँग्रेसके अवसरपर जो नई चीजें मुझे देखनेमें आईं, उनमें एक थी हँसुवा-हथौड़ावालोंकी सभा। उसके कुछ कर्णधारोंसे मैं मिला भी, किन्तु उनकी गम्भीरताका

अभी मुझे पता न था, इसीलिये घनिष्टता नहीं पैदा की। आतंकवादियोंकी वीरत उनके आत्मबलिका भारी प्रशंसक होते हुये भी मैं उस दलमें क्यों शामिल न हो सका था, इसके बारेमें पहिले कह चुका हूँ। हँसुवा-हथौड़ावालोंकेलिये भ मैं वही कसौटी इस्तेमाल करना चाहता था। कांग्रेसके वक्त राष्ट्रभाषा-सम्मेल हुआ, मैंने रोमनलिपिके स्वीकारकेलिये प्रस्ताव रखा, किन्तु विवादके डरसे काा कालेलकरने लौटा लेनेकेलिये कहा।

करांचीमें ही सिंहलके वृद्ध भिक्षु स्थविर जिनवंशको देखा, जिनसे पीछे जापानम मिलनेका मौका मिला। वह अपने धुनके पक्के थे। कुछ छपे हुये पम्फलेट लिये लोगों वितरण करते तथा बातचीत द्वारा बौद्धधर्मका प्रचार कर रहे थे। प्रोफेसर धर्मानन कौशाम्बीकी आत्मकथाको मैं गुजरातीमें पढ चुका था, और आनंदजीसे उनके बारे सुन भी चुका था, किन्तु उनके हिमश्वेतकेश-कूर्चश्मश्रु-प्रच्छादित गोरे चेहरे, उसं छिटकती शान्ति, गम्भीरता और सादगीको देखनेका मौका पहिले-पहल यहीं मिला हम करांची शहर और उसके बन्दरगाहको भी देखने गये, किन्तु उसकी कोई खास बात याद नहीं। अभी उस वक्त (१९३१ ई०) तक करांची विमान-केन्द्र नहीं बन पाया था।

करांचीसे आनंदजी जहाजद्वारा बंबई और फिर लंका जानेवाले थे, और मुझे बिहार लौटना था, जिसे बंबईके रास्ते भी कर सकता था, किन्तु मैं अब तक इतिहास और पुरातत्त्वका एक विद्यार्थी बन चुका था, इसलिये मोहेन-जो-डरो और हड़प्पा देखनेका लोभ-संवरण नहीं कर सकता था। सात साथियोंके साथ मैं हैदराबादमें उतरा (१ अप्रैल)। गर्मी अब काफी पड़ने लगी थी, और इस वक्त हैदराबादके घरोंकी छतोंपर खुले दर्वाजोंवाले कोठरीनुमा हवादानोंकी उपयोगिताको मैं समझ सकता था, जब बतलाया गया, कि इनसे हवा घरके भीतर ली जाती है।

हैदराबादसे रेलद्वारा कोटरी होते सिन्धुके दाहिने किनारेकी ओरसे मोहन-जो-डरो गये। डेरागाजीखाँ और जामपुरीकी यात्रामें मैं सिन्धुकी कछारसे परिचित हो चुका था, इसलिये स्टेशन (डोकरी)से मजबूत घोड़ेवाले ताँगेपर चलते जब वही कछार आने लगी, तो मुझे कोई नवीनता न मालूम हुई। स्टेशनपर मैंने सभी ताँगोंके घोड़ोंको एक सा ही मजबूत पाया। मुझे हठात् संस्कृत साहित्यमें प्रख्यात सैन्धव अश्वोंका स्मरण हो आया, किन्तु अब मैं पाली साहित्य भी पढ़ चुका था, और जानता था, कि जिसे आज सिन्ध प्रांत कहते हैं, वह पहिले सौवीरके नामसे प्रसिद्ध था, इसका कि प्रधान नगर रोरुक (वर्तमान रोरी) था। सैन्धव (सैन्धा)

नमक और सैंधव अश्वकी सम्मिलित प्राचीन जन्मभूमि सिन्धुदेश पिंडदादन खाँ आदिकी नमककी पहाड़ियाँ तथा उनके आस-पासके जिले हैं। नदियोंके साथ नामोंका नीचेकी ओर बहनेका उदाहरण और भी देखे जाते हैं। युद्धके समय पैठन (प्रतिष्ठान) और औरंगाबादके पास होने वाला अंधक (आंध्रक) प्रान्त अब गोदावरीके निचले भागमें चला गया है।

दस बजे दिनमें हम मोहन्-जो-डरो पहुँचे। उस वक्त काफ़ी गरमी पड़ रही थी, और सबसे मीठी चीज ठंडा पानी मालूम होता था। हमने उसी धूपमें वहाँके ध्वंसावशेषोंको देखना शुरू किया। मोहन्-जो-डरोके बारेमें मैं काफ़ी पढ़ चुका था, वहाँकी निकली चीजों तथा ध्वंसावशेषोंके बहुतसे फोटो देख चुका था। लेकिन अब वह मूल वस्तुयें आँखोंके सामने थी। आज-कलकी विलायती ईंटोंके आकारकी पकी ईंटें धरतीको गोल साबित कर रही थीं। शहरकी सड़कें, पानीकी नालियाँ, पाँचहज़ार वर्ष पहिलेके आर्योंसे पुराने सिन्धुवासियोंके नागरिक जीवनके उत्कर्षको बतला रही थीं। उनके ईंटोंके घर, ईंटोंके कूयें, उनके स्नानागार सभी इस बातके साक्षी थे, कि ताम्रयुगमें भी वहाँके लोग बहुत समृद्ध संस्कृत जीवन बिता रहे थे।

मोहन्-जो-डरोसे शाम तक हम सक्खर पहुँच गये। सिन्धुनदके तटसे थोड़ा भीतर उदासी साधुओंका मठ साधुबेला बड़ा रमणीय स्थान है। कोई समय था, जब सिंधके गृहस्थकी साधुसेवा तथा साधुओंके भव्यस्थानोंकी प्रसिद्धिने मुझे वहाँकी यात्राकेलिये आकर्षित किया था, किन्तु अब मेरे पास उसकेलिये उतना समय न था, इसलिए साधुबेलामें एकाध घंटाके विश्राम हीपर सन्तोष करना पड़ा। उस वक्त महन्त हरनामदास वही थे, और उनके बर्तावसे मालूम हुआ, कि जन मनोरंजनमें वह बहुत पटु हैं। वहाँ मैंने शीतलपुर(छपरा) के महन्त ईश्वरदासके एक शिष्यको देखा, जो घूमता-फिरता यहाँ तक पहुँच गया था। दो पैसेमें लेमोनेडकी बोतल पीकर मैंने समझा, कि सिन्धी लोग भारत ही नहीं उससे बाहर मध्य-एसिया, लंका, सिंहापुर, चीन, जापान, मिश्र, इताली, आदि तक क्यों सफल व्यापारीके रूपमें अपना कारबार चलाते हैं।

सिन्धुके बिना पायेके पुलसे पैदल ही हम रोरी आये और वहाँसे (३ अप्रैल) और लोग तो सामासट्टासे होते बिहारकेलिये रवाना हो गये, किन्तु मैं लाहोरकी लाईनसे मांटगोमरी जा लारीसे हड़प्पारोड स्टेशन लौटा। रातको वहीं ठहर सवेरे स्टेशनसे हड़प्पा पहुँचा, और प्राचीन ध्वंसावशेषकी खुदाइयोंमें घूमने लगा। यहाँ मोहन-जो-डरोकी तरह शहरका एक भाग आँखोंके सामने ही उद्घाटित हुआ

है, किन्तु ईंटें उसी नाप-तौलकी है। पत्थरके चिकने छल्लोंको देखकर मुझे बड़ी जिज्ञासा हुई, उनके उपयोगके बारेमें। बड़े-बड़े मटकोंमें मुर्दोकी हड्डियोंको रखकर समाधि देनेके बारेमें तो पढ़ चुका था, और गिरी हुई छतोंवाले लंबी पतली ईंटके घरोंमे उस वक्त कितने ही ऐसे मटके खोदकर बाहर निकाले जा रहे थे। सायके म्युजियममें भी मैंने कुछ समय दिया, और मुझे पुरातत्त्वका एक विद्यार्थी समझकर स्थानीय अधिकारीने उसे अच्छी तरह दिखलाया। उस वक्त मेरी स्मृति मुझे सिन्धु-उपत्यकाकी पुरानी सभ्यताके इन चिन्होंके प्रथम आविष्कारक श्री राखालदास बनर्जीके उस वार्तालापकी ओर ले जाती थी, जो कि तिब्बत जानेसे पहिले हिन्दू विश्व-विद्यालयमें हुई थी। मेरे उत्साहको देखकर उन्होंने प्रसन्नता प्रकट की थी, किन्तु ४६,४७ वर्षकी आयुमें अपने कार्य तथा आयुकी समाप्तिकी बात उनके मुँहसे सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ था। मैंने लंका रहते प्रोफेसर रुडाल्फ ओटो और प्रोफेसर लूडर जैसे बूढ़े जर्मन विद्वानोको तरुणाईके उत्साहके साथ कार्यतत्पर देखा था, इसलिये भी राखालबाबूकी निराशा अरुचिकर मालूम हुई थी। लेकिन उस वक्त मुझे यह विश्वास न हुआ था, कि उनके जीवनका अवसान इतना करीब है।

हड़प्पा देखते-देखते दोपहर हो गया। उस धूपमें स्टेशन लौटनेकेलिये कोई जल्दी न थी, किन्तु भूखसे अँतड़ियाँ ऐंठने लगी थीं। उसी वक्त एक सिक्ख सज्जन मिल गये, उन्होंने बतलाया—दूकान तो यहाँ नहीं है, किन्तु पासके गुरुद्वारेमें सदावर्ती लंगर चल रहा है, वहाँ रोटी-दाल मिल जायगी। उनके साथ मैं वहाँ गया। गुरुद्वाराकी बगलमें एक तालाब बन रहा था, और श्रद्धालु गृहस्थ—स्त्री-पुरुष दोनों—श्रद्धासे उसकी मिट्टी निकाल रहे थे। रोटियाँ बहुत मीठी थी, और साबत उड़दकी दाल भी, किन्तु लाखों मक्खियोंकी भिनभिनाहट बुरी मालूम होती थी। खाने और कुछ समय विश्राम करनेके बाद उसी सज्जनके साथ मैं स्टेशनकेलिये रवाना हुआ। अपनी यात्राओं और पुस्तक-रत्नोंकी कृपासे मेरे पास कहने सुननेकेलिये इतनी चीजें थी, कि हमें स्टेशन तककी यात्रा खतम होते मालूम न हुई। हड़प्पा स्टेशनसे मांटगोमरी दूर न थी, और वहाँकेलिये मोटर-बसें जा रही थीं। मैंने मांटगोमरी या साहीवाल जातिकी सुंदर दुधार गायोंको रास्तेमें ही देख लिया था, इसलिये मांटगोमरी शहर देखनेकी ख्वाहिश न की। शामके वक्त स्टेशनमें बैठे देहातके स्त्री-पुरुषोंकी बातचीत सुनते वक्त 'करसां' (करिष्यामि—करूँगा) 'जासां' (यास्यामि—जाऊँगा) जैसे शब्द जब मेरे कानोंमे पड़े, तो मुझे मालूम हुआ, संस्कृतभाषाके सबसे नजदीक भारतकी यही बोली है।

लाहौरके मित्रोंसे मिलने-जुलनेकेलिये मैं वहाँ ५-१० अप्रैल तक ठहरा, और फिर छपराकेलिये रवाना हो गया।

गाँधी-इर्विन समझौतेके बाद आन्दोलनने साधारण रूप धारण कर लिया, और गाँधीजीके गोलमेज कान्फ्रेंसमें जानेकी बात चलने लगी। मुझे गर्मियाँ छपरामें बितानी थीं। बहुत दिनोंबाद—१९२२ से १९३१ तक—अबके उत्तरी भारतकी गर्मी और लूहसे सामना पड़ा था, इसलिये वह कुछ असह्य मालूम होती थी। दससे चार बजे दिन तक तो पसीनेके मारे शरीर चिप-चिप और मन व्याकुल रहता था, उस वक़्त कोई काम करना मुश्किल था।

तो भी मैं सारन जिलेके "राजनीतिक संघर्षके इतिहास" के लिखनेमें लगा रहा। १४ जून तक छपरा मुफस्सिल, मसरख, परसा, बहहरिया, कटया, गोपालगंज थानोंका वर्णन लिख चुका था। आगे और परिवर्द्धन हुआ, मगर पीछे वह पुस्तक जिसके पास रखी गई उसने खो दी। मुझे अभिधर्मकोशके साथ साथ "बुद्धचर्या" के छपवानेकी फ़िक्र थी। हिन्दी-साहित्य-क्षेत्रमें मैं एक अजनबी-सा आदमी था, फिर 'बुद्धचर्या' जैसे पोथेको छापनेकेलिये प्रकाशकका मिलना आसान न था। मेरे मित्र धूपनाथने डेढ़सौ रुपये उसके प्रकाशनकेलिये दिये, यद्यपि वह कुल खर्चका दशांश ही होता, तो भी 'आगे कोई रास्ता निकल आयेगा' के भरोसे मैंने काशी-विद्यापीठमें वर्षावास करते पुस्तकको तारा-प्रिंटिंग-प्रेसमें छापनेकेलिये दे देना तै कर लिया। ८ अगस्तको मैं बनारस चला आया। आचार्य नरेन्द्रदेवजीसे परिचय १९२१ई० में तिब्बत जानेसे पहिले हुआ था, और अब वह मित्रताका रूप धारण कर चुका था। रहता पंडित रुद्रदेवके यहाँ और भोजन होता, आचार्य नरेन्द्रदेवजीके यहाँ। बड़ी तेज़ीसे 'बुद्धचर्या' का प्रूफ-संशोधन और मुद्रण आरंभ हुआ। हिन्दीकी यह मेरी पहली पुस्तक थी, बल्कि अभिधर्मकोशके अभी प्रकाशित न होनेसे यह किसी भी भाषामें मेरी पहिली पुस्तक थी, इसलिये उसे प्रकाशित देखनेकी बड़ी लालसा थी, लेकिन जितने रुपये मेरे पास थे, उनसे यह काम साध्य न था, इसे मैं जानता था। नरेन्द्रदेवजीने बा० शिवप्रसाद गुप्तसे सिफ़ारिश की। उन्होंने पुस्तककी परखकेलिये बाबू भगवानदासजीको भी दिखला लेनेकेलिये कहा। पुस्तकके विवरण और एकाध पन्नोंको सुनकर बा० भगवानदासने राय दी कि मैं उसे शब्दानुवाद न रख स्वतंत्र ग्रंथके रूपमें परिणत कर दूँ, इसकेलिये उन्होंने पुराणोंका उदाहरण दिया। ऐतिहासिक दृष्टि और ईमानदारी मुझमें अब काफ़ी थी, इसलिये उनकी बातका मुझपर असर क्या पड़ता? मैंने "बुद्धचर्या" के रूपमें बुद्ध और बुद्धकालीन भारतके इतिहासकी सामग्री मौलिक रूपमें

रखनी चाही थी, बाबू भगवानदासकी बात माननेसे उस पुस्तकको आगमें डाल देना मैं पसंद करता। खैर, पाँच-सात फर्मोंके छप जानेके बाद बाबू शिवप्रसादजीने पुस्तकको अपनी ओरसे प्रकाशित करना स्वीकार किया। मैंने पुस्तकमें हर जगह ईसवी सनका व्यवहार किया था, सौर तिथि और विक्रम संवत्‌के स्वीकारके रूपमें मैं काफ़ी वर्षों तक देशप्रेमको पहिले ही दिखला चुका था, और अब समझता था कि सारे संसारमें प्रचलित मास-सनकी जगह विक्रम संवत् और सौर तिथिके प्रचारका आग्रह अन्तर्राष्ट्रीयताका बहिष्कार है। तो भी पुस्तकके प्रकाशकके भावोंका ख्याल करना जरूरी था, खासकर जबकि उसे स्वीकार न करनेपर पुस्तकका प्रकाशन ही अनिश्चित कालकेलिये रुक जाता। बाबू शिवप्रसादकी बातको स्वीकार कर लेनेके बाद धूपनाथजीका भी पत्र आया, कि वह पुस्तकके प्रकाशनकेलिये सभी अपेक्षित रुपयोंको देनेको तैयार हैं, किन्तु अब तो उसके बारेमें तै हो चुका था।

उसी वर्षावासमें एक दिन (४ सितंबर) यागेशसे मुलाकात हुई। वह अपने पिताकी चिकित्साकेलिये हिन्दू विश्वविद्यालयके आयुर्वेदिक चिकित्सालयमें ठहरे हुये थे। काल्पीके बाद यह पहिली मुलाकात थी। मैंने देखा अब उनका वह तरुणाईवाला भरा हुआ लाल चेहरा न था। घरके जजालने उनके स्वास्थ्यपर असर किया था। मुझे अपनी जीवन-यात्रापर संतोष हुआ।

विद्यापीठमें एक दिन अच्छा मजाक रहा। पंडित रुद्रदेवजीसे हमने दावतकेलिये तक़ाज़ेपर तक़ाज़े शुरू किये। मेरे अतिरिक्त नरेन्द्रदेवजी और बाबू शिवप्रसादजी जैसे आदमी भी जब उस तक़ाज़ेमें शामिल हों, तो पंडित रुद्रदेवजी रनपर क्यों न चढ़ जाते। पंडित रुद्रदेवजी गुरुकुल वृन्दावनके स्नातक तथा वैदिक साहित्यके विद्वान् थे, इसलिये मैंने प्रस्ताव किया, कि भोजमें सोम और मधुपर्कका जरूर इन्तिज़ाम होना चाहिये। लेकिन असली सोम यानी भंगको हममेंसे कोई न पी सकता था, और मांस खानेवाला अकेला मैं ही था, इसलिए तै हुआ कि 'नामांसो मधुपर्को भवति' इस भगवती स्मृतिका पालन करनेकेलिये गुच्छियों—जिनका स्वाद मांस-जैसा ही होता है—की तरकारी बने, और सोमकी जगह भंडूका द्राक्षासव आये। द्राक्षासव तो नहीं मिल सका, किन्तु मधुपर्कके साथ रसगुल्ले, अमरती तथा दूसरे सुस्वादु नफ़ीस खाद्य-भोज्य-चोष्य-पेयकी दावत हुई। दस-पंद्रह प्रतिष्ठित अतिथि उसमें शामिल हुये। भोजनके बाद मेजमानकी प्रशंसामें वक्तृतायें हुईं। उसमें भाषणके उल्लेखमें यह भी कह दिया गया, कि कैसे पाँच आदमियोंसे शुरू करते-करते अतिथियोंकी संख्या पंद्रह तक पहुँचा दी गई। इतना तक तो कोई बात न थी, किन्तु मैंने सूचीके भिन्न-भिन्न संस्करणोंमें

आये नामों तक को प्रकट कर दिया। मूल सूचीमें बाबू शिवप्रसादजीका नाम न आया था, वह भट बोल उठे—तो हमलोग पीछेसे जबर्दस्ती बढाये हुओंमें हैं? पंडित रुद्रदेवजीको इससे भी चिढ़ हुई थी, कि उन्हें बेवकूफ बनाकर दावत देनेकेलिये मजबूर किया गया, और अब वक्तृतामें मजाकिया तौरपर ही सही, बाबू शिवप्रसाद गुप्तको गौण अतिथियोंमें बतला दिया गया। वह नाराज हो पड़े, और सबसे ज्यादा मुझपर। लेकिन जो मजाक करना चाहता है, उसे इसकेलिये भी तैयार रहना चाहिये। इसी वक्त विद्यापीठमें मुरादाबादके पंडित ज्वालादत्त शर्मासे मुलाकात हुई। उनका नाम "सरस्वती" के उन लेखकोंमें देखा था, जिनके लेख सरस्वतीके प्रथम परिचयके वक्त पढ़नेको मिले थे। उन्होंने मेरे लंका-संबन्धी लेख "सरस्वती" में देखे थे। वे लेख नौसिखिया नहीं प्रौढ लेखनीसे निकले थे,—अपनी कलमपर दस-बारह बरस संयम रखनेका मुझे अफ़सोस न था—इसलिये यकायक ऐसे लेखकका साहित्यक्षेत्रमें अवतरण होना उन्हें कुछ अचरजसा मालूम हुआ था, यह पंडित ज्वालादत्तकी बातचीतसे मालूम हुआ। वह मेरे लेखोंकी प्रशंसाके सिलसिलेमें कह रहे थे—मैंने तो संपादकसे पूछा, यह नई विभूति कहाँसे निकल आई? किसी सहृदय व्यक्तिके मुँहसे संयतभाषामें यदि प्रशंसाके शब्द निकलें, तो वह किसको बुरे लगते हैं? उसी साल पंडित पद्मसिंह शर्मासे मुलाकात हुई। वह उस वक्त मेरी "बाईसवीसदी" को पढ़ रहे थे। उस वक्त तक बाइसवी सदीका प्रथम संस्करण पटनासे निकाल दिया गया था क्या? मेरी लेखनीसे वह भी परिचित हैं, इसका भी मुझे कम सन्तोष नहीं हुआ; तो भी यह बातें ऐसे समय हो रही थी, जब मुझे अपनी लेखनीपर भरोसा करनेकेलिये बाहरके प्रोत्साहनकी आवश्यकता न थी।

बरसात खतम होते-होते "बुद्धचर्या" और "अभिधर्मकोश"की छपाईका भी काम खतम होनेको आया। प्रेसपर ताक़ीद रखनेकेलिये मुझे अक्सर ताराप्रिंटिंग प्रेस जाना पड़ता था। एक दिन वहीं पंडित अयोध्यासिंह उपाध्यायसे भेंट हुई। उनके "चोखे चौपदे" वहाँ छप रहे थे। एक दिन राष्ट्रीयता और हिन्दूसभा लेकर बात छिड़ गई। मैंने भी उसमें भाग लिया। उस वक्त उपाध्यायजी यह नहीं जानते थे, कि मैं उनकी जन्मभूमि निजामाबादके तहसीली स्कूलका विद्यार्थी हूँ, और उनके शिष्य पंडित सीताराम श्रोत्रिय मेरे अध्यापक रह चुके हैं। मैंने उनको हिन्दूसभाई पक्षका गर्मा-गर्म समर्थन करते देख, एकाध चुभती टिप्पड़ियाँ कीं। उपाध्यायजीको एक बौद्धभिक्षुका इस तरह हिन्दुत्वपर हम्ला करना बहुत बुरा लगा। मैं

मजा लेने लगा, जब उन्होंने कहा—तुमलोग कब हमारे हुये ? इसीलिये तो तुमलोगोंको भारतसे निकाल बाहर करना पड़ा।

सारनाथके नये बौद्ध बिहारका निर्माण समाप्तिपर आ रहा था। अनागरिक धर्मपाल सारनाथमें थे, और कभी-कभी मैं भी वहाँ जाया करता था। अनागरिक की बातें बड़ी रोचक हुआ करती थीं। एकबार कह रहे थे—मैंने महादेवसे पूछा तुम यहाँ बनारसमें क्यों चले आये ? यहाँ सारनाथ तो बुद्धका स्थान है ?' बेचारा गिड़-गिड़ाने लगा—'मुझे मत कुछ कहो। मैं तो भले तिब्बतके कैलाशमें—बड़ी ठंडी जगहमें रहता था। यह औरत—पार्वती—सारे खुराफातकी जड़ है। इसको यह आग उगलती गरम जगह ही पसन्द है। इसीने जिद किया' 'लेकिन औरतपर काबू रखना तो चाहिये।' यही तो मेरी कमजोरी है।

अनागरिक उस वक्त चिर-रोगी थे—पैरोंकी कमजोरीके कारण चल-फिर नहीं सकते थे। कहते थे जब अकेला रहता हूँ, तो अक्सर देवताओंसे सवाल-जवाब करता रहता हूँ। महादेव भला आदमी है, लेकिन औरतपर उसका वश नहीं। अपनी बातचीतमें एकबात वह बहुत दुहराते—'मैंने जीवनके बेहतर हिस्सेको भारतमें बौद्धधर्मकी पुनः स्थापनामें खर्च किया। जड़ पड़ गई है, किन्तु अभी भी काम करनेवालोंकी बड़ी जरूरत है। आप लोग काम सँभाले रहें, मैं तो मरकर इसी बनारसमें ब्राह्मणके घर पैदा होऊँगा। मुझे पढ़ाई समाप्तकर लेने दीजियेगा, फिर तो मैं कामकेलिये आ ही जाऊँगा।

११–१३ नवंबर (१९३१) को सारनाथके नये विहार (मूलगंधकुटी विहार) का उद्घाटन-महोत्सव था। उसका भव्य पाषाण शिखर और पूजागार बहुत अच्छा बना था, किन्तु सामनेके छोटे-छोटे शिखरोंकी लंकाके युद्धस्मारक जैसी आकृति मुझे खटकती थी। लेकिन अब तो यह बन चुका था। भीतर स्थापित होनेवाली प्रतिमा तो इतनी भद्दी थी, कि मुझे यह बर्दास्त नहीं होती थी। बेचारे अनागरिकने स्वदेशीके ख्यालसे जयपुरके कारीगरोंसे बनवाया था, और एक आधुनिक कलाकारके तत्त्वावधानमें। सारनाथ म्युजियमकी प्रसिद्ध गुप्तकालीन प्रतिमाकी नकल कराना चाहते थे, जो यदि किसी योरोपीय कलाकारके हाथमें सौंपी गई होती, तो आसानीसे यांत्रिक तरीक़ों-द्वारा सफलताके साथ बनाई जा सकती थी। उत्सवतक मैं पुस्तककी छपाईके काममें पुर्नत पा गया था। कांग्रेसको रचनात्मक काम—चर्खा-खद्दर, अछूतपन-निवारण, हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा गाँधी-इर्विन समझौतेको अक्षरशः पालन—की हिदायत दे, गाँधीजी गोलमेज कांफ्रेंसमें जानेकी तैयारी कर

रहे थे। कांग्रेसके तत्कालीन प्रोग्राममें मेरी कोई रुचि न थी, इसलिये मैं लंका जानेकी फिक्रमें था।

उत्सवमें लंकाके कितने ही भिक्षु आये थे, जिनमें मेरे उपाध्याय श्री धर्मानंद नायकमहास्थविर भी थे। उत्सवमें मैंने भी भाग लिया। सभी बौद्ध देशोंके प्रतिनिधि आये हुए थे। दर्शकपर बौद्धधर्मकी अन्तर्राष्ट्रीयताकी छाप पड़े बिना नहीं रह सकती थी। उत्सवमें सम्मिलित होनेकेलिये शान्तिनिकेतनसे पंडित विधुशेखर भट्टाचार्य भी आये थे। उनका नाम पहिले ही सुन चुका था, लेकिन दर्शन करनेका यह पहिला अवसर था। वह भी मेरे लेख "भारतमें बौद्धधर्मका उत्थान और पतन" पढ चुके थे, इसलिये मैं उनकेलिये अपरिचित न था। उनकी सादगी, सदास्मितमुखता और मधुरभाषिता नवागन्तुकको देखने मात्रसे आकर्षित किये बिना नही रह सकती, और फिर मैं तो उनकी विशाल विद्वत्ताका कुछ परिचय रखता था। उन्होंने कहा—'मैंने आपके उस लेखको पढ़ा, और लेखकको देखनेकेलिये उत्सुक था।' मैंने पूछा—'हिन्दीमें ?'—वह गंगा जैसी बहुत अल्पप्रसिद्ध पत्रिकामें निकला था। उत्तर मिला—'हाँ, मैंने निशान लगाकर रखा है'। मर्मज्ञसे अपने लेखकी प्रशंसा आत्मविश्वासको बढ़ाती है, इसमें शक ही नहीं।

उत्सवके बाद नायकपाद और आनंदजी—वह भी लंकामें चले आए थे—की राय हुई, कि मैं भी लंका चला चलूँ। तिब्बतसे लाई सारी साहित्यिक सामग्रीको कीड़े-मकोड़ेसे बचाना ही नही बल्कि उसका उपयोग भी करना था। लंकाकी एक पूरी जमात—जिसमें पंद्रह-सोलह भिक्षु तथा पचासों गृहस्थ थे—१४ नवंबरको सारनाथसे जेतवन (बलरामपुर)को रवाना हुई। वहाँसे नौतनवा होते लुम्बिनी गए, और फिर कसया। त्रिपिटकका जिसने गंभीर अध्ययन किया है, वह जानता है, कि बुद्धके जीवनमें जेतवनका कितना महत्त्व है। अपने प्रचारक-जीवनके आधे वर्षावास उन्होंने यहीं बिताए। जेतवनकी गंधकुटीके ध्वंसके सामने भिक्षु, गृहस्थ खडे हुए, कि नायकपाद कुछ उपदेश करें। उन्होंने जेतवनकी प्रशंसामें संयुत्तनिकायकी गाथा "इदं जेतवन" कहना शुरू किया, कि उनका कंठ रुद्ध हो गया, और आगे बोलना असंभव, उनके आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह निकली। ख्याल कीजिए उस आदमीकी मानसिक अवस्थाका, जिसने जेतवनके बारेमें, श्रावस्तीके राजकुमार जेतके राजोद्यानके रूपमें सिर्फ पढ़ा ही नहीं बल्कि उसका मानसिक साक्षात्कार किया, जिसने अनाथ पिंडकको मुहरें बिछाकर उसे खरीदते देखा, जिसने बुद्धको अपने प्रमुख शिष्योंके साथ वहाँ वर्षायें बिताते देखा, और जिसने बुद्धनिर्वाणवाले वर्षमें

आनंदको इसी गंधकुटीमें झाड़-बुहारकर, आसन जलकुम्भ सभी चीजें बुद्धके जीवित रहनेकी अवस्थाकी भाँति श्रद्धासे रखते देखा। पिछली शताब्दियोंमें जहाँ अपनी श्रद्धाके फूल चढ़ानेकेलिए मोग्गलिपुत्र तिस्स जैसे अनेकों संघज्येष्ठ, अशोक जैसे अनेकों मुकुटधर आए और जिसे आज एक निर्जन जमीनसे जीर्ण-शीर्ण ईंटोंकी टूटी-फूटी दीवारोंके रूपमें खोदकर निकाला गया है।

कसया (१६ नवंबर) से हम लोग छपरा-पटना होते नालंदा (२२ नवंबर) राजगृह गए, और फिर(कलकत्ता २४ नवंबर) से लंकाकेलिए रवाना।

८

लंकामें तीसरी बार (१९३१-३२ ई०)

२८ नवंबरको हम विद्यालंकार पहुँच गए। अबकी बार विहारमें मैंने एक चीनी विद्वानको देखा। वाङ्-मो-लम् (यही उनका नाम था) शांघाईसे निकलनेवाले एक बौद्ध अंग्रेजी पत्रके सम्पादक थे, उन्हें पाली संस्कृत पढ़नेकी तीव्र इच्छा हुई, जिसकी पूर्तिकेलिए वह यहाँ आए हुए थे। मुझे इस अवसरसे फायदा उठानेका अवसर मिला। एकाध बार चीनी अक्षर सीखनेका मैंने प्रयास किया था, किन्तु वह दूर तक न जा सका। लेकिन मैं चीनी अक्षरोंको सीखकर पंडित बननेकी जगह यह ज्यादा पसन्द करता था, कि अक्षर सीखनेके साथ किसी संस्कृत पुस्तकका पुनरनुवाद होता चले। अभिधर्मकोशको मैंने पूसिनके फ्रेंच-अनुवादके सहारे पूरा किया था, पहिले मैंने उसीके चीनी अनुवादको लिया, और फिर ह्वेन्-चाङ्ग अनुवादित विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि और दीर्घनिकायके कुछ सूत्रोंको लिया। बाबू शिवप्रसाद गुप्तकी कृपासे काशी विद्यापीठने थैशो संस्करणके चीनी त्रिपिटककी एक प्रति मँगवानेमें पैसोंकी मदद की थी। अब मेरी इच्छा थी, कि चीनी-लिपिको अच्छी तरह पढ़ूँ, किन्तु पीछेकी बहुकार्यव्यस्तताने श्री वाङ्के साथ पढ़े अक्षरोंको भी भुलवा दिया। श्री वाङ् हृदयके बहुत ही कोमल व्यक्ति थे। बौद्धदर्शनपर—विशेषकर योगाचारदर्शनपर—उनकी अपार श्रद्धा थी, किन्तु उनका मिजाज बहुत जल्द गरम हो जाता था। जरासी बातमें उनको गलतफ़हमी हो जाती, और फिर तुरन्त उबल पड़ते; थोड़ी ही देर बाद उन्हें गलती मालूम हो जाती, फिर आकर बच्चोंकी तरह बेचैन हो क्षमा-प्रार्थना

करते। विहारके तरुण भिक्षु उनके चिड़चिड़ेपनको अपने मनोरंजनकी सामग्री बनाना चाहते थे, जिससे उन्हें दुःख होता था। चीनमें जूठ-मीठका विचार नही है। वाङ् महाशय अवसर अपने रूखे चमड़ेको मुँहके थूकसे मल-मलकर नरम कर लेते, मैंने इसे तिब्बतमें बहुत देखा था, इसलिए अच्छी आदत न मानते हुए भी मैं उसकी ओर उतना ख्याल न करता था; लेकिन दूसरे भिक्षु इस आदतको बहुत घृणाकी दृष्टिसे देखते थे। वाङ महाशय कितनी ही बार नंगे नहाने लगते, यद्यपि कूएँके पास थोड़ीसी दीवार घिरी थी, किन्तु वहाँ दर्वाजा न था, और आदमियोंकी नज़र पड़ती रहती। यह भी टिप्पणीका विषय था। वस्तुतः, वाङ् महाशयने इस गुरको स्वीकार नहीं किया था, कि नये देशमें अपने ही तरीक़ेसे चिपटे रहनेकी अपेक्षा बेहतर है, वहाँवालोंके व्यवहारको देख-देखकर नक़ल करना। वाङ महाशयके प्रति स्वाभाविक सहानुभूतिके अतिरिक्त मेरा जो अधिक पक्षपात हो गया था, उसका एक कारण यह भी था, कि मैं एक-दूसरे सरल किन्तु पंडित चीनी भिक्षु वो-दम् (बोधिधर्म)को तिब्बत जानेसे पहिले राजगिरके सोन-भंडार गुफामें आधे पागल जैसा देखा था। पीछे उनसे सम्बन्ध ज्यादा हुआ, और जब वह नेपाल गये, तो उन्होंने वहाँके बौद्धोंके बारेमें एक विस्तृत पत्र लिखा था। श्री वोदम् जीवन-मरणसे निस्पृह थे, किन्तु मुझे जब उनकी मृत्युकी खबर मिली, तो चीनी पर्यटकोंके ग्रंथोंमें वर्णित, भारतकी गर्मी और प्रतिकूल आबोहवाके कारण मृत पुरातन चीनी भिक्षुओंकी शोकपूर्ण स्मृति जागृत हो उठी। मुझे अपने मित्रके बारेमें रह-रहकर यह आशंका हो आती थी, विशेषकर उनके दुर्बल स्वास्थ्यको देखकर। आखिर वह आशंका ठीक ही उतरी, मेरे लंकासे अनुपस्थित होनेके समय वाङ यक्ष्माके शिकार हुए। उन्हें जाफनाके समुद्रतटवर्ती सेनीटोरियम्में भेजा गया। एक बार स्वस्थ होकर विहारमें लौट आये, किन्तु कुछ ही महीनों बाद बीमारी फिर लौट आई। वाङको घुल-घुलकर महीनोंमें मरना पसन्द न आया, और एक दिन समुद्रमें उनकी लाश तैरती मिली। यह था एक मित्रके स्नेहका अवसान!

आनन्दजीका पढ़ना-लिखना खतम हो चुका था। मुझे खुद ही सैर करना पसन्द नहीं आता, बल्कि दूसरेको वैसे करते देख भी आनन्द आता है। आनन्दजीने जब ऐसी यात्राकेलिए इच्छा प्रकट की, तो मैंने उसका सहर्ष अनुमोदन किया। उन्होंने स्यामकेलिए पासपोर्ट माँगा। लंकाकी पुलीसके पास हम लोगोंके बारेमें भारतीय पुलीसकी कुछ सूचना मौजूद थी। पुलीस-अधिकारीने पूछ-ताँछ करते वक़्त उनके उन मित्रोंके बारेमें पूछा, जो भारतीय ...

दृष्टिमें खतरनाक थे। तो भी उनका रेकार्ड उतना खराब न था, और पास-पोर्ट मिल गया।

इसी बीच महाबोधि सभाके द्वारा लन्दनमें प्रचारार्थ भेजे गये भिक्षुओंके लौटने-की खबर आई। सभाके ट्रस्टी नये प्रचारक भेजना चाहते थे। ट्रस्टके प्रधान श्री एन्० डी० एस्० सिल्वा और उनकी पत्नी दोनों नायकपादके अनुरक्त भक्त थे, उनकी दृष्टि आनन्दजीपर पड़ी। आनन्दजी अकेले लन्दन जानेकेलिए तैयार न थे, इसलिए मुझे भी चलनेकेलिए कहा गया। मैं कुछ ही महीनोंकेलिए जाना पसन्द करता था, और सो भी उस वक्त इस ख्यालसे कि एक बार बाहर जानेका पासपोर्ट तो मिल जावे। तबतक श्री (पीछे सर) डी० बी० जयतिलक सीलोन सर्कारके प्रधान-मंत्री हो चुके थे। मैंने सिर्फ इंग्लैंड जानेकेलिए पासपोर्टकी दर्ख्वास्त दी, सोचा इसमें कम दिक्कत होगी। आनन्दजीने अपने पासपोर्टमें इंग्लैंडका नाम बढ़वानेकेलिए भेजा। पुलीसके पास मेरे बारेमें काफ़ी शिकायतें भारतसे पहुँची थी। आखिर मैं दो-दो बार जेलखानेकी हवा भी तो खा चुका था। कुछ ही दिनोंमें सर्कारकी ओरसे मेरे पास जवाब आया—*आप भारत सर्कारसे पासपोर्ट माँगें, हम उसकी आज्ञा बिना पासपोर्ट देनेमें असमर्थ हैं।* आनन्दजीको जवाब मिला—असावधानीके कारण पासपोर्ट दे दिया गया था, उसे हम वापिस लेते हैं; आप भारत-सर्कारसे पास-पोर्ट माँगें। हमें तो निराशा और अफ़सोस हुआ ही, किन्तु हमसे भी अधिक तरद्दुद महाबोधि सभाके ट्रस्टियोंको हुआ, क्योंकि उन्हें लन्दन भेजनेकेलिए कोई अंग्रेजीसे परिचित योग्य भिक्षु नहीं मिल रहा था।

सर डी० बी० जयतिलकको भी चिन्ता हुई, और उन्होंने हमारे पासपोर्टकी बात अपने हाथमें ली। अपने प्रधान-मंत्रीकी बात न मानना लंकाके पुलीस और चीफ सेक्रेटरीकेलिए भी मुश्किल था, आखिर वास्तविक नहीं तो दिखावेकेलिए तो मंत्रियों-को अधिकार दिया गया था। इस प्रकार सर जयतिलकके प्रयत्नसे हमें पासपोर्ट सिर्फ इंग्लैंडका ही नहीं बल्कि सारे बृटिश साम्राज्यका दे दिया गया। जबसे पासपोर्टके-लिए रावलपिंडीमें दर्ख्वास्त (१९२६ ई०) दी थी, तभीसे मुझे अनुभव होने लगा था, कि बृटिश-सर्कारने सारी भारतभूमिको भारतीयोंकेलिए जेलखाना बना दिया है। पासपोर्ट मिल जानेसे उसी तरहका आनन्द हुआ, जैसे चिरबन्दीको जेलसे बाहर जानेकी इजाजत मिले।

काशी विद्यापीठमें रहते ही समय "गंगा" (सुल्तानगंज)के सम्पादकोंका आग्रह

हुआ था, कि मैं उनके पुरातत्त्वांक (विशेषांक)का सम्पादक बनूं। मैंने उसे स्वीकार कर विषयसूची भी तैयार कर दी थी, और लंकामें आ उसकेलिए कई लेख लिखे, जिनमेंसे "चौरासी सिद्ध" और "महायानकी उत्पत्ति और विकास"के अनुवाद फ्रेंचमें हो "जूर्नाल-आसियातिक"में भी छपे।

९

युरोप-यात्रा (१९३२-३३ ई०)

आनन्दजी और मैं ५ जुलाईको ६ बजे कोलम्बो बन्दरपर पहुँचे। हमें विदाई देनेकेलिए विहारके बहुतसे भिक्षु आये थे। "दार्तन्नां" (D' Artagnen) जहाज किनारेसे थोड़ा हटके खड़ा था, क्योंकि कोलम्बोका बन्दर किनारेतक उतना गहरा नहीं है। फोटोग्राफ़र फोटो लेना चाहते थे, लेकिन अभी आनन्दजीको इससे सख्त विरोध था। नाव जहाज़के पास पहुँची, हम फ्रेंच जहाज़के फ्रांसीसी नाविकोंके पाससे गुज़रे। यूरोपमें लोग कोट-बूट पहनके जाते हैं, और हमारे बदनपर थी, ढाई हज़ार बरसके पहिलेकी भिक्षुओंकी पोशाक—चीवर। उन्होंने देखकर खूब जोरसे हँसकर हमारा स्वागत किया। अभी बत्ती नहीं जली थी, इसलिए भीतर अँधेरा था, ३०० नम्बरके केबिनमें हमारी बर्थ थी। १० बजे राततक पिछड़े दोस्त मिलने आते रहे। ग्यारह बजे जहाज खुला, और हम सो गये। भिनसारमें ही सोते-सोते मुझे मालूम हो रहा था कि खूब जोरका झूला झुल रहा हूँ। समुद्र बहुत क्षुब्ध था, तेज़ हवा चल रही थी। सबेरे उठकर पाखाने गया। वह क़ाफ़ी गन्दा था। मुँह धोते वक़्त वमनसा होता दिखाई पड़ा। आनन्दजी सामुद्रिक बीमारीसे बहुत पीड़ित थे। दिनभरमें तीन बार वमन हुआ और उन्होंने खानेका नाम नहीं लिया। मैंने ८ बजे मक्खन पावरोटीके साथ चाय पी ली। ११ बजे भोजनका समय था, उस वक़्त चावल, मांस, पावरोटी, मक्खन और आम खानेको मिला। मैंने खाया तो, लेकिन आज मुझे भी भोजनकी कम इच्छा थी। सामुद्रिक बीमारीकेलिए हमने बहुतसा नीबू और अदरक साथमें ले लिया था। दिनमें कई बार उसे खाते रहे। हमारा केबिन और बिछौना बहुत साफ था। हमारे दोनों बर्थ ऊपर-नीचे थे। केबिनमें एक ओर हाथ धोनेकेलिए पानीका नल था, जिसके पास ही छल्लेमें

पीनेका पानी (काँचकी सुराहीमें) और एक ग्लास रखा था। हमारे सहयात्री ज्यादातर यूरोपियन थे, और उनमें भी ज्यादा फ्रेंच-भाषा बोलनेवाले। मैं तो१ दिन हीमें सामुद्रिक बीमारीसे काफ़ी अभ्यस्त हो गया। मुझे उतना कष्ट नहीं था, लेकिन आनन्दजीकी हालत खराब थी। तीसरे दिनसे तो मैं सहयात्रियोंसे परिचय भी बढ़ाने लगा। लखनऊके तरुण ए० के० दासगुप्त ही एकमात्र भारतीय मिले। मुकदन विश्वविद्यालयके भूतपूर्व प्रोफेसर ल्यूसे भी परिचय हुआ। एक अमेरिकन प्रोफेसर फ़िलिपाइनसे अपने देशको लौटे जा रहे थे। बौद्धधर्म और महात्मा गांधीके बारेमें वह बहुत पूछते रहे। एक यवद्वीपीय बताबू(बटेविया)-निवासी मुसल्मान भी इसी जहाजसे अरब जा रहे थे। तीसरे दिन आनन्दजीने थोड़ासा भोजन किया, लेकिन उनकी परेशानी कम नहीं हुई। वह ऊपर खुले डेकपर सोते थे। केबिनमें पंखा था, मैं तो अपने आसनपर सोता था। ७ जुलाईके शामको तूफ़ान और ज्यादा मालूम हुआ। ९से ११ तारीख तक पूरे ६ दिनोंतक अरब-समुद्र वैसा ही क्षुब्ध रहा।

८ तारीखको तूफान और तेज हुआ। ल्यू, दासगुप्त और आनन्द सभी बहुत पीड़ित थे। आनन्दजीको वमन होता रहा। ल्यूने भी कुछ नहीं खाया। हम लोग तीसरे दर्जेके यात्री थे, तो भी कोई तकलीफ नहीं थी। भोजनमें मांस, मछली, चावल, पावरोटी, मक्खन, उबली हुई तरकारियाँ सभी मेरेलिए अच्छी चीजें थीं। पीने-वालोंको एक-एक बोतल शराब मिलती थी। खाना भी जहाजके किरायेमें शामिल था। यद्यपि समुद्रका रोष और बढ़ता ही गया और मेरे साथी भी परेशान रहे, लेकिन मैं दूसरे दिनसे प्रकृतिस्थ हो गया। लड़के बहुत मगन थे, वह खूब दौड़ते चलते थे, जब कि सयानोंको हाथसे दीवार पकड़कर चलना पड़ता था।

१२ जुलाईको समुद्र शान्त हुआ। ८-९ बजे हमें अफ़रीका-तट दिखलाई पड़ने लगा। तृण-वनस्पति-रहित पहाड़ नजर आ रहे थे, हम शुमालीलैंडके किनारे-किनारे चल रहे थे। शुमाली मछुवोंकी नावें भी जब-तब जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ती थीं। हमारा जहाज पद्मिनी नायिकाकी तरह हंसगति और गजगतिसे चल रहा था। अब सब लोग प्रसन्न थे। गर्मी थोड़ी जरूर बढ़ गई थी। सहयात्रियोंके पाससे जो भी काम लायक पुस्तकें मिलती थीं, मैं कभी उन्हें अपने केबिनमें और कभी डेककी कुर्सीपर लेटकर पढ़ता रहता था। स्नानगृह उतना अच्छा नहीं था, लेकिन नहानेकेलिए खारा मीठापानी मौजूद था। मुझे किसीने पहिले बताया नहीं था, लेकिन अपने ही हैरान होकर देख लिया, कि खारे पानीसे साबुन लगानेपर मालूम होता था, मानो पत्थर घिस रहे हैं। मीठे पानीसे शरीरको भिगोकर साबुन लगा

खारे जलसे नहाना चाहिए। नहानेमें अच्छा आनन्द आता था। रेडियोकी खबरें टाइप करके लगा दी जाती थीं, हमें उससे मोटी-मोटी खबरें मालूम होती रहतीं। मैं अपनी टूटी-फूटी फ्रेंच भाषाका भी उपयोग करता था। १४ तारीखको हम जिबूती पहुँचे, यह फ्रांसके आधीन है। हम लोग भी किनारे जाना चाहते थे, लेकिन कोई छोटी नाव नहीं मिली। और जहाजपर हीसे देखकरके संतोष करना पड़ा। लोग समुद्रमें पैसा फेंकते थे। सुमाली लड़के डुबकी लगाके नीचे पहुँचनेके पहिले ही निकाल लाते थे। जिबूतीमें कितने ही गुजराती व्यापारी भी रहते हैं, नारंगी बेचनेवाले हिन्दी भी बोल लेते थे। हमारा जहाज ४ बजे रातको ही आया था, ४ घंटे बाद वह फिर आगेकेलिए रवाना हुआ। कुछ ही समय बाद अब हम लालसागरमें चल रहे थे। हमारा जहाज अफ्रीका-तटके करीबसे चल रहा था, लेकिन दाहिनी ओर एसिया (अरब)-तट भी साफ दिखाई देता था। गर्मीकी कुछ मत पूछिए, पंखेके नीचे भी पसीना होता था। रातके वक्त दाहिनी ओर किसी छोटी पहाड़ीके दीप-स्तम्भसे भुक्-भुक् करके प्रकाश दिखाई पड़ रहा था।

१५ जुलाईको तो मालूम होता था, हम समुद्रमें नहीं हैं, किसी शान्त सरोवरमें चल रहे हैं।

दोपहर बाद उसी फ्रेंच कंपनी—मेसाजरी मरीतीम—का दूसरा जहाज सामनेसे आ रहा था। दोनों जहाजोंने भोंपू बजाकर एक दूसरेका स्वागत किया। आनंदजीकी वैसे तो तबियत अच्छी थी, लेकिन भोजनकी बड़ी तकलीफ थी। यह मेरी तरह सर्वभक्षी नहीं थे। बेचारे कई पुश्तके घासाहारी थे, और उस धर्मको अपने देह तक बचा ले जाना चाहते थे। तो भी रोटी-मक्खन, उबले साग और तले आलू जितना चाहे उतना मिल सकती थीं। फल और चाय भी मौजूद थी। १६ को मालूम होता था, स्नानघरकी कोई खबर लेनेवाला नहीं है, वह बहुत मैला और पानी भी बहुत कम था। १७ को छोटे-छोटे स्टीमरें ज्यादा आते-जाते दिखाई पड़ने लगे। पासके नंगे पर्वतोंको देखकर तिब्बत याद आ रहा था, लेकिन तिब्बतकी शीतलता वहाँ कहाँ? तो भी भूमध्यरेखासे हम काफी उत्तर हो गए थे, इसलिए गर्मी कुछ कम थी। शामके वक्त योरोपीय स्त्री-पुरुष डेकपर जमा होते, फोनोग्राफ बजता और वह खूब नाचते। योरोपीय स्त्री-पुरुषोंको बहुत नजदीकसे और सो भी चौबीसो घंटे पहिले-पहल यहीं देखनेका मौका मिला। कल तक एक-दूसरेसे बिलकुल अपरिचित, आज खूब हँसते खेलते थे। स्त्री-पुरुषोंमें कोई-कोई बिलगाव नहीं था। तो भी मैंने अपनी डायरीमें लिखा था "यूरोपीजन स्त्री-पुरुष प्रेमके विषयमें

बहुत खुले होते हैं, वैसा अन्यत्र नहीं देखा जाता, तो भी इसके कारण नहीं कह सकते कि वह दूसरोंकी अपेक्षा ज्यादा कामुक है। कामुकता तो सर्वत्र एक समान है" (यूरोप-जना इत्थिपुरिस-राग-विसये बहुपाकटा, न तथा अञ्ञत्थ दिस्सति। तथापि तेनेते अञ्ञापेक्खं बहुकामुका' तिन वत्तुं सक्का। कामुकभावो तु सब्बत्थ समानो' य)।

विलायती कागजी पौण्डको उसके सोनेके आधारसे छुड़ा दिया गया था। मैं देख रहा था कि उसका दाम दिनपरदिन गिरता जा रहा है। १० जुलाईको जहाँ एक पौंडका ६६ फ्राक (फ्रांसीसी सिक्का) मिलता था, वहाँ ८ दिन बाद १८ जुलाईको वह ६०·५० रह गया। १८ तारीखके ३ बजे भिनसारे ही हमारा जहाज स्वेज पहुँचा। ५ घंटा वह वहीं ठहरा रहा। यूरोपियन आवास बन्दरके पास ही थे, लेकिन नगर कुछ दूर हटकर था। कहीं-कहीं कुछ खेत भी दिखलाई पड़े, खजूर और छुहारेके दरख़्तोंके झुरमुट भी जहाँ-तहाँ थे, लेकिन ज्यादातर भूमि नंगी थी। हमें ५ घंटेतक यहीं ठहरना पड़ा। जहाजपर फल और दूसरी चीजें बेचनेकेलिए आए आदमियोंमें कुछ सिन्धी भी थे। वह फ्रांसीसी, अंग्रेजी, अरबी तीनों भाषाएं फर्फर बोलते थे।

अब हम स्वेज नहरसे चल रहे थे। बाएँ ओरसे सड़क जा रही थी। नहर इतनी चौड़ी नहीं थी, कि २ बड़े-बड़े जहाज साथ चल सकते, इसलिए कुछ-कुछ दूरपर चौड़े तालाबसे बना दिये गये हैं। हमारे बाएँसे रेलकी सड़क भी जा रही थी। १२ घंटे बाद हम ८ बजे शामको पोर्टसईद पहुँचे। १३ फ्रांक देकर हम नावसे किनारे-पर पहुँचे और शहर देखने चले। पथप्रदर्शक तो बनारसके पंडोंकी तरह पीछे *पड़े थे, और भाषासे मालूम होता था कि शायद दुनियाकी कोई भाषा उन्होंने छोड़ी* नहीं है। शहर वैसे ही था, जैसे आजकलके शहर हुआ करते हैं। पोर्टसईदमें सिन्धी सौदागरोंकी तीन दूकानें थीं, उनसे मालूम हुआ कि काहिरा, इस्माइलिया, स्वेज सिकन्दरिया आदि मिश्रके दूसरे शहरोंमें भी हिन्दुस्तानी दूकानदार हैं। हिन्दू तो दूकानदारी करते हैं, लेकिन भारतीय मुसल्मान, खासकर पंजाबी जोतिस और हाथ देखनेका खूब व्यवसाय करते हैं। ५०से अधिक हिन्दुस्तानी जोतिसी तो सिर्फ़ पोर्ट-सईदमें हैं। हम लोग बालूरामजीकी दूकानपर गए। हिन्दुस्तानी यात्री पोर्टसईद होकर रोज ही आते-जाते रहते हैं, लेकिन पोर्टसईदने पीले कपड़े वाले भिक्षुओंको बहुत कम ही देखा होगा। वैसे २२०० वर्ष पहिले मिश्रमें बौद्ध भिक्षुओंका अभाव नहीं था। सिकन्दरिया आदि जगहोंपर उनके विहार थे, और वहाँके भिक्षुओंको हम सिंहल और भारततक जाते देखते हैं।

रातको ११ बजे हम लौटे। हमारे सहयात्री अपना-अपना तजर्बा बता रहे थे। स्त्री-पुरुषोंमें नंगे बीभत्स फोटो वहाँ बहुत बिक रहे थे, तीनों महाद्वीपों रूपाजीवाओंकी पोर्टसईदमें हाट है, एक सज्जनको तो पथप्रदर्शक घुमाते-घुमाते वहाँ तक ले गया था।

रातको ही हमारा जहाज चल पड़ा था। अब हम भूमध्य सागरमें चल रहे थे। समुद्र हल्का-हल्का हिल रहा था। पोर्टसईदसे बहुतसे नए मुसाफिर जहाजपर चढ़े थे, जिनमें कुछ यहूदी भी थे। हम लोगोंकी तरफ हरेक नवागन्तुकका ध्यान आकर्षित होना जरूरी था। हम भी उत्सुक थे, क्योंकि अब हम यूरोपके समुद्रमें चल रहे थे। १४वीं सदीतक यूरोप वर्बर समझा जाता था। इटालियन विद्वान् अपने देशवासियोंको इस बातकेलिए फटकारते थे, कि वह क्यों अरबोंको सर्वगुण-सागर और देवता समझते हैं। लेकिन आज ६०० वर्ष बाद पासा उल्टा हो गया है। २२०० वर्ष पहिले भी अशोकके वक्त बौद्धभिक्षु मकदूनिया और दूसरे यूरोपीय सभ्य देशोंमें धर्म प्रचारकेलिए गए थे, हम दोनों भी उसी कामकेलिए यूरोप जा रहे थे, लेकिन हममें उतना आत्मविश्वास नहीं था। हमारे पूर्वजोंके पास दूसरे देशोंको देनेकेलिए उच्च सन्देश था—धर्म-दर्शनका ही नहीं, कला, विज्ञान-का भी।

२० जुलाईको साढ़े दस बजे क्रेत द्वीप दिखलाई पड़ने लगा। भारत, और मिश्र-की तरह क्रेत द्वीपमें भी मानव-सभ्यताने सबसे पहिले प्रकाश किया था। अब यह सूखे पहाड़ोंका द्वीप यूनानके आधीन है, तो भी भूमध्यसागरमें यह सैनिक महत्त्वका द्वीप है।

कहाँ लालसागरमें गर्मीके मारे हम पसीने-पसीने हो रहे थे, लेकिन अब मौसिम बहुत अच्छा था। २१को ५ बजे सवेरे हमने पहिले-पहिल यूरोपके भूखंडको देखा। दाहिनी तरफ इतालीके छोटे-छोटे पर्वत थे, जिनपर सब जगह गाँव बसे दिखाई पड़ते थे। पहाड़ोंकी रीढ़ों परभी बगीचे लगे हुए थे। मसीना नगर दूरसे देखनेमें पाँतीसे लगाए छोटे-छोटे घरौंदों-सा मालूम होता था, उसकी सीधी सड़कें पतली रेखा-सी मालूम होती थीं। बाईं तरफ़ एक पर्वतको दिखलाकर हमारे एक सहयात्रीने बत-लाया, कि यही सिसिलीका एटना ज्वालामुखी है। कुछ ही साल पहिले यह जगा था और अपने मुँहसे धुआँ और अंगारे उगल रहा था। सिसली द्वीपके गाँव और नगर भी इतली-जैसे ही मालूम होते हैं। एक जगह, जहाँसे कि हमारा जहाज पार हुआ, द्वीप और महाद्वीप एक-दूसरेके बहुत नजदीक आ गए थे। ८ बजे शामतक

हम चकित आँखोंसे यूरोप-महाद्वीपकी भूमि देखते रहे। ५ बजेसे तेज हवा चलने लगी, जिससे ठंडक बढ़ गई। ८ बजेके क़रीब सूर्य डूब गया था, अब केबिनमें पंखा चलानेकी जरूरत नहीं रह गई थी।

२२को भी हम यूरोपको देखते हुए बढ़ रहे थे। सारदीनिया और कारसीकाके द्वीप हमारे बाईं ओर दिखाई पड़ रहे थे। नैपोलियन इसी कारसीकामें पैदा हुआ था। यूनानी तरुणने कहा—मैं नैपोलियनको पसन्द नहीं करता, वह युद्धका प्रेमी था। फिलस्तीनसे एक यहूदी सज्जन भी यूरोप जा रहे थे। वह बतला रहे थे, कि वहाँ २ लाख यहूदी हैं, उनके अलावा सभी अरब हैं, जिनमें ज्यादा मुसलमान हैं। कुछ ईसाई और एक तीसरे धर्मके भी माननेवाले हैं, जो सूअरका मांस और शराब नहीं पीते और तीनों धर्मोंको समान जानते हैं। उस दिन (२२ जुलाई) शामको जहाजके स्टीवर्डने हमारे पासपोर्ट ले लिये। अगले दिन हमें मारसेइ (मारसेल) पहुँचना था। हम स्थलके रास्ते फ्रांस पार करना चाहते थे। बक्सोंको साथ ले जाना फ़जूल था, इसलिए उन्हें जहाजसे ही लन्दन जानेकेलिए छोड़ दिया।

फ्रांसमें—दोपहरसे पहिले ही हम मारसेईके बन्दरगाहमें पहुँच गए थे। दोपहरका भोजन जहाज हीमें करके किनारेपर गए। किनारेपर पहिले हीसे नर-नारियोंकी भीड़ लगी हुई, उनमेंसे कितनों हीके हाथोंमें रूमालें हिल रही थीं। हमारे जहाजसे उनके कितने ही सम्बन्धी आ रहे थे। यूरोपकी भूमिको देखकर पहिली उत्सुकता तो शान्त हो गई, लेकिन अब उस भूमिपर पैर रखा था। हमारे मनमें न जानें क्या-क्या भाव उठ रहे थे, जब हमारे पैर तीरकी ओर बढ़ रहे थे। टॉमसकुकके आदमीने सामानका जिम्मा ले लिया था।

पेरिसकी रेल अभी ८ घंटे बाद खुलनेवाली थी, हमें इस समयका सदुपयोग करना था। टॉमसकुकके आफ़िसमें जाकर फ्रांसमें खर्च करनेकेलिए हमने सवा ग्यारह सौ फ्रांक भुनाए। उस समय फ्रांक एक रुपयेमें प्रायः ७ मिलता था। बीस-बीस फ्रांक देकर हम शहर दिखलानेवाली मोटरमें बैठे। एक बड़े गिर्जेको पहिले देखने गए। यहाँ बहुतसी सुन्दर मूर्तियाँ और कलापूर्ण सजावट थी। रास्तेमें क़िला मिला, फिर जन-उद्यानको देखा। और पर्वतके किनारे पहुँचकर बिजलीकी सीढ़ीसे नोत्रदम नामक प्रसिद्ध गिरजेको देखने गए। ऊपरसे सारा नगर दिखाई पड़ता था, यहाँ शिशु ईसाको लिए मरियमकी मूर्ति थी। यह देवी सारे फ्रांस और शायद यूरोपमें भी बड़ी जागता मानी जाती है। सैकड़ों वर्षोंसे इसने अपने चमत्कारसे दुनियाके हर कोनेमें भक्तोंकी रक्षा की। दूर समुद्रमें कोई जहाज डूब रहा था। यात्रियोंने

त्राहि-त्राहि करके मारसेईकी देवीको पुकारा और उसने उन्हें बचा लिया। ऐसे कृतज्ञ पुरुषोंने कृतज्ञता-प्रकाशनकेलिए मदिरमें बहुतसे लेख लगा रखे हैं। माईने न जाने कितने करोड़ अंधोंको आँख दी, कितने ही लुजोंको पैर दिया, प्रमाण-स्वरूप लुंजों, लँगड़ोंकी बहुतसी बैसाखियाँ मदिरमें टँगी हुई हैं। माईके प्रतापकेलिए बड़े-बड़े लोगोंने प्रमाणपत्र दिए हैं, जिनमें एक इंगलैंडकी राजमाताका भी है। कौन कह सकता है कि ईसाइयोंके पास कामाख्या माई, विन्ध्यवासिनी भवानी और महाकाली-की कमी है। मुझे जरूर इसका अफसोस हुआ, कि मेरे पास अब वह हिन्दू-हृदय नहीं, कि इन कहानियोंपर विश्वास करता।

ऊपरसे उतरकर हम नीचे आए। फिर समुद्रके किनारे तथा ऊँची-नीची पहाड़ी भूमिपर बसे ८ लाखकी आबादीवाले मारसेई नगरको देखा; घुड़दौड़-मैदान, जादूघर, हजारों तरहके गुलाबोंका बाग और और भी कितनी चीजोंको देखकर टामस-कुकके पास गए। ३७५ फ्रांकमें लन्दनतकका टिकिट लिया। हम लोग एक रेस्तोरांमें चाय पीने गए। मिस्टर ल्यू पेशाब करने गए थे, लौटकर कहने लगे—ताज्जुब है, यह लोग पेशाबका भी पैसा लेते है।" तीन फ्रांक (७ आना) उन्हें मूत्रशुल्क देना पड़ा था।

८ बजे हमारी ट्रेन रवाना हुई। हम लोग तीसरे दरजेके मुसाफ़िर थे, लेकिन यहाँका तीसरा दरजा हिन्दुस्तानके दूसरे दरजेके समान था; यदि कोई खराबी थी, तो यही कि पाखाना उतना साफ़ नहीं था। ९ बजेके बाद अँधेरा होने लगा। हम फ्रांसकी ग्रामीण भूमिको देखते रहे। घर छोटे-छोटे थे, लेकिन देखनेमें बहुत साफ़ थे, भूमि सारी पहाड़ी थी। जैतून और दूसरे वृक्षोंके जहाँ-तहाँ बगीचे थे। घासके गंज बड़े कायदेसे पाँतीमें रखे हुए थे। अभीतक हमने गौरांगोंको प्रभुके तौरपर पूरबमें देखा था, और वह लाखोंके समुन्दरमें एक बूँदकी तरह थे। अब यहाँ हम अपनेको लाखोंके समुन्दरमें बूँदकी तरह पाते हैं। हमारे डिब्बेमें दो स्त्रियाँ भी थीं। एक तो वैसे ही हमारा रंग कुछ कौतूहल पैदा करता, लेकिन वह देख रही थीं दो सर घुटी हुई पीले कपड़ोंसे ढँकी मूर्त्तियोंको। उनकी नजरसे ही आश्चर्यका पता लगता था। इधरके स्टेशनोंपर हर जगह खाने-पीनेकी चीजें नहीं मिलतीं। हम देख रहे थे, मुसाफिर अपने साथ बोतलमें पानी भी लिए हुए थे।

९ बजे शामको सूर्यास्त हुआ था। २४ जुलाईको हमने ५ बजेसे पहिले ही सूर्यको उगते देखा। ८ घंटेकी रात और १६ घंटेका दिन, और अभी जुलाईका महीना था। ९ बजे हमारी गाड़ी गर्-द-लियों नामक पेरिसके स्टेशनपर पहुँची।

माणिकलालजीने लंका हीमें अपने भाईका पता दे दिया था और हमने मारसेईसे उन्हें तार भी दे दिया था। स्टेशनपर अंबालालजी मौजूद थे। मोटरसे हमें वह एक होटलमें ले गए। दो कमरे हमारेलिए वहाँ ठीक कर चुके थे। यूरोपमें मुसाफ़िरको ओढ़ना-बिछौना ढोनेकी जरूरत नहीं, यह सब चीजें होटलकी ओरसे मिलती हैं। हमारे कमरेके भीतर चारपाई, कुर्सियाँ, बड़े शीशेके साथ एक आलमारी, दो बिजलीकी बत्तियाँ थीं। पासमें ही पाखाना और नहानेका घर था, जिसमें गरम और ठंडे पानीके नल लगे हुए थे। अंबालाल हमारा सारा इन्तजाम करके ४ बजे आनेकेलिए कहकर चले गए। हमने स्नान-भोजन करके विश्राम किया।

४ बजे अंबालालजी हमें शहर दिखानेकेलिए ले चले। हमारेलिए पेरिस नगर तमाशा था और दूसरोंकेलिए हम तमाशा थे। यह इस बातकी सत्यताको बतला रहा था, कि "जैसा देश वैसा भेष"। रास्तेमें श्री सी० ए० नायडूको भी साथ ले लिया। पेरिसमें रहनेवाली अमेरिकन महिला लून्सबरीका पता हमें मालूम था। वह बौद्धधर्ममें बहुत अनुराग रखती थी। नायडू मुझे उनके घर लिवा ले गए, लेकिन वह वहाँ मौजूद न थी। पेरिस नगरके बीचोंबीचमें सेन नदी बहती है। सेन पार करके हमने पेरिस विश्वविद्यालय और छात्रावास देखे। पास हीमें एक बहुत बड़ा बाग है। कितने ही नर-नारी वहाँ घूम रहे थे, और कितने ही कुर्सियोंपर बैठे थे। निश्चय ही एसियाकी अपेक्षा यहाँका मानव ज्यादा स्वतंत्र है। फिर हम एफ़ेल मीनारपर चढ़े। यह लोहेका ढाँचा कुतुबमीनारसे भी तिगुना ऊँचा है। ऊपरसे सारी पेरिस नगरी दिखाई पड़ती है। उसी दिन प्रतिनिधि (प्रजातंत्र)-भवन नैपोलियनकी समाधि और पुराने राजमहलको देखा। विश्वविद्यालयके पास हम वहाँ उतर गए, जहाँ मिश्रसे लाया हुआ विशाल पाषाण-स्तम्भ खड़ा है। यहीं फ्रांसके ८ नगरोंकी प्रतीक-स्वरूप ८ मूर्तियाँ स्थापित हैं। पासके विशाल उद्यानमें गए, वहाँ भी कितनी सुन्दर मूर्तियाँ स्थापित हैं। हम एक जगह कुर्सीपर बैठकर उद्यान-शोभा निहार रहे थे। कितने ही नागरिक भी मनोविनोद कर रहे थे। ८ बजे रातको लौटकर हम अपने होटलमें आए। अभी दो दिन (२५, २६ जुलाई) और हमें पेरिसमें रहना था। हम यहाँके विद्वानोंसे भी मिलना चाहते थे। पता लगा कि प्रोफ़ेसर सिल्वेन् लेवी और दूसरे प्राच्यतत्त्वविशारद ग्रीष्मावकाशमें शहरसे बाहर गए हुए हैं। फोन करनेसे पता लगा, कि डाक्टर पेलियो (पेल्यो) घरपर ही हैं। साढ़े तीन बजे हम उनके पास गए। डाक्टर पेलियो चीनी भाषाके प्रकाण्ड पंडित थे। मध्य-एसियाके अनुसंधानमें स्टाइनकी तरह इन्होंने भी बहुत काम किया।

मैने उन्हें अपनी संपादित "अभिधर्मकोष"की एक प्रति भेंट की। कितनी ही देर-तक हम लोग बात करते रहे। उन्होंने बतलाया कि जाड़ोंमें सभी विद्वान् विश्वविद्यालयमें लौटते हैं, उस वक्त जरूर आइए। नीचे उतरनेके बाद अंबालालजी टेकसी देखने गए; और हम दोनों एक बुढ़ियाके पास बैठ गए। चुपचाप बैठे रहनेकी जगह कुछ बात करना अच्छा है, इसलिए मैंने अपने फ्रेंच ज्ञानका परिचय देना शुरू किया, लेकिन एकाध ही मिनटमें गाड़ी अटक गई। मैंने बुढ़ियासे लड़के-बालोंके बारेमें पूछा था। बुढ़ियाने जवाब दिया—"ज स्वि तू सेल्" (मैं बिल्कुल अकेली-कुमारी हूँ)। और शब्दोंका अर्थ तो मुझे लग रहा था, लेकिन अंतिम शब्दका अर्थ मुझे न मालूम था, इसलिए कुछ नहीं समझ पाया। वस्तुतः भाषाके सीखनेका अच्छा तरीका किताब नहीं, वार्त्तालाप है। किताब पढनेवालेका ध्यान ज्यादातर अक्षरोंकी ओर होता है, शब्दोंके उच्चारणकी ओर नहीं।

हमने आज सोरबोन् विश्वविद्यालयकी विशाल इमारतोंको देखा। उसकी रंगशालामें पिछली कई शताब्दियोंसे जिन विद्वानोंने अध्यापनका कार्य किया, उनकी तसवीरें टँगी थी। यहाँ हमें पांडिचरीके दो तरुण विद्यार्थी मिले। फिर पुस्तक-विक्रेताओंकी दुकानोंकी ओर गए। मुझे कुछ पुस्तकें लेनी थीं, लेकिन वहाँ मालूम हुआ, कि पेरिसके प्रकाशक और विक्रेता सिर्फ अपने-अपने विषयकी पुस्तकें रखते हैं। मुझे जो पुस्तकें अपेक्षित थीं, वह साहित्य सम्बन्धी थीं। लारूसके यहाँसे मुझे अपनी पुस्तकें मिलीं। पासमें हेरमान कम्पनीकी दूकान थी। यद्यपि यह साइंसके प्रकाशक थे, किन्तु कम्पनीके मालिक मेदियो फ्रेमान भारतमें बरस-डेढ़ बरस रह आये थे, और भारतीयोंके प्रति बड़ा अनुराग रखते थे। वह देरतक हमसे बात करते रहे। उन्हें कई भारतीय मित्रोंका स्मरण आ रहा था। उन्हींसे मैंने डाक्टर बदरीनाथप्रसादकी प्रतिभाकी सराहना सुनी थी। वह कह रहे थे, कि डाक्टर प्रसादके अध्यापक उनके गणित-ज्ञानकी बड़ी प्रशंसा करते हैं, और आगेकेलिए बहुत आशा रखते हैं। उन्होंने डा० प्रसादके निबन्धकी एक कापी मुझे दी। डा० बदरीनाथने अपने निबन्धको अपने बड़े भाई बैजनाथप्रसादको समर्पित किया था। फ्रेमानने उन्हें इलाहाबादका बतलाया था, मैं उस वक्त नहीं समझ सका था कि डाक्टर बदरीनाथ मेरी अपनी तहसील महमदाबाद (आजमगढ़)के सुपरिचित बाबू बैजनाथप्रसादके अनुज हैं; उस वक्त क्या मालूम था, कि आगे चलकर डाक्टर बदरीनाथप्रसाद मेरे घनिष्ठ मित्र बनेंगे। ८ बजे लौटकर हम होटलमें आए। मैंने होटल-संचालिकासे किसी समाजवादी पत्रको मँगा देनेकेलिए कहा। उसने "ला पोपुलेर"की एक प्रति मँगा

दी। मैंने यह भी देखा, कि यहाँके पत्र हमारे यहाँके अँगरेजी पत्रोंसे कम पृष्ठोंके होते हैं।

दूसरे दिन (२६ जुलाई) १२ बजे बाद हम फिर घूमनेकेलिए निकले। आज भी मोशियो फेमानसे देरतक बात होती रही। बाहर देखनेकेलिए हमने टेक्सी की थी, लेकिन कुछ दूर भूगर्भी रेलसे भी गए। यह बिलकुल नया अनुभव था। ऊपर पेरिसका महानगर बसा हुआ है, और सैकड़ों हाथ नीचे सुरंगोंका जाल बिछा हुआ है, जिसमें बिजलीकी रेलें दौड़ रही हैं, ।१·१५ फ्रांक दे देनेपर आप नगरके एक छोरसे दूसरे छोरतक कहीं भी उतर सकते हैं।

शामको थोड़ी बूँदा-बाँदी हुई थी।

यूरोपमें होटल ठहरनेके मकानको कहते हैं, भोजनशाला या रेस्तोराँ अलग चीज है। हमारे होटलकी बग़लमें एक रेस्तोराँ था, जहाँसे हमारेलिए खाना चला आता था। भिक्षु-नियमके अनुसार हम दोपहरके बाद खाना नहीं खा सकते। इससे कुछ बचत भी होती थी। २७ जुलाईको हम क़रीब ही एक मिश्री रेस्तोराँमें खाना खाने गए। आनन्दजी तो फलाहारी थे, इसलिए उन्होंने मांस नहीं छुआ, लेकिन खानेका हिसाब करनेपर मेरा यदि तीन रुपया खर्च आया था तो उनका साढ़े तीन रुपया (२५ फ्रांक); इसलिए कह सकते हैं कि यूरोपमें प्रायः घासाहारसे मांसाहार सस्ता है। उस दिन हम अंबालाल भाईके जौहरी पार्टनर (भागीदार) यहूदी सेठके घर भी गए थे। सेठने नगरसे बाहर अपने उद्यानमें चलनेका निमंत्रण दिया, लेकिन हम तो उसी दिन पेरिसको छोड़नेवाले थे।

३ बजकर १० मिनटपर हमने रेलसे पेरिस छोड़ा। फिर रास्तेमें देहातका नजारा था। भूमि ऊँची-नीची थी, इस वक़्त गेहूँके खेत काटे जा रहे थे। कितने ही किसान अपने खेतोंको यंत्रसे काट रहे थे, कितने हँसियेसे। किसानोंके घोड़े बड़े-बड़े थे। गायें भी अच्छी थीं। गाँववालोंकेलिए घड़ी बाँधनेकी जरूरत नहीं थी, क्योंकि हरेक गाँवमें गिरजा या और हरेक गिरजेमें घड़ी लगी थी। ७ बजे हम बोलोनँ जंक्शनपर पहुँचे। कुलीको ५ फ्रांक दिया। हमें दूसरी गाड़ी मिली, जिसने थोड़ी ही दूर आगे बन्दरपर पहुँचा दिया।

सरकारी अधिकारियोंने हमारे पासपोर्टको देखा, लोग एकके पीछे एक आगे बढ़ते रहे। अब हम इंगलिश चेनलके जहाजपर सवार हो गए थे।

१०

इंगलैण्ड और युरोपमें

समुद्र आज बहुत तरंगित था। हम दोनों पहिले दर्जेके कमरेमें बैठे थे, इधर-उधर देखा लेकिन वहाँ कोई बरतन नहीं दिखलाई पड़ा। मैं घबराया कि अगर कहीं कै होने लगी तो? मुझे अपनेलिए नहीं, आनन्दजीकेलिए डर था। वह सामुद्रिक संघर्षमें अपनेको बहुत बहादुर साबित कर चुके थे। मैं दुनियाके छियासठ करोड़ देवताओंको मना रहा था, कि किसी तरह पत-पानीसे दूसरे पार उतर चलें। रास्ता भी डेढ़ घंटे हीका था। खैर, देवताओंने प्रार्थना सुन ली, हम उस पार पहुँच गए। एक अँगरेज कुली सामान उठानेकेलिए आया। हमारे पास जो कुछ सामान था, उसके सुपुर्द किया, पासपोर्ट दिखाया और लन्दन जानेवाली रेलपर बैठ गये।

लन्दनमें—१० बजकर ५० मिनटपर हमारी गाड़ी विक्टोरिया स्टेशन पहुँची। महाबोधि सभाके प्रतिनिधि दया हेवावितारणे आदि स्टेशनपर पहुँचे हुए थे। रात थी, लेकिन विजलीके प्रदीपोंसे लन्दनकी सड़कें जगमग-जगमग कर रही थीं। हम मोटरसे महाबोधि सभा-भवनमें चले गए। रातको खूब टाँग पसारकर सोए।

अनागारिक धर्मपाल जब नवतरुण थे, तभीसे लंकामें बैठे-बैठे बाहर बौद्धधर्मके प्रचारका स्वप्न देखा करते थे। जवानी हीमें वह भारत चले आए, और उनका प्रायः सारा जीवन यहींपर बीता। उन्होंने इस कामकेलिए महाबोधि सभा स्थापित की, कोलंबो, कलकत्ता, सारनाथ आदिमें केन्द्र कायम किए। उनकी इच्छा थी, कि अँगरेजोंके पास भी बुद्धका सन्देश पहुँचाया जाय। लन्दनमें रिजेन्ट-पार्कके पास एक लाखसे ऊपरमें उन्होंने यह चौमहला मकान खरीदा था और अब यह विलायतमें बौद्धधर्म प्रचारका केन्द्र था। जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, प्रचारक होकर तो आए थे भिक्षु आनन्द, मैं एक मित्रके तौरपर उनका साथ देनेकेलिए आया था।

हम लोगोंका निवास दूसरे तल्लेके एक बड़े कमरेमें था। इस मकानके प्रायः सारे ही कमरे बड़े-बड़े थे। सबसे नीचे, या जमीनके नीचे, रसोईघर और कुछ कोठरियाँ थीं। उसके ऊपर यानी प्रथम तलमें मन्दिर, व्याख्यानशाला, पुस्तकालय और आफ़िसके कमरे थे। उसके ऊपरवाले तल्लेपर हमारा कमरा और कुछ दूसरे कमरे भी थे, जिनमें भारतीय या सिंहल विद्यार्थी रहते थे। इसी तरह सबसे ऊपरवाले तल्लेके

कमरोंमें भी विद्यार्थी रहते थे। यह बात मुझे जरूर खटकी, बौद्धधर्म यदि इंगलैण्डवालोंका धर्म बनना चाहता है, तो उसे इंगलैण्डके वातावरणमें रहना चाहिए लेकिन यहाँ धर्म-प्रचार के लिए जो भिक्षु आए थे, वह अपने साथ लंकाका वातावरण लेकर आए थे। उनका रसोइया लंकावासी, भोजन लंका जैसा, और साथमें रहनेवाले विद्यार्थी भी सारे लंका ही के, ऐसी अवस्थामें यह कैसे इंगलैंड-निवासियोंके साथ मिश्रित हो सकते थे। खैर, मैं धर्म-प्रचारकी दृष्टिसे तो वहाँ आया नहीं था, और महाबोधि सभाके प्रबन्धक मुझसे इसके बारेमें कुछ राय पूछते थे।

दूसरे दिन (२८ जुलाई)को इंगलैण्डके कुछ बड़े पत्रोंके संवाददाता हमारे पास आए। उन्होंने उद्देश्यके बारेमें पूछा। हमने उसका जवाब दे दिया। अभी अँगरेजी पत्रोंका हमें पहिला तजर्बा था, और भारतीय पत्रोंके झूठ-साँचको देखकर कुछ शंकित दृष्टिसे देख रहे थे। लेकिन आगे जो तजर्बा हुआ, उससे मालूम हो गया, कि कालेको सफेद और सफेदको काला करनेकी जितनी क्षमता इंगलैण्डके पत्रोंमें है अभी वहाँतक पहुँचनेमें हमारे पत्रोंको बहुत दिन लगेंगे। मजदूर पार्टीके पत्र "डेली हेरल्ड"—जो उस समय इंगलैण्डके दो सबसे अधिक छपनेवाले पत्रोंमें एक था—के प्रतिनिधिने आकर हमसे कुछ सवाल किए, हमने सीधे-सादे शब्दोंमें जवाब दे दिया कि हम लोग इंगलैण्ड-वासियोंके सामने बुद्धकी शिक्षा रखना चाहते हैं। उसने छाप दिया, कि ये दोनों बौद्धभिक्षु सारे इंगलैण्डको बौद्ध बना डालनेकी सोच रहे हैं। "डेली मेल"का संवाददाता आया, उसने मुझसे तिब्बत-यात्राकी दो-एक बातें पूछीं। मैंने साधारण तौरसे बतला दिया। उसने लिख दिया, कि इस भिक्षुने दुनियाके बड़े-बड़े बीहड़ जंगलोंमें बहुत वर्ष बिताए, लेकिन आजतक किसी जंतुने उसे कष्ट नहीं पहुँचाया। एक दिन भिक्षु तिब्बतके एक घोर जंगलमें जा रहा था (नंगे पहाड़ोंवाले तिब्बतमें घोर जंगलका अत्यन्ताभावसा है), उस वक्त ६, ७ डाकुओंने आकर चारों ओरसे घेर लिया। वह तलवार चलाना ही चाहते थे, कि इसी वक्त जंगलसे शेर निकला, उसने घोर गर्जना की। डाकू प्राण लेकर भग गए। संपादकीय विभागसे मेजी टाइप की हुई कापी मेरे पास देखनेकेलिए आई। मैंने गलत बातोंको काट दिया, लेकिन दूसरे दिन देखा कि मेरी काटी हुई पातियाँ वैसीकी वैसी छपी हुई हैं। आखिर इसका उद्देश्य क्या हो सकता था? समझदारोंके दिलमें यह बैठा देना, कि यह कितना झूठा, धोखेबाज आदमी है, बेवकूफोंके दिलमें यह बैठा देना कि आदमीमें दिव्यशक्ति होती है और जो क्रांतिकारी तरुण धनियोंकी जड़ उखाड़ फेंकनेकेलिए यह कहते फिरते हैं कि धर्म, दिव्यशक्ति आदि बातें ग़लत हैं, वह झूठ बोल रहे

है। विलायतमें करोड़पति छोड़ दूसरा कोई अखबार नहीं निकाल सकता। उनका काम है चीनी लपेटी जहरकी गोलियाँ लोगोंको खिलाना। ल्यू महाशय तो और बुरी तरह फँसे। वह अभी यूरोपमें रह गए थे, और चन्द दिनों बाद लन्दन आनेवाले थे। एक संवाददाताने मुझसे बहुत चिरौरी-मिनती की थी, कि ल्यूके आनेपर मुझे ही पहिले सूचना दे दें, जिसमें पहिले मैं अखबारमें दे सकूँ। मिस्टर ल्यू आए। मैंने संवाददाताको सूचना दे दी। उन्हीं दिनों मंचूरियामें दो अँगरेज स्त्री-पुरुष हरे गये थे। अखबारोंमें बहुत सनसनी फैलानेवाली खबरें छप रही थीं। श्री ल्यूके आनेपर चीनी डाकुओंके बारेमें कई बातें पूछी गईं। श्री ल्यूने एक घंटा बैठकर खूब समझानेकी कोशिश की—यद्यपि जापानने मंचूरियाको हड़प कर लिया है, किन्तु चीनी देशभक्त अपनी स्वतंत्रताकेलिए प्राणोंकी बाजी लगाए हुए हैं। जहाँ वह खुलकर नहीं लड़ सकते, वहाँ उन्होंने गोरीला (छापामार) पलटनका रूप धारण किया है। जिन लोगोंको अंग्रेजी पत्र डाकू लिख रहे हैं, वे वस्तुतः देशभक्त गोरीला हैं। वह घने पहाड़ोंमें रहते हैं, और मौक़ा पाते ही जापानी फौजोंपर टूट पड़ते हैं।" इन दो अँगरेज स्त्री-पुरुषोंको गोरिल्ला क्यों पकड़ ले गए, इसका जवाब महाशय ल्यूने किस तरह दिया यह मुझे याद है। शायद उन्होंने कहा हो कि वे जापानियोंकी मदद करते रहे होंगे। मंचूरियाके हड़प करनेमें अंग्रेज साम्राज्यवादियोंने अप्रत्यक्ष रूपसे जापानको मदद दी ही थी, इसमें क्या संदेह है। खैर, दूसरे दिन मजदूरपार्टीके अखबार "डेली हेरल्ड" (उस वक़्त मजदूरदली रेम्जे मेक्डानल्ड इंगलैण्डके प्रधानमंत्री थे) में छपा। और थोड़ा नहीं, करीब-करीब एक कालम—चीनकी एक बड़ी यूनीवर्सिटीके बड़े प्रोफेसर मि० ल्यूने हमारे संवाददातासे मंचूरियाके इन डाकुओंके बारेमें बतलाया कि वे ऐसे-वैसे डाकू नहीं हैं, उनमें अद्भुत शक्ति है, उनके पास ऐसी जड़ीबूटियाँ हैं कि कटे सिरको धड़पर रखके बूटी लगानेसे जुड़ जाता है, वह दूर-दूरकी बातोंको अपनी दिव्यशक्तिसे जान सकते हैं। इत्यादि-इत्यादि। मैं "टाइम्स", डेली हेरल्ड" "डेली-वर्कर" और किसी एक और अखबारको रोज पढा करता था। अखबारके हरएक कालमको पढ़ना तो तभी हो सकता था, जब दिनभर बैठा अखबार ही पढ़ा करता। कुछ दिनोंतक पढ़ते रहनेके बाद मुझे उन कालमोंका पता लग गया था, जिन्हें पढ़ना चाहिए।

कम्यूनिस्ट पार्टीके पत्रको मैं जरूर पूरा-पूरा पढ़ता था, क्योंकि वही एक अखबार ईमानदारीसे चल रहा था। सारे पत्र उसका बायकाट किए हुए थे। विलायतमें खाने-पीनेकी चीजें जिन दूकानोंमें बिकती हैं, अखबार भी वहींसे आते

है। पूँजीपतियोंके अखबारों (मजदूर पार्टीके "डेली हेरल्ड"का भी आधेसे ज्यादा हिस्सा एक करोड़पतिका है)ने एक ओरसे तय कर लिया था, कि जो कोई "डेली वर्कर"को बेचेगा, उसको हम अपना अखबार नहीं देंगे। डेली-वर्करको हर महीने कई हजारका घाटा पड़ता था, जिसे इंगलैंडके गरीब चन्दा देकर पूरा करते थे। मेरे चले आनेपर कुछ सालों बाद पूँजीपति अखबारोंका यह षड्यंत्र टूट गया। वह पूँजीपतियोंके अत्याचारके विरुद्ध खुदरा-फरोशोंको संघर्ष करना पड़ा, जिसको छापने केलिए "डेली वर्कर"को छोड़कर कोई भी तैयार नहीं था। तब खुदरा-फरोशोंने डेली-वर्करके महत्त्वको समझा। तीन साल बाद जब मैंने "डेली वर्कर"को देखा तो वह बहुत सजधज के बड़े आकारमें निकलता था, उसके लाखों ग्राहक हो गए थे। मैं कम्यूनिस्ट पार्टीका मेम्बर नहीं था, लेकिन लेनिन, स्तालिनकी पार्टी छोड़ मैं किसीके विचारों और कार्यप्रणालीको पसन्द नहीं करता था। मेरेलिए यह स्थान है, शायद इसे "बाईसवीं सदी"के लिखने और उससे भी छ साल पहिले रूसी क्रान्तिके प्रति अगाध प्रेम और सहानुभूतिने ही निश्चय कर दिया था। "डेली वर्कर"से मैं जितना इंगलैण्डकी साधारण जनताके बारेमें जान सकता था, उतना किसी पत्रसे सम्भव नहीं था। वह रूसकी भी ताजी-ताजी खबरें देता था, और मैं उसका सबसे ज्यादा प्यासा था।

खैर, दूसरे दिन शामको महाशय ल्यूने बहुत उत्तेजित स्वरमें कहा—क्या आपने मेरे वक्तव्यको "डेली हेरेल्ड"में पढ़ा? मैंने कहा—"नहीं, कैसा छपा है?"

मिस्टर ल्यूने बतलाया कि वह छप गया है, और बहुत बुरी तरहसे छपा है। मैं अखबार ढूँढ़ लाया। सचमुच ही उसमें भारी गुराफात छपी थी। गुस्सेके मारे मिस्टर ल्यूके कान लाल हो रहे थे। वह कह रहे थे कि मैं इसका प्रतिवाद करूँगा। मैंने कहा—"कोई छापेगा भी।" यह तो निश्चय ही था कि उसे वहाँ कोई नहीं छापता। इन बातोंने इंगलैण्डके करोड़पतियोंके अखबारोंके बारेमें मुझे अपनी राय कायम करनेमें मदद दी।

स्कूल, पुस्तकें, अखबार, ज्ञान फैलानेके साधन समझे जाते हैं। लेकिन विलायतमें इनका सबसे बड़ा काम है अज्ञान फैलाना। घुड़दौड़, कुत्तोंकी दौड़, लाटरी आदि पचीसों तरहके क़ानूनी जुए वहाँ खेले जाते हैं। कल बेकार हो जानेकी चिन्तामें मरे जाते मजूर पेट काटकर इन जुओंमें अपना पैसा खर्च करते हैं। विलायती अखबारोंके कालमके कालम इन बातोंकेलिए खुले हुए हैं। अब तो बल्कि हाथ देखना (सामुद्रिक), जोतिस आदिकेलिए भी विलायती अखबार उदारता दिखलाते

हैं। इसका असली मतलब यही है, कि विलायती कमेरे अपनेको भाग्यके हाथोंकी कठपुतली समझ लें, और निकम्मे करोड़पतियोंका टाट उलटनेकेलिए तैयार न हो जावें। दूसरे दिनके पत्र-प्रतिनिधियोंमें एक तरुणी भी थी। उसने बतलाया कि मैं मोतिहारीमें पैदा हुई थी, और मेरा पिता अब भी वहीं है।

हमारे निवास-स्थानके नजदीक ही रिजेन्ट-पार्क नामक विशाल उद्यान था। उसीमें चिड़ियाखाना भी है। रातको अक्सर शेरोंका गरजन हमें सुनाई देता था। पास हीमें कहींसे रेल जाती थी। ट्रेनके चलते वक्त जमीन दहलती थी और सारा मकान गनगनाने लगता था। चार महीनेतक इस गनगनाहटका इतना अभ्यास हो गया था, कि जब १९३४का भूकम्प हुआ, तो उस वक्त इलाहाबादमें मकानके हिलनेको कितनी देरतक मैं वैसा ही कुछ समझ रहा था। आकाशमें बादल घिरा रहना, तो मालूम होता था, लन्दनकेलिए बिलकुल स्वाभाविक बात है। हम लोगोंके वहाँ पहुँचनेके बाद कई दिनोंतक ऐसा ही रहा।

३० जुलाईको हम लोग मोटरपर घूमनेकेलिए निकले। कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि लन्दनवाले हम पीतवस्त्रधारियोंको उतना ही चकित होकर देख रहे थे, जितना कि पेरिसवाले।

रिजेन्ट-पार्क देखा। उस विशाल उद्यानमें दिनमें भी कितने ही आदमी घासपर सोये रहते। मेरे पूछनेपर एक दोस्तने बतलाया, कि यह बेघरबारवाले हैं, इनकेलिए न कोई काम है, न खानेका ठिकाना। रातको पार्क बन्द हो जाता है, इसलिए दिन-दिनमें ही सो रहे हैं। रात इन्हें सड़कोंपर घूमते हुए काटनी पड़ती है। मैं सोचने लगा—दुनियाके चौथाई हिस्सेका धन खिंचकर विलायतमें आता है, आखिर वह कहाँ जाता है और किसके पास जाता है?

बकिंघम प्रासाद, हाइड पार्क, केनसिङ्टन म्यूजियम, पालियामेण्ट भवन, वेस्ट मिनिस्टर एबे, कौन्टी कौंसिल, सेन्ट जेम्स प्रासाद आदि स्थानोंको हमने ३० जुलाईको देखा। हाइड पार्कमें कितनी ही जगहोंपर भाषण दिए जा रहे थे, और कितने ही जगह लोग मनोविनोद कर रहे थे।

महाबोधि सभामें हर रविवारको अधिवेशन हुआ करता था, कभी-कभी मैं भी बोला, लेकिन ज्यादातर भाषण देनेका काम था, आनन्दजीका। लन्दनकी दिनचर्या प्रायः इस प्रकार थी: १२ बजे रातके बाद सो जाना, ७ बजे उठना, ८ बजेतक शौच जलपानसे छुट्टी। साढ़े नौ बजेतक अखबार पढ़ना, १० बजेतक डायरी चिट्ठी लिखना, साढ़े ११ बजेतक पढ़ना। फिर भोजन, फिर पढ़ना, बीचमें यदि

कोई आ गया, तो उससे बातचीत करना, ८ बजे टहलना, ६ बजे रातको नहाना, फिर १२ बजे राततक पढ़ना।

एक-दो बार हम तरुण-ईसाई-सभाके भारतीय छात्रावासमें भी गए। यहाँ कितने ही ऐसे छात्र मिले, जो पीछे आई० सी० एस०, बैरिस्टर या....होकर भारत लौटे। और भी कितने भारतीय छात्रोंसे मुलाकात होती रहती, देश-भक्ति और क्रान्तिकी जिनमें आग जलती दिखाई देती। लेकिन भारतमें आनेपर कुछ ही वर्षों बाद उन्हें मुर्दा देखा गया। शायद इन वर्षोंमें वह ज्यादा समझदार हो गए, और उन्होंने अपना यह दर्शन बना लिया, कि रुपया कमाओ और मौज करो, काजीजीको शहरके अन्देशे दुबला नहीं होना चाहिए।

एकाध अखबारोंमें जो मेरी दिव्यशक्तिकी बात निकल गई थी, उसका एक फल यह हुआ था कि इंगलैण्डमें जहाँ-तहाँसे यंत्र या तावीजकेलिए मेरे पास चिट्ठियाँ आईं। साहेब लोग गंडा-तावीज नहीं मानते, यह धारणा तो मेरी बहुत पहिले ही टूट गई थी। १९२३में हमारे जेलखानेके सुपरिन्टेन्डेन्ट एक अँगरेज कप्तान आई० एम० एस०ने उस वक्त बन्दी एक प्रसिद्ध संन्यासीसे बड़े आग्रहपूर्वक तावीज माँगकर लिया था। ४ अगस्तको एक महिला बात करने आई। वह चित्र-विचित्र सपने देखा करती थी। स्वप्नकी अद्भुत शक्तिपर विश्वास प्राथमिक मानवसे चला आ रहा है। आखिर में वहाँ ऐसे धर्मका प्रचारक हो गया था, जो ध्यान-योग-समाधिके अद्भुत चमत्कारोंको मानता है, फिर मेरे पास लोग इन बातोंमें मदद लेनेकेलिए क्यों न आएँ। यह स्वप्नके बारेमें बातचीत थी, नहीं तो गूढ़ आध्यात्मिक वृत्तियोंको सुलझानेकी जिम्मेवारी आनन्दजीकी थी। ज्योतिष, भूत-प्रेत, तंतर-मंतर, गंडा-तावीजपरसे मेरा विश्वास आर्यसमाजने सदाकेलिए खतम कर दिया था। सीलोन आनेपर बेचारे ईश्वरने भी पिण्ड छोड़ दिया। तिब्बत जानेके बाद योग, ऋद्धि-सिद्धि और दिव्यशक्तिपरसे भी मेरा विश्वास जाता रहा। उसकी सारी शक्तियाँ त्राटक और मेस्मरिज्मके कुछ हथकंडे आत्मसम्मोहनके परिणाम हैं। वस्तुतः अब मेरे और भौतिकवादमें इतना ही अन्तर रह गया था, कि मैं मरनेके बाद भी जीवनप्रवाहके जारी रहनेपर विश्वास करता था। बौद्धोंके बड़े प्रिय सिद्धान्त-निर्वाणको तो मैं पहिलेसे भी दिएकी तरह बुझकर जीवनप्रवाहको सदाकेलिए खतम हो जानेके सिवा और कुछ नहीं मानता था। उक्त महिलाका कभी-कभी बैठे-बैठे होश जाता रहता था, यह किसी मनोविज्ञानके विशेषज्ञका काम था, लेकिन महिला पूरबके "तत्त्वज्ञान"से बहुत आकृष्ट हुई थी। वह मुझसे साइंस-सम्मत

विश्लेषण सुननेकेलिए नहीं आई थी। मैंने कहा जो स्वप्न तुम्हें आते है, उन्हें लिखती जाओ, कई दिनोंके स्वप्नोंका लेखा जमा हो जानेपर मैं कुछ परामर्श दूंगा। शायद मेरी बातोंसे उनका उत्साह बढा नहीं, और वह फिर परामर्श लेने नही आईं।

यहाँ मुझे थियोसाफ़ीकी बहुतसी पुस्तकें पढ़नेको मिलीं। सिनेटकी पुस्तक "महात्माओंकी चिट्ठियाँ"को पढकर दिलमें आग लग गई। दिन दहाड़े झूठ और बौद्धिक डकैतीको देखकर ऐसा होना ही चाहिए। तिब्बतमें उन महात्माओंको कोई नही जानता, जिनकी चिट्ठियाँ यहाँ एक भद्र पुरुषने छापी थीं। तारीफ़ यह कि इन महात्माओंमेंसे कितनोंके स्थान शिगर्चे आदि बतलाया गया। शिगर्चे शायद अज्ञात तिब्बतका अज्ञान स्थान होनेसे बाहरके लोगोंकी आँखोंमें धूल झोंकनेकेलिए अच्छा नाम था, किन्तु मैं जानता था कि वह भी हिन्दुस्तानके हजारों क़सबोंकी तरह एक कस्बा है, हाँ, कुछ ज्यादा पिछड़ा हुआ। थियोसोफ़ीको तो मैं समझने लगा कि यह धोखेबाजोंका एक गुट्ट है, जो धर्मके नामपर पच्छिमी प्रभावके नामपर लोगोंको उल्लू बनाता है।

९को हम हेम्पस्टेड-हीथ्की ओर घूमने गए। स्थान एक स्वाभाविक जंगलसा मालूम होता था। हमारे निवास-स्थानसे यह स्थान बहुत दूर नहीं था। लन्दन है भी ज़्यादातर विषमतल भूमिपर बसा हुआ, और यह जगह तो और भी ज्यादा ऊँची-नीची मालूम होती है। यहाँसे नगरकी शोभा अच्छी दिखाई पड़ती थी। उसी दिन हम आर्य-भवन देखने गए। लन्दन आनेसे पहिले ही अखबारोंमें पढ़ा था, कि भारतके कुछ करोड़पति सेठ लन्दनमें एक हिन्दू मन्दिर बनवा रहे हैं। आर्य-भवन वही मंदिर था। अभी वस्तुतः मंदिर बनानेकेलिए एक मकान खरीद लिया गया था, और शायद ठाकुरजीको उसीके भीतर पधराया गया था। शायद इसलिए कहता हूँ, कि कितने ही हफ़्तोंसे आर्यभवन सूना था और उसके दर्वाजेमें ताला लगा था। अगर ठाकुरजी उसके भीतर ही बन्द रहे होंगे, तो बेचारोंकी क्या गति हो रही होगी। सुना कि पहिले यहाँ ठाकुरजी भी थे, पुजारी भी थे, यह नही मालूम हो सका कि आरती उतारते वक्त शंख और घड़ी-घंटा बजानेवाले जमा हो जाते थे कि नहीं। यदि मामूली पानी और मक्खीके मुँहभर चीनीको चरणामृत और प्रसादके तौरपर बाँटा जाता, तो निश्चय ही प्रसाद माँगनेवाले लड़के या भगत न मिलते। हाँ, यदि ठाकुरजी लन्दनमें जाकर "जैसा देस वैसा भेस" अपनाते और उसीके अनुसार चरणामृत और प्रसाद बाँटा जाता, तो ज्यादा आशा थी। लेकिन चाहे हमारे करोड़पति सेठ सट्टेबाजीमें अपनी बुद्धिसे ब्रह्माको भी मात करते हों,

इन्तजाम करते हो, यहाँ तो भीख माँगनेके खिलाफ़ क़ानून है। अजीजने कहा—मैं गिड़गिड़ाके माँगनेवाला भिखमंगा नहीं बन सकता, यद्यपि वैसे भी भिखमंगे हैं यहाँ; मैं मजदूरों या निम्न मध्यमवर्गके महल्लेमें चला जाता हूँ। किसी घरपर जाकर दस्तक लगाई, कोई स्त्री दरवाजा खोलने आई, तो बड़ी गम्भीरताके साथ उससे कहा—"क्या मेहरबानी करके एक प्याला चायका पानी देंगी ?" चायका पानी देनेका मतलब है, चीनी और थोड़ा दूध भी, साथ ही एक टुकड़ा रोटीका भी। अगर घरमें रहा तो अकसर "ना" नहीं मिलता। मैंने पूछा—"बड़े घरोंमें क्यों नहीं जाते ?"

"बड़े घरोंके लोग ज्यादा कठोर-हृदय होते हैं, कुत्ता छोड़ देते हैं, नहीं तो टेलीफ़ोन करके पुलिस बुला उसके हवाले कर देते हैं।"

अजीज गाँवोंके लोगोंको ज्यादा पसन्द करते थे। वह उन्हें ज्यादा सहृदय मालूम होते थे। सिंहल तरुणने अँगरेज़ी बोलते-बोलते सीखी थी और वह किताबी अँगरेज़ी नहीं, अपने महल्लेके मजूरोंकी बोली बोलता था। जब उसे आनन्द लिवाके नीचे गए, तो अजीजने नाक सिकोड़ते हुए कहा—"कैसा आदमी है, १८ साल हो गए और अँगरेज़ी भी अच्छी नहीं बोल पाता ! किसी रात्रिपाठशालामें भर्ती हो गया होता, अँगरेज़ी ठीक हो गई होती।"

यद्यपि हिन्दुस्तान और सीलोनके कितने ही विद्यार्थियोंसे हमारी मुलाक़ात होती रहती थी। मैं जानता था कि यही हिन्दुस्तानके बड़े आदमी बनने जा रहे हैं—कोई इनमें जज-कलक्टर होगा, कोई बैरिस्टर और कोई डाक्टर-प्रोफ़ेसर। इनमेंसे डाक्टर मोतीचन्द, डा० श्रीनिसावाचार, डा० अधिकारम् जैसे कितने ही तरुणोंसे मित्रता भी हुई, लेकिन अधिकांश विद्यार्थियोंको मैं बेकारसा समझता था। शायद, इसके भीतर मेरा साम्यवादी भाव काम कर रहा हो; शायद इसके भीतर नानाके चार बीघे खेतोंपर गुजारे जीवनकी कटुता भी हो, और सबसे बड़ी बात यह हो सकती है, कि मेरेलिए सदा साहसमय जीवन आकर्षक रहा है, और ऐसा जीवन लन्दनमें जाकर पढ़नेवाले लड़कोंमें मिलना मुश्किल था। पर उनमें बहुतसे तो बचपनमें ही नौकरों-चाकरोंके हाथों पान-फूलकी तरह पैदा हुए और पले थे। दूसरी तरहके नौजवानोंमें रामचन्द्र इस्सर और हंसराज थे। रामचन्द्र रावलपिंडीके रहनेवाले थे, भागकर करांचीमें जहाजी खलासियोंमें भरती हुए दुनियाके समुन्दरोंकी कई परिक्रमा करते रहे। उन्हें मालूम हुआ कि कोई जहाजी कम्पनी हिन्दुस्तानमें भरती हुए नौकरको यदि २० रुपया महीना देती है, तो विलायतमें भरती हुएको

२५) रुपया हफ़्ता। उन्होंने इंगलैण्डमें पहुँचकर वह नौकरी छोड़ दी और फिर दूसरे जहाजमें भरती हो गए। अब उन्हें अँगरेजों जैसा वेतन मिलता था। कितने ही समयतक जहाजी नौकरी की, फिर लन्दनमें एक होटलमें रसोई-परोसू बन गए। तनख्वाह और ज्यादा थी। कुछ सौ पौंड जमा किए, फिर अपनी एक छोटीसी दूकान खोल ली। दूकान अच्छी चल रही थी। लेकिन इसी बीचमें १९२९में विश्वव्यापी मन्दी शुरू हो गई। बड़े-बड़े लखपतियोंके दिवाले निकल गए, तो रामचन्द्रके बारेमें क्या कहना। आजकल उन्हें बेकार फंडसे कुछ पैसे मिल जाते थे, किसी हाटमें एक सदूक रखी थी, वहाँ भी कुछ बेंच आते थे। ४, ५ वर्षका लड़का था, बीवी टाइप और शार्टहैंडका काम जानती थी। स्त्रियोंके श्रृंगारके कामको भी उन्होंने सीखा था, लेकिन मन्दीके कारण आजकल काम मिलना मुश्किल था। तो भी औरोंकी अपेक्षा रामचन्द्र अच्छी हालतमें थे।

रामचन्द्र पाँच ही सात दर्जे पढ़े थे, किन्तु उनके दोस्त हंसराज पंजाब विश्वविद्यालयके ग्रेजुएट थे। वर्मा, चीन, अमेरिका कहाँ-कहाँकी खाक छानते लन्दन पहुँचे थे। उनके घरवाले धनी थे, लेकिन वह अपने ही पैरपर खड़ा होना पसन्द करते थे। रामचन्द्रकी तरह उन्होंने भी यहीं शादी की थी और उनको एक लड़की थी। हंसराजकी दूकान मंदीने बन्द कर दी थी। हमारे सामने ही उनका घरसे तार आगया, और उन्हें हिन्दुस्तान लौटना पड़ा। एक और जवान हमारे बलियाके सोवरनराय थे। पलटनके सिपाही हो पिछली लड़ाईमें गए थे, फिर लन्दन हीमें रह गए। विलायतमें तनख्वाह चौगुनी-पँचगुनी ठहरी, हिन्दुस्तानी हाथ खर्च करते कुछ बचा सकते ही हैं। सोवरनरायने हजार या अधिक पौण्ड (१४ हजारसे अधिक रुपए) जमा कर लिये थे। लोग सलाह दे रहे थे कि १४-१५ हजार रुपया हो गया, हिन्दुस्तानकेलिए बहुत है, चले जाओ। लेकिन सोवरनराय उसे पूरा नहीं समझते थे। लन्दनमें रहते बोली तो उन्होंने सीख ली थी। लेकिन पढ़ने-लिखनेसे कोई वास्ता नहीं रखा। वह अब एक रेस्तोराँ (भोजनशाला) खोलना चाहते थे। किसी मकानवालेसे किराएपर मकान लिया, पेशगी रुपया देना पड़ा। दस्तावेजपर ५-६ बरसकी जगह १ बरस लिख दिया गया। बेचारोंका आधासे ज्यादा रुपया इसी तरह कम हो गया और आगे रेस्तोराँ भी नहीं चल सका।

एक और भारतीय बरेलीके रहनेवाले पं० हरिप्रसाद शास्त्री मिले। शायद युद्धसे भी पहले वह हिन्दुस्तानसे बाहर गए थे। किसी समय मैंने सरस्वतीमें लेख पढ़ा था, जिसमें उनके जापानमें जाकर धर्मकी धूम मचानेका वर्णन था। शायद उस

वक्त में भी दुनियामें वैदिकधर्मकी धूम मचानेका स्वप्न देख रहा था। वह लेख और नाम मुझे याद था। एक दिन शास्त्रीजी मुझे मिल गए। परिचय, प्रणाम हुआ। उन्होंने अपने घर आनेका निमंत्रण दिया। २४ सितंबरको साँझके ५ बजे हम दोनों शास्त्रीजीके घरपर गए। उनकी स्त्री एक जापानी महिला हैं। पति-पत्नी दोनोंका स्वभाव बहुत मधुर है। उनके कोई संतान नहीं है। लन्दनका जीवन अत्यंत संघर्षमय जीवन है। शास्त्रीजी कुछ पढ़ाकर कुछ व्याख्यान देकर और शास्त्रिणी नृत्य-शिक्षा देकर अपना गुजारा करते थे। बरेली अब भी उन्हें स्मरण आती है, लेकिन कभी देख सकेंगे, इसमें भारी सन्देह है।

मैं पहले अक्सर घरकी बगीचेमें—जो कि पिछवाड़े थी, शामको टहला करता था। पड़ोसी कुमारियोंको हमारा वेष देख कौतूहल होता था और वह कोई कपड़ा लपेटकर हमारी नकल करती थी। जब मैं हिन्दुस्तानमें था। उसी समय "गंगा" पत्रिका (*सुल्तानगंज, भागलपुर*)के सम्पादक पं० रामगोविन्द त्रिवेदीने पुरातत्त्वांक-का मुझे सम्पादक बननेकेलिए कहा था। मैंने उसे स्वीकार कर लिया था, और लंकामें रहते वक्त उसकेलिए कई लेख लिख दिए थे। लन्दनमें उन्होंने दूसरे लेखोंको भी सम्पादनकेलिए भेजा था। मुझे उसकेलिए भी समय देना पड़ता था। तिब्बतसे लाए चित्रोंमें ३४, ३५ बहुत अच्छे चित्रोंको मैं अपने साथ लन्दन लेता गया था। यहाँ और पेरिसमें भी उनकी प्रदर्शनी हुई थी। पहिले मैं नहीं समझता था, कि वह इतने सुन्दर और महत्त्वपूर्ण है, लेकिन यहाँ आनेपर मुझे उनका मूल्य मालूम हुआ। कई वर्षोंसे नालन्दाके पुनरुद्धारका मेरे दिमाग़में ख़ब्त था। लंकामें रहते मैं यह भी ख्याल कर रहा था, कि अगर सारे चित्र ३०, ३५ हज़ारपर बिक जाएँ तो उस रुपएसे नालन्दामें ज़मीन खरीद ली जाय। यहाँ आनेपर जब मुझे चित्रोंका महत्त्व मालूम हुआ, तो बेचनेका ख्याल छोड़ दिया। किस जगहपर इन्हें सुरक्षित तौरसे रखा जा सकता, इसपर विचार करते ही मुझे ख्याल आया कि पटना म्यूजियम ही इसकेलिए सबसे उपयुक्त स्थान होगा। २८ अक्तूबरको मैंने म्यूजियमके सभापति जायसवालजीको पत्र लिखा "मैं अपने तिब्बती चित्रपटको म्यूजियमको देनेकेलिए तैयार हूँ। किन्तु नालन्दामें यदि कोई सुरक्षित स्थान बन गया, तो वह वहाँ चले जायेंगे।" २२ नवम्बरको जायसवालजीका तार मुझे पेरिसमें मिला। "तिब्बती चित्रोंके बारेमें आपके २८ अक्तूबरके लिखे पत्रकी शर्तें धन्यवादपूर्वक स्वीकृत हैं, टामसकुकको लिख रहा हूँ कि वह चित्रोंको सँभाल लें। जायसवाल, पटना म्यूजियम सभापति" (Thankfully accepted terms

in your letter twentyeight Oct. for Tibetain paintings. Instructing Thomes Cook to take charge. Jayaswal President Patna Museum)। सारे चित्रपट डेढ़ सौके क़रीब थे, जिन्हें मैंने पटना म्यूजियमको दे दिया उनका मूल्य एक लाखसे कम न होगा। नालन्दाके स्वप्नकेलिए मैंने एक अमेरिकन म्यूजियमके हाथमें बेचनेकेलिए एक पत्र लिख दिया था और यदि मैं लन्दन न गया होता, तो उनके महत्त्वको इतना जल्दी न समझ पाता, और फिर शायद गलती कर बैठता।

हमारा महल्ला मध्यम-वर्गके लोगोंका महल्ला था। ज्यादा मालदार और शौक़ीन लोग लन्दनके वेस्टएन्ड महल्लेमें रहते हैं, और ईस्ट-एंड है गरीबोंका मुहल्ला। ३० अगस्तको हम ईस्ट-एंड देखने गए। वहाँ मालूम हुआ कि हमारे साहेबोंने अपने देश-भाइयोंकेलिए भी कैसा नर्क तैयार कर रखा है। पिंजड़ेकी तरहके उनके छोटे-छोटे मकान, मैले-कुचैले वस्त्र, और भूखे-दुवले नरकंकाल चारों ओर दिखलाई पड़ते थे। यहीं कुमारी लिस्टर—एक मध्यम वर्गीय महिला—ने किङसलेंहाल नामकी अपनी सस्था गरीबोंकी सेवाकेलिए कायम की थी। धनियोंने पृथ्वीपर इस नरकको तैयार किया है, जहाँ नरककी आग करोड़ों नर-नारियोंको धायँ-धायँ करके जला रही है। जब किसी-किसी धनिक सन्तति या उसके भाई-बन्धुका दिल पसीजता है, तो वह सारी विपत्तियोंकी जड़ धनी-गरीबके भेदको नष्ट करनेकी जगह पत्तोंको पानी देते हुए किङसलेहाल जैसी संस्थाएँ कायम करता है। कुमारी लिस्टर उस वक़्त वहाँ नहीं थीं। गांधीजी जब राउंड टेबुल कान्फ्रेन्स (१९३१)में आए, तो वह यहीं ठहरे थे। अपनी शक्तिके अनुसार यह संस्था गरीबोंकी सेवा करती है। एक पुस्तकालय है, लड़कोंके खेलनेका भी कुछ इन्तज़ाम है। कुछ बच्चोंको दूध भी दिया जाता है।

मिसेज़ रीज़-डेविड्स पाली भाषाकी प्रख्यात पंडिता थीं। वह और उनके स्वर्गीय पतिने पाली साहित्यके अनुसन्धान और प्रकाशनमें बहुत काम किया था। लड़ाईके वक़्तमें उनका प्रिय पुत्र मर गया। कुछ समय बाद पति भी मर गए। बेचारी बुढ़िया इस शोकको बरदाश्त नहीं कर सकी। प्रेतविद्यावालोंके पास पहुँचने लगीं। पुत्र-वियोगमें प्रेमान्ध तो थी हीं, उन्हें विश्वास हो चला कि उनका पुत्र प्रेतलोकमें जिन्दा है। बस, उनकी पाली-विद्वत्ताका उपयोग अब अप्रत्यक्ष-रूपेण एक-दूसरे विषयके प्रतिपादनमें इस्तेमाल होने लगा। वह सोचने लगीं, यदि प्रेतलोक है—जहाँ कि उनका पुत्र रहता है—तो देवलोक भी है। जब लाखों बरसतक रहनेवाले ये प्रेतलोक और देवलोक मौजूद हैं, तो कोई जरूर अजर-अमर नित्य आत्मा है,

जो इस शरीरको छोड़कर दूसरे लोकमें जाती है। अब उन्होंने कहना शुरू किया कि बुद्ध अनात्मा नहीं आत्माको मानते थे, इसी तरहसे और कई नई कल्पनाएँ करके बुद्धके उपदेशोंका उन्होंने बिलकुल उल्टा-पुल्टा अर्थ करना शुरू किया। आश्चर्य तो यह है, कि उनके पुत्रशोकविकृत मस्तिष्ककी उपज इन बातोंका लोग बड़ी गम्भीरतासे अध्ययन करते रहे। एक दूसरे साइंसवेत्ता सर आलिवर लाजके बारेमें भी यही बात सुनी। लड़ाईमें उनका भी लड़का मारा गया था और मृत पुत्रसे बात-चीत करनेकेलिए उन्होंने प्रेत विद्याविशारदों (विलायती ओझों)की शरण ली। फिर तरह-तरहकी खुराफातें लिखने लगे। कितने ही अक़लके अन्धे इन अर्ध-विक्षिप्तों-की बकवासको भी विद्वत्ता समझते थे। मैंने मिसेज़ रीजडेविड्सके विचारोंका परिहास-पूर्वक एक खंडन लिखा था, जो कि एक बौद्ध मासिकमें छपा था।

जिस वक़्त हम लन्दनमें थे, उस वक़्त विश्वव्यापी मन्दीका तीसरा साल चल रहा था। ३० लाखसे ऊपर आदमी बेकार पड़े हुए थे। विलायतकी बेकारी हिन्दुस्तानकी बेकारीसे बहुत अधिक असह्य होती है। लन्दनमें आप अगर किसी पाखानेमें जायँ, तो एक पेनी (आना) डालनेपर पाखानेका दरवाज़ा खुलेगा। एक प्याला चाय और एक टुकड़ा रोटीकेलिए बारह आना चाहिए। हर चीज़ महँगी, चादरकी धुलाई एक शिलिंग (१० आनेसे ऊपर), रूमालकी धुलाई ३ पेनी (३ आनेसे ऊपर), रूमाल धुलानेसे अच्छा यही था कि नई खरीद ली जाय। जहाँ जीवन-सामग्री इतनी महँगी हो, वहाँ अतिथिसेवा या बन्धुसेवा आसान काम नहीं है। एक दिनके मामूली खानेपर ही ३) खतम हो जाते। इस सारी व्यवस्थाका कारण वही पूँजीवाद है, जिसने इंगलैण्डके ९० सैकड़ा आदमियोंके जीवनको कलकेलिए अनिश्चित और सदाकेलिए चिन्तापूर्ण बना दिया है। इसीलिए कोई आश्चर्य नहीं है कि ट्राममें चलते वक़्त माँ-बेटी, अपना-अपना अलग-अलग टिकट खरीदें।

२७ जुलाईसे १३ नवम्बरतक साढ़े तीन महीना मैं इंगलैण्डमें रहा। इसमें भी प्रायः सारा समय लन्दन हीमें बीता। विम्बलड्न लन्दनसे ११ मीलसे अधिक बाहर है, लेकिन वह भी शहर जैसा ही है। ६ सितम्बरको हम वहाँ गए। एक वृद्ध अँगरेज़ दम्पतीके निमन्त्रणपर १६ सितम्बरको ५ मील बाहर दलविच गाँवमें गए थे। पिछली शताब्दीमें उदार विचारोंकी जो बाढ़ आई थी, उसमें फ्रांसके विचारक कोंतेने बहुतसे दर्शनों, धर्म और साइंसकी खिचड़ी पकाके एक नई विचारधारा चलानी चाही थी। जान पड़ता है, कुछ दिनोंतक शिक्षित निम्न मध्यमवर्गपर उस-का असर हुआ था, यह वृद्ध दंपति उसी विचारधाराके माननेवाले थे।

धर्मोके कितने ही पक्षपाती इस बातका बहुत खतरा महसूस कर रहे हैं कि आगे चलकर धर्म कहीं लुप्त न हो जाय। इसीलिए वह सारे धर्मोका संयुक्त-मोर्चा बनाके धर्मविरोधियोंका मुकाबिला करना चाहते हैं। धर्मका हटना धनिकोंकेलिए बड़े खतरेकी चीज है। रोमका पोप तो मोके-बेमोके हर वक्त वैयक्तिक सम्पत्तिको धर्मका एक अभिन्न अंग बतलाते हुए वैयक्तिक सम्पत्तिके विरोधियों, साम्यवादियोंके खिलाफ़ जहादकी घोषणा करता रहता है। यद्यपि १९४४के सितम्बरमें वह पूर्वी ईसाई-चर्चके साथ हाथ मिलानेकेलिए तैयार थे, क्योंकि, लालसेनाकी विजयसे धनिकोंके पिट्ठू और स्वयं भी एक बड़े धनिक इस महन्तराजके हृदयमें शूल होने लगा था। लेकिन जिस वक्तकी मैं बात कर रहा हूँ, उस वक्त अभी छोटे-छोटे आदमी ही सर्व-धर्म-समन्वयकी कोशिश कर रहे थे। मैं बौद्धधर्मका पक्षपाती था। साथ ही दूसरे धर्मोका धर्मके ख्यालसे विरोधी नहीं था; लेकिन मैं यह जरूर समझता था कि ईश्वर-वादी धर्म जन-हित और विश्वप्रगतिके विरोधी हैं। अभी यह समझनेमें देर थी कि साधारण बौद्धधर्म भी धर्मके तौरपर प्रगति-विरोधी है। लन्दनमें कई धर्मोके छुट-भैया नेता मिलके सर्वधर्म-मित्र-मंडली (Fellowship of faiths) की स्थापना करने जा रहे थे। बौद्धधर्मके बिना ऐसी मंडली भला पूरी कैसे हो सकती थी? उन्होंने हमारे यहाँ भी निमंत्रण भेजा। आनन्दजी गए, तबतक बहुत कुछ उद्देश्य और नियम बन चुके थे, जिसमें आरम्भ हीमें था—एक परमेश्वरकी सन्तान होनेसे मनुष्यमात्रमें भ्रातृभावका प्रसार करना। आनन्दजीने देखा, तो कहा—यह नियम रहनेपर तो बौद्ध इस संगठनमें नहीं शामिल हो सकते, क्योंकि बौद्ध ईश्वरको नहीं मानते। वहाँ बैठे एक मोलवीको यह सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ, कह उठे—"या अल्लाह! यह भी कोई धर्म है, जिसमें खुदाकेलिए कोई स्थान ही न हो।" खैर, बौद्धोंको उसमें रखना था, इसलिए ईश्वरकी बात हटा दी गई।

२२ सितम्बरको अब सरदी इतनी बढ़ गई थी कि घरको गरम करनेकेलिए अँगीठी जलानी पड़ने लगी। अब बादल और ज्यादा छाया रहता था, सबेरे मुँह धोते वक्त हम देखते थे कि कण्ठसे काले रंगका कफ बाहर निकलता है। लन्दनकी वायुमें इतना धुआँ मिला रहता है, जिसकेलिए स्वाभाविक है।

२७ सितम्बरको गांधीजीके उपवास-भंगकी खबर सुनकर लन्दनके सभी भारतीयोंको बहुत प्रसन्नता हुई। मेकडानल्डके निर्णयके विरोधमें गांधीजीको यह उपवास करना पड़ा था। अछूतोंके ऊपर हिन्दुओंने हजारों वर्षोसे जुल्म कर रखा है और उन्हें मनुष्यसे पशुकी अवस्थामें पहुँचा दिया है, इसे देखकर अछूतोंको

ज्यादा सजग रहनेकी जरूरतसे कौन इनकार कर सकता है। गांधीजीके रास्ते अछूतोंकी समस्या नहीं हल हो सकती, यह भी निश्चित है। फिर अछूत नेता को दूसरा रास्ता अख्तियार करना चाहें, तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। गांधीजी इसीलिए हड़ताल की थी कि अंग्रेजी शासक-वर्गने पृथक्-निर्वाचनकी नीतिर मुसल्मानोंके बाद अब अछूतोंकेलिए भी स्वीकृत किया था, जिसका स्पष्ट अभि प्राय यही था, कि हिन्दुस्तानकी शक्ति और छिन्न-भिन्न हो जाय। जिस दिन आमरण उपवासकी खबर लन्दनके अखबारोंमें निकली, वहाँ बहुत सनसनी फैली हु थी। एक चीनी विद्यार्थी मेरे पास आए, और पूछने लगे कि यह अछूतपन क्या चीज है। मैं देरतक कई तरहसे उन्हें समझानेकी कोशिश कर रहा था, लेकिन उनकी समझमें आ नहीं रहा था, कि स्वस्थ निरोग आदमीको छूना या उसके हाथका खाना भी बहुत बुरी चीज है। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है, कि जिसे हमारे यहाँके लम्बी नाकवाले पंडित ब्रह्माका विधान मानते हैं, उसे दूसरे देशके लोग इतनी बड़ी बेवकूफी समझते हैं, कि उसपर विश्वास करनेकेलिए उनका जी नहीं चाहता।

गांधीजीके जन-जागृतिके कामका मैं बहुत प्रशंसक था, लेकिन उनकी पुराणपंथिता मेरेलिए असह्य मालूम होती थी। २९ सितम्बरकी अपनी डायरीमें मैंने लिखा था कि भारतमें जाकर एक ऐसी पुस्तक लिखनी है, जिसमें गांधीके पुराणवादकी आलोचना हो।

केन्सिङ्टन म्यूजियम मैं पहिले भी गया था; वहाँके अधिकारी मिस्टर केम्बेल्से परिचय था, वह हमारे यहाँ भी आए थे। ५ तारीखको हम वहाँ खास तौरसे भगवान बुद्धके दो प्रधान शिष्यों सारिपुत्र, और मौद्गल्यायनकी अस्थियोंका दर्शन करने गए थे। २२०० वर्ष पहिले इन दोनों सत्पुरुषोंकी थोड़ी-थोड़ी हड्डी डिबियोंमें रखकर सांची और सोनारीके स्तूपोंमें रख दी गई थीं अब (१९४७ में) वह भारत लाई गई। मिस्टर केम्बेल्ने इन डिबियोंको दिखलाया, उनपर ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी की लिपि में उन दोनों सत्पुरुषोंका नाम अंकित था। भीतर खोलनेपर हड्डीके छोटे टुकड़े दिखलाई पड़े। बुद्धके सबसे अधिक मेधावी इन दोनों शिष्योंके शरीरका अवशेष अब दुनियामें इतना ही रह गया है। हम लोगोंने बड़ी श्रद्धाके साथ उन्हें देखा। मिस्टर केम्बेल्ने म्यूजियमकी और भी कितनी चीजें घूम-घूमकर दिखलाईं। वह हमें अपने आफिसमें ले गए। वहाँ उस वक्त भारतीय सरकारके कोई अंग्रेज अफसर उनका इन्तजार कर रहे थे। शिष्टाचारके तौरपर उन्होंने मेरा भी परिचय कराया। लेकिन जितने संकोचके साथ उसका हाथ और जीभ हिली, उसे देखनेसे

मालूम हो गया, कि वह आदमी हम हिन्दुस्तानी गुलामोंको इस योग्य नहीं समझता था, कि हमसे हाथ मिलाए, और खुलकर बात करे। हिन्दुस्तानमें रहे अंग्रेजोंमें अक्सर ऐसी मनोवृत्ति पाई जाती रही, जो ऐसा नहीं करते, वह सरकारी नौकरीमें तरक्की भी नहीं कर सकते थे। इसके उदाहरण मिस्टर शटलवर्थ थे। वह आई० सी० एस्० होकर हिन्दुस्तानमें आए, और जिन्दगी भर जिलेके अधिकारी रहकर ही पेन्शन ले विलायत चले गए। उस वक्त वह लन्दन विश्वविद्यालयमें तिब्बती भाषाके अध्यापक थे। १२ नवम्बरको बड़ी देरतक हमारी उनसे बात होती रही थी। उनमें इतनी सहृदयता थी, कि मैं समझ रहा था, यह कोई ईसाई मिशनरी होंगे। उन्होंने अपने घरपर चाय पीनेकेलिए बुलाया। उनकी पत्नीने चाय तैयार करके पिलाई। घरका सारा कामकाज वह अपने हाथसे करती थीं। खैर, इंगलैण्ड लौटनेपर तो गवर्नरोंको भी ट्रामपर चलना होता है। लेकिन शटलवर्थ दंपती अवश्य भारतके अंग्रेज शासकोंमें अपनी प्रकृतिकेलिए अपवाद थे।

७ अक्तूबरको हम लन्दन टावर देखने गए। "एक तो करैला, दूसरे नीम चढ़ा" वाली कहावत थी। हमारा ही भेष बहुत आकर्षक था और हमारे साथ गए थे लंकाके करोलिस महाशय, जिन्होंने अपने लम्बे केशोंको जूड़ेकी तरह बाँध रखा था। यह वह जगह है, जहाँ शताब्दियोंतक राजा अपने विरोधियोंको बन्द रखा करते थे। कितनी हतभागिनी रानियोंका यहींपर सर काटा गया था। जिन कुल्हाड़ोंसे सर काटा गया था, वह भी यहाँ सुरक्षित हैं। पुराने हथियारोंका यहाँ बहुत अच्छा संचय है, और उन्हें शताब्दीके क्रमसे रखा गया है। कोहिनूर-जटित राजमुकुट और दूसरे बहुतसे हीरे भी यहीं रखे हुए हैं। हमने घूम-घूमकर सब चीजोंको देखा।

अनागरिक धर्मपालके कई पत्र मेरे पास आए। उनकी बड़ी इच्छा थी, कि मैं उनके कार्यभारको सँभालूँ, लेकिन मैं अपनेमें धर्मके प्रति उतनी श्रद्धा नहीं देखता था। हिन्दुस्तान आनेके बाद भी अनागरिकने कुछ चर्चा की थी, लेकिन मैं अपनेको विद्या और अन्वेषणके क्षेत्रमें ही लगा चुका था। महाबोधि सभावालोंकी इच्छा थी, कि मैं इंगलैण्डसे अमेरिका जाऊँ। कोई समय था, कि जब मैं धर्मप्रचारक बननेका तीव्र अनुरागी था, लेकिन अब अवस्था बिल्कुल बदल गई थी। बौद्धधर्मके साथ भी मेरा कच्चे धागेका ही सम्बन्ध था। हाँ, बुद्धके प्रति तो मेरी श्रद्धा कभी कम नहीं हुई। मैं उन्हें भारतका सबसे बड़ा विचारक मानता रहा हूँ, और मैं समझता हूँ कि जिस वक्त दुनियाके धर्मका नामोनिशान न रह जायगा, उस वक्त

भी लोग बड़े सम्मानके साथ बुद्धका नाम लेंगे। मैंने उनके पत्रोंके पढ़नेके बाद समझा, कि वह भी दुनियाके साम्यवादी बननेका सपना देखते थे। यद्यपि वह समयसे बहुत पहिलेकी बात थी। लन्दनमें मेरा बहुतसा समय साम्यवादी साहित्य, उसमें भी विशेषकर रूस-सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकोंमें लगता था। "डेलीवर्कर"का तो मैं नित्य बाकायदा पारायण करता था। वह साधारण दूकानोंमें नहीं मिलता था, इसलिए उसे पानेकेलिए विशेष प्रबन्ध करना पड़ा था। इसके अतिरिक्त सोवियतमें छपनेवाले कितने ही सचित्र मासिक साप्ताहिक पत्रों और पुस्तक-पुस्तिकाओंको जमा करके पढ़ता रहा। हाँ, किसी अँगरेज कम्यूनिस्टसे सीधे सम्बन्ध स्थापित करनेका मुझे मौका नहीं मिला। हो सकता है, वह मेरे कपड़ेसे भड़कते रहे हों; और मैं भी सोवियत जानेकी धुनमें था, इसलिए खुफ़िया विभागकी आँखोंमें काँटा नहीं बनना चाहता था।

२६ अक्तूबरको हम दोनों केम्ब्रिज विश्वविद्यालय देखने गए। रास्तेमें किसानोंके घरों और खेतोंको देखा। अब जाड़ा शुरू होनेवाला था, वृक्षोंकी पत्तियाँ पीली हो गईं, या गिर गई थीं। खेतोंमें कोई काम नहीं होता था। गाँवके घर साफ़-सुथरे थे, सिर्फ़ एक जगह घोड़ेको हल चलाते देखा। केम्ब्रिजके एक दर्जनसे अधिक कालेजों और उनके छात्रावासोंको घूम-घूमकर देखा। उस वक्त मुझे तिब्बतके मेरा और डेपुङ विहार याद आ रहे थे। केम्ब्रिज भी किसी समय ईसाई भिक्षुओंका विहार था। उन्होंने ही इसे विद्यापीठ बनाया था। हमारे यहाँ भी नालन्दा और विक्रमशिलाके विशाल विद्यापीठ थे, जो अपने समयमें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति रखते थे। अचरजकी बात है कि जिस वक्त नालन्दा और विक्रमशिला उजाड़े जा रहे थे, उसी वक्त केम्ब्रिज और आक्सफोर्डकी स्थापना हो रही थी।

१० नवम्बरको हम आक्सफ़ोर्ड गए। वहाँके भी कालेजोंके देखते वक्त मुझे नालन्दाकी याद आती थी। सबसे ज्यादा भक्तिभावसे मैं ९ तारीखको हाईगेटके क़ब्रिस्तानमें गया। १९३०-३१में मैंने मार्क्सके कई ग्रन्थोंको पढ़ा, यद्यपि अभी मार्क्सके भौतिकवादको पूरी तौरसे अपना नहीं सका था, खासकर इस शरीरके साथ ही जीवनके अन्तको अभी मैं नहीं मान रहा था। लेकिन मार्क्सकी और बातोंको मैं मानता था। बारह वर्षोंके बाद डाक्टर श्रीनिवासाचारने मेरी उस समयकी बातको स्मरण दिलाते हुए कहा था—आप उस वक़्त भी कहते थे, कि बुद्ध और मार्क्स यही दोनों हैं, जो आजकी दुनियाका बेड़ा पार कर सकते हैं। मैंने पढ़ा था, मार्क्सका देहान्त लन्दनमें हुआ था, और वह यहीं हाईगेटके क़ब्रिस्तान-

में दफ़नाए गए। मेरे आसपास रहनेवाले अपनेको उसके बारेमें बिल्कुल अजान बतलाते थे। खैर, हम ढूँढ़ते-ढाँढ़ते उस कबरिस्तानपर पहुँच गए। बाहर कोई स्त्री फूल बेंच रही थी, हमने उससे फूल लिया। चौकीदारसे मार्क्सकी समाधिके बारेमें पूछा, उसने कहा—मुझे मालूम नहीं। मुझे आश्चर्य हुआ कि जिस वर्गकी ग़ुलामीको हटानेकेलिए मार्क्सने इतना काम किया, उसीका एक आदमी उस क़ब्रिस्तानका चौकीदार होते हुए भी मार्क्सकी समाधिको नहीं जानता। मैं समझता हूँ, बारह साल बाद आज वही अवस्था नहीं होगी, क्योंकि आज १६४४, मार्क्सकी सेना—लाल फौज—की बहादुरीकी खबरें वहाँवाले रोज अखबारोंमें पढ़ते होंगे। वहाँ हज़ारो क़ब्रें थीं। एक-एकपर नाम पढते हुए पता लगाना एक दिनका काम नहीं था। उसी वक़्त एक आदमी कब्रोंकी तरफसे फाटककी ओर आया। उसने कहा चलिए, मैं बतलाता हूँ। वह बिल्कुल साधारणसी क़ब्र थी, जिसपर घास उगी हुई थी। यही दुनियाके श्रमजीवियोंका त्राता अपने जीवनके अन्ततक परिश्रम और दरिद्रता सहनेके बाद अपनी स्त्री जेनी और नातीके साथ नीरव सो रहा है। मैंने बड़े भक्तिभावसे फूलोंको समाधिपर चढ़ाया। सिरहानेके पत्थरपर मार्क्सका नाम भी खुदा था, और किसीने छोटासा लाल झंडा रख दिया था। उसी दिन मैं वेस्ट-मिनिस्टर एबे देखने गया। यहाँ गरीबोंके खून चूसनेवालोंकी समाधियाँ हैं। दर्जनों राजा-रानियों और उनके दरबारियोंकी समाधियाँ, जिनको सजाने और बनानेमें रुपयोंको पानीकी तरह बहाया गया है!

फिर फ़्रांसमें—१४ नवम्बरको मैंने आनन्दजी और दूसरे मित्रोंसे विदाई ली। ११ बजे रेल पकड़ते वक्त आकाशमें बादल छाया हुआ था। अबकी डोवर-केलेका रास्ता पकड़ा। लन्दनसे डोवर रेलपर आया, फिर जहाजमें बैठा। समुद्र स्थिर था। अब मैं बिलकुल अकेला था। केलेमें जहाज छोड़कर रेलपर बैठा और छ बजे पेरिसके "गार-दे-नार" स्टेशनपर पहुँचा। मिस लून्ज़बरी स्वागतकेलिए तैयार थीं। पेरिसमें तिब्बती चित्रपटोंकी प्रदर्शनी होनेवाली थी, इसलिए मैं उन्हें साथ लाया था। अभी चित्रपटोंके दिखलानेमें कस्टमवाले देर करते, इसलिए वह काम दूसरे आदमीके जिम्मे देकर मिस लून्ज़बरीने मुझे एक होटलमें पहुँचाया। चित्रपटोंकी संख्या पूछनेपर मैंने अन्दाजन एक चित्र अधिक बतला दिया। चित्रपट तो चले आए लेकिन फ्रांससे बाहर निकलनेपर एक चित्रपट कम हो रहा था। जिसका दाम आँककर मेरे मित्रोंको सरकारी महसूल देना पड़ा। होटलमें कमरा बहुत साफ-सुथरा मिला था। किनारपर ५ अंगुल चिपटे गर्म

निराशा जरूर हुई, फिर भी अभी आशा बिलकुल खतम नहीं हो गई, क्योंकि लन्दनमें एक तरुण मित्रने बतलाया था कि जरमनीसे बहुत सस्तेमें और आसानीसे सोवियत जाया जा सकता है।

मैं एक दिन फ्रेमान्से मिलने गया था। उनकी दूकान बन्द थी, इसलिए सोरबोन्के पास घूम रहा था। एक मिश्री विद्यार्थी गलाल (जलाल) मिल गया। वह अपने रहनेकी जगहपर ले गया। हिसाब लगाके उसने बतलाया, कि मेरा खर्च महीनेमें ६ सौ फ्रांक (प्रायः ७५ रु०) मासिक पड़ता है। लन्दनमें तो इससे दूनेसे भी काम नहीं चल सकता।

एक दिन (२६ नवम्बर) मदाम् ला-फ्वानृतने पेरिसके उपनगरकी सैर कराई। ढाई बजे हम मोटरसे बाहर निकले। मदाम् ला-फ्वानृत खुद मोटर चला रही थीं। बाहर एक विशाल क्रीड़ावन था, जिसे प्राकृतिक देवदारु-वनकी शकलमें रखा गया था। तीन ही बजे सूर्यबिम्ब पच्छिमी क्षितिजपर खूनी लाल रंगसे रँगा मालूम होता था। वमूपि गाँव होते वरसाइ महाप्रासादतक गए। पहिले यह फ्रांसके बाजिदअली शाहोंका महल था, लेकिन आजकल सैनिक म्यूजियम है। वहाँसे हम लोग लौट गए। उसी दिन मिस्टर नायडूने मदाम क्यूरीकी अनुसंधानशाला दिखाई। वहाँ एक रूसी तरुण भी अनुसंधानका काम कर रहा था। उससे सोवियतके बारेमें कुछ बातें हुईं। नायडू सोवियतके साथ भारी सहानुभूति रखते थे।

जर्मनीमें—सवा ६ बजे मैं पेरिससे जर्मनीकेलिए रवाना हुआ, पहिला मुकाम था फ्रांकफुर्त। वहाँ ठाकुर इन्द्रबहादुरसिंहको पहिले हीसे चिट्ठी भेज दी थी। अपने कम्पार्टमेंमें मैं अकेला ही था। सारी यात्रा रात हीमें बीती थी, इसलिए मैं आस-पासकी भूमिको नहीं देख सका। रास्तेमें फ्रांससे जर्मनीकी सीमा पार करते समय आठ बजे अधिकारियोंने पासपोर्ट देख लिया था। ३० नवम्बरको आठ बजे खूब सबेरा हो गया था, मैंने सबेरेके प्रकाशमें देखा—चारों ओर पहाड़ियाँ हैं, जहाँ-तहाँ गाँव बसे हुए हैं। वृक्षोंके पत्ते झड़ चुके हैं। एक जगह घोड़ोंका हल चल रहा था। मारबुर्गके पास मैंने बैलोंका भी हल चलते देखा, और पूछनेपर आचार्य ओटोने कहा कि उनके लड़कपनमें ज्यादातर हल बैल हीसे चला करते थे। जान पड़ता है, यूरपमें धीरे-धीरे लोगोंने हलमें बैलोंकी जगह घोड़ा जोतना शुरू किया और अब तो सोवियत जैसे देशोंसे हल, बैल, घोड़े तीनों गए और उनकी जगह ट्रेक्टर आ गया। अभी हम हिन्दुस्तानी बैलोंवाले युगमें ही हैं। १० बजे मैं फ्रांकफुर्त पहुँचा। स्टेशनपर ठाकुर इन्द्रबहादुरसिंह और जापानी विद्वान डाक्टर कितायामा पहुँचे हुए थे। मेरा कपड़ा

परिचयकेलिए काफ़ी था। डाक्टर कितायामा यहाँ और मारबुर्ग दोनों विश्व-विद्यालयोंमें बौद्धधर्मका अध्यापन करते थे। हम सब ठाकुर साहबके घरपर गए। ठाकुर इन्द्रबहादुर काशीविद्यापीठके शास्त्री थे, वह यहाँ पी-एच० डी०की तैयारी कर रहे थे। वहाँ डाक्टर सुधीन्द्र बोसके भतीजे इंजीनियर बोस और दिल्ली-निवासी डा० देवीलाल भी मिले। डा० देवीलाल और वसु अब विद्यार्थी नहीं थे, वह भारतसे चाय मँगाकर उसीकी बिक्रीसे अपनी जीविका चलाते थे। डा० कितायामाने बतलाया कि डा० ओटो बाहर जानेवाले हैं, इसलिए आप पहले मारबुर्ग चलिए। डा० ओटो जर्मनीके अच्छे संस्कृतज्ञोंमें थे। वह विद्वान भी थे, और ईसाई भगत भी, लेकिन विचारोंमें बड़े उदार थे। जब मैं पहिली बार मीलोन गया था और वहाँ पहुँचे कुछ ही महीना हुआ था, तभी उनसे वहीं मुलाकात हुई थी। वार्तालापके द्वारा हम एक-दूसरेके बहुत नजदीक आ गए थे और पीछे बराबर पत्र-व्यवहार रहा। उन्होंने मारबुर्ग आनेकेलिए बहुत आग्रह किया था और इसीलिए डा० कितायामाको भेजा था।

सबेरे मैंने इन्द्रबहादुरजीके घर हीपर चाय-पानी किया, दोपहरको हम एक रसोईघरमें भोजन करने गए। पहले गोमांस आया, नाम मालूम होते ही मैंने उसे छोड़ दिया। भारतीय विद्यार्थी, जो यूरोप आते हैं, वह इन बातोंकी पर्वाह नहीं करते; मैं भी यदि ज्यादा दिन रहता तो शायद पर्वाह न करता।

भोजनोपरान्त एकाध चीजें सायमें ले कितायामाके साथ स्टेशन पहुँचा। चार मार्क देकर मारबुर्गका तीसरे दर्जेका टिकट लिया। यद्यपि अभी बर्फ़ नहीं दिखाई पड रही थी, लेकिन हरियाली कहीं नहीं थी। किसान खेतोंको जोत रहे थे। यहाँकी किसान औरतें अपने लम्बे-लम्बे बालोंको वैसे ही रखे थीं। पेरिस और लन्दनकी तरह उन्होंने काटकर पटा नहीं बना लिया था। पहाड़ वृक्षोंसे ढके हुए थे। ४ बजे हम मारबुर्ग पहुँचे। ट्रामपर चढ़के होटलमें गए। थोड़ा ठहरके मैं डाक्टर ओटोके घरपर गया। उनका घर पहाड़पर थोड़ा ऊँचे था। पाँच घंटेतक हमारी शास्त्र-चर्चा चलती रही। कभी पाली और बौद्धधर्म, कभी महायान, कभी रामानुजका विशिष्टा-द्वैत वेदान्त और कभी आर्योंका अश्वपालन, ये सब हमारे वार्तालापके विषय थे।

२ दिसम्बरको मुझे मारबुर्गमें ही रहना था। सबेरे रोटी, मक्खन और काफ़ीका नाश्ता हुआ। होटलमें नहानेका इन्तजाम नहीं था। हम दोपहरके भोजनकेलिए डा० ओटोके घरपर गए। मांस, उबले हुए आलू, गोभी और दूसरे कई तरहके पदार्थ थे। वहाँसे आकर होटलमें थोड़ा विश्राम किया। ३ बजे बाद कितायामा

अपने साथ मुझे विश्वविद्यालय ले गए। डाक्टर श्रोटो जाड़ेकी छुट्टियोंमें इटलीकेलिए रवाना होनेवाले थे, इसलिए आज ४-५ सौ शिष्य-शिष्याओंकी मंडली उनके व्याख्यानको सुननेकेलिए एकत्रित हुई थी। डाक्टर श्रोटोने आज महात्मा गांधीके बारेमें भाषण दिया। मैं भी पीला कपड़ा पहिने वहाँ बैठा था। श्रोताओंकी जिज्ञासा थी, उन्होंने मेरे बारेमें भी कुछ कहा। व्याख्यानके बाद वह अपने धार्मिक संग्रहालयको दिखलानेकेलिए ले गए। यहाँ बौद्ध, हिन्दू, यहूदी, ईसाई और मुसलमान पाँचों धर्मोंकी पूजाकी चीजें—पुस्तकें, पूजाभाण्ड, मूर्तियाँ और चित्रपट—बाकायदा सजाकर रखे हुए थे। मैंने तिब्बतसे लाए जिन चित्रपटों और पुस्तकोंको श्रोटोनके लिए भेजा था, वह भी यहाँ रखे हुए थे।

पेरिससे तिब्बती चित्र यहाँ आनेवाले थे, डाक्टर श्रोटो उनकी प्रदर्शनीकेलिए बहुत उत्सुक थे—पेरिसमें भी उन चित्रोंकी प्रदर्शनी मूजीग्वीमें हुई थी, और दर्शकोंने बड़ी तारीफ की थी, लेकिन चित्रपट अभी मारबुर्ग नहीं पहुँचे थे। ३ तारीखको डा० श्रोटोसे शास्त्र-चर्चा रही। आज ही वह इटली जानेवाले थे, और मैं भी सोवियत जानेकी आशा बाँधे बर्लिन पहुँचनेकी जल्दीमें था।

पौने ५ बजेकी गाड़ी पकड़ पौने दो घंटेमें फ्रांकफुर्त पहुँच गए। स्टेशनसे मोटर ले इन्द्रबहादुरजीके घर पहुँचा। आज भारतीय मित्र-मण्डलकी बैठक थी। मुझे भी वहाँ कुछ बोलना पड़ा। ११ तारीखतक अब यहीं रहना था। ४ तारीखकी रातको हम दोनों शहर घूमने गए। पीले कपड़ेका प्रदर्शन न करनेकेलिए मैंने इन्द्रबहादुरजीका ओवरकोट पहन लिया—वस्तुतः वह ओवरकोट नहीं, बल्कि घरके भीतर पहना जानेवाला कोट था। उसको पहनकर बाहर निकलना देशाचार विरुद्ध था। खैर, हम लोग सड़कपर घूमते रहे। आज शनवारका दिन था, सड़कपर बड़ी भीड़ थी, बिजलीके प्रदीपोंको वृक्षोंमें इतना ज्यादा लगाया गया था, कि जान पड़ता था यह विद्युत्-प्रदीपोंका झाड़ है। जहाँ-तहाँ कुछ जवान औरतें खड़ी थीं। इन्द्रबहादुर हर जगह उन्हें दिखलाते हुए कहते—यह वेश्याएँ हैं। हर १० कदमपर चार-पाँच वेश्या खड़ी हैं, इसका मुझे विश्वास नहीं हुआ, और आठ-दस बार दुहरानेके बाद मैंने कह दिया—रहने दो मुझे बनाओ मत। फिर क्या था, हम एक गलीके रास्ते जा रहे थे, उन्होंने इशारा कर दिया, औरतोंने मेरा हाथ पकड़ लिया। मेरे पास जर्मन शब्दोंकी जो पूँजी थी, उसमें नाइन (नाहीं) बस यही मुँहसे निकल रहा था। मैंने इन्द्रबहादुरके हाथ जोड़े, तब जान बचाके निकल पाया।

५ तारीखको आनंदजीका पत्र आया। उन्होंने लिखा कि महाबोधि सभावालोंका

बहुत आग्रह है, कि आके लन्दनमें रहें और फिर अमेरिका जायँ। लेकिन यूरपका पूंजीवादी जीवन मुझे बहुत रूखा मालूम होता था। मैंने समझा जो देखना था, सो देख लिया, अमेरिकामें भी यही लोग और यही चीजें हैं, इसलिए फ़िजूलका समय बर्बाद नहीं करना चाहिए। यात्राका तो मैं बचपन होसे भारी प्रेमी हूँ, फिर यात्रामें यह अनासक्ति क्यों हुई? इसीलिए कि वह साहस यात्रा नहीं थी, एक आरामकी यात्रा थी। रेल, मोटर, जहाज़में चलना, कोठियोंमें रहना, कहीं अमीरोंके विलासको देखकर कुढ़ना, और कहीं गरीबोंके दुःखको देखकर जलना। मैंने लिख दिया कि मैं अब देश ही लौटूँगा। हाँ, इच्छा रूस जानेकी तो वैसी ही प्रचण्ड थी, फ्राकफुर्तमें रहते दस पौण्ड और आगए इसलिए यात्राकेलिए पैसोंकी कुछ निश्चिन्तिता होती जा रही थी।

डाक्टर ओटोने एक स्विस् महिला (Olga Frobe Keptyr) के बनाए हुए कुछ रगीन ज्यामितीय चित्र दिखलाए। उन्होंने कहा था कि यह महिला स्वप्न समाधिमें ऐसे चित्रोंको देखती है, और उसीको पीछे कागजपर अंकित करती है। उन्होंने मेरी राय पूछी, तो मैंने कहा कि इनमेंसे कुछ चित्र तिब्बती मडल-चक्रसे मिलते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि वह महिला आपसे मिलना चाहती हैं। ६ तारीखको स्विस्महिलाका तार मिला, कि वह अगले दिन आ रही हैं। खैर, अभी तो मुझे वहाँ रहना ही था। दूसरे दिन (७ दिसंबर) को ४ बजे वह आईं। देरतक उनसे बात होती रही। योगमें उनकी बड़ी श्रद्धा थी और कुछ योग किया करती थीं। उनका बहुत आग्रह था, कि मैं उनके घरपर चलूं। योगियोंके हथकंडोंसे मैं वाकिफ़ था। मेरी प्रकृति इतनी बुद्धिप्रधान है कि मैं आत्मसम्मोहन (Self-hypnotization) नहीं कर सकता था, लेकिन दूसरोंको समाधि लगवा देना कोई मुश्किल नहीं था। लेकिन मैं हृदय-हीन चित्रनाटकको खेलनेकेलिए तैयार नहीं। विद्यासबंधी अनुसंधान ही मुझे प्रिय है। महिलाने ध्यानमें उन रंगोंको देखा था, मैं बोधगयाके मंदिर और कौन-कौनमें शहर सम्मोहनद्वारा दूसरोंको लदाखमें दिखला चुका था, और जानता था, कि हरएक देखे-सुने संस्कार चित्रकी एकाग्रतासे भौतिक रूप धारण किए दिखलाई पड़ते हैं। तिब्बतके भी सिद्धोंको मैं देख चुका था। मैंने महिलाके चित्रोंके बारेमें जो व्याख्या की, उससे वह बहुत सन्तुष्ट हुई।

अगले दिन मैंने विश्वविद्यालय देखा, सब चीजोंमें बड़ी बाकायदगी थी। संस्कृत और दूसरी प्राच्य विद्याओंके पढ़ानेका इन्तज़ाम था। श्री सत्यनारायणसिंह (छपरा) यहीं पढ़ रहे थे, लेकिन वह ठहरे एक नम्बरके घुमक्कड़। आजकल वह नारवे-स्वीडनकी ओर चक्कर लगा रहे थे।

अनवारको मध्याह्न-भोजनके बाद शहरके पुराने भागको देखने गए। उन घरको भी देखा, जिसमें महाकवि गेटे पैदा हुए थे। पुराने फ्रौकफुर्तकी गलियाँ बनारसकी गलियों जैसी टेढ़ी-मेढ़ी और सँकरी थीं, लेकिन उतनी गन्दी नहीं। फिर हम राइन नदीके किनारे-किनारे देवदार वृक्षोंके साथ घूमते रहे। आज सर्दी बहुत तेज थी।

शामको मारबुर्ग विद्यालयके प्रोफेसर फिश मिलने आए। वह धर्मके अध्यापक थे। उन्होंने बतलाया, दुनियामें ऐसे खतरनाक ख्यालात फैल रहे हैं कि अगर सावधानी न की गई तो धर्म लुप्त हो जाएँगे। इस वक्त धर्मोको आपसी प्रतिद्वंदिताका समय नहीं है, सभी धर्मोको मिलकर नए खतरेका सामना करना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि हमें आपसमें छात्रोंका परिवर्त्तन करना चाहिए। विश्व-विद्यालय आपसमें छात्रोंका परिवर्त्तन करें, इसे तो मैं पसन्द करता था, लेकिन धर्मोंकी नाव डूब जाय, इसपर एक बूंद आंसू बहानेकेलिए मैं तैयार नहीं था; तो भी मैं शिष्टाचारके नाते उनसे बातें करता रहा। उन्होंने एक दिनकेलिए मारबुर्ग आनेको कहा, लेकिन मैंने यह कहकर क्षमा माँग ली, कि मैं कल ही बर्लिन जा रहा हूँ।

आदमी जीवनयात्रामें कितने ही सहृदय नर-नारियोंसे मिलता है, उनसे कितनी ही सहायता और सहानुभूति पाता है। इन उपकारोंका बदला चुकाना आदमीकी शक्तिसे बाहरकी चीज है। मैं नहीं समझता, क्यों आदमीकी प्रकृतिको इतना स्वार्थ-पूर्ण चित्रित किया जाता है। मैं यह मानता हूँ, कि स्वार्थके पीछे अन्धे हो गए आदमी भी मिलते हैं, लेकिन यदि आदमी केवल स्वार्थमय होता, तो किसीकी जीवन-यात्रामें जरा भी माधुर्य न रह जाता। मैं तो जब अपनी जीवन-यात्राको याद करता हूँ, तो हजारों स्नेहपूर्ण चेहरे आँखोंके सामने घूमने लगते हैं। मैं मन ही मन उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, उनके उपकारसे उऋण होना असम्भव है। मनुष्यमें जो स्वार्थान्धता आती है, उसे भी मैं उसकी स्वाभाविक प्रकृति नहीं मानता। उसकी निन्नानवे सैकड़ा जिम्मेवारी है आजके समाजकी बनावटपर। अगर यह स्वार्थान्धता-पूर्ण बनावट टूट जाय, तो मानव सचमुच ही दिव्य दिखलाई पड़ने लगेगा।

१२ दिसम्बरको, अभी पेरिससे चित्रपट नहीं आए थे, रातको पौने ग्यारह बजेकी गाड़ीसे बर्लिनकेलिए रवाना हुआ। किराया था २४ मार्क (प्रायः १८ रुपये)। बर्लिन यहाँसे ६०० किलोमीतर (४०० मील)से ज्यादा है। डब्बेमें भीड़ नहीं थी, और मैं सोता चला गया। चाँदनी रातमें ऊँची-नीची जमीन और पहाड़ दिखलाई पड़ रहे थे, कहीं-कहीं जुते हुए खेत थे, लेकिन अभी जमीनपर बरफ नहीं थी।

१३ दिसम्बरको ७ बजे अनटेनहलट स्टेशनपर पहुँचे। एक तरुणके साथ कुमारी वर्था डालके स्टेशनपर आई हुई थी। मुझे बर्लिनमें नहीं फ्रोनोंके बुद्ध-भवनमें रहना था। स्टेशनसे मोटर द्वारा बिजलीवाले स्टेशनपर पहुँचे, फिर फ्रोनों स्टेशनपर पहुँच गए। फ्रोनों बर्लिनका उपनगर है। जर्मनीके चिकित्सक और प्रसिद्ध विद्वान डा० पाल डालकेने एक छोटीसी पहाड़ीपर इस बौद्ध बिहारको बनवाया था। पहाड़ी ज्यादातर मिट्टीसे ढँकी हुई है, उसपर देवदारके वृक्ष हैं। इन्हींमें अलग-अलग निवासभवन, बुद्ध-मन्दिर, समाधि-भवन आदि कई भवन बने हुए हैं। डा० डालकेने चाहा था, कि इस मकानका एक ट्रस्ट बना जाएँ, लेकिन वैसा करनेसे पहिले उनका देहान्त हो गया। अब यह उनकी तीन बहनों, अनुजवधू, और भतीजेकी सम्पत्ति है। बहनें, खासकरके वर्था, कोशिश करती हैं कि उनके भाईकी यह कीर्ति बौद्ध धार्मिक केन्द्रके रूपमें रहे। रास्तेमें हमने मजदूरोंके छोटे-छोटे घर देखे, जिनके ऊपर लाल झंडा फहरा रहा था। घरपर डालके परिवारने मेरा स्वागत किया। वहाँ मुझे श्री जुन्जी सकाकिबारा मिले। सकाकिबारा जापानके सिन्सू सम्प्रदायके तरुण पुरोहित थे। वह यहाँ पढ़नेकेलिए आए हुए थे। मैंने स्नान भोजनके बाद विश्राम किया। ७ बजे शामको ५० बुद्धभक्तोंकी सभा हुई। डाक्टर ब्रूनोने भाषण दिया, और मैंने भी। वहाँ एक लाहौरके मौलवी साहेब भी आए थे, जो इसलाम-धर्मका प्रचार कर रहे थे।

जहाँ पीले कपड़ेको देखकर ख्वाहमख्वाह सैकड़ों आँखें चकित हो देखने लगें, जहाँ की भाषा भी न मालूम हो और फिर बर्लिन जैसा शहर जहाँ जानेमें रास्तेमें कई स्टेशन बदलने हों, वहाँ अकेले यात्रा करनेमें दिक्कत जरूर मालूम होती है। १४के मध्याह्न-भोजनके बाद मैं फ्रोनों स्टेशनसे सवार होकर बर्लिन गया। यूनीवर्सिटीके तरुण छात्र औस्टेर स्टेशनपर ही मिल गए। उनके साथ दूसरी गाड़ी बदल शरलोटन्बेर्ग स्टेशनपर पहुँचे। मैं आज बर्लिन वस्तुतः आया था सोवियत जानेकेलिए कोई प्रबन्ध करने। सरोजनी नायडूके पुत्र बाबा नायडू, भगिनी पति नम्बियर और दूसरे कितने ही भारतीय कम्यूनिस्ट बर्लिनमें रहते हैं, यह मैंने सुना था। नम्बियर प्रमुख थे। मैं उनके पास मिलनेकेलिए गया। लेकिन वह घरपर नहीं थे। टेलीफूनसे बात करनेपर उन्होंने एक रेस्तोरॉमें आकर मिलनेका वक्त दिया। मैं वहाँ चला गया। पचीसों आदमी वहाँ भोजन कर रहे थे, यद्यपि मैं कोनेमें जाकर बैठा, लेकिन मेरे कपड़ोंपर सभीकी नज़रें केन्द्रित थीं। जान पड़ता था शरीरमें उतनी सूइयाँ चुभोई जा रही

हैं। ढाई घंटा बाद नम्बियरने खबर भेजी, कि आज मुझे मिलनेकी छुट्टी नहीं। यह मैं मानता था, कि भारतीय कम्यूनिस्टोंके पीछे विदेशमें भी ब्रिटिश सरकार हाथ धोकर पड़ी रहती है, उनके घर बराबर पीछा करते रहते हैं। उनको यह सन्देह होना आवश्यक था, कि यह आदमी शायद अंग्रेजोंका आदमी हो ऐसा ख्याल आना बिलकुल ठीक था, लेकिन दूसरी ओर भी ख्याल करना होगा—हो सकता है मिलनेवाला आदमी ईमानदार हो, हमारे ही विचारोंवाला हो, हमारे ही तरह उसे भी गुप्तचरों (अँगरेजी) से बचकर रहना हो। फिर उसको मिलनेकेलिए हमने समय दिया है यह भजनबीकी तरह, चिड़ियाघरके जानवरकी तरह लोगोंकी भीड़में बैठा रहा। ढाई-ढाई घंटे इन्तज़ार करता रहा, ऐसे आदमीसे दो मिनट बोले बिना खबर भेज देना कि मुझे आनेकी छुट्टी नहीं है, क्या इसे भद्रोचित कहा जा सकता है? मैं किसी नम्बियरकी परवाह नहीं करता, लेकिन सोवियत भूमि देखनेकेलिए बेक़रार था। किसीने बतलाया कि नम्बियरकी मददसे वहाँ जानेका इन्तज़ाम हो सकता है। अगार धोमके साथ मैं उस भोजनशालासे बाहर निकला। जहाँ-तहाँ पता लगाकर लखनऊ निवासी अपने मित्र रामचन्द्रसिंहसे मिला। रामचन्द्रसिंह लखनऊ यूनीवर्सिटीके एक बहुत ही होनहार विद्यार्थी थे। एम० एस-सी० करके वह बर्लिन विश्वविद्यालयमें आइनुस्टाइनके नीचे अनुसन्धान कर रहे थे। उनका जीवन भी बड़ा ही शोक-पूर्ण जीवन है। डी० एस-सी०की समाप्तिकेलिए कुछ ही महीने रह गये थे। हिटलरने जर्मनीका शासन हाथमें ले यहूदियोंपर जुल्मके पहाड़ ढाने शुरू किये। आइनुस्टाइनको जर्मनी छोड़कर भाग जाना पड़ा। रामचन्द्रका अनुसन्धान भी खटाईमें पड़ा रह गया। साइंसका रास्ता छोड़कर उन्होंने अब कभी किसी कम्पनीकी एजेंसी ली, कभी वकालत शुरू करनी चाही, कभी कोई जीविकाका दूसरा रास्ता अपनाया। रामचन्द्र जर्मन फासिस्टवादके शिकार हुए, उसके साथ ही आजकी हमारी सामाजिक व्यवस्थाके भी। यदि अपने विषयमें लगा रहता, तो साइंसज्ञानकी वृद्धिमें देशकी समृद्धिमें जो भारी सहायक होता, उस मस्तिष्कने एक ओर अपनी सारी महत्त्वाकांक्षाओंको धूलमें मिलते देखा, दूसरी ओर उसे नून-तेल-लकड़ीकेलिए उन कामोंको करना पड़ा, जिनकेलिए उसने अपनेको कभी तैयार नहीं किया था। फिर यदि वीणाके तार उतर जाएँ, तो आश्चर्य क्या है। वस्तुतः ऐसी प्रतिभाओंको व्यर्थ करनेका जो प्रयत्न वर्तमान सामाजिक व्यवस्था करती है, उसे देखकर दिल खौल उठता है, और चाहता है कि इस समाजकी ईंटसे ईंट बजा दें। रामचन्द्र ऐसे मेधावी छात्र विश्ववंद्य गुरुके चले जानेके कारण एक ओर तरद्दुदमें

पड़ते हैं, खर्च-वर्चकी अलग दिक़्क़त होती है और वह अपने कामको पूरा नहीं कर पाते। दूसरी ओर गधोंके लड़के गधे सिर्फ़ सोने, चाँदीके बलपर आक्सफ़ोर्ड-केम्ब्रिजमें पानीकी तरह रुपये बहाते अपना समय और दूसरोंका समय बरबाद करते हैं।

रामचन्द्रकी बीबी कमला भी दो बरससे बर्लिनमें ही थी। उनका नैहर पटना है। उन्होंने सिर्फ़ हिन्दी पढ़ी थी। रामचन्द्रने पत्नीको वहीं बुला लिया, और अब तो वह जर्मन भाषा खूब बोलती पढ़ती हैं, अँगरेजी भाषा बेचारी नहीं जानतीं। दोनों पति-पत्नी बड़े प्रेमसे रहते और कमसे कम खर्चपर गुजारा करते थे। रामचन्द्रजीने बतलाया कि १५० मार्कमें लेनिनग्राडकी यात्रा हो सकती है—जाना-आना दोनों। मेरे पास २५० मार्कके क़रीब थे, इसलिए जहाँतक पैसेका सवाल था, मैं निश्चिन्त था। उन्होंने कहा कि मैं यात्राके बारेमें पूछ-पाँछकर जो इन्तजाम हो सकेगा, करूँगा। रामचन्द्र स्वयं सोवियत नहीं गये थे, क्योंकि सोवियत चले जानेपर पीछे भारत आनेमें सरकार रुकावट डालती। लेकिन कमला वहाँ हो आई थीं। रामचन्द्रजीने भी सोवियतके बारेमें बहुत पढ़ा और सुना था, और उसके बड़े पक्षपाती थे। मैंने अपनी किताब "बाईसवीं सदी" उन्हें दी। उस वक़्त रूसमें प्रथम पंच-वार्षिक योजना बड़ी सफलताके साथ समाप्तिपर पहुँच रही थी। उन्होंने पुस्तक पढ़कर कहा—कैसे आपने इन बातोंकी कल्पना की, जिनपर सोवियतकी योजना आज अमल कर रही है। मेरेलिए यह कल्पना कोई मुश्किल नहीं थी। यद्यपि मैंने अपनी पुस्तकको १९२३-२४में समाप्त किया था, किन्तु समयकी कमी थी, नहीं तो बाईसवीं सदीको १९१८ या १९२२में समाप्त कर चुका होता। आखिर जब आप इन सिद्धान्तोंको मान लेते हैं कि सारे देशका एक परिवार हो, देशकी सारी सम्पत्तिपर उस विशाल परिवारका अधिकार हो, साइंसके नयेसे नये अनुसन्धानोंको जल्दीसे जल्दी अपनानेकेलिए वह परिवार बेक़रार है, तो चाहे आदमीने मार्क्स और मार्क्स-वादियोंको न भी पढ़ा हो, वह वैसे ही, गाँवों, नगरों, खेती-बारी, बाग़-बग़ीचों, विद्याशाला, रंगशाला इत्यादिकी कल्पना करेगा।

रातको फ़ोनों लौटते वक़्त ट्रेनको कई जगह बदलना था, रामचन्द्रजीने अन्तिम परिवर्तन-स्टेशनतक मुझे पहुँचा दिया, और मैं आधीरातको बुद्धभवनमें लौट आया। उस वक़्त नम्बियरके बर्तावसे एक ओर चित्त खिन्न था, और दूसरी ओर रामचन्द्रके सौहार्दसे हृदय स्नेह-सिक्त।

१६ दिसम्बरको मैं और सकाकिबारा दोनों साथ बर्लिन गये। रामचन्द्रजीने

बतलाया कि २८ जनवरीसे पहिले लेनिनग्राड जानेका इन्तजाम नहीं हो सकता, और यह भी बतलाया कि मैं एक हफ्ते पहिले आया होता तो आसानीसे जा सकता था।

लन्दनमें एक सिंहल तरुणने मुझे एक जर्मन कम्यूनिस्टका पता दे दिया था। मैंने उन्हें एक पोस्टकार्डपर लिख दिया, और दूसरे-तीसरे दिन देखा, कि एक हट्टा-कट्टा आदमी नंगे सर साधारण मजदूरों जैसा चमड़ेका कोट पहने दोनों हाथोंमें पन्द्रह-पन्द्रह सेरके बेग लटकाये हमारे सामने खड़ा है। उसने अपना परिचय दिया। उनकी शकल-सूरत देख हम मजदूर छोड़ और कुछ नहीं कह सकते थे। लेकिन वह पी-एच० डी० (दर्शन-आचार्य) थे, और बोलचाल बर्तावमें तो और भी मधुर थे। हम देरतक बातें करते रहे। सोवियत-यात्राके बारेमें इस वक्त कोई प्रबन्ध न कर सकनेकेलिए उन्हें बहुत खेद था। कुछ दिनों बाद (२२ दिसम्बर)को मैं रामचन्द्रजीके साथ जीमान कम्पनीके विशाल कारखानेको देखकर भुटपुटा होते समय सड़कसे जा रहा था, उस वक्त किसीने पीछेसे आवाज दी। मैंने देखा वही चर्मकंचुकधारिणी विशालमूर्ति मेरे पास आ रही है। उन्होंने हाथ मिलाया। मैं सोचने लगा, यह भी कम्यूनिस्ट है, और नमूवियर जैसे भी हैं। हाँ, एक बात कहना भूल गया, कि कमलाने जब मेरे बारेमें उन्हें कुछ बतलाया, तो मिलनेकेलिए आग्रह होने लगा, किन्तु मैं फिर वहाँ नहीं गया।

ज्यादातर मैं बुद्धभवनमें रहता। कभी सफाकियारासे बात होती, और कभी बर्याससे। बुद्धभवनको बर्माके उत्तम भिक्षु खरीद लेना चाहते थे। डालके परिवार भी उसे बेचनेकेलिए तैयार था। शायद यूरोपीय ढंगके मकान होते, तो दूसरे खरीदनेवाले भी आसानीसे मिल जाते। लेकिन यहाँ कोई मकान चीनी ढंगका था, तो कोई बर्मी ढंगका, कोई भारतीय ढंगका तो कोई लंका जैसा। भिक्षु उत्तम स्वयं जर्मनी इस कामकेलिए आना चाहते थे, लेकिन सरकार उन्हें आनेकेलिए पासपोर्ट नहीं देती थी। डालके आजकल करते-करते मकानका ट्रस्ट नहीं बना सके। भिक्षु उत्तम आजकल करते उसे खरीद नहीं सके।

जर्मनीके शिक्षित मध्यम-वर्गमें बुद्धके प्रति अनुराग रखनेवाले आदमियोंकी बहुत भारी तादाद थी। संस्कृत और पाली भाषाओंके बड़े-बड़े विद्वान जर्मनीमें पैदा हुए। उन्होंने हजारों ग्रंथोंका सम्पादन और अनुवाद किया। उन्हें मालूम हुआ कि एक ऐसा भी व्यक्ति संसारमें पैदा हुआ था, जिसके जीवनमें ईसासे भी ज्यादा स्नेह, माधुर्य और सादगी थी, जिसकी प्रतिभा कितनी ही बातोंमें ढाई हजार वर्ष

याद आज भी बिल्कुल ताजी है। ऐसे व्यक्तिके प्रति निम्न मध्यम-वर्गके शिक्षितोंका आकृष्ट होना स्वाभाविक है। यदि वे अधिक धनी होते, तो उन्हें ऐसे धर्मको जरूरत होती, जिसके द्वारा साधारण जनताकी आँखोंमें ज्यादा धूल झोंकी जा सकती, और ऐसा धर्म वही हो सकता है, जिसको सैकड़ों वर्षोंसे अपनाकर जनता हजारों परम्पराओं और मिथ्याविश्वासोंका ताना-बाना अपने गिर्द घेर चुकी है। यदि वे सम्पत्तिहीन मजूर-वर्गके होते, तो ध्यान और निर्वाणके शराबके नशेमें गर्क होनेकी जगह कोई बेहतर काम अपने हाथमें लेते, जिससे संसारमें लोगोंका जीवन अधिक सुखपूर्ण हो सकता।

डाक्टर डालकेकी तरह और भी कितने ही जर्मन शिक्षित थे, जो बुद्धकी ओर आकृष्ट हुए थे। सीलोनमें दोडन्दुवके दीपको जर्मन भिक्षुओंने एक विहारके रूपमें परिणत कर दिया था और वहाँके स्थविर ज्ञानातिलोकने अपनी मातृभाषा जर्मनमें कई कई अच्छे-अच्छे ग्रन्थ बौद्धधर्मपर लिखे थे। डालकेकी कलम तो और भी जोरदार थी और उन्होंने आधे दर्जनसे अधिक बहुत ही अच्छे ग्रन्थ लिखे थे। जर्मनीके शहरोंमें सभी जगह बुद्धके भक्त मिलते थे। उनमें प्रोफ़ेसर और डाक्टर भी काफ़ी थे। डाक्टर स्टाइनके थे तो अर्थशास्त्रके प्रोफ़ेसर, लेकिन उन्होंने बौद्धधर्मका अच्छा अध्ययन किया था और अपनी वाणी-द्वारा उसका खूब प्रचार भी किया था। दो-तीन बार मुझसे उनकी बात हुई थी। डाक्टर डालकेने जर्मनीके उत्तरवाले समुद्रतटपर भी एक छोटासा बुद्धभवन स्थापित किया था। अब जाड़ेका मध्य आ गया था। सर्दी खूब पड़ रही थी, लेकिन हमारे पास फलालैनका चीवर था, इसलिए सर्दीकी कोई चिन्ता नहीं थी।

रामचन्द्रजीने जीमानके कारखानेको देखनेका इंतजाम किया था। दुनियामें बिजली-सम्बन्धी यन्त्रोंके बनानेका यह सबसे बड़ा कारखाना था। २२ दिसम्बरको रामचन्द्रजी मुझको लेकर वहाँ गये। कारखाना क्या, एक पूरा शहर था। दो साल पहिले यहाँ एक लाख बीस हजार काम करनेवाले थे। विश्वव्यापी मन्दीके कारण ४० हज़ार लोगोंको जवाब दे देना पड़ा। कारखानेके मैनेजरने हमें अपनी मोटर और एक पथप्रदर्शक दे दिया। हम घूम-घूमकर कारखानेके भिन्न-भिन्न विभागों और मजदूरोंके घरोंको देखते रहे। शामको रामचन्द्रजीके घरपर ठहरे। उनके घरकी मालकिन एक जर्मन जरनैलकी लड़की थीं। पच्छिमी देशोंमें लड़कियोंका ब्याह इतना आसान नहीं, इसलिए वृद्धा, प्रौढ़ा कुमारियाँ बहुत देखी जाती हैं। कुछ साल पहिले जब जर्मन सिक्का मार्क मिट्टीके मोलका हो गया, उस वक़्त बापके जमा

बतलाया कि २८ जनवरीसे पहिले लेनिनग्राड जानेका इन्तजाम नहीं हो सकता, और यह भी बतलाया कि मैं एक हफ्ते पहिले आया होता तो आसानीसे जा सकता था।

लन्दनमें एक सिंहल तरुणने मुझे एक जर्मन कम्यूनिस्टका पता दे दिया था। मैंने उन्हें एक पोस्टकार्डपर लिख दिया, और दूसरे-तीसरे दिन देखा, कि एक हट्टा-कट्टा आदमी नंगे सर साधारण मजदूरों जैसा चमड़ेका कोट पहने दोनों हाथोंमें पन्द्रह-पन्द्रह सेरके बेग लटकाये हमारे सामने खड़ा है। उसने अपना परिचय दिया। उनकी शकल-सूरत देख हम मजदूर छोड़ और कुछ नहीं कह सकते थे। लेकिन वह पी-एच० डी० (दर्शन-आचार्य) थे, और बोलचाल बर्तावमें तो और भी मधुर थे। हम देरतक बातें करते रहे। सोवियत-यात्राके बारेमें इस वक्त कोई प्रबन्ध न कर सकनेकेलिए उन्हें बहुत खेद था। कुछ दिनों बाद (२२ दिसम्बर)को मैं रामचन्द्रजीके साथ जीमान कम्पनीके विशाल कारखानेको देखकर झुटपुटा होते समय सड़कसे जा रहा था, उस वक्त किसीने पीछेसे आवाज दी। मैंने देखा वही चर्मकंचुकधारिणी विशालमूर्त्ति मेरे पास आ रही है। उन्होंने हाथ मिलाया। मैं सोचने लगा, यह भी कम्यूनिस्ट हैं, और नम्बियर जैसे भी हैं। हाँ, एक बात कहना भूल गया, कि कमलाने जब मेरे बारेमें उन्हें कुछ बतलाया, तो मिलनेकेलिए आग्रह होने लगा, किन्तु मैं फिर वहाँ नहीं गया।

ज्यादातर मैं बुद्धभवनमें रहता। कभी सकाकियारासे बात होती, और कभी वर्गोंसे। बुद्धभवनको क्योंकि उत्तम भिक्षु खरीद लेना चाहते थे। डालके परिवार भी उसे बेचनेकेलिए तैयार था। शायद यूरोपीय ढंगके मकान होते, तो दूसरे खरीदनेवाले भी आसानीसे मिल जाते। लेकिन वहाँ कोई मकान चीनी ढंगका था, तो कोई बर्मी ढंगका, कोई भारतीय ढंगका तो कोई लंका जैसा। भिक्षु उत्तम स्वयं जर्मनी इस कामकेलिए आना चाहते थे, लेकिन सरकार उन्हें आनेकेलिए पासपोर्ट नहीं देती थी। डालके आजकल करते-करते मकानका ट्रस्ट नहीं बना सके। भिक्षु उत्तम आजकल करते उसे खरीद नहीं सके।

जर्मनीके शिक्षित मध्यम-वर्गमें बुद्धके प्रति अनुराग रखनेवाले आदमियोंकी बहुत काफी तादाद थी। संस्कृत और पाली भाषाओंके बड़े-बड़े विद्वान जर्मनीमें पैदा हुए। उन्होंने हजारों ग्रंथोंका सम्पादन और अनुवाद किया। उन्हें मालूम हुआ कि एक ऐसा भी व्यक्ति संसारमें पैदा हुआ था, जिसके जीवनमें ईसासे भी ज्यादा स्नेह, माधुर्य और सादगी थी, जिसकी प्रतिभा कितनी ही बातोंमें ढाई हजार वर्ष

ाद आज भी बिल्कुल ताजी है। ऐसे व्यक्तिके प्रति निम्न मध्यम-वर्गके शिक्षितों-
ा आकृष्ट होना स्वाभाविक है। यदि वे अधिक धनी होते, तो उन्हें ऐसे धर्मकी
ज़रूरत होती, जिसके द्वारा साधारण जनताकी आँखोंमें ज्यादा धूल झोंकी जा सकती,
ौर ऐसा धर्म वही हो सकता है, जिसको सैकड़ों वर्षोंमें अपनाकर जनता हजारों
रम्पराओं और मिथ्याविश्वासोंका ताना-बाना अपने गिर्द घेर चुकी है। यदि वे
म्पत्तिहीन मजूर-वर्गके होते, तो ध्यान और निर्वाणके सरावके नशेमें गर्क होनेकी
गह कोई बेहतर काम अपने हाथमें लेते, जिससे संसारमें लोगोंका जीवन अधिक
ुखपूर्ण हो सकता।

डाक्टर डालकेकी तरह और भी कितने ही जर्मन शिक्षित थे, जो बुद्धकी ओर
ग्राकृष्ट हुए थे। सीलोनमें दोडन्दुवके दीपको जर्मन भिक्षुओंने एक विहारके रूपमें
रिणत कर दिया था और वहाँके स्थविर ज्ञानातिलोकने अपनी मातृभाषा जर्मनमें
कई कई अच्छे-अच्छे ग्रन्थ बौद्धधर्मपर लिखे थे। डालकेकी क़लम तो और भी ज़ोर-
दार थी और उन्होंने आधे दर्जनसे अधिक बहुत ही अच्छे ग्रन्थ लिखे थे। जर्मनीके
शहरोंमें सभी जगह बुद्धके भक्त मिलते थे। उनमें प्रोफ़ेसर और डाक्टर भी काफी
थे। डाक्टर स्टाइन्के थे तो अर्थशास्त्रके प्रोफेसर, लेकिन उन्होंने बौद्धधर्मका अच्छा
अध्ययन किया था और अपनी वाणी-द्वारा उसका खूब प्रचार भी किया था। दो-तीन
बार मुझसे उनकी बात हुई थी। डाक्टर डालकेने जर्मनीके उत्तरवाले समुद्रतटपर
भी एक छोटासा बुद्धभवन स्थापित किया था। अब जाड़ेका मध्य आ गया था।
सर्दी खूब पड़ रही थी, लेकिन हमारे पास फलालैनका चीवर था, इसलिए सर्दीकी
कोई चिन्ता नहीं थी।

रामचन्द्रजीने जीमानके कारखानेको देखनेका इंतजाम किया था। दुनियामें
बिजली-सम्बन्धी यन्त्रोंके बनानेका यह सबसे बड़ा कारखाना था। २२ दिसम्बरको
रामचन्द्रजी मुझको लेकर वहाँ गये। कारखाना क्या, एक पूरा शहर था। दो साल
पहिले यहाँ एक लाख बीस हजार काम करनेवाले थे। विश्वव्यापी मन्दीके कारण
४० हज़ार लोगोंको जवाब दे देना पड़ा। कारखानेके मैनेजरने हमें अपनी मोटर
और एक पथप्रदर्शक दे दिया। हम घूम-घूमकर कारखानेके भिन्न-भिन्न विभागों
और मजदूरोंके घरोंको देखते रहे। शामको रामचन्द्रजीके घरपर ठहरे। उनके
घरकी मालकिन एक जर्मन जरनैलकी लड़की थीं। पच्छिमी देशोंमें लड़कियोंका
ब्याह इतना आसान नहीं, इसलिए वृद्धा, प्रौढ़ा कुमारियाँ बहुत देखी जाती हैं। कुछ
साल पहिले जब जर्मन सिक्का मार्क मिट्टीके मोलका हो गया, उस वक्त बापके जमा

किये हुए पैसे बैंकमें रखे-रखे हवा हो गये। और महाधनी जरमैनकी सड़कीके जीविकाका कोई अवलम्ब नहीं रह गया। उसने ४, ५ कमरे मकानवालेसे किरायेपर लिया और अब उन कमरोंको किरायेपर दे तथा किरायादारोंके खानपानका इन्तजाम करके वह अपनी जीविका चला रही थी। तीन दिन बाद बड़ा दिन, ईसाइयों का सबसे बड़ा पर्व, आ रहा था, इसकेलिए घर-घरमें तैयारी हो रही थी। गृहपत्नीने जिस कमरेमें मेरे सोनेका इन्तजाम किया था, उसमें ईसाके जन्मकी झाँकी दिखलानेकेलिए भेड़ें और माँ-बाप मरियम तथा जोजफ़ (युसुफ़)की छोटी-छोटी मूर्त्तियाँ बनाकर रखी हुई थी।

दूसरे दिन (२३ दिसम्बर) हम बर्लिनके विश्वविद्यालय और बहुतसे संग्रहालयों (म्यूज़ियम)को देखने गये। जर्मनीमें विद्याका बहुत प्रेम है। भारतकी दूसरी शाखाओंमें जर्मनोंकी देन बहुत ज्यादा है, पूर्वी भाषाओं और संस्कृतिके अध्ययनमें यह सदा आगे रहे हैं। उनके संग्रहालयोंमें चीजोंको बहुत अच्छी तरह सजाया गया है। लन्दन और पेरिसकी तरह उनको सूचीपत्रकी भाँति पाँतीमें रख नहीं दिया गया है, बल्कि जिस तरह दर्शकोंको उनके बारेमें ज्यादासे ज्यादा ज्ञान हो सकता है, उस क्रमसे उन्हें रखा गया है। मध्य-एसियाके भित्तिचित्रोंको, उनके वातावरणको दिखलानेकेलिए मन्दिर खड़ा करके दीवारोंमें लगा दिया गया है।

टामस कुकने चित्रपटोंका जिम्मा लेना स्वीकार कर लिया, इसलिए मैं उनकी तरफ़से निश्चिन्त था।

जर्मनीमें आठ सालकी पढ़ाई अनिवार्य है, फिर ५ साल हाईस्कूलमें पढ़ना अपनी इच्छा और शक्तिपर निर्भर है। १३ बरस बाद हाईस्कूलकी परीक्षा खतम करके विद्यार्थी विश्वविद्यालयमें जाता है, और वहाँ तीन सालमें पी-एच० डी०की उपाधि प्राप्त करता है।

आज (२४ दिसम्बर) बड़े दिनकी पहिलेवाली रात्रि है। हमारे यहाँ भी टामके परिवारने देवदारुकी शाखा गाड़ी थी, उसपर बहुतसे चिराग जल रहे थे। लोग इष्ट-मित्र और बच्चोंको भेंट दे रहे थे। ईसाईधर्म स्वीकार करनेसे पहिले भी जर्मनीमें ऐसा उत्सव मनाया जाता था, जो सूर्यके उत्तरायणके आरम्भके उपलक्षमें होता था।

२४को ही लन्दनसे तार आ गया, कि मारसेईमें "फेर्नोसलन" मेल जहाजसे यात्रा करनेका प्रबन्ध किया गया।

२५ दिसम्बर....आज बड़ा दिन था। ७ बजे मैंने कोनों छोड़ा। ६२

मार्क (१ रुपया बराबर १ मार्क) में बर्लिनसे मारसेई नगरका टिकट मिला। रास्तेमें पहाड़ोंके ऊपर और नीचे भी अब बरफ़ दिखलाई पड़ती थी। ५ बजे शामको मैं फ्रांकफुर्त पहुँचा। इन्द्रबहादुरके मकानपर जानेपर मालूम हुआ कि वह छुट्टियोंमें बाहर चले गये हैं। डा० लाल भी घरपर नहीं थे। भाषाकी मुश्किल भी सिरपर थी। बहुत इधर-उधर चक्कर काटा, अन्तमें ३ दिनकेलिए १२ मार्क (१२ रुपया) देकर एक कमरा किरायेपर मिला। दूसरे दिन (२६ दिसम्बर) इन्द्रबहादुर आ गये। फ्रांकफुर्तमें अब कोई नई चीज़ तो देखनी थी नहीं, लेकिन तो भी शहरमें घूमते रहे। हिटलरके नाजियोंका जोर पहिलेसे कुछ कम हो रहा है, यही सब बतलाते थे। बर्लिनमें मैंने स्टेशनोंके बाहर नाजियोंको मुसाफ़िरोंसे चन्दा माँगते देखा। जान पड़ रहा था, यदि जल्दी ही कुछ और नहीं हुआ तो जैसे सोशलिस्टोंसे लोग उदास होने लगे, वही हालत नाजियोंकी भी होगी, लेकिन इस बातको अब जर्मनीके जागीरदारोंको समझाना था। पूँजीपतियोंने तो अपनी थैली खोल दी थी क्योंकि कम्यूनिस्टोंके प्रभावको बढ़ते हुए देखकर वह बहुत भयभीत थे। जर्मन जागीरदार जर्मनसेनाके सर्वेसर्वा रहे है, आज भी उन्ही जागीरदारोंका आदमी हिन्डनबर्ग जर्मन प्रजातन्त्रका राष्ट्रपति था। अभी जागीरदारोंकी नज़र राजवंशपर थी। यद्यपि राजवंशको जागीरें अब भी सुरक्षित थीं, लेकिन उसके राजप्रासाद अब सरकारके हाथोंमें थे। भूतपूर्व कैसर हालेण्डमें दिन काट रहा था। जर्मनी छोड़नेके महीनेभर बाद ही हिन्डनबर्गने अपने वर्गके भविष्यपर अच्छी तरह विचार करके हिटलरको शासनकी बागडोर थमाई, और वह दुनियाको पिछले महायुद्धमे भी भयंकर खूनीजगमें ढकेलनेकेलिए तैयारी करने लगा।

२८ दिसम्बरको ५ बजकर ५४ मिनटपर मैंने रेल पकड़ी। इन्द्रबहादुरजीसे विदाई ली। ६ बजे एक जगह गाड़ी बदली, किन्तु मेरा डब्बा सीधे ही मारसेई जानेवाला था। दूसरे दिन (२९ दिसम्बर) मारसेई पहुँचा। मोटर लेकर ब्रिस्टल-होटलमें गया। ४३ फ्राक (६ रुपया) दिनपर रहनेकेलिए कोठरी मिली। जहाजकी कम्पनी मेसाजिरी मारीतीमके आफिसमें गये। वहाँ लन्दनसे मेरेलिये सीट सुरक्षित करनेकी सूचना नहीं आई थी। टामसकूकके यहाँ जानेपर लन्दनका तार मिला, जिसमें लिखा था कि जहाजके टिकिटको रजिस्ट्री चिट्ठीमें कल भेज दिया गया। दूसरे ही दिन फेरीस्मल"मारसेईसे छूटनेवाला था। अगर टिकिट नहीं पहुँचता तो न जाने फिर कितने दिनो इन्तजार करना पड़ता।

यूरपसे प्रस्थान—दूसरे दिन (३० दि०) टामसकूकके पास गया। टिकिट

याया हुआ था। दिन-रात रहनेका मकान और खाना मिलाकर १६ रु०में ऊपर खर्च हुआ। यूरपमें चीजें हैं ही सब मँहगी। सामान उठवाकर जहाजपर पहुँचा केबिन अच्छा था, उसमें ४ बर्थ (शैय्या) थी, लेकिन आदमी दो ही थे। दूसरा महयात्री मिस्टर यूथन् चीनके युन्नानप्रान्तके निवासी थे, और अमेरिकासे अध्ययन करके लौट रहे थे। हमारा जहाज ४ बजे शामको रवाना हुआ। इस जहाजमें कोई दूसरा हिन्दुस्तानी नहीं था, यूथन् महाशय अँगरेजी बोलते थे। लेकिन वह बोलते बहुत कम थे। समयकी पढ़नेके लिए पुस्तकें भी कोई नहीं थी। दूसरे दिन (३१ दिसम्बर) १९३२का अन्तिम दिन था। मैंने मारसीया और सारडीनियोंको अपने सामनेसे हटते देखा। आगसे समुद्र ज्यादा तरंगित हो चला लेकिन मैं अब अभ्यस्त हो गया था। इसी समय मैंने निश्चय किया कि साधारण हिन्दी भाषा-भाषियोंकेलिए साम्यवादपर कोई पुस्तक लिखनी चाहिए, जिसकी पूर्ति मैं दो साल बाद कर सका।

नये वर्ष (१९३३)का पहिला दिन था। आज लोग बहुत उत्सव मना रहे थे, आधीरातके बाद तक नाच-गान होता रहा। पोलैण्डके लोग ज्यादा जिन्दादिल मालूम होते थे। समुद्र भी जोर लगा रहा था। यूथन् महाशयकी तबियत बहुत परेशान थी। दूसरे और तीसरे दिन भी समुद्र बहुत चचल रहा। यूथन महाशय-को बात करनेकी कहाँ हिम्मत थी? हमारे जहाजमें पोलैण्डके ३० स्त्री-पुरुष पोर्ट-सईद तक जा रहे थे, वह यहूदी तीर्थोंकी यात्रा कर रहे थे। उनमेंसे कुछसे मैंने परिचय किया लेकिन बोलीकी बड़ी दिक्कत थी।

चार जनवरीको ७ बजे सबेरे ही हम पोर्टसईद पहुँचे। यहाँ कोई देखनेकी चीज नहीं थी, इसलिए मैं जहाज हीपर पड़ा रहा। जहाजमें एक ईसाई प्रचारक बाइबिल बेच रहे थे। उनके पास १४ भाषाओंकी बाइबिलें थीं। मैंने ५० फ्रांक (७ रुपये) देकर सबकी एक-एक प्रति खरीदी। लिथुआनियन भाषाकी बाइबिल उनके पास नहीं थी। मैंने उनको दाम दे दिया और पीछे उन्होंने मेरे पास पुस्तक भेज भी दी।

दोपहर बाद एक बजे जहाज स्वेज नहरमें दाखिल हुआ। ५ जनवरीको अब सर्दी कम मालूम हो रही थी, हम लालसागरमें चल रहे थे। शाम तक एसिया और अफरीका दोनोंके पर्वत हमें अगल-बगलमें दिखाई पड़ते थे। ज्यादा यात्री पोर्टसईदमें उतर गए थे, अब जहाजमें बहुत कम यात्री रह गए थे। तीसरे दर्जेमें उनकी सख्या दो दर्जनसे ज्यादा नहीं थी। खाली समयको मैं किसी काममें लगाना चाहता था। यहीं लालसागरमें ५ तारीखको "डीहबाबा" कहानी लिख डाली।

बातचीत करनेकेलिए एक अगामी दम्पती आ गये थे, जो ५ सालसे फ्रांसमें कानून पड़ रहे थे। जैसे-जैसे हम पूरब बढ़ रहे थे, वैसे-वैसे घड़ीकी सुइयोंको बढ़ाते रहना पड़ रहा था। अब गर्मी मालूम होती थी। जहाँ मारसेईसे पोर्टसईद तक हमारे केबिनको गरम रखनेका इन्तजाम किया गया था, वहाँ अब हवा फेंकनेवाली कुप्पी चल रही थी। ८ जनवरीको बेतारकी खबरने बतलाया कि राजेन्द्र बाबू गिरिफ्तार हो गये। उस दिन शामको मुझे बुखार आ गया। मैंने निर्जला भूख हड़ताल कर दी, और चौथे दिन ११ तारीखको ७२ घंटे बाद नमकके साथ जल पिया। जिबूतीको उतरकर देखना था, जहाज ७ बजेसे १२ बजेतक (६ जनवरी) वहाँ खड़ा रहा। लेकिन ज्वरके कारण मैं किनारेपर नहीं जा सकता था। ६ तारीख ही से हमारा जहाज हिन्द महासागरमें चल रहा था। समुद्र एक दो दिन चचल रहा, फिर ठीक हो गया।

चीनी तरुण बड़े विचित्र स्वभावका मालूम होता था। पोर्टसईदमें उसने बहुत सी गन्दी-गन्दी चीजें खरीदी थीं, और मेरे बीमार होनेपर भी इतना हल्ला मचाता था कि केबिनमें रहना मुश्किल था। मैंने कभी कुछ नहीं कहा। १२ जनवरीको १०२ घंटेके उपवासके बाद मैंने नारंगीका रस लिया। जहाजका स्टीवर्ट बहुत अच्छा था, वह बराबर खानेकेलिए पूछा करता था। १३ तक २, ३ दिनकेलिए समुद्र और चंचल हो उठा था। यद्यपि अब बुखार नहीं था, और मैं खाना खाने लगा था, लेकिन मुँहका स्वाद फीका रहता था।

लंकामें—१६ जनवरीको ६ बजे सबेरे जहाज कोलम्बोमें पहुँचा। बन्दरपर मिस्टर एन० डी० यस० सिल्वा, माणिकलाल भाई तथा कुछ दूसरे सज्जन आए हुए थे। सिल्वा महाशयके घरपर जाकर स्नान-भोजन किया। उनके पुत्र विमल अपनी मोटरपर मुझे विद्यालंकार विहार ले जा रहे थे, रास्तेमें वह एक जगह मोटरको बाईं-तरफ हटाने लगे, तो मैं उनका हाथ रोकने जा रहा था। ब्रिटिश साम्राज्यसे बाहर सारी दुनियाँमें आदमीको अपने दाहिनेसे रास्ता जाना पड़ता है। मैं अभी फ्रांस, जर्मनीमें इसे देख आया था, इसीलिए मैं वैसा करने जा रहा था; मुझे ख्याल नहीं आया कि अब ब्रिटिशसाम्राज्यके भीतर आगया हूँ। इसी तरहकी एक गलती और की थी। ३० जनवरीको भारत जानेकेलिए मैं कोलम्बो स्टेशन गया, वहाँ जाके बड़े इतमीनानसे दूसरे दर्जेके जनाने मुसाफिरखानेकी कुर्सीपर बैठा। किसीने आकर बड़ी नम्रतासे कहा कि यह स्त्रियोंका स्थान है, तब मुझे ख्याल आया कि अब योरपमें नहीं हूँ।

कई महीने बाद चारों ओर हरियालीसे ढँकी भूमिको देखा। विद्यालंकारके लोग बड़े प्रेमसे मिले। देर तक उनसे यात्राके बारेमें बात होती रही। नायक महास्थविर इस समय अनागारिक धर्मपालको भिक्षु बनानेकेलिए लंकाके और भिक्षुओंके साथ भारत गये थे। तबियत अभी भी अच्छी नहीं थी। पेटमें गड़बड़ी थी। ठंडी जगहसे गरम जगह आनेसे अक्सर ऐसा होता है।

१८ जनवरीको अब भी नालन्दाका ख्याल मेरे सिरसे हटा नहीं था। मैंने उस दिन अपनी डायरीमें लिखा था— 'अबकी जाकर नालन्दामें कुछ भूमि लेनेका प्रबन्ध करना है। यदि उसी जगह न हो सका तो मोहनपुरमें थोड़ीसी ले लेंगे और वहीं झोंपड़ी बनेगी।..किन्तु (अभी) तो पैसेका भी कोई इन्तिजाम नहीं हुआ। २,३ हजार रुपयोंकी जरूरत होगी। जिस वक्त मठके भरण-पोषणके तरद्दुदोंका ख्याल आता है, उस वक्त चित्त हिचकिचाने लगता है। स्वतन्त्रता जाती रहेगी। धनिकोंके आगे हाथ पसारना होगा।"

इस तरहसे आगे चलकर नालन्दाका ख्याल मेरे दिलसे निकाल दिया। मैंने योरोप जाते वक्त अधीर बनर्जी और याङ्-मो-लम्को वहीं छोड़ा था। अधीर अपनी अंग्रेजी पढ़ाईमें लगे थे। याङ्-मो-लम्पर एकबार तपेदिकका आक्रमण हो चुका था और वह दुबारा सेनीटोरियममें गये थे, मुझे क्या पता था कि अब फिर अपने मित्रका दर्शन न कर सकूँगा। अब मैं अपने कार्यक्षेत्रको भारतमें परिवर्तित करनेवाला था, तिब्बतसे लाई पुस्तकों और चित्रपटोंको भारत भेजना था। खैर, उसकेलिए सिंधियाकम्पनीवाले तैयार थे, और फिर मेरी कितनी ही चीजें लन्दनसे आई नहीं थीं। नायक महास्थविर भी हिन्दुस्तानसे नहीं लौटे थे। इसलिए अभी कुछ दिनों रुकना था। "गंगा पुरातत्त्वांक" के संपादनकी भी जिम्मेवारी थी। ६० के करीब लेख मेरे पास देखनेकेलिए आ चुके थे। २३ जनवरीको गंगावालोंने मार्गव्ययकेलिए ५० रु० भेज भी दिए। ११बजे नायक महास्थविर भी आ गये।

२६ जनवरीको मैं श्रीरत्नके विहारमें गया था। दोनों वक्त (सवेरे और दोपहर) मछलीमें खूब मिर्च डाली गई थी, मिर्चखानेमें लंकावाले मदरासमे कम नहीं हैं। वहाँ बेजवाड़ाके एक जोतिषी ब्राह्मण मिले। सिंहलमें जितना ही अधिक अंग्रेजी पढ़ने-लिखनेका जोर है, उतना ही अधिक जोतिसका जोर है। आदमी जितना ही अधिक खर्च बढ़ाता है, आज-कलके समाजमें उसकी चिन्ता भी उतनी ही बढ़ती है, फिर वह जोतिसियों, हाथ देखनेवालों और मंत्र-तंत्र-विशारदोंके हाथकी कठपुतली बनता है। यह आन्ध्र ज्योतिषी रोज ३,४ रुपया कमा लेते थे, लेकिन उन्हें इतनेसे सन्तोष नहीं

था, वह चाहते थे कि छप्पर फाड़कर इकट्ठा ही लाख दो लाख गिरे; इसीलिए वह अपने रुपयोंको घुड़दौड़के जुएँमें लगाकर फाँकेमस्त रहते। वह बहस करने लगे, कि मांस-मछली खाना अधर्म नहीं। मैंने पूछा—"आप किस हैसियतसे कह रहे हैं।" उन्होंने कहा—"ब्राह्मणकी हैसियतसे।" मैंने कहा—विश्वामित्र, वशिष्ठ, भरद्वाज, गौतम (दीर्घतमा)का आप अपने शरीरमें एक बूँद भी खून मानते हैं या नहीं ?" उन्होंने 'हाँ' कहा। फिर मैंने पूछा—"फिर जाने दो भाई, गोत्रोच्चार मत करवाओ। हमारे ये बड़े-बड़े ऋषि खड़ी-खड़ी गाय खा जाते थे, डकारतक नहीं लेते थे, और तुम चले हो मांस-मछलीका वर्जन कराने! फिर तुम दक्षिणवाले ब्राह्मण वशिष्ठ, विश्वामित्रकी जन्मभूमिसे सैकड़ों योजन दूर चले आये हो, तुमको क्या पता है कि काशी, और मिथिलाके ब्राह्मण मांस-मछलीसे कितना प्रेम करते हैं।" विहारके भिक्षुको मेरे जवाबसे बड़ा सन्तोष हुआ, क्योंकि ज्योतिसीने उनकी नाकमें दम कर दिया था।

३० जनवरीको मुझे शामकी गाड़ीसे हिन्दुस्तान रवाना होना था। नायक महास्थविर दोपहरको ही किसी जगह धर्मोपदेश करनेकेलिए जा रहे थे। मैंने प्रणाम करके उनसे छुट्टी ली। मैंने डायरीमें लिखा—"विदा होते वक़्त (उनकी) आँखोंमें आँसू आ गये। उनका बड़ा प्रेम है, कौन जानता है, यही अन्तिम दर्शन हो।" सममुच ही श्री धर्मानन्द नायकमहास्थविरका हृदय बहुत ही कोमल था, और मेरे ऊपर तो उनका अपार स्नेह था।

भारतके जाड़ेमें (१९३३ ई०)

यद्यपि मैंने अपने लेख "गंगा"के पास भेज दिये थे, किन्तु प्राप्त लेखोंके निर्वाचन और सम्पादकीय टिप्पणियोंका काम दूर रहते नहीं हो सकता था, और गंगावालोंके पत्रपर पत्र आ रहे थे; इसलिए लंकामें अधिक रहनेकी छुट्टी न थी। साथ ही अब मुझे स्थायी तौरसे भारत जाना था, इसलिए तिब्बतसे लाई अपनी पुस्तकों और सामग्रीको भी भारत ले चलना था। मैंने चीजोंको पैक कराया, और सिन्धिया कम्पनीने बिना किरायेके उन्हें कलकत्ता भेज देनेका जिम्मा लिया। मैं सिर्फ़ उतने ही दिनोंकेलिए वहाँ ठहरा।

३० जनवरी (१९३३)को भारतकेलिए रवाना हुआ। अबके मद्रासमें म्युजियम् देखना तथा दक्षिण हिन्दी प्रचार सभाके कुछ दोस्तोंसे मिलना था, इसलिए

मद्रासमें दो-तीन दिनोंकेलिए ठहर गया। पुरातत्त्व अब मेरा अपना विषय है उसमें रस आने लगा था—रस आने होंगे तो मैं उसके विशाल साहित्यके अवगाहन व्यस्त हुआ था। मैंने मद्रास म्युजियमके अमरावती, गोली, नागार्जुनीकोंडा प्राप्त पाषाणशिल्पको बड़े चावसे देखा। एक दिन त्रिपलीकेनके उत्तरार्धीमठ गया हरिप्रपन्नाचार्य और तिरुमिशीके बारेमें जाननेकेलिए। मठकी, स्वामि बुढ़िया साधुनी अब अन्धी हो गई थी, और वह मेरे स्वरको पहिचान न सकी मालूम हुआ हरिप्रपन्ना स्वामी अब नहीं रहे, मठका काम देवराज करते हैं पुराने सहपाठी और सखा भक्ति (वेंकटाचार्य)को देखनेकी उत्कट इच्छा हुई, कि 'गंगा'के तकाजेमें वैसा करना सम्भव न था। अबकी प्रबल इच्छा थी नागार्जुन कोंडाकी खुदाई देखनेकी। पंडित हरिहर शर्मा और ब्रजनन्दन बाबूने गुंटू अमरावतीकेलिए पत्र और तार भी दे दिये थे, किन्तु अन्तमें दिन गिननेपर उस इच्छा को भी दबाना पड़ा।

मद्राससे (२ फर्वरीको) रवाना होनेपर गाड़ीमें एक आन्ध्र वृद्ध ब्राह्मण मिले उनके एक पैरमें फोड़ा था। बात आरम्भ करनेपर मालूम हुआ, वह संस्कृतज्ञ पंडि भारतीय नृत्यकलाके मर्मज्ञ और स्वयं श्रेष्ठ नर्तक हैं। कुछ ही महीने पहिले मैं भरतनाट्यशास्त्रके नृत्य-सम्बन्धी अध्यायके अनुवाद करनेमें पेरिसमें श्री वर्गाजाक मदद की थी, इसलिए नृत्यकी गतियों और आसनोंकी बहुत कुछ स्मृतिमें थीं। उस विषयमें मेरा कुछ प्रवेश देखकर, उन्होंने बड़ी रुचिके साथ वार्तालाप जारी रखा

कलकत्तामें दो-एक दिनोंकेलिए ठहरते मैं ६ फर्वरीको सुल्तानगंज पहुँचा धूपनाथ और बाबू देवनारायण वहीं थे, और उनके रहते सुल्तानगंज मुझे घरसा मालूम होता था। अभीतक जब-जब मैं यहाँ आया, तब-तब निरामिष भोजन करता था, किन्तु अबतक युरोपयात्राके सम्बन्धमें मेरे कितने ही लेख "गंगा"में छप चुके थे, जिनमें आनन्दजीके घासाहारका मजाक करते मैंने अपने मांसाहारका वर्णन किया था। धूपनाथ, देवनारायण बाबू और वहाँ रहनेवाला उनका परिवार मांसाहारी था, इसलिए मुझे घासाहार करनेकी जरूरत न थी।

"पुरातत्त्वांक"में कितने ही लेख छप चुके थे, बाकीमेंसे महत्त्वपूर्ण लेखोंको चुनाव; और पुरातत्त्व तथा सभी विज्ञानोंके अवगमनकेलिए 'विकासवाद'का जानना जरूरी है, इसलिए वहीं रहते "भारतमें मानवविकास"पर एक लेख लिख डाला। विक्रमशिलाकी खोजमें केहलगाँव और पथरघट्टा की एक दिन यात्रा की, किन्तु वह विक्रमशिलाके उपयुक्त स्थान नहीं जँचा। प्राकृतिक अनुकूलता सुल्तानगंज होने

पक्षमें है, जिसे कि डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषणने भी माना था, किन्तु विक्रमशिला जैसे विहारके अनुरूप यहां विस्तृत ध्वंसावशेष नहीं हैं।

"गंगा"के स्वामी कुमारकृष्णानन्दके दर्बारमें मैं एकाध ही वार गया। कुमार साहेबका बर्ताव मेरे साथ बहुत नम्रतापूर्ण होता, किन्तु मुझे उनके पासकी जमातपर इतनी घृणा थी, कि वहां जाना असह्य मालूम होता था। सभी गिद्धकी तरह उनको नोंच खानेकेलिए तैयार थे। स्त्री-पुरुष और दो-तीन बच्चोंकेलिए दस-बारह हजार मासिक कम नहीं हैं, किन्तु इन खुशामदियोंको फायदा तो तब था, जब कि वह हर महीने बीस हजार खर्च करें। खर्चके रास्ते ढूंढ़-ढूंढकर निकाले जा रहे थे। कुमारको खुद अपने भलेबुरे समझनेकेलिए पैनी परख न थी। धूपनाथ एक बार नौकरी छोड़ साधु बननेको तैयार थे, किन्तु पीछे उतना लम्बा क़दम न उठा सके और इसमें मेरा भी कुछ हाथ था। वह कुमार साहेबके खजांची सिर्फ नौकरीकी सांघसे नहीं हुए थे, इसीलिए वहांके कुत्सित वायुमंडलमें वह तंग आ गये थे। वह चाहते थे कुमारको समझावें, किन्तु "जिमि दशननमें जीभ बेचारी" करें क्या?

सुल्तानगंजसे मैंने श्री काशीप्रसाद जायसवालके पास पत्र लिखा था, जिसका उत्तर इतना आत्मीयता भरा हुआ था, कि मुझे उसकी कभी आशा नहीं हो सकती थी। मैं उनकी विशाल कोठी, भारी साहेबी ठाटको देख चुका था। और वह मेरे भारतमें प्रत्यागमनका स्वागत और स्नेहपूर्ण निमन्त्रण भेजते हुए लिख रहे थे, अब तो मैं भी दुनियासे ऊब गया हूँ, और चाहता हूँ बुद्धका भिक्षु बनूं। मैं खुद भिक्षु था, आनन्दजी मेरी सम्मतिसे भिक्षु हुए, तो भी खास-खास आदर्शवादियोंको ही मैं घरकी जिम्मेदारीसे मुक्त होनेकी राय दे सकता था। खैर ! यह जानकर मुझे खुशी हुई, कि भारतमें भी मेरेलिए एक खुला हृदय है।

९ मार्चको पटना जंक्शनपर उतरते वक्त देखा, जायसवालजी प्लेटफ़ार्मपर इन्तिज़ार कर रहे हैं। मेरे भिक्षु-वस्त्र परिचय देनेकेलिए काफी थे, और उनके चेहरेको मैं १९२५ और १९२९में देख चुका था। बड़े स्नेहसे अपनी कोठीपर ले गये, स्नेहका आरम्भ बड़े वेगसे हुआ था, और बड़ा आरम्भ पीछे असफलतामें परिणत होता है; किन्तु यहां जिस स्नेहका सूत्रपात हुआ, वह दिनपर दिन बढ़ता ही गया, और ९ मार्च (१९३३ ई०)से लेकर ५ अगस्त १९३७ तक जब कि मैंने अपने कन्धों-पर उनकी अरथी उठाई, वह मेरे प्रिय ज्येष्ठ भ्राता और मैं उनका स्नेहभाजन अनुज रहा। हर साल जाड़ोंमें मैं मैदानमें रहता, और उसका अधिकांश उनके साथ उनके

घरमें गुजारता। आज जब कभी भी अपने उस मित्रकी याद आती है, तो कलेजा मुंह होने लगता है, आंखें पिघलने लगती हैं।

जायसवालजी उस वक्त अपने बड़े लड़केकेलिए परेशानीमें थे। चेतसिंहकी शादी पहिले ही हो चुकी थी। जातिके भीतर बहुत संकुचित क्षेत्रमें योग्य कन्याका मिलना आसान नहीं है। चेतसिंहके जैसा संस्कृत रुचि रखनेवाला तरुण साधारण युवतीको कैसे पसन्द करता। जब वह विलायत बैरिस्टरी पढ़ने गये, तो वहां उनका एक अंग्रेज युवतीसे स्नेह हो गया, और वह घनिष्ठता पति-पत्नीके रूपमें परिणत हो गई। भारत आते वक्त वह अपनी उस स्त्रीको भी लेते आये, लेकिन पिता अपने पुत्रके इस जोड़ेको आश्रय देकर अपनी पहिली बहूके साथ अन्याय करनेको तैयार न थे। चेतसिंह बहुत मुसीबतमें फँस गये, लेकिन साथ ही वह इतने नीच हृदयके न थे, कि अपनी प्रेमिका अंग्रेज तरुणीको आश्रयहीन छोड़ देते। उन्होंने कोशिश की कि कोई स्वतन्त्र जीविका ढूंढ लें, किन्तु एक नये बैरिस्टरको पहिले तो कुछ साल निराशापूर्ण स्थितिमें रहनेकेलिए मजबूर होना पड़ता है। कुछ महीनोंतक इधर उधरकी खाक छाननेके बाद चेतसिंहको यही उचित मालूम हुआ, कि अपनी बेवदी को जाहिरकर तरुणीको विलायत पहुँचा आयें। मुझे चेतसिंह एक बड़े ही सहृदय और संस्कृत तरुण जँचे, और उनके प्रति मेरी पूर्ण सहानुभूति थी, साथ ही उनके पिताकी चिन्ता भी सहानुभूतिकी पात्र थी। मैं सोचता था, जायसवाल जैसा समझदार देश-देखा आदमी लड़केकी शादी करनेमें वैसी गलती क्यों कर बैठा? वह खुद विलायतमें रहते किसीके प्रेममें फँस चुके थे। किसी-किसीका कहना है, कि उनकी प्रेमिका सीलोनतक आई भी थी। लेकिन क्रान्तिकारी विचार भी जमाने और समाजके थपेड़ेसे ढीले पड़ जाते हैं। इसी कारण जायसवालजीके राजनीतिक क्रान्तिकारी विचार दब गये थे, और परिवारके स्नेह, तथा बन्धुजनोंके हृदयको ख्यालकर उनके सामाजिक क्रान्तिके भाव भी लुप्त हो गये। उनको बड़ी प्रसन्नता हुई, और हृदयपरसे एक भारी बोझ उतरासा जान पड़ा, जब कि उन्होंने सुना कि चेत तरुणीको इंग्लैंड पहुँचा आया।

मेरे साम्यवादी विचारको फिर फिरसे उत्तेजना देनेमें जायसवाल जैसे व्यक्तियोंके जीवनसंघर्ष भारी सहायक हुए। यहाँ भारतीय इतिहासका अगाध ज्ञान रखनेवाला एक व्यक्ति था, जो प्रथम श्रेणीकी प्रतिभाका धनी था, जो चलती बैरिस्टरीके कामसे बचा आवश्यक नींद और विश्रामको तिलांजलि देकर गम्भीर ऐतिहासिक चिन्तन करता, नई-नई बातें निकालता था; किन्तु समाजकी राजनीतिक व्यवस्थाने मजबूर किया था, कि वह अपने अमूल्य जीवनके सबसे अधिक समयको किसी धनीके

इन्कमटेक्सको कम करानेकेलिए बड़ी-बड़ी क़ानूनी बहसें तैयार करे, क्योंकि उसे अपनी रोजी भी चलानी थी, अपने पुत्रों और पुत्रियोंको उच्च शिक्षा दिलानी थी, जिसमें कि वह अपने पिताके कर्त्तव्यसे च्युत न समझा जाये। मैं सोचता था, जायसवालके जीवनको इस तरह बेकारके कामोंमें बितानेकेलिए मजबूर कौन कर रहा है ? उस वक़्ततक मैंने सोवियत्‌के विद्वानोंके निश्चिन्त जीवनको नहीं देखा था, तो भी 'बाईसवीं सदी' मेरे दिमागसे प्रसूत चुकी थी, मैं इसकी सारी जिम्मेवारीको वर्तमान आर्थिक व्यवस्थाके ऊपर डालता था।

सप्ताह बीतते-बीतते जायसवालजीकी प्रकृतिसे मैं परिचित हो गया। न उनको बनावटी रूपमें अपनेको रखनेकी आवश्यकता थी, न मैं अपनेको यथार्थसे अधिक दिखलानेकी ज़रूरत समझता था, उनके लड़के नारायण, दीप, छोटी लड़की ज्ञानशीला (बबुनी) मेरे पढ़ने-लिखनेके बादके समयकेलिए प्यार और मनोरंजनकी सामग्री थीं। गिल्गितके पास धरतीसे खोदकर निकले प्राचीन बौद्ध ग्रंथोंके मिलनेकी बात मैं बहुत पहिले ही सुन चुका था। पेरिसमें आचार्य सेल्वेन लेवीने उसकी और चर्चा चलाई थी, और यहाँ भी उनका पत्र आया था, कि मैं उन ग्रंथोंको देखूँ। मैं भी उनकेलिए उत्सुक था, और जायसवालजी भी मुझसे सहमत थे। अबकी गर्मियोंमें गिल्गित जाना है, मैंने यह तै किया। जायसवालजी ने कुछ रुपयों और एक फोटो-कैमरेका इन्तिज़ाम कर दिया।

मुझे २९ अप्रैलको सारनाथसे देवप्रियका तार मिला, कि श्री धर्मपालका देहान्त हो गया। दूसरे ही दिन सारनाथ पहुँचा। चालिस सालसे अनथक परिश्रम करनेके बाद आज वह महापुरुष अनन्त निद्रामें सो रहा था। पहिले उनका शरीर लंका ले जाना चाहते थे, मगर तीसरे दिन शरीर जाने लायक़ नहीं रह गया, इसलिए इस वीर लंकापुत्रको ऋषिपतन मृगदाव (सारनाथ)की पवित्र भूमिपर ही जलाया गया।

११

द्वितीय लदाख यात्रा (१९३३ ई०)

सारनाथमें अनागारिक धर्मपालका शव सम्मान करते प्रयागमें पंडित जयचन्द्र विद्यालंकारसे मिलते मैं लाहौरकेलिए रवाना हुआ। अबकी यात्रा जम्मूके रास्ते करनी

थी, उसी रास्तेसे दूसरी बार न जाना मेरे स्वभावमें शामिल हो गया है। १५ मईको जम्मूमें पहुँच वहाँ विज्ञानके प्रोफ़ेसर माणिकचन्दके यहाँ ठहरा। मुझे यह मालूम करके बड़ी प्रसन्नता हुई, कि मेरे लदाखके सहायक श्री रामरखामल इंजीनियर यहीं हैं। जिस वक्त मैं उनकी कोठीपर मिलने गया, तो वे वहाँ मौजूद न थे; लेकिन लौटनेपर जैसे ही उन्हें खबर मिली, वह मिलने आये। अब वह डिविज़नल इंजीनियर थे। सात वर्षोंकी उनके चेहरेपर छाप थी, किन्तु अब भी वह वैसे ही सहायताकेलिए उत्सुक थे, जैसे लदाखकी यात्रामें।

१७ मईको जम्मूसे मैं मोटरद्वारा श्रीनगरकेलिए रवाना हुआ। यह सड़क मेरी पिछली यात्राके बाद तैयार हुई थी। रास्तेमें हर जगह खाने-पीनेकी दूकानें थीं। भीवर (धीवर) लोग बहुत सस्ती और स्वादिष्ट रोटी-मांस बेचते थे। रास्तेके पहाड़ और गाँव सुन्दर थे, किन्तु मेरी आँखोंको तो तबतक तृप्ति न हुई, जब तक कि मैं देवदारोंके पहाड़में न पहुँच गया।

पुराने परिचित डाक्टर कुलभूषणसे मेरा बराबर पत्र-व्यवहार रहा, इसलिए मुझे वे भूले न थे, और श्रीनगरमें उन्हींके यहाँ ठहरना ते हुआ था। डाक्टर कुलभूषण विलायतके पढ़े डाक्टर, और श्रीनगर म्युनिस्पेल्टीके हेल्थ-आफ़िसर थे। विलायतसे लौटनेपर उन्हें संस्कृत पढ़नेका अनुराग पैदा हुआ, और इसकेलिए उन्होंने नियमसे कुछ घंटे देने शुरू किये थे। उनका सिद्धान्तकौमुदी पढ़ना मुझे नापसन्द था, इसलिए नहीं कि सिद्धान्तकौमुदी पाठ्य पुस्तकके तौर पर बेकार चीज है, बल्कि इसलिए कि डाक्टर साहेबको उन सूत्रोंको याद करनेकी फ़ुर्सत न थी। उसकी जगह यदि उन्हें साहित्यिक ग्रंथोंको पढ़ाया जाता, और प्रयोगात्मक व्याकरणका ज्ञान कराया जाता, तो ज्यादा लाभप्रद होता। उन्हें संस्कृत बोलनेका बड़ा शौक़ था। डाक्टर कुलभूषण अब शहरसे बाहर अपने निजी घरमें रहते थे, जहाँ मेरेलिए एक कमरा रिज़र्व था। डाक्टर साहेब कट्टर आर्यसमाजी थे। छै साल पहिले भी मेरे व्याख्यानोंमें बुद्धकी प्रशंसा पाकर उन्होंने कहा था, कहीं आप बौद्ध न हो जायें, और वह बात सच निकली। इस वक्त उन्हें यह देखकर अफ़सोस होता था, कि मैं आर्यसमाजमें नहीं रहा।

अबकी बार मेरी मुख्य मंशा थी गिलगित जानेकी। मेरे दोस्त श्रीश्यामबहादुर बैरिस्टरने कश्मीर-सरकारके शिक्षा-मंत्री चौधुरी वजाहतहुसेन (I.C.S.)को मेरे बारेमें परिचय-पत्र लिख दिया था। मुझे यह भी मालूम हुआ था, कि गिलगितमें प्राप्त हस्तलिखित ग्रंथोंका एक भाग यहींपर है। चौधरी साहेबसे मिलने मैं उनके

आफ़िसमें गया, वह बड़े प्रेमसे मिले, और कहा कि मुझसे जो कुछ हो सकता है मैं आपकी सहायताकेलिए तैयार हूँ। उन्होंने बड़े उत्साहके साथ अपने साथी एक दूसरे अधिकारीसे 'मेरे मुल्की' (स्वप्रान्तीय)के तौरपर परिचय कराया, किन्तु मुझे बड़ी निराशा हुई जब हस्तलेखोंके अधिकारीने इस शर्तके साथ उनकी झाँकी कराना स्वीकार किया, कि मैं नोट न लूँ। उनका कहना था, कि ग्रंथ सरकार स्वयं प्रकाशित कराना चाहती है, इसलिए वह नहीं चाहती, कि कोई दूसरा विद्वान् उसमें हाथ लगाये। वे महत्त्वपूर्ण हस्तलेख बस्ते बाँधकर ऐसे रखे गये थे, कि मालूम होता था, किसी व्यापारीका बहीखाता है। बारह-तेरह सौ वर्ष पुराने भोजपत्रपर लिखे उन हस्तलेखोंकी दुर्गति हो रही थी, उनमेंसे कितने ही टुकड़े झड़ रहे थे—पुराना भोजपत्र बहुत हल्के दबावसे टूट जाता है। सर्कारी ग्रंथमालाके अध्यक्ष श्री मधुसूदन कौलसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। वह भी मेरी ही तरह इन ग्रंथोंकी रक्षा और सम्पादनकेलिए व्यग्र थे। उन्होंने ग्रंथोंकी एक विस्तृत सूची भी तैयार की थी, किन्तु राज्यके बहुधंधी ऊँचे अधिकारी काक अपने नामसे प्रकाशित करा यश अर्जन करना चाहते थे। मेरी निराशाकी सीमा न रही, जब मैंने वहाँके म्युज़ियमकी दुरावस्थाको देखा। महाराजा उसे बेकार समझते थे, और एक बार तो नीलाम करदेनेपर तुल गये थे, किन्तु जब लोगोंने समझाया कि इससे भारी बदनामी होगी, तो अपने इरादेसे बाज आये। आधुनिक विज्ञानके आविष्कारोंकी भाँति भोग-विलासकी सामग्रीमें भी धनिकोंने बड़े-बड़े आविष्कार किये हैं, जिसकेलिए लाख नहीं करोड़ भी कोई चीज नहीं हैं। फिर यह रंगीले महाराज तो एक रातकेलिए पेरिसकी एक अप्सराको बीसलाखका चेक काटनेकेलिए जगद्विख्यात हो चुके थे।

म्युज़ियम जिस अवस्थामें था, उससे तो कहीं अच्छा होता, कि वह किसी अधिकारी संस्थाके हाथ नीलाम कर दिया जाता। उसे एकाध चौकीदारोंके हाथमें रख दिया गया था, जिनसे कुछ रुपयोंमें इतिहास और कलाकी अनमोल सामग्री खरीदी जा सकती थी और खरीदी जा रही थी। शायद युरोपका पतितसे पतित धनी भी ऐसी बर्बता नहीं कर सकता था।

गिलगितके हस्तलेखोंके सिलसिलेमें एक दूसरे मंत्री श्री पी० एम० मेहतासे भी मिला। वह जायसवाल जीके दोस्त थे, उन्होंने भी मेरे उद्देश्यके साथ सहानुभूति प्रकट की; किन्तु वह ऐसे यंत्रके पुर्जे थे, जिसमें उन्हें अपनी बेबसी प्रतीत हो रही थी। कुछ दिनों बाद श्री एन्० सी० मेहता (I. C. S.) श्रीनगर आये, और मेरे आनेकी बात सुनकर उन्होंने मिलनेकी इच्छा प्रकट की। उन्हें

सत्याग्रहीके तौरपर मैं जानता था, इसलिए फोन आनेपर मैं उनसे मिलने गया।

श्रीनगरमें रहनेका अधिकांश समय मैंने यहाँके पुराने स्थानोंको देखने, दोस्तोंसे मिलने और लिखने-पढ़नेमें बिताया। रोज सबेरे नदीके बाँधपर ३, ४ मील टहलने जाता, जिसमें बहुधा डाक्टर कुलभूषण भी शामिल होते। कई बार शंकराचार्यके पहाड़पर चढ़ा, यद्यपि पिछली बारकी तरह प्रतिदिन चढ़कर पहाड़पर चढ़नेके अभ्यासकेलिए नहीं। मार्तंड और दूसरे ध्वंस अबकी मैंने ज्यादा गौरसे देखे, क्योंकि अब मैं उन पुराने पाषाणोंकी मूकभाषाको समझता था। कश्मीरी पंडितोंमें कुछकी रुचि बौद्धधर्मकी ओर थी, और उनके कई निमंत्रण भी मुझे स्वीकार करने पड़े। कुछ ही दिनों बाद जर्मनबौद्ध ब्रह्मचारी गोविन्द भी आ गये, फिर तो 'खूब निबहेगी जब मिल बैठेंगे दिवाने दो' की कहावत चरितार्थ होने लगी।

गिल्गित और लदाख जानेकेलिए अंग्रेज ज्वाइंट कमिश्नरसे परमिट (आज्ञापत्र) लेनेकी जरूरत पड़ती थी। मैंने गिल्गितका परमिट माँगा, तो उन्होंने कहा—अफसोस हम वहाँ जानेका परमिट नहीं दे सकते। अपने ही घरमें आखिर हम भारतीय बेगाने थे, फिर कलेजेमें सूई चुभनेकी शिकायत करनेकी जरूरत? गिल्गित दूसरे युरोपियन—फ्रेंच या हंगेरियन—जा सकते हैं, किन्तु एक भारतीयको उधर जानेकी इजाजत नहीं। सोवियत ताजिकिस्तानकी सीमा गिल्गितसे दूर नहीं है, इसलिए ब्रिटिश सरकार गिल्गितमें अपना एक हवाई मोर्चा और फौजी छावनी बनानेकी धुनमें थी। उस वक्त भी अफवाह थी, कि अंग्रेज गिल्गितको राजसे ले लेना चाहते हैं। गिल्गित-यात्रासे निराश होनेपर मैंने लदाख जाना ते किया, ब्रह्मचारी गोविन्दने भी साथ चलनेकी इच्छा प्रकट की। पासपोर्ट देखनेपर ब्रिटिश ज्वाइंट कमिश्नरने परमिट देना मंजूर कर लिया।

जोजीला पारके घोड़ेवाले अब श्रीनगर पहुँचने लगे। हमने द्रास या कर्गिलकेलिए सवारी और बारबर्दारीकेलिए टट्टू किराये किये, और ६ जूनको श्रीनगरसे रवाना हो गये। घोड़ेवाले घास देखकर रातको ठहरना पसन्द करते थे, हमने भी उनके काममें सहयोग देना पसंद किया। मैं तो फोटोग्राफीमें बिल्कुल नौसिखिया था, लाहौरमें तो फोटो लेनेमें असफल रहा, किन्तु यहाँके दो-चार चित्रोंसे कुछ आशा बँधी थी। ब्रह्मचारी गोविन्द फोटो ही अच्छा नहीं लेते थे, बल्कि वह एक अच्छे चित्रकार थे।

लोग पहिली रात गाँवसे कुछ दूर नदीके किनारे रातकेलिए ठहरे। सबेरेके वक्त

काफी सर्दी थी, किन्तु इसी वक्त मुझे पश्मीनेकी चादरकी करामात मालूम हुई--उस पतली चादरमें लोई जितनी गर्मी थी।

हमारा खाना घोड़ेवाले दरद बनाते थे, और सिवाय कोकोके हमारा भोजन सोलहों आना हिन्दुस्तानी होता था। ब्रह्मचारी गोविन्दके साथ बात करनेमें आनन्द आता था। वह कलाकार, दार्शनिक होनेके अतिरिक्त युरोप, अफ्रीका और ऐसियाके कितने ही भागोंमें घूमे हुए थे। उनका स्वभाव मृदुल, वार्तालापका ढंग आकर्षक और रहन-सहन सीधी-सादी थी। चिड़चिड़ापन तो उनमें छू तक नही गया था। साम्यवादके साथ भी उनकी सहानुभूति थी, यद्यपि वह उसमें उतना दूरतक जानेके लिए तैयार न थे, जितना कि मैं। पिछले महायुद्धमें वह सैनिक रह युद्धके भयानक दृश्यको अपनी आँखों देख चुके थे, वह खूब महसूस करते थे, कि वर्तमान आर्थिक व्यवस्थाके बदलनेकी भारी जरूरत है। वह एक आदर्शवादी व्यक्ति है, यद्यपि उस आदर्शवादमें एक धर्मप्रेमी भी कलाकारका हृदय होनेसे उनमे शान्तिकामना और करुण सम्मिश्रण-- मंजिलके अन्तमें ही नही आरम्भ और मध्यमें भी--बहुत ज्यादा है।

जोजीला (जोन) पार हो घोड़ेवाले हमें रास्तेसे बायें हटकर काली सिन्धके किनारे अपने गाँव होलियालमें (११ जून) ले गये। दरद-भाषामें हर एक नदी सिन्ध या सिन्द कही जाती है। अभी भी, मानो, इस शब्दका वैदिक अर्थ वहाँ प्रचलित है। गाँवमें तीसके करीब घर है, और वे बहुत गरीबीकी जिन्दगी बसर करते हैं। वनस्पतिहीन नगे पहाड़, अपनी ऊँचाई, वर्षाकी कमी और सिंचाईकी कठिनाईके कारण खेती या बागवानीके अनुकूल नहीं हैं। घोड़ोंसे माल लादना ही यहाँके लोगोंकी प्रधान जीविका है। मेरे मित्र एक दिन एक आदमीसे पूछ रहे थे--"जब खानेकी यह हालत है, प्रकृति तुम्हारे साथ इतनी निष्ठुर है, तो इतने बच्चे क्यों पैदा करते हो?"--हमें बतलाया जा चुका था, कि उस गाँवमे पिछले ५० वर्षोंमें तिगुने घर बढ़ गये है। उत्तर मिला--जिसने पैदा किया है, अर्थात् खुदा, वही सब सँभालेगा। ब्रह्मचारी गोविन्दने कहा--'हाँ, यदि खुदा नही, तो भूख और महामारी तो उन्हें सँभालनेकेलिए तैयार ही हैं।' यहाँ हम लोगोंको बहुपति-विवाहकी उपयोगिता मालूम हुई। यदि तिब्बती लोगोंकी तरह यहाँवाले भी सब भाइयोंकेलिए एक स्त्री लाते, तो पचास क्या पाँच सौ बरस बाद भी उतने ही घर रहते, किन्तु वे तो खुदाके भरोसे बच्चेपर बच्चे पैदा करते जा रहे हैं।

'सिन्ध'के किनारे-किनारे हम आगे बढ़े। द्राससे कुछ आगे पहुँचनेपर रास्तेमें हमें वह खंडित मूर्तियाँ और शिलालेख मिले। शिलालेख सातवीं-आठवीं शताब्दी-

की लिपिमें था। पढ़ने भरका समय न था, मैंने फोटो लिये, किन्तु अभी उतना उसका अन्दाजा न था, और उसमें मैं सफल नहीं रहा।

करगिलमें हम दो दिन (१५-१६ जून) ठहरे। यद्यपि जोजीलासे पहिले परमिट देखनेकेलिए एक आदमी दौड़ा आया था, किन्तु वह शायद ब्रह्मचारी गोविन्दके युरोपीय रूपके कारण। वैसे करगिलतक अब परमिटकी जरूरत नहीं पड़ती थी। पिछली यात्राके समयसे जरूर कुछ उदारता दिखलाई पड़ई है। करगिलमें तहसीलदारने परमिट देखा। हमें वहाँ दो-तीन दिन ठहरना था। यहीं मालूम हुआ, कि कुशो-बाबा—जिन्होंने ल्हासामें दलाईलामासे मिलकर मेरे रहनेमें बड़ी सहायता की थी—आजकल लदाखसे होते जास्करमें ठहरे हुए हैं। रास्ता छोड़कर जास्कर जानेमें फिर घोड़ेके पानेमें दिक्कत होगी, इसलिए हमने उधर जानेका ख्याल छोड़ दिया।

मुल्-बेक्में भी हम दो दिन (१८-१९ जून) ठहरे। गोविन्दजी वहाँके रंगबिरंगे पर्वतोंको चित्रित करना चाहते थे, वे तो अपने काममें व्यस्त रहे, और मैं वहाँके लोगोंकी सामाजिक आर्थिक अवस्थाका अध्ययन करने लगा। प्रकृति यहाँ भी निष्ठुर है, किन्तु सन्ततिनिरोधमें बहुपति-विवाह बहुत सहायक है, इसलिए लोगोंको उतनी कठिनाईका सामना नहीं करना पड़ता। यहाँ एक स्कूल है, जिसमें पढ़ाई उर्दूमें दी जाती है। जीविकाका लोगोंको आकर्षण नहीं, फिर ये तिब्बती-भाषाभाषी लोग क्यों उस मुश्किल भाषा और उससे भी ज्यादा मुश्किल लिपिको पढ़नेमें मन लगावें। तिब्बती भाषाके पढ़नेका कोई बाकायदा इन्तिजाम नहीं है, तो भी कितने ही व्यक्ति साक्षर हैं। यदि कश्मीर सर्कार उन्हें अपनी भाषामें शिक्षा दिलाती, तो ये लोग बड़े चावसे पढ़ते। किन्तु सर्कार सबको साक्षर करना अपना फर्ज थोड़े ही समझती है। मुल्बेक्में पर्वतगात्रमें खुदी मैत्रेयकी एक सुन्दर प्रतिमा है, जो बतलाती है, कि किसी वक्त यहाँ भारतीय मूर्तिकलाके अच्छे शिल्पियोंकी कमी न थी।

मुल्बेक् और उससे आगेके गाँवोंपर अधिकार जमानेमें इस्लाम और बौद्धधर्मका संघर्ष रहा है, करगिलसे मुल्बेक्तकके गाँव अभी लोगोंके होशमें मुसल्मान हुए। मुल्बेक् पहुँचनेसे पहिले हम यहाँ कुछ अच्छे-अच्छे मकानोंवाले एक गाँवमें रुककर रहे थे। उसी वक्त एक भद्र पुरुषने आकर हमें चाय पीकर जानेकेलिए आग्रह किया। बैठकमें अच्छे यारकन्दी कालीन बिछे हुए थे। मकानमें कुछ सजावट भी थी। मालूम हुआ, वह एक अच्छे व्यापारी हैं। इस्लामी देश-दुनिया देखे होनेसे इन्होंने भी स्त्रियोंको पर्देमें रखना अपना कर्त्तव्य समझा था।

मुल्बेक्से आगे लामायुरुके पहिलेतक मुस्लिम-बौद्ध-मिश्रित बस्तियाँ थीं।

आबादी दूर-दूर। वही नंगे पहाड़, वही सूखी जमीन, किन्तु फ़सलके जम आनेसे कितने ही हरे-हरे खेतोंको देखकर आँखोंकी थकावट दूर हो जाती थी।

मुल्बेकसे पहिले दारगोलमें १७ जूनको हम गाँवके मुखियाके घरपर ठहरे थे। मुखिया स्वयं कट्टर मुसलमान था, ब्याहने या रखेली रखनेसे जैसे भी हो दूसरोंको मुसलमान बनानेमें वह भारी पुण्य (सवाब) समझता था, किन्तु उसकी माँपर उसका असर नहीं हुआ था। बुढ़ियाको जब मालूम हुआ, दो बौद्ध भिक्षु आए हैं, तो वह छतके ऊपर आई, और तिब्बती क़ायदेसे उसने साष्टांग प्रणाम किया। वह फूट-फूटकर रोते हुए कहने लगी—"मेरा लड़का बड़ा जुल्म करता है, मुझे पूजापाठ और लामाओंका सत्कार तक नहीं करने देता। मैं तो मृत्युके घाटपर बैठी हुई हूँ, और यह कुछ कमाई नहीं कर लेने देता। अपने तो यह नरकमें जायेगा ही, और अपनी बूढ़ी माँको भी वहीं ढकेलना चाहता है।" गाँवसे थोड़ी दूरपर एक गुम्बा (बौद्धविहार) थी, जो पर्वतकी स्वाभाविक गुहामें इस तरह बनाई गई थी, कि बाहरी दीवारें शिलासे मिली हुई उसमें चिपकीसी मालूम होती थी। किन्तु रास्तेमें शिम्सा-खर्बू और दूसरी जगहोंपर उजड़ी गुम्बाओंकी खड़ी दीवारें हमने देखी थीं और साफ़ मालूम हो रहा था कि अनुयायी जिस तरह कम हो रहे हैं, उससे इस गुम्बाकी भी वही हालत होनेवाली है।

हमें पता लगा था, कि यहाँसे कुछ दूरपर एक प्राकृतिक गुफा है, जिसमें पुरानी मुद्रायें और मिट्टीकी मूर्तियाँ मिलती हैं। वैसे होता तो मुखिया (नम्बरदार) हमारी मदद नहीं करता, किन्तु तहसीलदारका पत्र था, इसलिए उसने भाड़ेपर टट्टू कर दिये। हम लोग पूरबकी तरफ़ उस गुहाकी तलाशमें गये। रास्ता चालू नहीं है; इसलिए कितनी ही जगह खतरनाक था, तो भी जब हम चल चुके थे, तो लौटनेका सवाल ही न था। गुहा काफी बड़ी थी, और उसमें कुछ अंकित मुद्रायें भी थीं, किन्तु वह उतनी पुरानी न थीं।

गाँवमें लौटकर हम फिर सड़कसे आगे बढ़े, और मुल्बेक् होते लामायुरू पहुँचे। गोविन्दजीने गुम्बाका एक चित्र बनाया। मैं लामाओंसे बात करना चाहता था, किन्तु सभी अशिक्षित उजड्ड थे। वस्तुतः लदाखमें—और विशेषकर मुल्बेक् प्रदेशमें बौद्धोंका लोप इन्हीं अयोग्य साधुओंके कारण हो रहा है। हर जगह गुम्बाके पास खेत है, और खाना—छंग (शराब) पीना—बस इतने हीमें ये लोग अपने कर्त्तव्य-की इतिश्री समझते हैं। हरएक धर्मका मूल्य इसीसे तौला जा सकता है, कि वह अपने अनुयायियोंमें नैतिक बल कितना लाता है, इस कसौटीपर कसनेसे मालूम होता

है, कि लदाखी लोग मुसलमान बनकर कई अपने अच्छे गुणोंको छोड़ बैठे हैं। लदाखी बौद्ध स्वभावतः झूठ बोलना, चोरी करना नहीं जानते। कर्गिलके कश्मीरी तहसीलदार कह रहे थे कि कभी-कभी इनकी ईमानदारी महँगी पड़ती है। वह आपबीती या किसी दूसरेकी बात कर रहे थे—उनका लदाखी बौद्ध नौकर बैठकमें झाड़ू दे रहा था, वहाँ एक अठन्नी पड़ी हुई थी। चोरीके डरसे नौकर उसे हाथ नहीं लगा सकता था, उसने चाकूसे अठन्नीके किनारे-किनारे क़ालीन काट डाली, और झाड़कर फिर उसे वैसे ही बैठा दिया। हो सकता है आजकलके जमानेमें ईमानदार आदमी संसार-संघर्षमें सफल नहीं हो सकता, किन्तु इससे ईमानदारीका नैतिक मूल्य कम नहीं होता।

सनूस्पोमें हमें एक बौद्ध ग्रामीण अध्यापक मिले, उन्होंने आग्रह किया रातको अपने गाँवमें रहनेका। उनका घर (नुरला) सड़कसे बहुत दूर न था; इसलिए हमने उसे स्वीकार किया। अध्यापकका घर काफी समृद्ध था। उसके बागमें खुबानी, सेब और अंगूर लगे हुए थे, घर भी साफ-सुथरा था। माँ-बाप लड़केसे सन्तुष्ट न थे, क्योंकि वह शराब बहुत पीता था, और अपनी स्त्रीसे विरक्त था। उसकी स्त्री इतनी सुन्दर थी, कि मुझे समझमें नहीं आया, उससे वह विरक्त क्यों है। शराबीपनकी तो लदाखमें आम शिकायत है। यद्यपि जौकी मस्ती ढंगसे कोई कंगाल नहीं हो सकता, तो भी उससे कामकी बेपर्वाही होती है, और उस अध्यापककी नौकरी इसीलिए बची हुई थी, कि लदाखमें अध्यापक सुलभ न थे।

रास्तेमें हम रिजोङ्-गुम्पा (गुम्बा)में गये। यह लदाखकी प्रधान गुम्बाओंमें है। यहाँका पिछले लामा लदाखका सबसे अधिक सुशिक्षित और सुसंस्कृत लामा थे, और पिछली यात्रामें मैं उनसे मिल चुका था। अब उनका देहान्त हो चुका था, और तीन-चार वर्षके छोटेसे बच्चेको अवतार समझकर उनकी जगह लामा बनाया गया था। गुम्बाके भिक्षुओंने चाय पीनेका आग्रह किया। बच्चा-लामाकेलिए भी आसन और चाय-चौकी रख दी गई। हमने दर्शन आदिका काम ख़तम कर चाय पी। ब्रह्मचारी गोविन्दने फिसलाऊ खड़े पर्वत गात्रोंपर कूदते हुये, अपने रोलिफ्लेक्ससे कई फोटो लिये।

खलचे (२३ जून) बहुत बड़ा गाँव है, और वर्षके दस महीनेमें दूरतक फैली खेतोंकी हरियाली, बीच-बीचमें खुबानी, सेब, सफेदे और बीरीके हरे-भरे दरख्तोंवाले बाग उसकी शोभाको और बढ़ा देते हैं। मिस्टर शटलवर्थने जब सुना, कि मैं लदाखकी ओर जानेवाला हूँ, तो उन्होंने लन्दनसे एक विस्तृत पत्र लदाख-ज़ान्स्कर-

लाहुलके प्राचीन ऐतिहासिक स्थानोंके बारेमें लिखा था, उसमें उन्होंने अल्चीके मन्दिरका भी जिक्र किया था। नीमूसे थोड़ा पीछे हट नदी पार हो हम अलूची पहुँचे। अलूचीमें भी काफ़ी खेत हैं, किन्तु बीचवाले मन्दिरके पासवाले घर अधिकतर गरीब हैं। बाहरसे उस मन्दिरको देखकर किसीको भान नहीं हो सकता, कि यह ग्यारहवीं शताब्दीकी उत्तर-भारतीय चित्रकलाका महान् संग्रहालय है। पुजारी आया, हम लोग भीतर गये। कुछ अँधेरासा था, किन्तु उस सम्पत्तिको देखकर आँखें चकाचौंध हो गईं। नौ सौ वर्ष बाद आज भी सूक्ष्म तूलिकाओंद्वारा मात्रायुक्त वर्णोंमें चित्रित ये चित्र सजीव मालूम होते हैं। सभी चित्र सुन्दर हैं, किन्तु अवलोकितेश्वरकी मूर्तिके ऊपर छोटे-छोटे चित्रोंके अंकनमें तो और कमाल किया गया है। गोविन्दजी स्वयं कलाकार थे, वह तो इस कलाभंडारको देखकर कुछ समयतक स्तब्ध रह गये। अजन्ताके अर्धलुप्त चित्रोंसे आदमीको पूरी तृप्ति नहीं होती, और यहाँ थे पूर्ण चित्र, सो भी ऐसे समयके जिसके कुछ नमूने सिर्फ़ हस्तलिखित पुस्तकोंमें ही मिलते हैं। रोशनी काफी नहीं थी, इसलिए फोटोकी सफलताका हमें विश्वास न था, तो भी हमने कुछ फोटो लिये।

पहिले भी हमने विहारकी दयनीय दशाको देखा था, किन्तु अब बाहर निकलकर उस रत्नकोशकी रक्षिका इमारतकी ओर खासतौरसे देखना शुरू किया। वहाँ मरम्मतका चिह्नतक न था। लदाखमें वर्षा बहुत कम होती है, किन्तु शताब्दियोंकी वर्षाका असर न होना असम्भव था। बाहरी द्वारके ऊपरके खम्भे टेढ़े पड़ गये थे, मोटी दीवारकी मिट्टी कट-कटकर दरारसी बन गई थी, और साफ़ मालूम होता था, कि जिस उपेक्षित दशामें यह मन्दिर है, उससे वह चन्द दिनोंका ही मेहमान है। फिर हमें ख्याल आया—पास-पड़ोसके रहनेवाले गरीब हैं, अनभिज्ञ हैं—किन्तु कश्मीर रियासतकी सर्कार क्या करती है? लेकिन, अफ़सोस! सभ्यताकी नकल करनेवाले पशुओंको पालने और ऊँचा बढ़ानेकी भारी कीमत हमारे समाजको चुकानी पड़ेगी। तिब्बतके महान् विद्वान् लो-च-बा रिन्-छेन्-ज़ङ्-पो (मृ० १०५२ ई०) ने जैसे सैकड़ों संस्कृत ग्रंथोंका अनुवाद कर तिब्बती भाषामें सुरक्षित किया, उसी तरह उसने तत्कालीन भारतीय चित्रकलाके सुन्दर नमूनोंको इस मन्दिरके रूपमें सुरक्षित किया था, लेकिन बीसवी सदीमें अब हमारी आँखोंके सामने वह लुप्त होनेवाला है। भावी भारतीय जनता अवश्य इन कर्त्तव्यविमुख मूढ़ोंको क्षमा नहीं करेगी, किन्तु उससे खोई हमारी यह सम्पत्ति लौट तो नहीं आयेगी। लदाखसे लौट मैंने अंग्रेजी-हिन्दी पत्रोंमें वक्तव्य दिया था; राजमन्त्री, तथा स्थानीय अधिकारियोंसे तो

३ जुलाईको ले लौट आया। लेमें मेरे रहनेका इन्तिजाम हेमिस्-लाम के नये मकानमें हुआ था, वह ज्यादा साफ़-सुथरा हवादार और गटगनोंकी बगलमें पाका था। मेरे ले चले आनेपर एकरात खूब वर्षा हुई। लोग बतला रहे थे ऐसी वर्षा बूढ़ों तकने नहीं देखी थी। लदाखके मिट्टीकी दीवारें मिट्टीके छतोंके मकान एकाध इंच सालाना वर्षाकेलिए बनाये होते हैं, सदियोंके तजर्बेसे वर्षाके एक खास परिणाम तक ही लोगोंका ध्यान जा सकता है। उन्हें क्या मालूम, कि इतनी भी वर्षा हो सकती है। परिणाम यह हुआ कि दूसरे दिन लेके पचासों घर भहरा-भहराकर गिर पड़े, जिनमें हेमिस् लब्रन्द भी था, और जिसमें हम पहिले दो-चार दिनकेलिए ठहरे थे।

लदाखमें अब मुझे कहीं घूमनेकी इच्छा न थी, जिसमें हाथमें लिए काम भी बाधक थे। मैंने पिछले साल 'धम्मपद' का हिन्दी-संस्कृत अनुवाद किया था, अबकी बार सारे मज्झिमनिकायका अनुवाद कर डालना था। तिब्बतमें बौद्धधर्मके इतिहास-पर एक निबन्ध डाक्टर कुलभूषणके आग्रहपर उनकी संस्कृत पत्रिका "श्री"केलिए श्रीनगर हीमें लिखकर दे आया था, अब उसे हिन्दीमें सप्रमाण लिखना था। तीन महीनेकेलिए यही काम काफी थे, किन्तु लदाखके बौद्धोंकी शिक्षाकेलिए, विशेषकर आरम्भिक पाठशालाओंकेलिए तिब्बती भाषाकी पाठ्यपुस्तकों और व्याकरणकी बड़ी जरूरत थी। नोनो छेर्तन्-फुन्-छोग् एक उत्साही तरुण थे, उनका भी आग्रह हुआ और, मुझे व्याकरण तथा चार पुस्तकोंके लिखनेका काम भी हाथमें लेना पड़ा। काममें घिरे रहनेमें भी एक आनन्द आता है, और इसलिए रात-दिन व्यस्त रहने भी वे तीन मास मेरेलिए खुशीके दिन थे।

लदाखमें सबसे अधिक प्रसन्नता मुझे पादरी जोजेफ़ गेर्गेन्से मिलकर हुई। गेर्गेन बहुत बूढ़े थे, किन्तु अब भी वह शारीरिक मानसिक कर्मठता रखते थे। यद्यपि उन्हें कन्-जुर् तन्-जुर्के रूपमें भारतीय वाङ्मयके विस्तृत अनुवादोंको पढ़नेका मौका न मिला था, और न वह उसके दर्शनसे ही परिचय रखते थे, किन्तु शुद्ध तिब्बती साहित्य, भाषा, और इतिहासका उनका ज्ञान बहुत गम्भीर था। उन्हें अपनी तिब्बती जातीयताका अभिमान था, इसलिए वह इन सभी चीजोंको बड़ी श्रद्धाके साथ अध्ययन करते थे। डाक्टर फ्रांकेके लेमें रहते वक्त उन्होंने उनकी खोजोंमें बहुत सहायता की थी, और उक्त जर्मन विद्वान्के संसर्गसे गेर्गेन्की अन्वेषण-दृष्टि कुछ वैज्ञानिक भी हो गई थी। हम दोनोंका सम्पर्क मित्रताके रूपमें परिणत हो गया, क्योंकि मैं भी उन्हींकी भाँति तिब्बती जातिके भूतको श्रद्धाकी चीज समझता था।

३ जुलाईको मैं लौट आया। लेमें मेरे रहनेका इन्तिजाम हेमिस्-लाम के नये मकानमें हुआ था, वह ज्यादा साफ-सुथरा हवादार और खटमलोंकी बलासे पाक था। मेरे ले चले आनेपर एकरात खूब वर्षा हुई। लोग कहते रहे थे ऐसी वर्षा बूढ़ों तकने नहीं देखी थी। लदाखके मिट्टीकी दीवारें मिट्टीके छतोंके मकान एकाध इंच सालाना वर्षाकेलिए बनाये होते हैं, सदियोंके तजर्बेसे वर्षाके एक खास परिणाम तक ही लोगोंका ध्यान जा सकता है। उन्हें क्या मालूम, कि इतनी भी वर्षा हो सकती है। परिणाम यह हुआ कि दूसरे दिन लेके पचासों घर भहरा-भहराकर गिर पड़े, जिनमें हेमिस् लबरङ् भी था, और जिसमें हम पहिले दो-चार दिनकेलिए ठहरे थे।

लदाखमें अब मुझे कहीं घूमनेकी इच्छा न थी, जिसमें हाथमें लिए काम भी बाधक थे। मैंने पिछले साल 'धम्मपद' का हिन्दी-संस्कृत अनुवाद किया था, अबकी बार सारे मज्झिमनिकायका अनुवाद कर डालना था। तिब्बतमें बौद्धधर्मके इतिहास-पर एक निबन्ध डाक्टर कुलभूषणके आग्रहपर उनकी संस्कृत पत्रिका "श्री"केलिए श्रीनगर हीमें लिखकर दे आया था, अब उसे हिन्दीमें सप्रमाण लिखना था। तीन महीनेकेलिए यही काम काफ़ी थे, किन्तु लदाखके बौद्धोंकी शिक्षाकेलिए, विशेषकर आरम्भिक पाठशालाओंकेलिए तिब्बती भाषाकी पाठ्यपुस्तकों और व्याकरणकी बड़ी जरूरत थी। नोनो छेरिन्-फुन्-छोग् एक उत्साही तरुण थे, उनका भी आग्रह हुआ और, मुझे व्याकरण तथा चार पुस्तकोंके लिखनेका काम भी हाथमें लेना पड़ा। काममें घिरे रहनेमें भी एक आनन्द आता है, और इसलिए रात-दिन व्यस्त रहते भी वे तीन मास मेरेलिए खुशीके दिन थे।

लदाखमें सबसे अधिक प्रसन्नता मुझे पादरी जोजेफ़ गेर्गेन्से मिलकर हुई। गेर्गेन बहुत बूढ़े थे, किन्तु अब भी वह शारीरिक मानसिक कर्मठता रखते थे। यद्यपि उन्हें कन्-जुर् तन्-जुर्के रूपमें भारतीय वाङ्मयके विस्तृत अनुवादोंको पढ़नेका मौक़ा न मिला था, और न वह उसके दर्शनसे ही परिचय रखते थे, किन्तु शुद्ध तिब्बती साहित्य, भाषा, और इतिहासका उनका ज्ञान बहुत गम्भीर था। उन्हें अपनी तिब्बती जातीयताका अभिमान था, इसलिए वह इन सभी चीजोंको बड़ी श्रद्धाके साथ अध्ययन करते थे। डाक्टर फ़ांकेके लेमें रहते वक्त उन्होंने उनकी खोजोंमें बहुत सहायता की थी, और उक्त जर्मन विद्वान्के संसर्गसे गेर्गेन्की अन्वेषण-दृष्टि कुछ वैज्ञानिक भी हो गई थी। हम दोनोंका सम्पर्क मित्रताके रूपमें परिणत हो गया, क्योंकि मैं भी उन्हींकी भाँति तिब्बती जातिके भूतको श्रद्धाकी चीज समझता था।

सर्वेसर्वा बन जावें। परिणाम हुआ, उनकी जातीय स्वतन्त्रता फिर उनके हाथसे जाती रही। अभी भी यह संघर्ष कितने ही स्थानोंपर चल रहा था। मेरे ले छोड़नेसे पूर्व एक बड़ा क़ाफ़िला यारकन्द (चीनी तुर्किस्तान या सिङ्-क्याङ्)से आया। अच्छे-अच्छे घोड़े महीनोंकी मंजिलसे दुबले होकर हड्डी-हड्डी रह गये थे।

यहीं बड़ौदासे तार पहुँचा—आप ओरियंटल कान्फ्रेंसके हिन्दी विभागका सभापतित्व स्वीकार करें। इस कान्फ्रेंसके सभापति जायसवालजी होनेवाले थे और उनके साथ मुझे बड़ौदा जाना ही पड़ता, इसलिए उसके स्वीकार करनेमें कोई खास तरद्दुद न था। मैंने स्वीकृति भेज दी।

लौटनेकेलिए मैंने लाहुल-कुल्लूका रास्ता चुना था। जून-जुलाईके महीनेमें होशियारपुरके घोड़ेवाले आ चुके थे। खर्चके रुपयोंकी कमी हो गई थी, किन्तु नेपालके साहु धर्ममानजीकी एक शाखा यहाँ भी खुल गई थी, साहिला साहु वहाँ मौजूद थे, इसलिए मुझे पैसोंके मिलनेमें दिक्कत न हुई।

लदाखसे प्रस्थान—लेमें मैं ४ जुलाईसे १६ सितम्बरतक अबकी लगातार रह गया। काम भी बहुत हुआ। "मज्झिमनिकाय"का हिन्दी अनुवाद "तिब्बतमें बौद्धधर्म", भोटिया पुस्तकें और यात्रापर कई लेख लिख डाले।

१७ सितम्बरको मुझे ले छोड़ना था। क़ानूनगो, तहसीलदार, वज़ीर साहेब सबसे बिदाई ली। सबसे ज्यादा अफ़सोस हुआ जोजफ़ गेरगेनसे बिदाई लेते वक़्त। लदाखमें वही एक ऐसे व्यक्ति थे, जिनको अपनी भाषा, संस्कृति और साहित्यका बहुत अभिमान है, और उन्होंने अपनी सारी जिन्दगी उसीके अध्ययनमें लगा दिया। अब वह बहुत बूढ़े हो गये थे, पके आमकी तरह किसी समय वृन्तसे टूट सकते थे। गेरगेनसे फिर मुलाकात हो सकेगी, इसमें सन्देह था। दोपहर बाद मैं अपने घोड़ेपर सवार हुआ। आज बहुत दूर नहीं जाना था, सिर्फ़ ८ मीलपर ठिकसे गुबामें रहना था। ३ बजे शेके महलमें पहुँचा। लदाखका राजवंश लेमें राजधानी बनानेसे पहिले इसी जगह रहता था। सिन्धुकी धार यहाँसे नज़दीक है। अब भी यहाँ एक महल और गुम्बा मौजूद है। १०० वर्ष पहिले जब लदाख स्वतन्त्र था, तबतक रानियाँ पुत्र जन्मके वक़्त इसी महलमें आती थीं। पचीसों पीढ़ियोंतक लदाखके राजा यहीं पैदा होते रहे। उस वंशका उत्तराधिकारी अब भी मौजूद है। लेके राजप्रासादकी तरह शेका प्रासाद भी उसीके हाथमें है, लेकिन बेचारेकी इतनी आमदनी नहीं, कि महलोंकी मरम्मत करा सके। गुम्बामें बुद्धकी एक विशाल मूर्ति है। हस्तलिखित कंजूर-तंजूरके बहुतसे पत्रे ढेर किये हुए हैं। ७ साल पहिले

लेकिन घोड़ेपर होनेसे कुछ मालूम नहीं हुआ। यह गाँव साढ़े ग्यारह हजार फ़ीटकी ऊँचाईपर है। रातमें बूँदाबाँदी रही। यहीं होशियारपुरके हमारे घोड़ेवाले भी मिल गये।

दूसरे दिन (१९ सितम्बर) १६ मील चलकर मीरु गाँवमें रहना था। घोड़े खच्चरवाले खा-पीकर १०, ११ बजे चलते हैं। हिन्दू होनेसे उन्हें खाने-पीनेमें बहुत ख़्याल रखना पड़ता है। उपशी गाँवतक हम सिन्धके किनारे-किनारे गये, फिर ग्य नदीका किनारा पकड़ा। आबादी कहीं नहीं दीख पड़ी। जगह-जगह छोटी-छोटी झाड़ियाँ मिलीं। दिनभर बादल रहा और गाँवमें पहुँचते-पहुँचते वर्षा होने लगी। मीरु बहुत पुराना गाँव है। कहावत मशहूर है—"ग्रुङ्-लस् सुङ्-व म्ख-ल-र्चे। युल्-नम् सुङ्ब व मि-रु-र्चे।" (ग्रामादोंमें पुराना खलचे है, गाँवोंमें पुराना मिरु है)। किसी वक्त यह बड़ा गाँव था, दूरतक खँडहर ही खँडहर दिखलाई पड़ते हैं। सभी भाइयोंकी सिर्फ़ एक स्त्री होनेके कारण तिब्बतकी और जगहोंकी तरह लदाखकी भी आबादी कम होती गई, और अभी उम्मेद नहीं कि गाँवोंके बढ़नेकी नौबत आयेगी। गाँवसे आगे एक चट्टान आगेकी ओर निकली हुई थी, उसीके नीचे हम लोगोंका डेरा पड़ा। ओरगेन् (रामदयाल) इसी गाँवमें रहते थे। वह रहनेवाले बुशहरके थे, लेकिन अब यहीं घरजमाई बनकर रह गये। मुझे वह हेमिसमें मिल चुके थे, यहाँ भी मिल गये। उनके घरपर गया। घर क्या पत्थरोंका ढेर था। गेहूँका होना और ५ अंडे लेकर शामको वह मेरे पास पहुँचे। उनका बहुत आग्रह था, कि मैं उनकेलिए यन्त्र लिख दूँ, मैं कितना ही समझाता, किन्तु वह माननेकेलिए तैयार नहीं थे। फिर उन्होंने दो यन्त्र लिखवाये, एक तो सन्तान होनेकेलिए, और दूसरा गृहिणीके गरम स्वभावको ठंडा करनेकेलिए। मैंने ब्राह्मी अक्षरमें यही लिख दिया "मन्त्र कुछ नहीं।" गरम स्वभाव ठंडा होगा, इसकी तो आशा नहीं थी, लेकिन जो कहीं सन्तान हो गई, तो वह हिन्दुस्तानके लामाके मन्त्रका ही प्रभाव समझा जायगा। दूसरे दिन (२० सितम्बर) खाते-पीते साढे बारह बज गये। रास्तेमें दो-एक घर मिले फिर ग्यका बड़ा गाँव आया। ग्य गाँव ग्यारहवीं सदीमें मौजूद था। यहाँका ही भिक्षु चोन्डूसेङ्गे विक्रमशिलामें पढ़ने गया था और दीपंकरके साथ तिब्बत लौटा था। यहाँ आसपास पुराने स्तूपों और विहारोंके बहुतसे ध्वंसावशेष हैं। ३ मील आगे जानेके बाद लदाखका आखिरी गाँव मिला, अब इसके बाद गाहुलमें ही घर दिखलाई पड़नेवाले थे। उस वक़्त फसल कट गई थी। हम ऊपरकी तरफ़ जितना ही बढ़ते जा रहे थे, उपत्यका भी उतनी चौड़ी होती जा

उतराईमें आये। सबने सन्तोषकी लम्बी साँस ली। ऐसी जोतोंपर यदि कोई घोड़ा-खच्चर चलनेमें असमर्थ हो जाता है, तो उसे वहीं छोड़ देना पड़ता है। क्योंकि घास-पात तो कहीं है नहीं, टिकनेका मतलब है २, ४से और हाथ धोना। लोड्-लाचाने किसी पशुकी बलि नहीं ली, इसकेलिए उन्हें सन्तोष होना ही चाहिए। छूट गये गदहे या खच्चरका फलाहार करनेकेलिए पहाड़ोंमें भेड़िये काफ़ी रहते हैं। अब हम चरब नदीके किनारे आ गये। आगे कुछ दूर जानेपर हम लोग ठहर गये। आज ७ मीलसे ज्यादा नहीं चल सके। यह जगह भी १३ हजार ४०० फ़ीट ऊँची थी, लेकिन हमको गरम मालूम होती थी, क्योंकि हम बहुत सर्द जगहसे आ रहे थे। नदीपार खूब घास थी। खच्चरवाले जानवरोंको वहाँ चरनेकेलिए ले गये। रातको कोई जानवर घोड़ोंपर हमला न करे, इसलिए ३ आदमी भी आटा-चाय लेकर वहीं सोने गये। अभी भी हम कश्मीर रियासतमें थे। अगले दिन (२४ सितम्बर) सवा ग्यारह बजे हमने कूच किया। हमारे बाएँसे एक नदी आई, यही लदाख़ (काश्मीर) और कुल्लूकी सीमा है। कुछ दूर आगे जानेपर सामने एक पहाड़की जड़से पानीकी पचासों धाराएँ निकलती दिखाई दीं। हमारे साथी इस जगहको टट्टूपानी कहते थे। मुझे आश्चर्य है, ब्राह्मणोंने इसे कोई बड़ा तीर्थ क्यों नहीं बनाया? पानीका इतना सुन्दर चमत्कार बहुत कम मिलेगा। इसे आसानीसे सहस्र-धारातीर्थ कहा जा सकता है और दस-बीस श्लोकोंको गढ़कर महातम भी बनाया जा सकता है। शायद, थैलीवाले भक्तोंको यहाँतक आनेकी हिम्मत नहीं होगी। अगली जोत कितनी खतरनाक है, यह आगे बतायेंगे। सिक्खोंको भी हिमालयके तीर्थोंकी बड़ी जरूरत है, वही क्यों न अपने किसी गुरुके नामपर सहस्रधारातीर्थ अपना लें। कोई-कोई कहते भी हैं कि यहाँ पाण्डवोंने यज्ञ किया था।

आगे लिङरीका बड़ा मैदान मिला। यहाँ एक डिस्ट्रिक्टबोर्डकी सराय है। नदीके किनारे घास भी खूब है। जहाँ-तहाँ कुछ पुराने स्तूप मौजूद हैं। हम मैदानके छोरतक पहुँच गये थे। वहाँ एक चश्मा था। बादल चारों ओरसे घिर आये थे। लोगोंने यहींपर ४ बजे ही डेरा डाल दिया। अभी फोलकङडाकी जोत यहाँसे १२ मील थी। यहाँ ठहरनेका एक और भी कारण था—कुछ ही दूरपर जंगली चना, और गेहूँ खूब उगा हुआ था। जंगली कहनेसे आश्चर्य करनेकी जरूरत नहीं, क्योंकि पहिले सभी अनाज जंगलमें पैदा होते थे, आदमीने उन्हें खेतोंमें बोना शुरू किया और बुद्धि लगाकर उनमें और अच्छे बीज तैयार किये। गेहूँका दाना तो मुझे नहीं

पहिलेके गिरे हुए भी वहाँ मौजूद थे। मेरा घोड़ेवाला सुक्खू कह रहा था कि पत्थरके लगनेसे पिछले साल उनकी चायकी मोटरी गिर गई और पीछे आनेवाली खचरीकी तो टाँग भुल गई थी। बरफ़ इस वक्त बराबर पड़ रही थी। इस पहाड़में पत्थरोंके गिरनेका कारण है—मिट्टीका नाम नहीं है, लाखों बरसोंमें टूटकर अरबों छोटे-बड़े पत्थर जमा है, जो बरफके पिघलनेसे खिसकते और एक-दूसरेसे टकराते नीचेकी ओर गिरते है।

उतराई मुश्किल नही थी, कही-कही पैर फ़िसल रहा था। मैंने अपने घोड़ेको आगे बढाया। ९८, ९७ मीलवाले पत्थरोंके बीच जीजीब्बड़की सराय मिली। लोगोंने परसेव (दो-सम्) मे आज रहनेकेलिए कहा था, मैं वहाँ सरायमें पहुँचा। सराय बहुत गन्दी थी। एक फुट लेडी-गोबर भरा हुआ। १ घंटा प्रतीक्षा की, लेकिन वह डाकबँगलेके पासवाली सरायमे ठहरने वाले थे, इसलिए मैं भी वहाँ चला गया। सावनके महीनेमे यहाँ बहुत बडा मेला लगता है, जिसमे जाँस्कर, लदाख, तिब्बत, स्पिति, लाहुलके हजारो आदमी आते है; ऊन, नमक, भेड़बकरी तथा नीचेकी चीजोंकी खरीद-फरोख्त होती है।

अगले दिन २७ सितम्बर में ६½ बजे ही घोड़ेसे रवाना हो गया। ९३वें मीलसे ८७वें मीलके पास तक रास्ता उतराईका था और कही-कही वह बहुत कठिन था। इस जगह पहाड़ोंपर बाँसी-जैसी घास थी। नदीकी दूसरी ओर भोजपत्रके वृक्ष दिखलाई पड़ते थे। अब हम भागानदीके किनारे-किनारे चल रहे थे। ९१वें मीलके पास पहिला देवदार दिखलाई पडा। लदाखके वृक्ष-वनस्पति-शून्य नंगे पहाड़ोंको साढ़े तीन महीनोंसे देखते-देखते आँखें हरियालीकेलिए तरस रही थीं। ८९वें मीलके बाद पहिला घर मिला। यह घर भी लदाखियों जैसा था। इस इलाकेको दारचा कहते है। सारे लाहुल-प्रदेशकी आबादी १०,१२ हजारसे ज्यादा नही, किन्तु यहाँ आधी दर्जन भाषाएँ बोली जाती है, और पोशाकमे भी एक दूसरेसे अन्तर है। दारचाकी औरतें लदाखी औरतोंकी भाँति ही फीरोजा-जटित नागफणवाला भूषण और कानोंपर ऊनी हाथी-कान लगाती है; हाँ उसके साथ-साथ नाकमे एक दुअन्नी भरकी लवंग भी, जो बतलाती है कि हम हिन्दुस्तानके पास पहुँच रहे है। आगे तीन नदियोंकी सम्मिलित धार आई। हम उसके दाहिने किनारेसे चलने लगे। अब देवदार काफ़ी दिखलाई पड रहे थे। रास्तेके नीचे बहुत दूर तक छोटे-बड़े पत्थर पड़े हुए थे। मालूम देता था, सचमुच ही सैकड़ों दैत्योंने हजारों वर्षोंसे पत्थर तोड़-तोड़कर यहाँ फेंका है। पीछे ठाकुर खुश-

पहिलेके गिरे हुए भी वहाँ मौजूद थे। मेरा घोड़ेवाला सुक्खू कह रहा था कि पत्थरके लगनेसे पिछले साल उनकी चायकी मोटरी गिर गई और पीछे आनेवाली खचरीकी तो टाँग भुल गई थी। वरफ़ इस वक़्त बराबर पड़ रही थी। इस पहाड़में पत्थरोंके गिरनेका कारण है—मिट्टीका नाम नहीं है, लाखों बरसोंमें टूटकर अरबों छोटे-बड़े पत्थर जमा हैं, जो बरफके पिघलनेमें खिसकते और एक-दूसरेसे टकराते नीचेकी ओर गिरते हैं।

उतराई मुश्किल नहीं थी, कहीं-कहीं पैर फिसल रहा था। मैंने अपने घोड़ेको आगे बढ़ाया। ९८, ९७ मीलवाले पत्थरोंके बीच जीजीड्वड़की सराय मिली। लोगोंने परसेव (दो-सम्) में आज रहनेकेलिए कहा था, मैं वहाँ सरायमें पहुँचा। सराय बहुत गन्दी थी। एक फुट लेड़ी-गोबर भरा हुआ। १ घंटा प्रतीक्षा की, लेकिन वह डाकबँगलेके पासवाली सरायमें ठहरने वाले थे, इसलिए मैं भी वहाँ चला गया। सावनके महीनेमें यहाँ बहुत बड़ा मेला लगता है, जिसमें जांस्कर, लदाख, तिब्बत, स्पिति, लाहुलके हजारों आदमी आते हैं, ऊन, नमक, भेड़बकरी तथा नीचेकी चीज़ोंकी खरीद-फरोख्त होती है।

- अगले दिन २७ सितम्बर में ६½ बजे ही घोड़ेसे रवाना हो गया। ९३वें मीलसे ८७वें मीलके पास तक रास्ता उतराईका था और कहीं-कहीं वह बहुत कठिन था। इस जगह पहाड़ोंपर बाँमी-जैसी घास थी। नदीकी दूसरी ओर भोजपत्रके वृक्ष दिखलाई पड़ते थे। अब हम भागानदीके किनारे-किनारे चल रहे थे। ९१वें मीलके पास पहिला देवदार दिखलाई पड़ा। लदाखके वृक्ष-वनस्पति-शून्य नंगे पहाड़ोंको साढ़े तीन महीनोंसे देखते-देखते आँखें हरियालीकेलिए तरस रही थीं। ८६वें मीलके बाद पहिला घर मिला। यह घर भी लदाखियों जैसा था। इस इलाकेको दारचा कहते हैं। सारे लाहुल-प्रदेशकी आबादी १०,१२ हजारसे ज्यादा नहीं, किन्तु यहाँ आधी दर्जन भाषाएँ बोली जाती हैं, और पोशाकमें भी एक दूसरेसे अन्तर है। दारचाकी औरतें लदाखी औरतोंकी भाँति ही फीरोज़ा-जटित नागफणवाला भूषण और कानोंपर ऊनी हाथी-कान लगाती हैं; हाँ उसके साथ-साथ नाकमें एक दुअन्नी भरकी लवंग भी, जो बतलाती है कि हम हिन्दुस्तानके पास पहुँच रहे हैं। आगे तीन नदियोंकी सम्मिलित धार आई। हम उसके दाहिने किनारेसे चलने लगे। अब देवदार काफ़ी दिखलाई पड़ रहे थे। रास्तेके नीचे बहुत दूर तक छोटे-बड़े पत्थर पड़े हुए थे। मालूम देता था, सचमुच ही सैकड़ों दैत्योंने हजारों वर्षोंसे पत्थर तोड़-तोड़कर यहाँ फेंका है। पीछे ठाकुर खुश-

किन्तु मैं चुपचाप सुनता जा रहा था। मैं उस वक्त यह नहीं अनुमान कर सकता था, कि उनमें वह हृष्ट-पुष्ट बलिष्ठ तरुणी खुशहालचन्दकी बीबी है। खुशहालचन्द-को यह तीन अँगुलीसे उठा सकती थी। ऐसा अनमेल विवाह क्यों? लाहुलमें कोलङ्, खड्मर् और गुनदलामें ठाकुरोंके तीन परिवार हैं। वह किसी समय अपने-अपने इलाकेके सामन्त राजा थे। और उनकी ब्याह-शादी अपने ही जैसे उच्च वंशोंमें हुआ करती थी। अब भी वह इन्हीं तीनों परिवारोंमें शादी करते हैं, इसलिए लड़के-लड़कियोंकी जोड़ी बैठाना उनके हाथमें नहीं। रातको देरसे ठाकुर मंगलचन्द आये। उन्होंने आकर मेरे आरामकेलिए पूछ-ताछ की।

अगले दिन (२८ सितम्बर) ठाकुर मंगलचन्दसे बात होती रही। उन्होंने बतलाया कि कोलङ्मे तिब्बत सम्राट स्रोङ्-चनके वंशका कोई सामन्त शासन करता था। उस वक्त एक लड़की गद्दीपर थी। नीचेके पहाड़ोंसे नीला राणा नामक एक राजकुमार आया। उसने लड़कीसे ब्याह कर लिया। नीला राणा बहुत जुल्म करता था, लोग उससे तंग आ गये थे। एक दिन उसने शिकार मारा। शिकार खड्डमें गिर गया। कोई उतरनेकेलिए तैयार नहीं था। नीलाराणा खुद उतरा, लेकिन रस्सेकी सहायता बिना ऊपर नहीं आ सकता था। उसके नौकर-चाकर नीलाको वहीं छोड़कर चले आये। कोलङ् ठाकुरवंश उसी लड़कीकी सन्तान है— माँकी तरफसे तिब्बती और बापकी तरफसे पहाड़ी राजपूत। मुझे पता लगा कि पासकी गुम्बामें एक बहुत सुन्दर चित्रपट है। गुम्बा ठाकुर साहेबके घरसे आधे मीलकी चढ़ाईपर थी। वह मुझे वहाँ ले गये। चित्रपट रेशमपर बना है, और बहुत सुन्दर है।

भोजन और थोड़ा विश्राम करके दो बजे मैं अपने घोड़ेपर केलङ्केलिए रवाना हुआ। रास्ता दस मीलका है, लेकिन मुझे कोई जल्दी नहीं थी; और तीन घंटे चलकर केलङ् (१०१०० फीट) पहुँचे। घोड़ेवाले कल ही यहाँ पहुँच गये थे। केलङ् लाहुलका शासनकेन्द्र है। लाहुल यह ल्ह-युल् (देवदेश) से बिगड़कर बना है, लेकिन यहाँवाले अपने प्रदेशको ह्-श ग्यदा गर्ज़ा कहते हैं। लोग तिब्बती बौद्ध-धर्मको मानते हैं, और नाम प्रायः दो-दो रखते हैं, जैसे ठाकुर मंगलचन्दका तिब्बती नाम है टशी-दावा और उनके पुत्र खुशहालचन्दका फ़त्जङ्-दावा। जिस वक्त पंजाबमें सिक्खोंका राज था, तो लाहुलने महाराजा रणजीतसिंहकी अधीनता स्वीकार की थी। लेकिन जैसे ही अंग्रेज कुल्लूतक पहुँचे, वैसे ही लाहुलके ठाकुरोंने अधीनता स्वीकार करते हुए अंग्रेजोंके पास भेंट भेजी। अंग्रेजोंने लाहुलपर हथियारका क़ानून

कभी नहीं लगाया, आज भी वहाँ बन्दूकपर लाइसेंस नहीं है। शायद हिन्दुस्तानमें स्पीति और लाहुल दो ही ऐसे प्रदेश हैं, जहाँ हथियारोंका कानून नहीं है। केलनमें तहसीलदारके भाई ठा० पृथ्वीचन्द मिले। यह ठाकुर मंगलसिंहके बड़े भाईके लड़के हैं। पहले हीसे लाहुलकी तहसीलदारी कोलङ्के ठाकुर-खानदानमें चली आई। पृथ्वीचन्द एफ० एस-सी०में फेल हो गये। आजकल वह फौजमें अफसर होनेकी कोशिश कर रहे थे।

अगले दिन (२९ सितम्बर) ठाकुर पृथ्वीचन्दके साथ घोड़ेपर चढ़कर मैं गुडरङ् गया। लदाख (स्तोक्)की रानी इसी खानदानकी है। यहाँकी गुम्बामें सहस्रबाहु अवलोकितेश्वरकी मूर्ति है। उस वक्त वहाँ सेरा गुम्बाका एक डोंगी-दावा ठहरा हुआ था। गुम्बाकी दीवारोंमें चित्र बने हुए हैं और लताके साथ कुछ मूर्तियाँ हैं, जिनमेंसे कुछ टूट गई हैं। यह मूर्तियाँ काफ़ी पुरानी हैं। कड़ी उतराई उतरकर हम भागाके किनारे आये, और पुलपार करके जो-लिङ् गये। यहाँ एक मन्दिरमें बुद्ध और देवताओंकी पुरानी काष्ठमूर्तियाँ हैं। मन्दिरकी मरम्मत करने-की कोई परवाह नहीं करता। वर्षाके पानीसे मूर्तियोंको बहुत नुकसान पहुँचा है। हम केलङ् लौट आये। यहाँ मोरावियन् मिशनका बहुत दिनोंसे काम हो रहा है, लेकिन लोगोंको ईसाई बनानेमें उसे बहुत कम सफलता हुई। पादरी अस्बो बहुत भद्र पुरुष हैं, वह चाहते हैं कि केलङ्वाले सुशिक्षित बनें और सुखी रहें।

दो बजे हम आगेकेलिए रवाना हुए। नजदीकका पुल टूट गया था, इसलिए कठिन चढ़ाई-उतराईके बाद हमें नीचेके पुलसे भागाको पार करना पड़ा। फारदङ् अगला गाँव था, यहाँ कपड़ा बुननेवाले बुनकरियोंके बहुतसे घर थे, पहाड़में सोंदी कुछ मूर्तियाँ भी थीं। बाईं ओरके एक ऊँचे पहाड़पर गनधोलाकी गुम्बा है, इसे गुरु-घटाल भी कहते हैं, और इसका सम्बन्ध सिद्धवज्रघण्टापासे जोड़ा जाता है। यहीं नीचे चन्द्रा और भागा दोनों नदियोंका मेल होता है फिर वह चन्द्रभागा बन चम्बा रियासतकी ओर जाती है। अब हमारा रास्ता चन्द्राके दाहिने तटसे था। आगे ५८वें मीलपर हम गुंदला पहुँचे। गुंदलाके ठाकुर फ़तेहचन्दसे पृथ्वीचन्दकी बहन ब्याही है और फ़तेहचन्दकी बहन खुशहालचन्दसे। यहाँके ठाकुरोंका मकान बहुत विचित्रसा है, ज्यादातर काठका है, और छः तल्लोंमें विभाजित है—दूरसे देखनेमें एक बड़ी आस्मानगीसा मालूम होता है। यद्यपि ठाकुर फतेहचन्द इस वक्त कुल्लूके मेलेमें गये थे, लेकिन पृथ्वीचन्द हमारे साथ थे, कोई कष्ट नहीं हुआ। ब्रेमवा (फाफड़)के आटेका चीला, मक्खन और खट्टी दहीकी चटनी खानेमें बहुत

अच्छी लगी। तीसरे तल्लेपर मन्दिर है। मूर्तियोंमें प्रथम संस्थापक ठाकुरकी भी मूर्ति है, उसकी पोशाक मुगलकालकी पगड़ी और चौबन्दी। तिब्बती भाषामें "कर्मशतक"का एक पुराना खंडित हस्तलेख देखा। यहाँ एक लचकदार साँड़ा रखा हुआ है, जिसके बारेमें कहा जाता है कि यह तिब्बतमें मिला था, पहिले टूटा हुआ था, फिर जुड़ गया। संगमरमरकी एक जैनमूर्त्ति भी है, जो बुद्धके नामसे पूजी जा रही है। कुछ और भी तिब्बती हस्तलिखित ग्रंथ हैं।

ठाकुर पृथ्वीचन्दको यहींसे लौट जाना था, मुझे आज खोक्सर पहुँचना था। लेकिन बीचमें कुछ पुरानी मूर्त्तियोंका पता लगा था, इसलिए मुझे वहाँ भी जाना था। अगले दिन (३० सितम्बर) साढ़े आठ बजे रवाना हुआ। ५५वें मीलपर मुक्सू और उनके साथी ठहरे हुए थे, उन्होंने वहाँ घोड़ेको दाना खिलाया, फिर मैं सीसू गाँवकी ओर चला। वह रास्तेसे हटकर पहाड़के ऊपर था। किसी वक्त लाहुलके सारे पहाड़ देवदारके वृक्षोंसे ढके रहे होंगे। लेकिन सैकड़ों वर्षोंसे लोगोंने वृक्षोंको बेदर्दीसे काटा है। फलतः जंगल बहुत कम रह गया है। कूटका रोजगार जबसे चमका है, तबसे लोग और नये खेतोंके बनानेमें पिल पड़े हैं। कूट एक बहुत ही सुगन्धित जड़ है। उस वक्त वह ५ रुपया बट्टी (१ बट्टी=३० छटाँक) बिकता था। कूट पहिले सिर्फ जास्करके जंगलोंमें मिलता था। लाहुलवाले वहाँ कूट चुराने जाया करते थे। फिर उन्होंने यहाँ लगाकर देखा और अब वह बाकायदा कूटकी खेती करते हैं, और कूट सिर्फ कश्मीरकी इजारादारी नहीं रह गई। सीसूकी मूर्त्तियाँ मुझे उतनी पुरानी नहीं जँची। वहाँसे दो गाँव और आगे जानेपर मुझे वैद्य घास काटता हुआ मिला, जिसके पास कुछ पुरानी मूर्त्तियोंको बतलाया गया था। पीतलकी ललितासना मूर्त्ति वस्तुतः सुन्दर है, कहा जाता है वह बनारससे उड़कर आई है। दूसरी छोटीसी मूर्त्ति मुकुटधारी धर्मचक्र प्रवर्त्तन-मुद्रासन बुद्धकी है। इसकी पीठपर संस्कृतमें कुछ लिखा हुआ है। अक्षर १०वीं सदीके आसपासके मालूम होते हैं। वैद्य दूरतक मुझे पहुँचाने आया। वे रास्ता ही उतरकर चन्द्राके किनारे आना पड़ा। रास्तेकी कठिनाईकेलिए क्या पूछना? सूर्यास्तके समय खोक्सर पहुँचा। हमारे साथी पहिले हीसे डाकबँगलेके पास डेरा डाले हुए थे।

कुल्लूमें—कुल्लू ५३ मील रह गया था। अगले दिन (१ अक्टूबर) मैं ७ बजे सबेरे ही चल पड़ा। घोड़ेवाले अभी हुक्का-चिलममें लगे हुए थे। कुछ दूरतक तो मामूली चढ़ाई रही, फिर ३ मील जबर्दस्त चढ़ाई आ गई। आगे रहङ्-जोतका समतलसा मैदान मिला। उच्चतम स्थानसे जरासा आगे बढ़नेपर व्यास-

कुण्ड था। व्यास नदीका आरम्भ इसीसे होता है, ब्राह्मणोंने इसे छोटा-मोटा तीर्थ बना लिया और इसे व्यासमुनिका स्थान बतलाते हैं। उन्हें यह पता नहीं कि व्यास नदीका नाम 'विपाश्' है। कुंडके पास एक खंडित मूर्ति है। आगे सिर्फ़ एक जगह थोड़ीसी बरफ़ मिली, जो फिसलाऊ भी थी। उतराईमें घोड़ेपर चढ़ना सवार और जानवर दोनोंकेलिए तकलीफ़की बात है। मैं लगाम पकड़े पैदल चल रहा था। सोचा लगाम छोड़ दूँ, घोड़ाको ऐसे ही ले चलें, लेकिन वह नीचेकी ओर चल पड़ा। खैर, दौड़कर किसी तरह उसे हाथमें किया। कितनी ही दूर जाकर फिर उतराई आई। लोगोंने बतलाया था कि यहाँ साँपोंकी मढ़ी है, सैकड़ों साँप पड़े रहते हैं, लोग मिठाई चढ़ाते हैं, और नाग भगवानको हाथ जोड़ते हैं। मैं भी नाग भगवानका दर्शन करना चाहता था, पर उस वक़्त उनका पता नहीं था। नीचे एक पुल मिला। अब जगह अच्छी आ गई थी, इसलिए घोड़ेपर चढ़ गया। मैंने उसे तेज़ किया। कई बार व्यास नदीको आरपार करना पड़ा। सड़क रलाके डाक-बँगलेसे ही अच्छी मिल गई थी। रास्तेमें एक जगह लदाखके सेव और साथके परोठे खाये। दो बजे मैं मनाली पहुँच गया। यह अच्छा खासा बाज़ार है और पंजाबी दूकान-दार हर तरहकी चीज़ें बेचते हैं। पासमें देवदारोंका एक अच्छासा बाग है, जिसे जंगलके मुहकमेने लगाया है। सेवके बगीचे भी यहींसे शुरू हो जाते हैं, मोटर कुल्लू जानेकेलिए तैयार थी। कुल्लू यहाँसे २३ मील है। गोया आज मैं ३० मील घोड़ेसे आया। सवाल था, यहाँ रहकर गुरुखूका इन्तज़ार करें या आगे चले जायें। मीर दूकानदारसे गुरखूकी जान-पहिचान थी। मैंने घोड़ेके खिलानेकेलिए चार आने पैसे दे दिये और कह दिया कि इसे गुरखूको दे देना। सवा दो रुपया दे मोटरपर बैठा। कुल्लू तक सड़क काफ़ी चौड़ी नहीं है, इसलिए एक वक़्त एक ही ओर लारी आती है और मनाली तथा कुल्लू दोनों ओरकी मोटरें कटराईमें मिलती हैं। यहाँ हरे-हरे दरख़्तोंसे ढँके पहाड़ दोनों तरफ़ हैं। सड़कके किनारे बगीचोंमें लाल-लाल सेव लटके हुए थे। शामको मैं कुल्लू पहुँच गया। लाला थेव्वड़मलके लड़के हलियारामने लदाख हीमें पता बता दिया था, इसलिए मैं उनके घरपर पहुँचा। लाला थेव्वड़मलके देखनेसे मालूम होता था, कि कोई महागरीब है, लेकिन उन्होंने ख़ूब धन पैदा किया है। कुल्लूमें उनकी पाँच, छ दूकानें हैं। एक लड़का लदाखका अच्छा सौदागर है, दूसरा यारकन्द (चीनी तुर्किस्तान)में रोज़गार करता है। लाला थेव्वड़मल व्यापारी ही नहीं हैं बल्कि ख़ुद ही अपने मकानोंके इंजीनियर हैं; किंतु आदमी सजग न रहे, तो दिनमें ज़रूर कोई न कोई अंग टूटके रहेगा।

आजकल कुल्लूमें दसहरेका मेला लगा हुआ था। मैं भी दूसरे दिन (२ अक्तूबर) मेला देखने गया। हर तरहकी चीजें तो बिकती ही हैं, लेकिन यहाँकी खास बात थी सारे पहाड़के ३६५ देवताओंका एकत्रित होना। मुझे संख्या तो पूरी नहीं मालूम होती थी, लेकिन देवता आये थे बहुत सजधजके। छोटी-छोटी डोलियाँ थीं, जिनके भीतर देवता कपड़ोंमें लपेटकर रखे थे। शायद वहाँ कपड़े और चाँदीके पत्तरपर बेढंगी तसवीरें खुदी हुई थीं। अपने-अपने देवताको लोगोंने अलग स्थान निवास-स्थानमें रखे थे। स्त्री-पुरुष शराब पी-पीकर खूब मस्त थे, जगह-जगह नाच हो रहा था। स्त्रियोंकी नाकमें दुअन्नीभरकी गोल लवंग जरूर होती थी और किसी-किसीने तो नाकमें तीन-तीन छेद करवाये थे। तिब्बतकी स्त्रियोंने अभी इसे नहीं समझा है, कि नाकका सूँघनेके अलावा दूसरा भी इस्तेमाल हो सकता है। दूसरा नाकका आभूषण था टिकली। पोशाक, पाजामा, कुर्त्ता और सिरपर रुमाल। किसी-किसीने कुर्तेके ऊपर जाकेट भी पहिन रखी थी। यहाँके स्त्री-पुरुष दोनों सिगरेटके शौकीन हैं। कुल्लूमें एक राजा भी रहता है, लेकिन अब वह जागीरदार भर था। उसका महल सुल्तानपुरमें है। टालपुर, सुल्तानपुरकी अपेक्षा अखाड़ा बाजारमें ज्यादा बड़ी-बड़ी दूकानें हैं। दूसरे दिन (३ अक्तूबर) रावण जलाया गया, देवताओंको पाँच प्राणियों—मछली, मुर्गी, मेष, भैंसा और सूअरकी बलि दी गई। कुल्लू सिर्फ सेब हीकेलिए मशहूर नहीं है, बल्कि इधर पहाड़की एक बड़ी मंडी है। तिब्बतका ऊन यहाँ आता है। हमारे साथ चीनी तुर्किस्तानके चरसको ढो-ढोकर ला रहे थे और यहींसे वह सारे हिन्दुस्तानमें जाती है।

४ अक्तूबरको मेलेकी तरफ गये, मालूम हुआ, घोड़ेवाले कल ही यहाँ पहुँच गये। सामान काफ़ी था, सबको अपने साथ ले जाना जहमत समझ मैंने यहींसे रेलवे ऐजेन्सीको देकर पटनाकेलिए बिल्टी करा दिया। लाला थेब्बड़मल खाने-पीनेमें कजूस नहीं थे। उनके यहाँ मास पकता था और कुल्लूके झीवर (कहार) ब्यासकी मछलियोंको पकाकर बेचते थे। वह स्वादिष्ट थी।

५ अक्तूबरको सवेरे ही उठकर हाथ-मुँह धो नाश्ता किया। मोटर साढ़े ६ बजेसे आकर मेलेके मैदानमें ठहरी रही। फिर ८ बजे डाक लेकर वहाँसे रवाना हुई। रास्तेमें गद्दियोंकी भेड़ें मिलती थीं, और उनके हटनेमें देर होती थी। अब हमें गरमी मालूम हो रही थी। ११ बजे मंडी पहुँचे, यहीं मध्याह्न-भोजन किया। १२ बजे फिर लॉरी चली। थोड़ा ही आगे ब्यासका पुल पार करना पड़ा। पुलवालेने एक पैसा महसूल लिया। कुछ देर चलकर फिर हमें पहाड़ोपर ऊपर ऊपर चढ़ना

पड़ा। एक जगह और रियासतको ६ आना कर देना पड़ा। ४ बजे हम योगेन्द्रनग पहुँच गये। आर्यसमाजमें ही गुजारा हो सकता था, क्योंकि सनातनधर्ममन्दिरवाले शायद हमारे भक्ष्याभक्ष्यसे सन्तुष्ट न होते।

६ अक्तूबरको ६ बजे सबेरे हमारी गाड़ी रवाना हुई। बैजनाथमन्दिर आनेपर बहुत गर्मी मालूम होने लगी। मैंने समझा था, अक्तूबरमें गर्मी खतम हो जायेगी। गाड़ीमें भीड़ नहीं थी। ज्वालामुखी-रोड स्टेशनको पार किया, देवीका दर्शन नहीं कर सके, इसकेलिए अफसोस रहा। एक सज्जन ज्ञानयोग, कर्मयोगपर बात करते रहे। अन्तमें उन्हें मालूम हुआ कि मैं नास्तिक हूँ, तो कुछ उन्हें आश्चर्य हुआ। साढ़े ५ बजे पठानकोट पहुँचे। छोटी लाइन खतम हो गई, और बड़ी लाइनकी गाड़ी ६ बजे रवाना हुई। अमृतसरमें गाड़ी बदलनेकी जरूरत नहीं पड़ी। मैं साढ़े दस बजे रातको लाहौर पहुँच गया।

लाहौरमें (७-११ अक्तूबर १९३३ ई०)—लाहौरसे मेरा बहुत पुराना सम्बन्ध है, लेकिन पुराने सम्बन्धवाले स्थानोंमें सालों बाद जब आदमी जाता है, तो कितने ही परिचित चेहरोंको सदाकेलिए विलुप्त हो गया देखता है, जिससे दिलपर हलकीसी टीस लगती है। यह प्रसन्नताकी बात थी, कि एक पुराने मित्र पं० सन्तराम वहाँ मौजूद थे। डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप तो कल स्टेशनपर लेने गये थे, किन्तु मैं वहाँसे चला आया था। वह कहाँ छोड़नेवाले थे, इसलिए उनके घरपर चला जाना पड़ा। लाहौरमें मुझे एक विशेष कार्यकेलिए प्रयत्न करना था, वह था पंजाब-विश्वविद्यालयमें तिब्बती भाषाको भी परीक्षाकेलिए स्वीकार कराना। डाक्टर वुलनर उस वक्त विश्वविद्यालयके वाइस-चान्सलर थे। उन्होंने इस विषयमें बड़ी दिलचस्पी दिखाई और कहा कि यदि कश्मीर-सरकारका शिक्षाविभाग सिफारिश कर दे, तो हमारे काममें आसानी हो जायेगी। कश्मीरके शिक्षाविभागसे आशा नहीं थी और यह बात वहींकी वहीं पड़ी रही।

यद्यपि अक्तूबरका प्रथम सप्ताह बीत चुका था, किन्तु मुझे यहाँ गर्मी मालूम हो रही थी। डाक्टर लक्ष्मणस्वरूपने अपना जीवन निरुक्तके लिए दे दिया था। अपने सामने मैंने उन्हें नवतरुण देखा था, जब कि मैं पहले-पहल लाहौर गया था, किन्तु अब वह शरीर और मन दोनोंसे बूढ़े हो गये थे। मालूम होता था कि अब वह अपनेको जीवनके अन्तिम छोरपर समझ रहे हैं। प्रोफेसर सिल्व्याँ लेवीका पत्र लेकर कुमारी लाजवंती रामकृष्णा कश्मीर गई थीं, किन्तु तबतक मैं लदाख चला गया था। वहाँ डाकसे उनका पत्र मिला। मैंने लाहौर आनेपर उनको सूचित कर दिया

था। उनके पत्रके उत्तरमें डाक्टर साहबने बड़ी नम्रताके साथ लिख दिया था कि मैं उनके यहाँ ठहरा हूँ, यदि इच्छा हो (If she Cares) तो अमुक समय मिल सकती है। 'इच्छा हो'केलिए डाक्टर साहबने जिस शब्दका प्रयोग किया था, उसका अंग्रेजीसे अक्षरशः अनुवाद करनेपर अर्थ निकलता था 'यदि गरज हो'। इसपर लाजवंतीजी बहुत नाराज हो गईं। मुझे और डाक्टर साहबको बहुत सफ़ाई देनी पड़ी। डिक्शनरियाँ खोलकर भी हम दिखानेको तैयार थे, किन्तु उधर 'तिरियाहठ' था। लाजवंतीजीने मीठी-मीठी चाय पिलाई। मुझपर तो वह रंज नहीं थी, किन्तु मालूम नहीं, डाक्टर साहबको उन्होंने क्षमा किया या नहीं? डाक्टर साहब होम्यो-पैथिक डिब्बा भी रखते थे। मैंने पूछा यह क्यों? उत्तर मिला—सचमुच राजी-खुशीसे नहीं ठोंक-पीटकर वैद्य बनाया गया हूँ। पहाड़पर जाया करता था। लोग डाक्टर सुनकर दवाई लेने चले आया करते थे। यह डाक्टर नहीं वह—इसके बारेमें कौन माथा-पच्ची करे, मैंने होम्योपैथीका डिब्बा मँगा लिया और जो आता उसे दवा देता था। यह अच्छी तरह जानता ही था, कि होम्योपैथीकी गोलियाँ नुकसान नहीं करतीं। "और फायदा भी रामभरोसे ही होता है"—मैंने हँसते हुए कहा।

लाहौरमें कुछ व्याख्यान भी देने पड़े। लाहौर अब १८ साल पहलेवाला लाहौर नहीं था। अभी वह वहाँ नहीं पहुँचा था, जहाँ कि वह उजड़नेके समय पहुँचा था, किन्तु यहाँका शिक्षित मध्यम-वर्ग यूरोपके आधे मार्गसे ही यूरोपकी भूमिपर पहुँच गया था। रमणियाँ पेरिसकी अप्सराओंका कान काट रही थीं। लाहौरकी जन-संख्या भी तेजीसे बढ़ती जा रही थी। शिक्षा ही लोगोंको गाँवोंकी तरफ़से नगरोंकी तरफ फेंकती है। यहाँ तो हिन्दुओंको शहरोंकी तरफ भागनेकेलिए मजबूरियाँ भी पैदा हो गई थीं। उस समय वह लाहौरको अलकापुरी बनानेमें लगे हुए थे, किन्तु तब उनको क्या पता था—"सब ठाठ पड़ा रह जायेगा, जब लाद चलेगा बनजारा"।

११ अक्तूबरको अपने दो मित्रों पं० सन्तरामजी और पं० भूमानन्दजीके साथ स्वामी सत्यानन्दजीसे मिलने अमृतधारा गये। आर्यसमाजके ये बड़े प्रसिद्ध वृद्ध संन्यासी थे। जैनसाधुसे वह आर्यसमाजी बने थे। उनके मधुर व्याख्यानोंकी बड़ी धूम रहती थी। मैंने मुसाफिर विद्यालयके ज़मानेमें आगरेमें उनके दर्शन किए थे। लाहौरमें जब पहले पहल आया, उस वक्त उन्होंने मेरी सहायता की थी। उन दिनों आर्यसमाजी प्रचारक बननेकी मुझमें धुन थी। अब मैं नास्तिक हो गया था। ईश्वरके अभावका मुझे चौबीसों घंटे साक्षात्कार होता था और उधर स्वामी सत्यानन्दजी भगवानका दर्शन कर चुके थे। अजब विरोधि-समागम था। उनका स्वभाव भी मधुर है और

में भी बात करनेमें उत्तेजित नहीं होता। मैंने चर्चा चलनेपर अपनी नास्तिकताके बारेमें स्पष्ट कहा। वह आँखें मूंदे ध्यानावस्थित हो बातें कर रहे थे, ईश्वरदर्शनकी भी बातें करते जा रहे थे।

२१ अक्तूबरको मैं लाहौरसे पूरबकी ओर चला।

जाड़के दिन

अबकी लदाख-निवासमें मैंने 'मज्झिमनिकाय'का पालीसे हिन्दीमें अनुवाद किया था। उसका दिसम्बरतक छप जाना भी अनिवार्य था, इसलिए प्रयागमें रहनेकी आवश्यकता थी; क्योंकि वहीं लॉ जर्नल प्रेसमें पुस्तक दी जानेवाली थी। लेकिन, बीचमें जहाँ-तहाँ मित्रोंके आग्रहको पूर्ण करना भी आवश्यक था।

बनारस-सारनाथ—हमारी गाड़ी लाहौरसे फैजाबाद होती सीधे बनारस पहुँची। यहाँके मित्र सभी बाहर गये हुए थे। १३ अक्तूबरको भाई साहब मौलवी महेशप्रसादसे मिलने चला गया। अब वह बड़े परिवारके स्वामी थे, लेकिन आर्यसमाज-की लगन अब भी उनमें बनी हुई थी। १४ ता०को सारनाथ गये। अनागारिक धर्मपालके देहान्त हो जानेके बाद अभी महाबोधी सभाके खर्चका अधिकार मंत्रीको मिला नहीं था, इसलिए 'मज्झिमनिकाय'के अनुवादके छापनेका निश्चय नहीं हो सका। विसेसरगंजमें पुराने मित्र राजवैद्य मुरारीलालजी मिले। उनको वैद्य बनानेमें मेरा भी कुछ हाथ था। मैंने ही आर्यसमाजकी उपदेशकी छोड़ वैद्यक पढ़नेकेलिए कहा था, लेकिन उनकी वैद्यक कुछ चल नहीं रही थी। हाँ, वेदान्तकी बीमारी अभी भी उनका पीछा नहीं छोड़ रही थी।

पटना—१४ ता०को ही मैं पटना पहुँच गया। तीन बजे रातको कौन नौकरों-को परेशान करे, मैं जायसवालजीकी कोठीके बरामदेमें कुर्सीपर ही लेट रहा। सवेरे, जायसवालजीने देखा और दोनों गंगाजी स्नान करने गये—वह गंगास्नानके बड़े पक्षपाती थे और कहते थे इससे जुकाम कभी नहीं होता। गंगाजल अब भी रजस्वल था, इसलिए नहानेमें मुझे तो आनन्द नहीं आया, मालूम हुआ अबकी सालकी अति वृष्टिसे लदाख हीमें घर नहीं गिरे बल्कि इधर भी अच्छे-अच्छे घर नूने लगे थे।

"मंजुश्रीमूलकल्प"को देखते वक्त मुझे उसके कुछ अध्याय ऐतिहासिक महत्त्वके मालूम हुए। मैंने इसकी चर्चा जायसवालजीसे की। वह अबकी गर्मियोंमें उसपर भिड़ गये और उन्होंने उसके सम्बन्धमें एक महत्त्वपूर्ण लेख लिख डाला। मैंने जब उसके हस्तलेखको पढ़ा, तो मुँहसे निकल आया—जायसवालजी जादूगर हैं, कहाँसे इतने

बातें निकाल लेते हैं। सचमुच ही उनकी प्रतिभा अद्वितीय थी। अफ़सोस यही रहता कि जीवनके बहुमूल्य समयको वह अपने योग्य काममें नहीं लगा सके।

छपराके मेरे राजनीतिक सहकर्मी अब भी जबतब मिलते और कभी-कभी कार्यक्षेत्रमें आनेकेलिए जोर भी देते थे। किन्तु जान पड़ता है, मैं प्रकृत्या राजनीतिकेलिए नहीं बनाया गया। १९ अक्तूबरको मैंने दैनन्दिनीमें लिखा भी था—(१) "अत्यन्त आदर्शवाद, पुराने साथियोंके विरोधपर पश्चात्तापका प्राबल्य, (२) इतिहासकी खोजकी ओर उत्कटरुचि". . . । मेरे राजनैतिक सहकारी जैसी बयार बहती थी, वैसे बन जाते थे—कहीं जाति-पाँतिकी भावनाके सहारे काम निकालना चाहते थे और कभी निजी स्वार्थके फेरमें पड़ जाते थे। मैं इस पैतरेबाजीमें कितनीबार अकेला रह जाता था। दूसरी ओर विद्यासंबंधी कार्योंका आकर्षण था ही। तो भी वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक विधानसे मैं सन्तुष्ट नहीं था, इसीलिए समय-समयपर मैं अपनेको काबूमें नहीं रख पाता था। उस वक्त छपरामें कोई चुनावकी धूम थी। .

भागलपुर—भागलपुरमें बिहार प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन था, जिसके सभापति जायसवालजी निर्वाचित हुए थे। २० अक्तूबरको जायसवालजीके साथ भागलपुरकेलिए रवाना हो गया। उसी दिन श्री बलदेवचौबे (वर्तमान स्वामी सत्यानन्द) की चिट्ठी मिली। उन्होंने अन्तिम परीक्षासे तीन महीने पहिले बी० ए० की पढ़ाईमें असहयोग करना चाहा था, उस समय मैंने उन्हें रोकना चाहा था; किन्तु वे रुके नहीं, अब लोकसेवकसमितिकी सदस्यतासे इस्तीफ़ा देने जारहे थे। मैंने परिवारका [illegible]चार करके वैसा न करनेकेलिए कहा, लेकिन वे माननेको तैयार नहीं थे। खैर, [illegible]दमी या परिवार हरएक परिस्थितिमें कोई रास्ता निकाल ही लेते हैं। और मैं [illegible] चौबेजीके परिवारकी जीवन-यात्राका काफ़ी श्रेय बहन महादेवीजीको दूँगा। [illegible]न्होंने अध्यापकी करके लड़के-लड़कियोंकी पढ़ाईको सभाला, नहीं तो चौबेजी आरंभ [illegible]से घरफूँकू थे। घुमक्कड़ होते हुए घरफूँकूकी चिन्ता मुझे क्यों होने लगी, यह प्रश्न [illegible] सकता है, किन्तु मेरी चिन्ता चौबेजीकेलिए नहीं थी।

भागलपुरमें हम श्री देवीप्रसाद ढंढनियाँके यहाँ ठहरे, जायसवालजीके कारण [illegible] समझिए, नहीं तो मुझे वहाँ ठहरनेकी आवश्यकता नहीं थी। ढंढनियाँजीका [illegible]कान खूब साफ़-सुथरा था, कमरे सजे हुए थे। कितनी ही कलासम्बन्धी वस्तुओंका [illegible] उन्होंने संग्रह किया था। लेकिन मैंने टिप्पणी लिखी थी—

"जिनके परिश्रमके बलपर यह सब उपजता है, उनकी क्या अवस्था है?"

[illegible]गले दिन (२१ अक्तूबर) हम सुलतानगंज गये। गढ़पर एकाध मूर्तिखंड नये देखनेमें

आए। नावसे हम गंगाके भीतर अजगैबीनाथ देखने गये। जिस शिलाका यह टा है, उसपर बहुतसी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। जायसवालजी भी सहमत थे, कि ये गुप्तकालय हैं। गुप्तकाल अर्थात् विक्रमादित्यकाल, फिर यह शिला विक्रमशिला कही जा सकत है। तो भी सुलतानगंज विक्रमशिला है यह निस्संकोच नहीं कहा जा सकता; क्योंि विक्रमशिला जैसे महाविहारका ध्वसावशेष यहाँ दीख नहीं पड़ता।

नवा बजेसे साहित्य-सम्मेलनका आरंभ हुआ। बनैलीके कुमार रामानन्दसि स्वागताध्यक्ष बनाये गये थे, लेकिन उन्हें आनेकी फुर्सत नहीं थी! जायसवालजीव भाषण विद्वत्तापूर्ण रहा। गामको गृहपतिके भतीजे हमें अपना सुन्दर धन दिख लानेको ले गये। वहाँ ८० बीघेमें एक विशाल बाग था। एक बड़ी साफ़-सुथर मिट्टीकी भीत जैसी सीमेंटकी कुटिया भी थी। गृहपतिका बहुत आग्रह था, कि जब-तब यहाँ आकर उनके आतिथ्यको स्वीकार करूँ। किन्तु मेरे पैरमें तो चक्कर है

सम्मेलनकी दूसरे दिनकी बैठकमें प्रवाहके विरुद्ध मैंने कचहरियोंमें रोमन लिपिके पक्षमें बोलना चाहा। चारो ओरसे घोर विरोध हुआ और कहा गया कि चूँकि मैं सदस्य नहीं हूँ इसलिए मुझे बोलनेका अधिकार नहीं। किन्तु, जायसवाल जीके कहनेपर लोग मेरी बात सुननेकेलिए तैयार हो गये। उस वक्त सरकार अंग्रेजोंके इशारेपर उर्दू लिपिको भी बिहारकी कचहरियोंमें घुसेड़ना चाहती थी। मैंने यही कहा, कि यदि रोमन अक्षर स्वीकार करते हैं, तो उर्दूसे पिंड छूटता है, नहीं तो उर्दू भी सबको अवश्य पढ़ना पड़ेगा। कचहरियोंके बाहर हमारा सब काम-काज हिन्दी नागरीमें होना चाहिए।

भागलपुर जानेके अवसरपर एक और काम हो गया। मैंने अपनी यात्राओं और यात्रा-सम्बन्धी लेखोंके लिखनेसे अनुभव किया था, कि घुमक्कड़के पास फ़ोटोका कैमरा अवश्य होना चाहिए। मैं अपने साथ लदाख एक कैमरा ले गया था, किन्तु वह उतना अच्छा नहीं जँचा। लाहौरमें एक दूकानपर रोले-फ्लैक्सको देखा। या पुराने माडलका इसलिए १७०) रु०में मिल रहा था, किन्तु उस वक्त तो यह रकम भी मेरेलिए बहुत थी। सुलतानगंजसे निकलनेवाली 'गंगा'में मैंने बहुतसे निःशुल्क लेख दिये थे। अब मैंने कहा—आगे लेख तभी मिलेंगे, यदि कैमरा मिल जाय। 'गंगा'वालोंने रुपया मनीआर्डर कर दिया और कैमरा कुछ समय बाद मेरे पास चला आया। तबसे ११ सालतक वह कैमरा मेरे साथ देश-विदेश घूमता रहा, मैंने उससे हजारों फ़ोटो लिये। १९४४ ई०में रूस जाते वक्त साथ ले जानेकी आज्ञा न होनेके कारण क्वेटामें एक सज्जनके पास रख दिया और वह सदाकेलिए बिछुड़ गया।

प्रयाग—पहली नवम्बरको मैं सारनाथमें था। 'मज्झिमनिकाय'के छपवानेकी बड़ी चिन्ता थी। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई जब महाबोधिसभाके मंत्री देवप्रियजीने उसका छपवाना स्वीकार कर लिया और लॉ जर्नल प्रेसकेलिए ५०० रुपयेका चेक भी दे दिया। मैं अगले ही दिन प्रयाग पहुँचा। लेकिन अभी छपाईके कामके पहले एक और बला सामने आई। भागलपुरसे ही पैरके अँगूठेमें दर्द होने लगा था, जो दिन-दिन बढता ही गया और एक समय तो मालूम होने लगा कि शायद आपरेशन कराना पड़ेगा। डाक्टर धोते रहे, दवाई देते रहे, किन्तु कोई लाभ नहीं। रातको नींद हराम हो गई थी। मैं तो अँगूठेसे वंचित होनेकेलिए भी तैयार था। शायद यह पीड़ा काफ़ी दिनोंतक रही। मैं समझता था कि फोड़ा भीतर ही भीतर पक रहा है। किन्तु अँगूठा फूला भी नहीं था। काफ़ी दिनों बाद पता लगा, कि रबड़के जूतेके कारण, नंगे अँगूठेपर रबड़की रगड़ ही इस दर्दका कारण थी। मैंने जूता हटा दिया और एक-दो दिनमें पैर बिल्कुल ठीक हो गया।

लॉ जर्नल प्रेसको पुस्तक ३ नवम्बरको सौंप दी। पं० कृष्णप्रसाद दरने कहा कि बड़ौदा जानेतक पुस्तक छपकर तैयार हो जायेगी। पौने दो महीनेमें अस्सी फ़रमेकी किताब छापना आसान काम नहीं था और उस समय अभी लॉ जर्नल प्रेसमें मोनोटाइप मशीन भी नहीं थी। हिसाब लगानेसे मालूम हुआ कि १५०० प्रतियों र क़रीब २७०० रुपये खर्च होंगे।

श्री वाङ्मोलमको मैं युरोप जाते सिंहलमें छोड़ गया था। उनपर यक्ष्माका आक्रमण हुआ। एक बार कुछ महीने कनक-शान्तुरेके स्वास्थ्य आश्रममें होकर लौट भी आये थे, किन्तु फिर पुराने लक्षण प्रकट होने लगे और उन्हें लौट जाना पड़ा। सिलोनसे ८ नवम्बरको चिट्ठी मिली, जिसमें वाङ्मोलमके देहान्तकी सूचना थी। आगे यह भी पता लगा, कि वाङ् महाशयने समुद्रमें कूदकर आत्महत्या की थी। वह जीवनसे निराश थे, घुल-घुलकर जीनेकेलिए तैयार नहीं थे और इस तरह उन्होंने छुटकारा पा लिया। किन्तु उनके मित्रोंको तो जीवनभर उनकी स्मृति अपने पास रखनी होगी, जब-तब उस आदर्शवादी हृदय और उसकी सौम्यमूर्तिका ध्यान करना होगा। हाँ, यह ध्यान एक ही पीढ़ीतक रहेगा। अगली पीढ़ी क्या जानती है, कि चीनमें एक आदर्शवादी तरुण था, उसने अपना जीवन बुद्धके सन्देशको फैलानेमें अर्पण किया, फिर बुद्धके देश और उनके व्यक्तित्वसे अधिक घनिष्टता प्राप्त करनेकेलिए वह भारतके पास सिंहलमें आया। वहाँ कितनी सादगी और बालसुलभ स्वभावसे वह रहता रहा और अन्तमें इस प्रकार अपने जीवनका अन्त किया।

सारनाथ—सारनाथका वार्षिकोत्सव आया। ८से १६ नवम्बरतक मुझे वहाँ रहना पड़ा। सारनाथ लोगोंको अधिक और अधिक आकर्षित कर रहा था। उस साल ४००से अधिक यात्री चटगाँवसे आये थे। १० नवम्बरको बनारसमें मैंने भाषण दिया, वहीं एक आदमी मेरे पास आकर खड़ा हुआ। मैंने पूछा कि तुम कहाँ रहते हो? जवाब मिला—बनारस। मुझे उस समय यह नहीं मालूम हुआ कि वह मेरा द्वितीय सहोदर रामधारी है। पीछे जब स्मृति ताजी हुई, तो मुझे दुख हुआ, वह अपने मनमें न जाने क्या समझेगा। लेकिन पचीस-पचीस साल बादतक स्मृति कैसे ताजी रह सकती थी।

११ नवम्बरको सारनाथमें बौद्धोंकी सभा थी। जापानी प्रोफेसर व्योदो भी उसमें बोले थे, मैं तो सभाका सभापति ही था। वक्ताओंमें पं० जवाहरलाल भी थे, उन्होंने बुद्धके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि भेंट की थी। पेनाग (मलाया)के भिक्षु गुणरत्नने अपने यहाँ आनेका आग्रह किया, किन्तु उसे मैं दो साल बाद पूरा कर सका। उसी समय श्री व्योदोके यहाँ भी अतिथि बननेका सौभाग्य मिला।

मैं प्राच्य सम्मेलन (Oriental Conference) बड़ौदाके हिन्दी-विभागका अध्यक्ष चुना गया था। उसकेलिए भाषण लिखना आवश्यक था, किन्तु मेरा लिखनेका मन नहीं करता था। बेमनका लिखना मेरेलिए बड़ा भार होता है। वस्तुतः उसे भाषण देनेके एक दिन पहिले बड़ौदा जाकर पूरा कर सका।

फिर प्रयागमें—मैंने सोचा था कि सारनाथ रहकर प्रूफ देख लूँगा; किन्तु तजर्बेने बतलाया, कि लगीसे पानी नहीं पिलाया जा सकता। इसलिए १६ नवम्बरको प्रयाग चला आया। उदयनारायण तिवारी (अभी वह डाक्टर नहीं हुए थे) उस वक्त दारागंजकी एक सकरी गलीके भीतर रहते थे, वहीं १६ नवम्बरसे प्रायः एक महीनेकेलिए मैंने डेरा डाल दिया। प्रूफका काम बड़े जोरसे चला। कभी-कभी तो रातके ढाई-तीन बज जाते थे। अन्तमें तो एक दिन (१७ दिसम्बर) प्रेसमें जाकर डेरा डालना पड़ा। वहाँ सबेरे आठ बजेसे रातके आठ बजेतक प्रूफ देखने-का काम हुआ। १८ दिसम्बरको 'मज्झिमनिकाय'की छपाई समाप्त हो गई। मुझे बड़ा सन्तोष हुआ।

प्रयागसे मेरा यह प्रथम परिचय हो रहा था। उस समय मुझे क्या मालूम था, कि प्रयागमें घर-द्वार न होते भी वह मेरा घर-सा बन जायेगा और वहाँ बहुतसे हितमित्र, बन्धुबान्धव तैयार हो जायेंगे। डा० बद्रीनाथप्रसाद और डा० उदय-नारायण तिवारी तो आरम्भिक दिन हीसे मेरे मित्र बन गये। यह मित्रता धीरे-

धीरे और अधिक आत्मीयतामें परिणत हो गई। २६ नवम्बरको म्युनिसिपल म्यूजियम देखनेका अवसर मिला। दो ही साल पहले पं० ब्रजमोहन व्यासने संग्रहके कामको शुरू किया था और केवल आन्तरिक भक्तिसे प्रेरित होकर। वहाँ भारशिव कालकी मूर्तियाँ और कितने ही लेख संगृहीत थे। दो शिलालेख महाराज भद्रमाघके थे। व्यासजीने कितने ही चित्र और हजारों हस्तलिखित ग्रंथ भी जमा कर लिये थे। व्यासजीको पुरानी वस्तुओंके संग्रहका नशा है। जबतक नशा न हो, तबतक कोई आदमी असाधारण काम नहीं कर सकता। अल्पसाधन या असाधन आदमी भी धुनमें लग जानेपर क्या कर सकता है, इसका उदाहरण यह म्यूजियम है। दशाब्दियाँ बीतते-बीतते शताब्दीका रूप ले लेंगी, तब तक यह संग्रहालय भी एक विशाल संग्रहालयका रूप ले लेगा। उस समय प्रयागके ही नहीं बाहरके भी इतिहासप्रेमी पं० ब्रजमोहन व्यासका नाम बड़े आदरसे लेंगे। कितने ही लोगोंने पुरातत्व-सामग्रीके संग्रहका शौक़ किया, काफ़ी सिक्के और मूर्तियाँ भी जमा की, वह व्यापारकेलिए भी यह काम नहीं करते रहे, किन्तु उनके देहान्तके बाद संगृहीत निधि तितर-बितर हो गई। हर बातमें पुत्र पिताका उत्तराधिकारी नहीं हुआ करता. इसीलिए अग्रसोचीको व्यास-पथका अनुसरण करना चाहिए। और वस्तुओंके संग्रहमें व्यासजीने जो-जो पथ स्वीकार किए, जैसे-उन्हे मूज़ियोंके पेटमेंसे अनमोल सामग्रीको निकाल लाए, यदि उन बातोंको उल्लेखबद्ध कर दे. तो वह अत्यन्त मनोरंजक ही नहीं बल्कि भविष्यके संग्राहकोंकेलिए बड़े लाभकी चीज होगी।

लदाखमें रहते 'मज्झिमनिकाय'के अनुवादके अतिरिक्त मैंने जो तिब्बती प्राइमर, तिब्बती पाठावलियाँ और तिब्बती व्याकरण लिखे थे, उनके छपानेकी भी फिक्रमें था; किन्तु उस समय केवल प्राइमरके छपनेका प्रबन्ध हो सका, व्याकरण अगले साल निकला। "तिब्बतमें बौद्धधर्म" भी उसी वक्त लिखा गया था। हिन्दुस्तानी एकेडमीकी पत्रिकाने सौ रुपया देकर उसे छापना स्वीकर किया। उस जाड़ेमें चालीस रुपये जायसवालजी और चालीस रुपये महाबोधिसभासे भी मिले थे। यह था संबल जिसके बलपर घुमक्कड़ी नहीं की जा सकती, किन्तु तो भी देनेवालोंकेलिए कृतज्ञता तो प्रकट करनी ही होगी।

४ दिसंबरको मैं उस कल्पनाको सोच रहा था, जो आगे चलकर "वोल्गासे गंगा" के रूपमें प्रकट हुई। चाहता था कि शिकारी जीवनसे लेकर ईस्वी १२वीं शताब्दीतककी ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी जायँ। कहानियाँ १०से अधिक न हों और प्रत्येक ४० पृष्ठसे अधिक न हों। किन्तु यह कल्पना ९ साल बाद हजारीबाग-जेलमें कागजपर उतरी।

६ दिसंबरको पुस्तक-प्रेमी-चक्करवालोंके चक्करमें पड़ गया और उनकी बैठकमें जाना पड़ा। बैठक तेजबहादुर सप्रूके भवनमें थी, जिसमें हाईकोर्टके दो जज वाजपेयी और नियामतुल्ला तथा दो अंग्रेज सज्जन भी आए थे। मैंने तिब्बत-यात्रापर कुछ कहा। वहाँवालोंमें सप्रूका दिमाग तो बिल्कुल बूढ़ा मालूम होता था। वह यूरोप और जर्मनी होकर उसी समय लौटे थे। बोल्शेविकोंकी निंदा और हिट्लरकी तारीफ़ बड़ी गंभीरताके साथ कर रहे थे। नियामतुल्लाके दिमागमें कुछ अधिक ताजगी मालूम होती थी। दो घंटे वहाँ देने पड़े, जो उस समय बड़े मूल्यवान थे, किन्तु तो भी समाजकी नाकको नजदीकसे देखनेका मौक़ा मिला—वहाँ यद्यपि सिर्फ़ लिफ़ाफ़ा और ढोलके अन्दर पोल थी, किन्तु मेरेलिए वह अनुभव बेकार नहीं हो सकता था।

पटनासे ही भिक्षु धर्मकीर्ति मेरे साथ हो लिये थे। धर्मकीर्ति बड्कालके पास बुरियत मंगोलियाके रहनेवाले मेरी प्रथम तिब्बत-यात्राके साथी थे। वह दार्जिलिंगमें आए हुए थे। मेरे पत्र लिखनेपर चले आए थे। यहाँ आनेपर उनकी तबियत खराब हो गई और मैंने बनारसमें रामकृष्ण मिशन अस्पतालमें आपरेशनकेलिए रख दिया। १० दिसंबरको उनका आपरेशन हुआ। चौथे दिन पता पाकर मैं वहाँ गया। देखा, वह अच्छी हालतमें हैं। उनका घाव पूरा नहीं हुआ था कि जनवरीमें भूकंप आया, धर्मकीर्ति मकानको हिलते देखकर उस अवस्थामें भी निकलकर बाहर हो गए थे।

बड़ौदाकी यात्रा

२० दिसंबरको प्रयागसे बड़ौदाकेलिए चलना पड़ा, किन्तु सभापतिका भाषण अब भी तैयार नहीं हो पाया था। हाँ, मुझे बड़ा सन्तोष था, कि मैं अपने साथ 'मज्झिमनिकाय'की १२ हिन्दी प्रतियाँ विद्वानोंको भेंट करनेकेलिए ले चल रहा हूँ। प्रयागसे पं० जयचन्द्र विद्यालंकार भी साथ चल रहे थे। रेल-यात्राके बारेमें हम दोनोंके सिद्धान्तोंमें आकाश-पातालका अन्तर है। मैं ट्रेनके समयसे आधा घंटा पहिले स्टेशन पहुँचनेका पक्षपाती हूँ और विद्यालंकारजी एक सेकेंड भी आगे पहुँचनेको समयका भारी अपव्यय समझते हैं। मैंने तो समझा, शायद वह साथ नहीं चल सकेंगे, लेकिन गार्डके झंडी दिखलाते-दिखलाते वह हाँफते-दौड़ते डिब्बेके भीतर पहुँच गये। छिउकीमें हमें गाड़ी बदलनी पड़ी और वहाँ हम उसी ट्रेनमें बैठे जिससे जायसवालजी चल रहे थे। हमारी एक पूरी जमात थी, जिसमें जायसवाल-परिवारके अतिरिक्त पटना म्यूजियमके क्यूरेटर श्री मनोरंजन घोष, फ़ोटोग्राफ़र

तथा दूसरे सहायक भी थे। श्री क्षीरोदकुमार रायके साथ तो सबसे अधिक समय और अधिक दूरतक मुझे रहना पड़ा था। आज भी आर्थिक कठिनाइयोंसे पीड़ित किन्तु चेहरेपरकी हँसीकी रेखाको कभी मलिन न होने देनेवाले उस प्रतिभाशाली पुरुषकी स्मृति जब आती है, तो कह उठता हूँ--राय मोशाय, तुम क्यों इतने जल्दी चले गये और अपने जौहरको बिना दिखलाये जाना क्या उचित था ?

कटनीमें डा० हीरालाल मिलने आये। बड़ौदा वह कुछ ठहरकर आनेवाले थे। उनकी आयु ६० वर्षसे अधिककी थी, किन्तु शरीरसे स्वस्थ थे। किसे मालूम था कि वह इतनी जल्दी और हाथमें इतना बड़ा काम लेकर हमें छोड़ जायेंगे।

अजन्ता-एलौरा--२१ दिसम्बरको ट्रेन जलगाँव पहुँची। वहाँसे फर्दाबाद-के लिए मोटर-बस की गई। तेरीगाँव भी प्राचीन नगरी रही होगी। पाहुरमें हमने हाथ-मुँह धोकर जलपान किया। आठ बजेके क़रीब फ़र्दाबादके अतिथिभवनमें पहुँचे। जायसवालजीकी पार्टी निज़ामकी अतिथि थी। वहाँ सरकारी प्रबन्ध था। भोजन करते-करते बारह बज गये। फिर हम लेना (गुफा) देखने गये और साढ़े तीन घंटेतक घूमते रहे। अधिकांश लेना वाकाटक-कालकी है। वहाँ वज्रयान-का पता नहीं है। महायानी बोधिसत्त्वोंकी मूर्त्तियाँ भी दो-एक ही जगह दिखाई पड़ीं। यह मुख्यतः हीनयानी विहार था। एक जगह भवचक्क (भवचक्र)का चित्रित था, किन्तु खंडित था, इसलिए कहा नहीं जा सकता कि तिब्बती भवचक्रसे क्या अन्तर रखता है। चैत्य(-स्तूप)वाले घर बहुत पुराने हैं। एक चैत्यको काट-कर बुद्धमूर्त्ति बनाई गई थी, जो पीछेका काम था। चित्रोंके अधिकांश उत्तम पात्र तुंगनास हैं, चित्रोंके सौन्दर्यके बारेमें कहनेकी क्या आवश्यकता ?

अगले दिन हम वहाँसे एलौराकेलिए रवाना हुए। देवगिरि (दौलताबाद) रास्तेमें पड़ा। यह दुर्जय दुर्ग कैसे पराजित हुआ, कैसे मुट्ठीभर मुसलमान दिल्लीसे आकर इसे दखल करनेमें सफल हुए ? देवगिरि, जिसका मंत्री हेमाद्रि जैसा विद्वान् था, जिसके दरबारमें भास्कराचार्य जैसा ज्योतिषशास्त्री था, क्या वह पराजित होनेकेलिए था ? दुर्गपाल हैदराबादका सैनिक था। वह और उसके सिपाही सभी मुसलमान थे। मुसलमान होना बुरा नहीं, किन्तु अपनी संस्कृतिके साथ सहानुभूति-का अभाव, ज़रूर बुरी तरह खटकता है। देवगिरिको ऊपर-नीचे देखकर हम लौट रहे थे। सिपाहियोंके सर्दारसे मैंने पूछा--तुम्हारे यहाँ शरियतकी पाबन्दी कैसी की जाती है ? उसने बड़े अभिमानसे कहा--हमारी इस्लामी बादशाहत है। मैंने पूछा--तुम्हारे इस्लामी बादशाहकी दोनों पुत्रवधुएँ मुँह खोलकर क्यों

घूमती हैं ?' तुरन्त उत्तर मिला—'सारी रियाया उनकी औलाद है, औलादके सामने पर्दा करनेकी क्या आवश्यकता ?'

रास्तेमें खुल्दाबाद मिला । यहीं औरंगजेबकी कब्र है । औरंगजेबके चिढ़नेकी क्या आवश्यकता ? समाजका कोढ़ कहींसे फूटकर निकलेगा ही, व्यक्ति तो निमित्तमात्र होता है ।

साढ़े ग्यारह बजे हम वेरूल पहुँचे । इसी वेरूलको अंगरेजोंने एलोरा बना दिया । अहल्याबाई यहीं पैदा हुई थीं, बल्कि उसने एक बार फिर "कैलाश"में पूजा शुरू करवाई थी । उसी समय कुछ भद्दी मरम्मतका भी उपक्रम हुआ था । अब भी उस समयका कुछ रंग जहाँ-तहाँ दिखलाई पड़ता है । पल्लवोंके महाबलीपुरमके गुहाप्रासादोंसे प्रेरणा पाकर राष्ट्रकूटोंने "कैलाश"का निर्माण किया था । पल्लव-कलाने यहीं ही नहीं समुद्रपार 'बरोबुदूर' (जावा)के बनानेवालोंको प्रेरणा दी थी, जहाँसे प्रेरणा पाकर कंबुजनरेशोंने अङ्कोरयोमका निर्माण किया था । हम बौद्ध, जैन, ब्राह्मण सभी गुफाओंको देखते रहे । वज्रयानका यहाँ भी पता नहीं था । हाँ, महायानके अमोघपाश अवलोकितेश्वर, प्रज्ञापारमिता और तारावी मूर्तियाँ अवश्य थीं । इन गुहाओंका निर्माण वाकाटकोंसे भी पहलेसे शुरू हुआ था ।

आगे २३ दिसंबरको नासिक और २४ दिसंबरको हमने कार्लाकी गुफायें देखीं । नासिककी पाण्डवलेनी गुफायें शक-शातवाहनकालकी हैं । यहाँ बहुतसे अभिलेख हैं । यहाँपर भी कुछ स्तूपोंपर पीछे बुद्धकी मूर्ति खोदी गई ।

२३ ता०को ही हम लोनावला पहुँच गये और श्री खोटेके बँगलेपर ठहरे । श्री दुर्गा खोटे सिनेमातारिका वहाँ मौजूद नहीं थीं, किन्तु उनके घरके बच्चे फर-फर हिन्दी बोल रहे थे । मैंने पूछा—तुमने हिन्दी कहाँसे सीखी ? जवाब मिला—सिनेमासे, और कहाँसे ? हाँ, सिनेमाने अहिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तोंमें जो हिन्दीका प्रचार किया है, वह कम महत्त्वकी चीज नहीं है । अगले दिन हमने कार्ला और भाजाकी गुफायें देखीं । बड़े दिनकी छुट्टियाँ थीं, इसलिए दर्शक बहुत आए थे । पहाड़में एक मीलसे कम ही की चढ़ाई थी, हमने पानीके चश्मे, संघारामकी कोठरियाँ, सिंहस्तम्भ और चैत्यघर देखे । चैत्यघरके भीतर स्तम्भोंकी पाँतियाँ हैं, जिनके ऊपर हाथियोंपर सुन्दर स्त्री-पुरुषमूर्तियाँ बनी हुई हैं । बहुतसे हस्तलेख हैं, जो ब्राह्मीमें होनेके कारण मेरेलिए दुष्पाठ्य नहीं थे । मैं भीतर उन अभिलेखोंको पढ़ रहा था और ईसापूर्व द्वितीय शताब्दीकी वेष-भूषाको बड़े ध्यानसे देख रहा था; इधर बरामदेमें जायसवालजी राय-... कुछ लिख रहे थे । मेरे बाहर निकलनेपर उन्होंने बड़ी गंभीरतासे कहा—

यह देखिए, इस कालमें बुद्धमूर्त्ति बना करती थी। मैंने कहा—यह हो नहीं सकता। किन्तु सचमुच वहाँ बुद्धमूर्त्ति उत्कीर्ण थी। मैंने ध्यानसे देखा तो मालूम हुआ कि जहाँ बुद्धकी मूर्त्ति उत्कीर्ण है, वहाँ पहिले एक वृक्ष था, जिसका ऊपरी भाग अब भी वहाँ मौजूद था; बुद्धमूर्त्ति भित्तिके साधारण तलके भीतरसे खोदकर बनाई गई है। मैंने इस बातको समझाया। जायसवालजीने कहा—आपने ठीक कहा, मैं भारी गलती करने जारहा था। रायमहाशयसे नोटबुककी पंक्तियाँ कटवा दी गईं। कार्लेसे मड़वली स्टेशनके पाससे हो वहाँसे आघमीलपर अवस्थित भाजा गाँव गये। थोड़ीसी चढ़ाई चढ़नेपर बौद्ध गुफायें मिलीं। यहाँकी गुफायें कार्लेसे भी प्राचीन हैं। अंतिम चैत्यगुहाके बरामदेमें सात चैत्य बने हुए हैं। यहाँ सातवाहन राजा कौशिकीपुत्रका अभिलेख है। इस उपत्यकाका नाम नाड़ी मांवड़ है। किसी समय यहाँ बहुतसे समृद्ध गाँव और नगर रहे होंगे। भाजाकी गुफाओंके ऊपर लोहगढ़का पुराना दुर्ग है, जिसका शिवाजीके वीरतापूर्ण इतिहाससे विशेष सम्बन्ध है।

बंबई—२५ दिसम्बरको हम बंबई पहुँच गये। वहाँ एक उच्च मध्यम-वर्गके शिक्षित महाराष्ट्र परिवारमें ठहरे। दिनभर बंबईमें रहना था। हमने एलिफेंटाके गुहाप्रासाद और सुंदर मूर्तियाँ भी देखीं। फादर हेरासने भी सांत्-सावियें महाविद्यालय (सेंटजेवियर कालेज)में अपने पुरातत्त्व-संग्रहालयको दिखलाया। फ़ादर हेरास अपनी धुनके पक्के हैं, पंडित ब्रजमोहन व्यासकी तरह तो नहीं, किन्तु उनका भी संग्रह बहुत अच्छा है। सबसे विचित्र बात हमें घरकी गृहपत्नी-की मालूम होती थी। वह गलित-यौवना थी, किन्तु उनकी साध बुझी नहीं थी। जिस समय सासें अपने शृङ्गारसज्जाको बहूकेलिए छोड़ देती हैं, उस समय भी वह अपनेको सजानेमें अपनी त्रिपुर-सुन्दरी पुत्रवधूके कान काट रही थी। हम तो दस ही बारह घंटे वहाँ रहे, किन्तु इसीमें न मालूम कितनी बार उन्होंने अपनी साड़ियाँ बदलीं। हाँ, मैं मानूँगा कि उनका यह कार्य किसीको अरुचिकर नहीं मालूम हो सकता था, क्योंकि पतझड़के समयमें भी चिरविस्मृत वसंतकी सुगन्धि उनके मुख-मंडलमें सर्वथा विलुप्त नहीं हुई थी, फिर अतिथियोंके सत्कारकेलिए तो वह बराबर हाथ बाँधे खड़ी रहती थीं।

बड़ौदा—२६ दिसम्बरको सूर्योदयसे पहिले ही बड़ौदा होटलके पास अतिथिशाला-में हमें पहुँचा दिया गया। जायसवालजी थोड़ी देर बाद दूसरी गाड़ीसे आये। रियासत-के मेहमानोंका यह भवन था, फिर आराम और सफ़ाईकेलिए क्या पूछना? डाक्टर हीरालाल और डाक्टर हीरानंद भी उसी दिन आ गये और हम लोगोंके साथ ही ठहरे।

बड़ौदामें प्राच्य-सम्मेलनके अतिरिक्त जो चीजें देखी, उनमें एक आर्यकन्या महाविद्यालय भी था। विहारके मेरे परिचित बन्धु श्री श्रुतबन्धु शास्त्री वहाँ अध्यापक थे, उन्होंने विद्यालय दिखलाया। लड़कियाँ कुर्ता और हाफ़पेंट पहने घूमती बुरी नहीं मालूम होती थी। व्यायामका भी उनमें बहुत शौक था और संगीत जैसी ललित-कलाको भी यह भुलाना नहीं चाहती थी। पढ़ानेका ढंग आधुनिक और प्राचीन दोनों था। विद्यालयके संस्थापक राजरत्न पं० आत्माराम अमृतसरी बड़े प्रेमसे मिले। आर्यसमाजके प्रथम आवेगमें मैंने उनके ग्रंथोंसे लाभ उठाया था, इसलिए ६८ वर्षके उस कर्मठ पुरुषसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

श्री देवप्रियने महाबोधिसभाके प्रकाशनके कार्यकेलिए महाराजासे सहायता प्राप्त करनेके बारेमें कहा था। चन्दा माँगनेमें मैं हमेशा कच्चा रहा हूँ और राजा-महाराजाओंकी तो परछाईं भी मुझे कड़वी लगती है, किन्तु जब महाराजाकी ओरसे मिलनेकेलिए सूचना आई, तो मैं "मज्झिमनिकाय"के प्रकाशकके आग्रहको कैसे ठुकरा सकता था? वह इन्द्रभवन जैसे राजप्रासादके उपवनमें धूपनिवारक छत्र लगी कुर्सीपर बैठे थे। एक-एक करके लोग सामने लाये गये, मैं भी पहुँचा। मैंने इस भेटके बारेमें उस दिन लिखा था:—"अच्छे पुरुष हैं। भाषान्तरके कार्यमें सहानुभूति प्रकट की। 'विद्याधिकारीसे कहेंगे' बोले।"

उसी दिन (२७ दिसम्बरको) न्यायमन्दिरमें साढ़े चार बजे प्राच्य-सम्मेलनका कार्य आरम्भ हुआ। सारे भारतके बड़े-बड़े इतिहासकार, पुरातत्त्ववेत्ता, मुद्रा-शास्त्री, पुरालिपिशास्त्री, भाषातत्त्वज्ञ, उस विशाल शालामें आसीन हो चाँद-चकोर हो प्रतीक्षा कर रहे थे, महाराजा पूरे आध घंटेके बाद पधारे। महाराजोंकी कुछ तो विशेषता होनी चाहिए, आखिर वह पृथ्वीपर विष्णुभगवानके अवतार होते हैं। और बड़ौदाके महाराजा सयाजीराव कोई दकियानूसी उजड्ड राजा नहीं थे। वह सभी बातोंमें बहुत आगे बढ़े हुए बतलाये जाते थे। खैर! उनका भाषण बहुत अच्छा हुआ और अन्तमें अलिखित भाषण उन्होंने और भी अच्छा किया। जायस-वालजीने सभापति पदसे बहुत सुन्दर भाषण दिया।

आगे अलग-अलग विभागोंकी सम्मिलनियाँ शुरू हुईं। २८ दिसम्बरतक मैंने इसी तरह अपने भाषणको तैयार कर लिया था। २६ तारीखको दोपहरको हिन्दी विभागकी बैठकमें उसे पढ़ा। दूसरे विद्वानोंने भी कुछ निबन्ध पढ़े, किन्तु प्राच्य-सम्मेलनमें तो अंग्रेजी सर्वेसर्वा थी, वहाँ हिन्दीको कौन पूछता था?

बड़ौदामें उस समय कर्नल वेयर रेजिडेण्ट थे। उनसे मिलकर अवश्य प्रसन्नता

हुई। जब मैं अपनी पहली तिब्बत-यात्रासे लौट रहा था, उस समय यही "बड़े साहेब" थे। उन्होंने अपने तिब्बती चित्रों, मूर्त्तियों तथा दूसरी चीजोंके संग्रहको दिखलाया। अवलोकितेश्वरकी एक अत्यन्त सुन्दर मूर्त्ति उनके पास थी। पति-पत्नी दोनों सज्जन, संस्कृत और कलाप्रेमी थे। उनकी लड़कीने भी अपने बनाये कितने ही चित्र दिखलाये।

बड़ौदासे लौटते वक्त हमारा प्रोग्राम अहमदावाद, आबू, अजमेर, चित्तौड़, उदयपुर, साँची और भिल्सा देखनेका था, लेकिन जायसवालजीका साथ अजमेर ही तक रहा। उन्हें किसी मुकदमेकी पैरवीकेलिए वहाँसे सीधे पटना चला जाना पड़ा।

अहमदाबाद—३१ दिसम्बरको दोपहरसे पहिले ही हम अहमदावाद पहुँच गये। सर गिरिजाप्रसाद-चिनूभाई माधवलालके प्रासादमें ठहरे। यह साधारण "सर" नहीं बल्कि पुश्तैनी "सर" पदवीधारी (बेरोनेट) थे। उनका प्रासाद युरोपीय ढंगसे सजा हुआ था, लेकिन भोजन भारतीय, और भारतीय ढंगसे परोसा जाता था। मेजबानने आतिथ्य-सत्कार बड़े खुले दिलसे किया। जहाँ सर गिरिजाप्रसादने अपने खींचे सिनेमा फिल्मोंमें प्राकृतिक दृश्योंकी झाँकी कराई, वहाँ गृहललनाओंने गर्बानृत्य देखनेका भी मौका दिया। वैसे तो भारतका कौनसा भाग है, जिसमें मुझे आत्मीयता नहीं मालूम होती, किन्तु गुजरातका माधुर्य एक विलक्षण है। गुजरातकी यह मेरी दूसरी यात्रा थी। प्रथम यात्रा (१९१३)में भी भूल गया था, कि मैं किसी और जगह आ गया हूँ। उस बार तो अभी मेरी आँखें बन्द थीं, उस वक्त जो कुछ ज्ञान होता था, वह केवल स्पर्शसे। आणंद और नडियाद उस वक्त भी देखे थे, और अहमदाबादमें तो महीनेभर रहा था, किन्तु उस वक्त कहाँ मालूम था, कि यहाँ "हठीभाईनी वाड़ी" (१८४६ ई०) जैसा सुन्दर जैनमन्दिर है। यहीं हिलते मीनारोंवाली मस्जिद है, जिसका दूसरा नमूना दो साल बाद मुझे अस्फहानमें देखनेको मिला। यहाँके मस्जिदोंकी सजावटमें एलोराकी छाप दिखाई पड़ती थी, सैकड़ों स्तम्भवाली मस्जिदें देवगिरिके मस्जिद बने मन्दिरका स्मरण दिला रही थीं। हमने अहमदाबादकी पुरानी इमारतें देखीं और आधुनिक युगकी विभूति कपड़ेकी मिलोंको भी देखा। नगरके भीतर एक मस्जिदके पास एक बावड़ी देखी, जिसके दो तले पानीसे ऊपर और पाँच पानीके नीचे हैं। इसे किसी मुसलमान महिलाने बनवाया था, लेकिन इसपर संस्कृतमें भी अभिलेख है। अहमदाबाद आकर सत्याग्रह आश्रम देखे बिना कैसे लौट सकते थे? लेकिन हम साबरमती (सत्याग्रह) आश्रममें तब गये, जब कि सोनचिरैया चिरकालसे इस पिंजड़ेको सूना

कर गई थी। मकानोंकी कौन सुधि लेता? लोग लकड़ियाँ उठाये लिये जा रहे थे। अस्पृश्यता-निवारणका कुछ काम यहाँसे होता था; लेकिन आँगन सहित दो-महला मकान अधिकतर खाली पड़ा था। वहाँसे लौटते वक्त मुनि जिनविजयजीके दर्शनका सौभाग्य हुआ। उनकी विद्वत्ता और विद्याप्रेमकी सुगन्धि तो पहिले भी पहुँच गई थी, किन्तु परिचय प्राप्त करनेका यही अवसर प्राप्त हुआ।

राजस्थानमें—३१ दिसम्बरकी रातकी गाड़ीसे जायसवालजी, मैं और एक कोई और आबूकेलिए रवाना हुए। 'जीवन-यात्रा'का ७ अक्तूबर १९३३से सितम्बर (१९३४) प्रथम सप्ताहतक प्राय ग्यारह महीनेका वर्णन खो जानेके कारण मुझे दोबारा लिखना पड़ रहा है, जिसमें पौने नौ महीनोंकेलिए मैं दैनन्दिनी इस्तेमाल कर सकता था, किन्तु पहिली जनवरीसे ९ मार्चतककी डायरी भी मेरे पास नहीं है, इसलिए इस समयका वर्णन केवल स्मृतिके भरोसे करना पड़ रहा है।

आबू-रोडसे टैक्सीसे हम लोग आबू पहुँचे। जायसवालजीके जातिभाई वहाँ पोस्टमास्टर थे। अपनी टुटही-मँड़इयामें रामको देखकर शबरी जिस तरह विह्वल और चंचल हुई होगी, वही हालत उनकी थी। हम लोगोंको वहाँ अधिक ठहरना नहीं था, इसलिए जलपानके बाद आबूके महासरोवरका थोड़ासा चक्कर काट देलवाड़ाके मंदिरकी ओर चल पड़े।

वस्तुपाल-तेजपालकी यह अमरकृति भारतीय वास्तुशिल्पकी अमरनिधि है, सगमर्मरको मोम और मक्खनकी तरह काटकर सुन्दर फूल-पत्ते निकाले गये हैं। किन्तु जान पड़ता है मूर्तिकला उससे पहिले ही भारतसे रूठ गई थी।

आबूसे अगला पड़ाव अजमेर पड़ा। ढाई दिनका झोंपड़ा, ख्वाजा साहेबकी दरगाह और पुष्करराजके मगरमच्छ भी देखे। इनके साथ ही अठारह वर्ष बाद मुझे पं० रामसहाय शर्माको भी देखनेका मौका मिला, जो किसी समय संस्कृत विद्यासे निराश होकर मेरे पास पहुँचे थे, किन्तु निराश ही उन्हें लौटना नहीं पड़ा। अजमेरसे जायसवालजी पटना चले गये और बाकी यात्रामें अधिकतर चेतसिंह, जायसवाल और रायमहाशयके साथ मुझे रहना पड़ा।

जयपुर और चित्तौड़को हमने बड़े ध्यानसे देखा था, लेकिन दैनन्दिनीके पन्नोंके बिना स्मृति अब उसे कहाँतक स्फुरित करे। उदयपुर हीमें किसी हवेलीमें हमें ठहराया गया था। वहाँके कितने ही नये-पुराने महलोंको हमने देखा। फिर वहाँसे एक कृत्रिम समुन्दर (जयसमुन्दर?)को भी देखने गये थे, जहाँसे लौटते वक्त महाराणा भूपालसिंहकी मोटर हमारे पाससे जाती दिखाई पड़ी। चेहरा यद्यपि कुछ

सेकेंड ही हमारे पास रहा, किन्तु उसमें सीमोदिया वंशकी कोई दिव्यता नहीं दिखाई पड़ी। लेकिन दिव्यताकेलिए हम उनकी ही क्यों शिकायत करें? दूसरे, वशोके अवतंसोंने ही कौनसे सुखोंके पर खोंस रक्खे हैं?

चित्तौड़मे हमने कई घंटे लगाये, वहाँकी एक अर्धनिर्मित स्त्रीमूर्ति हमें बहुत सुन्दर मालूम हुई। चित्तौड या चित्रकूट क्यों नाम पड़ा? यहाँ कूट या शिखर नहीं है, इसका नाम चित्रपीठ हो सकता था, लेकिन पीठके साथ चित्रताका संबंध कुछ विचित्र-सा मालूम होता! चित्रकूटके दो कीर्तिस्तम्भोंमें राणाकुम्भावाला तो मूर्तिशिल्पमें हमें बहुत दरिद्र दिखलाई पड़ा, किन्तु दूसरा अच्छा था।

उज्जैन—चित्तौड़से हम महाकालकी नगरी उज्जैनमें पहुँचे। अवन्तिपुरी न जाने क्यों सुन्दर कविनामी आकर्षक मालूम होती है। उसका नाम तो और भी आकर्षक है। शूद्रक, कालिदास, बाण, दण्डी सभीने उसकी कीर्ति फैलानेमें अपनी अमर लेखनीकी सहायता दी। मेरी यह दूसरी यात्रा थी। महाकालको देखा, लेकिन यह वही मन्दिर नहीं था, जहाँ बाणके व्यास महाभारतकी सुन्दर कथा सुनाया करते थे। लेकिन हमारेलिए वहाँ एक व्यास मौजूद थे, जिन्होंने अवन्तिपुरीका हमें अच्छी तरह दर्शन कराया। प० सूर्यनारायण व्यास सचमुच इस यात्रामें कवितामय मालूम होते थे। वह अपनी जन्मनगरी "जन्मभूमि ममपुरी सुहावनि"के प्रति उचित गर्व कर सकते थे। कौन जानता है अवन्तिपुरी फिर कभी विस्मृतिके गर्भसे प्रकट होकर हमारे सामने आये। मेरेलिए तो वह सप्तपुरियोंमें सबसे श्रेष्ठ है।

साँची-भिलसा—उज्जैनसे हम भिलसा चले आये। ग्वालियर रियासतने भी जायसवालजीके देखनेका प्रबन्ध किया था, जिसका उपयोग हम तीनों मूर्तियोंने किया। साँचीको तो मैं पहिले भी देख चुका था, और खूब ध्यानपूर्वक, किन्तु विदिशाके खंडहरोंको इसी बार देखनेका मौका मिला। "खम्बाबा"के नामसे प्रसिद्ध ग्रीक भागवत हेलियोदोरका गरुडस्तम्भ देखा। उदयगिरिकी गुफामें रोम-रोममें बलवीर्य बिखेरती नरसिंहकी गुप्तकालीन मूर्ति देखी, जिसमें शायद चन्द्रगुप्तने अपने हीको नरसिंह और गुप्तराज-लक्ष्मी ध्रुवदेवीको पृथ्वीके रूपमें उत्कीर्ण कराया था। भिलसामें हम ग्यारसपुरके उजड़े मन्दिरोंको देखने गये। वहाँके कुछ मन्दिर दसवी शताब्दी और उससे पहिलेके हैं, जब कि मूर्तिकला भारतसे रूठी नहीं थी। वहाँके तोरण सूक्ष्म तक्षणकलाके श्रेष्ठ नमूने हैं।

भूकम्प (१६३४)—बड़ौदाकी यात्रासे लौटकर जनवरीके मध्यमें मैं प्रयागमें पं० उदयनारायण तिवारीके उसी गलीवाले मकानमें था, जहाँ चायके प्याले पी-पी

कर गई थी। मकानोंकी कौन सुधि लेता? लोग लकड़ियाँ उठाये लिये जा रहे थे। अस्पृश्यता-निवारणका कुछ काम यहाँसे होता था; लेकिन आँगन सहित दो-महला मकान अधिकतर खाली पड़ा था। यहाँसे लौटते वक्त मुनि जिनविजयजीके दर्शनका सौभाग्य हुआ। उनकी विद्वत्ता और विद्याप्रेमकी सुगन्धि तो पहिले भी पहुँच गई थी, किन्तु परिचय प्राप्त करनेका यही अवसर प्राप्त हुआ।

राजस्थानमें—३१ दिसम्बरकी रातकी गाड़ीसे जायसवालजी, मैं और एक कोई और आबूकेलिए रवाना हुए। 'जीवन-यात्रा'का ७ अक्तूबर १९३३से सितम्बर (१९३४) प्रथम सप्ताहतक प्रायः ग्यारह महीनेका वर्णन खो जानेके कारण मुझे दोबारा लिखना पड़ रहा है, जिसमें पौने नौ महीनोंकेलिए मैं दैनन्दिनी इस्तेमाल कर सकता था, किन्तु पहिली जनवरीसे ६ मार्चतककी डायरी भी मेरे पास नहीं है, इसलिए इस समयका वर्णन केवल स्मृतिके भरोसे करना पड़ रहा है।

आबू-रोडसे टैक्सीसे हम लोग आबू पहुँचे। जायसवालजीके जातिभाई वहाँ पोस्टमास्टर थे। अपनी टुटही-मँड़इयामें रामको देखकर शबरी जिस तरह विह्वल और चंचल हुई होगी, वही हालत उनकी थी। हम लोगोंको वहाँ अधिक ठहरना नहीं था, इसलिए जलपानके बाद आबूके महासरोवरका थोड़ासा चक्कर काट देलवाड़ाके मंदिरकी ओर चल पड़े।

वस्तुपाल-तेजपालकी यह अमरकृति भारतीय वास्तुशिल्पकी अमरनिधि है, संगमर्मरको मोम और मक्खनकी तरह काटकर सुन्दर फूल-पत्ते निकाले गये हैं। किन्तु जान पड़ता है मूर्तिकला उससे पहिले ही भारतमें रूठ गई थी।

आबूसे अगला पड़ाव अजमेर पड़ा। ढाई दिनका झोंपड़ा, ख्वाजा साहेबकी दरगाह और पुष्करराजके मगरमच्छ भी देखे। इनके साथ ही अठारह वर्ष बाद मुझे पं० रामसहाय शर्माके भी देखनेका मौका मिला, जो किसी समय संस्कृत विद्यासे निराश होकर मेरे पास पहुँचे थे, किन्तु निराश ही उन्हें लौटना नहीं पड़ा। अजमेरसे जायसवालजी पटना चले गये और बाकी यात्रामें अधिकतर चेतसिंह, जायसवाल और रायमहाशयके साथ मुझे रहना पड़ा।

जयपुर और चित्तौड़को हमने बड़े ध्यानसे देखा था, लेकिन दैनन्दिनीके पन्नोंके बिना स्मृति अब उसे कहाँतक स्फुरित करे। उदयपुर हीमें किसी हवेलीमें हमें ठहराया गया था। वहाँके कितने ही नये-पुराने महलोंको हमने देखा। फिर वहाँसे एक कृत्रिम समुन्दर (जयसमुन्दर?)को भी देखने गये थे, जहाँसे लौटते वक्त महाराणा भूपालसिंहकी मोटर हमारे पाससे जाती दिखाई पड़ी। चेहरा यद्यपि कुछ

सेकेंड ही हमारे पास रहा, किन्तु उसमें सीसोदिया वंशकी कोई दिव्यता नहीं दिखाई पड़ी। लेकिन दिव्यताकेलिए हम उनकी ही क्यों शिकायत करें? दूसरे, वर्गोके प्रवर्तकोंने ही कौनसे सुर्खाबके पर खोंस रखे हैं?

चित्तौड़में हमने कई घंटे लगाये, वहाँकी एक अर्धनिर्मित स्त्रीमूर्ति हमें बहुत सुन्दर मालूम हुई। चित्तौड़ या चित्रकूट क्यों नाम पड़ा? यहाँ कूट या शिखर नहीं है, इसका नाम चित्रपीठ हो सकता था, लेकिन पीठके साथ चित्रताका संबंध कुछ विचित्र-सा मालूम होता! चित्रकूटके दो कीर्तिस्तम्भोंमें राणाकुम्भावाला तो मूर्त्तिशिल्पमें हमें बहुत दरिद्र दिखलाई पड़ा, किन्तु दूसरा अच्छा था।

उज्जैन—चित्तौड़से हम महाकालकी नगरी उज्जैनमें पहुँचे। अवन्तिपुरी न जाने क्यों सुन्दर कवितानी आकर्षक मालूम होती है। उसका नाम तो और भी आकर्षक है। शूद्रक, कालिदास, बाण, दण्डी सभीने उसकी कीर्ति फैलानेमें अपनी अमर लेखनीकी सहायता दी। मेरी यह दूसरी यात्रा थी। महाकालको देखा, लेकिन यह वही मन्दिर नहीं था, जहाँ बाणके व्यास महाभारतकी सुन्दर कथा सुनाया करते थे। लेकिन हमारेलिए वहाँ एक व्यास मौजूद थे, जिन्होंने अवन्तिपुरीको हमें अच्छी तरह दर्शन कराया। पं० सूर्यनारायण व्यास सचमुच इस यात्रामें कविता-मय मालूम होते थे। वह अपनी जन्मनगरी "जन्मभूमि ममपुरी सुहावनि"के प्रति उचित गर्व कर सकते थे। कौन जानता है अवन्तिपुरी फिर कभी विस्मृतिके गर्भसे प्रकट होकर हमारे सामने आये। मेरेलिए तो वह सप्तपुरियोंमें सबसे श्रेष्ठ है।

सांची-भिलसा—उज्जैनसे हम भिलसा चले आये। ग्वालियर रियासतने भी जायसवालजीके देखनेका प्रबन्ध किया था, जिसका उपयोग हम तीनों मूर्तियोंने किया। सांचीको तो मैं पहिले भी देख चुका था, और खूब ध्यानपूर्वक, किन्तु विदिशा-के खंडहरोंको इसी बार देखनेका मौका मिला। "खम्बाबा"के नामसे प्रसिद्ध ग्रीक भागवत हेलियोदोरका गरुडस्तम्भ देखा। उदयगिरिकी गुफामें रोम-रोममें बलवीर्य बिखेरती नरसिंहकी गुप्तकालीन मूर्ति देखी, जिसमें शायद चन्द्रगुप्तने अपने हीको नरसिंह और गुप्तराज-लक्ष्मी ध्रुवदेवीको पृथ्वीके रूपमें उत्कीर्ण कराया था। भिल्सामें हम ग्यारसपुरके उजड़े मन्दिरोंको देखने गये। वहाँके कुछ मन्दिर दसवी शताब्दी और उससे पहिलेके हैं, जब कि मूर्त्तिकला भारतसे रूठी नहीं थी। वहाँके तोरण सूक्ष्म तक्षणकलाके श्रेष्ठ नमूने हैं।

भूकम्प (१९३४)—बड़ौदाकी यात्रासे लौटकर जनवरीके मध्यमें मैं प्रयागमें पं० उदयनारायण तिवारीके उसी गलीवाले मकानमें था, जहाँ चायके प्याले पी-पी

कर रातभर प्रूफ देखा जाता रहा। दोपहरके बाद थोड़ा ही समय बीता था, जब कि खिड़कियाँ खड़खड़ाने और दीवारें गनगनाने लगीं। मुझे लंदनमें तीन महीने तक इसका अनुभव था। मेरे अवचेतन मनने अपनेको लंदनमें समझ लिया। लेकिन लंदनमें तो भूगर्भी रेलके कारण वैसा होता था, यहाँ यह किसलिए, इसे सोचनेकी मुझे आवश्यकता नहीं मालूम हुई। इसी वक्त लोगोंने कहा—भूकम्प। अब भी हम जल्दी-जल्दी कोठेसे नीचे नहीं उतरे। जल्दी-जल्दी नीचे उतरनेकी आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि यहाँ तो सारा काम सेकेंडोंमें हो रहा था। हम कोठेसे नीचे उतर कर सौ गज चलते तब सड़कपर पहुँचते। दारागंजकी सड़क भी दोनों ओर ऊँची अट्टालिकाओंसे भरी है, फिर यदि मुंगेर और मुजफ्फरपुरकी तरह मकान लेटने लगते, तो भागनेकेलिए समय कहाँ था? जब हम कोठेसे नीचे उतरकर गलीमें पहुँचे, तब भी दीवार हिल रही थी।

भूकम्प बंद हुआ। हम फिर मकानमें चले गये और फिर पहिलेकी तरह बातचीत होने लगी। रात तक हम इस घटनाको भूल-सी से गये थे, किन्तु अगलेदिनके समाचारपत्रोंमें बिहारमें भूकम्पकी प्रलय-लीला छपी पढ़ी। मुजफ्फरपुर दरभंगाको प्रलय समुद्रके गर्भमें समझा जाता था, उनकी कोई खबर ही नहीं थी। जमालपुर और मुंगेरकी भयंकर ध्वंसलीलाका कुछ-कुछ पता लगा था। ऐसे समय मुझे अपना स्थान भूकम्प-पीड़ित जनतामें दिखलाई पड़ा।

भूकम्प-क्षेत्रमें—मैं प्रयागसे पटनाकेलिए रवाना हुआ। प्रयागमें तो भूकम्पका प्रभाव नहींके बराबर था। मिर्जापुरमें स्टेशनके पास कुछ ईंटें गिरी दिखलाई पड़ीं। पटनामें जायसवालजीके परिवारमें कुहराम मचा हुआ था—जायसवालजी किसी मुकदमेमें दरभंगा गये थे। रातको आए, तो अकबार भरके मिले—सचमुच ही लोग निराश हो गये थे, उत्तर बिहारसे ऐसी ही खबरें आरही थी।

मैंने उत्तर बिहारमें सेवाकेलिए जानेका निश्चय किया। भूकम्पसे प्रांतकी जो अवस्था हो गई थी, उसे संभालनेकेलिए सरकार अकेली पर्याप्त नहीं थी। उसने राजेन्द्रबाबू और दूसरे नेताओंको जेलसे छोड़ दिया। राजेन्द्रबाबू अपने पुराने दमाके रोगसे पीड़ित थे, तो भी उस आफतमें वह अपने रोगकी पर्वाह नहीं कर सकते थे। देशसेवक और उत्तर बिहारके पीड़ितक्षेत्रके नेता उनके पास पटनामें पहुँचे थे। रातको जो पहिली टोली गंगा पार हुई, उसमें मैं भी था और पंडित जवाहरलाल नेहरू भी। पुराने काँग्रेसकर्मी बाबू देवेन्द्रगुप्तको एक ट्रेन पहले ही भेजा गया था, कि हाजीपुरमें कुछ नाश्ता और एक टैक्सीका इंतिजाम कर रक्खें, किन्तु भारतकी

घड़ी एक घंटा लेट रहती है और विहारकी तो उससे भी एकघंटा पीछे । अँधेरा रहते ही जब हम हाजीपुर पहुँचे, तो वहाँ कोई प्रबन्ध नहीं हो पाया था । लोग कह भर रहे थे—सब हो रहा है। धीरे-धीरे पौ फटने लगी, लेकिन टेक्सीका कहीं पता नहीं । हाजीपुर और मुजफ़्फ़रपुरके बीचमें भूकम्पने लाईन तोड़ दी थी इसलिए टेक्सी छोड़ जानेका कोई साधन नहीं था। नेहरूजी शंकित होने लगे । प्रबंध करनेवालोंमें, विशेषकर देवेन्द्रबाबूको घबड़ाहट बढ़ी । देवेन्द्रबाबू वहाँ के रहनेवाले नहीं थे, उन्होंने किसी दूसरेसे प्रबन्ध करनेको कह दिया था, दूसरेने तीसरेको । खैर, हमलोगोंने वहीं मौजूद किसी मोटरवालेके हाथ-पैर पकड़के मोटर मँगवाई । चायके साथ भी छप्पन परकार बन रहा था, मैंने उसको छुड़वा वहाँ किसी जगहसे कुछ अंडे उबलवाए और कुछ प्यालियाँ चायकी बनवाई, इस तरह सूर्योदय होनेके साथ-साथ हम वहाँसे रवाना हो सके ।

मुजफ़्फ़रपुर—रास्तेमें पुल टूटे थे और गड्ढों तथा भीलोंमें तो बाढ़-सी आगई थी । मालूम हुआ, यह सारा पानी भूकम्पके वक्त धरती फोड़कर निकला था । रास्तेके गाँवोंमें ईंटके मकानोंको अधिक नुक़सान पहुँचा था। मुजफ़्फ़रपुरमे तो कितने ही मुहल्लोंमें मकानोंके स्थानपर ईंटों और कड़ियोंके ढेर लगे थे । कितनी जगह अब भी लाशें दबी पड़ी थीं । घायलोंकी संख्या अधिक थी और उनके रहनेकेलिए अस्पताली झोंपड़ियाँ बना दी गई थी । भूकम्पका पूरा रूप अभी बाहरवालोंको अच्छी तरहसे मालूम नही हुआ था । जो खबरें गई थी, वह इतनी अतिशयोक्तिपूर्ण थी, कि उनपर विश्वास करना मुश्किल था ।

शहरमें घूमनेके बाद राष्ट्रकर्मियोंकी छोटी सभा हुई । सीतामढ़ीकी हालत बहुत बुरी बतलाई गई । वही मुझे सीतामढ़ी जानेकेलिए कहा गया ।

सीतामढ़ी—दूसरे दिन सबेरे ही तीन मूर्त्तियोंके साथ हम सीतामढ़ीकेलिए रवाना हुए । रेलका रास्ता बंद था, सड़कके भी पुल टूटे हुए थे, इसलिए सवारीका कोई सवाल नही था । हम चार मूर्त्ति सड़क पकड़कर सीतामढ़ीकी ओर चले । एक मूर्त्ति तो अपने गाँवमें पहुँचकर अंतर्धान हो गई । यही नही, जब पीछे सहायताकी वस्तुएँ लदकर सीतामढ़ी जाने लगीं, तो उसपरसे एकाध कनस्तर तेल भी उसने उतार लिया । बाकी दो मूर्त्तियोंके साथ हम आगे बढ़े । सीतामढ़ी अब भी काफ़ी दूर थी । भूकम्पके तोड़े एक पुलके पास जिस वक़्त हम नावसे नाला पार हो रहे थे, उसी समय एक मोटरलारी खड़ी दिखाई पड़ी । मालूम हुआ, वह डिस्ट्रिक्टबोर्डके चेयरमैन बाबू चन्द्रेश्वरप्रसाद नारायणसिंहकेलिए आई है । मैंने अपने एक साथीको

दौड़ाकर कहलवाया कि हमें भी साथ लेते चलें । लारीमें जगह खाली पड़ी थी। चेयरमैन साहब वहाँ मौजूद थे, और वह मेरे नामसे अपरिचित नहीं थे, किन्तु उनका उत्तर उनके शिक्षा और पदके योग्य नहीं था। हम आरामकेलिए नहीं बल्कि उसी दिन सीतामढ़ी पहुँचनेके खयालसे प्रार्थी हुए थे। उसी दिन शामको या दूसरे दिन हम सीतामढ़ी पहुँच गये। सीतामढ़ीके पास ही भूकम्पका केन्द्र था, इसलिए उसका सबसे भीषण रोष सीतामढ़ीपर हुआ था। पक्के मकान शायद ही कोई बच पाए थे। जेलकी दीवारें तो लेटा-सी दी गई थी।

कष्ट-सहायताका कुछ थोड़ा बहुत पहलेका भी मेरा अनुभव था। वहाँ फक्कड़-बाबा भरसिंहदासजी भी मौजूद थे। सहायताकी वस्तुएँ भी जल्दी-जल्दी पहुँचने लगी। हमने सहायता-केन्द्र स्थापित किया। अन्नकी आवश्यकता सबसे अधिक थी, फिर जाड़ेकेलिए कबल भी चाहिए थे। डेढ़ दो हफ्ते बीतते-बीतते तो वहाँ बहुतसी संस्थाएँ सहायता करनेकेलिए पहुँच गई और बिहार केन्द्रीय सहायता समितिमें, जिसके कामकेलिए मैं गया था, काम करनेकेलिए बहुतसे आदमी पहुँच गये। पं० नेहरू-जी दूसरी बार भी वहाँ पहुँचे। हमारे साथकी एक और मूर्ति कुछ ही दिनों बाद वहाँसे उड़ंछू हो गई। वस्तुतः यह दोनों मूर्तियाँ उड़छू थीं ही, एक तो भयंकर थी और दूसरी दायित्वहीन। तीसरे साथी बहुत सधे हुए, परिश्रमी और सेवापरायण व्यक्ति थे, उनका मकान सीतामढ़ीके पास था। उनके गाँवको भी क्षति पहुँची थी, लेकिन उन्होंने कभी घर जानेका नाम नहीं लिया और न सहायता पहुँचानेकी बात कही। भले-बुरे आदमीकी परीक्षा ऐसे ही समय होती है।

हम आस-पासके गाँवोंमें भी गये। सीतामढ़ीसे कुछ मीलोंपर देकुली स्थानमें मुझे किसी प्राचीन ध्वंसावशेषका सदेह हुआ, लेकिन वह समय पुरातत्त्वकी गवेषणाका नहीं था।

चम्पारन—सीतामढ़ीका काम खूब होने लगा था। अब वहाँ मेरी विशेष आवश्यकता नहीं थी। मुझे वहाँ रहते प्रायः एक महीना हो गया था। मैंने वहीं नेपालमें भीषण-संहारकी खबर सुनी। महाबोधि सभावालोंने वहाँ सहायताकेलिए जानेको भी कहा था, मैं सीतामढ़ीसे ऊपर ही ऊपर मोतीहारीकेलिए रवाना हुआ। रास्तेका नदीका पुल टूट गया था। उससे आगे कहीं पैदल और कहीं इक्केपर होते ढाका (?) थाना पहुँचा, और दूसरे दिन मोतिहारी गया। मोतिहारीको भी क्षति हुई थी, किन्तु सीतामढ़ीके बराबर नहीं। सहायताका काम बड़ी तत्परतासे हो रहा है, वही बात मैंने बेतियामें भी देखी। फिर मैं रक्सौल पहुँचा। भूकंपने अंगरेजी

सरकारको अपना कानून नरम करनेकेलिए बाध्य किया और उसने कांग्रेसी नेताओंको सहायताके कामकेलिए जेलसे बाहर कर दिया था, किन्तु नेपाल सरकार राहदारीके नियमको शिथिल करनेको तैयार नहीं थी। मेरा आगेका रास्ता बन्द था। कुछ नेपाली भद्रपुरुष लौट रहे थे। मेरे पास सहायताकेलिए जो पैसे थे, उसे मैंने उनके हाथमें दे दिया और फिर चम्पारनसे सारनकी ओर प्रस्थान किया।

सारनमें—रक्सौलसे लौटते वक्त एक जगह एक पूरीकी पूरी पैसेंजर ट्रेन स्टेशनसे दूर लाइनपर खड़ी थी। भूकम्पने उसके आगे-पीछेके रास्तेको काट दिया था। मोतिहारीसे गाड़ी अभी नहीं चलती थी, इसलिए एक नदी पार करके उसे पकड़ना पड़ा। मुजफ्फरपुर होते छपरा पहुँचा। छपरामें भूकम्पने उतनी क्षति नहीं पहुँचाई थी, तो भी गंडकके किनारेके गाँवोंमें कुछ आदमी दबे थे। एक घरकी पर्दानशीन औरतें तो चौखटके पास आकर दब मरी थीं। शायद "चौखटसे बाहर निकलें या न निकलें" इसपर विचार कर रही थीं, भूकम्पने उन्हें निर्णय करनेका अवसर नहीं दिया।

५ मार्चतक हमने इसी तरह जहाँ-तहाँ भूकम्प पीड़ित स्थानोंको देखते हुए ता दिया।

गया—६ मार्चको पटनासे गया पहुँचा। मेरे साथ मंगोल भिक्षु धर्मकीर्ति (छोइडक) भी थे। उस समय श्री प्रशान्तचन्द्र चौधरी गयामें थे। जायसवाल-जीके द्वारा उनसे परिचय हो चुका था। हम उनके बँगलेपर गये। चौधरीजी उन आई० सी० एस० भारतीयोंमेंसे थे, जिनको विद्याका भी व्यसन होता है। भारतीय इतिहास और कलासे उनका विशेष प्रेम था। उस दिन आधी रातके बाद तक हमारी बात होती रही। गयामें अपने साथीको बोधगयाका दर्शन करानेकेलिए आया था। अगले दिन चौधरीजी अपनी मोटरपर हमें बोधगया ले गये। बोधगया धर्मशालामें तीन मंगोल और दो-तीन चीनी भिक्षु थे। चीनी भिक्षुओंमें दोकी आपसमें लाग-डाँट रहा करती थी। उनमें कुबड़ा शुद्धचीनी और दूसरा अर्द्धचीनी (तिब्बती माताका पुत्र) था। कुबड़ा यद्यपि बहुत वर्षोंसे यहाँ रह रहा था, किन्तु उसने कभी हिन्दी सीखनेकी ओर ध्यान नहीं दिया। उसका नाम फू-चिन् था। उसके प्रति-द्वन्द्वीने भी अपना नाम फू-चिन् रख लिया था, और भेद करनेकेलिए उन्हें बड़ा-छोटा फू-चिन् कहा जाता था। बड़े फू-चिन्ने नाम रखनेके विरुद्ध जिला मजिस्ट्रेट तक अर्जी लगाई थी, लेकिन बड़े फू-चिनकी अर्जीका पढ़ना किसीके बसकी बात नहीं थी। उसके पास चीनी अंग्रेजी कोश था, जिसे देखकर वह अंगरेजीमें अर्जी लिखा करता

था। अपने प्रतिद्वन्दीके विरुद्ध वह शिकायत कर रहा था—"चोता फ़ू-चिन् काना पेसी-पेसी, पूचा तोरा-तोरा, वरा फ़ू-चिन् पूचा पेसी-पेसी, काना तोरा-तोरा" अर्थात् छोटा फ़ू-चिन् पूजा कम करता है और खाना वेशी खाता है, लेकिन बड़ा फ़ू-चिन् पूजा वेशी करता है और खाना कम खाता है।

मन्दिरके भीतर तिब्बती लोगोंने घीके दीपकोंको जला-जलाकर भीतर चिप-चिप कर रखा था। महंतकी कृपासे बुद्धके माथेपर वैष्णवी तिलक और कपड़ेकी अल्फी अब भी पड़ी थी। यह दृश्य किसी भी बौद्धकेलिए असह्य था। बौद्धोंका यह परम पवित्र स्थान कबतक अवांछनीय हाथोंमें रहेगा?

गयामें आकर साहित्यिक पंडाधिराज श्री मोहनलाल महतोसे मिले बिना कैसे लौटा जा सकता था। उनका पुराना घर गिर गया था। एक दूसरे घरमें मुलाक़ात हुई। कुछ देर सन्तसमागम रहा, लेकिन हरिकथा नहीं।

चौधरी महाशय पहुँचानेकेलिए स्टेशनपर आये हुए थे। उनके एक परिचित सज्जनको उनके व्याहकी बड़ी फ़िक्र थी। वह कहने लगे—साहेब, आप व्याह कर लें।

—क्या जरुरत है?

—आराम मिलेगा।

—और तरद्दुद?

उक्त सज्जन मुझसे कहने लगे—आप क्यों नहीं व्याह करनेकेलिए इन्हें समझाते?

—मैं क्यों समझाऊँ, जब देखता हूँ कि एक आदमी ठीक रास्तेपर है।

—सभी सन्त तो नहीं हो सकते?

—शादी हो जानेपर ही इसका कौन निश्चय है?

सुल्तानगंज—८ मार्चको पटना होते सुल्तानगंजकेलिए रवाना हुआ। इधर सीतामढ़ीसे ही गलेमें खराश और खाँसी हो रही थी। मैं समझता था, कि निनौवों या काँटे निकल आये हैं। अभी मुझे नहीं मालूम हो पाया था, कि यह टोन्सिलकी बीमारी है, जितनी जल्दी उसे आप्रेशन करके निकलवा दिया जाय, उतना ही अच्छा। जमालपुरमें देखा, कि यहाँ भूकम्पने मकानोंको अधिक नुकसान पहुँचाया है। सुल्तानगंजमें धूपनाथसिंह और उनके बड़े भाई देवनाथसिंहका आतिथ्य था। उनके परिवारसे और विशेषकर धूपनाथसिंहसे मेरी बहुत आत्मीयता थी। धूपनाथसिंह जमींदारकी तहसीलदारी छोड़कर विरागी बन गये थे, किन्तु पीछे उन्होंने

कुमार कृष्णानन्दसिंहकी खजांचीगिरी स्वीकार कर ली थी। दरबारमें उनके जैसे ईमानदार आदमीका टिकना मुश्किल था। दरबारके गिद्ध कब पसन्द करते थे, कि धूपनाथ कुमारके पास रहें। मालूम हुआ, उन्हें नौकरी छोड़नेकी नौबत आ रही है। मुझे तो यह बात अच्छी मालूम हुई। कुमारको इतना विश्वासपात्र आदमी नहीं मिलता, किन्तु उनके रहनेसे भी कुमारका विशेष फ़ायदा नहीं हो रहा था। खर्च अंधाधुंध चल रहा था और लोग बहती गंगामें हाथ धो रहे थे। गढ़पर कुमार साहेबका बँगला बन रहा था, भूकम्पके कारण उसे फिरसे गिराकर बनानेकी आवश्यकता पड़ी थी। दीवारकेलिए नींव खोदी जा रही थी, उसी वक़्त ऊपरी धरातलसे पौने ६ फ़ीट नीचे पुरानी दीवार निकल आई। वहाँ एक चबूतरा भी मिला, जो पौने बारह फ़ीट अर्थात् ऊपरसे साढ़े सत्तरह फ़ीट नीचेतक चला गया था। सबसे नीचेकी ईंट चौडाईमें सवा ग्यारह और मोटाईमें सवा दो इंच थी। दूसरी ईंटें थीं १४×७×२$\frac{१}{४}$, १३×८×२, १२$\frac{७}{८}$×८$\frac{३}{४}$×२, ९$\frac{५}{८}$×७$\frac{१}{२}$×२ इंच। ऊपरी तलसे दो फ़ीट नीचे एक फ़ुट मोटी और दो फुट लम्बी राखकी तह मिली थी, अर्थात् आग लगी थी। एक जगह ऊपरी तलसे ४ फ़ीट नीचे ९$\frac{७}{८}$×७$\frac{१}{२}$×२ इंचकी दो फ़ुट मोटी दीवार मिली, जिसकी जोड़ाई बहुत अच्छी थी और दीवारपर बाहरकी ओर गौखे बने हुए थे। ये दीवारें ९वींसे १२वीं शताब्दीतककी मालूम होती थीं, यदि चबूतरेकी निचली नींवको छोड़ दिया जाय। सुल्तानगंज प्राचीन स्थान है। वहाँकी गुप्तकालीन पीतलकी विशाल बुद्धमूर्त्ति एडिनबरामें मौजूद है, इसलिए गुप्तकालसे उसका सम्बन्ध तो है ही।

१० मार्चको मुंगेर देखने गये। भूकम्पने सबसे अधिक हानि इसी नगरको पहुँचाई थी। चौक बाजार और पूरबसराय बिल्कुल सहेट-महेट हो गये थे। राजा रघुनन्दनप्रसादके मकानके पास अब भी दबी लाशोंकी बदबू आ रही थी। शहरका मलवा हटानेमें अभी काफी देर थी।

अगले दिन मैं पटनामें था। वहाँ विक्रमशिलामें तिब्बत गये आचार्य दीपंकर श्रीज्ञानके शिष्य डोम्-तोन्-पा द्वारा रचित "गुरुगुणधर्माकर"में विक्रमशिलाके बारेमें देखने लगा। डोम्-तोन्-पाने लिखा है, कि नालन्दाके भिक्षु कपलने गंगाके किनारे एक पहाड़ीपर विहार बनवाया था। पीछे भिक्षु पालवंश-संस्थापक महाराज गोपालके पुत्र धर्मपालके रूपमें पैदा हुआ। धर्मपालने वहाँ एक विशाल विहार बनवाया। पालवंशी राजा महीपालने वज्रासन (बोधगया) विहारसे दीपंकर श्रीज्ञानको विक्रमशिला विहारमें बुलवाया। विक्रमशिला नामक चट्टान विहारके उत्तर

तरफ़ थी और भंगलपुर राजधानीसे विक्रमशिला विहार उत्तर तरफ़ था। सुल्तानगंजके विक्रमशिला होनेमें पक्ष और विपक्ष दोनों प्रकारके प्रमाण इतने समान हैं, कि उसके बारेमें कोई निश्चय करना आसान नहीं है।

१६ मार्चतक मुझे पटना हीमें रहना था। मंगोल भिक्षु धर्मकीर्ति मेरे साथ थे। आपरेशनसे अब वह स्वस्थ हो गये थे। मेरी बड़ी इच्छा थी कि तिब्बती भाषाकी पंडिताईके साथ यदि वह कुछ संस्कृत पढ़ लेते, तो अच्छा था; किन्तु उनके लिए संस्कृत सचमुच "बूढ़ा तोता रामराम"वाली बात थी। मार्चके मध्यमें ही गर्मी उनके बर्दाश्तके बाहर हो गई थी, लेकिन इसपर भी वह हफ़्तों नहानेका नाम न लेते थे। मुझे डर लगता था, कि कहीं बीमार न पड़ जायें।

विहार भूकम्प सहायताके सम्बन्धमें गांधीजी पटना आये हुए थे। उनकी परिचिता एक अंगरेज महिला स्वदेश लौटनेवाली थी। जहाजका जल्दी प्रबन्ध होना मुश्किल था, यदि वह जल्दी मिल सकता था, तो लंकासे ही। राजेन्द्र बाबूने उनको बतलाया कि मेरे लंकामें परिचित व्यक्ति हैं। मैंने सर जयतिलकको पत्र और तार दे दिया। इसी कामके सम्बन्धमें मैं गान्धीजीके पास गया हुआ था। इससे पहिले भी गान्धीजीसे मिलनेका मुझे एकसे अधिक बार अवसर मिला, लेकिन मुझे कभी उनसे कोई अधिक बात जाननेकी इच्छा नहीं हुई। उनके आदर्शवादका सम्मान करते हुए भी मैं बौद्धिक तौरसे उनसे बहुत दूर था, इसीलिए मैं कभी उनके यहाँ गया भी तो कुछ मिनटोंसे अधिक नहीं ठहरा। गान्धीजीके पाससे जब मैं बाहर आया, तो मालवीयजी महाराज मिल गये। उनको विश्वास था, कि बुद्ध ईश्वर भक्त थे। जब सारनाथमें किसीने उल्टी बात बताई, तो उनको बहुत आश्चर्य हुआ मैं बौद्धधर्मका प्रसिद्ध पंडित माना जाता था। उन्होंने मुझसे पूछा—क्या सचमुच ही बुद्धने ईश्वरको नहीं माना है? मैंने "सब्बं अनिच्चं" इस बुद्धवाक्यको बतलाया और कहा कि इस नियमका ईश्वर भी अपवाद नहीं हो सकते। फिर मैंने महाब्रह्मा वाली दीर्घनिकायकी कथा सुनाई, जिसमें ईश्वरका स्पष्ट निषेध है। मालवीयजीको खेद तो हुआ होगा, किन्तु मैं सत्यका अपलाप कैसे करता?

मुझे इस साल फिर तिब्बतमें दूसरी यात्रापर जाना था। जानेसे पहले मालूम हुआ कि विहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी मुझे अपना पूजित सदस्य बना रही है, इसकेलिए कोई हर्ष विस्मयकी बात नहीं थी, किन्तु विचित्र बात यही थी, कि जेम्स, फाकस हैलट तथा दूसरे अंगरेज नौकरशाहोंने इस सम्मानकी स्वीकृति दी थी, और मुझे अब भी अंगरेज नौकरशाहोंकी परछाईंसे नफरत थी।

१२

द्वितीय तिब्बत-यात्रा (१९३४) ई०

२—ल्हासाको

कलिम्पोङ्—२० मार्चको धर्मकीर्तिके साथ मैं पटनासे कलिम्पोङकेलिए रवाना हुआ। जहाजसे गंगापारकर सोनपुर, कटिहार और पार्वतीपुरमें गाड़ी बदलते अगले दिन सुबह होते-होते हम सिलीगोड़ी पहुँच गये। ४) रु०में दोनोंकेलिए टेक्सीमें स्थान मिल गया। रास्तेमें धर्मकीर्त्तिको बहुत कै हुई। ढाई घंटेमें हम लोग कलिम्पोङ पहुँचे। साहू भाजू रत्नने (जिनको तिब्बती लोग शमो-कर्पो—सफेद टोपीके नामसे पुकारते हैं) स्वागत किया। हम लोग बौद्धप्रतिष्ठानमें ठहराये गये। नेपालमें वेष बदलकर सीमान्ततक पहुँचानेवाले दशरत्न साहुने मेरी सहायता की थी, अब वह भिक्षु धर्मालोक थे। वह भी यहाँ मिल गये और मालूम हुआ कि उन्हें भी तिब्बत जाना है। मेरी खाँसी बन्द नहीं हो रही थी—खाँसी होना शुभ लक्षण नहीं है। मैं कुछ दवाई करते काम-धन्धेसे थोड़ा विश्राम भी लेने लगा।

कलिम्पोङमें बिहारके बहुत आदमी रहते थे, यह कैसे हो सकता था कि वे मिलने नहीं आते। बलिया-निवासी हरेराम बाबा, बारह-तेरह सालसे इधर रह रहे थे। उन्हें मेरी नास्तिकतापर कुछ खेद तो ज़रूर हुआ होगा, किन्तु अपनोंके हाथकी रूखी रोटी भी मीठी होती है। परमहंस मिश्र दूसरे तरुण थे, जो यहाँ अध्यापकी कर रहे थे। वह तो और भी अधिक आया करते थे। वासुदेव ओझा (धनगढ़हा) तीसरे मित्र थे, जो हर तरहसे सहायता करनेकेलिए तैयार थे। धर्मालोकजी तो बराबर ही साथ रहते थे और उनकी बातें बड़ी मनोरंजक होती थीं। उन्होंने अब मौन पर्यट-काधिराजका व्रत लिया था। वह तिब्बत होकर बोधिसत्त्व मंजुश्रीको ढूँढने चीन जानेकी इच्छा रखते थे। धर्मालोकजीसे एक दिन नेपालके भूतोंके बारेमें बातचीत होने लगी। उनके कथनानुसार नेपालमें अठारह प्रकारकी भूत-जातियाँ हैं—

(१) मुंडकटा—सिर कटनेसे मरा व्यक्ति;

(२) अगतिर्वो—बहुत पीड़ा और अज्ञानसे मरा व्यक्ति;

(३) राछस—जो वनमें मिलनेपर आदमीका कलेजा खा जाता है;

(४) कौं—कंकालमात्र शरीरवाला जो "कौं" कहकर बोलता है;

(५) कौ-चक्-नीं—भूतनी जो सुन्दरीका रूप धारणकर छरती और मारती है;

(६) मीचू-नाखे—नदियों और सूने मैदानोंमें मुँहसे आग निकालकर दौड़नेवाला राकस;
(७) हाँन्याघर—हवाई भूत जो घरमें बैठकर ढेला फेंकता है;
(८) सीक-अगलि—उसी घरमें मरकर रहनेवाला भूत;
(९) स्याक्-तुयू-म्ह—सफेद वानर जैसा, हानि नहीं लाभ देनेवाला भूत;
(१०) भ्वाठऽ-ग्वारा-स्याक्—चिथड़ा लपेटनेवाला भूत जो आदमीको गिराकर हँसता है;
(११) नाङ्-न्-स्याक—रास्तेमें नाम लेकर पुकारनेवाला भूत;
(१२) गुरु-हर-स्याक—कोठेपर धमधम करनेवाला भूत जो अत्यन्त कल्याणकारी है;
(१३) लँ-पनेम्हऽ-स्याक्—रास्ता रोकनेवाला भूत;
(१४) ग्व-द्र-मा-मि-सा—मूँछोंवाली भूतनी;
(१५) जङ्-की-वो—यमदूत;
(१६) जू-मी—आदमीको सीधा ले जानेवाला भूत;
(१७) वारा-स्याक्—प्रथम ऋतुमती मरके बनी भूतनी;
(१८) यो-स्याक्—चर्खा कातनेवाली भूतनी।

मुझे अफ़सोस हुआ, कि संख्या बीसतक पहुँचने नहीं पाई, लेकिन मैं तो इसकी आधी संख्याको भी अपने यहाँसे पूरा नहीं कर सकता था।

छपराके लोगोंने यहाँ कलकत्ताकी तरह मजूरीका रोजगार नहीं उठाया है, बल्कि वह छोटे-मोटे साहूकार हैं, पहिले पैसा भुनानेका काम करते, फिर नथनियाँ हार और नाककी लवँग रखने-रखते इन्हें सोनार बन जाना पड़ा। कलिम्पोङ्में उनकी पाँच-छ जेवरकी दूकानें थीं, जिनके मालिक सभी जातिके थे।

मेरी पहिली यात्रामें ल्हासा रहते समय नेपालके प्रधान-मंत्री (जो वस्तुतः राजा थे) चन्द्रशमशेर मर गये। उनके स्थानपर उनके भाई भीमशमशेर गद्दीपर बैठे और उनके मरनेपर सबसे छोटे भाई युद्धशमशेर प्रधान-मंत्री या तीन सरकार बने थे। इसी समय पता लगा, कि नेपालमें एक छोटी-मोटी क्रांति हो गई, यद्यपि उसका प्रभाव केवल राना-वंशतक सीमित था। चन्द्रशमशेरके पुत्र अधिक शिक्षित, धनी और प्रभावशाली थे। उन्हें यह पसन्द नहीं हो सकता था, कि दूसरे लोग आधी शताब्दीतक राज करते रहें और उनको मौक़ा ही न मिले—नेपालमें प्रधान-मंत्रीका पद आनुवंशिक है और वह आयुक्रमसे सभी भाइयों और पीछे बेटों-भतीजोंमें घूमता

है। युद्धशमशेर अब प्रधान-मंत्री थे, रुद्रशमशेर उनके उत्तराधिकारी चीफ़ साहेब बने थे। समाचारपत्रोंसे पता लगा, कि रुद्रशमशेर और कितने ही और अधिकारसे वंचित करके दूसरी जगह भेज दिये गये और अब भीमशमशेरके पुत्र पद्मशमशेर चीफ़ हुए हैं, उनके बादके तीन उत्तराधिकारी चन्द्रशमशेरके लड़के—मोहनशमशेर, बबरशमशेर, और कैसरशमशेर हुए हैं। इस प्रकार शक्ति चन्द्रशमशेरके पुत्रोंके हाथमें चली गई। डर तो उसी समय लग रहा था, कि शायद युद्धशमशेर और पद्मशमशेरको भी नेपाल छोड़ना पड़े, किन्तु यह बात एक दशाब्दी बाद हुई। इस छोटीसी क्रान्तिने, शुद्ध और अशुद्ध वंशके बहानेसे युद्धशमशेरके २२ पुत्रोंमेंसे १८को उत्तराधिकारी-सूचीसे निकाल दिया। वीरशमशेरने रानावंश-स्थापक जंगबहादुरके सन्तानके साथ ऐसा ही किया था, अब उन्हींके पुत्र रुद्रशमशेर और दूसरे अधिकार वंचित किये गये। चन्द्रशमशेरके पुत्र भी क्या इस बीमारीसे अछूते रह जायेंगे। शायद यही ख्याल करके उन्होंने युद्धशमशेर और पद्मशमशेरको १९४७ ई० तक राज्य करने दिया।

तिब्बतमें प्रवेश करनेकेलिए गन्तोकके पोलिटिकल-अफ़सरका आज्ञापत्र आवश्यक था। पटनासे अर्द्ध-सरकारी तौरसे गन्तोकमें मेरे बारेमें लिखा गया था। मैं कलिम्पोङ्में आज्ञापत्र आनेकी प्रतीक्षा कर रहा था। उधर श्री राजनाथ पाण्डेयने अबकी साल प्रयागमें एम० ए०की अन्तिम परीक्षा दी थी और वह भी ल्हासा चलनेकेलिए उत्सुक थे। तिब्बतकेलिए प्रस्थान करनेसे पहिले मेरे पास काफी काम भी थे। मेरे भोट-भाषा-व्याकरणका प्रूफ आ रहा था, उधर लंकामें रहते मैंने स्वेन्-चाङ् अनुवादित विज्ञप्तिमात्रताके प्रतिशब्द श्री वाड्मोलभ्‌की सहायतासे एकत्रित कर लिये थे, जिन्हें अब मैं संस्कृतमें परिवर्त्तित कर रहा था। आगेके दूसरे कामोंके कारण मैं "विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि"के आधेको ही संस्कृतमें करके प्रकाशित[1] करा सका। साथ ही इस समय एस्पेरन्तो भाषा सीखनेकी ओर कुछ रुचि हुई थी, किन्तु वह आगे बढ़ नहीं सकी।

यात्राकेलिए मैंने कहाँ-कहाँसे पाँच सौ रुपये जमा किये थे, जिनमें एक सौ रुपये "हिन्दुस्तानी" पत्रिकाके थे। सम्भव है कुछ महाबोधिसभासे मिले हों। इतनी बे-सरोसामानीसे तिब्बतमें बहुत काम तो नहीं किया जा सकता, किन्तु मेरी यात्रायें रुपयोंके बलपर नहीं होती थी।

---

[1] बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नलमें।

दस अप्रैलको मेरी पुस्तक "तिब्बतमें सवा बरस" आई। दूसरी यात्रासे पहिले ही प्रथम यात्राकी पुस्तक छपकर आ गई, इसकेलिए मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। अप्रैलमें खाँसीके साथ कुछ बुखार भी आया, मैंने यह सोचकर संतोष किया, कि तिब्बत घुसनेसे पहिले ही रोगसे तो छुट्टी मिल जाये। जायसवालजीको मेरी यात्राका गहर मालूम था। १६ अप्रैलको उनके भेजे दो सौ रुपये मिले। मैंने उसपर लिखा था– "वस्तुतः उनका जैसा खर्च है, उससे तो उनसे कुछ लेना अच्छा नहीं है। तो भी व इतने उदार हैं, कि मानेंगे नहीं।"

जापानी बौद्धविद्वान ब्योदो १७ अप्रैलको कलिम्पोङ आये और कुछ दिन उनका समागम रहा। इसी समय अगले साल जापान जानेका विचार पक्का हुआ। एक मनोरंजक बात एक दिन बलिया जिलेके एक जमादारके मुँहसे सुननेमें आई। वह ब्राह्मण थे और यहाँके सब-जेलमें काम करते थे। बेचारे गरीबीके कारण जिन्दगी भर क्वाँरे रह गये और अब पचासके क़रीब पहुँचनेके कारण तमादी लगनेवाली थी। छुट्टी लेकर जब-तब "देश" जाते, किन्तु भाग्यका द्वार कहींसे खुलता नहीं दिखाई पड़ा। एक दिन बड़े खिन्न-मनसे कह रहे थे—"बाबा! आखिर सगद्दय होई लेकिन.....तिवारीके मुवाद्के!" (विधवा विवाह तो आखिर होके रहेगा किन्तु तब होगा जब मैं मर जाऊँगा।)

गन्तोक्—कलिम्पोङमें आये प्रायः एक महीने हो गये, पर अब भी गन्तोक्से आज्ञापत्र आनेका कोई लक्षण नहीं मालूम हो रहा था। वहीं चलकर दर्वाज़ा खट-खटानेका निश्चय करना पड़ा और १६ अप्रैलको श्री वासुदेव ओझाके साथ मोटरसे हम गन्तोक्केलिए रवाना हुए। १० मील नीचे उतरकर तिस्ता नदीके किनारे पहुँचे, फिर वहाँसे रास्ता ऊपरकी ओर बाएँ किनारेसे था। रम्-फूमें नदीका पुल दार्जिलिंग जिले और सिकिमराज्यकी सीमा है। यहाँके बाजारमें भी बिहारी दूकानदार अधिक थे। सिम्-ताङके पास नारंगीके बाग़ मिले—सिकिमकी नारंगियाँ अपने माधुर्यकेलिए बहुत प्रसिद्ध हैं, यद्यपि वह इतनी मात्रामें नहीं होतीं कि दूर-दूर पहुँच सकें।

रातके साढ़े सात बजे हम गन्तोक् पहुँचे; समुद्रतलसे यह आठ हजार पाँच सौ फ़ीट ऊपर है, लेकिन सर्दी अधिक नहीं है। रहनेकी कोई व्यवस्था नहीं थी, इसलिए हमने एक मंदिरकी शरण ली। पोलिटीकल आफिसरके हेडक्लर्क छपरानिवासी थे। वासुदेवजीको आशा थी, कि उनसे कुछ सहायता मिलेगी, लेकिन उन्होंने खड़े-खड़े बड़े रूखे स्वरसे कहा—आप आज मंदिरमें रहिए, कल दस बजे दिनको आफिसमें

आइएगा। पुजारी अमनौर (छपरा) के पासके रहनेवाले थे, उन्होंने हमारे आरामका बहुत ख्याल रक्खा। अगले दिन पोलिटिकल-अफसरके क्लर्क बाबू ग्यल्-छन्-छे-रिङ्से मिले। यह उतने रूखे नहीं मालूम हुए। उन्होंने दस बजे आफिसमें आनेकेलिए कहा। पटनासे लिखनेपर भी कोई सुनवाई नहीं हुई, यहाँके पारखद भी अधिक अनुकूल नहीं दिखाई पड़े, फिर साहबसे क्या अधिक आशा रक्खी जा सकती थी। मैंने बँगलेपर जाकर अपना कार्ड भेज दिया। मिस्टर विलियम्सनने तुरन्त भीतर बुलाया और अच्छी तरहसे बात की। उन्होंने कहा कि आज्ञापत्रके बारेमें एक दो और बातें जाननी थीं, मैंने पटना लिखा था और उत्तरकी प्रतीक्षामें था। कुछ ही समय पहले बिहारके गवर्नरने बिहार रिसर्च सोसाइटीके वार्षिक अधिवेशनपर मेरी प्रथम तिब्बत-यात्रा और उसके कामकी बड़ी प्रशंसा की थी। संयोगसे जर्नलका वह अंक मेरे पास था, जिसमें भाषण छपा था। विलियम्सन वैसे भी सहृदय व्यक्ति थे, इस भाषणको पढ़कर तो वह और भी प्रभावित हुए और उन्होंने तुरंत क्लर्कको आज्ञापत्र लिखकर लानेको कह दिया। इसके बाद तो तिब्बतके बारेमें उनसे और घुल-घुलकर बातें होने लगीं। उन्होंने वहाँके अपनेलिए बहुत से फ़ोटो दिखलाए और हर तरहसे सहायता करनेकी इच्छा प्रकट की। मैंने इतना ही कहा कि आप अपने ट्रेडएजेंटको ग्याँची लिखा दें। काम इतनी आसानीसे हो जायगा, यह मुझे विश्वास नहीं था, और यहाँ ग्यारह बजे तक आज्ञापत्र मेरे हाथमें था।

गन्तोक् आये तो कुछ और देख लेना चाहिए। पहले राजकीय विहार और प्रासादकी ओर गये। महाराजा और महारानीसे भेंट हुई। महारानी विशेष समझदार मालूम हुईं। मैंने अपने तिब्बती प्राइमरकी एक प्रति भेंट की। जब मैं विहार देखते वहाँ ठहरे तिब्बती लामाके पास पहुँचा, तो देखा रानी भी हर्षोत्फुल्ल हो मेरी प्राइमरको उन्हें दिखा रही हैं। लामासे काफ़ी देरतक बातें होती रहीं। वे मेरे नामसे पहले हीसे परिचित थे। पीछे वह ल्हासामें भी मिले और सहायता करनेकेलिए तैयार थे।

उसी दिन चार बजे चलकर पौने नौ बजे हम कलिम्पोङ् पहुँच गये। अब तिब्बत-केलिए प्रस्थान करना था। सवारीका प्रबंध होना कोई मुश्किल नहीं था, क्योंकि प्रतिदिन सैकड़ों खच्चर यहाँसे माल लेकर तिब्बतकेलिए रवाना होते हैं। हमें बड़ी सावधानीसे रुपया खर्च करना था। राजनाथकेलिए आज्ञापत्र मिलना आसान नहीं था। माँगनेपर उनकेलिए भी बनारसकी पुलिसको जाँच करनेको कहा जाता। इसलिए यही अच्छा समझा गया, कि वह नेपाली वेषमें चलें। उनका ठिगना शरीर

भी इसमें सहायक हुआ। फरी तकर्केलिए ३२ रुपयेमें एक सामान और दो सवारी के खच्चर किराये किये गये। रास्तेकेलिए आवश्यक चीजें और दवाइयां जमा कर ली गईं, जिनमें साबुन, दंतलेई, ब्लेड, फाउन्टेनपेन-स्याही, जूता, छाता, ताला, तौलिया, पेन्सिल, कागज, लेटरपेपर, लिफाफा, टिकट, पोस्टकार्ड, लालटेन, बायवर्तन, ओढ़नेका कपड़ा, टार्च, प्याला, चम्मच, और बरसाती तथा कितनी साधारण दवाइयां (टिंचर ग्रइडिन, रुई, पट्टी, ज्वरकी दवा, जुलाब) शामिल थीं।

फरी-जोङ्को—२२ अप्रैलको सवा नौ बजे हम साहूभाजूरत्नसे विदा हुए। राजनाथ पाण्डे नेपाली टोपी और पाजामेमें थे। उनके साथ एक नेपाली तरुणको अलगङहा बाजार (आठ मील) तक भेज दिया था। राजनाथने नेपाली भेस तो बना लिया था, लेकिन बोली कहांसे लाएँ। सलाह हुई कि पूछनेपर कह देंगे—हमारे माता-पिता शिमलामें रहते रहे, इसलिए मुझे नेपाली भाषा बोलनेका मौका नहीं मिला। चार मील और चलनेपर पेडोङ् आया। पुलिसने नाम-धाम लिखा। मैं भिक्षुवेषमें था, किन्तु मेरे पास आज्ञापत्र था, और राजनाथका भेस ही उनकेलिए आज्ञापत्रका काम दे रहा था। २३ ता०को ६ बजे सवेरे ही हमारा काफिला रवाना हुआ। तीन मील उतराईके बाद चढ़ाई शुरू हुई। फरी-तकमें अबकी सिकिमपुलिसने नाम-धाम लिखा। ५ मील चढ़ाईके बाद उतराई आई। यहां बड़ी इलायचीके बाग लगे हुए थे। पहले बड़ी इलायचीकी खान नेपाल थी, लेकिन अब गोरखा लोगोंने उसे नेपालके बाहरके पहाड़ोंमें भी फैला दिया है। रं-गी-ली बाजारमें साढ़े दस बजे पहुँचे। नेपाली बौद्ध काछावांडा (वंद्य) ने बड़े आग्रह और प्रेमसे भोजन कराया। साढ़े बारह बजे हम फिर ऊपरकी ओर चढ़ने लगे। तीन घंटे बाद लिङ्-ताङ् पहुँच गये। जगह देखनेमें बहुत अच्छी मालूम हुई, लेकिन रातको पिस्सुओंने नींद हराम कर दी।

सवेरे उठे, तो पानी बरस रहा था। लेकिन पानीकी प्रतीक्षाकेलिए समय कहाँ था? हम सात बजे चल पड़े। आगे अब चढ़ाई ही चढ़ाई थी। तिब्बतका व्यापार-पथ होनेसे यहाँ आदमियोंकी आवाजाही बहुत रहती है, इसलिए मीठी चायकी दूकानें जगह-जगह मिलती हैं। फदमचन् (४ मील) तक हम साढ़े चार घंटे पैदल ही चले। यहीं रोटी-चायका भोजन हुआ। अब हम डाँड़ेकी ओर जा रहे थे, इसलिए चढ़ाईकी क्या शिकायत? उस दिन रातको जन्लूमें जाकर ठहरे। यहाँ भी पिस्सुओंने सोने नहीं दिया।

२५ अप्रैलको ६ बजे ही रवाना हुए, चढ़ाई खूब कड़वी थी। पहले छोटा डांड़ा

(जोत) आया, यहाँ पासमें चायकी दूकान थी। गङ्-चन्-जोद्-ङुङ् (किञ्चिनजंगा)-की चोटी दिखाई पड़ी। १ बजे हम नायङ् पहुँचे। राजनाथ दूसरे नेपाली यात्रियोंके साथ आगे-आगे जा रहे थे, उनको किसीने नहीं पूछा; किन्तु जैसे ही मैं वहाँसे गुजरा पुलिसने दौड़कर आवाज लगाई और पास दिखानेकेलिए कहा। पास दिखाते हुए मैंने कहा—मुझसे ही क्यों पास माँगते हो? जवाब मिला—नेपालियोंकेलिए पास नहीं देखा जाता। मैं मन ही मन हँसा—राजनाथ अच्छे नेपाली निकले। जिस वक्त हम जा-लेप्-लाको पार कर रहे थे, उस वक्त चारों ओर खूब बादल था। खैरियत यही हुई कि बर्फ नहीं पड़ी। जा-लेप्लाका डाँड़ा भारत और भोटकी सीमा है। आगे उतराई ही उतराई थी। साढ़े पाँच बजे ग्यू-थङ् पहुँचे और उसी आवसथमें ठहरे, जहाँ पिछली बार देववाहिनीका साक्षात्कार हुआ था।

हमारे खच्चरवाले पद्योगङ्के रहनेवाले थे। उनका गाँव सड़कसे हटकर, नदीके भी परलेपार काफी ऊँचे स्थानपर था। उन्हें अपने गाँवसे होकर जाना था। रास्तेमें रिन्-छेन्-गङ्में हमने चाय पी। अब हम बौद्धदेशमें थे, किन्तु कैसा बौद्ध-देश, जहाँ भूत-प्रेत और जादू-मतर छोड़ किसी और बातपर श्रद्धा नहीं। स्यासिमामें अंगरेजी सैनिक-टुकड़ी रहती है। वहाँ हम एक बजेके क़रीब पहुँचे। डेढ़ मील आगे चलनेपर पुल पार हो पहाड़पर चढ़ने लगे। ३ मील जानेके बाद डोइ-डुब हमें अपने गाँव पद्योगङ्में ले गया। चुम्-बी (टो-मो) उपत्यकाका यह एक अच्छा गाँव है। यहाँके लोगोंकी जीविका खेतीके साथ माल-ढोलाई भी है। गाँवमें सोलह परिवार है, जो सभी भाइयोंके एक व्याह होनेके कारण शायद कभी बढ़े नहीं। पीढ़ियोंकी अविभक्त सम्पत्ति यहाँ जमा होती रही होगी, किन्तु तीन वर्ष पहले आग लगनेसे सारा गाँव जल गया। गाँवके इतिहासके बारेमें एक वृद्धने बतलाया कि यह डेढ़ हज़ार वर्ष पुराना है, अर्थात् भोटके प्रथम सम्राट स्रोङ्-चन्-गवोसे भी पहले का। इतने लम्बे कालका उल्लेख तो नहीं मिल सकता, किन्तु कोई स्थान प्रागैतिहासिक भी हो सकता है। हाँ, इस गाँवकी एक विशेषता जरूर थी। यह लोग बोन्धर्मके माननेवाले थे, जो भूतप्रेत-पूजाके रूपमें बौद्धधर्मके आनेसे पहिले यहाँ मौजूद था। इस गाँवमें बोन्-धर्मके दो मन्दिर हैं। किन्तु दोनोंमें शाक्यमुनिकी भी मूर्तियाँ हैं। मन्दिरमें बोन्धर्मकी कुछ हस्तलिखित पोथियाँ भी हैं, जिनमें बोन-बुम् (बोन्धर्मकी शतसाहस्रिका)की सोलह पोथियाँ बहुत पुरानी हैं—इनमें तालपोथियोंकी तरह छिद्रस्थान बने हैं और शताब्दियों पहिलेसे परित्यक्त दकार (द-द्रग) भी मौजूद हैं। वस्तुतः बोन्धर्मने बहुतसी चीजें बौद्धोंसे ले ली हैं, इसलिए यह यही प्रागबौद्ध-

पीते सवा चार बज गये। कुछ उजाला भी हो चला। फिर यहाँसे हम रवाना हुए। सर्दी खूब थी। कहीं-कहीं बर्फ़ ओसके रूपमें पड़ी मिली। साढ़े तीन घंटेमें चौदह मील चलकर हम दोज़िन् पहुँचे। पासमें विशाल ल्ह-म्छो (देवसरोवर) आज बिल्कुल शान्त था। हंसोंके कलरव जहाँ-तहाँ सुनाई देते थे। फंगी-शिखरका बड़ा सुन्दर दृश्य सामने था। साढ़े दस बजे छ-न्नू गाँवमें पहुँच गये, लेकिन घोड़ेवाले तीन बजे आये। बीचके दो-तीन बस्तियोंसे निराश होकर उस रातको क-ला-नुब् गाँवमें ठहरनेकी जगह मिली। फरीसे पहिले दिन उन्नीस मील, दूसरे दिन सत्रह मील और आज ३८ मील (६७में २६वें मीलतक) आये। उस दिन खङ्-मर गाँवमें रहना पड़ा। डे-पुङ् विहारके अवतारी लामासे भेंट हो गई, जिससे रहनेका स्थान अच्छा मिल गया। अब ग्यांची २६ मील रह गया था।

६ मईको साढे चार बजे ही हम चल पड़े और बीचमें दो घंटा चाय-विश्राम करते पौने चार बजे ग्यांची पहुँच गये।

ग्यांची निश्चिन्तताका स्थान था। धर्ममान साहुकी कोठीकी यहाँ एक शाखा थी, उनके सुपुत्र ज्ञानमानसाहुने सीधे ल्हासा आनेकी चिट्ठी लिखी थी। ग्यांची अन्तिम विश्वसनीय डाकघर था—यह भारत सरकारके आधीन था। चार दिन ग्यांचीमें रहे। किन्तु उसे बेकार नहीं जाने दिया। विनयपिटकके अनुवादका भी काम चलता रहा और ग्यांचीके पुराने विहारको अच्छी तरह देखा भी। ग्यारह मईको मैं गुम्बा (विहार) देखने गया। पिछली यात्रामें भी मैंने देखा था, किन्तु उस समय अभी आँखें अच्छी तरह खुली नहीं थीं। उपोसथागारके किनारे तीन तरफ़ तीन सुन्दर मन्दिर हैं। प्रधान मन्दिरमें बुद्धकी मूर्ति है, दाहिनी ओरका मन्दिर अधिक पुराना मालूम होता है। उसमें नाथ-त्रय (मंजुघोष, एकादशमुख अवलोकितेश्वर और वज्रपाणि)की मूर्तियाँ हैं।

बाईं ओरकी चार मूर्तियोंमें कोनेकी मूर्त्ति आचार्य शान्तरक्षितकी है। यह तुंगनास और शुकनास दोनों हैं। फिर भोटके तीन धर्मराजों—स्रोङ्-च्चन-गंबो, ख्री-स्रोङ्-दे-च्चन् और रल्-पा-चन्‌की मूर्त्तियाँ हैं। भित्तिचित्र भी यहाँके बहुत अच्छे हैं। यह देवालय निश्चय ही छ-सात सौ वर्षसे इधरका नहीं हो सकता। वैसे कहावत है, कि इसे धर्मराजा रब्-तन्-कुन्-जनने बनवाया था, जिसका समय पन्द्रहवीं सदीके आसपास है। गुम्बाका स्तूप भी असाधारण है। इसमें बहुतसे भित्तिचित्र हैं। स्तूपको बगलके एक मठमें चोङ्-ख-पाके मेधावी शिष्य खस्-ग्रुब् (१३८५-१४३८ ई०)रहे थे। एक सन्दूकके भीतर मूर्त्तिके साथ उनके हाथकी कितनी ही

वस्तुयें बन्द हैं। इस विहारमें स-स्क्य-पा, बू-स्तोन्-पा और गे-लुक्-पा तीनों सम्प्रदायोंके भिक्षु इकट्ठा रहते हैं।

१३ मईको हम ग्यांची छोड़ सके। आज भी एक जगह भिक्षु धर्मालोककी खच्चरी ठोकर खाकर गिरी, जिसपर राजनाथवाली खच्चरीने दुलत्ती मारकर उन्हें गिरा दिया। वस्तुतः राजनाथ गुरुत्वाकर्षणके भरोसे सवारी करनेवाले सवार थे। मुझे बड़ी चिन्ता होने लगी। पैदल वह चल नहीं सकते थे और तिब्बतकी खच्चरियाँ उनके मानकी नहीं थीं—मरियल भी उनकेलिए शेर बन जाती थीं। और अबकी खच्चरीने उन्हें पत्थरपर पटका था। छातीके बाईं ओर और घुटनोंमें चोट आई। कलेजा जरासा बच गया। वह कुछ देरतक मूर्च्छित रहे। किसी तरह २२ मील चलकर उस दिन स-ल-गङ् गाँवमें डेरा डाला। गाँवके धनी व्यक्तिके घरमें जगह मिली। आजकल "कातिक"की भीड़ थी, मजूरों और कमकरोंसे घर भरा हुआ था। आवभगत तो हुई, लेकिन भूत-भविष्यकी पूछताँछ भी बहुत होने लगी। लामा, उसमें भी भारतीय लामा हो और भाग्य न भाख सके, तो वह कैसा लामा!

अब एक और समस्या आ खड़ी हुई। धर्मालोकजी पुराने ढंगके आदमी थे, दुनियाकी बातें नहीं जानते थे और सीधी-सादी बातें करते रहते थे। राजनाथ नवतरुण थे, इसी साल एम० ए०में प्रथम आये थे। वह बीच-बीचमें कुछ मजाक कर देते थे। पहिले तो धर्मालोक समझ नहीं पाते थे, लेकिन जब बात उनको मालूम हो गई, तो उन्हें अपने तरुण सहयात्रीकी सूरतसे भी नफ़रत हो गई। उस दिन दूसरी मरतबे राजनाथ मौतके मुँहसे निकले थे, किन्तु धर्मालोकजीने दवा लगानेसे इन्कार कर दिया। हमारा काफिला कुछ छोटा-मोटा शंकरका परिवार-सा बन गया था। किन्तु किसी तरह सम्हालकर तो ले चलना था। १४ मईको हमारी यात्रा जारी रही। राजनाथ बिल्कुल उदास थे—कारण चोट भी थी और हियावकी कमी भी। वह थे भी काँचके बरतनकी भाँति। उन्हें बहुत सम्हालकर ले चलना था और एक सीधा-सादा घोड़ा खरीदकर कलिम्पोङ् लौटा देना था। धर्मालोकजी आज सारे दिन पैदल आये और साढ़े चार बजे ज-राके विश्रामस्थानपर पहुँचकर अपने काममें डँट गये। हाँ, वह राजनाथसे बात करनेकेलिए तैयार न थे।

ज-राका डाँड़ा हमने कल ही पार कर लिया था। आज (१५ मईको) ग्यारह बजे नङ्-कर्-चे पहुँचे। यहाँ खच्चर मिल रहे थे, किन्तु आगे न्यम्-पा-सी-मो थ्रोत् (नन्पा-शिवा)में छू-शिङ्-सा (वर्तमान सावकी कोठीका नाम)का माल भेजनेवाला एजेंट रहता था। उसकेलिए पत्र भी था। इसलिए तीन मील और चलकर

वहाँ पहुँच गये। यहाँसे फग्-गुग् (फग्-डुग्)का ऐतिहासिक बिहार सामने किन्तु दूर दिखाई पड़ता था। तिब्बतमें यही एक बिहार है, जहाँ स्त्री अवतारी लामा है—उसे वज्रवाराहीका अवतार माना जाता है। आजकल वह ध्यान-पूजामें थी, इसलिए हमने वहाँ जानेका आग्रह नहीं किया।

१६ मईको हम युम-डोक् महासरोवरके किनारे-किनारे आगे चले। यह स्थान पारीके क़रीब ऊँचा है। एक जगह जंगली गुलावकी झाड़ियाँ मिलीं, किन्तु उनके लिए अभी वसन्त नहीं आया था और अभी भी वह निष्पत्र थीं। उस दिन बीस मीलसे ऊपर चलकर रातको ठमा-लुङ् गाँवमें ठहरे।

१७ मईको खम्-बाबा ऊँचा डाँड़ा पार करना था। चढ़ाई डेढ़ मीलसे अधिक नहीं थी, किन्तु थी अधिक कठिन। फिर ५ मीलकी उतराई उतरकर साढ़े आठ बजे खम्-बाकचे गाँवमें जाकर चाय पी और विश्राम किया। सवा बारह बजे हम ब्रह्मपुत्रके घाटपर पहुँच गये। चा-सम्-छु-बो-री नामक पवित्र पर्वत बगलमें था। लोग इसकी दण्डवत् (भूंइपरी) करते परिक्रमा करते हैं। धर्मालोकजी बतला रहे थे कि यह पर्वत तिब्बतका नहीं भारतका है, यह वहाँसे लाया गया है। मैंने कहा—यह कोई असम्भव बात नहीं है। पुराने समयमें पर्वत उड़ा करते थे।

—क्या पंख होते थे?

—हाँ, पंख होते थे।

—ब्राह्मणोंके पुराणोंमें लिखा है कि इन्द्रने इनके पंखोंको काट दिया, तबसे बेचारे बेपंख हो धरतीपर पड़े हैं।

—तो उसी वक़्तमें पर्वत आए होंगे?

—हाँ, नहीं तो इतने बड़े पर्वतोंको कौन यहाँ उठाकर लाता?

मैंने हनुमानजीकी बात नहीं कही। हाँ, यह जरूर कहा, कि उस समय आदमियोंका जीवन बड़ा संकटमय था। पहाड़ोंपर कितने ही पत्थर और चट्टानें इधर-उधर पड़ी रहती ही हैं। उड़ते पहाड़ोंसे जब-तब जरूर कुछ नीचे गिरती थी और कभी कोई किसान खेतमें काम करता उनके नीचे दब जाता और कभी कोई चरवाहा भेड़ चराते प्राणोंसे हाथ धोता था। धर्मालोकजीने बताया कि इस पवित्र पर्वतके किनारे १०८ बिहार हैं, किंतु वहाँ परिक्रमा करनेका आग्रह किसीको नहीं था।

ब्रह्मपुत्रको हमने नावसे पार किया और ढाई बजे छू-सुर् पहुँच गये। यहाँ खेतोंमें फ़सल थोड़ी-थोड़ी उगी थी और लौहित्य (ब्रह्मपुत्र)-उपत्यकाके वृक्ष नये पत्तोंसे राजे थे।

दीपंकर श्रीज्ञानका निर्वाण-स्थान ने-थङ्के पास तारामन्दिरमें था। मुझे उसके दर्शनकी बड़ी इच्छा थी। १८ मईको पाँच बजे रवाना हुए। रास्तेमें मध्याह्न-भोजन करके १२ बजे तारामन्दिरमें पहुँचे। यह मुख्य मार्गसे थोड़ा हटकर है। एक पिंजड़ेके भीतर दीपंकर श्रीज्ञानका पात्र, दंड, धर्मकरक और ताराकी छोटीसी मूर्त्ति बन्द हैं। बाहर ताला बन्द करके सरकारी मुहर लगी हुई थी, इसलिए खोला नहीं जा सकता था। लेकिन इन पवित्र वस्तुओंको देखकर मैं गद्गद् हो उठा। यह कभी उस महापुरुषके हाथमें थीं, जिसने बुढ़ापेकी पर्वाह न करके, देशके सुख और सम्मानको लात मारकर, दुर्लंघ्य हिमालयको अकिंचन बना भारतके सन्देशको यहाँ पहुँचाया था। मन्दिरमें कुछ पीतलके स्तूप हैं। पुजारीने बतलाया कि पहिलेमें दीपंकरके शिष्य डोम-तोन्‌का वस्त्र हैं, दूसरेमें सिद्ध नारोपा (नाड़पाद)-का हृदय और बाक़ीमें अष्टसाहस्रिकाकी पुस्तकें हैं। मन्दिरमें ताराकी २१ पीतल-मूर्त्तियोंके अतिरिक्त कुछ और भी मूर्त्तियाँ हैं। हस्तलिखित भोटिया ग्रंथोंके कितने ही अस्तव्यस्त पत्रे भी ढेर किये हुए थे, जिनमें कुछ अष्टसाहस्रिका और कुछ शत-साहस्रिकाके थे। फिर अमितायुके मन्दिरमें गये। दीपंकर यहीं रहते थे। उनके देहान्तके बाद यह मन्दिर बना। मूर्त्तिके पीछेका मकर-तोरण बतला रहा था, कि वह काफ़ी पुराना है। बाहर दो स्तूप हैं। जिनमें दाहिनी पौरवालेमें डोम्-तोन् और बाईंवालेमें दीपंकरके घोड़ेकी काठी रखी हुई है।

आज ही ल्हासा पहुँच सकते थे, लेकिन खच्चरवाले गङ् गाँवमें ठहर गये।

ल्हासामें—१९ मईको साढ़े पाँच बजे रवाना हुए। ठी-सम्‌के बड़े पुलकी आजकल मरम्मत हो रही थी। अब खेतोंमें बोवाईका काम खूब लगा हुआ था। वृक्ष सब हरे-भरे थे। धर्मालोकजी एक दुरारोह चट्टानको दिखाकर बता रहे थे—इसीके छेदके भीतर गुह्येश्वरी देवी विराज रही हैं। डेपुङ्को बायें और दलाई-लामाके उद्यान नोर्बू-लिङ्-काको दाहिने छोड़ते हम पोतला महाप्रासादके सामने आये। ल्हासावाले शायद बहुत दिनों बाद पीले कपड़ेवाले भारतीय भिक्षुको देख रहे थे। सभी अपनी बहुज्ञता दिखलाते बल्-पो (नेपाली) लामा कह रहे थे। साढ़े नौ बजे हम ल्हासामें अपने मेजबान पुण्यात्मा धर्ममान साहुकी कोठी छ्-शिङ्-शा में पहुँच गये। ज्ञानमान साहुने दिल खोलकर स्वागत किया। रास्तेकी सभी तकलीफ़ें भूल गईं।

अबकी बार मेरी यात्रा विशेषकर संस्कृत पुस्तकोंकी खोजकेलिए हुई थी। "तिब्बतमें बौद्धधर्म" लिखते समय जब मैंने भोटिया ग्रंथोंके पन्ने उलटे, तो विश्वास हो गया कि भारतसे गई कई हजार तालपोथियोंमेंसे वहाँ कुछ जरूर होनी चाहिएँ।

भोजनोपरान्त तारघरके अफसर कुशो-तन्-दरके पास मिलने गये। देर तक ब
होती रही। मैंने उनसे कहा कि सक्या और गडोरके विहारोंमें संस्कृत पुस्तकें
सकती है; किन्तु उनपर सरकारी मुहर होगी। उन्होंने कहा—तब उनके खोलने
लिए भोटसरकारसे आज्ञापत्र लेना होगा। मैंने सोचा—देखें इसमें कितनी सफल
होती है। आजकल वैशाखका पवित्र मास था, जिसे भोटमें "स-ग-दावा" कहते है
ल्हासाके केन्द्रमें तिब्बतमें सबसे पुराना और सबसे पवित्र जो-ग्वङ्का मंदिर है। दर्श
और परिक्रमाकेलिए श्रद्धालुओंकी भीड़ थी। कितने ही लोग पंचकोसी कर र
थे। मैं भी दर्शन करने गया।

अब मेरे सामने सबसे प्रमुख काम संस्कृत पुस्तकोंकी खोजकेलिए सहायत
प्राप्त करना था। किन्तु उससे पहिले विनयपिटकका अनुवाद समाप्त करने ता
राजनायजीको सही-सलामत लौटानेका भी काम करना था। १६ मईसे २६ जुल
तक ल्हासामें ही रहना था, इसलिए समय भी कम नहीं था, किन्तु काम तो रो
कुछ न कुछ करने हीसे होता। मैंने अगले ही दिनसे काममें हाथ लगा दिया।

१९३३ ई० में तेरहवें दलाईलामाका देहान्त हो चुका था। उनके अधिक कृपापा
अधिक कोपके भाजन हुए थे। विलायतसे शिक्षाप्राप्त महासेनापति लुङ्-शर पकड़क
जेलमें डाल दिए गये थे। २० मईको हल्ला उठा कि पेटके बल लिटाकर पीठप
पत्थरका बोझ लादके उनकी दोनों आँखें निकाल ली गईं और खून रोकनेकेलि
गर्मतेल डाल दिया गया। दूसरे कृपापात्र और सबसे अधिक प्रभावशाली पुरु
कुम्भेलाको भी कहीं निर्वासित कर दिया गया।

खैर, मुझे अपने कामसे काम था, वहाँकी राजनीतिकी चिन्ता करनेसे कोई फायद
नहीं था। मुझे पता लगा कि मुरुविहारमें गोलोग् गे-शी नामके एक बड़े विद्वान रह
हुए हैं और उनका राजके प्रधान व्यक्तियोंपर बहुत प्रभाव है। मैं २० ता०को उनक
पास पहुँचा। मैंने दर्शनके कुछ अप्रचलित ग्रन्थोंका नाम लिया, वह उन्हें जानते थे
इतिहासके विषयमें भी उनकी काफ़ी जानकारी थी। संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थोंक
खोजमें उन्होंने सहायता करनेका वचन दिया। उन्होंने जब सुना कि भारतसे अधि
कांश संस्कृत ग्रन्थ लुप्त हो चुके है, तो स्वयं प्रस्ताव किया, कि कुछ तिब्बती विद्वा
संस्कृत पढ़ें और इसी तरह भारतीय विद्वान भोट-भाषा पढ़ें, तब दोनों मिलक
तिब्बती ग्रन्थोंका पुनः अनुवाद करें। उनकी बातसे मेरी आशा काफ़ी बढ़ी।

विनयपिटकका अनुवाद भी चल ही रहा था। २० मईसे "साम्यवाद ही क्यों ?" कं
लिखनेमें भी मैंने हाथ लगा दिया और एक अध्याय उस दिन समाप्त भी कर दिया

२१ मईको अपने परिचित भूतपूर्व टी-रिन्-पो-छे (गद्दीधर) के पास गये। वे अब बहुत वृद्ध हो गये थे। आँखोंसे अच्छी तरह सूझता भी नहीं था, किन्तु पहले हीकी तरह उन्होंने घंटेभर बड़े प्रेमसे बात की।

मुझे अपने लिखनेका काम खतम करके पुस्तकोंके पीछे पड़ना था, पर मिलने-जुलनेवाले भी जान नहीं छोड़ते थे। लेकिन मुझे तो अपनी नींद काटकर भी कामकी नियत मात्राको पूरा करना जरूरी था। रविवारको मैं लिखनेका काम बंद रखता था। बोलकर लिखाते वक्त राजनाथजी लिखनेके कामके ही लिए आसानी नहीं कर देते थे, बल्कि उससे मात्रा भी अधिक बढ़ जाती थी। २४ मईको आँखें लाल हो आईं—देवता विघ्न तो नहीं करना चाहते ? आज प्रदक्षिणा करने गया तो देखा तीन-चार लोग चित्रपट दिखलाकर बुद्धके जीवन और जातकोंपर व्याख्यान दे रहे हैं। अबकी बार भोट और भारत दोनोंकी वैशाखपूर्णिमा एक साथ पड़ रही थी, नहीं तो अधिक मासोंके एकसाथ नहीं होनेसे वह आगे-पीछे पड़ा करती थी।

२५ मईको नेपाली राजदूतने मेरे बारेमें खासतौरसे पूछताछ की। मैं नेपाली प्रजाके यहाँ ठहरा था, इसलिए यह उनकी कोई अनधिकारचेष्टा नहीं थी। वह जानना चाहते थे, कि मैं किस कामकेलिए आया हूँ। पिछले दलाईलामाके सबसे कृपापात्र महासेनापति लुङ्-शर और उप-दलाईलामा कुन्-बे-ला आज भारी विपत्तिमें पड़े थे। जब उनका अधिकार था, तो उन्होंने अच्छा-बुरा सभी तरहका काम किया होगा। तिब्बतमें समाचारपत्रका काम अफवाह करती है और उनसे भी महत्त्वपूर्ण काम जन-गीतोंका है। आजकल इन दोनोंकी गीतें बनकर बाजारमें गायी जा रही थीं।

२६ मईको मंगोल विद्वान गेन्-कर-बयवसे भेंट हुई। भोट और मंगोलियाके यह अद्वितीय नैयायिक समझे जाते थे। गेशे-तन्-दर सेरा-गुंबामें थे। २७ मईको उनके निमंत्रणपर सेरा देखने गये। सेरा तिब्बतकी द्वितीय नालंदा है, प्रथम डे-पुङ् है। सम्-लो छात्रावासके ख-ल-खा-मी-छङ्में उनके ही पास ठहरे। आज शाक्य-मुनिके जन्म और निर्वाणकी तिथि वैशाखपूर्णिमा थी। ङ-सङ् (महाविद्यालय) के शालोंमें भिक्षुओंका बड़ा जमाव था। स्मद्-ङ-सङ्की शालाकी मरम्मत हो रही थी। दीवारोंपर सुंदर भित्ति-चित्र थे। पलास्तर उतारा जा रहा था। फिर नए पलास्तरपर नए चित्र बनाए जायेंगे। तिब्बतके मठोंमें मुश्किलसे दस सैकड़ा शिक्षित या विद्याप्रेमी भिक्षु मिलेंगे, नहीं तो बाकी धर्मके कलंक हैं। उसी दिन शामको हम ल्हासा लौट आए।

२८ मईको ल्हासामें वैशाखपूर्णिमा मनाई गई, सेरामें वह कल थी। बाजार

वंद-सा था। लोगोंकी बड़ी भीड़ थी। पोतलाके मुख्य मंदिरमें तो जाना बहुत मुश्कि
था। पिछले दलाईलामाओंके मृतशरीर जिन स्तूपोंमें रक्खे हुए हैं, उन्हें देख
सवासाल पहिले मरे दलाईलामाके स्तूपकी तैयारी की जा रही थी। काम करनेव
बेगारमें पकड़कर आए थे और वह लोगोंसे बक्शीश माँगकर निर्वाह कर रहे थे
रेडिङ्लामा आजकल दलाईलामाके स्थानापन्न थे। अभी राजनीतिकी वे
होनेमें उन्हें चौदह सालकी देर थी। आज उनकी सवारी बड़ी धूमधामसे निकली
लोग पंचकोशी कर रहे थे। कितने ही नेपाली भगत तो बाजे-गाजेके साथ परिक्र
कर रहे थे।

हमारे गृहपति ज्ञानमानसाहु घर लौट रहे थे। उनके साथ अपने खच्चर
रहे थे। राजनाथके लौटानेका इससे अच्छा अवसर नहीं मिलता। राजन
यद्यपि रास्तेकी कठिनाइयोंको कुछ भूलसे गये थे, किन्तु मैं भलीभाँति समझता था
कि अगले बीहड़ रास्तोंमें उनको सँभालकर ले जाना बड़ा मुश्किल होगा। ६
शामको साहुजीका विदाई-भोज हुआ। शराब, सारंगका अंडा और मछली ये शु
समझी जाती हैं। नौकरों और मित्रोंने खा-ता (मालाकी जगह रेशमी चीथ
गलेमें डाला। नन्हींसी चीनी कुतिया मोती भी उनके साथ जा रही थी, उस
गलेमें भी खा-ताकी माला पड़ी। राजनाथ ल्हासामें २० दिन रहे, लेकिन उनक
चीजोंके देखनेका बहुत शौक़ नहीं था। हाँ, मेरे लिखनेके काममें उन्होंने बहुत मेहन
की और जानेके समय विनयपिटकके अनुवादका बहुत थोड़ा ही भाग बच रह
था। उनके साथ रहनेसे अवश्य बहुत मदद मिलती, किन्तु रास्तेकी दो भयंक
दुर्घटनायें हो चुकी थीं, जिनमें ब्राह्मणीके सिंदूरने ही उन्हें बचाया था, मैं सिंदूर धुलाने
का पाप नहीं लेना चाहता था।

७ जूनको राजनाथ और ज्ञानमानसाहु भारतकेलिए रवाना हुए। भिक्षु धर्मा
लोक ल्हासा पहुँचनेके बाद ही दूसरी जगह रहने चले गये। अब मैं अपनी कोठरी
अकेला था। मेरी कोठरीका एक दरवाज़ा रसोईघरमें खुलता था और दूसरा दरवाज़
बन्द था, क्योंकि उधरवाली कोठरीमें क़ादिरभाई (तिब्बती माता और कश्मीरी
पिताकी सन्तान) रहते थे। दिनमें काफी समय आने-जानेवालोंको देना पड़ता था
जिसकी कमी रातको जागकर पूरी करनी पड़ती थी। कभी-कभी तो रातके दो बज
जाते थे।

कोठरीमें अकेले रहते कई दिन बीत गये। एक दिन क़ादिरभाईने पूछा—
लामाजी! आप बड़ी राततक जागते हैं, कुछ दिखलाई तो नहीं पड़ता?

दिखलाई पड़नेका अर्थ ताड़कर मैंने कहा—दिखलाई पड़नेकी क्या बात पूछते हो क़ादिरभाई, रातके बारह बजे नहीं, कि मेरी कोठरीमें तिल रखनेकी जगह नहीं रह जाती।

क़ादिरभाईकी स्त्री कदीजा (ब्याह करनेके बाद मुसलमानी नाम) आँख फाड़कर देखने लगीं और बातको गम्भीर होते देख साहुकी रसोइया सत्तरसाला अचा-चे-डा भी ठमक गई। क़ादिरभाईने कहा—क्या दस-बारह !

मैंने कहा—दस-बारह नहीं, मेरा बिस्तरा छोड़कर सारी कोठरीमें, धरती ही नहीं अधरमें भी, बस भूत-भूतनी ही दिखाई देते हैं।

—काममें बाधा नहीं डालते !

—बिल्कुल नहीं, बड़े भलेमानस हैं। कोई मुँहसे बात निकालना भी चाहे, तो दूसरे संकेतसे रोक देते हैं। ऐसे भलेमानुस तो दिनमें मेरे पास आनेवाले आदमी भी नहीं होते।

कदीजाने बीचमें रोककर कहा—नहीं लामाजी ! इतने कहाँसे होंगे ?

मैंने कहा—तो तुम्हें विश्वास नहीं है, रातके एक बजे बस किवाड़ खोलनेकी देर है, कहो तो दर्शन देनेकेलिए तुम्हारे पास भेज दूँ।

कदीजाको कहाँ इतनी हिम्मत हो सकती थी, उसने गिड़गिड़ाते हुए कहा—क्षमा, क्षमा लामाजी ! हमारे घरमें न भेजिए। मैंने कभी आवाज नहीं सुनी, इसीलिए कह रही थी।

मैंने कहा—वैसे आवाज नहीं होती, किन्तु सोते वक़्त मैं एक बहुत करुणा भरी आवाज सुनता हूँ।

सबके कान खड़े हो गये। क़ादिरभाईने कहा—"करुणा भरी आवाज !"

अचा-चेडाने एक साँसमें कह डाला—अरे वही नेपाली जो इसी कोठरीमें अपना गला काटकर मर गया था।

मुझे इसका कोई पता नहीं था। अब मैंने उसमें और नमक-मिर्च लगाई। श्रोताओंका भी विश्वास बढ़ा और रातकेलिए घबड़ाहट भी हो चली। क़ादिरभाई-की बड़ी बेटी भी तबतक आ पहुँची। उसने पूछा—और यहाँ बारजेपर, आँगनमें तो कुछ दिखाई नहीं पड़ता ?

मैंने कहा—बारजेकी बात अलग, मैं तो तुम्हारी कोठरीके भीतरसे एक सफ़ेद दाढ़ीवालेको निकलते देखता हूँ।

श्रोताओंमेंसे कोई बोल उठा—सिङ्-पा, सिङ्-पा !

में सँभल गया। दाढ़ीवाला मैंने क़ादिरभाईके बापका ख्याल करके कहा था वह कश्मीरी मुसलमान थे; लेकिन सिङ्-पा प्रायः सौ वर्ष पहिले कश्मीर तिब्बत लड़ाईमें पकड़े गये सिहों (सिक्खों या राजपूतों)को कहते थे। मैंने अपने भूत सिक्ख लिबास पहिना दिया। मालूम हुआ कि सचमुच ही एक सिङ्-पा उस कोठरी बहुत साल रहा था। बेचारी तरुणी बहुत घबड़ाने लगी। आँगनके बारेमें भी बतलाते हुए मैंने कहा—इस बारजेपर तो हर जगह वही दिखाई देते हैं, और नी आँगनमें तो नव-वर्ष जैसा नाचका अखाड़ा जमता है।

अचा-चेडाने एक कानसे दूसरे कानतक मुँह फाड़कर हँसते हुए कहा—नह लामाजी, आप हमें डरवाते हैं।

—यानी झूठमूठ डरवाते हैं, लेकिन एक बजे रातको अपना दरवाज़ा खोलक देख क्यों नहीं लेतीं? या कहो तो दो-चारको तुम्हारी कोठरीमें भेज दूँ?

अचा-चेडा घबड़ाकर बोली—नहीं लामा ला! कू-चि, कू-चि (क्षमा, क्षमा, मैं मर जाऊँगी, मैं ऐसे ही कह रही थी, आप जरूर देखते होंगे।

—हाँ मैं देखता हूँ, उनकी वहाँ बड़ी भीड़ रहती है, लेकिन मुझे सभी रास्त दे देते हैं। मैंने ऐसे भलेमानस भूत तो दुनियामें कहीं नहीं देखे।

दो बातें संयोगसे सच्ची निकल आई थीं, अब भला उनको मेरी बातोंपर क्यों नहीं विश्वास होता? और मैं क्या इस मनोरंजक कथाको कहकर उनके मिथ्या विश्वासमें कोई वृद्धि कर रहा था? वहाँ तो उसका समुन्दर पड़ा हुआ था। मैं अतिरंजन इसीलिए कर रहा था, कि श्रद्धाका कोमल तन्तु अधिक तनावपर टूट जाये।

× × ×

मैंने दोस्तोंको तालपोथियोंको खोजनेकेलिए भी कह रखा था। एक दिन माघ (शिशुपालवध) काव्यपर भवदत्तकी टीका "तत्त्वकौमुदी" आई। पुस्तक खंडित थी और उसकी मैथिली लिपि दो-तीन सौ वर्षसे अधिक पुरानी नहीं थी। उसमें साथ व्याकरणकी किसी पुस्तकके भी दो-चार पन्ने थे। टीकामें काशीके जगद्धरका भी नाम था। अमर और विश्व इन दोनों कोशोंके काफ़ी उद्धरण थे। अलंकारोंपर दंडी और छन्दोंपर श्रुतबोधका प्रमाण दिया गया था।

८ जूनको "अभिसमयालंकार"पर बुद्धश्रीज्ञान विरचित "प्रज्ञाप्रदीपावलि" नामक वृत्ति आई। यह दर्शनका ग्रन्थ था और अभी कहीं छपा नहीं था। मालिक पुस्तक बेचना नहीं चाहता था, इसलिए हमने उसे उतारनेका निश्चय किया। ज्ञान-

मानसिंह इस पुस्तकको लाये थे। उन्होंने और पुस्तकोंके होनेकी बात कही और मेरा भी विश्वास अब बढ़ चला।

मुझे पता लगा था, कि रेडिङ्-विहारमें कुछ तालपोथियाँ हैं। इस विहारको दीपंकर श्रीज्ञानके शिष्य डोम्-तोन-पाने ग्यारहवीं सदीके मध्यमें बनवाया था और वहाँके बड़े लामा आजकल भोटके स्थानापन्न राजा थे। १० जूनको हम उनसे मिलने गये। डेढ घंटा बात होती रही। उन्होंने कहा—जहाँ भी आवश्यकता होगी, हम चिट्ठी लिख देंगे। अपने विहारकी तालपोथीके बारेमें कहा कि वह आधी जल गई है।

ल्हासा बड़ी ठंडी जगह है, वहाँवाले तो मालों नहानेकी आवश्यकता नहीं समझते, लेकिन हममें उतनी हिम्मत नहीं थी। हफ्तेमें एक दिन नहाना हम जरूरी समझते थे। इसकेलिए सबसे अनुकूल स्थान शो-गङ्-(सुर्-खङ्) राजभवन था। शो-गङ्वंश धन और भूमि दोनोंमें तिब्बतका सबसे बड़ा सामन्तवंश है। पिता एक वेश्याके पीछे घर छोड़ गये थे। उनके दो पुत्र सरकारमें भी अच्छे पदोंपर थे। (१९४९ ई०में तो बड़ा पुत्र तिब्बत-सरकारका एक मन्त्री है और दूसरा जेनरल)। दोनों कुमार और उनकी माता बड़े मधुर स्वभावके थे। मेरी वह हर तरहसे सहायता करनेकेलिए तैयार थे। रविवारको मैं काममे छुट्टी रखता था और उस दिन उनके प्रासादमें स्नान करने जाता था। आँगनमें एक बड़े ताँबेके बर्तनमें गर्म पानी रख दिया जाता और मैं साबुन लगाकर स्नान कर लेता। घरकी स्वामिनी ल्हा-चम् (देवी-भट्टारिका) थी। वह स्नोङ्-चन धर्मराजके वंशकी लड़की थीं। इस वंशके सामतका आज भी तिब्बतमें बहुत सम्मान है। उनके पास तेर्-गीके ब्लाकका छपा कन्-जुर आया था। तेर-गीका छापा सबसे सुन्दर माना जाता है। मेरे कहनेपर उन्होंने देना स्वीकार कर लिया, दाम हजारके आसपास था और बोझा साढ़े तीन खच्चरका। मैं उस सुपाठ्य कन्जुरको पटना ले आया, लेकिन 'धोबी बसिके का करे दीगम्बरके गाँव'। मेरे पास कहाँ पैसा था, कि उसे अपनेलिए खरीद लेता। कलकत्ताविश्वविद्यालयको खबर लगी, तो उसने तुरन्त डाक्टर बागचीको भेजा और पुस्तक वहाँ चली गई।

हमारे वहाँ रहते ही तेर्-गी-थैजी (तेरगीके राजा साहेब) आ गये। पता लगा कि उनके पास तालपोथीके ४०० पन्ने हैं। पीछे देखनेपर मालूम हुआ, कि वह "शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता"का कुछ अंश है, जो कि दुर्लभ चीज नहीं है।

दिनको विघ्न होनेपर हम रातको लिखकर काम पूरा करना चाहते थे, किन्तु

खटमल और पिस्सू जैसे दानव यज्ञमें बाधा डालनेकेलिए बराबर तैयार थे। १३ जूनको एक रोचक बात हुई। मेरे एक सिहलमित्र भिक्षु धर्मरत्नने दार्जिलिंग या कलकत्तासे तार दिया—"बड़ी गम्भीर बात है, आपकी उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक है, तुरन्त चले आइये।" मौत भी निमन्त्रण देती, तो भी क्या वहाँका काम छोड़कर मै चला आता? तार देते वक्त शायद उन्हें ख्याल हुआ, कि मैं कहीं रेलके छोर-पर बैठा हुआ हूँ।

क्याटा-कुशो नये-नये मन्त्री हुए थे, काम आरम्भ भी नहीं कर पाये थे, कि मौतने आ दबोचा। दान-पुण्यका कुछ पैसा और एक खा-ता मेरे पास भी आया। यह अच्छा लक्षण था, क्योंकि बड़ी जगहोंके परिचयसे ही बन्द जगहोंके दरवाजे मेरेलिए खुल सकते थे। शो-गङ्के कुमार (आजकल जेनरल शो-गङ्) भी मेरेलिए कोशिश कर रहे थे। उन्होने खबर दी, कि कुन्-दे-लिङ् बिहारमें कुछ तालपोथियाँ हैं। १८ जूनको उनके साथ हम कुन्दे-लिङ् गये। डेपुङ्के गेशे-शेरब् भी वहीं मिले। उनके जैसे पंडित सारे तिब्बतमें दो ही चार मिलेंगे। भोट-शास्त्रोंके विद्यासागर, वह चान्द्र-व्याकरण भी रटे हुए है, किन्तु संस्कृत पढनेका अवसर नहीं मिला। वह जोर देकर कह रहे थे, कि गुरु शब्दका द्विवचन 'गुरवौ' बनता है, तथा भारतमें च, छ, ज, नही बल्कि च, छ, ज बोला जाता है। बात करते वक्त कभी उनकी पण्डितमूर्खतापर हँसी आती, और कभी कुछ विरक्ति भी। लेकिन उसी दिनसे हमारी मित्रता आरम्भ हो गई और पीछे तो वह बड़े घनिष्ठ मित्र बन गये। कुन्-दे-लिङ् लामाके वह अध्यापक थे, इसलिए तालपोथियोंके देखनेमें दिक्कत नही हुई। इनमे दो पोथियाँ अष्टसाहस्रिकाकी थी, जो छप चुकी हैं। एक पोथी रञ्जन-अक्षरमें थी, जो गे-शेके कथनानुसार खास आचार्य नागार्जुनके हाथकी थी। हाँ, एक पोथी बड़ी अनमोल देखनेको मिली। वह धर्मकीर्तिके 'वादन्याय'पर शान्तरक्षितकी टीका थी। पीछे मैंने उसका फ़ोटो लिया। उसी यात्रामें ङोर-विहारमें उसका मूल भी मिल गया और कुछ समय बाद उसे मैंने प्रकाशित भी करा दिया।

भोट सरकारसे चिट्ठी लेनेकी बड़ी आवश्यकता थी और उसकेलिए जहाँसे भी सिफ़ारिश करवाई जा सकती थी, उसे हम करवा रहे थे। चार मंत्रियोमें भिक्षुमंत्री (का-लोन् लामा)की प्रशंसा सुनी थी। उनके पास गये। उन्होंने बड़ा उत्साह दिखलाया, लेकिन अगले ही हफ़्ते उनका देहान्त हो गया। १९ जूनको गो-लोग्-गेशेके पास गये। गो-लोग् गेशे पैरोंसे लुन्ज थे। लोगोंका कहना था कि बैठे-बैठे स्वाध्याय और ध्यान करनेके कारण उनकी यह दशा हुई। वह बड़े स्वाध्याय-

शील व्यक्ति थे, इसमें तो सन्देह नहीं। उन्होंने बड़ी जगहोंपर सिफारिश करनेका वचन दिया।

२० जूनको पहिली बार डे-मुङ्के ग्रम्दो चित्रकारसे भेट हुई। गेशे धर्मवर्द्धन (गेदुन-छोम्फेल)का परिचय इसी नामसे उस दिन कराया गया था। उस वक़्त मैं नहीं जानता था, कि यह पतला-दुबला सीधासा आदमी भोटसाहित्य और दर्शनका एक अच्छा पंडित, कुशल चित्रकार, ऊँचे दर्जेका कवि, और उदारचेता आदर्शवादी पुरुष है। तबसे कई वर्षोंतक मेरा धर्मवर्द्धनका साथ रहा, मैं उनका अधिक और अधिक प्रशंसक होता गया। १९४८ ई०में जब मालूम हुआ कि भोटसरकारने स्वतन्त्र विचारोंकेलिए उन्हें जेलमें डाल दिया है, तो मुझे बड़ी चिन्ता हुई, जिससे जनवरी (१९४९)में जेनरल शो-गङ्के मुँहसे छुटकारा पानेके समाचारसे ही मैं भी छुटकारा पा सका। पहिले दिन बातचीत हुई। अभी इसका कोई संकेत भी नहीं था कि धर्मवर्द्धन हमारे साथ आयेंगे। मैंने अपनी डायरीमें लिखा था—"साहित्यका भी जानकार है, प्रमाणवार्त्तिक अच्छा पढा है। सारस्वतके भी बहुतसे सूत्र याद है। इस प्रकार वह सिर्फ चित्रकार नहीं है। भारत चलना चाहता है। क्यों न सम्-येकी यात्रामें उसे साथ ले चलें।"

२२ जूनको बलीवा आया और हम तालकी पोथियोंकेलिए कुन्-दे-लिङ् गये। वहाँ एक पोथी सद्धर्मपुण्डरीककी भी थी, जो महाराज विजयपालदेवके समयमें लिखी गई थी और वादन्यायटीका कुटलाक्षरमें नेपालके महाराज आनन्ददेवके समय लिखी गई थी। पुस्तकके असली मालिकका नाम चाकूसे कुरेदकर मिटाया गया था। कुन्-दे-लिङ् बिहारके पुस्तकालयमें भोटपडितोंकी कुछ अप्रकाशित जीवनियाँ भी हैं। वस्तुतः इन पुराने बिहारोंमें ढूँढनेपर कितने ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ और कलाकी चीजें प्राप्त हो सकती हैं।

२८ जूनको मैंने लिखा था—"ल्हासामें मनुष्योंके बाद सबसे अधिक संख्या शायद कुत्तोंकी होगी।" मनुष्योंसे कुत्तोंकी होड़ क्या? यहाँ तो घरभरकी केवल एक पत्नी होती है, इसलिए सन्तान भी सीमित ही होती है और दूसरी ओर वैसी कोई रोकथाम नहीं, बीमारीसे मर जायँ तो भले ही कुछ संख्या कम हो। ये कुत्ते ग़रीबोंपर टूट पड़ते हैं, कपड़ा-लत्ता अच्छा हो तो नहीं पूछते। सड़क तो खैर प्रधान मन्दिरकी परिक्रमा भी है, इसलिए दूकानदारोंको अपना दरवाजा साफ़ करना ही पड़ता है। घरके पिछवारेकी गन्दगीकी बात मत पूछिये, यदि यह नीचेका कोई शहर होता, तो यहाँ बराबर हैज़ा बनी रहती।

खटमल और पिस्सू जैसे दानव यज्ञमें बाधा डालनेकेलिए बराबर तैयार थे। १३ जूनको एक रोचक बात हुई। मेरे एक सिंहलमित्र भिक्षु धर्मरत्नने दार्जिलिंग या कलकत्तासे तार दिया—"बड़ी गम्भीर बात है, आपकी उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक है, तुरन्त चले आइये।" मौत भी निमन्त्रण देती, तो भी क्या वहाँका काम छोड़कर मैं चला आता? तार देते वक़्त शायद उन्हें ख्याल हुआ, कि मैं कहीं रेलके छोर-पर बैठा हुआ हूँ।

श्याटा-कुशो नये-नये मन्त्री हुए थे, काम आरम्भ भी नहीं कर पाये थे, कि मौतने आ दबोचा। दान-पुण्यका कुछ पैसा और एक खान्ता मेरे पास भी आया। यह अच्छा लक्षण था, क्योंकि बड़ी जगहोंके परिचयसे ही बन्द जगहोंके दरवाज़े मेरेलिए खुल सकते थे। शो-गङ्के कुमार (आजकल जेनरल शो-गङ्) भी मेरेलिए कोशिश कर रहे थे। उन्होने खबर दी, कि कुन्-दे-लिङ् विहारमें कुछ तालपोथियाँ हैं। १८ जूनको उनके साथ हम कुन्दे-लिङ् गये। डेपुङ्के गेशे-शेरब् भी वहीं मिले। उनके जैसे पंडित सारे तिब्बतमें दो ही चार मिलेंगे। भोट-शास्त्रोंके विद्यासागर, वह चान्द्र-व्याकरण भी रटे हुए हैं, किन्तु संस्कृत पढ़नेका अवसर नहीं मिला। वह ज़ोर देकर कह रहे थे, कि गुरु शब्दका द्विवचन 'गुरवौ' बनता है, तथा भारतमें च, छ, ज, नहीं बल्कि च, छ, ज बोला जाता है। बात करते वक़्त कभी उनकी पण्डितमूर्खतापर हँसी आती, और कभी कुछ विरक्ति भी। लेकिन उसी दिनसे हमारी मित्रता आरम्भ हो गई और पीछे तो वह बड़े घनिष्ठ मित्र बन गये। कुन्-दे-लिङ् लामाके यह अध्यापक थे, इसलिए तालपोथियोंके देखनेमें दिक़्क़त नहीं हुई। इनमें दो पोथियाँ अष्टसाहस्रिकाकी थी, जो छप चुकी हैं। एक पोथी रञ्जन-अक्षरमें थी, जो गे-शेके कथनानुसार खास आचार्य नागार्जुनके हाथकी थी। हाँ, एक पोथी बड़ी अनमोल देखनेको मिली। वह धर्मकीर्त्तिके 'वादन्याय'पर शान्तरक्षितकी टीका थी। पीछे मैंने उसका फ़ोटो लिया। उसी यात्रामें डोर-विहारमें उसका मूल भी मिल गया और कुछ समय बाद उसे मैंने प्रकाशित भी करा दिया।

भोट सरकारसे चिट्ठी लेनेकी बड़ी आवश्यकता थी और उसकेलिए जहाँसे भी सिफ़ारिश करवाई जा सकती थी, उसे हम करवा रहे थे। चार मंत्रियोंमें भिक्षुमंत्री (धन्-नोन् लामा)की प्रशंसा सुनी थी। उनके पास गये। उन्होने बड़ा उत्साह दिखलाया, लेकिन अगले ही हफ़्ते उनका देहान्त हो गया। १९ जूनको गो-लोग्-गेशेके पास गये। गो-लोग् गेशे पैरोंसे लुञ्ज थे। लोगोंका कहना था कि बैठे-बैठे अधिक स्वाध्याय और ध्यान करनेके कारण उनकी यह दशा हुई। वह बड़े स्वाध्याय-

शील व्यक्ति थे, इसमें तो सन्देह नहीं। उन्होंने बड़ी जगहोंपर सिफ़ारिश करनेका वचन दिया।

२० जूनको पहिली बार डे-पुङ्के अम्दो चित्रकारसे भेंट हुई। गेशे धर्मवर्द्धन (गेदुन-छोम्फेल)का परिचय इसी नामसे उस दिन कराया गया था। उस वक्त मैं नहीं जानता था, कि यह पतला-दुबला सीधासा आदमी भोटसाहित्य और दर्शनका एक अच्छा पंडित, कुशल चित्रकार, ऊँचे दर्जेका कवि, और उदारचेता आदर्शवादी पुरुष है। तबसे कई वर्षोतक मेरा धर्मवर्द्धनका साथ रहा, मैं उनका अधिक और अधिक प्रशंसक होता गया। १६४८ ई०में जब मालूम हुआ कि भोटसरकारने स्वतन्त्र विचारोंकेलिए उन्हें जेलमें डाल दिया है, तो मुझे बड़ी चिन्ता हुई, जिससे जनवरी (१६४६)में जेनरल शो-गङ्के मुँहसे छुटकारा पानेके समाचारसे ही मैं भी छुटकारा पा सका। पहिले दिन बातचीत हुई। अभी इसका कोई संकेत भी नहीं था कि धर्मवर्द्धन हमारे साथ आयेंगे। मैंने अपनी डायरीमें लिखा था—"साहित्यका भी जानकार है, प्रमाणवार्तिक अच्छा पढा है। सारस्वतके भी बहुतसे सूत्र याद हैं। इस प्रकार वह सिर्फ़ चित्रकार नहीं है। भारत चलना चाहता है। क्यों न सम्-येकी यात्रामें उसे साथ ले चलें।"

२२ जूनको बुलौवा आया और हम तालकी पोथियोंकेलिए कुन्-दे-लिङ् गये। वहाँ एक पोथी सद्धर्मपुण्डरीककी भी थी, जो महाराज विजयपालदेवके समयमें लिखी गई थी और वादन्यायटीका कुटलाक्षरमें नेपालके महाराज आनन्ददेवके समय लिखी गई थी। पुस्तकके असली मालिकका नाम चाकूसे कुरेदकर मिटाया गया था। कुन्-दे-लिङ् बिहारके पुस्तकालयमें भोटपंडितोंकी कुछ अप्रकाशित जीवनियाँ भी हैं। वस्तुतः इन पुराने बिहारोंमें ढूँढनेपर कितने ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ और कलाकी चीजें प्राप्त हो सकती हैं।

२८ जूनको मैंने लिखा था—"ल्हासामें मनुष्योंके बाद सबसे अधिक संख्या शायद कुत्तोंकी होगी।" मनुष्योंसे कुत्तोंकी होड़ क्या? यहाँ तो घरभरकी केवल एक पत्नी होती है, इसलिए सन्तान भी सीमित ही होती है और दूसरी ओर वैसी कोई रोकथाम नहीं, बीमारीसे मर जायँ तो भले ही कुछ संख्या कम हो। ये कुत्ते ग़रीबोंपर टूट पड़ते हैं, कपड़ा-लत्ता अच्छा हो तो नहीं पूछते। सड़क तो खैर प्रधान मन्दिरकी परिक्रमा भी है, इसलिए दूकानदारोंको अपना दरवाज़ा साफ़ करना ही पड़ता है। घरके पिछवारेकी गन्दगीकी बात मत पूछिये, यदि यह नीचेका कोई शहर होता, तो यहाँ बराबर हैज़ा बनी रहती।

जूनके अन्ततक विनयपिटकका अनुवाद समाप्त हो गया था। अब एक व
यज्ञको पूरा करलेसे कुछ निश्चिन्तता आ गई थी, इसलिए अब जहाँ-तहाँ जानेके
लिए भी छुट्टी थी। मृत दलाईलामाके सर्वेसर्वा कुशो कुन्-बे-ला कहीं दूर गाँव
नज़रबन्द थे और उनकी पचीसों वर्षकी कमाई नीलाम हो रही थी। शायद उन
कोई पोथी या मूर्ति हो, इसलिए हम ६ जुलाईको नोर्बूलिङ्का गये। नीलामकी चीज़
दलाईलामाके अस्तबलमें रखी हुई थीं। अच्छी चीजें अफ़सर पहिले ही उड़ा
गये होंगे, वह भला यहाँ कैसे आने पातीं! पूछनेपर मालूम हुआ, कि इनके वि
जानेपर और भी चीजें आयेंगी। लौटते वक्त पता लगा, कि रेडिङ्लामाके महल
ल्हा-रम्-पा बननेवालोंका शास्त्रार्थ हो रहा है। भोटसरकार प्रतिवर्ष १६ विद्वानों
को यह पदवी प्रदान करती है, जो कि विद्याकी सर्वोच्च पदवी (डाक्टर य
आचार्य) है। तीन बड़े-बड़े विहारों (डेपुङ्, से-रा, गन्-दन्)के छात्र ही इस परीक्षा
शामिल हो सकते हैं। परीक्षा शास्त्रार्थ द्वारा ली जाती है, जो तीन वर्षोंमें समाप्त
होती है। आज अन्तिम सालोंवाले परीक्षार्थी शास्त्रार्थ कर रहे थे। उसमें शास्त्रार्थ
ही नहीं काफी कसरत भी होती थी। वादी कभी अपनी मालाको ऐंठकर बाण खींचने
की मुद्रा धारण करता, कभी चद्दर कमरमें लपेटकर पैंतरा मारता, तारी पीटन
और बन्दरकी भाँति किलकारी मारना भी शास्त्रार्थका एक अंग था। तिब्बत
विद्वानोंका कहना है कि यह सारी मुद्रा भारतसे आई है। मैं यहाँ सिर्फ शास्त्रार्थ
देखने गया था, लेकिन नौकरने समझा मालिकने मिलने आये हैं। मालिकने समय
न रहनेकी बात कहला भेजी, वह अनुचित नहीं थी।

१२ जुलाईको हम डे-पुङ् विहार गये। लुम्-बुङ् गेशे दोरय् बहुत प्रेमसे मिले
और साढ़े नौ बजेसे ४ बजेतक दर्शन, इतिहास आदि नाना विषयोंपर बात होती
रही। यहाँकी पढ़ाईके बारेमें पूछनेपर मालूम हुआ, कि अक्षरारम्भ ६ वर्षकी अवस्थामें
होता है। उसके बाद दो साल साधारण पाठ होते हैं, फिर चार साल "श्वेतरक्त-रंग"
की पढ़ाई होती है। यह कोई चित्रकारकी विद्या नहीं है। "लाल-सफ़ेद नहीं है,
सफ़ेद-लाल नहीं" जैसी न्यायशास्त्रकी आरम्भिक बातें इस तरह सिखाई जाती हैं।
इस प्रकार ६ वर्ष पढ़नेके बाद प्रमाणवार्तिक शुरू होता है, जिसके समाप्त करनेमें
५ साल लगते हैं। फिर बाक़ी दर्शन एवं धर्मकी पुस्तकोंकेलिए १६ वर्ष चाहिए।
इस प्रकार २७ वर्ष पढ़नेके बाद आदमी ल्हा-रम्पाका उम्मीदवार हो सकता है।
इसकी परीक्षायें शास्त्रार्थके रूपमें तीन वर्षतक चलती हैं। इन परीक्षाओंमें उत्तीर्ण
१६ आदमी प्रतिवर्ष ल्हा-रम्पा बनाये जाते हैं। यदि कोई धनी अवतारी लामा

हो, तो उसको ल्हा-रम्पा बननेमें बहुत दिक्कत नहीं होती। उस दिन लो-सलिङ् और गो-मङ्के महाविद्यालयोंके विद्यार्थी विनयसूत्रपर शास्त्रार्थ कर रहे थे, हम तमाशा देखने गये, लेकिन स्वयं तमाशा बन गये—सब लोग हमारी तरफ देखने लगे। रातको डे-पुङ्में ही रह जाना पड़ा। अगले दिन (१३ जुलाई) सवा तीन बजे शामतक यही रहे और डे-पुङ्के भिन्न-भिन्न महाविद्यालयों एवं छात्रालयोंको देखते रहे। यह सुनकर दुःख हुआ, कि मेरे पहिली यात्राके साथी मंगोल भिक्षु सुमति-प्रज्ञ दो वर्ष पहिले मर चुके। बुर्यत भिक्षु प्रज्ञोपाय भी अब वहाँ नहीं थे। गेशे-शेरब्से आज भी बात हुई। उनसे मालूम हुआ कि कुन्-दे-लिङ् जैसे कुछ विहारोंमें लो-च-वा (भोटिया अनुवादको)की जीवनियाँ मौजूद हैं। भोटके इतिहासकी न जाने कितनी अनमोल सामग्री इन पुराने विहारोंमें पड़ी सड़ रही है।

ल्हासामें अब हमारा कोई दूसरा काम नहीं रह गया था। सरकारसे पत्र लेनेकी आवश्यकता थी, जिसमें एक ओर मुहरबंद कोठरियोंको खोल पुस्तकें देखनेका सुभीता हो और दूसरे सवारीके घोड़े आसानीसे मिल सकें। कभी आशा हो आती थी कि चिट्ठी जल्दी मिल जायगी और कभी निराशा भी होती थी। गो-लोग् गेशे भी हमारेलिए कष्ट उठा रहे थे। १८ जुलाईको उन्होंने भोटसरकारके एक मंत्री थी-मोन्-पासे भेंट करवाई। उन्होंने भी भारतमें बौद्धग्रन्थोंकी आवश्यकताके बारेमें समझाया और मैंने भी कहा। मंत्रीने राय दी कि क-शाक् (मंत्रिमंडल)के पास आवेदनपत्र देकर लोङ्-छेन् (महामंत्री) और एक दूसरे मंत्रीसे भी मिल लेना चाहिए। मुझे पहिले ल्हासाके उत्तरकी यात्रा करनी थी, उसकेलिए तो पत्र मिलनेकी संभावना नहीं थी। आवेदनपत्र लिखनेके कामका जिम्मा शो-गङ् (क्षुर-खङ्) कुमार ने ले लिया।

२० जुलाईको हम गो-लोग् गेशेके साथ भोटके महामंत्रीसे मिले। बड़ी देरकी प्रतीक्षाके बाद महामंत्रीजीने दर्शन दिया। उन्होंने मंत्रिमंडलके पास प्रार्थना करनेकी सम्मति दी।

आजकल ल्हासाका एक तरुण चित्रकार साहुकेलिए चित्र बना रहा था। मैंने उससे भोटमें चित्रकलाके उपकरण और शिक्षा आदिके बारेमें बहुतसी बातें जानीं, जिसपर पीछे एक लेख भी लिखा।

तालपोथियोंके बारेमें तो बहुत जगह होनेकी खबरें मिलती थीं, जिनमें ७० प्रतिशत को तो मैं असंभव समझता था, तो भी कुछ जगहोंमें उनके होनेकी संभावना थी। सिकिमके लामा ओर्ग्येनने बतलाया कि सम्-ये विहारमें सरकारी मुहरछापके भीतर

कुछ तालपोथियाँ बन्द हैं। मिन-डो-लिङ् बिहारमें भी चार पोथियोंके होनेकी संभावना थी। ङोर् और स-स्क्याके बारेमें तो बहुतोंने कहा था। लेकिन अभी तो हमें ल्हासासे उत्तरकी ओर जाना था, जहाँ केवल रेडिङ्में संभावना थी। २८ जुलाईको रेडिङ् लामाने अपने अफसरकेलिए पत्र दे दिया। सिकिमकी महारानीने अपने भाई रत्न सा-कुशोसे एक पत्र तग्-लुङ् गुम्बाकेलिए दिलवाया। साथ चलनेकेलिए ल्हासाके नेपाली फ़ोटोग्राफर नातीला तैयार हुए। गेशे धर्मवर्द्धन भी २६ ता०को हमारे पास चले आए। सवारीकेलिए छु-शिङ्-शाने अपने खच्चर दे दिये।

२. रेडिङ्की ओर—ल्हासामें १६ मईसे ७ सितम्बर तक रहकर "विनयपिटक" हिन्दी अनुवाद, और "साम्यवाद ही क्यों ?"के भी लिखनेका बहुतसा काम खतम हो गया। अब मुझे उन गुंबाओंमें जाना था, जहाँ भारतसे लाई संस्कृतकी तालपत्र पुस्तकें हैं। रेडिङ् गुवामें दीपंकर श्रीज्ञानके हाथकी कुछ तालपत्र पुस्तकें हैं, इसका मुझे पता लगा था। रेडिङ्लामा आज-कल दलाईलामाके स्थानापन्न थे। मैं उनसे मिला। पूछनेपर उन्होंने बतलाया कि एक बंडल पुस्तकोंका है, लेकिन आग लगनेसे किसी वक्त उसका थोड़ासा हिस्सा जल गया। क्या पुस्तकें हैं, इसके बारेमें वे क्या बतला सकते थे ? यदि वह दीपंकरके हाथकी पुस्तकें हैं, तो धर्म, दर्शन, तन्त्र, किसी विषयकी पुस्तक हो सकती हैं। यदि दीपंकरके शिष्य डोमतोन्पाके हाथकी पुस्तकें हैं, तो ज्यादा सम्भव है कि वह तन्त्र या सिद्धोंके दोहोंकी पुस्तकें हों। कुछ भी हो, मैं उसके देखनेकेलिए उत्सुक था। मैंने भोट-सरकारसे पास प्रार्थना की थी, कि पुरानी पुस्तकों, चित्रपटों आदिपर जहाँ-जहाँ सरकारी मुहर लगी हुई है, उन्हें मुझे देखनेकी इजाजत मिले। साथ ही सवारीकेलिए घोड़ों और खच्चरोंके पानेकी आज्ञा मिले। सारी दुनियाहीमें सरकारी दफ़्तरोंकी चाल बहुत धीमी होती है, उसमें भोट सरकारकी गति तो और मन्द होती है। इस १९३४के निवेदनपत्रकी स्वीकृति ४ बरस बाद १९३८में मिली, जब कि मैं चौथी बार मध्य-तिब्बत गया। इसमें भोट-सरकारका कोई दोष नहीं था। सरकारी जवाबको जल्दी आना नहीं था। रेडिङ् रिन्-पोछे (रेडिङ् लामा)से मैंने उनके मठकेलिए चिट्ठी माँगी, जिसमें कि मैं वहाँ संगृहीत भारतीय पुस्तकों और चित्रपटोंको देख सकूँ। उन्होंने एक चिट्ठी दी। खच्चरोंकी समस्याको छु-शिशाके स्वामी ज्ञानमानसाहुने अपने खच्चरोंको देकर हल कर दिया। एक फोटोग्राफरकी जरूरत थी, ल्हासाके नेपाली फोटोग्राफर नातीला (लक्ष्मीरत्न)ने साथ चलनेकेलिए स्वीकृति दे दी। मैं मंगोलभिक्षु धर्मकीर्ति और ग्रमदोके चित्रकार-पंडित धर्मवर्द्धन (गेन्-दुन् छोम्फेल्)को साथ ले जाना चाहता था। धर्मकीर्ति

धर्मवर्धनके साथ चलनेकेलिए तैयार नहीं हुए और धर्मवर्धन अपनी गुम्बा (डेपुङ)-को छोड़कर चले आये थे, इसलिए उनको साथ ले चलना जरूरी था। अब हम तीन साथी थे। चौथा था सोनाम्-ग्यन्‌जे छुशिङ्‌शाका खच्चरवाला।

३० जुलाईको एक खच्चरपर सामान और तीन खच्चरोंपर हम तीनों सवार होकर साढ़े नौ बजे सबेरे ल्हासासे रवाना हुए। जरा-जरा बूँदा-बाँदी हो रही थी। दो मीलपर तब्चीका टकसालघर मिला। हम हरे-हरे खेतोंमेंसे आगे बढ़े, फिर दाहिनी ओरकी उपत्यकाको छोड़ बाईं ओरका रास्ता लिया। ५ मीलपर बिजली पैदा करनेका घर मिला। आगे एक उजड़ासा गाँव था, फिर असली चढ़ाई शुरू हुई। डेढ बजे गोला-जोतके ऊपर पहुँचे। वहाँसे उतराई थी। लेकिन कड़ी नहीं थी। साढ़े ४ बजे हम पायागाँवमें पहुँचे। एक किसानके घरमें ठहरे।

हमको मालूम नहीं था कि लङथङ गुम्बा दो मील ही आगे है, नही तो कल ही यहाँ पहुँच गये होते। फन्-पोकी विस्तृत उपत्यका सामने आई। पुरानी गुम्बाओंकी तरह लङथंङ भी समतल भूमिमें है। लङसङपा दोर्जेसेङ्गे एक बहुत ही विनयशील भिक्षु हुआ था। बाहरसे देखनेपर गुम्बा बिल्कुल अकिंचनसी मालूम होती है पुजारी भी दरिद्रसे हैं, भीतर चीजें भी अस्तव्यस्त रखी हैं, लेकिन यहाँ कुछ भारतकी बहुत सुन्दर मूर्त्तियाँ हैं। मैत्रेय और बुद्धकी प्रतिमाएँ पीतलकी हैं। भारतीय योगी फदम्‌प सेङ्गेकी मिट्टीकी मूर्ति बहुत पुरानी मालूम होती है। पुस्तकोंमें लङथङपाके समयकी स्वर्णाक्षरोंमें लिखी "अष्टसाहस्रिका" बहुत सुन्दर है। हमने कितनी ही चीजोंके फोटो लिये, यहीं भोजन किया और १२ बजे आगेकेलिए रवाना हुए। दो घंटा चलनेके बाद हम नालन्दा विहारमें पहुँचे—भारतके नालन्दाके नामपर ही १५वीं शताब्दीके आरम्भमें यह विहार बनाया गया। बरसातके कारण सभी पहाड़ोंपर हरी घास जमी हुई थी, यद्यपि वह छोटी ही छोटी थी, लेकिन दूरसे देखनेपर बहुत छोटी मालूम होती थी। नालन्दाकेलिए अच्छा स्थान चुना गया था। यह उपत्यकासे जरा ऊपर ढालुवाँ मैदानमें स्थापित है। गुम्बाके पास वृक्ष भी काफी हैं। चू-रह्-खङ सबसे पुराना मन्दिर है, जिसे सक्यापा सम्प्रदायके पंडित रोङ्-स्तोन्‌ने बनवाया था। यहाँके भिक्षुओंने हमारे काममें हर तरहसे सहायता की, रहनेकेलिए स्थान दिया। ल्हासामें बड़ी जल्दी जूएँ पैदा हो जाती हैं, लेकिन न जाने क्या चमत्कार है फन्पोमें जूएँ बिल्कुल दिखाई नहीं पड़तीं।

अगले दिन (१ अगस्त) हम ८ बजे रवाना हुए। बादल था लेकिन तिब्बतमें वर्षामें बहुत कम डर लगता है। बाईं ओर मुड़कर हमने एक छोटी जोत (डाँड़ा)

भी सफेद नहीं काला ही होगा। कैलाशमें बैलका जीना सम्भव नहीं, इसलिए शंकरकी सवारी बैल नहीं, याक होगी—याक भी गो-जातिमें ही है। और शङ्कर जब अपने नन्दी याकपर चढ़कर चलते होंगे, तो वह इसी लामाकी तरह मालूम होते होंगे।

५ बजे हम ल्हखङ् पहुँचे, आज यहीं ठहरना था। यहींसे बाईं ओरका रास्ता मंगोलियाको जाता है, और दाहिनी ओरका रेडिङ्गुम्बाको। ल्हखङ्का अर्थ है, देवालय, आज भी वहाँ एक देवालय है, लेकिन शुरू-शुरूमें सम्राट् श्रोङ्चन्ने यह कोई मन्दिर बनवाया था। चीन, मंगोलिया, मध्यएशियाके रास्तेपर होनेसे स्थान महत्त्वपूर्ण रहा होगा। बाहरसे आनेवाले यहीं आकर समझते होंगे कि हम तिब्बतमें पहुँच गये।

उस दिन शामको साथियोंने पूछा—साथ आया मांस खतम हो गया। मांस बिकनेको आया है क्यों ले लें? मैंने कहा—"हाँ ले लो।" उन्होंने पूछा—"कितना।" मैंने कहा—"पूरा शरीर"। उन्होंने कहा—"पूरा शरीर लेनेकी जरूरत नहीं, एक टाँग ले लेते हैं।" मैंने कहा—"ले लो।" फिर वह तीन-तीन, चार-चार सेरके मांसखण्डको बर्तनमें रखकर मेरे सामने ले आये। निश्चय ही वह भेड़का मांस नहीं हो सकता था। मैंने उनसे पूछा—"यह किसका मांस है?" जवाब मिला—"याक्‌का"। नहीं-नहीं, मैंने बहुत आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"शायद यह मेरे लिए नहीं होगा। तुम जानते हो, मैं याक्‌का मांस नहीं खाता"। उन्होंने कहा—"६ दिनसे आप याक्‌हीका मांस तो खाते आ रहे हैं।" ल्हासासे हमारे साथ सूखा मांस आया था, वह छोटे-छोटे टुकड़े काटकर सुखाया गया था, इसलिए याक्‌का है, या भेड़का पहचानना मुश्किल था। मेरे साथी कह रहे थे कि यह याक्‌का मांस है, मैं यह भी जानता था कि नेपाली लोग याक्‌का मांस खाते हैं, और गायके मांसका तो नाम भी नहीं सुन सकते। वह याक्‌को गाय नहीं मानते, लेकिन मुझे इसमें बिलकुल सन्देह नहीं था, कि याक् और गाय दोनोंकी उसी तरह एक जाति है, जैसे हिंदुस्तानी और विलायती गायका। यद्यपि अपने प्राचीन ग्रंथोंके अध्ययन, विदेशोंके पर्यटन और खुद अपने तर्क-वितर्कसे मैं समझता था, कि गाय, भेड़ और सूअर तीनोंके मांस बराबर हैं, भेड़-सूअरके मांसको खानेमें मुझे कोई उजुर न था। लेकिन, पुराने संस्कार बाधक थे, इसीलिए मैं याक्‌के मांससे परहेज करता था। लेकिन अब ६ दिनतक तो खा चुका था, और किसी दिन भीतरसे कै क्या मिचली भी नहीं आई। मैंने कहा—"अच्छा, ठीक है, कुछ पकाकर सवेरेकेलिए भी रख छोड़ना।" भिक्षुओंके नियमके अनुसार मैं दोपहर-बाद भोजन नहीं करता था,

इसलिए यह कहा था। दूसरे दिन सत्तू खाते वक्त जब वह मांस सामने आया, तो मुझे मालूम होने लगा, कि मैंने यदि इसे मुँहमें दिया, तो जरूर कै हो जायगी। बुद्धि और तर्क जोरसे समर्थन कर रहे थे, कि इसमें कोई हर्ज नहीं, लेकिन उस दिन पुराने संस्कारोंका पलड़ा भारी रहा। पुराने संस्कार कब दबे, यह मुझे याद नहीं, पीछे तो मैं याक्के मांसको सबसे अच्छा मांस समझने लगा।

अगले दिन (५ अगस्त) पौने आठ बजे जब हम रवाना हुए, तो बूँदें पड़ रही थीं। तीन मील चलनेके बाद देवदारके एकाध छोटे-छोटे वृक्ष दिखलाई पड़े। एक ओर जौके कुछ खेत भी थे। यहाँके लोग खेतीकी अपेक्षा याक् और भेड़का पालना ज्यादा पसन्द करते हैं। कहीं-कहीं मानी (मन्त्र लिखे हुए पत्थरों)की छल्लियाँ भी थीं, और श्रद्धालु मुसाफ़िर उन्हें अपनी दाहिनी ओर रखते चलकर परिक्रमा का पुण्य लेना चाहते थे। तगलुङ्से साथ आये दोनों आदमियोंको हमने देखा, कि वह पत्थर कूट-कूटकर "चा-फू, मा-फू" कर रहे थे। "चाफू-माफू"से मुझे बहुत घृणा है। इसका शब्दार्थ तो है "चाय दो, मक्खन दो" लेकिन यह चाय-मक्खन देवतासे माँगते पत्थर-पत्थरसे रगड़ते वह कभी-कभी बहुत क्रूर कर्म करते हैं, ल्हासामें एक ग्यारहसौ वर्ष पुराना शिलालेख है। लोगोंने "चाफू-माफू" करके उसके बहुतसे अक्षरोंको उड़ा दिया, और उसमें गोल-गोल गड्ढे बना दिये हैं। मैंने शंकित हृदयसे नजदीक जाकर देखा, तो मालूम हुआ कि वह मामूली रास्तेका पत्थर है। एक पहाड़का मोड़ पार करते ही देवदारोंके जंगलमें रेडिङ् विहार दिखलाई पड़ा। इन देवदारोंके देखनेसे मालूम हो गया, कि याक् और भेड़ोंसे बचाते हुए देवदार लगानेकी कोशिश की जाय, तो तिब्बतके बहुतसे नंगे पहाड़ देवदारोंके वनसे ढँक सकते हैं।

रेडिङ्के अफ़सर लामाको चिट्ठी दी गई। रहनेकेलिए बहुत अच्छा स्थान मिला, लेकिन जब हमने पुस्तक दिखलानेको कहा, तो उसने इनकार कर दिया। हमें बहुत आश्चर्य हुआ, जब सुना कि चिट्ठीमें लामाने पुस्तक दिखलानेकी कोई बात नहीं लिखी है! फिर हमारा तकलीफ-तरद्दुद उठाना सारा बेकार गया, यह साफ़ था। नातीला बेचारा अपना काम छोड़कर यहाँ आया था, यदि रेडिङ्-लामा पुस्तक नहीं दिखलाना चाहते थे, तो वहींसे इनकार कर दिया होता। हम सभीको बहुत क्षोभ हुआ, लेकिन करना क्या था? ल्हासा चिट्ठी भेजकर जवाब माँगना भी पंद्रह, बीस दिनकी इन्तिज़ारीका काम था। मुमकिन है, यदि दो-तीन सौ रुपये यहाँ अधिकारियोंको दे सकते, तो कुछ काम बनता। लेकिन मैं तो अपनी सारी यात्राएँ

बेसरोसामानीके साथ करता रहा हूँ, एक तरह आप इसे धींगामुश्ती कह सकते हैं। मैं अपने शरीरसे हरेक खतरेको बरदाश्त करने, हरेक कष्टको सहनेकेलिए तैयार था, लेकिन, जहाँ रुपयोंसे ही काम चल सकता हो, वहाँ क्या करता ? शायद पाठकोंको जाननेकी इच्छा होगी, कि आखिर दुनियामें इतनी-इतनी जगह मैं घूमा, और सब जगह पैसोंकी जरूरत होती ही है; फिर ये पैसे कहाँसे आते थे ? इसके बारेमें इतना ही कहना है, कि युरोप-यात्रामें जरूर महाबोधिसभा जैसी धनिक संस्थाने मुझे भेजा था, वह अमेरिका भी भेजना चाहती थी, लेकिन, मैंने स्वयं जाना नहीं पसन्द किया। बस वही एक यात्रा थी, जिसमें मैं पैसोंकी ओरसे कुछ अधि निश्चिन्त था। बाकी यात्राओंकेलिए पैसे कुछ तो अपनी लेखनीसे मिले—सबसे अधि पैसा एक अमेरिकन पत्रिकाने मेरे एक लेखकेलिए दिया था, और यह बड़े मौक़ेपर जापानमें मिला था, जिसकी वजहसे मैं रूस, ईरान भी हो आ सका था डाक्टर जायसवाल मेरी सहायता करनेकेलिए हर वक़्त उत्सुक रहते थे, लेकि मैं उनके घरका एक व्यक्तिसा होनेके कारण उनकी आर्थिक अवस्थासे परिचि था। इसलिए हमेशा उनपर कोई भार डालनेसे अपनेको बचाता था, तिब्बत चित्रों, मूर्तियोंसे मैं अपने यात्राकेलिए काफी पैसा निकाल सकता था, लेकिन ज मुझे कोई अच्छी चीज़ मिलती, तो मैं उसे बेचनेकी जगह किसी म्यूज़ियमक देना पसन्द करता था, तो भी दो-तीन चीजोंकेलिए पटना म्यूज़ियमसे मुझे कु रुपये मिले थे। कोई-कोई मित्र भी कभी कुछ सहायता करते थे, किन्तु मेरे मि सिर्फ विद्वान और गुणग्राही थे; लक्ष्मीका वरदहस्त उनके ऊपर नहीं था। लक्ष्मी पुत्रोंसे मुझे बराबर चिढ़ रही। हो सकता है कोई समझे कि मैं ग़लती कर रहा था। मैं भी समझता हूँ, कि काफी पैसा रहनेपर मैं किसी भी युरोपियन अनुसन्धानकर्त्ता सौ गुना काम कर सकता था, मेरी स्थिति ऐसी थी, कि उनसे हज़ार गुना अधि तथा बहुत ही महत्त्वपूर्ण चीज़ें जमा कर लेता।

रेडिङ्‌विहार ग्यारहवीं शताब्दीमें बना था। तबसे वह बराबर तिब्बतक एक महाप्रसिद्ध विहार रहा। आज भी उसके पास लाखोंकी जागीर और उनके लामा दलाईलामाके बाद तिब्बतके चार सबसे प्रभावशाली लामाओंमें हैं। इ प्रभावके कारण २२ वर्षकी उम्रमें ही वर्तमान रेडिङ्‌लामा, दलाईलामाका स्थानाप बन सका। तालपुस्तकोंके देखनेकी आशा तो थी नहीं, हम मन्दिर देखने गये चारों ओर मकानोंसे घिरा एक आँगन था। जिसकी एक ओर तीन देवालय, जिन एकमें मैत्रेयकी मूर्ति थी—मूर्तियाँ सुन्दर थीं। रेडिङ्‌में सोलह भारतीय विद्वा

इनके अतिरिक्त दीपंकर श्रीज्ञान और डोमतोन् पाके भी चित्र हैं। ऊपरके देवालयोंमें कुछ छोटे-छोटे चित्रपट भारतीय तूलिकाकी सृष्टि मालूम पड़ते हैं। उस वक्त सोलहों चित्रपट बरांडेमें टँगे हुए थे। अजन्ताके चित्र बहुत कुछ नष्ट-भ्रष्टसे हैं, लेकिन यहाँके यह हजार वरस पुराने चित्रपट बहुत ही सुरक्षित अवस्थामें हैं। उनकी रेखाएँ, हल्के रंग सभी बतलाते थे, कि इन्हें किसी कुशल हाथोंने तैयार किया है। मैंने चाहा कि चित्रपटोंका ही फोटो ले लिया जाय, लेकिन अधिकारियोंने उसकेलिए भी इजाजत नहीं दी। गेगे धर्मवर्धन स्वयं एक अच्छे चित्रकार हैं, उन्होंने चाहा कि एकाधकी नकल करें, लेकिन इसे भी अधिकारियोंने मना कर दिया। उस दिन और दूसरे दिन भी दो बार हमने उन चित्रोंका दर्शन करके ही सन्तोष किया।

अब हमारेलिए यहाँ कोई और काम न था और बड़े खेद और क्षोभके साथ ६ अगस्तके ८ बजे हमने रेडिङ् छोड़ा। हमें डीगुङ्की प्रसिद्ध गुम्बामें भी जाना था, वह यहाँसे दूर नहीं थी। डीगुङ् गुम्बाके लामा किसी वक्त चीनसम्राटके गुरु रह चुके थे। यह भी पता लगा, कि वहाँ बहुतसी पुरानी चीजें रखी हुई हैं। लेकिन सोनम्ग्यन्जेको लेकर हम वहाँ जा नहीं सकते थे। हमने ल्हासा लौटनेका निश्चय किया। साढ़े नौ बजे हम ल्हखड्दोङ् पहुँचे और एक बजे नदीके किनारे। सवा घंटे पार उतरनेमें लगे। उस दिन फुन्-दोमें रह गये। अगले दिन हमें तगलुङ्के दोनों आदमियोंको छोड़ देना था। खानेके अतिरिक्त छ आना रोजपर हमने एक आदमीको दो दिनकेलिए रखा। समझ रहे थे, सोनमग्यन्जे किसी दिन चला गया, तो खच्चरोंकेलिए एक आदमी रहना चाहिए। हमारा इरादा था गेनदुन-छोकोर् और येर्वाके पुराने विहारोंको देखनेका। अगले दिन (७ अगस्त) ७ बजे ही हम रवाना हो गये। तगलुङ्गुम्बा दाहिनी ओर काफ़ी दूर छूट गया। साढे ११ बजे हम छलाजोतपर पहुँच गये। हम जाना चाहते थे पोतोगुम्बा। यह भी ग्यारहवीं शताब्दीके एक प्रसिद्ध पंडित पोतोवाका निवासस्थान है, लेकिन हम पहुँच गये, डग्यब् गुम्बामें। काफी वक्त हो गया था, इसलिए रातको वहीं रहना निश्चित किया। यहाँ हम लोगोंको उस कोठरीमें जगह मिली, जिसमें पहिलेके अवतारी लामाकी मोमियाई शरीर (मर्दोङ्) रखा हुआ था। देखनेमें साधारण मूर्तिसा मालूम होता था। पहिले समयमें पेट चीरकर अँतड़ी साफ कर लेते, फिर शरीरको सुखा लेते थे; किन्तु आजकल शवको नमकमें डालकर दो मासतक रखा जाता है, और हर सातवें दिन ऊपरसे नमक डालते रहते हैं। सूखे शरीरपर आज भी और पहिले भी खास तरहका पलस्तर लगा देते हैं। ऐसे मर्दोङ् और मठोंमें

भी हैं, लेकिन वह स्तूपोंके भीतर बन्द हैं, इसलिए उन्हें देखा नहीं जा सकता। इस गुम्बाको डगुग्यबृपाने बनाया था, जो कि पोतोवा (१०२७-११०४ ई०)का समकालीन था। आजकल यहाँ कोई वैसी पुरानी चीज नहीं थी।

फनपो (फन्यूल्) ११वींसे १३वीं सदीतक पंडितोंकी खान रही, अब उनके निवासस्थानोंपर अच्छी-अच्छी गुम्बाएँ मिलती हैं, लेकिन विद्या गोलाजोतके पार ल्हासा प्रदेशमें चली गई।

अगले दिन (८ अगस्त) हम ७ ही बजे निकले। आज हमें पोतोविहार देखना था। नीचे उतरकर जैसे ही पोतोकी ओर मुड़ने लगे, सोनमग्यन्जेने कहा, मैं नहीं जाऊँगा, तुम्हीं तीनों जाओ। जब हमने कहा, कि हमें वहाँ कैमरेकी जरूरत होगी तो उसने तलवारपर हाथ रखकर कहा—"तनदे चे" (खबरदार)। हमने रंग-ढंगसे समझ लिया कि वह क्या चाहता था। बदनमें आग लग गई थी, पिस्तौलपर हाथ जाना चाहता था, लेकिन दिमागने समझाया—क्या तुम भी जानवर बनोगे। अब सोनमग्यन्जेको एक दिन भी साथ रखना बेकार था। नातीलाकी साली पारा हीके गाँवमें रहती थी, हम तीनों वहाँ गये, चाय पी। नातीलाको सामानके साथ आनेकेलिए छोड़ दिया। बरसातकी नदी मीलोंमें सहस्रधार होके बह रही थी, वहाँ रास्ता भूल जानेका डर था। नदी पार करानेकेलिए हमने एक आदमी साथ लिया, और दस बजे वहाँसे चल पड़े। ३, ४ धाराएँ पार करनी पड़ीं। १२ बजे हम पहिले दिनके मुकाम पायामें पहुँचे। गोला (जोत) पार करते वक्त खच्चर थक गये थे। गेशे धर्मवर्धनका खच्चर मुश्किलसे ऊपरतक पहुँचा। यह जोत भी डाकुओंकेलिए मशहूर है, लेकिन जब ३ बजकर २० मिनटपर डाँडेपर पहुँचे, तो कोई वहाँ नहीं था। उतराई उतरते सूर्यास्तसे पहिले ही हम दोनों ल्हासा पहुँच गये।

रेडिङ्की यात्रा हमारी निष्फल रही, दो-दो, तीन-तीन बाधाएँ हमारे रास्तेमें आ गईं। यद्यपि नातीलाने हमारी हर तरहसे सहायता की, और गेशे धर्मवर्धनके रूपमें तो मैंने एक स्थायी मित्र पाया। गेशे तिब्बतमें बड़े पंडितको कहते हैं, और वह बड़े प्रतिभाशाली पंडित हैं, इसमें सन्देह नहीं। उन्होंने बौद्धन्यायका विधिवत् गम्भीर अध्ययन किया है, और पुरे बुद्धिवादी हैं। स्वयं एक अच्छे कवि, और प्राचीन तथा नवीन बौद्धसाहित्य और बौद्धपरम्पराका विशाल ज्ञान रखते हैं। साथ ही उनमें सबसे बड़ा गुण है कि उनको विद्याका अभिमान नहीं, और वह समझते हैं कि विद्या-समुद्रमेंसे उनके पास अभी एक ही दो बूँद आया है। चित्रकार वह एक अच्छी कोटिके हैं। ल्हासाके सामन्त-घरोंमें उनकी विद्याकी उतनी माँग नहीं थी, लेकिन

चित्रकारीकेलिए बड़ी पूछ थी। विद्याके प्रेमने ही उन्हें सुख और आरामके जीवन-को त्यागनेकेलिए मजबूर किया। वह अमदो प्रदेश (चीनी इलाक़े)के एक गुम्बाके अवतारी लामा थे। दूसरे अवतारी लामोंकी तरह उन्हें भी अमीरोंके भोग सुलभ थे। लेकिन उन्होंने गद्दी छोड़ी, गुम्बाके वैभवको छोड़ा और विद्या पढ़नेकेलिए ल्हासाका रास्ता लिया। वह डेपुङ्में कई साल पढते रहे। पीछे हम दोनोंका साथ कई सालतक रहा, यद्यपि लगातार नहीं, क्योंकि दूसरे कामोंके कारण मुझे कभी-कभी अकेले भी देश-विदेशमें घूमना पड़ता था, फिर सरकारी जेलोंमें मैं कैसे उन्हें घसीट सकता था? लेकिन यह मैं कहूँगा, कि गेशे धर्मवर्धन जैसा विद्वान, गुणी, त्यागी, संस्कृत, आदर्शवादी, सहृदय पुरुष तिब्बतमें मिलना बहुत मुश्किल है। बार-बार मेरा दिल कहता, कि हम दोनों साथ रहें, लेकिन वह हमारे बसकी बात नहीं थी; फिर मधुर स्मृतियोंको ही जब-तब उज्जीवित करके मनको सन्तोष दिया जा सकता है। पीछे उग्र राजनीतिक विचारोंके सन्देहपर ल्हासा सरकारने उन्हें जेलमें डाल दिया था।

हम चाहते थे कि ल्होखा (सम्‌ये) वाले प्रदेशके विहारोंमें जायँ, क्योंकि उधर बहुतसे पुराने मठ हैं। लेकिन बड़ी दिक़्क़त थी सवारी की। मेरे पास इतना पैसा नहीं था, कि दो खच्चर खरीद लेता और हम दोनों घूमते-फिरते। फिर मेरे पास सिर्फ रोलैफ्लेक्स कैमरा था, उससे आदमियों और दृश्योंका अच्छा फोटो लिया जा सकता था, लेकिन किताबोंका फोटो मैं नहीं ले सकता था, नहीं, अँधेरे मंदिरोंकी मूर्तियोंका ही फोटो पा सकता था। सवारी और दूसरे इन्तिज़ामकेलिए मैंने जो चिट्ठी भोट-सरकारको दी थी, उसके बारेमें (१४ अगस्त) मालूम हुआ, कि मंत्रिमंडलमें पढी गई और सहायता देनेकेलिए वह तैयार है। लेकिन सरकारी पत्र मिलना इतना जल्दी थोड़े ही हो सकता है। आजकल चीनी प्रतिनिधि ल्हासामें आए थे। चीनवालोंने तिब्बतके ऊपर सीधे शासन कभी नहीं किया और उसका बर्ताव गुम्बाओंके साथ हमेशा अच्छा रहा। अब भी बड़ी-बड़ी गुम्बाओंमें चीन-सम्राटोंके दिये महादानसे समय-समयपर भोज होता है। अधिकतर भिक्षु और साधारण जनता यही जानती है, कि चीनमें अब भी सम्राटका राज्य है। १४ तारीखको चीनी-प्रतिनिधियोंने अपनी सरकारकी एक घोषणा ल्हासामें दीवारोंपर चिपकायी। चीन-सरकार तिब्बतकी जनताके साथ सीधा संबंध नहीं स्थापित करना चाहती, वैसा करनेपर जरूर तिब्बतका प्रभुवर्ग उसे पसन्द न करता; तो भी इस घोषणाके चिपकाने-से बात साधारण जनता तक जाती थी, जिसे प्रभु लोग पसन्द नहीं करते।

और एक हफ़्ता इंतज़ार किया, लेकिन देखा, ल्होखा जानेका कोई इन्तिज़ाम

नहीं हो सकता। बातचीत करनेसे यह भी विश्वास हो चला था, कि चाङ् (टशील्हुन्पो और सक्यावाले) प्रदेशमें जरूर संस्कृतकी तालपोथियाँ हैं। पोटमङ् विहारके एक अधिकारी भिक्षु ल्हासामें मिले। उन्होंने निश्चित तौरसे बतलाया, कि हमारे यहाँ तालपत्रकी तीन पोथियाँ हैं। मैंने समझा, ल्होखा तो नही जा सकता, फिर क्यों न चाङ-प्रदेशके ही विहारोंको देखा जाय; गेशे भी मेरी रायसे सहमत थे। तबतक मुझे "साम्यवाद ही क्यों" के बाकी अध्यायोंको पूरा करना था। मैं उसमें लग गया। चीनी अफ़सर अपने साथ रेडियो लाये थे, उसे सुननेकेलिए बड़ी भीड़ लगती थी। अधिकारी डर रहे थे, कि ढाबा कुछ झगड़ा न कर बैठें। २८ अगस्तको एक चीनी जनरल आया, सरकारकी ओरसे उसका स्वागत किया गया। ४०० सौसे ऊपर पलटन गई थी, मंत्रिमंडलकी ओरसे स्वागतमें कलोन्लामा और एक गृहस्थमंत्री गए थे। दूसरे आदमी ५,६, हजार रहे होंगे, चीनी, नेपाली और मुसलमान भी पहुँचे थे। चीनी जनरल और उसके साथी चीनी सीमासे यहाँ तक पालकीपर आए थे। एक-एक पालकी ६,६ आदमी ढोते थे। उनके साथ एक दर्जनसे अधिक सिपाही नहीं थे। स्वागतका चलते फिलमसे फोटो लिया गया था। उन्हें जिस जगह ठहराया गया, उसके सामने भी भीड़ लगी रहती थी। शामको एक तन्-नन् ढाबा (ऊगडु, अनपढ़ भिक्षु) अन्दर जाने लगा, पहरेदारोंने रोका, इसपर उसने छुरी निकाल ली।

२६ तारीखको कशा (मंत्रिसभा) की ओरसे सवारीके घोड़ोंकी संख्याके बारेमें पूछा गया। मैंने पाँच-छ बतला दिया। ३१ तारीखको लोन्-छेन् (महामंत्री) से गुमाला धीरेन्द्र वज्रने आज्ञापत्रके बारेमें पूछा, तो जवाब मिला—कामकी भीड़के कारण अभी पत्र नहीं लिखा जा सकता, लेकिन जल्दी दिया जायगा। मुझे आज्ञा-पत्रके जल्दी मिलनेकी आशा नहीं थी। २७ अगस्तको "साम्यवाद ही क्यों?" समाप्त हो गया था, अब यही फिकर थी, कि किस वक्त खच्चर मिले, और मैं यहाँसे रवाना होऊँ। मैं छुशिङ्के खच्चरोंको साथ नहीं ले जाना चाहता था, किन्तु, कई जगहके वादोंको झूठा पाकर मुझे ज्ञानमानसाहुसे ही खच्चरकेलिए कहना पड़ा।

४ सितम्बरको कोई मर गया था, उसकी लाशको लोग श्मशान ले जा रहे थे। मैं वहाँ नहीं जा सका, किन्तु पता लगा कि तब्चीके पीछे एक पहाड़ी है, वहींपर मुर्दोंको ले जाया जाता है। ढोनेवाले राक्येवा, एक खास जातिके लोग हैं। वहाँ ले जाकर यह मुर्दोंको पत्थरपर औंधे मुँह नंगा लिटा देते हैं फिर चार राक्येवा भिड़ जाते हैं। उनके हाथमें गड़ासीकी तरहकी तेज छुरी होती है। पहिले पैरके तलवेकी मासकी

छोटी-छोटी बोटीको काटकर पत्थरके गड़हेमें रखते हैं, इसी तरह सारे शरीरके मांस-को निकालकर जमा कर देते हैं। उधर धूपके धुएँको देखकर सैकड़ों गृद्ध आसपास जमा हो जाते हैं। सारे मांसको काटकर गडहेमें ढाककर रख दिया जाता है, फिर पत्थरसे हड्डियोंको चूर-चूर करके सत्तूके साथ सान लिया जाता है—गिद्धोंके हटाने-केलिए एक आदमी लाठी लिये खड़ा रहता है। हड्डी मिले सत्तूकी गोलियाँ पहिले फेंकी जाती हैं, फिर मांसकी बोटियाँ; डेढ़ घंटेके भीतर ही सारा मुर्दा गिद्धोंके पेटमें चला जाता है, इस विधिको थेक्छेन् (महायान) कहते हैं।

राकोवा मुर्दा काटते-काटते भी चाय-सत्तू खाते-पीते जाते हैं, जाड़के दिनोंमें वरफ बन जानेसे पानी नही मिलता, तो वह अपने पेशावमे ही हाथ धो लेते है। राकोवा अपने इस कामकेलिए बहुत घृणाकी दृष्टिसे देखे जाते है। तिब्बतमें लकड़ी-का इतना अभाव है कि मुर्दोंको जलाया नही जा सकता। शरीरसे कुछ प्राणियोंका पेट भर जाय, इसी ख्यालसे यह प्रथा वहाँ चलाई गई; लेकिन, इसके कारण राकोवा अछूत बन गये हैं।

३

साक्याकी ओर

८ सितम्बरको हम दोनो ल्हासासे निकले। गेशेधर्मवर्धनने डेपुङ्-गुम्बाके एक मंगोल भिक्षुको साथ चलनेकेलिए ठीक किया था, चारों खच्चरोंको उसे सँभालना था। छुशिङ्गियावालोने सोनम्ग्यन्जेके ज़िम्मे खच्चरोंके कसनेका काम लगा दिया। उसने एक बूढ़ी, एक लँगड़ी और एक बिल्कुल कमज़ोर तीन खचरियोंको कस दिया। जब हम ल्हासासे निकलकर पोतलाके पास चले आए, तब इस बातका पता लगा। मेरे खच्चरपर तो काठीके नीचे गद्दा भी नही रखा, खच्चरोंकी मुहेड़ी और बाँधनेकी रस्सियाँ भी नहीं दी थी। दूसरा खच्चरवाला छुशिङ्गियाकी एक लाल खचरीको चढनेकेलिए लाया था, हमने उसे बदल लिया, डेपुङ्के नीचेवाले गाँवमें हम मंगोल भिक्षुके आनेका इन्तिज़ार करने लगे। इसी वक्त सोनमग्यन्जे आया। वह दूर हीसे बाँह चढाता आ रहा था। हमने इस जानवरसे कुछ भी न बोलनेका निश्चय किया, वह लाल खचरी लेकर चला गया। किन्तु देर हो रही थी, और मंगोल भिक्षु

भी नहीं आया था। इन खच्चरोंको लौटाकर नये खच्चरोंके मँगानेका ख्याल छोड़ देना पड़ा। हमने चारों खच्चरोंको ल्हासा लौटा दिया। अपने सामानकेलिए गधोंको किरायेपर किया, और उनके साथ ही पैदल चल दिया। आज रातको गङ् गाँवमें पहुँचे।

अगले दिन (९ सितम्बर) गधेवाले साढ़े पाँच बजे डेढ़ घंटा रात रहते ही चल पड़े। ९ मील चलकर नदीके किनारे विश्राम और भोजनकेलिए ठहर गये। कुछ देरतक तो अच्छी तरह चले, फिर शरीर बिल्कुल कमजोर मालूम होने लगा, ज्वर आता दिखलाई दिया। ७, ८ मील और चलनेपर नदीके किनारे जड्में गाँवमें पहुँचे। आज रातको यही विश्राम करना था। कलसे आजका निवास अच्छा था, किन्तु पिस्सुओंका डर लग रहा था। रास्तेमें पूछनेपर पता लगा, कि मंगोल भिक्षु हमें आगे गया जानकर आगे जा रहा है। रातको ज्वर मालूम हो रहा था। खटमलों और पिस्सुओंने एक साथ हो हमला बोल दिया। मैं दो घंटेतक डटा रहा, लेकिन सारे शरीरमें काट-काटकर उन्होंने चकत्ते निकाल दिये। टार्च (चोरबत्ती) लगाके देखा, दीवारपर खटमलोंकी भारी पलटन कूच करती आ रही थी। अब उस मोर्चेपर डटा रहना बुद्धिमानी नहीं थी, छतपर बिस्तरा लेकर चले गये, लेकिन कुछ खटमल-पिस्सू भी साथ चले आये।

रातके ज्वरसे आज और कमजोरी आ गई थी और आगे पैदल चलना असम्भव मालूम हो रहा था। कोशिश करनेपर छुसुरकेलिए एक घोड़ा किरायेपर मिला। फ़सल पकनेको आई थी, वृक्षोंकी पत्तियाँ कहीं-कहीं पीली हो चली थीं, यह सब जाड़ेके आनेकी सूचना थी। छुसुरमें तारघर नहीं है, लेकिन तार-लाइनके देखनेकेलिए एक आदमी रहता है; टेलीफोन भी है। ल्हासाके तारघरके अफ़सर मेरे मित्र कुशो तनदरने टेलीफोनवालोंको सूचना दे रखी थी, कि मुझे हर तरहसे मदद करें। आदमीने देखते ही पहचान लिया। चाय पिलाई, कल शाम हीसे भोजन नहीं किया था, आज अंडेके साथ दूध पिया, भूख तो बिल्कुल नहीं थी, मुँह कड़वा था; लेकिन बिना खाये रास्ता चलना अच्छा नहीं था। तारवाले भाईने अबूसो घाटतककेलिए एक घोड़ा कर दिया। अभी ब्रह्मपुत्रकी धार बड़ी थी, इसलिए छूवो-रिके घाटपर काठकी नाव नहीं चलनी शुरू हुई थी। बरसातमें अबूसोसे ही मुसाफ़िर चमड़ेकी नावसे नदी पार होते हैं। छूवो-रीके सामने मंगोल भिक्षु मिला। बेचारा बहुत हैरान हुआ, वह समझता था, कि हम आगे-आगे जा रहे हैं, इसलिए यहाँतक चला आया। मैंने उसे कुछ पैसे दिये, वह डेपुङ्की ओर लौट गया। हम

उस दिन सेमार्थोव्की तीन-चार घरवाली बस्तीमें ठहरे। रातको पिस्सुओं और खटमलोंने जो आफ़त की थी, उसे देखकर हमने आज वृक्षके नीचे ही सोना पसन्द किया।

अगले दिन (११ सितम्बर) दो बड़ी-बड़ी गुम्बाएँ बसोर् और छोम्-कोर-यड्चे मिलीं। दूसरी गुम्बा बहुत बड़ी है। इसके आसपास बहुत वृक्ष लगे हुए हैं। नजदीकमें और दाहिनी ओर पहाड़में कितनी ही और गुम्बाएँ हैं। जब घाट दो-तीन मील रह गया, तो एक दोरिङ् (पाषाणस्तम्भ) मिला। इसके अक्षर बहुतसे मिट चुके हैं, लेकिन यह जरूर सम्राटोंके समय (६३०-९०२ ई०)का पाषाणस्तम्भ है। उस समय यही भारत जानेका प्रधान रास्ता था। हम ब्रह्मपुत्रके किनारे पहुँचे। ञब्सो, रोङ्, शिगर्चे, सक्या, केरोङ् होते नेपाल जानेका, यही पुराने समयमें रास्ता था। इस रास्तेपर जगह-जगह विहार और पुराने गाँव हैं, लेकिन आजकल कितनी ही जगहमें रास्ते बदल गये हैं। हम इस रास्तेसे चलनेका निश्चय कैसे कर सकते थे, जब कि हम बिल्कुल बेबस थे। यद्यपि ब्रह्मपुत्रनदी शिगर्चेसे ही यहाँ आई है, लेकिन बीचमें वह कुछ ऐसे पहाड़ोंसे गुजरी है कि उसके किनारे-किनारे कोई जा नहीं सकता।

९ बजेसे पहिले हम घाटपर पहुँच गये। यहाँ दोनों कूल कुछ अधिक ऊँचे हैं। इसलिए नदी ज्यादा इधर-उधर हट नहीं सकती। दो घंटा हमें चमड़ेकी नावसे नदी पार करनेमें लगा। ३ बजे हम खड्छड् गाँवमें पहुँचकर गोवा (गाँवके मुखिया)के घरपर ठहरे। रास्तेके गाँवोंमें आतशक और सूज़ाककी बीमारी बहुत ज्यादा मालूम होती थी, कुछ औरतें आतिशककी दवाई लेने आई। मैं दस्त, बुखार, सिरदर्द जैसी साधारण बीमारियोंकी दवाएँ और मलहम अपने पास रखता था, मलहम देकर पिंड छुड़ाया।

अगले दिन गोवाने सामानकेलिए दो बैल और सवारीकेलिए दो घोड़ियाँ कर दीं। अब हम ञब्सो जोतकी ओर चढ़ रहे थे। पहिले चढ़ाई साधारण थी, लेकिन डाकवालेके घरसे वह कठिन होने लगी। हमारे सभी जानवर कमज़ोर थे, इसलिए वह धीरे ही धीरे आगे बढ़ सकते थे। कुछ वर्षा भी होने लगी। यह जोत खून और डकैतीकेलिए बहुत मशहूर है। खैर, किसी तरह हम जोतपर पहुँचे, दूसरी तरफ़ हमारा मार्ग बहुत दूरतक समतल भूमिपर था, फिर उतराई शुरू हुई। जोतमें हमें एक ओर ब्रह्मपुत्र नदी और दूसरी ओर युम्डोक्का विशाल सरोवर दिखलाई पड़ा। जहाँ ब्रह्मपुत्रकी उपत्यकाके गाँवोंमें जगह-जगह सफ़ेदे, बीरी, खूबानी, और शायद अखरोटके भी वृक्ष दिखाई देते, वहाँ युम्डोक-सरोवरके किनारेके गाँवोंमें

वृक्षोंका कहीं नाम नहीं था। बरसातने जो हरी-हरी घास लगा दी थी, वह अब भी सूखी नहीं थी। ३ बजे हम गाँवमें पहुँचे। यहाँ ही चाय पी, और दो दिन बाद आज सत्तू खाया। दो तीर्थयात्रिणी तरुणियाँ कुछ माँगने आईं, कुत्तेने एकके पैरमें काट खाया। मैंने गेशेसे टिनचर-ऐडिन लगा देनेकेलिए कहा। बात करनेपर मालूम हुआ, कि दोनों गेशेकी जन्मभूमि अमदो प्रदेशकी हैं : अमदो (तंगुत्) ल्हासासे मंगोलियाकी ओर दो महीनाके रास्तेपर है। और बीचमें ऐसी भी जगहें हैं, जहाँ हफ्ते भर कोई गाँव नहीं मिलता। यह दोनों लड़कियाँ अकेली थीं। उनके साथ कोई पुरुष नहीं था। उनकी उमर बाईस-चौबीससे ज्यादा नहीं होगी, और उनमेंसे एकको तो हम सुंदरी कह सकते हैं। मैं ख्याल करता था, इनके साहसके सामने मेरी यात्रा कुछ भी नहीं है, यह युवती स्त्री है, और अपना देश छोड़ दो-दो, तीन-तीन महीनेके रास्तेपर निकली हैं। उनके पास काफ़ी पैसा नहीं, इसलिए दूसरे तीर्थयात्रियोंकी तरह रास्तेमें सत्तू-चाय माँगती चलती हैं। गेशेने बतलाया कि ल्हासाके उत्तरके निर्जन स्थानोंको उन्होंने काफलेके साथ पार किया होगा, तो भी उन्हें डाकुओंके खतरेसे भरे पचीसों जोतोंको अकेले पार करना पड़ा होगा। स्त्री, पैसा नहीं, डाकुओंका रास्ता, और सर्दीकेलिए घरसे निकल पड़ना, इन बातोंपर मैं सोच रहा था, जब गाँवसे निकलनेपर गेशेने सब बातें बतलाईं। हमने उन्हें थोड़ासा पैसा दे दिया था। पहिले पता लगा होता, तो उन्हें ग्यन्चे तक अच्छी तरह ला सकते थे। गेशेने एकको तो अपने परिचित गाँवकी लड़की बतलाया था, इसलिए और भी अफ़सोस हुआ। लेकिन यह जानकर सन्तोष हुआ, कि वह हमारी मददके भरोसे नहीं, बल्कि अपनी हिम्मतपर तीर्थयात्रा और साहस-यात्राकेलिए घरसे निकली हैं। तिब्बतमें ऐसे यात्री और यात्रिणियाँ बराबर देखनेको मिलती। अभी उनको तथाकथित सभ्यतासे पाला नहीं पड़ा है, इसलिए बहुत सरलस्वभाव हैं। गेशेने बतलाया कि उधरकी कुमारियाँ बहुत स्वच्छन्द होती हैं, और ब्याह होनेपर तरुणीके कौमार-जीवनकी स्वच्छन्दताका ख्याल नहीं किया जाता।

उस दिन (१२ सितम्बर) हम पेदेके तारवालेके घरपर ठहरे। यहाँपर भी हमारे दयालु दोस्त कुशो तनुदरने टेलीफोन कर दिया था, इसलिए तारवाले आदमी हमारी मदद करनेकेलिए तैयार थे। यह गाँव युम्-डोक् महासरोवरके किनारेपर बसा है। इस सरोवरकी मछलियाँ बहुत स्वादिष्ट होती हैं, और लोग उन्हें सुखाकर रख लेते हैं। तारवालेने हमें खानेकेलिए सूखी मछलियाँ दीं। मछलीको चीरके काँटा निकालकर सुखाया जाता है, सूख जानेपर वह बहुत हल्की हो जाती है। हमने

सोचा कि पाँच-सात सेर मिल जायँ, तो रास्तेकेलिए खरीद लिया जाय; किन्तु मालूम हुआ कि लोग पैसेसे नहीं अनाजसे ही बदलते हैं, इसलिए बहुत थोड़ीसी मछली हमें मिल सकी। तारवालेने हमारेलिए दो घोड़े और दो खच्चरका इन्तजाम किया था। लेकिन हमारे साथवाले घोड़े नम्पा-शिवा गाँवतककेलिए थे। उस गाँवमें छुशिङ्शा और मेरा भी परिचित गोवा (नम्बरदार) था, इसलिए पूरी आशा थी कि वहाँसे दूसरे खच्चर मिल जायँगे।

अगले दिन (१३ सितम्बर) को ६ बजे सबेरे ही हम रवाना हुए। आसमानमें बादल घिरे हुए थे, लेकिन वर्षा नही हुई, १० बजेके करीब, जब नम्पाशिवा एक मील रह गया, तो सर चार्लस बेल् अपने दलबलके साथ रास्तेमें मिले। सर चार्लस पिछले साल मरे दलाई लामाके बड़े दोस्त थे। जब वह पोलटिकिल एजेन्ट थे, उस वक्त उनके प्रभावमें तिब्बतके साथ ब्रिटिश सरकारकी बड़ी गहरी मित्रता स्थापित हुई थी। अब वह बहुत वृद्ध थे, और पेनशन लेकर विलायतमें रहते थे। मरनेसे पहले एक बार फिर तिब्बतको देखनेकी उनकी इच्छा थी। दलाई लामाने आनेकी इजाजत दे दी, लेकिन अपने मित्रके देखनेसे पहले ही वह चल बसे। सर चार्लस मुझे रास्ते हीमें मिले। शायद उनको पता था, कि मैं आजकल तिब्बतमें हूँ। मेरे चेहरे और पीले चीवरको देखने हीसे समझ सकते थे, कि मैं कौन हूँ। घोड़ेपर चढ़े चढ़े हम लोग देर तक बातें करते रहे, उधर चलते फिल्म-वाला फोटोग्राफर तस्वीरें खींच रहा था। उन्होंने यात्राके प्रयोजनके बारेमें पूछा। मैंने कहा कि मैं भारतसे लुप्त संस्कृतग्रंथोंकी खोजमें आया हूँ। स्थान पूछनेपर मैंने छपराका नाम लिया। उन्होंने बतलाया—तरुण आई० सी० एस० होकर आनेके वक्त मैं एक वर्ष छपरामें रहा हूँ। उन्हें एकमा स्टेशन भूला नहीं था, वह हिन्दी बोल लेते थे। उन्होंने कुछ रुपए निकालकर देना चाहा, मैंने धन्यवादपूर्वक उसे अस्वीकार किया। यद्यपि उन्हें उस तरहकी यात्रा नहीं करनी थी, जैसी कि मैं कर रहा था—उनके साथ सहयात्रियोंकी एक पूरी पलटन चल रही थी—लेकिन ७० वर्षके बूढ़ेकेलिए वह साधारण यात्रा नहीं थी। मैं उनके साहसकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकता था।

११ बजे मैं नम्पाशिवा गाँवमें पहुँचा। चोला (गाँवका परिचित भाई) को खबर दी, लेकिन वह हमारे सामने भी नहीं आया। ग्यान्चीकेलिए खच्चर माँगनेपर बहाना कर दिया। तिब्बतमें साधारण परिचय और परिचितका परिचय कोई काम नहीं देता। लोग अपने प्रभुओंसे बहुत डरते हैं, और उनके सामने हाथ बाँधे खड़े

रहते हैं। वस्तुतः सैकड़ों वर्षोंसे बहुत क्रूर सामंती-पुरोहितोंके कारण लोगोंमें मानव-सहृदयता कम पाई जाती है—वहाँ मालिक और दास दो ही श्रेणियाँ और दो ही संबंध हैं। खैर, न-ग-च्चे वहाँसे तीन ही मील था, बहुत कहने-सुननेपर वहाँ तक इन्तजाम हो गया। कुशो तनदरकी कृपासे न-ग-चेके तारवाले चोला (भाई) ने हमारे ठहरनेका प्रबन्ध कर रखा था। वैसे होता तो न जाने वहाँ कितने दिन तक बैठा रहना पड़ता, लेकिन उसी दिन गोरखा राजदूत न-ग-च्चे पहुँचा। उसकी बेगारमें बहुतसे घोड़े आए थे। बारह-बारह टंकापर रालुङ्केलिए चार घोड़े हमें मिल गए।

अगले दिन (१४ सितम्बर) ५ बजे भिनसारे ही हम चले। आसमान बादलसे घिरा था, अँधेरा दूर होते ही बूँदें पड़ने लगीं, और वह जरातक जारी रही। सर्दी भी काफ़ी बढ़ गई थी। पहाड़ोंके ऊपर ताजी बरफ़ पड़ी हुई थी। १७ मील चलनेके बाद खरला-जोतके पास डाक ढोनेवालेके घरमें चाय-सत्तू खाया, फिर ४ बजे रा-लुङ्के तर-खङ (तारघर) में पहुँच गए। यहाँ तारघर नहीं था, सिर्फ तारवाला आदमी लाइनको देखता और टेलीफोनसे खबर देता था। तारवाला ल्हासा चला गया था, लेकिन तिब्बतमें पुरुषका काम स्त्री आसानीसे सँभाल लेती है, तर-खङ् पहिले चीनी फ़ौजी चौकी थी, जिसमें आते-जाते वक़्त चीनी अफ़सर ठहरा करते थे। आजकल कुछ कोठरियोंको तारवाला इस्तेमाल करता है, बाकी गिरनेवाली हैं। मरम्मत करनेका कोई ख्याल नहीं, भोट सरकारके पास सरकारी इमारतोंका कोई महकमा नहीं, तारमो (तारवाली स्त्री) ने ग्यानचीकेलिए चार घोड़ेका इन्तजाम किया, लेकिन अभी हमें रा-लुङ् गुम्बा भी देखना था।

दूसरे दिन हम दोनों घोड़ोंपर चढ़कर तीन मील दूर रालुङ् गुम्बा देखने गये। यह ११ वीं १२ वीं सदीकी पुरानी गुम्बा है। मकान किसी वक़्त बड़े अच्छे रहे होंगे। कुछ मूर्तियाँ बहुत सुन्दर हैं। चार प्रधान देवालयोंमें बड़ी-बड़ी काष्ठ या पीतलकी मूर्तियाँ हैं। ऊपर एक कोठरीमें बहुत सी छोटी पीतलकी मूर्तियाँ हैं। इन्हें लोहपत्तीके जँगलेमें रखा गया है, और दरवाजेपर मोहर लगी है, शायद इसीलिए कि कोई चुराकर बेच न ले। इस गुम्बामें सत्तरके करीब ढाबा (भिक्षु) और १०० से ऊपर अनी (भिक्षुणी) रहती हैं। यह विहार कर्ग्युदपा सम्प्रदायकी डुक्पा शाखाका है। ढाबा अनी दोनोंका यह सम्मिलित मठ है। आगेकी पीढ़ी चलानेकेलिए उन्हें बाहरसे चेला-चेली करनेकी जरूरत नहीं। हर भिक्षु-भिक्षुणी पति-पत्नी भी हैं, और उनके जितने लड़के-लड़की होते हैं वह सब ढाबा-अनी बन जाते हैं। इस प्रकार दूसरे मठोंमें जैसे यौन दुराचार जो देखे जाते हैं, वह यहाँ नहीं है। लेकिन जनसंख्या इतनी

रहते हैं। वस्तुतः सैकड़ों वर्षोंसे बहुत क्रूर सामंती-पुरोहितोंके कारण लोगोंमें सहृदयता कम पाई जाती है—यहाँ मालिक और दास दो ही श्रेणियाँ और दो हैं। खैर, न-गन्चे वहाँसे तीन ही मील था, बहुत कहने-सुननेपर वहाँ तक हो गया। कुशो तनदरकी कृपासे न-ग-चेके तारवाले चोला (भाई) ने हमारे प्रबन्ध कर रखा था। वैसे होता तो न जाने वहाँ कितने दिन तक बैठा रहना लेकिन उसी दिन गोरखा राजदूत न-गन्चे पहुँचा। उसकी बेगारमें बहुतसे घ थे। बारह-बारह टंकापर रालुङ्केलिए चार घोड़े हमें मिल गए।

अगले दिन (१४ सितम्बर) ५ बजे भिनसारे ही हम चले। आसमान घिरा था, अँधेरा दूर होते ही बूँदें पड़ने लगीं, और वह जरातक जारी रही। काफ़ी बढ़ गई थी। पहाड़ोंके ऊपर ताजी बरफ़ पड़ी हुई थी। १७ मील बाद खरला-जोंतके पास डाक ढोनेवालेके घरमें चाय-सत्तू खाया; फिर ४ बजे त तर-खङ्ग (तारघर) में पहुँच गए। यहाँ तारघर नहीं था, सिर्फ तारवाला लाइनको देखता और टेलीफ़ोनसे खबर देता था। तारवाला ल्हासा चला ग लेकिन तिब्बतमें पुरुषका काम स्त्री आसानीसे सँभाल लेती है, तर-खङ् चीनी फ़ौजी चौकी थी, जिसमें आते-जाते वक्त चीनी अफ़सर ठहरा क आजकल कुछ कोठरियोंको तारवाला इस्तेमाल करता है, बाकी गिरनेवा मरम्मत करनेका कोई ख्याल नहीं, भोट सरकारके पास सरकारी इमारतोंक महकमा नहीं, तारमो (तारवाली स्त्री) ने ग्यानचीकेलिए चार घोड़का इ किया, लेकिन अभी हमें रा-लुङ् गुम्बा भी देखना था।

दूसरे दिन हम दोनों घोड़ोंपर चढ़कर तीन मील दूर रालुङ् गुम्बा देखने यह ११ वीं १२ वीं सदीकी पुरानी गुम्बा है। मकान किसी वक्त बड़े अ होंगे। कुछ मूर्तियाँ बहुत सुन्दर हैं। चार प्रधान देवालयोंमें बड़ी-बड़ी काष्ठ या पी मूर्तियाँ हैं। ऊपर एक कोठरीमें बहुत सी छोटी पीतलकी मूर्तियाँ हैं। इन्हें लोह जंगलेमें रखा गया है, और दरवाजेपर मोहर लगी है, शायद इसीलिए कि कोई च बेच न ले। इस गुम्बामें सत्तरके करीब ढाबा (भिक्षु) और १०० से ऊप (भिक्षुणी) रहती हैं। यह विहार कर्-ग्युदपा संप्रदायकी डुक्पा शाखाका है। अनी दोनोंका यह सम्मिलित मठ है। आगेकी पीढ़ी चलानेकेलिए उन्हें चेला-चेली करनेकी ज़रूरत नहीं। हर भिक्षु-भिक्षुणी पति-पत्नी भी हैं, और जितने लड़के-लड़की होते हैं वह सब ढाबा-अनी बन जाते हैं। इस प्रकार मठोंमें जैसे यौन दुराचार जो देखे जाते हैं, वह यहाँ नहीं है। लेकिन जनसंख्

जल्दी घोड़ोंके मिलनेकी आशा नहीं थी। रघुवीर (छोजेला) अब भी टशी-ल्हुन-पोमें पढ़ रहे थे, और काफ़ी तरक्की की थी। गेशे धर्मवर्धनसे मालूम हुआ, कि यहाँके समलोगेशे (योनतन) तिब्बतके गिने-चुने महापंडितोंमें हैं—शायद मैं यह लिखना भूल गया, कि पहिली तिब्बत यात्रामें काशीके पंडितोंने मुझे (महापंडित) की उपाधि दी थी। तिब्बतीभाषामें महापण्डितका पर्यायवाची है (पण-छेन), लेकिन यह टशी लामाकी खास उपाधि है, इसलिए कोई दूसरा इस्तेमाल नहीं करता। रघुवीर समलो गेशेके विद्यार्थी थे। एक दिन हम दोनों रघुवीरके साथ समलो गेशेसे मिलने गए। उनमें विद्वत्ताके साथ-साथ बड़ी सरलता पाई। दस साल से ऊपर हुए, जब कि टशीलामाने मध्यतिब्बतके विद्यातलको और ऊँचा करनेकेलिए कुछ विद्वानोंको अम्दोसे बुलवाया था। उसी समय समलोगेशे टशी-ल्हुनपो आए। पीछे दलाईलामासे मत-भेद होनेके कारण टशीलामाको तिब्बत छोड़कर चीनमें जाना पड़ा, तबसे टशी ल्हुन-पो गुम्बा श्रीहीन हो गया। दलाई लामाके मरनेके बाद आशा थी, कि टशीलामा अब तिब्बतमें चले आएँगे। मेरे शिगर्चे रहते ही वक्त टशी लामाका सैकड़ों खच्चर सामान वहाँ आया था। टशीलामा तिब्बतकी सीमापर आगये हैं, किन्तु वर्तमान प्रभुवर्ग उनके आनेको अपनेलिए खतरेकी बात समझता है और हर तरहकी रुकावटें डालता है। समलो गेशेका भी मन अब नहीं लगता, लेकिन इन्होंने बहुतसा समय यहाँ बिता दिया है, अमदो नजदीक भी नहीं है, इसलिए यहीं पड़े हुए हैं।

अगले दिन (२६ सितंबर) हमें शलूकेलिए खच्चर मिल गए। ४ घंटा चलनेके बाद हम विहारमें साढ़े ग्यारह बजे पहुँच गये। रिसुर रिम्पोछे बड़े प्रेमसे मिले। उन्होंने बतलाया कि तालपोथियाँ रिफुग (पहाड़परके विहार) में हैं, और जिस कोठरीमें वह बन्द हैं, उसका दरवाजा दो अवतारी लामो (रिसुर रिम्पोछे और बुतोन् रिमपोछे) और चार खनपोके जमा होनेपर खुलता है। हम उस दिन मंदिर देखने गये। दूसरे पुराने विहारोंकी तरह यह विहार भी मैदानमें चौकोर है। मंदिरोंकी परिक्रमामें १४वीं-शताब्दीके किसी चित्रकारने बड़े सुन्दर चित्र बनाए हैं, जिनमेंसे बहुतसे जातक-चित्र हैं। अगले दिन दोपहरको ग्यारह तालपोथियाँ आईं। मैं चार बजे तक उन्हें देखता रहा। अधिकतर पुस्तकें अपूर्ण हैं। यह काबुल-तुर्किस्तानकी ७वीं शताब्दीकी लिखी, शारदा, रंजन, तथा तीन प्रकारकी वर्तुल लिपियोंमें लिखे थे। एक ग्रन्थको देखनेसे मालूम हुआ, कि वह महासांघिक लोकोत्तरवाद संप्रदायका भिक्षु-प्रकीर्णक (विनयग्रन्थ) संपूर्ण और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। विक्रमशिलाके नैयायिक

ज्ञानश्रीके नव न्यायग्रंथ भी पूर्ण हैं। यह दो वेष्टन मुझे बहुत ही महत्वपूर्ण मालू हुए। मैंने फोटो भी लिया। लेकिन जब तक वहाँ धोकर देख न लिया जाय, त तक क्या आशा रखी जा सकती है? बैठके लिखनेकेलिए तो समय नहीं था तिब्बतके श्रेष्ठ विद्वानोंमें एक बुतोन् (रिन्छेन् डुब्, १२६०—१३६४ ई०) इसी वि विहारके थे। वह बहुत सालों तक साक्यामें रहे। जान पड़ता है, वही यह पुस्त साक्यासे उठा लाए। बातचीतसे मालूम हुआ, कि तालपत्रकी कुछ और पुस्त वहाँ हैं, लेकिन अभी वहाँ वाले दिखलाना नहीं चाहते। रिसुर् रिम्पोछेको अके कुछ करनेका अधिकार नहीं था। उन्होंने कहा कि (भोटिया) दूसरे महीने (मार्च में मैं उन पुस्तकोंको अलग कर रखूँगा, फिर आपके पास संख्या आदिके बारे लिखूँगा। दूसरे दिन (२८ सितंबर) रिसुर्-रिम्पोछेने अपने घोड़े दिए, और दोपह तक हम शिगर्चे पहुँच गए। लदाखमें मैंने जिस लामाके हाथमें कुछ तालपत्र दे थे, वह डोर गुम्बाका था। मैं उसे एवके नामसे जानता था, लेकिन लोगों यह नाम प्रसिद्ध नहीं, इसलिए उस गुम्बाका पता मुझे देरसे लगा। उसी दि डोरका एक भिक्षु आया। उसने बतलाया, कि जो लामा लदाख गये थे, वह आजक सम् प्रदेशमें हैं, साथ ही उसने यह भी बताया कि ङोरमें ७०० से अधिक तालपोथिय हैं। अब तक मैं सिर्फ अटकल लगाया करता था, लेकिन अब निश्चित तौरसे मालूम हो रहा था, कि वहाँ कुछ ताल पोथियाँ जरूर हैं।

३० नवंबरको हम नरथङ् गए। खच्चर दो ही मिले थे, जिसमेंसे एकपर हमारा सामान था। गेशेको पैदल चलना पड़ता था। यदि हम इन खच्चरोंको छोड़ देते, तो फिर न जाने कितने समय तक बैठा रहना पड़ता। समलो गेशे और दूसरे मित्रोंसे मिल आए। समलो गेशेने कहा कि आप जिस किसी मस्कृतज्ञ नौजवानको भेजना चाहते हैं, भेजिए; मैं उसे पढ़ाऊँगा, और इस बुढ़ापेमें भी कुछ सस्कृत पढ़ूँगा।

भूकंपके बाद सीतामढ़ीमें मैं जब गया था, उसी वक्त खाँसी हो गई थी, और वह दो-ढाई महीने रही। अब फिर थोड़ी-थोड़ी खाँसी शुरू हो गई थी, और कुछ ज्वर भी आ रहा था। लेकिन अभी मुझे नहीं मालूम हुआ था, कि यह टोन्सिलका फ़साद है। मैंने समझा था, शायद जुकाम आना चाहता है। शिगर्चेसे देरकरके रवाना हुए थे, इसलिए जब नर-थङ् पहुँचे तो खूब अँधेरा हो गया था।

दूसरे दिन (१ अक्तूबर) पहिले यहाँकी गुम्बाको देखना था। यहाँ तालपत्रकी कोई पुस्तक नहीं मिली, यदि कोई पुस्तक कभी रही हो, तो वह आज या तो किसी स्तूपमें होगी, या टशीलामाके खास भंडारमें—नरथङ् गुम्बा टशी-ल्हुनपोके आधीन

है, लेकिन वहाँ तालपत्रकी पुस्तकोंका पता नहीं लगता। पिछली बार जब मैं नरथङ् आया था, उस वक्त सामनेकी चीजोंको पूछ-पूछकर देखनेकी कोशिश नहीं करता था। अबकी बार तो इसकी ओर सबसे ज्यादा ध्यान रहता था। मुहरमें बन्द कुछ चीजें थीं, किन्तु इनमें ज्यादातर गेशे शरवा तथा दूसरे भोट गुरुओंके जूते, डोमतोन-पा आदिकी छड़ियाँ थीं। दो पत्थरकी मूर्तियाँ एक मंदिरमें दिखाई पड़ीं। वह भारतीय थीं। कोठेपरके मंदिरमें कुछ भारतीय चित्रपट हैं, उनमेंसे कुछके फोटो लिए। कंजूर-छापाखानेवाले मंदिरकी दीवारोंको देखने लगा, तो वहाँ कुछ बड़े-बड़े चित्रपट टँगे थे। नजदीकसे देखनेपर पता लग गया, कि वह भारतीय चित्रपट हैं। इनकी संख्या बारह है और बहुत ही अरक्षित जगहमें रखे हुए हैं। संयोग ही समझिए, जो अब तक बच रहे हैं। तारामंदिरमें बोधगयाके मंदिरका पत्थरका एक नमूना रखा हुआ था। यद्यपि इसपर फाटकोंका नाम तिब्बती अक्षरमें लिखा था, लेकिन तेलिया पत्थर बतला रहा था कि शायद इसे ११ वीं १२ वीं सदीमें कोई बोधगयासे ले आया है।

पहिली अक्तूबरको ११ बजे हम डोरकेलिए रवाना हुए, गेशेको पैदल चलना पड़ा। साढ़े तीन घंटेमें हम डोर पहुँच गए। गुम्बा बहुत विशाल है। बहुतसे मंदिर हैं। कोई परिचित तो यहाँ था नहीं, कोशिश करनेपर एक सुनसान घरमें जगह मिली, जिसमें न कोई दरवाजा था न खिड़की। इसका मतलब था कि हम उधर मंदिरमें जाते और इधर कोई लटा-पटा उठा ले जाता। रातको दो तालपत्र आए, जो किसी न्याय ग्रन्थके थे। पूछनेपर मालूम हुआ, कि २० पोथियाँ हैं—खैर १०० से २० रह गईं, तो भी कुछ हैं, यह जानकर संतोष हुआ।

सवेरे चाय पीना था। गेशे ईंधन लेने गए, बहुत मुश्किलसे थोड़ीसी लकड़ी मिली। उतनेसे चायके पानीके गरम होनेमें भारी संदेह था। सवेरे तो मालूम होने लगा, कि जल्दी ही इस जगहको छोड़ना पड़ेगा। मकानकेलिए वहाँ बैठकर एक आदमीको अगोरना, ईंधनकेलिए त्राहि-त्राहि, ऊपरसे मठका छग्‌जोद् (प्रबन्धक) बहुत ही रूखा था। वह मठका प्रबन्धकर्त्ता होनेकी जगह डाकुओंका सरदार अच्छा बन सकता था। गेशेको जोर लगाना था, किसी तरह दो-एक दिन भी हम यहाँ टिक सकें। गेशे खुद ही बहुत अच्छे पंडित हैं, लेकिन इन मूर्खोंकी जमातमें "धोबी बसिके का करे, दीगम्बरके गाँव।" लामा गेन्दुन्‌ला यहाँके बृहस्पति और शुक्राचार्य थे। वह आदमी बुरे नहीं थे, लेकिन थे बिल्कुल मुहदुब्बर। तानाके लामा ङ-वङ्‌के पास गए। तानालामा बेचारा गरीब भिक्षु था, उसके पास एक ही कोठरी थी, जिसमें चाय पकाना पड़ता था, और रहना भी। उसने बड़ी खुशीसे अपनी कोठरीमें हमें भी जगह

ज्ञानश्रीके नव न्यायग्रंथ भी पूर्ण हैं। यह दो वेष्टन मुझे बहुत ही महत्वपूर्ण मालू
हुए। मैंने फोटो भी लिया। लेकिन जब तक वहाँ धोकर देख न लिया जाय, उ
तक क्या आशा रखी जा सकती है ? बैठके लिखनेकेलिए तो समय नहीं था
तिब्बतके श्रेष्ठ विद्वानोंमें एक बुतोन् (रिन्छेन् डुब्, १२६०—१३६४ ई०) इसी म
विहारके थे। वह बहुत सालों तक साक्यामें रहे। जान पड़ता है, वही यह पुस्त
साक्यासे उठा लाए। बातचीतसे मालूम हुआ, कि तालपत्रकी कुछ और पुस्त
वहाँ हैं, लेकिन अभी वहाँ वाले दिखलाना नहीं चाहते। रिसुर् रिम्पोछेको अके
कुछ करनेका अधिकार नहीं था। उन्होंने कहा कि (भोटिया) दूसरे महीने (मार्च
में मैं उन पुस्तकोंको अलग कर रखूँगा, फिर आपके पास संख्या आदिके बारे
लिखूँगा। दूसरे दिन (२८ सितंबर) रिसुर्-रिम्पोछेने अपने घोड़े दिए, और दोपह
तक हम शिगर्चे पहुँच गए। लदाखमें मैंने जिस लामाके हाथमें कुछ तालपत्र दे
थे, वह ङोर गुम्बाका था। मैं उसे एवंके नामसे जानता था, लेकिन लोगों
यह नाम प्रसिद्ध नहीं, इसलिए उस गुम्बाका पता मुझे देरसे लगा। उसी दि
ङोरका एक भिक्षु आया। उसने बतलाया, कि जो लामा लदाख गये थे, वह आजक
खम् प्रदेशमें हैं, साथ ही उसने यह भी बताया कि ङोरमें ७०० से अधिक तालपोथिय
हैं। अब तक मैं सिर्फ अटकल लगाया करता था, लेकिन अब निश्चित तौरसे मालू
हो रहा था, कि वहाँ कुछ ताल पोथियाँ जरूर हैं।

३० नवंबरको हम नरथङ् गए। खच्चर दो ही मिले थे, जिसमेंसे एकपर हमार
सामान था। गेशेको पैदल चलना पड़ता था। यदि हम इन खच्चरोंको छोड़ देते
तो फिर न जाने कितने समय तक बैठा रहना पड़ता। समलो गेशे और दूसरे मित्रों
मिल आए। समलो गेशेने कहा कि आप जिस किसी संस्कृतज्ञ नौजवानको भेजना चाहते
हैं, भेजिए; मैं उसे पढ़ाऊँगा, और इस बुढ़ापेमें भी कुछ संस्कृत पढूँगा।

भूकंपके बाद सीतामढ़ीमें मैं जब गया था, उसी वक्त खाँसी हो गई थी, और व
दो-ढाई महीने रही। अब फिर थोड़ी-थोड़ी खाँसी शुरू हो गई थी, और कुछ ज्वर भ
आ रहा था। लेकिन अभी मुझे नहीं मालूम हुआ था, कि यह टोन्सिलका फ़साद है।
मैंने समझा था, शायद जुकाम आना चाहता है। शिगर्चेसे देरकरके रवाना हुए
थे, इसलिए जब नर-थङ् पहुँचे तो खूब अँधेरा हो गया था।

दूसरे दिन (१ अक्तूबर) पहिले यहाँकी गुम्बाको देखना था। यहाँ तालपत्रकी
कोई पुस्तक नहीं मिली, यदि कोई पुस्तक कभी रही हो, तो वह आज या तो किसी
स्तूपमें होगी, या टशीलामाके खास भंडारमें—नरथङ् गुम्बा टशी-ल्हुनपोके अधीन

दी। संकामें एक विशेषण भगत मिल गया। अब हम इधर-उधर जा भी सकते थे। पासमें ही दो अवतारी लामोंका महल था। नीचे एक प्रसिद्ध तान्त्रिक सिद्ध थे। उन्होंने अच्छी तरह बात की, और कहा कि तालपोथियाँ जरूर देखनेको मिलेंगी। ऊपर एक वृद्ध अवतारी लामा उछेन (रिन्पोछे) रहते थे। वह बहुत ही अच्छे आदमी थे। एक और लामाका पता लगा। उनके पास भी गए। मालूम हुआ कि पोथियाँ तो सभी लामाओंकी रायसे मिल सकती हैं, लेकिन इस वक्त प्रबन्ध ग्वुरद्-शुङ्-छगजोदके हाथमें है। उससे पूछनेपर वह गोलमोल जवाब दे रहा था। खैर, जानेके दूसरे दिन शामको हम तानालामाकी कोठरीमें चले आए। इसलिए जोड़-तोड़ लगा सकते थे। प्रधान मन्दिरमें नीचे बुद्ध और बोधिसत्वोंकी मूर्तियाँ हैं, सामने सघभवन है। ऊपरके मन्दिरोंमें कुछ भारतीय मूर्तियाँ भी हैं। एक मन्दिरमें भोटके महावैयाकरण सितू पण्छेनके बनाए हुए कितने ही चित्रपट हैं, जिनमें उन्होंने बुद्धकी जीवनीको चित्रित की है। मानव-अंगोपाग तो उतने अच्छे नहीं हैं, लेकिन प्राकृतिक दृश्य सुन्दर हैं, और अंकनमें चीनी प्रभाव है। छगजोद् टालमटोल कर रहा था। २ बजेके करीब आदमी बुलाने आया। दुतल्लेके ऊपर एक कोठरीका दरवाजा खुला। भीतरका दरवाजा खुला, अँधेरा था। दीवारके साथ-साथ कितनी ही मूर्तियाँ रखी थी। एक दीवारके किनारे लकड़ीके ढाँचे हैं, जिनपर कितनी ही सौ हस्त-लिखित पुस्तकें रखी थी, इनमें ज्यादातर तिब्बती भाषामें थी। यह भी अपना ऐतिहासिक महत्व रखती है, लेकिन मुझे तो तालपोथियोंकी जरूरत थी। सम्भव है कागजकी पोथियोंमें भी कोई संस्कृतकी हो, लेकिन उसके ढूँढ़नेकेलिए तो हजारके करीब पोथियोंको खोलना-बाँधना पड़ता। छगजोद् इसकेलिए भला कैसे इजाजत दे सकता था। तालपत्रकी पोथियाँ अपने पतले लम्बे आकारके कारण आसानीसे पहचानी जा सकती थी। हमने एक-एक करके उतारना शुरू किया, कुल ३८ बंडल (मुट्ठे) निकल आये। खुशीके बारेमें क्या पूछना। और फिर जब बाहर ले आ छगजोद्के घरमें खोलकर देखते हैं, तो वहाँ 'वादन्याय' मूलकी दो पोथियाँ हैं। मैं धर्मकीर्ति और दिग्नागके पीछे दीवाना था और 'वादन्याय' धर्मकीर्तिकी पुस्तक थी। इसी बार ल्हासामें 'वादन्याय'की टीका मिली थी, लेकिन मूल वहाँ नहीं था। मैंने मूलको भोट-अनुवादकी सहायतासे थोड़ा-थोड़ा संस्कृतमें करना भी शुरू किया था, लेकिन अब तो मूल पुस्तक ही मिल गई। मैंने आज बारह पोथियों-को देखा, इनमें एक पोथीमें धर्मकीर्तिके दो ग्रंथ 'हेतुबिन्दु' और 'न्यायबिन्दु'पर दुर्वेक-मिश्रकी दो अन्य टीकाएँ थीं। यह सभी ग्रंथ बौद्धन्यायके थे। दिग्नाग और धर्म-

कीर्ति जैसे नैयायिकोंने बौद्धसाहित्यको समृद्ध किया था और वे हिन्दुस्तानके सर्वश्रेष्ठ बुद्धिवादी थे। 'धर्मकीर्त्तिके इन ग्रंथोंको देखकर मैं खुशीसे उछलने लगा। मुझे सारे कष्ट भूल गये। औरोंका मैं फोटो ही ले सकता था यद्यपि इसमें सन्देह था कि मैं इसमें सफल होऊँगा; किन्तु 'वादन्याय'को मैं संयोगके ऊपर नही छोड़ सकता था। उसी दिन मैंने उसके तीन पत्रे उतार डाले और चौथे दिन उसे लिखकर खतम कर दिया।

अगले दिन (४ अक्तूबर)को बाकी २७ पोथियोंको देखा। उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी—(१) वादन्याय टीका, (२) अभिधर्मकोषमूल, (३) सुभाषित-रत्नकोष (भीमज्ञान सोम), (४) अमरकोषटीका (कामधेनु), (५) न्यायबिन्दु-पंजिकाटीका (धर्मोत्तर+दुर्वेकमिश्र), (६) हेतुबिन्दु-अनुटीका (धर्माकरदत्त-अर्चट+दुर्वेकमिश्र), (७) प्राप्तिमोक्षसूत्र (लोकोत्तरवाद), (८) मध्यान्तविभंग-भाष्य।

ईंधनकी तकलीफ बहुत थी, मोल लेनेपर भी नहीं मिलता था। सर्दी बढ़ती जा रही थी, अभी हमें साक्या भी जाना था, फिर हिमालयकी बड़ी-बड़ी जोतोंको पार करना था। ८ अक्तूबरको हमें प्रस्थान करना था। एक दिन पहिले ही उछेन-रिम्पोछेसे बिदाई ली। उन्होंने मक्खनकी बट्टी और चायकी एक ईंट बिदाई दी। जुङ् रिम्पोछेने पाँच चायकी ईंटें दीं, इनकार करनेपर भी नहीं माने, साथ ही तीन पुस्तकें दीं, जिनमें एक विहार-सस्थापक कुन्गा जङ्पोकी जीवनी थी। डोर आनेपर पहिले दिन जैसा स्वागत हुआ था, उससे हम जितना खिन्न हुए थे, आज उतना ही प्रसन्न थे। साक्याकेलिए हमें परिचयपत्र भी मिले। डोरगुम्बा भी साक्या-सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखता है, इस सम्प्रदायका सबसे बड़ा लामा (गुरु) साक्यामें रहता है।

हम उस दिन साढ़े सात बजे रवाना हुए। हमें शब गाँवकेलिए एक घोड़ा और दो खच्चर मिले थे। हमारे ही साथ साक्याका एक आदमी भी चल रहा था। तीन मीलपर पहिले एक छोटीसी जोत आई, फिर सबसे बड़ी जोत छग्पान्लापर हम दो बजे पहुँचे। उतराई उतरते हुए ४ बजेके करीब शबमें पहुँचे। चिट्ठी जिसको देनी थी, उसको दे दी। पहिला स्वागत तो यह हुआ, कि घरसे बाहर हमें ठहरनेकेलिए जगह मिली। घोड़े-खच्चरकी बात करनेपर, पता लगा, इनके मिलने-की कोई सम्भावना नही। सोचा, अगर सामान ढोनेकेलिए गधा मिले, तो वही करें। उसका भी ठिकाना नहीं था। डोरसे आये घोड़े-खच्चर तो पहिले ही ले

गये थे। रातको हम दोनों मन मारे सो रहे। शायद यह वही मठ था, जहाँ भारतीय पंडित स्मृतिज्ञानकीर्ति कुछ दिनों भेड़ चराते रहे।

अगले दिन (९ अक्तूबर)को बहुत दौड़धूप करनेपर सेड्गेचे गाँवतककेलिए ६ टंकेपर दो गधे मिले। सूर्योदयसे पहिले ही हम रवाना हुए और ७ बजे सेड्गेचे पहुँच गये। पासकी पहाड़ी (सेड्गे)पर कभी एक बड़ा विहार था, जो अब बहुत कुछ नष्ट हो गया है। नीचे २, ३ मानियोंकी छरलियाँ थीं। एक मानीके पास कुछ आदमी खड़े थे। उनमेंसे एकके कानमें पेन्सिल जैसा कर्णभूषण लटक रहा था, अर्थात् वह कोई छोटा-मोटा राज्याधिकारी था। हमने उससे बातचीत की। उसने तुरन्त चाड्शुम् तककेलिए दो गधे और एक घोड़ेका इन्तजाम कर दिया। ९ बजे हम बड़ी नदीके किनारे पहुँचे। पानी अधिक था। जहाँ-तहाँ पता लगा करके हम ऐसी जगहसे पार हो गये, जहाँ नदीकी दो धार हो गई थी। धूप ज्यादा लग रही थी, गेशेने अपने टोपको घोड़ेमें बाँध दिया था, वह गिर गया। हमने घोड़ेवालेको खोज लानेकेलिए दौड़ाया, आनेपर उसने कहा, नहीं मिला। लेकिन हम साफ देख रहे थे, उसका छुपा पेटपर कुछ फूला-फूला है। हमने कहा—खैर टोपी नहीं मिली, तो कोई परवाह नहीं, लेकिन, तुम्हें क्या हो गया है, पेटमें कोई बीमारी तो नहीं है। गेशे पैदल ही चल रहे थे, उन्होंने बीमारी देखनी चाही और टोपी निकाल ली। आदमी हँसकर रह गया। बेचारे सभ्यतामें अभी आगे नहीं बढ़े हैं, कि कामको दूरतक सोचकर करें। चाड्शुड्से डेढ़ मील पहिले समुदोड्में हम १२ बजे पहुँचे। घोड़े-गधोंका पहिले ही इन्तजाम करना ठीक समझ हमने यहीं पूछ-ताछ शुरू की। तिब्बतके देवताओंकी मदद हुई। सावया तककेलिए दो घोड़े और सामानके लिए गधे मिल गये। आज यहीं ठहर गये।

अगले दिन (१० अक्तूबरको) ७ बजकर २० मिनटपर रवाना हुए। हमारा रास्ता नदीके बाएँ-बाएँ था। कुछ दूर जानेपर दाहिनी ओरसे एक नदी आई, अब हम उसके किनारे-किनारे चलने लगे। इस उपत्यकामें दूरतक खेत और बगीचे मिलते गये। १२ बजे सुमुदो गाँवमें पहुँचे। पहिले यह किसी सामन्तकी राजधानी रही, या सैनिक छावनी। दीवारोंकी चिनाई बहुत अच्छी है। पुराने मकानोंके बहुतसे खँडहर हैं। चाय-सत्तू खाया। एक बजे फिर रवाना हुए। डेढ़ घंटे बाद एक त्रिवेणी आई। यहाँ छोटासा किला था। नेपालसे ल्हासा जानेका यह प्रधान मार्ग था, इसलिए सैनिकरक्षाका इन्तजाम जरूरी था। पासमें पुराने ढंगका मकान है, जिसे भिक्षुणियोंने अपने मठके रूपमें परिवर्तित कर दिया था। आगे

घास पीली पड़ गई। थोङ्ला जोत अभी डेढ़ मील थी, तभी जिग्युग्वा नामक पशु-पालकोंका गाँव मिला। तीन ही चार घर थे। यहाँके लोगोंकी जीविका है, भेड़ और चँवरी। इसके अतिरिक्त मुसाफ़िरोंके टिकाने, और पशुओंके चारेसे भी कुछ मिल जाता है। यह जगह पन्द्रह, सोलह हज़ार फ़ीटसे कम ऊँची न होगी।

अगले दिन (११ अक्तूबर) ५ बजकर २० मिनटपर हम आगेकेलिए रवाना हुए। सर्दी बहुत तेज़ थी। हवा सामनेसे आ रही थी और मुँहपर शीतके जोरदार चाँटे लग रहे थे। हमें सारा मुँह ढाँकना पड़ा। चढ़ाई उतनी कठिन नहीं थी। उतराई जरूर थोड़ी दूर कठिन थी। अब हम नदीके बाएँ किनारेसे चल रहे थे। नदीपार दो-एक डोक्पा (पशुपालक) गाँव थे। १० बजे नदी पारकर तीन, चार घरके डोक्पा गाँवमें खाने-पीनेकेलिए ठहर गये। साढे बारह बजे फिर नदी पार हुये। कुछ आगे बढनेपर हमने पहाड़की बाईं ओर चढ़ना शुरू किया और दो मील जानेके बाद अटुला जोत मिली। उतराई जरूर कठिन थी, लेकिन मीलभरसे अधिक न होगी। आगे हमें साक्या नदी मिली। सामने साक्याके भव्य विहार थे--एक पहाड़से लगा हुआ, और दूसरा नदी पार समतल भूमिके ऊपर।

साक्या विहारकी स्थापना १०७३ ई०में हुई थी, लेकिन आजकलकी सबसे पुरानी इमारतें १२वी १३वीं सदीकी हैं। १३वीं १४वी सदीमें साक्या भोटके सबसे अधिक भागकी राजधानी रही। आज भी साक्याके महंतराजके पास बहुत बड़ी जागीर है, और दलाईलामा, टशीलामाके बाद सबसे अधिक सम्मान तिब्बतमें उन्हींका है। नदी पारकर बस्तीमें जानेकेलिए तीन-तीन पुल बने हुए हैं। बस्ती पहाड़के नीचे नदीके किनारे-किनारे चली गई है। हमारे पास महंतराजके प्रेमपात्र डोनिर् छेन्पो (महा पेशकार)केलिए चिट्ठी थी। दरवाजेपर आवाज़ दी, बाहरी फाटक खुला। आँगनमें पहुँचे, वहाँ आँगनमें भैंस जैसा एक काला कुत्ता बँधा था। आदमीने आकर कुत्तेको पकड़ा। हम दरवाज़ेके भीतर गये। डोनिर् छेन्पोने अच्छा स्वागत किया। तिब्बती लोगोंके ऐसे स्वागतका कोई विश्वास नहीं, सब उनकी मौजपर निर्भर करता है। किसी वक़्त मौज हुई, तो उठाकर सिरपर रख लेंगे और दूसरी बेर बाततक नहीं पूछेंगे। लेकिन, डोनिर् छेन्पो इसके भारी अपवाद मिले। मुझे तीन-तीन मरतबे साक्या जाना पड़ा और महीनों उनके घरपर रहा, लेकिन उनका स्नेह वैसा ही रहा। हमें कंजूर मन्दिरमें रहनेकेलिए स्थान दिया गया। डोनिर् छेन्पोकी चामकुशो छेरिङ् पल्मो (दीर्घायुश्री)ने आकर स्वयं आसन लगवाने और चाय-पानीका इन्तजाम किया। डोनिर् छेन्पो विद्या-व्यसनी हैं। धार्मिक ग्रंथोंको

तो उन्होंने उतना ही पढ़ा है, जितना पूजा-पाठकेलिए जरूरी है, किन्तु तिब्बती साहित्य और व्याकरणका वह बहुत अच्छा ज्ञान रखते हैं। साथ ही वह एक सिद्धहस्त वैद्य हैं, लेकिन वह वैद्यक पैसेकेलिए नहीं करते। उनकी सलाह हुई, दग्छेन् रिन्पोछे (महंतराज)के पास एक अर्जी दें। दरबारी चिट्ठी-पत्रीके लिखनेमें वह सिद्धहस्त थे, उन्होंने खुद चिट्ठी लिखी।

१० बजे हम मैदानवाले विहार ल्हखङ् छेन्पो देखने गए। इस विहारको चंगेज़-खाँके पौत्र चीन-सम्राट कुबलेखाँके गुरु संघराज फग्पा (१२३४-८० ई०)ने बनवाया था। बीचमें बड़ा आँगन है, जिसकी तीन तरफ कई दीवारें और फाटककी ओरवाले पार्श्वमें देवताओंकी बड़ी-बड़ी मूर्तियां हैं। सबसे बाहर आकर देखनेपर विहार एक क़िलासा मालूम होता है। देवालयोंमें बुद्ध और बोधिसत्वोंकी बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ हैं। यहाँकी परिक्रमामें तगूलुङ्से भी ज्यादा पुस्तकें ईंटोंकी तरह चुनी हुई हैं। इनकी पुष्पिकाओंमें न जाने तिब्बती इतिहासकी कितनी सामग्री प्राप्त होगी। कई सौ वरसोंसे यह उस दिनकी इन्तजारमें है, जब तिब्बती ऐतिहासिक इनका सदुपयोग करेंगे। प्रधान मन्दिरके बाहरकी खुली सभामंडपमें बहुत विशाल देवदारके खम्भे हैं। इन खम्भोंको हिमालय पारसे लाना आदमीकी शक्तिसे बाहर है, यह समझकर लोग विश्वास करते हैं, कि संघराज फग्पाके हुकुमसे देवताओंने इन खम्भोंको खड़ा किया। मुख्य मन्दिरके बाहर आनेपर बाईं ओर एक बहुत ऊँची सीधी सीढ़ी है। सचमुच ही यदि ऊपरके सिरेसे निचले सिरेको आप उतरना चाहें तो घबड़ा जायेंगे। कोठेपर भी कई मन्दिर हैं और एक कोठरी तो सीढ़ीके पार ही है। उस कोठरीमें कितने अनमोल संस्कृत ग्रंथ रखे हैं, इसका पता उस यात्रामें न मुझे मालूम हुआ न अधिकारियोंको। मैं उस कोठरीके दरवाजेसे होता कायस्थ-पंडित गयाधरके देवालयकी ओर चला गया। अवश्य यह हिरण्य-निधिके ऊपर-ऊपर गँवारका चलना था। गयाधर पंडितकी मूर्ति बिल्कुल भारतीय थी। गेशेने पीछे जाकर उसका चित्र खींचा।

दोपहर बाद हम महंतराजसे मिलने ताराप्रसादमें गये। उनकी ६२ सालकी उमर थी। डोनिर् छेन्पो महंतराजके विश्वासपात्र अधिकारी थे, इसलिए उनसे बढ़कर परिचय देनेवाला कौन हो सकता था। हमने महंतराजकी सेवामें पुस्तकें दीं। बातचीत हुई। उन्होंने पुस्तकोंके दिखानेकी इजाजत दे दी।

उस दिन हम नदी-पारके विहारका दर्शन कर आये थे, अब हमें पहाड़के पनामों मन्दिरोंको देखना था। हमारे ठहरनेके स्थानके पास ही पुराने महंतराजोंके स्तूप

थे। इनके भीतर उनके शव रखे हैं। शवोंके साथ मृत व्यक्तिकी बहुमूल्य वस्तुएँ और पुस्तकोंके रखनेका रिवाज है। इन स्तूपोंमें न जाने कितनी तालपत्रकी पोथियाँ होंगी; लेकिन, उनका दर्शन तभी हो सकता है, जब तिब्बत १५वींसे २१वीं सदीमें आये। गोरिम् ल्हखङ् एक पुस्तकागार है। शाक्यश्रीभद्र इसीमें ठहरे थे। यहीं उन्होंने साक्या पण्छेन्को पढ़ाया था। मन्दिर छोटासा है। इसमें भी कुछ पुराने चित्रपट हैं, लेकिन भारतीय नहीं। बगलमें एक दूसरा अँधेरा कमरा है। जिसमें जानेपर थोड़ी देर आँख ठीक करनेमें लगी। फिर भी दीपक मँगानेकी जरूरत पड़ी। हमने सुना था, कि यहाँ हजारों ग्य-पोत् हैं। ऊपर कागजकी बहुतसी कुंडलियाँ रखी हुई थी। हजारकी संख्या चाहे न हो, लेकिन हैं वह बहुत। वह भला भारतीय पुस्तकें कैसे हो सकती थीं। लेकिन हैं वह भी महत्त्वपूर्ण। वह ब्लाकमें छपी चीनी त्रिपिटककी पुस्तकें हैं, और १३वीं १४वीं सदीकी हो सकती हैं, अर्थात् मंगोल-शासनके आरम्भिक कालकी। ठीक है, वह ग्यपोत् हैं, किन्तु ग्य-गर्पोत् (भारतीय पुस्तक) नहीं, ग्यनक्-पोत् (चीनी पुस्तक) हैं। उनके नीचे लकड़ी-के तख्तोंपर बहुतसी पुस्तकोंकी दो-दो, तीन-तीन हाथ मोटी छल्ली दूरतक फैली हुई थीं—यह सब तिब्बती पुस्तकें थीं। हमने ङोर्में देखा था, कि कैसे तालपोथियाँ कागजकी तिब्बती पोथियोंमें मिली हुई थीं। एकाएक गेशेके हाथमें एक पच्चीस इंच लम्बी, ४ इंच चौड़ी कागजकी पुस्तक आई। देखनेपर मालूम हुआ कि यह प्रमाणवार्तिकके डेढ परिच्छेदोंपर प्रज्ञाकरगुप्तका भाष्य—वार्तिकालंकार है। बड़ी महत्वपूर्ण पुस्तक हाथ लगी, इसमें सन्देह नहीं। हमारा उत्साह और बढ़ा, दूसरे दिन फिर देखनेपर एक तालपत्रकी पुस्तक मिली, लेकिन वह इतनी महत्त्व-की नहीं थी। हम उस पुस्तकको साथ लाये। वहाँसे बूचे-ल्हखङ्में गये। यहाँ साक्या पण्छेन् (११८२-१२५१ ई०)का चित्रपट था। उसका मैंने फोटो लिया। फिर चिदोङ् प्रासादमें गये। इसमें एक कमरा ग्यगर्-ल्हखङ् (भारतीय-मन्दिर) है। यहाँ सात-आठ पाँतियोंमें बहुतसी पीतलकी मूर्त्तियाँ रखी हुई हैं, जिनमें बहुतसी भारतीय हैं, कुछ तो बहुत ही सुन्दर और कुछ सातवीं-आठवीं सदीकी हो सकती हैं। संवत् ११९२ (११३५ ई०)की एक जैनमूर्ति भी देखी। २८ मूर्त्तियाँ संगमर-मरकी हैं। इनमेंसे कुछका हमने फ़ोटो लिया। वहाँसे हम महाकालके मन्दिरमें गये। यहाँ ताँबेके कड़ाहमें पानी रखा हुआ है। चाम्कुशो दीर्घायुश्रीने बतलाया, कि यह पानी न कभी घटता है, न सूखता है और इसमें झाँकनेपर बहुतसे अच्छे-अच्छे दर्शन होते हैं, भविष्यकी बातें मालूम होती हैं। वह बहुत अँधेरे घरमें रखा था,

जिसमें दीपकके सहारे ही हम घूम-फिर सकते थे। उस कड़ाहका पानी प्रलयतक नहीं सूखेगा, यह तो बच्चोंकीसी बात थी; लेकिन दर्शन होना स्वाभाविक है। उस अँधेरेमें निराशाकी हलकी रोशनीके साथ कड़ाहका पानी मेस्मरेजिमके काले बुन्देका काम दे सकता था और यदि श्रद्धाप्रधान आदमीका चित्त एकाग्र हो जाय, तो मस्तिष्कके भीतरके संस्कार इस दर्पणमें उछल आ सकते हैं।

प्रमाणवार्तिक-भाष्य शाक्यश्रीभद्रके शिष्य विभूतिचन्द्रके हाथका लिखा हुआ था, विक्रमशिलाके ध्वंस होनेपर शाक्यश्रीभद्र पहिले वारीन्द्र (पूर्वी बंगाल)में गये, वहाँसे नेपाल आये। नेपालमें साक्यालामा डग्पा-ग्यल्छन (११४७-१२१६ ई०)के दूत ठोफूस्लोचवाके बुलानेपर साक्या आये, और कितने ही वर्ष यहाँ रहे। यहीं साक्या पण्छेन् उनका भिक्षु शिष्य बना। इसमें सन्देह नहीं, उनका यह योग्य शिष्य तिब्बतका सबसे बड़ा पंडित और विचारक हुआ। भारतमें अभी कागज नहीं पहुँचा था, लेकिन तिब्बतमें वह चीनके सम्पर्कसे ४ शताब्दियों पहिले ही पहुँच चुका था। भारतमें जैसे तालपत्र सुलभ था, यहाँ वैसेही कागज, इसलिए विभूति चन्द्रने वार्तिकालंकारको कागजपर लिखा। इसमें मूलकारिकायें भी दी हुई थी। हमने इसे उतारनेका निश्चय किया। दूसरी पोथीमें ११ पुस्तकोंके खंडित अंश थे, जिनमें *"अष्टसाहस्रिका"* और *"महाप्रतिसरा"*के कितने ही पत्र थे। साक्या पण्छेन्के पितातक साक्या-गुम्बा भिक्षु नहीं, एक गृहस्थ सामन्तका महल था। साक्या पण्छेन् भिक्षु थे और फिर ७, ८ पीढ़ियोंतक साक्याकी गद्दीपर भिक्षु ही बैठते रहे। साक्या पण्छेनने ही पहिले पहल मंगोलोंमें धर्मप्रचार किया। यह वह समय था, जब कि हिन्दुस्तानसे बौद्धधर्म लुप्त हो रहा था और उधर मंगोलियामें जड़ जमा रहा था। साक्या पण्छेन्के भतीजे और उत्तराधिकारी फग्पा कुबलेखानका गुरु हुआ और तिब्बतका राज्य उसे गुरुदक्षिणामें मिला। यद्यपि ७, ८ पीढ़ियोंतक भिक्षु गद्दीपर बैठते रहे, लेकिन गद्दी हमेशा अपने ही खानदानमें रही; क्योंकि उत्तराधिकारी सदा भतीजा ही होता था। पीछे भिक्षुका नियम भी टूट गया और घरका गृहस्थ ज्येष्ठपुत्र गद्दीपर बैठने लगा। आज भी वही बात चली आती है। आगे चलकर दो भाइयोंने अलग-अलग शादी की, और उनके डोल्मा (तारा), और फुन्छोग् दो महल हो गये। अब गद्दीपर एक बार डोल्मा महलका ज्येष्ठ पुरुष बैठता है, और उसके मरनेपर दूसरे महलका ज्येष्ठ पुरुष। आजकल गद्दीधर दग्छेन् (महात्मा) रिम्पोछे डोल्मा महलके हैं। इनके बाद फुन्छोग् महल-का मालिक गद्दीपर बैठेगा। हम दूसरे दिन (१४ अक्तूबर) फुन्छोग् महल गये।

इनका स्वभाव लड़कोंकी तरह सरल है। रूप तो अच्छा नहीं है, लेकिन इनकी दोनों पुत्रियाँ और सबसे छोटे दोनों पुत्र बड़े सुन्दर हैं। चार, पाँच घंटे बात होती रही। उन्होंने बतलाया, गुरिम पुस्तकालयके घरकी जब मरम्मत हो रही थी, उस समय पुस्तकोंको हटाना पड़ा था, तब बहुतसी तालपोथियाँ मिली थीं। उन्होंने कहा, और ढूँढ़ना चाहिए, पुस्तकें कहीं जरूर मिलेंगी। लेकिन उस यात्रामें यह पता नहीं लग सका कि वहाँ और तालपोथियाँ हैं।

अगले दिन मैंने वार्त्तिकालकारके फ़ोटो लिये, लेकिन अपने फ़ोटोपर भरोसा नहीं कर सकता था, इसलिए लिखकर उतारने लगा। पोथियोंकी खोजकेलिए गेशे जाते थे। दूसरे दिन वह तीन तालपोथियोंका बंडल ले आये। यह बंडल गुरिम्-लिम् ल्हखड्से आई थी। इसमें बहुतसी पुस्तकोंके दो-दो, चार-चार पत्र थे। लोगोंसे मालूम हुआ कि तालपोथियोंको धोकर पिलानेसे बीमारी भी छूट जाती है, और पाप भी। धनी भक्तोंको इन तालपत्रोंमेंसे काट-काटके प्रसाद भी दिया जाता है। यह सुनकर मेरा हृदय विचलित हो गया। सैकड़ों वर्षोंमें भोटके दर्जनों मठोंने न जाने कितने अनमोल ग्रंथ इस तरह काटके बाँट दिये होंगे। उस वक़्त मुझे लगा, कि बाहर रखकर प्रसाद बाँटनेसे लाख गुना अच्छा यही था, कि पुस्तकें स्तूप या मूर्तिके पेटमें रहें। वह हमें देखनेको नहीं मिल सकती, लेकिन हमारे भविष्यके विद्वान किसी न किसी समय उन्हें सुरक्षित पायेंगे। अब मैं पुस्तक उतारनेमें लग गया। गेशे पंडित गयाधरका चित्र उतार लाये। पता लगा कि गयाधरकी मूर्तिके पासवाली किसी कोठरीमें धर्मकीर्तिकी मूर्त्ति है, जिसके पेटमें प्रमाणवार्तिक रखा हुआ है।

चाम्कुशो न्यूने (उपवास) व्रत कर रही थी। वही व्रत जिसे पहिली यात्रामें मैं दोपहरतक करके दंडवतोंके मारे छोड़ बैठा था। व्रतमें पहिले दिन मध्याह्नके बाद भोजन-त्याग करना होता है। दूसरे दिन निराहार रहना पड़ता है। तीसरे दिन भोजन ग्रहण करते हैं। २० अक्तूबरको चाम्-कुशोका पारण था। वह पारन करके मेरे पास आकर बैठ गईं। मैं पुस्तक लिखनेमें लगा था, और गेशे स्मृतिज्ञानकीर्ति-की एक जीवनघटनाका चित्र बना रहे थे। स्मृतिज्ञानकीर्ति भारतके बहुत अच्छे पंडित थे। कोई तिब्बती विद्वान उन्हें धर्मप्रचार और अनुवादके कामकेलिए तिब्बत ले जा रहा था। वह विद्वान नेपालमें मर गया। यद्यपि स्मृतिज्ञान न भाषा जानते थे न देशसे ही परिचित थे, लेकिन उनके दिलमें इतना साहस भरा हुआ था, जिसे देखकर मैं तो अपनेको उनकी चरणधूलि लेनेके योग्य भी नहीं समझता। उन्होंने निश्चय किया कि पहिले भाषापर अधिकार जमाना चाहिए। उन्होंने भिक्षुका

कपड़ा छोड़ा। साधारण भोटियाका भेष लिया। शवुमें कुछ दिनोंतक भेड़ चराते रहे, लेकिन वह भारतके मार्गपर था, इसलिए उन्होंने वहाँ अपनेको सुरक्षित न समझ ब्रह्मपुत्रपार शिगर्-चेसे दो मीलके रास्तेपर घुमक्कड़ पशुपालकों (डोक्पा)के इलाके तानामें १०, १२ वर्ष भेड़ चरानेमें बिताये। उनकी मालकिन बहुत कठोरहृदया थी। याक्का दूध दुहते वक़्त थन ऊँचा पड़ता था, इसलिए स्मृतिज्ञानको कभी-कभी मोढ़ा बनना पड़ता था, जिसपर बैठकर मालकिन इत्मीनानसे दूध दूहती थी।

पुस्तक उतारते वक़्त कोई वैसी बात होती, तो गेशेसे बोलता भी जाता था। वहाँ उस वक़्त पोथीमें एक जगह आया था—यह पूजा-पाठ सब लड़कोंका खेल है। मैं और गेशे हँस रहे थे। उसी वक़्त चाम्कुशो आईं। उन्होंने पूछ दिया—क्या बात है। मैंने कहा, पोथीकी बात है। उन्होंने कहा, मुझे भी सुनाइए। पोथी सुनाना तो आसान नही था, क्योंकि प्रज्ञाकरके गद्य-पद्यमय भाष्यका फिर लंबा भाष्य करना पड़ता। लेकिन चाम्कुशो छोड़नेवाली नही थी और उनका हमपर पूरा अधिकार था। उनके पति गेशेके पांडित्यको देखकर और मेरे बारेमें सुनकर बहुत बधुत्व रखते थे। चाम्कुशो वैसे चतुर स्त्री थी, पूजा-पाठकी पुस्तकें पढ़ भी लेती थी, किन्तु हम दोनोंके गुणोंको वह सिर्फ सुनकर ही जान सकती थीं। हमारे खाने-पीने, आरामका उनको बहुत ध्यान था। इस कामको वह सिर्फ नौकर-नौकरानियोंपर छोड़नेकेलिए तैयार नहीं थीं। छुट्टी मिलनेपर वह हम लोगोंके पास आकर बैठतीं, कभी गेशेको चित्र बनाते देखती और कभी मेरी क़लमको कागज़पर चलते। गेशेके चित्रको वह समझ सकती थी, मेरी क़लमको नहीं; तो भी उस दिन उन्होंने हँसनेकी बातको जाननेकेलिए जिद किया। मैंने कहना शुरू किया—इसमें लिखा है : पूजा-पाठ लड़कोंका खेल है, निस्सार है। चाम्कुशो बेचारी दो ही दिन पहिले व्रत किए थीं, मैं अब दस दिनसे इस घरमें रह रहा था, और स्नेह-सम्बन्धके कारण अब संकोच नही रह गया था। मैंने कहना शुरू किया—"मालकिनने तीन दिनका न्यूने व्रत रखा। आज पारणका दिन था। नौकरानीने सूप बनाकर मालकिनके सामने रखा। शायद सूप फीका था या मालकिनका मिज़ाज ही झुँझलाया हुआ था। मालकिनने सूपके प्यालेको फेंक दिया और नौकरानीको चार चपत लगाए। कहो उस न्यूनेका क्या पुण्य हुआ?"

चाम्-कुशो एकाएक बोल उठी—मैंने मारा नही, सिर्फ थोड़ा गुस्सा हुई। यह बिल्कुल संयोग था, मुझे उस घटनाका कोई पता नही था। मैं सिर्फ पुजारिनोंका मज़ाक करना चाहता था। चाम्-कुशो जिन्दगीभर कहती रहेंगी, कि हिन्दुस्तानके लामा

बड़ी दिव्यदृष्टि रखते हैं। मुझे आशंका हुई कि चाम्-कुशो कुछ नाराज होंगी, लेकिन उन्होंने उसका कोई ख्याल नहीं किया। चाम्-कुशो और डोनिर् छेन्पोको कोई सन्तान नहीं, चाम्-कुशोकी आयु ३५ सालकी है, अब विश्वास नहीं, कि कोई बच्चा होगा। उनकी मौसेरी बहिन दिकीला भी साथ ही रहती थीं। दिकीलाकी एक छोटीसी लड़की डोल्मा छेरिङ् (तारा दीर्घायुषी) को कुशो अपनी कन्या बनाके पाल रहे थे। चाम्-कुशोके भाई डोनिरला ही अपने बहनोईके घरके भी उत्तराधिकारी थे, लेकिन उनको एक मरियलसी कुछ महीनोंकी लड़की थी। यदि वह भी न रही (अगली यात्राके वक्ततक वह बेचारी चल बसी थी) तो फिर दोनों घरोंको मिलाकर दने इस एक घरका उत्तराधिकारी डोल्मा और उसका पति ही होगा।

अब सर्दी बहुत बढ़ गई थी, अक्तूबर समाप्त हो रहा था। भोटियां दसवां महीना बारह-तेरह दिनोंमें शुरू होनेवाला था, जबसे कि पोस्तीन पहिनना शुरू होता है। एक साल पहिले अंग्रेजी पोलिटिकल एजेन्ट मिस्टर विलियम्सन अपनी पत्नीके साथ साक्या आये थे। चाम्-कुशो कह रही थीं—"क्या है, अंग्रेज चाम्-कुशो भिखमंगिनकी तरह आई थी। न उसके कानमें कोई आभूषण थे न कंठमें न हाथ हीमें। और फिर पुरुषकी तरह अपने ही कूदकर घोड़ेपर चढ़ जाती थी।" मैंने कहा—लेकिन उसके पास धनुप-बाणवाला आभूषण होता है, तुम लोगोंके पास बिना बाणका खाली-खाली धनुप होता है। उस चाम्-कुशोके धनुप-बाणवाले आभूषणमें २५, ३० हजारको मोतियां और फिरोजे लगे होते हैं। उन्होंने कहा—मैंने तो उसके सिर कोई धनुप-बाणका आभूषण नहीं देखा। गेशे पहिले हीसे मुसकराने लगे। मैंने हँसते हुए कहा—अंग्रेज चाम्-कुशोके धनुप-बाणको सिर्फ अंग्रेज मर्द ही देख सकते हैं।

फुनछोग् महलके स्वामीका बार-बार आग्रह रहता था और मैं उनके पास कई बार गया। उन्होंने दो पीतल और छ लकड़ीकी मूर्तियां दीं और फिर आनेकेलिए आग्रह किया। वार्तिकालंकारका यद्यपि मैं खंडित परिच्छेद (तीसरेका उत्तरार्द्ध) ही लिख सका, चौथे परिच्छेदको लिखनेमें नवम्बरको भी वहीं बिताना पड़ता। हमें चलनेकेलिए मजबूर होना पड़ा।

(४) नेपालकी ओर—साक्यामें १७ दिन रहनेके बाद २७ अक्तूबरको हम सवा आठ बजे वहांसे रवाना हो गए। चाम्-कुशोके भाईसे भी हमारा परिचय हो गया था। उन्होंने अपने गांव मब्जासे ४ घोड़े हमारेलिए भेज दिये थे। घोड़े अच्छे थे। मैं, गेशे और आदमी घोड़ेपर थे, चौथा आदमी घोड़ेके ऊपर सामान लिये पहिले

ही चल चुका था। साक्या छोड़ते वक्त हमें अफ़सोस हुआ। यहाँ इतने प्रियजन मिले, जितने तिब्बतमें कभी नहीं मिले थे। और, यह बात उसी यात्रामें नहीं रही, बल्कि बादमें दो बार मुझे तिब्बत और जाना पड़ा, तब भी वह स्नेह उसी तरह बना रहा। आगे तो वहाँ ४०से ऊपर संस्कृतकी पुस्तकें निकल आईं, जिन्होंने मेरे-लिए साक्याको एक तीर्थ बना दिया। सवा तीन घंटा चलनेके बाद साढ़े ११ बजे हम डोला जोतपर पहुँचे। चढ़ाई बहुत नहीं थी, लेकिन वह बहुत दूरतक थी। जोतपरसे दक्षिणकी ओर हिमालयकी बर्फीली चोटियाँ दिखाई पड़ रही थीं। मील भर पैदल ही उतरते रहे, फिर घोड़ेपर चढ़ रास्तेमें एक जगह चाय-सत्तू हुआ। अब हम मबूजाकी चौड़ी उपत्यकामें थे, जो उत्तर-दक्खिन चली गई है। जान पड़ता है, किसी वक्त इस उपत्यकामें ज्यादा घनी आबादी थी। जगह-जगह उजड़े घरों और गाँवोंके ध्वंसावशेष पड़े हुए हैं। कुछ जगह तो बड़ी-बड़ी दीवारें वैसी ही खड़ी हैं, जैसी वह बननेके वक्त रही होंगी। यदि उनपर छत रख दी जाय और किवाड़ लगा दिये जायँ, तो आज भी उनमें आदमी रह सकते हैं। ल्हादोङ् गाँव किसी वक्त बहुत बड़ा गाँव था। यहाँ एक बहुत बड़ा विहार भी था। लेकिन अब कुछ थोड़ेसे घर बच रहे हैं। हमारी बाईं ओर जोंपाका ध्वंसावशेष है, जिसकी विशाल दीवारें अब भी खड़ी हैं। कहते हैं, पहिले यहाँ विधर्मी मोन् लोग रहते थे, जिनको राजा मिवङ् तोब्ग्येने परास्त किया था।

एक मिवङ् पाँचवें दलाईलामा (१६१७-८२) का मंत्री था, संभव है, उसीने मबूजाकी समृद्ध-उपत्यकाको बरबाद किया हो। उसकी सेनाने यहाँके लड़ाके पुरुषों ही नहीं, बच्चोंपर भी कितना ग़ज़ब ढाया, इसे "परास्त" शब्दसे हम प्रकट नहीं कर सकते। ५ बजे हम मबूजा पहुँचे गए। कुशो डोनिरला मिले। १० बरस पहिले बने देवालयमें हमें ठहराया गया।

मब्जा बहुत ही ठंडी जगह है। दूसरे दिन यहीं रहना था। १० बजे दिनतक तो कम्बल ओढ़के पड़े रहे, फिर कुशो डोनिर्लासे बात होने लगी। तिब्बतके हर गाँवमें घरका अलग-अलग नाम होता है, सरकारी काग़जोंमें खेत इन्हीं घरोंके नाम दर्ज होते हैं, घरके मालिकका नाम नहीं रहता। बड़ा लड़का घरका मालिक होता है। छोटे भाई यदि अलग शादी करें, तो हिस्सा नहीं थोड़ासा खाने-पीनेभरको मिल जायगा। साक्याके राज्य (ग्यल्खब्)में प्रायः दो सौ गाँव और दो हजार घर हैं, खम्-प्रदेशमें भी इसके कई गाँव हैं। पुत्र न होनेपर पुत्रीकेलिए घरजमाई लाया जाता है, और वही घरका मालिक होता है। यदि पुत्री भी न हो, तो किसी रिश्तेदारको

उत्तराधिकारी बना लेते हैं। कुशो डोनिरलाके पास काफ़ी खेत थे, और उनके बहनोई तो अच्छे खासे अमीर थे।

अगले दिन (२९ अक्तूबर) हम ८ बजे यहाँसे चले। ३३ सांगमें तीन घोड़े तेरसा तककेलिए किये गये। तेरसा साक्याकी जमींदारी है। वहाँसे दूसरे घोड़े आगेकेलिए मिल जायेंगे, यह विश्वास दिलाया गया था। हम दोनोंके पास भी एक-एक पिस्तौल थी। जो आदमी घोड़ेके साथ चल रहा था, उसके पास भी पिस्तौल थी। आगे भी बहुत दूरतक मब्जा उपत्यका चली गई थी। मब्जाका अर्थ है मोर। किन्तु हिमालय जैसी सर्द जगहमें मोर नहीं हो सकता, फिर ऐसा नाम क्यों रखा गया। मब्जा १४ हजार फ़ीटसे कम ऊँचा नहीं होगा, आसपासकी चोटियोंमें सत्रह, अठारह हज़ार फ़ीटवाली कई थीं। डोनिरलाने बतलाया कि पहिले इन चोटियोंपर बारहों महीने बरफ रहा करती थी, किन्तु अब कुछ ही महीने रहती है। एक नालेसे सुगन्धित देवदारकी लकड़ियाँ काटकर लोग ला रहे थे। पहिले वहाँ अच्छा खासा जंगल था। लेकिन अब कोई उसकी रक्षाका ख्याल नहीं करता, सभी वहाँसे लकड़ियाँ काट-काटकर ले आते हैं। हो सकता है, तिब्बतमें इसकी वजहसे भी कितनी ही उपत्यकाएँ वृक्षशून्य बन गई हों। मब्जाका पानी कोसीमें जाता है। यहाँसे दो दिनमें हिमवाले पहाड़ोंको पारकर देवदार और दूसरे वृक्षोंसे भरे जंगलमें पहुँचा जा सकता है, अर्थात् साक्याके विहारमें लगे बड़े-बड़े स्तम्भोंका जंगल वहाँसे तीन ही दिनके रास्तेपर है। हाँ, चढ़ाई बहुत कठिन है और हज़ारों आदमी महीनोंतक खींच-खींचकर एक-एक खम्भेको साक्या पहुँचाए होंगे। कोसीके किनारे-किनारे रास्ता बहुत खराब है। जहाँ तिङ्रीवाली नदी और मब्जा नदीका सगम है, वहाँ एक जगह रस्सीके सहारे नदीको पार करना पड़ता है। यदि पैदल चलनेकी हिम्मत होती, और हमें काठमांडो जानेकी ज़रूरत न होती, तो वहाँसे सीधे धनकुटा होते नीचे जयनगर (दरभंगा) स्टेशनपर पहुँच जाते। इस रास्तेमें आदमी ज्यादा नहीं मिलते। बस्तियाँ दूर-दूर हैं, फिर डाकुओंका डर तो ठहरा ही। हम निशाके इलाक़ेमें पहुँचे और रातको उसके गन्‌जङ् गाँवमें ठहरे। अगले दिन (३० अक्तूबर) जब हम चलने लगे, तो घरवालोंने सोग्पो (मंगोल) लामाको चाय भेंट की। गाँववालोंने हाथ रखनेकेलिए अपने-अपने सिर झुकाये। मत्थेपर हाथ रखवानेकेलिए सारा गाँव दौड़ पड़ा। घोड़ेवालेने मुझे सोग्पो लामा कहकर ही प्रसिद्ध किया था। आगे एक बड़ी जोत पड़ी। जोत (ठङ्ला) परसे एक पाँच-छः मीलके घेरेवाली झील दिखाई

दी। उतराईके बाद मैदान ही मैदान था। छोड़् गांवमें चाय-सनू किया, फिर पौने ५ बजे हम देन्-वङ्-जुग् गांवमें रातकेलिए ठहरे। आगे रास्ता चढ़ाईका नहीं था। उस दिन शामको हम चकोर गांवमें आ गये। ५ साल पहिले सुमतिप्रज्ञके साथ मैं इस गांवसे गुजरा था। पासमें चित्रीका पवित्र पहाड़ है।

अगले दिन (१ नवम्बर) चाय पीकर साढ़े ६ बजे ही हम चल पड़े। मेमों आया, और मुझे कुत्ता छूटने, सत्तू छोड़ चलने और सुमतिप्रज्ञके नाराज होनेकी घटनाएँ याद हो आईं। डम्बाका डाकुओंवाला गांव भी पासमें छूट गया और १२ बजे बाद हम तिङ्री पहुँच गये। पहिली यात्राका दो दिनका रास्ता आज आधे दिनमें खतम हुआ। तिङ्रीमें चाय पीनेकेलिए थोड़ा ठहरे। गेशे यहांके मोटिया पंडित पूरा ग्यर्-गेनसे मिलने गये। उसी दिन पौने चार बजे हम तेरसा पहुँचे गये। तेरसा गांव नेपालके रास्तेपर है। साक्याके अधिकारीने हमारा स्वागत किया। सबसे अच्छे कमरेमें ठहराया। दूसरे दिन (२ नवम्बर) खच्चर मिलनेकी सम्भावना नहीं थी, इसलिए हम यहीं रह गये।

पूरा गेर्-गेनके बारेमें एक बड़ी ही मनोरंजक कथा मालूम हुई। वह बूढ़ा है, और बूढ़ेको तरुणी भार्या बहुत प्रिय होती है। पुराकी बीबीने किसी नौजवान सम्पति प्रेम कर लिया। पुराने जोङ्पोंनके पास फरियाद की। सम्पाको खूब बेंत लगे। सम्पापर कैसे बेंत पड़े, वह कैसे छटपटा रहा था, इसपर पुराने एक कविता बनाई। कविता बुरी नहीं थी। पुराने उसे अपने एक विद्यार्थीको लिखवा दिया था, जिससे हमने कापी करवा ली।

यहां एक तरहका खट्टा फल होता है, गेशे मना कर रहे थे। मैंने तजुर्बा करना चाहा और जिम्बू (*जंगली प्याज*) *नमक, मिर्च* डलवाकर चटनी बनवाई। गेशे पहले न खानेकी कसम खा रहे थे, और अब कहने लगे—कुछ रास्तेकेलिए भी बनाके ले चलें। उनको डर था, इसके खानेसे दांत कोठ हो जायेंगे, लेकिन चटनी खानेमें वह बात नहीं हुई।

हम जिस घरमें ठहरे थे, उसकी खिड़कीसे चमो-लोङ्मा (गौरीशंकर या एवरेस्ट शिखर) बिल्कुल सामने और साफ-साफ दिखलाई देता था। हमारे गृहपतिको पता था कि इसी साल अंग्रेजोंका हवाई जहाज इस पर्वत-शिखरपर मँडराया था। उन्हें यह भी मालूम था, कि कई सालोंसे विदेशी लोग इसके ऊपर चढ़ना चाहते हैं। और लोगोंकी तरह उन्हें भी विश्वास था कि ऊपर हवाई जहाजके उड़नेसे गिरास्का

देवता नाराज हो गया, जिसके कारण वह भूकम्प आया, जिससे विहारमें कई हजार आदमी मरे। मैं उनको बड़ी गम्भीरतासे देवी-देवताओंकी बात समझा रहा था। तिब्बतमें देवी-देवताओंकी काफ़ी संख्या है। हमारे भारतीय देवता भी वहाँ बहुतसे पहुँचे हैं, उनकेलिए बड़े-बड़े मन्दिर भी बने हैं। तिब्बती देवताओं की भी संख्या कम नहीं है, यद्यपि उनकी हालत बहुत खराब है—जहाँतक खाने रहनेका सम्बन्ध है। तिब्बतके देवताओंकी मुख्य-मुख्य जातियाँ इस प्रकार हैं—

१—तो-टों-डक्-पा (श्मशानवासी)।
२—थो-गो-मेन-पा (आग मुँहसे निकालनेवाला)।
३—डे-कु-शुं (सुर-सुर करके पीछे पड़नेवाला)।
४—शो-लं-दो-ड-शि (कोयलेकी भाँति काले मुँहवाला)।
५—च-मर-पो (लाल रंगवाला)।
६—शिन्-डे (चुड़ैल)।
७—थो-गो-क-रि (श्वेतकंकाल)।
८—येब्-रङ् (दृष्टभूत)।
९—दक् (मरा कंजूस)।
१०—तोड्-डे-ठि-वा (भुलौना)।
११—तोड्-डे-मी-वा (भाथी चलानेवाला भूत)।

भूतोंकेलिये तिब्बती लोग शाम-सबेरे छतके ऊपर थोड़ीसी सत्तूकी धूप दे देते हैं, फिर वह क्यों न नाराज होने लगे। चोला (गृहपति)ने पूछा—यह विदेशी लोग तो अपने भाग जाते हैं, और देवता नाराज होकर हम लोगोंका नुक़सान करते हैं। इस इलाक़ेमें भूकम्पसे कोई नुक़सान नहीं हुआ था। मैंने जब बतलाया कि हवाई जहाजमें जलनेवाला स-नुम् (पेटरौल) देवताओं और भूतोंकेलिए बहुत बुरा होता है। इसके कारण हमारे देशके बहुतसे देवता भाग गये हैं, अब थोड़ेसे रह गये हैं। उसको यह सुनकर बड़ी खुशी हुई, क्योंकि अब उसके खच्चरोंकी पीठ नहीं कटा करेगी, जूतेसे पैर नहीं कटा करेंगे, सैकड़ों तरहकी बीमारियाँ नहीं होंगी। अगले दिन (३ नवम्बर) १६ साङ्पर तीन घोड़े किरायेपर मिले और हम १० बजे रवाना हुए। उस रात लङ्कोर्में एक वैद्यके घरमें रहे। ४ नवम्बरको सवा तीन ही बजे चल पड़े, देर होनेपर थोङ्-ला जोतपर हवा बहुत तेज होती और यह जाड़ेके दिन थे। जल्दी चलनेका भी कोई फ़ायदा नहीं। सर्द हवा हड्डीको आरपार कर रही थी। साढ़े बारह बजे जोतपर पहुँचे। उतराईमें बहुत दूरतक पैदल ही गये। एक

जगह चाय-सत्तू खाया, डेढ़ घंटे विश्राम किया। रास्तेमें पानी जमकर बर्फ हो गया था, जिसके ऊपर घोड़ोंका पैर बहुत फिसलता था। ६ बजे अँधेरा होते-होते हम थुलुङ् गाँवमें पहुँचे। एक बहुत ही ग़रीब घरमें ठहरे। अगले दिन हम ञेनम पहुँचनेवाले थे, इसलिए चावल और खानेकी चीज़ोंको ढोकर ले जानेकी ज़रूरत नहीं थी। हमने ढाई-तीन सेर चावल घरवालेको दे दिया।

अगले दिन (५ नवम्बर) सबेरे ८ बजे रवाना हुए। घोड़ेवालेको ठहरनेका स्थान बतला हम दोनों चल पड़े। वह गाँव भी आया, जिसमें सुमतिने पुत्र होनेकेलिए जन्तर लिखवाया था। पिछली बार हम असली रास्तेको दूरतक छोड़ कुछ हट गये थे, अब हम मुख्य रास्तेसे चल रहे थे। कुछ दूर जानेपर एक ढालवाँ पहाड़पर पुरानी बस्तीके चिह्न दिखाई पड़े। यहाँ जल भी है और जनसंख्या हो, तो एक अच्छा गाँव आबाद हो सकता है। वहाँसे उतरनेपर जहाँ-तहाँ सैकड़ों चश्मे ज़मीन फोड़कर बहते दिखाई पड़े। यहाँसे पास ही वह मठ था, जिसमें सुमतिके साथ हमने चाय पी थी। अब ञेनम् छ मील रह गया था, और पिछले पाँच मीलका रास्ता बहुत खराब था। अन्तिम तीन मील तो कड़ी उतराई थी; और हमें पैदल चलना पड़ा। ४ बजे ञेनम् पहुँचे। योगमानसाहु (नेपाली)के घरपर ठहरे। रातको बुख़ार आ गया। आगे घोड़ेकी आशा नहीं थी। रातसे ही बरफ़ पड़ती मालूम होने लगी और वह दिनभर कुछ न कुछ पड़ती रही। उस दिन हमें यहीं रह जाना पड़ा। हमारे पास काष्ठ पीतलकी बारह मूर्तियाँ थीं और एक पोथी भी। नेपाली दीठा (राजदूत)से उनकेलिए एक चिट्ठी लिख देनेकेलिए कहा, क्योंकि नेपालसे निकलनेपर रोक-टोक हो सकती थी, लेकिन बेचारा चिट्ठी लिखनेसे घबड़ाता था। उसने कहा—मैं सरकार को लिख दूँगा।

३६ नेपाली मोहरपर हमने तीन भरिया (भारवाहक) काठमांडो तककेलिए किये। भरियोंने कहा, हम तुरन्त आ रहे हैं। हम दोनों ११ बजे रवाना हुए। कुछ मीलपर रास्तेमें एक अकेला घर मिला, यहींसे वृक्ष-वनस्पति पहाड़ोंपर दिखलाई देने लगे। यहाँसे आगे बढ़नेपर कुछ बर्फ़ भी पड़ने लगी। कहीं-कहीं रास्ता बहुत खराब था। साढ़े तीन घंटा चलनेके बाद हम गरम पानीके कुंड—छन्-मम् पहुँच गये। हमारे पास ओढ़ना-बिछौना या खाने-पीनेकी कोई चीज नहीं थी। शामतक इन्तिज़ार करते रहे। ख़ैर, खानेकेलिए तो हमने घरवालीसे इन्तिज़ाम कर लिया; रातको जाड़ेके मारे ठिठुर जाते, लेकिन उसी समय अपने साहुकी रजाई-बिस्तरा लिये एक आदमी चला आया। रात कट गई, दोपहरतक इन्तिज़ार किया। लेकिन

कुलियोंका अब भी कोई पता नहीं। दोपहर बाद धर्मवर्धनको देखने लेनम्की ओर भेजा। सूर्यास्तके वक्त भरिया आये। रातको यहीं रहना पड़ा। नैपाली प्रजा एक घरवा कह रहा था—नैपालमें तो हमारे क़ानून हैं, लेकिन भोटियोंके यहाँ कोई क़ानून नहीं। जोङ्पोन्की जैसी मर्जी हुई, वही फ़ैसला कर देता है।

अगले दिन (९ नवम्बर) १० बजेतक खाते-पीते ही रह गये। रास्ता बहुत खराब था। रास्तेमें उस घरका खंडहर मिला, जो पाँच साल पहिले बना था और चश्मा निकल आनेसे गृहपतिने घबड़ाकर डुक्पा लामासे वरदान माँगा था। वरदान झूठा हो गया और अंतमें चश्मेके नागने इस घरको उजाड़कर ही छोड़ा। डाम् तीन मील रह गया था, तभी देवदार हमारे रास्तेसे खतम हो गये। आज गर्मी भी मालूम हो रही थी।

रातको डाम्में रहकर दूसरे दिन १० बजे फिर रवाना हुए। थङ्-थुङ् ग्यल्पोके जंजीरवाले पुलको पार करते वक्त पैर काँपने लगे, वह बहुत हिल रहा था। थङ्-थुङ् ग्यल्पो कोई सिद्ध लामा था। वह हर जगह नदियोंपर पुल बनवाता फिरता था। बनवाये होंगे दस-बीस या पचीस पुल, लेकिन पीछे तो हर जंजीरवाले पुलको थङ्-थुङ् ग्यल्पोका पुल कहा जाने लगा। १२ बजे हम नैपाली छावनीपर पहुँचे। सूबेदार आये। नाम लिखवा दिया। लेकिन, वह मधेसके आदमीको छोड़नेमें डरते थे। ४ घंटेतक वहीं बैठे रहे। फिर चाय पीनेकेलिए पिछले गाँवमें जानेकी छुट्टी मिली। साढ़े चार बजे हम जब आये, तो उन्होंने हमारे बक्सोंको खोलकर देखा। फिलमको पहचानकर कहने लगे—यह चोरबत्ती है। सूर्यास्तसे पहिले ही हम तातपानी गाँवमें पहुँचे। चुगीवालोंने भी बक्सको खोलके देखा। गरम पानीमें जाकर खूब नहाये। रातको हमारे गृहपति (लक्पा)ने नैपाली ढंगसे साग, सेम और सेकसाकी तर्कारी बनाकर भातके साथ खिलाया।

आगे जानेके दो रास्ते थे, एक ऊपर-ऊपरसे और एक नीचे-नीचेसे। ऊपरवाला रास्ता बहुत कठिन था, किंतु हमारे कुलियोंने उसीको पकड़ा। पहिले हमें नहीं मालूम था, लेकिन जब कठिन रास्ता शुरू हो गया, तो हम काफ़ी दूर चले आये थे। बिल्कुल सीधी ही सीधी चढ़ाई थी, रास्ता पगडंडीका था। डाँड़ेपर हमें शरखोंका गाँव छङ्-चिङ् मिला। यह मुख्य रास्ता तो था नहीं, कि दूकानें मिलतीं। ऊपरकी ठंड-की मार खाये हुए थे, इसलिए हमें इस जगह भी जेठ-बैसाखकी गर्मी मालूम होती थी। रास्ता आगे भी इतना कठिन था कि पैरकी ओर छोड़कर इधर-उधर झाँकनेमें भी डर लगता था। वह एक सवा बित्तासे अधिक चौड़ा नहीं था। मैं तो मैदानी

आदमी था ही, लेकिन मेरे भी काँप रहे थे। गरवोंका गाँव गोम्यन मिला। यहाँ रास्ता चौड़ा था। साढ़े ४ बजे यड्लाकोट गाँव आया। अधिकांश बस्ती तमंगों की थी और ५ घर नेवार मेठोंके। दो पासल (पण्यशाला-दूकान) थीं। भूख बहुत लगी हुई थी। हमने थोड़ा चिउड़ा-मिश्री लेकर खाया।

अगले दिन (१३ नवम्बर) हम जलबीरा बाजारमें पहुँचे। यह अच्छा खासा गाँव है। दस-बारह दूकानें हैं। भरिया हमें नदी पार करा सामनेकी बस्ती फलम साँकूमें ले गये। एक दूकानमें बैठकर भोजन बनाया। अब तिब्बतकी सारी तकलीफें भूल गई, और वहाँके लोगोंके गुन ही गुन याद आने लगे। यह ठीक है, वह लोग कभी-कभी रूखे दिखाई पड़ते हैं। यह भी निश्चय नहीं कि किस वक़्त उनका कैसा मिज़ाज होगा। लेकिन जहाँ आदमी-आदमीके तौरपर आपका परिचय हो गया, तो उनका घर आपका घर है। अपने चूल्हेमें पकाकर आपको खाना दे देंगे। बड़े-बड़े घरोंकी स्त्रियाँ भी चाय लेकर आपके सामने हाजिर होंगी। आपका दुख-सुख पूछेंगी, अपना कहेंगी। लेकिन यहाँ जलबीरामें अभी हम भारतीय सभ्यताके मंचतलपर ही पहुँचे थे, कि एक-एक बातकेलिए तरद्दुद दिखाई पड़ने लगा। बर्तन-भाँड़ेका इन्तिजाम करो, अपने हाथसे चूल्हा फूँको—जब कि रास्ता चलते-चलते शरीर थककर चूर हो रहा हो। बड़े घरोंमें तो बिना जान-पहचानके शरण भी नहीं मिलती। छोटे घरोंमें उतनी जगह नहीं होती। फिर जनानखानाका सवाल अलग। और चौके-चूल्हेका सवाल तो तब हल होगा, जब आप अपनी ७ पीढ़ी उनसे मिलाएँ। खैर, हमारे कुली मौजूद थे, वह चाहे कोई जातिके हों, हम उनके हाथका खाना खानेकेलिए तैयार थे, उन्होंने खाना पकाया। ञेनमूसे इधर घास-पातपर गुज़ारा होता आया था, यहाँ देखा कि आगमें भुनी मछलियाँ बिक रही हैं और पाव-पावभर तककी। हमने ७ मछलियाँ खरीदीं। कुछ पकाके खा भी लीं कुछ साथ लिये और दोपहर बाद चल पड़े। ऐसे ही हमें जेठ-बैसाखका मौसम अप्रिय मालूम हो रहा था, उसपरसे धूप सामनेकी थी। धानके खेत बहुत थे और धान अच्छी जातका होता है। पहाड़ी डाँड़ेपर बसे चौतरिया-बाजारमें जब हम पहुँचे, तो सूर्य अस्त हो रहा था। एक दूकानमें रातको जगह मिली। अगले दिन (१४ नवम्बर) दो ही बजे हम सिपा गाँवमें पहुँच गये, हमारे कुली इसी गाँवके थे। आज उन्हें अपने घरमें रहना था। पपीताको यहाँ मेवा कहते हैं, हमने कोशिश की लेकिन मेवा नसीब नहीं हुआ। रातमें दूध-भात और साथ लाई मछलीका भोग लगाया। उस रातको खूब ज्वर आया।

लेकिन ज्वर आनेसे रास्ता चलना थोड़े ही बन्द किया जा सकता था। दूसरे दिन (१५ नवम्बर) एक छोटेसे डाँड़ेको पारकर ११ बजे इन्द्रावती नदीके किनारे पहुँचे। पेड़ खोखला करके दो नावें बनाई गई थीं। साढ़े पाँच आना नेपाली पैसा दिया, नदी पार हुए। कहीं-कहीं कठिन चढ़ाई थी। देवपुर गाँवमें शामके वक्त पहुँचे। भूकम्पसे गिरे हुए कितने ही घरोंको देखा। पांथशालामें डेरा डाला और रातको यहीं सो गए।

अगले दिन (१६ नवम्बर) सूर्योदयसे पहिले ही, बिना खाये-पिये चल पड़े। ९ बजे नल्दोम् (चीसपानी)के डाँड़ेपर पहुँचे। यहाँसे नेपाल उपत्यका दिखाई पड़ती है, लेकिन उस दिन बादल था। क़ुलियोंको खाना बनाते छोड़ बारह बजे हम लोग साखू पहुँच गये। यह अच्छा खासा क़स्बा या शहर है। अट्ठारह आना (हिन्दुस्तानी नौ आने) देकर एक दूकानपर मिठाई-दही खाये। भूकम्पसे गिरे मकानोंको देखा। यहाँतक मोटरका रास्ता आया है, किन्तु उसपर लारी नहीं चलती। सूर्यास्तके वक्त बौधा (महाबौधा) पहुँच गये। पिछली यात्रामें यहीं मुझे महीने भर छिपकर रहना पड़ा था। चीनी लामासे बातचीत होती रही। उन्होंने पाँच दिन पहिले (११ नवम्बर)का "स्टेट्समैन" पढ़नेको दिया। ग्यान्ची छोड़ने (२२ सितम्बर)के बाद अब जाके बाहरी दुनियाकी खबर मिली।

१७ नवम्बरको हम सबेरे ही धर्मासाहुके घरपर (४७ तन्लाछी टोल, काठमाडू) पहुँच गये। साहु त्रिरत्नमान और ज्ञानमान दोनों घरपर ही थे। भरियोंको मजूरी देकर विदा कर दिया, कपड़े धोनेकेलिए दे दिये। राजगुरु पंडित हेमराज शर्माके पास आनेकी सूचना दे दी। अब पहिली दिसम्बरतक यहीं रहना था।

किताबोंके फिल्मोंको धुलवानेपर वह बेकार सिद्ध हुये। काठमांडो और पाटनके शहरोंको देखा। बहुतेरे मकान गिरे हुए थे। कितने ही स्तूप और मन्दिर ध्वस्त हो गये थे। इनमें पाटनका महाबोधि मन्दिर भी था।

एक दिन मैं घूमते हुये सुनयश्रीके विहारकी जगहपर पहुँचा। विहार गिर गया था। सुनयश्रीकी मिट्टीकी मूर्ति टूटी हुई एक जगह रखी थी, सिर बच रहा था, उसका मैंने फ़ोटो लिया। सुनयश्री भोट गए थे और उन्होंने कुछ पुस्तकोंके अनुवादमें सहायता की थी। मैं शामको राजगुरुसे मिलने गया, उस वक्त सुनयश्रीके विहारका ज़िक्र किया, उन्होंने ठंडी साँस लेकर कहा—"वहाँ तो दिल दहलानेवाली घटना घटी है। उस विहारमें पचासों बहुमूल्य तालपोथियाँ थीं। मैंने बहुत बार उन्हें देखनेकी कोशिश की, लेकिन गुभाजू (बौद्धपुरोहित) लोग दिखानेकेलिए राजी नहीं हुए। भूकंपकी

सहायतामें मुझे भी काम करना पड़ता था। बरसातके बाद में एक दिन उस जगहपर पहुँचा तो पुस्तकें याद आईं। मैंने पूछा—वह पुस्तकें कहाँ हैं? बताया गया—यहीं जमीनमें। सारी बरसात भर वर्षा पड़ती रही। उन पुस्तकोंकेलिए आशा क्या हो सकती थी, तो भी मैंने जल्दी-जल्दी कुछ आदमियोंको बुलाकर उस जगहको खुदवाना शुरू किया। मेरी आँखोंसे आँसू निकल पड़े, जब मैंने पुस्तकें बाँधनेकी तख्तियोंको हाथसे उठाकर देखा, तो तालपत्र सड़कर कीचड़ हो गए थे।" मुझे भी इस घटनासे बेहद दुख हुआ।

मैं अधिकतर राजगुरुकी सहित पुस्तक और गेशेकी कंठस्थ भोटिया कारिकाओं की मददसे प्रमाणवार्तिककी कारिकाओंको क्रमसे लगानेमें लगा रहता था। पहिली तिब्बतयात्रासे लौटकर धर्मकीर्तिके "प्रमाणवार्तिक" का महत्व मुझे इतना मालूम हुआ था, कि मैंने उसे तिब्बतीसे संस्कृतमें करना शुरू किया था। पीछे श्रीजयचन्द्र विद्यालंकारने खबर दी कि राजगुरुके पास प्रमाणवार्तिककी संस्कृत प्रति मौजूद है। नेपालके रास्ते लौटनेका यह भी कारण था। मूलप्रति तो राजगुरुने इटालियन प्रोफ़ेसर तूचीको दे दी थी, किन्तु खोजनेपर उसका फ़ोटो मिल गया। पत्रे इतने जीर्ण-शीर्ण थे, कि बहुतोंके पृष्ठांक गायब हो चुके थे। कई दिन भिड़नेके बाद हमें मालूम हुआ, कि पुस्तकमें दस पत्रे नहीं हैं। मैंने काठमांडो, पाटन और भातगाँवमें पुस्तकोंके देखनेकी बहुत कोशिश की, किन्तु कोई नई महत्वपूर्ण पुस्तक देखनेको नहीं मिली।

२१ नवंबरको हम विक्रमशिला-विहार (काठमांडू) देखने गए। यहाँकी मूर्ति असलमें बुद्धकी है, लेकिन उसे सिंहसार्थवाह बना दिया गया है। यदि ऊपर कपड़ा पहनाकर सार्थवाह बना दिया गया होता, तो भी बुरा न था, लेकिन यहाँ तो छेनी लेकर बुद्धके शरीरके चीवरको काट डाला गया था, तो भी बाएँ हाथसे चीवरका कोना अब भी लगा हुआ है। अपने ही धर्मवाले अपनी मूर्तिके साथ ऐसा व्यवहार कर सकते हैं, इसकी आशा नहीं की जा सकती थी। यहाँ भी कुछ संस्कृत पुस्तकें हैं, किन्तु उनका दर्शन श्रावणके महीनेमें मिल सकता है। एक कागजपर सोनेसे लिखी "अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता" भी है, जिसे नागार्जुनने स्वयं अपने हाथसे लिखा था और वह सामनेवाले सरोवरसे निकली। कागज सरोवरसे निकले! लेकिन, धर्म ऐसा कहता है, आप इनकार कैसे कर सकते हैं? १२वीं शताब्दीसे पहिले हिन्दुस्तानमें कागजका बिल्कुल रिवाज नहीं था, और नागार्जुन एक हजार ... पहिले पैदा हुए थे, फिर वह कागजपर कैसे लिखेंगे, यह प्रश्न करनेकी जरूरत

नहीं। नागार्जुन अमर हैं, आज भी जिन्दा हैं, और क्या ताज्जुब है यदि वह मोनोटाइप और रोटरी मशीनमें "अष्टसाहस्रिका"का छाप रहे हों। स्वयंभू स्तूपको भी देखने गये। यहाँ भी चारों कोनेकी पीतलकी चार बुद्धमूर्तियोंके चीवरोंको नष्ट करके उन्हें भूषण पहिनाया गया है।

अबकी यात्रामें दो-तीन राजवंशी पुरुषोंसे भी भेंट करनी पड़ी। मृगेन्द्र शमशेर राणावंशके प्रथम एम० ए० हैं, दर्बार पुस्तकालयके वही अध्यक्ष हैं। मुझे पुस्तकालयकी कुछ पोथियोंको देखना था, इसकेलिए उनके पास भी जाना पड़ा। कुछ और बातोंके साथ तिब्बतकी राजनीतिपर भी बात चल पड़ी। जब मैंने कहा कि नैपाली व्यापारियोंको साथमें अपनी स्त्री ले जानेकी इजाजत नहीं है, तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ।

२८ नवम्बरको दोपहरमें जनरल कैसर शमशेरके पास जाना पड़ा। वह बहुत सीधी-सादी पोशाकमें थे। इनको विद्याका भी शौक़ है। ५००से ऊपर हस्तलिखित पुस्तकोंका संग्रह है। उन्होंने मेरी "बुद्धचर्या"को पढ़ा था। पुस्तकपर हस्ताक्षर करनेकेलिए कहा, मैंने हस्ताक्षर कर दिया। मूर्तियों और चित्रोंके संग्रहसे मालूम होता था, कि उनको कलामें भी रुचि है। इन सबके साथ जनरल कैसर नैपाल-राजके विदेशमन्त्री भी थे। यह जरूरी नहीं कि एक ओर आदमी साहित्य, कला और कोमल विचारोंकेलिए प्राण दे रहा हो, और दूसरी ओर अपने आसपासमें धायँ-धायँ करके जलती नरककी लपटोंको देखकर उसे कोई पर्वाह न हो।

एक दिन (१ दिसम्बर) जनरल मोहन शमशेरके यहाँ भी जाना पड़ा। उनके यहाँ जानेकेलिए मेरा कोई प्रयोजन नहीं था, लेकिन उन्होंने धर्ममानसाहुसे कह रखा था—बौद्धसन्यासीके आनेपर मुझसे जरूर मिलाना। मैं आठ, नौ मिनट वहाँ रहा होऊँगा। मैं कोई दरबारी तो था नहीं, कि विरुदावली पढ़ने लगता; शायद उनको भी मुझमें किसी बातके जाननेकी इच्छा न थी। तो भी उनका बरताव शिष्टतापूर्ण था। बौद्धधर्म ईश्वरको नहीं मानता, यह सुनकर वे बहुत चकित हुए।

रातको ज्वर आ गया था, लेकिन अगले दिन (२ दिसम्बर)को हमने प्रस्थान कर ही दिया। हमारे साथ त्रिरत्नमानसाहु भी थे। थानकोटतक मोटरसे आये। सवारीकेलिए घोड़ा मिल गया था, इसलिए चन्द्रागढ़ीकी चढ़ाईमें कोई तकलीफ नहीं हुई। चित्लाङ् पहुँचते-पहुँचते जोरका बुखार आ गया। घोड़ा न लाये होते, तो बहुत मुश्किल होती।

मालूम हुई। ११ बजे चीसपानी पहुँचे। कुली अभी पीछे थे। एक बजे फिर ज्वर आरम्भ हुआ, इसलिए गेशेको साथ ले मैं भीमफेरी चल पड़ा, घंटेभरमें वहाँ पहुँच गया। धिरत्नमानसाहु और भरिया तीन बजे पहुँचे। पता लगा कि कस्टम-वालोंने "प्रमाणवार्तिक" और वार्तिकालंकारकी फ़ोटो कापियोंको रोक लिया। राजगुरुका घोड़ा यहाँसे लौट रहा था; मैंने फ़ोटोके बारेमें उन्हें चिट्ठी लिख दी।

साढ़े ३ बजे हमारी मोटर लारी चली। रास्तेमें चार जगह राहदानी और दो जगह बक्स देखनेवाले आये। शामके वक्त अमलेखगंज पहुँच गये, रातको खूब बुखार रहा, नींद नहीं आई, अन्न तो दो दिनसे छूट गया था।

अगले दिन सवा तीन बजेतक यहीं रहना पड़ा। अब बाज़ार पहिलेसे ज्यादा बढ़ गया है। हिन्दूहोटल भी खुल गये हैं। बुखार तो नहीं था, लेकिन कंठमें खराबसी हो रही थी। सवा तीन बजे रेल मिली। अँधेरा होनेसे पूर्व ही रक्सौल पहुँच गये। आठ बजे रातको सुगौलीकी गाड़ी मिली। भूकम्पके कारण जो रास्ते टूट गये थे, वह नौ महीने बाद करीब-क़रीब तैयार हो चुके थे। सुगौलीवाली लाइन तो अभी-अभी चार दिन पहिले खुली थी। यहाँसे मुज़फ़्फ़रपुरकी गाड़ी पकड़ी। चार बजे गंगा तट जानेवाली गाड़ी मिली। आठ बजे, गंगातटपर पहले जा घाट पहुँचे, फिर जहाज़से महेन्द्रू जा ११ बजे (५ दिसम्बर) जायसवालनिवासमें पहुँच गये।

१८

भारतके जाड़ोंमें

५ दिसंबर (१९३४ ई०) से २ अप्रेल (१९३५) तक चार महीने मुझे भारतमें रहना पड़ा। गलेकी खराबी और बुखार तो साथ ही लाया था, अब थूक घोंटनेमें भी असह्य पीड़ा होने लगी। वैद्यक और होमियोपैथीकी दवा होने लगी। होमियोपैथीको तो मैं साधुओंकी खाक-भभूत और ओझा-सोखाकी मयंगसे अधिक महत्त्व नहीं देता, लेकिन जायसवालजीका विश्वास था। मैंने कहा, इसका भी तजरबा कर लें। पीड़ा और बढ़ी, फिर डाक्टर हसनैनको बुलाया गया। हमारे वैद्य और होमियोपैथिक डाक्टर बिना रोग पहचाने ही दवा देते जा रहे थे। डाक्टर हसनैनने कहा कि यह टोनसिल है, चिरवानेसे ही अच्छा होगा।

दूसरे दिन उन्होंने आकर चीर दिया। मैं अस्पतालमें चला गया। दर्द उस रातको बहुत था, और ज्वर भी १०० डिगरीका। दूसरे दिन (८ दिसम्बर) उन्होंने फिर थोड़ा अस्त्र चलाया। अब दर्द बिल्कुल खतम हो गया। मुझे तो कोई शिकायत नहीं हो सकती थी, लेकिन मैं देखता था कि गरीब बीमारोंकी कोई पर्वाह नहीं करता। अगले दिन मैं अस्पतालसे चला आया। घूपनाथ भी आ गये। उनसे बड़ी देरतक बातचीत होती रही। घूपनाथका आग्रह था, कि नालन्दाकी भूमिके मूल्यकेलिए मुझसे ही रुपया लिया जाय। नालन्दाके बारेमें मैं अब कुछ ढीला पड़ने लगा था। १२ दिसम्बरको श्रीमती बोसी सेन आईं, उन्होंने "एसिया" (अमेरिकन) पत्रकेलिए तिब्बतकी चित्रकलापर एक लेख लिखनेकेलिए कहा। मैंने उसे स्वीकार किया।

१८ (दिसम्बर) तारीखतक अभी कुछ कमजोरी थी। अगले दिन आनन्दजी, जयचन्दजी, घूपनाथ और गेशेके साथ राजगिर गये। राजगिरमें अब आबादी बढ़ रही थी, तप्तकुंडमें नहानेकेलिए ज्यादा आदमी आने लगे थे। हम गृद्धकूट, मनियरमठ, सोनभंडार आदि पुराने स्थानोंको देखने गये। दूसरे दिन नालन्दा पहुँचे। भोट-ग्रंथोंमें नालन्दामें १४ महाविहारोंके होनेकी बात लिखी है, लेकिन अभी यहाँ ११ ही खोदे गये थे। उसी दिन हम पटना चले गये।

२३ दिसम्बरको जब मैं बनारस स्टेशनपर उतरा, तो साक्याके फुन्छोग् महलके दग्छेन् रिम्पोछेका पत्र मिला, वह शिकम पहुँच गये थे। मैं बड़ी कोशिशमें था कि उनकी कुछ प्रतिसेवा कर सकूँ, लेकिन वह जल्दी-जल्दी भी आये और लौट भी गये। सारनाथ होकर २५ तारीखको प्रयाग पहुँच गया। विनयपिटकका अनुवाद मैंने ल्हासामें किया था, और अब वह लॉ जरनल प्रेसमें कम्पोज हो रहा था। १०, ११ फ़ार्मका प्रूफ भी मिला। मैं डाक्टर बद्रीनाथप्रसादके यहाँ ठहरा। २४ दिन प्रयागमें ही रहना पड़ा, ज्यादातर काम था प्रूफ़ देखना। "वादन्याय"को भी लॉ जरनल प्रेसमें छापनेकेलिए दे दिया। गेशे एक हफ़्ता मेरे साथ रहे, फिर वह सारनाथ चले गये। मैंने अबकी तिब्बत-यात्राको भी लिख डाला। वह अभी प्रेसमें नहीं गई, हाँ "साम्यवाद ही क्यों" प्रेसमें चला गया।

१२ जनवरीको २८ साल बाद पुराने मित्र महादेवप्रसादजी (सादाबाद, हँडिया) मिले। कहाँ उस वक़्त १४, १५ बरसके नवतरुण और कहाँ अब ४२, ४३ बरसके अर्धवृद्ध—हमारे देशमें चिन्ताएँ ज्यादा है, इसलिए वर्षोंका बोझ बहुत भारी होता है। अब उनके चेहरेपर बुढ़ापेका असर था। तरुणाईने उन्हें भी एक बार कलकत्ता तक छलांग मारनेकेलिए मजबूर किया था, लेकिन फिर वे हिम्मत हारकर

बैठ गये। नून, तेल, लकड़ीकी फ़िकरने सारे जीवनको ले लिया। मैं छलाँगोंपर छलाँगें मारता रहा, और अब भी नई छलाँगोंकेलिए उतना ही उत्साह है। मरूँगा भी तो छलाँगें मारता ही।

जिस वक़्त मै तिब्बतकी चित्रकलाके ऊपर लेख लिख रहा था, उसी वक़्त भारतीय चित्रकलाके बारेमें भी कुछ विचार आये थे। मुझे विश्वास नहीं, कि मैं इस विषयपर क़लम उठाऊँ, किन्तु मैंने उस समय भारतीय चित्रकलाको सात कालोंमें विभक्त किया था—(१) मौर्य (३०० ई०पू०), (२) गन्धार कुषाण (१०० ई०) (३) गुप्त (५०० ई०), (४) अन्तिम हिन्दू (१००० ई०), (५) मुगल (१६०० ई०), (६) राजपूत (१७०० ई०), (७) आधुनिक (१६०० ई०)।

पहले दो कालोंके चित्रोंके मिलनेकी बहुत कम सम्भावना है, लेकिन उस वक़्तकी उत्कीर्ण मूर्तियोंसे हम कुछ-कुछ चित्रकलाका अनुमान कर सकते हैं। उस कालकी चित्रकलामें स्वाभाविकता ज्यादा रही होगी। तृतीय-चतुर्थ कालके चित्रोंमें स्वाभाविकता कम और कल्पना ज्यादा होती है। चित्र सुन्दर होते हैं, खास करके गुप्तकालीन चित्र तो अपनी कोमल रेखाओंकेलिए अद्वितीय हैं। त्रिभंगी आकृतियाँ बड़ी आकर्षक लगती हैं। पाँचवें कालमें ईरानी प्रभाव अधिक है। छठे कालकी चित्रकला मुगल चित्रकलाका भारतीकरण है। सातवें कालकी हमारी आधुनिक चित्रकला गुप्तकालीन चित्रकलासे अधिक प्रभावित है।

पं० अवध उपाध्याय एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। हमारे अभागे देशको बहुतसी प्रतिभाओंसे वंचित होना पड़ा है। हमारे देशमें अधिकतर लोग गरीब हैं। प्रतिभाएँ भी अधिकतर ग़रीबोंके घरों हीमें पैदा होती हैं। न उन्हें पढ़नेका मौका मिलता है, न आगे बढ़नेका। अवध उपाध्याय एक ऐसे ही प्रतिभाशाली पुरुष थे। गणितमें और उनका दिमाग़ बहुत चलता था। एक विषयमें असाधारण होनेपर यह कोई जरूरी नहीं है कि और विषयोंमें वैसी ही रुचि हो। अवध उपाध्याय किसी तरह मैट्रिक पास हो गये लेकिन आगे पढ़नेकेलिए उनके पास साधन नहीं थे। वह पुराने ही वातावरणमें पले थे, इसलिए ब्राह्मणोंके छुआछूत, जातपातकी सारी बीमारियाँ उनके सिरपर सवार थीं। कितने ही दूसरे भारतीयोंकी तरह उनको भी सनक थी कि हिन्दुस्तानकी सारी पुरानी बेवक़ूफ़ियाँ किसी वैज्ञानिक आधारपर स्थापित हैं—साढ़े तीन हज़ार वर्ष पुराने हमारे ऋषि ज्यादा ऊर्वर मस्तिष्क रखते थे, इसलिए गऊके खुरभरकी चोटी रखनी चाहिए; अंगुलभर मोटा जनेऊ भी गलेमें डालना चाहिए, माघ-पूसके जाड़ेमें कपड़ा उतारकर चूल्हेमें जाना चाहिए। स्त्रियों

समय जब श्रीचिन्तामणि शिक्षामन्त्री थे, तो उन्होंने अवधको छात्रवृत्ति दे विलायत भेजना चाहा, मगर वह म्लेच्छोंके देश जानेकेलिए क्यों राजी होते ? कलकत्ता विश्वविद्यालयके विधाता सर आशुतोष मुकर्जीको उनकी प्रतिभाका पता लगा। अवधजी कलकत्ता बुलाये गये; लेकिन, आशुतोष ज्यादा दिन जीवित नहीं रह सके। अवधजीने उच्च गणितके कुछ विषयोंपर लेख लिखे थे, जो युरोपकी प्रतिष्ठित अनुसन्धान-पत्रिकाओंमें छपे थे। उनकी सराहना भी हुई थी। कुछ दिनों वह फड़फड़ाये जरूर, लेकिन देखा, कुछ फल नहीं होता, फिर भाग्यपर सन्तोष करनेके सिवा और क्या करते ? अब वह किसी स्कूलमें मास्टरी कर रहे थे। मैं सोचने लगा—यह तो प्रतिभाको जिवह करना है। अभीतक मेरा उनसे साक्षात् परिचय नहीं हुआ था, लेकिन मैंने कोई भी शिष्टाचार दिखाये बिना सीधे तौरसे चिट्ठी लिखी—प्रतिभाको इस तरहसे बरबाद करनेसे मर जाना अच्छा है। १८ जनवरीको उनका पत्र आया, उन्होंने विदेश जानेकेलिए अपनेको तैयार कहा और साथ ही कुछ कठिनाइयाँ भी बतलाईं। १७ फर्वरीको वह प्रयाग आये। फिर हमारी खुलके बातें हुईं। अपनी लिखी पुस्तकोंसे सौ-डेढ़ सौ रुपये महीनेमें आ जाया करते थे। मैंने हिसाब लगाकर बतलाया, कि इतना रुपया काफी है। एक दूसरे मित्रके पास उन्हें और उत्साहित करानेकेलिए ले गया। लेकिन, मित्र इन कठिनाइयोंमें नहीं पले थे, और न उन्हे साहसी जीवनका कन्द ही मालूम था। उन्होंने अनुत्साहजनक बातें ही बतलाईं, खासकर युरोपीय विश्वविद्यालयोंमें डाक्टर-उपाधिकेलिए प्रवेश करनेकी कठिनाइयोंका भयकर चित्र खींच दिया। हम दोनों लौट आये। मैंने अवधजीसे कहा—इनकी बातोंको यहीं पल्ला झाड़कर चलिए; गणितमें मेरी भी किसी वक्त रुचि थी, मैं नहीं कह सकता कि यदि गणितको अपनाये होता, तो कहाँ पहुँचता। मैं यह नहीं बतला सकता, कि गणितके किन-किन विषयोंकी कहाँ-कहाँ अच्छी शिक्षा होती है, और कौन-कौन वहाँ श्रेष्ठ गणितज्ञ हैं। लेकिन मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, कि विश्वविद्यालयमें प्रवेश करनेमें जरा भी दिक्कत नहीं होगी। आपके लेख भी अनुसन्धान पत्रिकाओंमें छपे हैं। यदि आप प्रतिभाको मस्तिष्कके भीतर छिपाये ही वहाँ पहुँच जाते, तो भी आपकेलिए दरवाजे बन्द न होते। अवधजी दो-तीन दिन रहे। और उन्होंने कहा—"अब मैं कोई पर्वाह नहीं करता, मैं फांस जाऊँगा। वहाँ कुछ भी खाना-पीना पड़े, मैं उसकी पर्वाह नहीं करता"। उस वक्त भी उपाध्यायजीकी उमर ४५के पास थीं। मैं जानता था, उनके जीवनके बहुमूल्य २५ वर्षोंको हमारी आर्थिक-सामाजिक व्यवस्थाने चौपट कर डाला है। गधोंके लड़के गधे

टयूशन लगा-लगाकर आगे बढ़ाये जाते हैं, सिर्फ इसलिए कि वह धनी हैं और प्रतिभाएँ रास्तेमें धूल फाँकती फिरती हैं। जिस एक बातने मुझे आजके समाजका अधिक कट्टर दुश्मन बना दिया है, वह है प्रतिभाओंकी अवहेलना। प्रतिभाएँ सिर्फ शौककी चीजें नहीं हैं। यह राष्ट्रकी सबसे ठोस, सबसे बहुमूल्य पूँजी है। विज्ञानके एक-एक आविष्कारने दुनियाको समृद्ध बनानेकेलिए कैसे-कैसे साधन प्रदान किये हैं? जो वर्ष बीत गये, वह बीत गये, लेकिन अवधजीके हाथमें तो अभी और भी वर्ष थे—मुझे बहुत दुख हुआ कि उस संकल्पके बाद कुल ६ ही वर्ष वह और जी सके। वह फ्रांस गये। वहाँ डाक्टरकी उपाधि पाई। भारतके कालेजों और विश्वविद्यालयोंमें "सब धान बाईस पंसेरी" बहुत चलता है। किसी विश्वविद्यालयको उठा लीजिए, और एक-एक चेहरेपर एक-एक नजर डालिए। इसमें शक नहीं कि वहाँ टोप, नेकटाई, और कोट ज्यादा दिखलाई पड़ेगी, लेकिन उन टोपोंके नीचेकी पीली मज्जाको तौलिए, तब मालूम होगा कि हम क्या देख रहे हैं। सिर्फ खुशामदके जरोमे, सिर्फ बेटा-दामाद और चचा-भतीजा होनेके कारण वहाँ पचास फीसदी गधे, खच्चर, टट्टू भरे हुए हैं। और, जिनके हाथमें विश्वविद्यालयोंका सचालन है, उनमें तो और भी कम योग्य आदमी दिखाई पड़ते हैं: अवधजी जैसे योग्य आदमीकेलिए जब किसी कालेज या विश्वविद्यालयमें जानेकी बात आई, तो वही दिक्कतें आने लगीं। खैर, उनको लखनऊ यूनिवर्सिटीमें गणित-सम्बन्धी अनुसन्धानमें छात्रोंकी सहायता करनेका काम मिल गया। वह अपना सारा समय उसीमें लगाना चाहते थे। लेकिन मृत्युने उन्हें दो-तीन वर्ष भी काम नहीं करने दिया।

बनारस (२० जनवरी)में विश्वविद्यालयके छात्रोंके सामने व्याख्यान देने गया। मेरी बातें बूढ़ोंको जरूर कड़ी मालूम होती थीं—यद्यपि मेरे शरीरपर भिक्षुओंका पीला कपड़ा था, लेकिन मेरी बातोंमें धर्मके साथ कोई रू-रियायत नहीं होती थी।

पता लगा, भिक्षु उत्तम चाहते हैं, कि पाली-त्रिपिटक हिन्दी अक्षरोंमें छापा जाय। मैं त्रिपिटकमेंसे "बुद्धचर्या", "धम्मपद", "मज्झिमनिकाय"का अनुवाद कर चुका था। विनयपिटक अनुवाद भी प्रेसमें कम्पोज हो रहा था। मालूम नहीं, तबतक कोई प्रकाशक मिल गया था या नहीं, "झाड़ी गाड़कर बरत्तुँढ़ाई"की नीति मैंने कुछ-कुछ इधर अपना ली थी। लॉ जर्नल प्रेसवाले भी विश्वास करने लगे थे, कि झाड़ी गाड़नेमें सहायता देनेमें कोई हर्ज नहीं। हिन्दी पुस्तकोंके बारेमें मैं ऐसा कर सकता, लेकिन पाली त्रिपिटककेलिए मैं वैसा करना नहीं चाहता था।

२३ जनवरीको कलकत्ता गया, तो भिक्षु उत्तम मिले और तय हुआ कि खुद्दकनिकायके कुछ ग्रंथोंकी पहिली जिल्द निकाली जाय। इधर में जब प्रयागमें था, तो एक दिन पंडित ब्रजमोहन व्यासने कागजको दूर रखकर मुझे पढ़ते देखा। उनकी सलाह हुई, और कलकत्तासे हमने चश्मा मँगा ४२ वर्षकी उम्र (२७ जनवरी)से चश्मा लगाना शुरू किया। २८ जनवरीको गयामें था। श्री मोहनलाल महतोके यहाँ कुछ गप-शप होती रही। बोधगया, मन्दिरकी वही बुरी अवस्था थी। बुद्धकी मूर्त्तिके सिरमें त्रिफटाका चन्दन और गेरुआ कफ़नी पड़ी हुई थी।

यथार्थवादकी ओर मैं कितना बढ़ चुका था, यह २ फर्वरीकी डायरीमें लिखी इन पंक्तियोंसे मालूम होगा—"चीज़ोंका मूल्य वर्त्तमानमें है, और वह कितने मिनटोंतक रहता है ?" अतीतकी स्मृतियोंको भी मैं प्यारी वस्तु मानता था। मधुर सम्बन्धोंकी स्मृति दुनियामें सबसे मधुर वस्तु है।

२८ जनवरीसे २३ फ़र्वरीतक प्रयागमें ही अपने पुस्तकोंके काममें लगा रहा। उस वक़्त (३ फ़र्वरी) त्रिवेणी तटपर अमावस्याकी बड़ी भीड़ थी। मैं भी दो-एक मित्रोंके साथ रेतीमें घूमने गया था। यकायक गोरखपुरके एक वृद्धने पैर पकड़ लिया। पीले कपड़ोंमें हृष्ट-पुष्ट शरीरको देखकर उसने समझा होगा, कि यह कोई दिव्य पुरुष है। मैं कितना ही कहता रहा, लेकिन वह बिना कुछ खिलाये छोड़नेके-लिए तैयार नहीं था। उस वक़्त प्रूफ, फोटोसे वादन्यायका उतारना आदि-आदि इतने ज्यादा काम थे, कि कभी-कभी रातको पाँच-पाँच बजेतक जागना पड़ता था। २१ फर्वरीको मैं पहिला फ़िल्म ("चंडीदास") देखने गया, मुझे वह बिल्कुल बुरा लगा। इससे पहिले १९३०में सिर्फ एक अंग्रेजी फ़िल्म देखा था, लेकिन वह मूकचित्रपट था। छपरा (२४ फर्वरी) भी गया और सीवान (२५-२७) भी। छपरामें तो अपने पुराने दोस्तोंसे मिलना था और सीवानमें श्री प्रशान्तचन्द्र चौधरीसे। चौधरी तरुण आई० सी० एस० थे। ऐतिहासिक अनुसन्धानमें उन्हें बहुत प्रेम था। उन्होंने मेरेलिए तिब्बतमें केमरा भेजा था। गेशे भी आजकल उन्हींके यहाँ थे। उस वक़्त वह सीवानमें सबडिविजनल मजिस्ट्रेट थे। उनके न्याय और प्रजावत्सलता-की बहुतसी कहानियाँ मशहूर हो चुकी थीं। वह बहुत ज्यादा मुकदमोंको सुलह करवा देते थे। एक कहावत मशहूर थी—धोबी अपने गधेपर बहुत अधिक बोझ लादे हुए आ रहा था। गधा मजिस्ट्रेट साहेबके बँगलेके सामने आकर चिल्लाने लगा। मजिस्ट्रेट साहेब बाहर निकल आये। उन्होंने धोबीसे कहा—यदि इतना बोझ तुम्हारे ऊपर लादा जाय, तो बताओ तुम्हारी क्या गति होगी ?

यहाँ भी मैं अपने साथ प्रूफ लाया था, और जब चौधरी साहेब कचहरी जाते तो मैं प्रूफका काम करता रहता। धूपनाथ मेरे प्रिय थे, यह कैसे हो सकता था कि मैं कहीं आसपासमें होऊँ और वह न आवें। चौधरी साहेबके यहाँ चीनी रसोइया था। फिर भक्ष्याभक्ष्यका सवाल ही क्या हो सकता है? दुनियामें कौनसा भोजन है, जिसका तजर्बा चीनियोंने न किया हो? धूपनाथका भोजन मुसल्मान चपरासी अपने हाथसे लाया। उसने अपने ही जिन्सके एक हट्टे-कट्टे आदमीको मेजपर बैठे खाते देखा, वह बहुत चकित हुआ। मालूम नहीं, धूपनाथ घबराये कि नहीं। धूपनाथके साथ पहिला परिचय ६ साल पहिले हुआ था। उस वक़्त उनके ऊपर वैराग्य और वेदान्तका जबर्दस्त भूत सवार था। घरवाले बहुत परेशान थे। मैं भी साधू-फ़कीर था, और पास ही परसा स्थानका एक विद्वान साधू। त्यागकेलिए क्या कहना था, जब कि एक कालीकमलीकी अलफी और लँगोट भरसे वास्ता था। धूपनाथ दो-चार साधू-सन्यासियोंकी मार खाये हुए थे, उन्हें सन्तोष नहीं हुआ था। समझा होगा, इस कालीकमलीमें कोई गुन है, वह मेरे पास आये। पहिले मैंने उन्हें १९२६के कौंसिल एलेक्शनमें जोत दिया। उस साल कांग्रेसने पहिले-पहिल अपने आदमियोंको खड़ा किया था। इसके बाद जाड़ोंमें मैं जब कभी भी आता, धूपनाथ या तो मेरे पास आते या मैं सुल्तानगंज चला जाता। वह मेरी बातों और पुस्तकोंसे ईश्वर और वेदान्तके फन्देसे छूटे। लेकिन गुरु गुड़ ही रह गया चेला चीनी हो गया—मैं अभी धर्मकी बहुतसी बातोंसे दूर तो हो गया, बौद्धोंके निर्वाणको भी बेकारकी चीज समझता था, लेकिन बौद्धिकवादमें पूरा पैर डालनेमें एक बात बाधा डाल रही थी, वह थी पुनर्जन्मकी कल्पना। पुनर्जन्मपर मुझे विश्वास था, यह बात नहीं थी। लेकिन अभी मैं उसे साफ़ इनकार करनेकेलिए तैयार नहीं था। धूपनाथको पहिले ही रोशनी मिल गई, उन्होंने एक दिन कहा,—यह पुनर्जन्म भी केवल झूठी कल्पना है।

सीवानसे मैं और मैं दोनों कसया (कुशीनारा) गये। कसया बुद्धका निर्वाण-स्थान है। ३० वर्षके क़रीब हुए, जब कि महावीर भिक्षु और चन्द्रमणि महास्थविरने वहाँ धूनी रमाई। उससे पहिले वहाँ उस स्थानके महत्वका किसीको ख्याल भी नहीं था। अब वह एक प्रसिद्ध स्थान है और देश-विदेशसे हजारों आदमी आते हैं। हिन्दुओंके कुछ नेताओंको यह खब्त है, कि अगर बौद्धोंको भी हम अपने साथ जोड़ लें, तो दुनियाभरमें हमारी संख्या अधिक हो जायगी। लेकिन बल बढ़ानेका ख्याल भी उन्होंने कभी किया? हिंदुओंकी संख्या तो हिन्दुस्तानमें भी अधिक है, लेकिन एक तिहाई-को अछूत बनाके आदमी नहीं जानवरोंकी श्रेणीमें रख दिया गया है। आधी संख्या स्त्रियों

हैं, जो हिन्दुओंके घरोंमें सबसे अधिक बेबस और अधिकार-वंचिता हैं। हजारों जातियोंमें बिखरे, एक दूसरेको नीच समझनेवाले ये लोग समझते हैं, कि दुनियाके बौद्धोंको मिलाकर हम मजबूत बन जायेंगे। भगवान बचाये बौद्धोंको इन हिन्दुओं-के घरमकी छाया से। बल्कि भगवान भी मालूम होता है, बहुत दिनोंसे है ही नहीं, है नहीं तो न जाने ऐसे हिन्दूधर्मका बेड़ा कबका ग़र्क हो गया होता। और यह नेता बौद्धो-को अपने साथ लेना चाहते हैं, अपनी शर्तपर। बौद्ध ईश्वरको मानें और कहें कि बुद्ध ईश्वरको मानते थे, ईश्वरकी भक्ति करनेकेलिए उपदेश देते थे, या कमसे कम वह खुद ही ईश्वरके अवतार थे। चाहे सीलोन, बर्मा, तिब्बतके बौद्ध गाय-भैंस-याक-सुअर खाते हों, लेकिन अब उन्हें गोमाताके खुरको अपने सिरपर चढ़ाना चाहिए, आदि-आदि। सेठ जुगुलकिशोर विड़ला और बाबा राघवदास इसी तरहके हिन्दू नेता हैं। विड़लोंके पास रुपया है। सट्टेबाजीके दशांशको भी ऐसे कामोंमें लगा दे, तो भी वह पचीसियों धर्मशालाएँ बनवा सकते हैं। उस वक्त यहाँ विड़लाके पैसे और बाबा राघवदासके परिश्रमसे एक धर्मशाला बनने जा रही थी। शायद कुछ औंधी खोपड़ियोंका ख्याल है कि २५, ५० हजार खर्च करके अनीश्वर वादी जातपाँतविरोधी, भक्ष्याभक्ष्य-स्वतन्त्र बौद्धोंको हिन्दू बनाया जा सकता है, इसीलिए बाबा चन्द्रमणिकी धर्मशालाके साथ नहीं, उससे अलग एक धर्मशाला बनने जा रही है। अबकी बार देखा, चन्दा बाबापर काफ़ी बुढ़ापा आ गया है। अगले दिन (१ मार्च) हम गोरखपुर गये। गेशेको हिन्दुस्तानकी चीजें दिखलानी थीं। उन्हें हम गीता प्रेसमें भी ले गये। छापाखाना तो वह लॉ.जर्नल प्रेस जैसा देख आये थे। मैंने कहा, यह है चीनसे भी सस्ती अफ़ीमकी दूकान। यहाँ मनुष्यताके कलंक, हिन्दुओंके पाखंडोंको मजबूत करनेकेलिए काग़ज-स्याहीके रूपमें सस्तीसे सस्ती अफीम बेची जाती है। तारीफ़ यह है कि पुराने जुगमें राजाओंने भी अफ़ीम बेचनेकेलिए दूसरी जाति—ब्राह्मणको ठेका दिया था, लेकिन अब कलियुगमें धन है बनियोंके हाथमें, बनिये कपास खरीदनेसे देश-विदेशमें उसे ढोने, सूत कातने, कपड़ा बुनने फिर देश-विदेश पहुँचाने, बेंचने, काग़जके रूपमें बदलने आदि सभी कामों और सभी नफ़ोंको अपने ही हाथोंमें जैसे रखते हैं, उसी तरह अब वह धर्मका भी सारा धन्धा अपने हाथमें रखना चाहते हैं। मैंने गेशेसे कहा—तिब्बतके योगियोंके नामसे अगर तुम भी बड़े-बड़े चमत्कारोंको बतलाओ, तो उसे सच्चा बनाके छापकर ३० करोड़ हिन्दुओंमें पहुँचानेकी ज़िम्मेवारी यह दूकान लेनेको तैयार है।

हम लोग सीधे रातको नौतनवाँ पहुँच गये और फिर बैलगाड़ी लेकर लुम्बिनी

गये। अबकी बार लुम्बिनीकी भी कायापलट हुई थी। आसपासकी जमीन खुदाई हुई थी। पोखरीकी झाड़ियाँ खतम हो गईं, और पहिली यात्रामें जिन्हें चोर छिपनेका स्थान कहा जाता था, वह अब नहीं रहीं। अब ज्यादा खुलीसी जगह मा होती थी। लेकिन खुदाईका इन्तिजाम ऐसे आदमीसे कराया जा रहा था, जि उत्साह भले ही ज्यादा हो, किन्तु पुरातत्त्वके क-ख से भी उसे वास्ता नहीं। पत्थ चूना, मिट्टी सभी तरहकी मूर्तियोंको बेढंगी तौरसे टोकरियोंमें भरकर या जमीन ऐसे ही इकट्ठा रख दिया गया था। मूर्त्तियाँ घिस-घिसकर टूट रही थी। उन न जाने कितनी नेपाल-म्युजियममें भी न जा सकेंगी। इनमें एक शुंगकाल मिट्टीका खिलौना है, तो दूसरा कुषाणकालीन लालपत्थरका सिर है, एक ६, अंगुलकी अवलोकितेश्वरकी अति सुन्दर पत्थरकी मूर्ति है। एक मुद्रामें खड्गधा पुरुषपर ७ वीं ८ वीं शताब्दीके अक्षरोंमें "ये धर्मा.." अंकित है। कितने गुप्तकालीन मिट्टीके सुन्दर शिर हैं। मैंने डायरीमें लिखा था "मूर्तियोंका महत्व कुछ भी न मालूम होनेसे उतना ध्यान नहीं रखा गया, (जिससे) भयंकर भू (हानि) हो जानेका डर है।"

गुप्तकालके बादकी बहुत कम मूर्तियाँ हैं। खुदाईसे निकली मिट्टीको दो स्तूप और एक बड़े चबूतरेके रूपमें जमा किया गया है। अब यात्रियोंके ठहरनेकेलिए ए अच्छा साफ-सुथरा बँगला बन गया है। गेशेने सामने दिखाई देते हिमालयका एक चि बनाया।

दूसरे दिन (३ मार्च) ११ बजे चलकर ७ बजे शामको हम नौतनवाँ स्टेशनप पहुँच गए। यहाँसे हम बलरामपुर उतर सहेटमहेट (जेतवन, श्रावस्ती) गए। पुरान जगहोंको फिर देखा। कान्हभारी गाँवमें कितने ही पुराने कार्षापण (सिक्के) खरीदे और एक शुंगकालीन मिट्टीका खिलौना भी। ऐसी चीजें यहाँके लोगोंको अकसर मिल जाया करती हैं। बलरामपुर गोंडा होते हम लखनऊ पहुँचे। भदन्त बोधानन्द महास्थविर बड़े प्रेमसे मिले। यही पहिले बौद्धभिक्षु थे, जिनके साक्षात्कारका मौका मुझे मिला था। गेशेको लखनऊ-म्यूजियम दिखलाया। हड़प्पाके शिलालेखको देखकर उन्होंने कहा—यह तो तिब्बती अक्षर का मालूम होता है, लेकिन पढ़नेपर कुछ पल्ले नहीं पड़ता। मैंने कहा—हाँ, इसी अक्षरसे तिब्बतीलिपि बनी। ७ से ६ मार्च तक हम प्रयागमें प्रूफ देखते रहे। विनयपिटकके प्रकाशनको महाबोधि सभाने अपने जिम्मे ले लिया, इसलिए एक बड़ी चिन्ता दूर हो गई। ११ से २६ मार्च तक पटनामें रहे, काम वही प्रूफ देखनेका था, जिसमें भिक्षु जगदीश काश्यपने भी हाथ बँटाया।

अबकी साल मैंने गर्मियोंका प्रोग्राम जापानकेलिए बनाया था। दोस्तोंने ६,७ सौ रुपए हाथमें कर दिए थे, इसलिए सकुशल वहाँ पहुँच जानेमें सन्देह नहीं था। २७ को धूपनायकके साथ सुल्तानगंज गए और वहाँसे दूसरे दिन कलकत्ता।

श्रीक्षीरोदकुमार राय अब पटनासे कलकत्ता चले आए थे। राय साहब एक प्रतिभावान् पुरुष थे। अंग्रेज़ीपर उनका कमालका अधिकार था। पुरातत्त्व और इतिहासमें उनका बहुत अच्छा प्रवेश था। तरुणाईमें देशप्रेम और विवाह दो आफ़तें उन्होंने मोल ले ली थीं। अब घरमें बच्चे भी अधिक हो गए थे, इसलिए परिवारका बोझ बहुत बढ़ गया था। नौकरियोंकेलिए आजकल जात-पांत और प्रान्तीयताका जोर बहुत बढ़ा हुआ है। जायसवालजी योग्य पुरुषको देखकर उसे हर तरहकी मदद करना चाहते थे। क्षीरोद बाबू कितने ही सालों तक पटनामें रहे। हमलोगोंने अजंता, एलोरा, साँची, भिलसा, आदि कितने ही पुराने स्थानोंकी एक साथ यात्रा की थी। एक ओर मुझे क्षीरोद बाबूके ज्ञान और प्रतिभाको नजदीकसे देखनेका मौक़ा मिला था, और दूसरी ओर उनकी आर्थिक कठिनाइयोंको भी। जायसवालजीने पटना म्यूज़ियमके क्यूरेटरकेलिए कोशिश की, लेकिन झट बगाली, बिहारीका सवाल उठ खड़ा हुआ, और पटना म्युजियम एक बड़े ही योग्य व्यक्तिकी सेवाओंसे वंचित हो गया। अब क्षीरोद बाबू कलकत्ता चले आये थे, और किसी धनीके नामसे अपनी लेखनीको चलाकर गुज़ारा कर रहे थे। उनका स्वभाव कितना सरल और मधुर था। चिन्ताओंकी आग भीतर सुलगती रहती थी, लेकिन उसके धुएँको वह चेहरेपर आने देना नहीं चाहते थे। वह उस वक़्त मेरी पुस्तक ("तिब्बतमें सवा बरस")का अंग्रेज़ी अनुवाद एक अमेरिकन प्रकाशककेलिए कर रहे थे, मुझे क्या मालूम था कि अब उस मंदस्मित चेहरेको फिर नहीं देख सकूँगा। मेरे साथ पेनाङ् तक भिक्षु जगदीश काश्यप भी जाने वाले थे। पहिली अप्रेलको मैंने अमेरिकन एक्सप्रेस कम्पनीको रुपये देकर दो सौ नब्बे डालरके चेक लिये, जापानका बीज़ा भी करा लिया। रंगूनका टिकट १४, १४ रुपयेमें मिला। गेशेसे भी विदाई ली, उन्हें अब दार्जिलिंगमें रहना था।

१६

जापानमें (१९३५ ई०)

१—जापानकी ओर

२ अप्रैलको दो बजे "गंगासागर" जहाजसे कलकत्तासे रवाना हुए, अ
५को नौ, दस बजे रंगून पहुँचे। हम लोग डेक्के मुसाफ़िर थे। अंग्रेज जहाज
और रेल कंपनियाँ तीसरे दरजेके मुसाफिरोंकी कितनी पर्वाह करती
इसके कहनेकी जरूरत नहीं। डेकपर सैकड़ों मुसाफ़िर ठसमठस बैठे हुए थे। उनके
लिए सिर्फ एक नल्केका प्रबन्ध था। नहानेकी कोई कोठरी नहीं, पाखाना बहुत गन्द
था। डेक्के ऊपर कानवेसकी छत थी, जो अप्रैल-मईकी धूपको क्या रोकती
खानेका इन्तिजाम सबसे बुरा था, हिन्दुओंके खानेका तो कोई भी इन्तिजाम नहीं था
एक मुसलिम होटल था, किंतु हिन्दू अपनी बेवकूफ़ीके कारण उससे फ़ायदा नहीं उठ
सकते थे। भोजनकेलिए जब हम इधर-उधर तलाश करने लगे, तो मुसलिम
भोजनशालाका पता लगा। भात और मुर्गीका मांस तैयार था, इसलिए जहाँतक
मेरा सम्बन्ध था, मैं अपने इलाहाबादी मोमिन भाईको हज़ार-हज़ार दुआ देनेकेलिए
तैयार था। और हिन्दू मुसाफ़िरोंको इस वृक्षकी सुखद छायामें लाभ उठानेका अवसर
नहीं था। काश्यपजी भी आधा ही फ़ायदा उठा सकते थे, क्योंकि आनन्दजीकी तरह
वह भी घास-पातमें फँसे हुए थे। मैं उनसे कहता था—भलेमानुस! मुर्गीका मांस
खाओ, शरीरकी चर्बी कम होगी, बदन कुछ हलका होगा, मनमें कुछ फुर्ती आयेगी
लेकिन "सकल पदारथ एहि जग माँही। कर्महीन नर पावत नाहीं" उन्होंने
सिर्फ रोटी-तरकारी खाई। तरकारीमें और मांसमें भी कुछ मिर्च जरूर अधिक
पड़ी थी। दोनोंके भोजनपर सवा रुपया कोई बेशी नहीं था। जयपुरके पंडित हनु-
मानप्रसाद रंगूनमें वैद्यक करते थे। वह सपरिवार घरसे आ रहे थे। हम लोगोंके
पीले कपड़े और शिक्षा-दीक्षाको देखकर वह हमारी अच्छी खातिर करते थे। लेकिन
मुसलमान होटलमें मुर्गी और भातकी बात उन्हें जरूर खटकती थी। वह सवाल
करते थे—अहिंसाको मानते हुए मांस क्यों खाते हैं, क्या इससे आप हिंसाके भागी
नहीं होते। मैंने कहा—क्रिया होनेसे पहिले उसके करनेकी इच्छा यदि पुरुषमें हो,
तभी वह उस क्रियाका कर्ता हो सकता है। आप जानते हैं, बाजारमें बकरा मारने-

की क्रिया जिस वक़्त हो रही थी, उससे पहिले उस क्रियाके करनेकी मेरे मनमें कोई इच्छा नहीं थी, तो भला मैं उस क्रियाका कैसे कर्ता हुआ ? हम मांसको जिस रूपमें खाते हैं, वह तो चावल-दालकी तरह निर्जीव अवस्था है। हाँ, मैंने भोजनकी इच्छा प्रकट की, उसके बाद कोई छूरी लेकर मुर्गी जबह करने चले, तो उसका जिम्मेवार मैं अपनेको जरूर समझूँगा।

खानेकी समस्या तो हमने उसी दिन हल कर ली थी, अब नहाने और पाखानेकी बात रह गई थी। अपने बनारस जिलेके बुद्धू भगत जहाजमें मेहतरका काम करते थे। मैंने उनसे भाई-चारा स्थापित किया, और उसमें मातृभाषाने बहुत मदद की। सिर्फ पैसा दे देनेसे बुद्धू उतने प्रेमसे नहीं काम करते। एक कोई कोठरी थी, जिसमें वह बाल्टीभर पानी भरके रख देते थे और हम मजेसे साबुन लगाकर स्नान कर लेते थे। भंगीके हाथके पानीसे स्नान करनेपर पड़ोसी, साथी आपसमें क्या बात करते थे, इसकेलिए हमारे कान बहरे थे।

हमारा जहाज पहिले दिन गंगा हीमें २ बजे एक जगह खड़ा हो गया, मालूम हुआ कि धारामें पानी कम रह गया है। तीन घंटे बाद वह फिर चला। शामसे पहिले ही हम समुद्रमें पहुँच गये। समुद्र खूब शान्त था। बादल था किन्तु वर्षा नहीं हुई, यही खैरियत थी, नहीं तो डेकके मुसाफिरोंकी न जाने क्या गति हुई होती। हमारे जहाजमें अधिकांश क्या प्रायः सभी भारतीय थे। युक्तप्रान्त, बिहार, नेपाल, पंजाब, गुजरात, सिन्ध और बंगाल सभी जगहके आदमी थे। पंजाबियोंकी संख्या काफी थी।

५ तारीखको अँधेरा रहते ही "गंगासागर" रंगूनकी खाड़ीमें जाकर रुक गया। फिर ६ बजे सबेरे बन्दरकी ओर चला। ७ बजे तटपर लगा। एक गुजराती मित्रने सहायता की, और हमारा पास भी सेकेन्ड क्लासवालोंके साथ बन गया। रंगूनकी हिन्दीगोष्ठी ने जब सुना, कि मैं जापान जानेवाला हूँ, तो अपने वार्षिक अधिवेशनका सभापति होने के लिए मुझे लिखा, मैंने भी स्वीकार कर लिया था। श्रीधर्मचन्द्र खेमका आए हुए थे। कस्टम आदिमें कोई दिक़्क़त नहीं हुई और हम मोटरसे लक्ष्मीनारायण धर्मशालामें पहुँच गये। शामको मोटरसे शहर भी देख आये। रंगूनकी ४ लाखकी बस्तीमें १ लाख हिन्दुस्तानी और ५० हजार चीनी हैं, इसलिए हर चार आदमीमें १ भारतीय दिखाई देना स्वाभाविक बात थी। राजसरोवर देखा और स्वेदंगङ् स्तूप भी। यह सुनहला स्तूप बहुत ही भव्य है, लेकिन सफ़ाई उतनी नहीं। फूल और धूपबत्तीकी दूकानें बहुत हैं।

कबूतरोंके सामने लोग अनाज फेंकते हैं। दो-चार और जगहोंमें जाकर हम अ स्थानपर लौट आये।

गोष्ठीका उत्सव १० अप्रैलको होनेवाला था और पेनाङ्का जहाज ११ जा रहा था। हमने इन ५, ६ दिनोंको बर्मा देखनेमें लगानेका निश्चय किया ६ अप्रैलको सवा दो बजे दिनको मांदलेकी गाड़ी पकड़ी। बर्मामें रेलयात्राका अप एक बिल्कुल स्वतन्त्र नियम है। बैठनेकी बेंचके एक छोरपर एक आदमीकेलि बैठनेकी जगह रखकर सारे डिब्बेमें आने-जानेका रास्ता कटा होता है। बेंच बड़े भागमें तीन आदमी बैठ सकते हैं, किन्तु जिसने पहिले जाकर अपन बिस्तरा बिछा दिया, उसको ब्रह्मा भी नहीं उठा सकता। बाकी आदमी या तो खड़े रहें। हम दोनोंको भी दो बेंचें दखल करनेका मौका मिल गया था, इसलि हम यात्राभरकेलिए निश्चिन्त थे। रेलकी लाइनसे दूर-दूर पहाड़ दिखाई पड़ थे। स्तूपोंकी तो भरमार थी, कोई बस्ती नहीं थी, जहाँ एक स्तूप न हो। भिक्षुओं विहार भी जगह-जगह थे, किसी-किसी जगह लंकाके अभयगिरिकी भाँति कहि पर्वताकार स्तूप बने थे। दूर वृक्षोंके भीतर एक अतिविशाल बुद्धमूर्ति दिखाई दी भूमि बहुत उपजाऊ मालूम होती थी और खेत ज्यादातर धानके थे। फलोंमें आम केले बहुत ज्यादा और नारियल कम थे। बर्मी लोग बहुत बेफ़िकर होते हैं। जीवनके आनन्दको वह वर्त्तमानमें मानते हैं, भविष्यकी उतनी चिन्ता नहीं करते। गाना बजाना, नाचना-खेलना उन्हें बहुत पसन्द आता है। अगर कोई गाँवमें नाटक आय हो, तो घरभरके लोग चटाई लेके वहाँ पहुँच जायेंगे, चाहे घर लुट ही क्यों न जाय। झुटपुटा हो रहा था, जब कि हमारी ट्रेन एक बस्तीसे पार हुई। देखा, कोई नाटक अभी भी खतम नहीं हुआ है।

अगले दिन (७ अप्रैल) ६ बजे हम मांदले स्टेशनपर पहुँचे। और कोई परिचित स्थान था नहीं, इसलिए हम लोग सीधे आर्यसमाजमें गये। बिना कुंडी-तालेकी कोठरीमें बिस्तरा फेंका, और शहर देखनेकेलिए निकल पड़े। एक विहारमें गये। एक वृद्ध भिक्षुसे हम कुछ बात करना चाहते थे, किन्तु उसने हाथ हिला करके हमें दूर हटा दिया। बर्मामें जितनी बड़ी संख्या भिक्षुओंकी है, उससे बौद्धधर्मको बदनाम ही होना पड़ रहा है। अधिकांश भिक्षु तिब्बतके भिक्षुओंसे कुछ ही बेहतर अवस्थामें हैं। छुरा चलाना, खून करना बात-बातमें लड़ पड़ना, सिनेमा और खेलोंकी जगहोंमें जाकर हुड़दंग करना—यह ऐसी बातें नहीं हैं, जिनसे शिक्षित लोगोंकी उनके प्रति श्रद्धा हो। हमने सवारीकेलिए तीन रुपयेपर घोड़ागाड़ी की। १२ मील जानेपर

बर्माकी पुरानी राजधानी—मांदलेसे पहिलेकी राजधानी—अमरपुरके ध्वंसावशेष दिखाई पड़े। हजारों स्तूप गिर-भड़ रहे थे। पुराने मन्दिरों और स्तूपोंकी मरम्मत करनेकी जगह हर आदमी नये स्तूप नये मन्दिर बनाना चाहता है। शायद इसीलिए कि यह उसकी स्वतन्त्र कीर्त्ति होगी। लेकिन देख तो रहे हैं, डेढ़ ही दो सौ वर्षोंमें पहिलेवालोंकी कीर्त्तियाँ धूलमें मिल रही हैं। आदमी इतना बेवक़ूफ़ क्यों बनता है? अपनेको इतना धोखा क्यों देता है? और आगे जानेपर नदी (इरावदी) के तटपर और भी पहिलेकी राजधानी आवाके ध्वंसावशेष थे। हम नये पुलसे नदी पार हुए। इरावदी काफ़ी चौड़ी है।

सगाईं अच्छा बाजार है। बहुतसी दूकानें हैं। १० बजेसे कुछ पहिले ही हम वहाँ पहुँचे थे, और तुरन्त १ रुपयेपर दूसरी घोड़ागाड़ी करके हम सगाईं पहाड़के विहारोंको देखनेकेलिए चल पड़े। इसकेलिए २ मील और चलना तथा पर्वतपर जरा चढ़ना पड़ा। चारों ओर भिक्षुओंके छोटे-बड़े आवास थे। हमारा गाड़ीवाला मनीपुरका ब्राह्मण था। उसके कण्ठमें तुलसीकी माला थी, लेकिन चेहरा बिल्कुल बर्मी लोगों जैसा। हो सकता है, किसी वक़्त विश्वामित्र और शृंगी ऋषि-की कोई सन्तान मनीपुर आई हो, अप्सराओंने उसका ध्यान भंग किया हो और वह अपनी सन्तान वहाँ रखकर चला गया हो। आदमी बहुत अच्छा था। उसने ले जाकर विहारोंको दिखाया। एक जगह एक कुतियाने चुपकेसे आकर उस तरुणको काट खाया। यहाँके भिक्षु बिल्कुल रूखे अधिकांश अशिक्षित और अभद्र थे। सुनते हैं, इस पर्वतमें बड़े-बड़े ध्यानी महात्मा रहते हैं, लेकिन ध्यानी महात्माओंके दर्शनकी साध मेरी न जाने कबकी बुझ गई थी। लौटकर सगाईं आये, एक चेट्टी (मदरासी) भिक्षुका पता लगा। भिक्षु तो नहीं मिले, लेकिन उनके भाई-बन्द मौजूद थे। उन्होंने हमें मध्याह्नभोजन कराया। २ बजेतक हम मांदले लौट आये। फिर क़िला में गये, राजा और रानियोंके प्रासादोंको देखा। इमारतें ज्यादातर लकड़ीकी हैं।

सवा चार बजेकी गाड़ीसे फिर हम रंगूनकेलिए रवाना हुए। अबकी गाड़ीमें हमें मुश्किलसे बैठनेकी जगह मिली थी। अगले दिन (८ अप्रैल) ८ बजे सवेरे हम रंगून पहुँच गये। मेरी बहुतसी चिट्ठियाँ आई थीं, कितनी ही पुस्तकोंके प्रूफ़ आये थे, जिन्हें यहाँसे देखकर लौटाना था। २ बजे राततक प्रूफ़, चिट्ठी-लिखनेका काम करता रहा। अगले दो दिन भी लोग मिलनेकेलिए आते रहे, और मुझे जो समय मिल जाता था, उसमें प्रूफ़ देखता था। बर्मा और हिन्दुस्तान पहिले एक थे। अंग्रेज़ोंने समझा, हिन्दुस्तानके साथ रहनेसे बर्मी भी राजनीतिक आन्दोलनमें पड़ जाते हैं।

कबूतरोंके सामने लोग अनाज फेंकते हैं। दो-चार और जगहोंमें जाकर हम अपने स्थानपर लौट आये।

गोष्ठीका उत्सव १० अप्रैलको होनेवाला था और पेनाङ्का जहाज ११को जा रहा था। हमने इन ५, ६ दिनोंको वर्मा देखनेमें लगानेका निश्चय किया। ६ अप्रैलको सवा दो बजे दिनको मांदलेकी गाड़ी पकड़ी। वर्मामें रेलयात्राका अपना एक बिलकुल स्वतन्त्र नियम है। बैठनेकी बेंचके एक छोरपर एक आदमीकेलिए बैठनेकी जगह रखकर सारे डिब्बेमें आने-जानेका रास्ता कटा होता है। बेंचके बड़े भागमें तीन आदमी बैठ सकते हैं, किन्तु जिसने पहिले जाकर अपना बिस्तरा बिछा दिया, उसको ब्रह्मा भी नहीं उठा सकता। बाकी आदमी भाड़में तो खड़े रहें। हम दोनोंको भी दो बेंचे दखल करनेका मौका मिल गया था, इसलिए हम यात्राभरकेलिए निश्चिन्त थे। रेलकी लाइनसे दूर-दूर पहाड़ दिखाई पड़ते थे। स्तूपोंकी तो भरमार थी, कोई बस्ती नहीं थी, जहाँ एक स्तूप न हो। भिक्षुओंके विहार भी जगह-जगह थे, किसी-किसी जगह लंकाके अभयगिरिकी भाँति कृत्रिम पर्वताकार स्तूप बने थे। दूर वृक्षोंके भीतर एक अतिविशाल बुद्धमूर्ति दिखाई दी। भूमि बहुत उपजाऊ मालूम होती थी और खेत ज्यादातर धानके थे। फलोंमें आम, केले बहुत ज्यादा और नारियल कम थे। वर्मी लोग बहुत बेफ़िकर होते हैं। जीवनके आनन्दको वह वर्तमानमें मानते हैं, भविष्यकी उतनी चिन्ता नहीं करते। गाना-बजाना, नाचना-खेलना उन्हें बहुत पसन्द आता है। अगर कोई गाँवमें नाटक आया हो, तो घरभरके लोग चटाई लेके वहाँ पहुँच जायेंगे, चाहे घर लुट ही क्यों न जाय। झुटपुटा हो रहा था, जब कि हमारी ट्रेन एक बस्तीसे पार हुई। देखा, कोई नाटक अभी भी खतम नहीं हुआ है।

अगले दिन (७ अप्रैल) ६ बजे हम मांदले स्टेशनपर पहुँचे। और कोई परिचित स्थान था नहीं, इसलिए हम लोग सीधे आर्यसमाजमें गये। बिना कुंडी-ताालेकी कोठरीमें बिस्तरा फेंका, और शहर देखनेकेलिए निकल पड़े। एक विहारमें गये। एक वृद्ध भिक्षुसे हम कुछ बात करना चाहते थे, किन्तु उसने हाथ हिला करके हमें दूर हटा दिया। वर्मामें जितनी बड़ी संख्या भिक्षुओंकी है, उससे बौद्धधर्मको बदनाम ही होना पड़ रहा है। अधिकांश भिक्षु निम्बतके भिक्षुओंसे कुछ ही बेहतर अवस्थामें हैं। छुरा चलाना, खून करना बात-बातमें लड़ पड़ना, सिनेमा और खेलोंकी जगहोंमें जाकर हुड़दंग करना—यह ऐसी बातें नहीं हैं, जिनसे शिक्षित लोगोंकी उनके प्रति श्रद्धा हो। हमने गधाईकेलिए तीन रुपयेपर घोड़ागाड़ी की। १२ मील जानेपर

बर्माकी पुरानी राजधानी—मांदलेसे पहिलेकी राजधानी—अमरपुरके ध्वंसावशेष दिखाई पड़े। हज़ारों स्तूप गिर-पड़ रहे थे। पुराने मन्दिरों और स्तूपोंकी मरम्मत करनेकी जगह हर आदमी नये स्तूप नये मन्दिर बनाना चाहता है। शायद इसीलिए कि यह उसकी स्वतन्त्र कीर्त्ति होगी। लेकिन देख तो रहे हैं, डेढ़ ही दो सौ वर्षोंमें पहिलेवालोंकी कीर्त्तियाँ धूलमें मिल रही हैं। आदमी इतना बेवकूफ क्यों बनता है? अपनेको इतना धोखा क्यों देता है? और आगे जानेपर नदी (इरावदी) के तटपर और भी पहिलेकी राजधानी आवाके ध्वंसावशेष थे। हम नये पुलसे नदी पार हुए। इरावदी काफ़ी चौड़ी है।

सगाईं अच्छा बाजार है। बहुतसी दूकानें हैं। १० बजेसे कुछ पहिले ही हम वहाँ पहुँचे थे, और तुरन्त १ रुपयेपर दूसरी घोड़ागाड़ी करके हम सगाईं पहाड़के विहारोंको देखनेकेलिए चल पड़े। इसकेलिए २ मील और चलना तथा पर्वतपर ज़रा चढ़ना पड़ा। चारों ओर भिक्षुओंके छोटे-बड़े आवास थे। हमारा गाड़ीवाला मनीपुरका ब्राह्मण था। उसके कण्ठमें तुलसीकी माला थी, लेकिन चेहरा बिल्कुल बर्मी लोगों जैसा। हो सकता है, किसी वक़्त विश्वामित्र और शृंगी ऋषि-की कोई सन्तान मनीपुर आई हो, अप्सराओंने उसका ध्यान भंग किया हो और वह अपनी सन्तान वहाँ रखकर चला गया हो। आदमी बहुत अच्छा था। उसने ले जाकर विहारोंको दिखाया। एक जगह एक कुतियाने चुपकेसे आकर उस तरुणको काट खाया। यहाँके भिक्षु बिल्कुल रूखे अधिकांश अशिक्षित और अभद्र थे। सुनते हैं, इस पर्वतमें बड़े-बड़े ध्यानी महात्मा रहते हैं, लेकिन ध्यानी महात्माओंके दर्शनकी साध मेरी न जाने कबकी बुझ गई थी। लौटकर सगाईं आये, एक चेट्टी (मदरासी) भिक्षुका पता लगा। भिक्षु तो नहीं मिले, लेकिन उनके भाई-बन्द मौजूद थे। उन्होंने हमें मध्याह्नभोजन कराया। २ बजेतक हम मांदले लौट आये। फिर किला में गये, राजा और रानियोंके प्रासादोंको देखा। इमारतें ज्यादातर लकड़ीकी हैं।

सवा चार बजेकी गाड़ीसे फिर हम रंगूनकेलिए रवाना हुए। अबकी गाड़ीमें हमें मुश्किलसे बैठनेकी जगह मिली थी। अगले दिन (८ अप्रैल) ८ बजे सबेरे हम रंगून पहुँच गये। मेरी बहुतसी चिट्ठियाँ आई थीं, कितनी ही पुस्तकोंके प्रूफ आये थे, जिन्हें यहाँसे देखकर लौटाना था। २ बजे राततक प्रूफ, चिट्ठी लिखनेका काम करता रहा। अगले दो दिन भी लोग मिलनेकेलिए आते रहे, और मुझे जो समय मिल जाता था, उसमें प्रूफ देखता था। बर्मा और हिन्दुस्तान पहिले एक थे। अंग्रेज़ोंने समझा, हिन्दुस्तानके साथ रहनेसे बर्मी भी राजनीतिक आन्दोलनमें पड़ जाते हैं।

इसलिए वर्माको उन्होंने अलग कर दिया। मिट्टीके तेल, जहाज, रेल, चावल और सागौनकी बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ अंग्रेजोंके हाथमें हैं। उसके बाद बड़े व्यापारी हैं, हिन्दुस्तानी उनमें भी सबसे ज्यादा अधिक मारवाड़ी, चेट्टी और गुजराती। कुली, यू० पी० और बिहारवाले। बल्कि यू० पी० तो, किसानीका काम करनेकेलिए है, बिहारवालोंको, चाहे वह बाबू ही क्यों न हो, दरवान कहा जाता है, जिस तरह बम्बई और सिन्धमें भैया कहा जाता है। रंगूनके एक हिन्दी दैनिकपत्र (वर्मा समाचारपत्र)के सम्पादक, जो कि आजमगढ़ जिलेके ही रहनेवाले थे, मेरे पास बैठे हुए थे। धर्मशालेवाले चौकीदारने पुकारा— "ए दरवानजी, ए दरवानजी।" मैंने पाटेश्वरी बाबूको उठकर जाते देखा। फिर मैंने उनसे पूछा—यह किसको दरवानजी कह रहा था। उन्होंने बतलाया, यदि हथुआ और बलरामपुरके महाराजा भी यहाँ आ जायँ; राजेन्द्रप्रसाद और जवाहरलाल नेहरू भी यहाँ आ जायँ, तो वह दरवान ही कहलायेंगे। मुझे मन ही मन एक तरह खुशी भी हुई, चलने दो "सब धान बाईस पसेरी।" और दरवान कोई कामचोर थोड़े ही होता है, वह पसीनेकी कमाई खाता है। बर्मा और हिन्दुस्तान पड़ोसी हैं। बर्माने हिन्दुस्तानके धर्म (बौद्ध) को अपनाया है, और उसके बड़े-बड़े तीर्थ हिन्दुस्तानमें हैं, लेकिन हिन्दुस्तानियोंको वह भी "काला" कहते हैं; मालूम नहीं इस शब्द में गोरों जैसी घृणा है या नहीं। लेकिन घृणाके दूसरे कारण मौजूद हैं। मारवाड़ी, चेट्टी और गुजराती व्यापारियोंके सामने बर्मी व्यापारियोंको परास्त होना पड़ता है, इसलिए काला आदमी बहुत खराब है। रेलवे और दूसरी नौकरियोंमें हिन्दुस्तानी सस्तेसे सस्ते दाममें काम करनेको तैयार हैं, बर्मी शिक्षितोंको नौकरी नहीं मिलती, इसलिए काला आदमी खराब है। हिन्दुस्तानी कुली आधा पेट खाके आधी तनख्वाह लेके काम करनेकेलिए तैयार है, बर्मी मजदूरकेलिए काम मिलना मुश्किल होता है, इसलिए काला आदमी खराब है। इससे कौन इनकार कर सकता है, कि बर्मा बर्मियोंका है, और वहाँ किसी भी आदमीको उनकी मर्जीके खिलाफ रहनेका अधिकार नहीं होना चाहिए। अंग्रेजोंने यहाँ हिन्दुस्तानियोंको जाने दिया। हिन्दुस्तानियोंकी पन्द्रह-पन्द्रह लाख संख्याको जीवनके हर रास्तेमें मुकाबिला करते हुए देख बर्मियोंके मनमें वैमनस्य होना स्वाभाविक है। इस वैमनस्यको अंग्रेज अपने फायदेकेलिए इस्तेमाल करते हैं। हमारे देशको इससे क्या फायदा है, कि हमारे दस, बीस लाख आदमी किसी दूसरे छोटेसे देशमें जाकर वहाँके जीवनको छिन्न-भिन्न करें। हमारा दुख-दरिद्र अपने देशको आजाद करनेसे छूट सकता है। इन थोड़ेसे आदमियोंके स्वार्थके-

लिए अपने किसी पड़ोसीसे दुश्मनी मोल लेना हमारे लिए फ़ायदेकी चीज़ नहीं है। फिर हिन्दुस्तानियोंका भी आपसमें वैमनस्य है। हिन्दुस्तानी व्यापारी भी अपने कमेरोंको दरवान कहकर उन्हें घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। हमारे दरवान भी इन जोंकोंको अच्छी निगाहसे नहीं देखते। वर्माकी स्त्रियाँ सारे एसियामें (सोवियत्को छोड़कर) सबसे अधिक स्वतन्त्र हैं—आर्थिक तौरसे भी और सामाजिक तौरसे भी। हिन्दुस्तानी उन्हें प्रेममें फाँसते हैं; लेकिन वेश्या और दासीकी तरह रखना चाहते हैं, अपने बच्चोंको भी बेगानाकी तरह मानते हैं। वर्मी समझते हैं, कि हिन्दू हमको नीच समझते हैं। हिन्दुस्तानी मुसलमान इस बातमें ज्यादा उदार हैं, लेकिन वह अपने बच्चोंको वर्मी न बना उनपर अपनी संस्कृति और अपना धर्म लादते हैं। वर्मी समझते हैं मुसलमान हमारी जातिको कमजोर करते हैं। यह भी वैमनस्यकी भारी जड़ है और हालमें कितने ही खूनी झगड़े इसीलिए हुए हैं। सारी समस्याओं-का हल यही है, कि वर्मा वर्मियोंका हो, हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियोंका हो, खून चूसने-वाली देसी-विदेशी जोंकें तबाह हो जायें।

१० अप्रैलको सोनी-हालमें गोष्ठीका वार्षिकोत्सव हुआ। ७ बजेसे शुरू होकर सवा दो घंटेमें काम खतम हो गया। मैंने अपना भाषण पढ़ा। काश्यपजी भी बोले। कुछ और लोगोंने व्याख्यान दिया।

११ अप्रैलको ९ बजे मैं बन्दरपर पहुँचा। "खंडाला" जहाज कुछ दूरपर खड़ा था। डाक्टरोंने डेकके यात्रियोंकी बड़ी सावधानीसे परीक्षा की। उनके कपड़े भापमें दे दिये गये। टीका न लगाये आदमियोंको टीका लगाया गया। जा तो रहे थे हम डेक ही से, लेकिन कपड़ा साफ़-सुथरा रहनेसे हम बच गये। छोटे अगिनबोटसे हम जहाजपर पहुँचे। पानीके नलके पास जगह मिली। अब ४ दिनतक इसी जहाज-में रहना था। दूसरे दिन (१२ अप्रैलको) खूब ज्वर आया। शामको भी थोड़ा ज्वर रहा। मैं सिर्फ़ पानी पीता रहा। जहाजमें अधिकांश पंजाबी मुसलमान थे, उनके बाद पंजाबी सिख। कपड़ोंके मैलेपनकेलिए कुछ मत पूछिए, लेकिन मैं तो तिब्बतमें रह चुका था। तीसरे दिन (१३ अप्रैल) काश्यपजीने भी ज्वरका आवाहन किया। आधीरातको बूँदें भी पड़ने लगीं। हम कुछ भीगते और कुछ कम्बलके भीतर दुबके रहे। काश्यपजीको भारी ज्वर था। इस जहाजमें हमारी बड़ी गत बनी।

पेनाङ्में—७ बजे (१४ अप्रैल) जहाज पेनाङ्की खाड़ीमें पहुँचा। हम पाँतीसे खड़े हुए। डाक्टरने सबको कोरेनटीनमें भेजनेका हुक्म दिया। हमारे सहयात्रियोंके

कपड़े-लत्ते और रहन-सहन जितनी गन्दी थी, उसकेलिए यह जरूरी था। पता लगा, अब ढाई दिन कोरेनटीनमें रहना होगा। कोरेनटीनका टापू ६ मील हटकर था। नावोंपर लादकर हमें वहाँ पहुँचाया गया। नावसे उतरकर पातीमें बैठे। हमारे कपड़ोंको भापमें दे दिया गया। फिर सबको टीका लगाया गया। अन्तमें दवा मिले पानीसे नहलाया गया। अब ११ बज गया। टीनके खुले ओसारे थे। हमें वहाँ ले जाकर रख दिया गया। धूप खूब थी ही, और सिरपर टीनकी छत तप रही थी। बहुत गरमी मालूम होती थी। आसपासके पहाड़ बहुत हरे-भरे थे। लेकिन हम तो एक दूसरी बलामें फँस गये थे। सेकेंड क्लासमें न आकर हमने गलती की थी। सिपाही पंजाबी सिख थे। हमने किसी भारतीय सज्जनको ज्ञानो-दय एसोसिएशनको फ़ोन कर देनेकेलिए कहा था, लेकिन उसके पहुँचनेकी हमें ज्यादा आशा न थी। हम क़िस्मतपर हाथ रखकर बैठे थे। मैंने ५० घंटेसे खाना छोड़ रखा था। ज्वरकेलिए यह मुझे कितनी ही बार अच्छी चिकित्सा साबित हुई है। १२ बजेके कुछ बाद पेनाङ्के बौद्धसज्जन मोटरनाव लेकर पहुँचे गये। हमने उन्हें लिखा नहीं था, कि हम डेकमें आ रहे हैं; इसलिये वह सेकेंड क्लासकी प्रतीक्षा कर रहे थे। खैर, सही-सलामत हमने उस कैदखानेसे छुट्टी पाई और बुद्धिस्ट एसोसियेशनके भव्य मन्दिरमें पहुँच गये। छप्पन घंटे बाद थोड़ासा दूध लेकर उपवासको तोड़ा। अब चार दिन मुझे यहीं रहना था, काश्यपजी तो महीनोंकेलिए यहाँ आये हुए थे।

बुद्धिस्ट एसोसियेशन बहुत धनी संस्था है। मन्दिर अत्यन्त स्वच्छ, देखकर ही तबियत खुश हो गई है। बुद्ध, आनन्द, काश्यप, अमिताभ आदिकी संगमरमरकी मूर्त्तियाँ इटलीसे बनवाकर मँगवाई गई थीं। फर्श रंग बिरंगे अनेक चीनी मिट्टीकी ईंटोंसे ढँका था। द्वार और द्वारदीपकोंके सजानेमें बहुत सुरुचिका परिचय दिया गया था। मन्दिरके पीछे एक ओर कार्यालय और दूसरी ओर व्याख्यानशाला थी। भिक्षुओंके रहनेकेलिए स्वच्छ कमरे थे।

१६ अप्रैलको मैं इस योग्य हो सका, कि पेनाङ्की दर्शनीय जगहोंको देखूँ। ३ बजे काश्यपको १०३ डिग्री ज्वर था। ४ बजे शामको मोटरपर घूमनेकेलिए निकले। पेनाङ् एक छोटासा पहाड़ी द्वीप है। प्रकृतिने दिल खोलकर इसे हरियाली न्योछावर की है। चारों ओर नारियल और रबरके वृक्ष दिखाई पड़ते हैं। रास्तेमें कई गाँव देखे। गाँवमें अधिकतर मलाई लोग रहते हैं। जान पड़ता है, पेनाङ्का वैभव विदेशियोंकेलिए है।

अगले दिन (१७ अप्रैल) ६ बजे ही घूमनेकेलिए निकल गये। दो स्यामी विहारोंको देखा। विहार क्या दूकानें हैं। एक विहारके भिक्षुओंमें आपसमें झगड़ा हो गया था। पैसा सर्कारके हाथमें चला गया और वह खर्चेकेलिए कुछ मासिक दे दिया करती थी। ऊँचे दर्जेवालों या विश्वसनीय यात्रियोंको कोरेनटीनमें न रखकर इस शर्तपर छुट्टी दे दी जाती है, कि वह स्वास्थ्य-अफ़सरके पास उनकी निगरानीमें रहे। उस दिन १० बजे जाकर अफ़सरसे छुट्टी ले आये।

मैं चाहता था कि यहींसे कोई जापानी जहाज पकड़ूँ, किन्तु अभी कोई जापानी जहाज जानेवाला नहीं था। अब सिंगापुरतक रेलसे जानेके सिवाय कोई और चारा नही था। पता लगा, "अन्योमारु" जहाज सिंगापुरसे कुछ ही दिनोंमें छूटनेवाला है। जायसवालजीके ज्येष्ठ पुत्र चेतसिंह मलक्कामें बैरिस्टरी कर रहे थे। उनकी दो चिट्ठियाँ आई थी, और वह मलक्का आनेकेलिए बहुत आग्रह कर रहे थे। मैंने ट्रेनका नाम देकर तार दे दिया। मलक्का रास्तेसे दूर था, इसलिए वहाँ जानेकेलिए समय नही था। रातको महायान और हीनयानपर मेरा व्याख्यान हुआ।

सिंगापुर—१८ अप्रैलको काश्यपजीसे विदाई ली, अभी भी उनकी तबियत ठीक नहीं हुई थी। लेकिन किसी बातकी चिन्ता नहीं थी। मोटरसे बन्दरपर फिर स्टीमरसे खाड़ीको पार हो एक नदीमें थोड़ा घुसे। तीरपर ही पाई स्टेशन है। दूसरे दर्जेका टिकट था। गाड़ीमें भीड़ नही थी। ६ बजे ट्रेन चली। पर्वत और भूमि हरे-हरे वृक्षोंसे ढँकी हुई थी। ज्यादातर रबड़के बगीचे थे, किन्तु कहीं-कहीं जंगल भी थे। नारियलके बाग भी लगे हुए थे। मज़दूर मदरासी थे; और मालिक चीनी या अंग्रेज़। समतल भूमि बहुत कम थी। जहाँ-तहाँ टीनकी खानें थीं, जिनमें ७५ फ़ीसदीके मालिक अंग्रेज़ थे, और बाकीके चीनी।

६ बजे हम क्वालालम्पोर पहुँचे। स्टेशन हीपर बौद्धसभाके कुछ सज्जन और एक सिंहल भिक्षु मिले। क्वालालम्पोर मलायाकी राजधानी है, और बड़े रमणीय स्थानपर बसी है। डेढ़ घंटे घूमकर शहर देखा। मलायामें पेनाङ्, मलक्का और सिंगापुर तो सीधे अंग्रेज़ोंके हाथमें हैं, बाकी कितनी ही रियासतें हैं। सबको मिलाकर संयुक्त मलाया-राज्य क़ायम किया गया है। शहर देखकर हम बौद्धमन्दिर गये। मन्दिर अच्छा और अच्छी जगहपर बना हुआ है। मुझे बौद्धगृहस्थोंकी छोटी सभामें कुछ देर बोलना पड़ा। साढ़े आठ बजे चेतसिंह जायसवाल पहुँच गये। उन्हें बड़ी तकलीफ हुई, बड़ी दौड़-धूप करनी पड़ी। यदि मालूम होता कि अन्योमारु चौथे दिन सिंगा-पुरसे छूटेगा, तो मलक्का भी जाता। चेतसिहजीकी मोटर रास्तेमें बिगड़ गई

और जैसे-तैसे करके यहाँ पहुँचे थे। मेरी ट्रेन छूटनेमें डेढ़ घंटेकी देर थी, हम स्टेशन पर गये, वहीं कुछ भोजन और बात करते रहे। मैंने घरका समाचार दिया। यह जानकर मुझे बहुत सन्तोष हुआ, कि चेतसिंह भी अपने काममें तत्परताले लगे हैं। चेतसिंहमें पिताके सारे ही गुण हों, यह बात तो नहीं है; लेकिन कई बातें उनमें स्पृहणीय हैं। यद्यपि साहेबकी तरह पले हैं, किन्तु वह कष्ट सहन कर सकते हैं। साहित्य और कलासे उनका बहुत प्रेम है, आत्मनिर्भरता और आत्मसम्मानकी भावना भी उनमें काफ़ी है। सेरमूबनतक वह हमारे साथ रहे। मलायामें जापानी भी काफ़ी बसते हैं। हम रातको चल रहे थे, एक स्टेशनपर कुछ जापानी स्त्री-पुरुष अपने बन्धुओंको बिदाई देने आये थे। उन्होंने गाड़ी चलते वक्त बड़े मधुर स्वरसे "सायोनारा" कहा। अभी मैं यह नहीं समझ पाया था, कि 'सायोनारा'का अर्थ है 'पुनर्दर्शनाय', यद्यपि उसका उस समय यह छोड़ दूसरा अर्थ नहीं हो सकता था। १६को पह फट रही थी, जब हम जोहोरसे आगे पुल द्वारा खाड़ीको पार कर रहे थे।

६ बजे सिंगापुर पहुँच गया। स्टेशनपर कई बौद्धसज्जन मिले और मुझे बुद्धिस्ट एसोसियेशनमें ले गये। सिंगापुरमें छ सौके क़रीब सिंहलबौद्ध हैं, यह उन्हीं की सभा है। दिनभर तो विश्राम, भोजन और बातचीतमें लगे रहे शामको साढ़े पाँच बजे घूमने निकले। सिंगापुर १६ मील लम्बा १६ मील चौड़ा द्वीप है। पोर्ट-सईदकी तरह यह भी बहुतसे द्वीपोंके लोगोंका मिलन-स्थान है। हिन्दुस्तान, लंका, स्याम, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, और युरोप सभी जगहके लोग यहाँ रहते हैं, बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ अंग्रेज़ोंकी हैं, व्यापारी चीनी हैं, दूध बेचनेवाले भैया लोग (युक्तप्रान्त-बिहारवाले) हैं और कुली हैं मदरासी। शहर साफ़-सुथरा है, सड़कें भी अच्छी हैं, हाँ ग़रीबोंके मुहल्लोंकी न पूछिये। यहाँ एक स्यामी मंदिर भी है। बुद्धकी एक विशाल मूर्ति देखी। सड़कको छोड़कर घूमते-फिरते एक चीनी मंदिर में पहुँचे मंदिर बहुत बड़ा है, और किसी समय बड़ा सुन्दर रहा होगा, लेकिन अब उसकी बड़ी उपेक्षा है। मन्दिर और भीतरी सजावट, पत्थरके खंभ, गर्भोपर मृत्युकी छाया दीख पड़ रही थी। भिक्षु अयोग्य और निकम्मे थे, इसलिए किसी गृहस्थकी श्रद्धाको अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते थे।

एक दिन पहिले (२० अप्रैल) हम निप्पन्-यूसेन-कइशाके कार्यालयसे जहाज़का टिकट ख़रीद लाए। जापानतकका दूसरे दर्जेका किराया १५० येनसे कुछ ऊपर लगा। उस दिन शामको चीनी बौद्धसभामें गए। लोग ममिताभके भजनमें लगे

हुए थे। एक गृहस्थने यह सारा घर बनाकर दान कर दिया है। सिहल बौद्धसभामें भी एक व्याख्यान देना पड़ा। मैं पालीमें बोला और एक श्रामणेरने उसका सिंहलीमें अनुवाद किया।

हाङ्-काङ्—२१ अप्रैलको सवेरे ही "अन्योमारू" सिंगापुर पहुँचा। ढाई बजे मैं भी जहाजपर पहुँच गया। २३ नंबरके केबिनमें चार वर्थ थी, लेकिन उसमें हम दो हिन्दुस्तानी थे—दूसरे सज्जन मदरासी थे। अन्योमारू शामतक लोहेके टुकड़ों और रद्दी कनस्टरोंको लादता रहा। यहाँ इन चीजोंकी क़दर नहीं है, हालाँकि इनको गलाकर फिर अच्छा लोहा बनाया जा सकता है। जापान ऐसे कूड़े-करकटका स्वागत करता है। जब मैं पहिली वार लंका गया था, उस वक़्त मैंने अपनी खिड़कीसे रेलवे-की सड़कसे ताकते हुए अक्सर एक जगह रेलके टूटे पहियों-पुरज़ों और दूसरे लोह-खंडोंको एक गड्ढेमें फेंके जाते देखा करता था। फिर किसी दिन वह चीज़ें बड़ी तेज़ीके साथ ढोई जाने लगी। पता लगा, इस कूड़े-करकटको किसी जापानी कंपनीने खरीद लिया है। अंगरेज़ कंपनियाँ या अंगरेजी सर्कार ऐसे कूड़े-करकटोंकी परवाह नहीं करती। आज लड़ाईके ज़मानेमें लोहा इतना मँहगा हो गया है, तो भी रेल लाइनों और दूसरी जगहोंमें न जाने कितने लाख मन लोहखंड पड़े हुए हैं, कोई उनकी पर्वाह नहीं करता। साढ़े ६ बजे शामको जहाज रवाना हुआ। जहाजमें पाँच मदराजी (जिनमें दो स्त्रियाँ), दो बंगाली, दो पारसी, एक भैया (अकेला मैं) कुल दश भार-तीय थे। एक आस्ट्रियन और दो जापानी भी थे। सिगरेट पीनेका कमरा मुझे पढ़ने-लिखनेके लिए बहुत अच्छा मालूम हुआ। शामको डेकपर टहलनेमें भी आनंद आता था। वादन्यायका प्रूफ़ मेरे साथ चल रहा था, अकेले उसे फ़ोटोसे मिलानेमें बहुत वक़्त लगता था। रामस्वामी अय्यर संस्कृत जानते थे, उन्होंने प्रूफ कापीको मिलानेमें सहायता देनेकी इच्छा प्रकट की। मेरा काम बन गया। जहाजमें हमें सवेरे सात बजे चाय-रोटी-मक्खन मिलता था, साढ़े आठ बजे नाश्ता, बारह बजे पूरा भोजन, सवा तीन बजे चाय-रोटी-मक्खन और रातको छ बजे भोजन। भोजन युरोपीय ढंगका था, वैसा ही जैसा फ्रेंच जहाजमें मिला करता था। पाँचों मदरासी सहयात्री ब्राह्मण थे, और मांस-मछली छू नहीं सकते थे। समुद्र बराबर शान्त रहा। विशाल समुद्रमें कहीं देखो, एक ही तरहका दृश्य सामने रहता था। जहाज बिल्कुल हिलता नहीं था। प्रूफका काम करनेके बाद जो समय बचता, वह जापान सम्बन्धी किताबोंको पढ़नेमें लगाता था, अथवा गोली लुढ़कानेवाले तख्तेका खेल खेलता था।

७वें दिन (२७ अप्रैल) ६ बजे सवेरे ही जहाज हाङ्काङ् पहुँचा। यह चीनका टापू है, जिसे सौ वर्षसे अधिक समय हुआ, जब अंग्रेजोंने दखल कर लिया। यह उनका एक बहुत बड़ा व्यापारकेन्द्र है, साथ ही सैनिक अड्डा भी। आखिर सेना भी तो व्यापार हीके रक्षाकेलिए है। हाङ्काङ् चारों ओर पहाड़ोंसे घिरा एक स्वाभाविक बन्दरगाह है। इसका सिर्फ एक ओर समुद्रसे सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। नास्ता करके ९ बजे हम किनारेपर गये। पहाड़ हरे-भरे हैं और शहरवाले पहाड़पर तो नीचेसे चोटीतक कोठियाँ और बँगले बने हुए हैं। पहाड़के ऊपर सिर्फ युरोपियन ही घर बना सकते हैं। एसियाके भूखडपर ही एसियाइयोंका यह अपमान! जिसकी लाठी उसकी भैंस जो ठहरी। युरोपीय बाजारके मकान बड़े आलीशान हैं। हम पहाड़पर जानेवाली ट्रामके अड्डेपर पहुँचे। आखिरी स्टेशनतक चले गये, जो एक हजार फ़ीटसे ऊँचा है। बादल था, इसलिए फोटो नहीं ले सके। वैसे भी कितने ही स्थानोंका फ़ोटो लेना मना है। नीचे उतरकर हमने टैक्सी की, और २७ मीलका चक्कर लगाया। चीनी मालियोंको फुलवारियोंमें साग-सब्जीके खेतोंमें काम करते देखा। यहाँकी सड़कें अच्छी हैं, विश्वविद्यालय है, स्पताल है। यहाँसे कान्तन् नगर ८० मील है। हम दो बजे जहाजपर लौट आये। ढाई बजे हमारा जहाज चल पड़ा।

शाङ्-हाई—छठे दिन हमें पहुँचना शाङ्-हाई था। सबेरेके वक्त उठे, तो देखा चारों ओर कुहरा फैला हुआ है, दोपहरतक ऐसा ही रहा। जहाज बार-बार सीटी दे रहा था। उसकी गति बहुत मन्द थी। अगले दिन (२९ अप्रैल) दोपहरको तापमान ६३ डिग्री था। हम २६ अक्षांशमें चल रहे थे, वही जो कि इलाहाबादका है, लेकिन यहाँ अप्रैलके अन्तमें भी गर्मी बिल्कुल नहीं मालूम होती थी। ३० अप्रैलको तो खासी सर्दी लग रही थी। मालूम नहीं होता था कि हम गर्मीके मौसममें हैं। उस दिन दोपहरको हम याङ्ची और सागरके संगमपर पहुँच गए। लाखों वर्षोंसे नदी ऊपरकी मिट्टीको ढो-ढोकर समुद्रको पाटनेमें लगी हुई है। इस समय समुद्र और भी आगे तक रहा होगा। यहाँ पानी कुछ उथला था, पौने तीन लाख मन (साढ़े-नौ हजार टन) भारी अनूमोमाए। कहीं फँस न जाए, हमारा जहाज एक जगह ठमक गया। फिर एक पथ-प्रदर्शक अग्निबोट आया और उसके साथ हमारा जहाज आगे बढ़ने लगा। यहीं आस पास द्वीप हैं। बाईं ओर पोतो द्वीप है, जहाँ बौद्धभिक्षुओंके कितने ही मन्दिर और विहार हैं। अँधेरा हो जानेके बाद हमारा जहाज शाङ्-हाई पहुँचा।

अगले दिन (१ मई) ९ बजे हम जहाजसे उतरकर घाटपर गये। शाङ्-हाई एसियाका सबसे बड़ा शहर है। यद्यपि ५० लाख आबादीवाले लोगोंके

सामने इसकी ३० लाखकी आबादी कम ही है। पहिले हम लोग डाकखाने गये। मुझे चिट्ठियाँ तथा प्रूफ़का पार्सल भेजना था। उससे छुट्टी पाकर हमने ३ डालर (१ डालर=१⅜ रुपया) घंटेपर टेकसी ली। पहिले शहरमें घूमे। भिन्न-भिन्न युरोपीय राष्ट्रोंने शाङ्-हईमें अपना छोटा-छोटा राज्य क़ायम कर लिया है। शाङ्-हई चीनभूमिका जीवित अंग है, जिसपर विदेशी गिद्ध बैठकर चोंचें मार रहे हैं। चापई नामक चीनी मुहल्लेकी ओर गये। कभी यह आबाद नगर था, लेकिन जापानने तीन ही चार साल पहिले शाङ्-हईपर हमला कर दिया। मंचूरियाकी सफलताके बाद उसकी हिम्मत बढ़ गई थी, वह जानता था कि युरोपीय राज्य स्वार्थान्धताके मारे आपसमें बँटे हुए हैं, वह हमारे रास्तेमें रुकावट नहीं डाल सकते। उसने चापईको भून दिया। जले हुए घरोंकी दीवारें अब भी खड़ी थीं। २० तलेका सासून भवन शायद एसियाकी सबसे ऊँची इमारत है। शांङ्-हईके अंग्रेजी इलाक़ेमें सिक्ख पुलिस-सिपाही बहुत हैं। वह सस्ते भी हैं, और अपने गोरे मालिकोंके आज्ञाकारी भी। यह तो हमें पहिले हीसे मालूम था कि शाङ्-हईमें हिन्दुस्तानी भी हैं। ढूँढ़नेपर एक इंडियन रेस्तोरां (भारतीय भोजनशाला) देखा, वहीं चपाती और गोश्त खाया। शाङ्-हईसे अंग्रेजी अखबार भी निकलते हैं, हमने कुछ अखबार लिये। मालूम हुआ, चाङ् कइसेक्ने कई बार असफल होनेके बाद अबकी बार बड़ी तैयारीके साथ चीनी कम्यूनिस्टोंपर हमला किया है। चाङ् चीनी जोंकोंका पिट्ठू है, और गौरांग भी उसकी पीठ ठोंकनेकेलिए तैयार हैं।

उसी दिन हमारा जहाज़ आगेकेलिए रवाना हो गया। सर्दी खूब मालूम हो रही थी। भीतर केबिनको अब गरम किया जाने लगा था। बेतारसे पता लगा, कि जापानके उत्तरी भागमें बहुत बर्फ़ पड़ी है, इसीके कारण यहाँ सर्दी बढ़ी है। अब हम शाङ्-हई और जापानके बीचके समुद्रमें जा रहे थे। यह दो-ढाई दिनका रास्ता है। सर्दीके अतिरिक्त समुद्र भी ज्यादा चंचल हो उठा था, कुछ लोग बीमार पड़ गये थे, लेकिन मैं ऐसी-ऐसी चीज़ोंको क्या समझता हूँ। काश्यपजी होते तो उनकी भी वही दशा होती, जो हमारे साथियोंकी हो रही थी। हम लोगोंका टिकट कोबेतकका था। हमारे साथी याकोहामाका टिकट बनवा रहे थे, मैंने भी वैसा ही करा लिया।

२–जापानमें

३ मईके दोपहरको दोनों ओर पहाड़ दिखाई देने लगे, यह था जापान। दाहिने

ओर क्यूशो (कोशू) द्वीप है और बाईं ओर प्रधान द्वीप। सामने बहुतसी नौका और स्टीमर दिखलाई पड़े। हम शीमोनोसकीकी क़िलेबन्दीके भीतर घुस रहे थे एक छपी नोटिस बाँटी गई, जिसमें बतलाया गया था, कि यहाँ फ़ोटो लेना मना है। अगिनबोटसे डाक्टर और कुछ दूसरे अफ़सर हमारे जहाजपर पहुँचे। डाक्टर मामूली तौरसे देखा, कोई बीमार नहीं था। जहाज़ फिर रवाना हुआ। अफ़सर सबसे कुछ पूछ-ताछ की, मुझसे यात्राके उद्देश्यके बारेमें पूछता रहा। मैंने बतला कि मैं एक बौद्धभिक्षु हूँ और आपके बौद्धदेशका अध्ययन करनेकेलिए आया हूँ उसने हमारे पासपोर्टपर मुहर कर दी।

साढ़े आठ बजे रातको हमने जापानकी भूमिपर पैर रखा, यह क्यूशो द्वीप मोजी शहर, एक लाखसे ऊपरकी आबादी है। पहाड़की जड़ और समुद्र तटपर दूरतक शहर बसा हुआ है। हमने यहाँ बेप्पूके गरम चश्मों और एका बस्तियोंके देखनेका निश्चय किया। पहिले और दूसरे दर्जेका मुसाफ़िरख़ाना एक था, और तीसरेका दूसरी ओर दोनों हीमें लोगोंके बैठनेकेलिए कुर्सियाँ थीं। फ़र्क़ इतना ही था कि तीसरे दर्जेमें गद्दी नहीं थी। पुरुष अधिकांश कोट-पतलून पहने थे लेकिन स्त्रियाँ सभी कीमोनो (लम्बा चोगा) और सुन्दर कमरपट्टीमें थीं। १० बजेके क़रीब हमारी रेल खुली। हमने सेकेंड क्लासका टिकट लिया। इसमें भी गद्दी लगी हुई थी। पहिले-दूसरे दर्जेमें पीठकी ओर भी गद्दी रहती है, जो कि तीसरे में नहीं होती। लोगोंकी पोशाक बहुत साफ़ थी। हमारे डिब्बे भी बहुत साफ़ थे। रातको एक जापानी ढंगके होटलमें रहनेका इन्तिज़ाम किया गया था। स्टेशनसे ही टेलीफ़ोन कर दिया गया था और हमें होटलमें ले जानेकेलिए पथप्रदर्शक आ गया था।

अगले दिन (४ मई) हमने होटल हीमें नाश्ता किया। हमारे कुछ साथी नहाना चाहते थे। गरम पानीका प्रबन्ध था, लेकिन वहाँ एक कुंडमें स्त्री-पुरुष एक ही जगह नंगे नहा रहे थे। उन्हें साहस नहीं हुआ और लौट आये। साढ़े आठ बजे हम गरम चश्मोंकी ओर चले। मालूम होता है, यह इलाका ही गरम चश्मोंका है। किसी जगहपर सिर्फ़ कीचड़ बुदबुदा रही थी, कहीं खौलता पानी गिर रहा था। पथप्रदर्शक अंग्रेज़ीमें बतलाता जाता था, कि इस गरम कुंडकी गहराई और तापमान इतना है। जिगोकाकूके पीछेकी ओर बहुत ही सुन्दर दृश्य था। सारा पहाड़ हरियालीसे ढँका है। रास्तेमें कितने ही गाँव मिले, जिनके छोटे-छोटे घर और पहाड़ हमें हिमालयके किसी स्थानका स्मरण दिला रहे थे। इनमें घोड़े भी चलते थे, और

बैल भी। अन्तिम तप्त कुंडमें स्नान हुआ। खिड़कीसे नीचे ढालुवाँ उपत्यका थी, जहाँ देवदार और दूसरे वृक्ष दिखाई पड़ रहे थे। लौटते वक्त हमने गरम कुंडोंसे चिकित्सा करनेका एक बड़ा अस्पताल देखा। डेढ़ बजे स्टेशनपर पहुँचकर मोजीकेलिए रवाना हो गये और शामतक अनूयोमारू पहुँच गये।

कोबे—अब हम जापानके दोनों बड़े द्वीपोंके मध्यवाले सागरमें चल रहे थे। दोनों ओरकी भूमि दिखाई दे रही थी। दृश्य वैसा ही सुन्दर था। पाँच बजे सवेरे जहाज कोबेके बन्दरगाहमें घुसा और बिल्कुल किनारेपर जाकर लगा। आनन्द-मोहनसहाय (भागलपुर) तथा कितने ही और भारतीय बम्बईवाले सज्जनोंसे मिलने आये थे। आनन्दमोहनको तेरह साल पहिले मैंने देखा था, जब वह मेडिकल कॉलेजसे असहयोग करके राजेन्द्र बाबूके प्राइवेट सेक्रेटरी बने थे। हम लोगोंकी दो टुकडी हो गई। एक तो सीधे कोतक महाशयके घर गई, और हम दोनोंको आनन्द-मोहन एक बौद्धमन्दिरमें ले गये। मन्दिर खूब साफ-सुथरा था। बुद्धकी मूर्त्ति प्रशान्त थी। हर जगहसे संगठन और व्यवस्थाकी झलक आती थी। मन्दिरके महंत बड़े प्रेमसे मिले। वहाँसे हम कोतक महाशयके मकानपर गये, वहाँ भारतीयों-को भोज दिया गया, पता लगा, अनियोमारू अब चार दिन बाद यहाँसे आगे जायगा और ११ मईको योकोहामा पहुँचेगा। जर्मनीके परिचित मित्र श्री सका किवाराका पत्र मिला। उन्होंने अपने मन्दिरमें रहनेका निमंत्रण दिया था। रातको हम जहाजमें रहे।

अगले दिन (६ मई) दस बजे हम जहाजसे निकले। पहिले चीजों और विशेप-कर कैमरेको दिखानेकेलिए कस्टम-आफ़िस जाना पड़ा। वहाँसे सन्नोमिया स्टेशन-पर गये। मिस्टर मुराव पथप्रदर्शक मिले, वह अंग्रेज़ी जानते थे, इसलिए भाषाकी दिक्कत दूर हो गई। रास्तेमें ओसाका मिला, ओसाका बहुत बड़ा शहर है। यह कपड़ेकेलिए जापानका लंकाशायर-मान्चेस्टर है। बिजलीकी रेल हमें कई जगह बदलनी पड़ी थी। मजूरोंके मकान बहुत छोटे किन्तु साफ़ दीख रहे थे। होरीमिया स्टेशनपर उतरकर मोटरबसमें बैठ होरियोजी गये। होरियोजी जापानका सबसे पुराना विहार है। इसके मकानों, मन्दिरों और मूर्तियोंमें जापानी संस्कृतिका इतिहास भरा पड़ा हुआ है। यहाँ के मन्दिर अधिकतर लकडीके हैं, और उनमेंसे सबसे पुराना आजसे चौदह सौ वर्ष पहिले (छठी सदी) का बना हुआ है। प्रधान मन्दिरकी दीवारोंपर अजन्ता जैसे चित्र हैं। बोधिसत्वोंकी मूर्त्तियाँ तो कलाके अद्भुत नमूने हैं। पीतलकी कई सुन्दर मूर्त्तियाँ भी देखी। मन्दिरमें घुसनेसे

अपने जूतोंपर मढ़ने (पहनने) केलिए कपड़ेके जूते हमें दिये गये थे। मन्दिरकी पवित्रता अक्षुण्ण रखनेकेलिए यह प्रबन्ध था। मूर्त्तियाँ ही नहीं, चित्रपटों और वाद्योंका भी यहाँ अच्छा संग्रह है। एक छमंजिला स्तूप है। बुद्धपरिनिर्वाणकी एक मूर्त्तिके बारेमें बतलाया गया, कि यह भारतकी मिट्टीसे बनी है। यूमीदोनो विहार थोड़ा हटकर है, वहाँपर भी चार, पाँच सुन्दर मूर्त्तियाँ हैं। बगलके चुगुजी विहारमें दस भिक्षुणियाँ रहती हैं, इसमें अवलोकितेश्वरकी एक मूर्ति है, जिसके बारेमें कहा जाता है, कि इसे जापानके अशोक शोतोकूने अपने हाथसे बनाया था। रास्तेमें ७वीं शताब्दीके दो प्रसिद्ध मन्दिरोंको देखते हम नारा पहुँचे। नारामें दूसरी बार भी गया था, इसलिये उसके बारेमें वहीं लिखूँगा। ओसाका शहरको हमने मोटरसे देखा। वह कलकत्ता बम्बईकी तरहका है, वैसी ही बड़ी-बड़ी उसकी इमारतें हैं।

अगले दिन (७ मई) ६ बजे हम कोबेसे कियोतोकेलिए रवाना हुए, और दो घंटेमें वहाँ पहुँच गये। हमें बौद्धदेविकयन "चुगाइनिप्पो"के आफिसमें ले जाया गया। वहाँ कुछ देरतक बौद्धधर्मपर बात होती रही। फिर ओतानी विश्वविद्यालयमें गये। डाक्टर सुजुकी घरपर नहीं थे। श्रीमती सुजुकी मिलीं। परिचय और बातचीत हुई। मालूम हुआ, विद्यालयमें संस्कृत, पालि और तिब्बती भाषाएँ पढ़ाई जाती हैं। क्योतो उन्नीसवीं शताब्दीतक जापानकी राजधानी रहा। उस वक्त जापान-सम्राट पर्देमें रहा करते थे और सारा राज-काज नेपालके तीन सरकारकी तरह शोगोनके हाथमें था। क्योतोकी तीन तरफ देवदारसे ढँकी हरी-भरी पहाड़ियाँ हैं। यह बहुत ही रमणीय स्थान है, इसीलिए तो सिनेमा-फिल्म बनानेवालोंने तोकियो नहीं क्योतोको अपनी राजधानी बनाया। हम हिगाशी होङ्गनजीके विशाल मन्दिरमें गये। सारा मन्दिर काठका है, इसके देवदारके बड़े-बड़े खम्भोंको खींचकर लानेकेलिए जब मोटे-मोटे रस्सोंकी जरूरत हुई थी, उस वक्त हजारों बौद्ध नारियोंने अपने-अपने केशोंको काटकर रस्सा बनानेकेलिए दिया था। आज भी ये रस्से वहाँ हिफाजतसे रखे हुए हैं। ६ बजे हम कोबे लौट आये।

अगले दिन (८ मई)को दस बजे हमारा जहाज चला। समुद्र शान्त रहा। अब सिर्फ बाईं ओर जापानकी भूमि दिखलाई पड़ती। दाहिनी ओर प्रशान्त महासागरकी अनन्त जलराशि थी। रास्तेमें हमने योकाइचीमें चीनी मिट्टीके बर्तनके एक बड़े कारखानेको देखा। मिट्टी कूटना, पानीमें घोलना, फिर कसना, सुखाना, पीसना, गूँधना, साँचे या चक्केपर बरतन बनाना, दूसरे चाकेपर सुधारना, थोड़ा

पकाना, रँगना, चित्रण करना, पकाना सभी चीजोंको देखा। मजूरोंकी तनख्वाह १५ येन् (१२ रुपया)से ५१ येन् (४२ रुपया) मासिक थी—मजूरी रोजानाके हिसाबसे थी। ज्यादातर मजदूरोंकी तनख्वाह ६ आनासे ८ आना रोजतक थी, जो भारतमें कारखानाके मजूरोंकी तनख्वाह इतनी ही होती है। ग्यारह बजे हम जहाजपर लौट आये और घंटेभर बाद जहाज आगे चला।

दस मईको बड़े सबेरे ही हमारा जहाज योकोहामा पहुँचकर किनारे लगा। पासपोर्ट अफसरने हमारे पासपोर्टको देखा, रुपये देखे, कुछ प्रश्न किया—खासकर बौद्धवेषपर। हमारा सामान कस्टम आफिसमें गया। उसने मामूली तौरसे देखकर छोड़ दिया। सामानको हमने न्यूयोकोहामा एक्सप्रेसके जिम्मे लगाया। यह कम्पनी आपके सामानको घर पहुँचा देनेका जिम्मा लेती है। अमेरिकन एक्सप्रेसके आफिसमें गये। मैं अपनी चिट्ठियाँ इसीके मारफत मँगाता था। कितनी दूरसे हमने टेकसी की थी, लेकिन भाड़ा सिर्फ दो येन् (डेढ़ रुपया) देना पड़ा; जो बतला रहा था कि जापानमें मोटरोंका किराया कितना सस्ता है। चालीस सेन (प्रायः पाँच आने) मे मुर्गीका गोश्त और भात खाया। पाँच आनेमें भला यह खाना भारतमें मिल सकता है।

तोक्यो—योकोहामासे बिजलीकी गाड़ी पकड़ी और एक बजेके करीब हम तोक्यो पहुँच गये। टेकसी करके पहिले मैसूरके एक सज्जनके पास गये, फिर ७० सेन (प्रायः ६ आना)पर टेकसी की और शहरके दूसरे छोरपर नाका-ओकाची-माची मुहल्लेके कोशियोजी मन्दिरमे श्री सकाकीवाराके पास पहुँच गये। रास्तेके बारेमें कई जगह पूछना था। इतना सस्ता तो बनारसमें एक्का भी नहीं मिलता। तोक्यो लन्दन शहर जैसा मालूम होता था। अब १० मईसे २६ जूनतक तोक्योमें ही रहना था। तोक्योमें ट्राम भी है और टेकसी भी। टेकसीमें एक दर है—उतना पैसा देकर टेकसीपर चढ़के आप चाहे १० क़दमपर उतर जायँ, या शहरके आरपार। तोक्यो-निवासके दिनोंका ज्यादा समय विद्वानोंसे मिलने, विद्यासस्थाओंके देखनेमें लगा। मेरे वहाँ पहुँचनेसे पाँच दिन बाद सिंहलके भिक्षु नारद तोक्यो पहुँच गये, ठहरे वह दूसरी जगह थे। सकाकीवारा मेरे आरामका हर तरहसे ख्याल रखते थे। उनकी माँ तो और भी ज्यादा तत्पर रहती थीं। भारतसे जापानके शिष्टाचारमें कुछ अन्तर भी है, किन्तु बहुतसी बातें एक हैं। वहाँ जमीनपर भी लोग चटाईपर बैठते हैं, चटाईपर ही सोते हैं। कुर्सी, पलंग, मेजका वहाँ रवाज नहीं है। घर बहुत साफ-सुथरे होते हैं, और खुले हुए खंभोंपर बाहरकी ओर खिसकाऊ तख्ते और

भीतरकी ओर साफ कागज मढ़े टिकाऊ ढाँचेको लगाकर दीवार बना दी जाती है। बाहरके तख्ते तो रात हीको लगाए जाते हैं, भीतरके कागजी ढाँचे बराबर रहते हैं। कागजसे छनकर प्रकाश भीतर आता है। जमीनपर पुआलकी एक बालिश्त मोटी चटाइयाँ बिछाई जाती हैं, जिनके ऊपर सूती या रेशमी मगजी लगी शीतलपाटी (चटाई) मिली रहती है। यह चटाइयाँ एक ही नापकी बना करती हैं, और चटाइयोंकी गिनतीसे आप जान सकते हैं कि कमरा कितना बड़ा है। चटाइयोंका फ़र्श बड़ा आरामदेह होता है और पैर रखते ही स्प्रिंगदार गद्देकी तरह दबता है।

रहनेके कमरेको सामानसे भर रखना जापानमें पसन्द नहीं किया जाता। चित्र या फ़ोटो भी एक या दोसे अधिक नहीं टाँगे जाते। रातके सोनेका गद्दा-तकिया, लिहाफ कागजीदीवारकी आड़के खानेमें इस तरह रखे रहते हैं, कि मालूम नहीं होता। एक कमरा बैठक का होता है, जो भोजन-स्थान और शयनागारका भी काम देता है।

युरोपमें चम्मच काँटेसे खानेका रवाज है। जापानमें चीनकी तरह दस-दस इंच पेन्सिल जैसी दो लकड़ियोंसे खानेका रिवाज है। मैंने जहाजमें ही लकड़ियोंसे खाना सीख लिया था। वैसे तिब्बतमें भी बड़े-बड़े घरोंमें लकड़ी या हाथीदाँतकी दो "पेन्सिलें" दी जाती हैं, लेकिन वहाँ हाथ या चम्मचको भी इस्तेमाल किया जा सकता है, इसलिए पहिले नहीं सीखा था। लेकिन इस यात्रामें जापान पहुँचनेसे पहिले लकड़ीसे खानेमें दक्ष होनेका मैं निश्चय कर चुका था। पहिले जापानी खाना कुछ फीका मालूम पड़ता था, क्योंकि उसमें न तेल-घीकी बघार होती, न मिर्च-मसाला ही होता। मछली है, तो नमकके साथ उबली हुई। साग है, तो उसमें भी नमक पानी छोड़ और कुछ नहीं। सोयाके कई तरहके पकवान बनते हैं; किन्तु उनमें भी घी-तेल, मिर्च-मसालेका नाम नहीं। चावल उतना बारीक नहीं होता, न सुगन्धित ही, लेकिन होता है मीठा। फिर गृहिणी लकड़ीकी ढँकी बाल्टीमें भात निकाले भातको लेकर आपके सामने बैठी रहती है। जापानमें एक अन्नकन भी जूठा छोड़ना अनुचित माना जाता है। चीनीकी कटोरोंमें जो कुछ अन्न चिपका रहता है, उसे भी धोकर पी जाते हैं। एक-दो बार मुझसे कुछ छूट गया था। इसपर दोस्तने कहा— हमने भारतसे यह शिष्टाचार सीखा है, यदि आप ही जूठा छोड़ेंगे तो लोग क्या कहेंगे? जापानकी सीखी यह आदत मेरे साथ अब भी है। बहुत कम ऐसा अवसर आता है, जब मैं थालीमें जूठा छोड़ता हूँ। ऐसा अवसर तभी आता है, जब कि कोई गृहपति या गृहिणी खानेवालेकी नहीं बल्कि अपनी इच्छाके अनुकूल परोसते हैं।

महीने-डेढ़-महीनेके बाद मुझे जापानी भोजन स्वादिष्ट मालूम होने लगा। चाय भी पहिले दवाईके काढ़े जैसी मालूम होती, स्वाद कुछ कड़ुआ, न उसमें तिब्बत-की तरह नमक-मक्खन न हिन्दुस्तानकी दूध-चीनी, न कश्मीरकी तरह मिश्री-इलायची; बस खाली पानीमें उबली पत्तियोंका अर्क़ होता, जिसका रंग हरा-पीला होता है। चायके प्याले भी हमारे यहाँके प्यालोंसे छोटे होते हैं। कुछ दिनों बाद इसमें भी स्वाद आने लगा। वस्तुतः, भोजन या संगीतका स्वाद अधिकतर अभ्याससे पैदा होता है।

तोक्योके राजप्रासादको पाससे हमने देखा। इसके भीतर सूर्य देवीके पुत्र जापान सम्राट् हिरोहितो रहते हैं। जापानके लोग उन्हें सचमुच ही देवता समझते हैं, शासकवर्ग उनकी श्रद्धाको और भी मजबूत करनेकी कोशिश करता है। आजके सम्राट्के दादा कुछ समझदार जरूर थे, यद्यपि उतने नहीं, जितना कि पुस्तकोंमें लिखा जाता है। पिता पागल थे, हालाँकि यह बात कभी बाहर नहीं आने पाई। वर्त्तमान सम्राट्को मौज-मेलेसे छुट्टी मिलनेपर दूरबीनसे तारे देखने और कविता लिखनेका शौक है। मिकादो (जापान-सम्राट्) तोकूगावा-शोगनका अब बन्दी नहीं है, इसमें सन्देह नहीं; लेकिन, अब भी वह राज-काजमें सीधे दखल नहीं देता।

पाँच-छ वर्ष पहिले जापानमें भी स्वतंत्रताकी हवा चली थी। मार्क्सवाद और कम्यूनिज़्मकी भी बड़ी चर्चा होने लगी, विश्वविद्यालय उसके केन्द्र बन गए। यह हवा १२ रु०-महीना पानेवाले फैक्टरीके मजदूरों और सात-आठ रुपया पानेवाले खेतिहर मजदूरों तक पहुँचने लगी। शासकवर्ग घबराया। यद्यपि उसने सूर्यदेवीके पुत्र मिकादोको देवता बनाकर पूजने और इतिहासके नामपर सूर्यदेवी और दूसरी कथाओंको पढ़ाकर लोगोंके मस्तिष्कमें मिथ्याविश्वास भरनेकी सदा कोशिश की थी, तो भी जान पड़ता है भूत और भविष्यकी चिन्तासे निश्चिन्त होनेकेलिए आदमी सभी बातोंको ताकमें रख सकता है। लोगोंमें भयंकर विचारोंको फैलते देखकर शासकवर्गने कोदो (जापानी फासिस्टवाद) का प्रचार करना शुरू किया। हज़ारों मार्क्सवादी आज भी जेलोंमें सड़ रहे थे। आज जापानका शासन न सम्राटके हाथमें है, न धनियोंके। हयाशी, अराकी, मिनामी और मसाकी यह चार फौजी जरनैल और उनके सामन्ती वंश, जापानके वास्तविक शासक रहे। सामन्तवाद वस्तुतः वहाँसे लुप्त हुआ ही नहीं। उसने पूँजीपतियोंको बढ़ने दिया, पार्लियामेन्ट और चुनावकी व्यवस्थाको भी स्वीकार किया, किन्तु वोटको नहीं सेनाको अंतिम निर्णायक बनाया। राज्यकी आमदनीका

भीतरकी ओर साफ़ कागज़ मढ़े खिसकाऊ ढाँचेको लगाकर दीवार बना दी जाती है। बाहरके तख्ते तो रात हीको लगाए जाते हैं, भीतरके कागज़ी ढाँचे बराबर रहते हैं। कागज़से छनकर प्रकाश भीतर आता है। ज़मीनपर पुआलकी एक बालिश्त मोटी चटाइयाँ बिछाई जाती हैं, जिनके ऊपर सूती या रेशमी मगज़ी लगी गोतसपाटी (चटाई) सिली रहती है। यह चटाइयाँ एक ही नापकी बना करती हैं, और चटाइयोंकी गिनतीसे आप जान सकते हैं कि कमरा कितना बड़ा है। चटाइयोंका फ़र्श बड़ा आरामदेह होता है और पैर रखते ही स्प्रिंगदार गद्देकी तरह दबता है।

रहनेके कमरेको सामानसे भर रखना जापानमें पसन्द नहीं किया जाता। चित्र या फ़ोटो भी एक या दोसे अधिक नहीं टाँगे जाते। रातके सोनेका गद्दा-तकिया, लिहाफ़ कागज़ीदीवारकी आड़के खानेमें इस तरह रखे रहते हैं, कि मालूम नहीं होता। एक कमरा बैठक का होता है, जो भोजन-स्थान और शयनागारका भी काम देता है।

युरोपमें चम्मच काँटेसे खानेका रवाज है। जापानमें चीनकी तरह दस-दस इंच पेन्सिल जैसी दो लकड़ियोंसे खानेका रिवाज है। मैंने जहाज़में ही लकड़ियोंसे खाना सीख लिया था। वैसे तिब्बतमें भी बड़े-बड़े घरोंमें लकड़ी या हाथीदाँतकी दो "पेन्सिलें" दी जाती हैं, लेकिन वहाँ हाथ या चम्मचको भी इस्तेमाल किया जा सकता है, इसलिए पहिले नहीं सीखा था। लेकिन इस यात्रामें जापान पहुँचनेसे पहिले लकड़ीसे खानेमें दक्ष होनेका मैं निश्चय कर चुका था। पहिले जापानी खाना कुछ फीका मालूम पड़ता था, क्योंकि उसमें न तेल-घीकी बघार होती, न मिर्च-मसाला ही होता। मछली है, तो नमकके साथ उबली हुई। साग है, तो उसमें भी नमक पानी छोड़ और कुछ नहीं। सोयाके कई तरहके पकवान बनते हैं, किन्तु उनमें भी घी-तेल, मिर्च-मसालेका नाम नहीं। चावल उतना बारीक नहीं होता, न सुगन्धित ही, लेकिन होता है मीठा। फिर गृहिणी लकड़ीकी ढँकी बाल्टीमें भाप निकलते भातको लेकर आपके सामने बैठी रहती है। जापानमें एक अचछत भी जूठा छोड़ना अनुचित माना जाता है। चीनीकी कटोरोंमें जो कुछ अन्न चिपका रहता है, उसे भी धोकर पी जाते हैं। एक-दो बार मुझसे कुछ छूट गया था। इसपर दोस्तने कहा— हमने भारतसे यह शिष्टाचार सीखा है, यदि आप ही जूठा छोड़ेंगे तो लोग क्या कहेंगे? जापानकी लगी वह आदत मेरे साथ अब भी है। बहुत कम ऐसा अवसर आता है, जब मैं थालीमें जूठा छोड़ता हूँ। ऐसा अवसर तभी आता है, जब कि कोई गृहस्थ या गृहिणी खानेवालेकी नहीं बल्कि अपनी इच्छाके अनुकूल परोसने हैं।

महीने-डेढ़-महीनेके बाद मुझे जापानी भोजन स्वादिष्ट मालूम होने लगा। चाय भी पहिले दवाईके काढ़े जैसी मालूम होती, स्वाद कुछ कड़ुआ, न उसमें तिब्बत-की तरह नमक-मक्खन न हिन्दुस्तानकी दूध-चीनी, न कश्मीरकी तरह मिश्री-इला-यची; बस खाली पानीमें उबली पत्तियोंका अर्क होता, जिसका रंग हरा-पीला होता है। चायके प्याले भी हमारे यहाँके प्यालोंसे छोटे होते हैं। कुछ दिनों बाद इसमें भी स्वाद आने लगा। वस्तुतः, भोजन या संगीतका स्वाद अधिकतर अभ्यासमे पैदा होता है।

तोक्योके राजप्रासादको पासमे हमने देखा। 'इसके भीतर सूर्य देवीके पुत्र जापान सम्राट् हिरोहितो रहते है। जापानके लोग उन्हें सचमुच ही देवता समझते हैं, शासकवर्ग उनकी श्रद्धाको और भी मजबूत करनेकी कोशिश करता है। आजके सम्राट्के दादा कुछ समझदार जरूर थे, यद्यपि उतने नही, जितना कि पुस्तकोंमें लिखा जाता है। पिता पागल थे, हालाँकि यह बात कभी बाहर नही आने पाई। वर्त्त-मान सम्राट्को मौज-मेलेसे छुट्टी मिलनेपर दूरबीनसे तारे देखने और कविता लिखने-का शौक है। मिकादो (जापान-सम्राट्) तोकूगावा-शोगनका अब बन्दी नहीं है, इसमें सन्देह नहीं; लेकिन, अब भी वह राज-काजमे सीधे दखल नही देता।'

पाँच-छ वर्ष पहिले जापानमे भी स्वतंत्रताकी हवा चली थी। मार्क्सवाद और कम्यूनिज्मकी भी बड़ी चर्चा होने लगी, विश्वविद्यालय उसके केन्द्र बन गए। यह हवा १२ रु०-महीना पानेवाले फैक्टरीके मजदूरों और सात-आठ रुपया पानेवाले खेतिहर मजदूरों तक पहुँचने लगी। शासकवर्ग घबराया। यद्यपि उसने सूर्यदेवीके पुत्र मिकादोको देवता बनाकर पूजने और इतिहासके नामपर सूर्यदेवी और दूसरी कथाओंको पढ़ाकर लोगोंके मस्तिष्कमें मिथ्याविश्वास भरनेकी सदा कोशिश की थी, तो भी जान पड़ता है भूत और भविष्यकी चिन्तासे निश्चिन्त होनेकेलिए आदमी सभी बातोंको ताकमे रख सकता है। लोगोंमें भयंकर विचारोंको फैलते देखकर शासकवर्गने कोदो (जापानी फासिस्टवाद) का प्रचार करना शुरू किया। हजारों मार्क्सवादी आज भी जेलोंमें सड़ रहे थे। आज जापानका शासन न सम्राटके हाथमें है, न बनियोंके। हयाशी, अराकी, मिनामी और मसाकी यह चार फौजी जरनैल और उनके सामन्ती वश, जापानके वास्तविक शासक रहे। सामन्तवाद वस्तुतः वहाँसे लुप्त हुआ ही नहीं। उसने पूँजीपतियोंको बढ़ने दिया, पार्लियामेन्ट और चुनावकी व्यवस्थाको भी स्वीकार किया, किन्तु वोटको नहीं सेनाको अन्तिम निर्णायक बनाया। राज्यकी आमदनीका

४६ सैकड़ा (आधेसे कुछ कम) उस वक्त भी सेनापर खर्च होता था। सेनापर पार्लियामेन्टको कोई अधिकार नहीं; कहनेकेलिए वह सूर्यदेवीके पुत्र सम्राट्के आधीन मानी जाती है, लेकिन सम्राट स्वयं कुछ सैनिक सामन्तवंशोंके हाथोंकी कठपुतली है। यदि वह इससे कुछ अधिक है, तो जापानका वह सबसे बड़ा ताल्लुकदार जमीदार है, और कल कारखानोंमें भी उसका करोड़ों येन् लगा हुआ है।

तोक्योमें इम्पीरियल यूनिवर्सिटी सरकारी विश्वविद्यालय है, उसके बाद वासेदा विश्वविद्यालयका नंबर आता है। यहाँ साइंस, अर्थशास्त्र, दर्शन आदि सभी विषय पढ़ाए जाते हैं। इसके पुस्तकालयमें चार लाखसे ज्यादा पुस्तकें हैं। रिश्शो एक बौद्ध विश्वविद्यालय है। यह निचेरिन संप्रदाय से संबंध रखता है। प्रोफेसर किमूरा यहीं अध्यापक हैं, उनके साथ अनेक बार मेरी बात-चीत हुई। दो जापानी सभाओं और दूसरी दूसरी संस्थाओंकी ओरसे भारतीय और सिंहली (नारद) भिक्षुओंका स्वागत हुआ, व्याख्यान दिए गए। मैं समझता हूँ इसमें ज्यादातर शिष्टाचार ही नहीं था, बल्कि जापानियोंका धर्म-प्रेम भी काम कर रहा था। प्रोफेसर इनोये, नागाई, कावागूची, किमूरा, यतनबे, ताकेदासे भेंट करके बड़ी प्रसन्नता हुई। इन विद्वानोंने एक सभामें हमारा स्वागत किया। स्वागतका उत्तर भिक्षु नारदने पालीमें और मैंने संस्कृतमें दिया। कावागूचीकी तिब्बत-यात्रा मैंने तिब्बत जानेसे पहिले पढ़ी थी, और उनके साहसका बहुत प्रशंसक था। यहाँ उनसे बात-चीत करनेका मौका मिला। अभी भी वह तिब्बती भाषा बोल रहे थे।

जापानने व्यापारमें जो सफलता प्राप्त की है, उसका सारा फ़ायदा पूँजीपतियोंको हुआ है। उन्होंने मजूरोंकी तनख्वाह बढ़ने नहीं दी। उसी कपड़ेको ६ रुपया रोज पानेवाले मजूर तैयार करें और उसीको ६ आने रोजवाले भी, निश्चय है कि ६ आने मजूरी पानेवालोंके हाथका कपड़ा १६ गुना सस्ता होगा। जापानी कारखानेदार यदि विलायती कपड़ेके भावपर बेचें, तो १६ गुना फ़ायदामें रहेंगे, लेकिन वह ऐसा नहीं करते। वह नफाको कुछ कम करके मालको सस्ता बना देते हैं और फिर दुनियाकी बाजारोंमें उनकी चीजोंकी माँग बढ़ जाती है। जापानी व्यवसायके कारण सबसे घाटेमें रहे मजूर। जापानी पूँजीपतियोंको तो लाखका करोड़ और करोड़का अरब बनाते देर भी नहीं लगी। उनके कारखानोंमें सौ सैकड़ा नफा बढ़ते देखा गया। हिन्दुस्तानमें भी यह लूट है, कपड़ेके कारखानोंमें भी और चीनीके कारखानोंमें भी। यही अंग्रेज पूँजीपति विलायतमें अपने कारखानेके मजदूरोंको

सवा सौ और डेढ़ सौ महीना देते हैं, और हिन्दुस्तानमें १२ या १५ रुपया। वही अंग्रेज जहाजी कम्पनियाँ विलायती मलाहोंको डेढ़ सौ रुपया महीना देती हैं और हिन्दुस्तानी मलाहोंको ३० रुपयामें रखती हैं। पूँजीपतियोंकी जापानमें मौज है। जापानी मजूर अपनी तकलीफ़ोंकेलिए हड़ताल नहीं कर सकता, वह अर्जीभर दे सकता है। लेकिन व्यापारियोंके जेबमें जो करोड़ों रुपये पहुँचे हैं, उसका कुछ अंश मन्दिरोंको भी मिला है। जापानी मन्दिर और धार्मिक विश्वविद्यालयोंकी इमारतोंके देखनेसे पता लग जाता है, कि सेठोंने धर्मकेलिए कितनी उदारता दिखाई है। निशी होङ्वान्जीके १६, १७ लाख येनके खर्चसे १९३०में बने मन्दिरकी बात छोड़ दीजिए। वह है भी एक करोड़पति गृहस्थ-महंतकी सम्पत्ति। दूसरे मन्दिरोंको भी देखिए, तो मालूम होगा, कि उनपर खूब रुपया खर्च हुआ है। हमने पुराने मन्दिरोंको भी देखा। सोयोजी मन्दिरमें काठ और लाख (लाक्षा)के पशु-पक्षी, फूल-पत्ती, इतने सुन्दर बने हैं, जिनको देखकर चित्त मुग्ध हो जाता है। जापानी मन्दिरोंके देखनेसे मालूम होता है, कि कलाने वहाँ कितनी तरक्क़ी की। सबसे बड़ी बात यह है, कि जापानी कलाकी परम्परा कभी विच्छिन्न नहीं हुई।

जापानके शासकवर्गने अपने सामाजिक ढाँचेको तो पुराना रखा, लेकिन पैसा और शक्तिको अपने हाथमें जमा करनेकेलिए पश्चिमकी किसी बातको अपनानेमें हिचकिचाहट नहीं दिखलाई। उन्होंने फैक्टरियों और मिलोंको नईसे नई मशीनोंसे सुसज्जित करने, नयेसे नये संगठनमें बाँधनेमें पश्चिमी देशोंका भी कान काटा। अमेरिकन व्यापारियोंकी सबसे नई किस्मकी दूकानों—डिपार्टमेन्ट स्टोर—को खूब इस्तेमाल किया है। एक-एक डिपार्टमेन्ट स्टोरमें बीस-बीस हज़ार तरह-तरहकी चीजें बिकती हैं, और पाँच-पाँच हज़ार बेचनेवाले काम करते हैं। आप स्टेशनसे उतरते हैं, वहाँ खूब भड़कीली और आरामदेह मोटरबस डिपार्टमेंटकी ओरसे आपको तैयार मिलेंगी। आपको दो-तीन आना किराया देना पड़ेगा, लेकिन इस टिकटसे आप स्टोरमें चीज खरीद सकते हैं, इसलिए सवारी मुफ़्तकी मिली। वहाँ छोटे-छोटे खिलौनेंसे लेकर बने-बनाये कोट-पतलून, फल-फूल और खाना सब चीजें मिल सकती हैं। उसका विशाल सभाभवन मुफ़्तमें सभा, धर्मोत्सव और नाटककेलिए मिल सकता है। पूँजीपति जानता है, कि यह उसकी दूकानके विज्ञापनका यह बहुत अच्छा साधन है। यद्यपि भारतकी गरीबीसे वहाँका मुक़ाबिला नहीं किया जा सकता, किन्तु बेकार और भूखे लोग वहाँ भी बहुत हैं, भूखसे तंग आकर कितने ही लोग आत्म-हत्या किया करते हैं।

मिम सकाकिबारा बहुत सुघरे विचारके तरुण थे, यद्यपि हिटलरके जर्मनीमें रहकर वह नाजियोंके संगठनसे प्रभावित थे। तो भी वह अपने शासकोंसे सन्तुष्ट नहीं थे।

नित्ता—तोक्योमें करीब सवा महीने रहनेके बाद मेरी इच्छा हुई, कि किसी जापानी गाँवमें रहूँ और वहाँके ग्राम्यजीवनको नजदीकसे देखूँ। श्री ब्योदोसे भारतमें मुलाक़ात हो चुकी थी, यहाँ भी वे मिले और उनका आग्रह था कि मैं उनके गाँव नित्तामें चलकर रहूँ। ब्योदोके माता-पिता छियासठ और सत्तर वर्षके वृद्ध हैं। ब्योदोका छोटा भाई कम्यूनिस्ट विचारोंका था, जिसकेलिए उसे कितने ही मासोंतक जेलकी हवा खानी पड़ी। आजकल वह एक मासिकपत्रका सम्पादक था। हम २८ मईको ब्योदोके साथ उनके गाँव नित्ता गये। स्टेशनसे दो मील टेक्सीसे जाना पड़ा, फिर आध मील पहाड़ीपर चढ़ना-उतरना हुआ। उनका मन्दिर एक पहाड़ीके पार्श्वपर है। वह छ-सात सौ वर्ष पुराना है। इनका घर बौद्धपुरोहितोंका है, यजमानोंकी आमदनीके अतिरिक्त पासमें काफ़ी खेत हैं। जापानके गाँवमें भी बिजलीकी रोशनी लगी हुई है, लेकिन वह सिर्फ़ रातको ही काममें लाई जा सकती है। उस वक्त नित्तामें जौ, गेहूँ, वकला (क्लोवर) के खेत लहरा रहे थे, कुछ पक भी चुके थे। स्ट्राबरीके भी बहुतसे खेत थे। धानका बीज अभी छ-छ अंगुल उगा हुआ था। रोपनेकेलिए खेत तैयार किया जा रहा था। किसानोंके मकानोंकी छतें अधिकतर फूसकी थीं। पासमें बाँस, देवदार आदिसे ढँकी पहाड़ियाँ थीं। बाँसको यहाँ एक-एक करके अलग लगाया जाता है। कुछ समय पहिले बाँससे ज्यादा बाँसके करीरमें नफ़ा था। नरम करीरकी तरकारीको जापानी लोग बहुत पसन्द करते हैं, उस दिन हम नित्तामें रह गये। हमें गाँव बहुत सुहावना मालूम हुआ।

अगले दिन (२९ मई) मैं तोक्यो लौट आया। वहाँ एक-दो जापानी फ़िल्म देखे। फ़िल्ममें सबसे ज्यादा जिस बातकी कोशिश की गई थी, वह थी लड़ाई और सैनिक शक्तिको बढ़ानेकेलिए लोगोंको तैयार करनेकी प्रेरणा। प्राकृतिक दृश्योंको चित्रित करनेमें अवश्य सुरुचिका परिचय दिया गया था।

२ जूनको मैं नित्तामें रहनेकेलिए गया और तबसे २० जुलाईतक—डेढ़ महीने मैं वहीं रहा। रेलका डेढ़ घंटेका रास्ता था, लेकिन इतनी दूरकी मोटर टैक्सीकेलिए सिर्फ़ ढाई येन् (१ रुपया १४ आना) किराया देना पड़ा। यहाँपर ब्योदो महाशय [illegible] जानते थे। उनके माता-पिताके साथ चाहे हाथके इशारेसे बातचीत

करने या जापानी-अंग्रेजी-स्वयंशिक्षककी मददसे। व्योदो-बन्धुओं (दोनों) ने अभी शादी नही की थी। उनके घरमें एक और तरुण भिक्षुणी रहती थी, जिसे भिक्षुणीकी जगह ब्रह्मचारिणी कहना ही ज्यादा ठीक होगा, क्योंकि उसकी वेषभूषामें कोई अन्तर नहीं था। यह बहुत ही शान्त और एकान्त स्थान था। मन्दिर और घरके हातेमें एक छोटासा बाग था, जिसमे देवदारके भी कुछ वृक्ष थे। सर्दीमें, जब कि बरफ़ पड़ जाती है, शीशेके गरम घरोंमें तरकारी पैदा करनेका भी इन्तिजाम है। आजकल स्ट्राबरी पकी हुई थी। विल्कुल ताज़ा और सस्ती स्ट्राबरी मिल रही थी। जापानी लोगोंको प्राकृतिक सौन्दर्यमे बहुत प्रेम है, वह अपने बगीचोंको भी बहुत कुछ प्राकृतिक वनोंके नमूनेपर बनाते है। देवदारके सौन्दर्यपर वह मुग्ध हैं और हिमालयके देवदारको तो सौन्दर्य-शिखामणि मानते हैं। हिमालयसे देवदार यहाँ लाये गये हैं और उसके आठ-आठ दश-दश हाथके पौदे बिकते दिखाई पड़ते हैं। नित्ता छोड़नेसे पहिले व्योदोसान् (व्योदोजी) का आग्रह हुआ, कि मैं अपनी स्मृतिके-लिए एक हिमालयीय देवदारको मन्दिरके सामने लगा जाऊँ। स्मृतिपर मुझे विश्वास बहुत नहीं है, लेकिन दो, चार, दश पीढियोंकेलिए एक सुन्दर वस्तु छोड़ जाना अच्छी चीज है।

यहाँ भी मुझे अपना बहुतसा समय प्रूफोंके देखने और दीघनिकायके हिन्दी अनुवाद करनेमे देना पड़ता था। जापानी दैनिकपत्र वहाँ आता था, लेकिन मैं उसे पढ नही सकता था। हाँ, रातको रेडियो चलता था। कुछ मिनट अंग्रेज़ीमें भी खबरें सुनाई जाती थी। ३ जूनको रेडियोने खबर दी, कि क्वेटामे भयंकर भूकम्प आया और ६० हज़ारसे ऊपर आदमी मरे। खबर सुनकर दिल विचलित हो गया। सालभर पहिलेके विहार-भूकम्पके हृदय-द्रावक दृश्यको मैंने देखा था।

कभी-कभी वर्षा भी हो जाती थी, लेकिन वैसे मौसिम अच्छा था। यहाँ काफ़ी मच्छर थे, और दिनमें कुछ गर्मी भी मालूम होती थी। खाली समयमें मैं जापानी सीखनेकेलिए कोशिश करता था। व्योदोसान संस्कृत जानते थे। वह मुझसे कुछ काव्यग्रंथ पढ़ते थे। इधर-उधरके गाँवों और आसपासके नगरोंमें ले जानेमें वह मेरे पथप्रदर्शक रहते थे।

२० जूनको हम किसानोंके घर देखने गये। फूसकी छतोंके छोटे-छोटे घर एक-दूसरेसे अलग-अलग बसे थे। किसानोंके घरोंमें नौकरानियोंको कपड़ा, खाना, थोड़ासा पैसा दिया जाता है, जो सब मिलाकर ५ रुपया या ६ रुपया मासिकसे ज्यादा नहीं पड़ता। जापानी अपने खानेमें कितना कम खर्च करते हैं, यह इसीसे

मालूम होगा, कि विश्वविद्यालयके विद्यार्थियोंको भी खानेके ऊपर ४ या ५ रु०से बेशी खर्च नहीं करना पड़ता। दूध, मक्खन, तेल, मांस, मसाला उनके भोजनमें जरूरी नहीं है, मांस-मछली भी कभी-कभी खाते हैं। गाँवके लोगोंका खर्च तो और कम पड़ता है।

खेती करनेमें जापानी किसान आधुनिक चीजोंका बहुत उपयोग करते हैं। खेतोंमें खाद खूब देते हैं। फैक्टरियोंकी बनी खादों और कच्चे पाखानेको भी डालते हैं। शहरों और गाँवोंमें भी पाखानेके खरीदार घूमते रहते हैं। अगर आप अपने पाखानेको खेतमें नहीं डाल रहे हैं, तो उसे अच्छे दामपर बेंच सकते हैं। शहरोंमें म्यूनिसपैलिटियाँ पाखानोंको बेच देती हैं। इन्हें मुँहबन्द नावोंमें भरकर गाँव-गाँव ले जाते हैं। किसान खरीद लेते हैं। किसानको बाल्टीमें पाखाना रखे, नाकको कपड़ेसे बन्द किये, हाथसे खेतमें छींटते देख आप समझेंगे कि पैरा छींट रहा है। कच्चा पाखाना पड़ जानेपर कुछ दिनों खेतोंके रास्ते जाना मुश्किल हो जाता है। हमारे किसानोंसे वह चौगुना-पँचगुना फसल पैदा करते हैं। वहाँ भी बड़े-बड़े जमींदार हैं, सबसे बड़ा जमींदार तो जापानका सम्राट् है। किसानोंको अपने पसीनेकी कमाईका बहुतसा भाग इन निठल्लोंको दे देना पड़ता है, तो भी वहाँकी सर्कार किसानोंकी और तरहसे मदद करनेकी कोशिश करती है। कृषिविद्यालय वहाँ सर्कारी नौकर नहीं तैयार करते, बल्कि नये ढंगके किसान पैदा करते हैं। किसान खेतोंमें मशीनोंका भी इस्तेमाल करते हैं। खासकर दँवाईमें पैरसे और तेलके इंजनसे चलनेवाली मशीनोंको इस्तेमाल करते हैं। जब फसल हो जाती है, तो जापानी किसान निश्चिन्त जीवन बिताता है; लेकिन यदि फसल खराब हो गई, तो हालत बहुत बुरी हो जाती है। क्योंकि सालभरके खाने-कपड़ेके बाद बहुत कम घरोंमें कुछ बच रहता है।

जापानी किसान एक-दूसरेकी मददके फायदेको पहिलेसे ही जानते थे। जापानी घर लकड़ी कागजकी दीवारोंपर फूसकी छतके सिवा और कुछ नहीं। मुमकिन है, सीमेंटके जमानेमें वह नये तरहके घर बनाते। जापानमें शायद ही कोई महीना जाता हो जिसमें भूकम्प न आता हो। बहुत सख्त भूकम्प कभी-कभी आते हैं। ईंट और पत्थरकी दीवारें तो इन भूकम्पोंके कर-स्पर्शसे ही भेंट जाती हैं, फिर ऐसे मकान सिर्फ आदमियोंकेलिए कब्र बनानेका काम कर सकते हैं। लकड़ीके मकान भूकम्पकेलिए अच्छे सहायक हैं, इसमें शक नहीं, लेकिन उनमें आग भी बड़ी [illegible] है। खैरियत यही है, कि मकान एक-दूसरेसे दूर-दूरपर रहते हैं।

हमारे गाँवोंकी तरह अगर होता, तो गाँवका गाँव जल जाता। किसीका घर जल जानेपर नई फ़सल होनेतक गाँवभरके रसोईखाने उसकेलिए खुल जाते हैं। एक दिन हम जा रहे थे, देखा—दो खम्भोंपर चौड़ी लकड़ीकी पट्टी लगी हुई है, जिसपर हाथसे लिखकर बहुतसी काग़ज़की छोटी-छोटी चिटें साटी हुई हैं। ब्योदोसानने बतलाया, कि उस घरमें आग लग गई थी। आग लग जानेपर गाँवके सभी आदमियों-को अपनी शक्तिके अनुसार मदद देना जरूरी है, और जला घर थोड़े ही दिनोंमें फिर खड़ा हो जाता है। खेत बँटने नहीं पाते, क्योंकि घरकी सारी सम्पत्तिका मालिक बड़ा लड़का होता है। नकद रुपयेमेंसे माँ-बापने हाथ उठाकर कुछ दे दिया, या बड़े भाईने कुछ दया दिखलाई, तो छोटे भाईको कुछ मिल जायगा, नहीं तो उसको कुछ भी पानेका हक नहीं है। मैं एक दिन ब्योदोसानसे इस प्रथाकी निन्दा कर रहा था और वह उसका समर्थन कर रहे थे। मैंने कहा कि बड़े भाई ऐसा ही करेंगे। उन्होंने जवाब दिया—बड़े भाईकी जिम्मेदारी बहुत ज्यादा है, उसे अपने छोटे भाइयों हीको नहीं देखना होता, बल्कि उस घरसे अलग होकर जितने घर बने हैं, सबकी इज्जतका ख्याल रखना होता है। पितरोंका श्राद्ध करना, उनकी समाधियोंकी पूजाकेलिए आना जिनमें उनके पितरोंकी राख रखी हुई है, हरेकका धर्म है; उस समय परिवार-ज्येष्ठको सबको खाना देना पड़ता है। मैंने कहा—इसके साथ तिब्बतकी तरह यदि सारे भाइयोंकी एक ही स्त्री होती, तो आदमी नये घरके बनाने और नई सम्पत्तिके पैदा करनेके तरद्दुदसे बँच जाता। जापानमें छोटे भाई जब खूब सयाने हो जाते हैं, कुछ कमा लेते हैं, तभी ब्याह करते हैं। लड़कियोंको भी शादीकेलिए रुपया जमा करना बहुत जरूरी है। वह तीन-तीन, चार-चार बरसकेलिए किसी कारखाने या धनी आदमीके घरमें नौकरानी बन जाती हैं, गरीब माता-पिता दो-दो तीन-तीन सौ रुपये पेशगी ले लेते हैं, फिर ऐसी लड़कियाँ उतने दिनोंकेलिए बिक सी जाती हैं।

स्त्रियोंकी अवस्थामें नवीन जापानने कोई सुधार नहीं किया है। विवाहसे पूर्व उसका काम है, शरीरतक बेचकर माँ-बापकी सेवा करना। नाचने-गानेका पेशा करनेवाली लड़कियाँ गैशा कही जाती हैं। ऐसे गैशाघर सभी शहरों और क़सबोंमें पाये जाते हैं, जिनमें १०-५ या अधिक लड़कियाँ रहती हैं। आप चाहें तो फ़ीस दें, और गैशाघरमें नाचना-गाना सुन आएँ, चाहें तो किसी लड़कीको अपने घरपर बुला सकते हैं। लड़कीकी फीस मालिक लेता है। लड़कियाँ ज्यादातर ऐसे माँ-बापकी होती हैं, जिन्होंने गरीबीके कारण गैशाघरके मालिकसे कुछ रुपये

चलते हैं। सकाकिबाराको इचीजो-विहारमें व्याख्यान देना था। रास्ता दो मील था। हम लोग पैदल चले। चारों ओर खेतमें हाथ-सवा हाथ लम्बे धान खड़े थे। जहाँ-तहाँ ऊँची-नीची जमीन और हरी-भरी पहाड़ियाँ दिखाई देती थीं। ऊँचेके खेतोंमें तूतके पेड़ लगे हुए थे। यह रेशमके कीड़ोंकेलिए थे। सकाकिबाराने तो शाम और रातको ३ बार व्याख्यान दिया। एक बार मुझे भी बोलना पड़ा। अगले दिन उन्होंने ४ व्याख्यान दिये। मुझे आश्चर्य होता था कि लोग इतने व्याख्यानोंको धैर्यसे सुनते कैसे हैं।

३१ जुलाईको हम क्योतो पहुँचे। क्योतो एक बार हम देख चुके थे, लेकिन उस वक़्त जल्दी-जल्दीमें थे। अबकी बार ३१ जुलाईसे ३ अगस्ततक वहाँ ही रहना पड़ा। पुराने राजमहलोंको देखा। रूसविजेता नोगीकी समाधिको भी देखा। दो तारीखको नारा भी हो आये। मूर्तियों और चित्रोंका म्यूजियममें एक अच्छा संग्रह है। दाईबुत्सु (महाबुद्ध)की धातुकी विशाल प्रतिमाका दर्शन किया। यहाँसे नोशो दाईजी गये। यह एक पुराना विहार है, जिसमें दस भिक्षु रहते हैं। स्थविर कितागावाकी आयु बहत्तर सालकी है। जापानके बौद्धभिक्षुओंमें विनय-नियमोंपर चलनेवाला यही एक भिक्षु-सम्प्रदाय है। इनके ४०० मन्दिर सारे देशमें फैले हुए हैं। महास्थविरने अपने ही जैसे विनय-सम्प्रदायके एक भिक्षु और साथ ही बुद्धकी जन्मभूमिके निवासीको देखकर अपार स्नेह प्रकट किया। उन्होंने वहाँ रहनेका बहुत आग्रह किया, लेकिन मैं तो अब जापान छोड़नेवाला था। वह अच्छे विद्वान हैं। बौद्धगृहस्थ उनका बड़ा सम्मान करते हैं। वह अपनी कठिनाइयोंके बारेमें कह रहे थे—क्या करें, शिक्षा-दीक्षा देकर लड़कोंको तैयार करते हैं, जवानीका जोर बढ़ता है, फिर वह व्याह करने चले जाते हैं। वस्तुतः जापानमें गृहत्यागी भिक्षु रहना कठिन है, क्योंकि स्त्री-पुरुषोंका संसर्ग खुला है। इस मन्दिरमें बहुतसी कलापूर्ण पुरानी मूर्तियाँ हैं। जापानमें ऐसी वस्तुओंको राष्ट्रधन बना लिया जाता है। यद्यपि वह मूर्ति उसी जगह रहने दी जाती है, किन्तु उसकी रक्षाकी जिम्मेवारी सर्कार अपने ऊपर समझती है। इस विहारमें ऐसे राष्ट्रधन बहुत हैं। हमने नारामें केगोन् (अवतंसक) सम्प्रदायके विहारको देखा, यहाँ रित्सु (विनय) सम्प्रदायके विहारको और हार्यामोतोंमें होस्सो (विज्ञानवाद) सम्प्रदायके भिक्षुओंको। यही तीनों जापानके सबसे पुराने सम्प्रदाय हैं। उसी दिन हम क्योतो लौट आये।

अगले दिन एक बौद्धसभाकी ओरसे जलपानका इन्तिजाम हुआ था। फिर ४ ... क्योतो विहारके प्रधान और जापानके अच्छे विद्वान प्रोनिर्मीसे मिले।

जापानके बौद्धधर्माचार्योंमें यह सबसे अधिक भद्र पुरुष मालूम हुए। यह बड़े विद्वान और सम्मानित पुरुष हैं। उन्होंने कहा, आप पढ़नेकेलिए भेजिए मैं पाँच भारतीय बच्चोंका सारा भार अपने ऊपर लेनेको तैयार हूँ। यह विहार क्योतोके पासकी पहाड़ीपर एक बड़े ही रमणीय स्थानमें बना हुआ है।

कोयासान्—डेढ़ बजे रेलसे हम ओसाकाकेलिए रवाना हुए। स्टेशनपर विश्वविद्यालयके प्रोफ़ेसरकी तरुण-स्त्री मिलनेकेलिए आई। गर्मी बहुत पड़ रही थी, उन्होंने पखा देना चाहा, किन्तु जापानमें स्त्रीका पंखा पुरुष इस्तेमाल नहीं कर सकता, इसलिए उसे लेनेकी जरूरत नहीं पड़ी। टेक्सीसे हमलोग दूसरे स्टेशनपर गए। यहाँसे सकाकिबाराने बिदाई ली। सकाकिबारासे परिचय प्राप्त करनेका अवसर मुझे बर्लिनमे मिला था, लेकिन वहाँ उतनी घनिष्टता नहीं हो पाई थी, और अब गोसाईंजीकी चौपाई "बिछुरत एक प्राण हरि लेहीं" याद आ रही थी। कुछ दूरतक साधारण गाड़ीसे जाना पड़ा। फिर तारद्वारा पहाड़पर चढ़नेवाली बिजलीकी गाडी मिली। अब मैं बिल्कुल अकेला था। लेकिन तीन महीने रह जानेसे सौ-डेढ़सौ जापानी शब्द तो मुझे याद हो गए थे, इसलिए कोई दिक़्क़त नहीं हुई। बिजलीगाड़ीसे उतरकर मोटर-बस पकडी। कोयाशान विहारो (मठों) का नगर है। फाटक परके भद्रपुरुषने एक पथप्रदर्शक दे दिया और वह मुझे मीजूहारा सानके पास पहुँचा आया। मीजूहारा सानको पहिलेहीसे मेरे बारेमें चिट्ठी मिल गई थी। वह पीतचीवरधारी भिक्षु थे। बड़े प्रेमसे मिले। तुरन्त स्नानकेलिए गरम पानीका प्रबंध हुआ। चारों ओर सुन्दरता और स्वच्छता दिखाई पड़ती थी। कोयाशान बिल्कुल हिमालयका टुकड़ा मालूम होता है। यद्यपि यह तीन हज़ार फीट ही ऊँचा है, लेकिन जापानमें तो समुद्रके तटपर तीन-तीन फ़ीट बर्फ जम जाती है। सारा पहाड़ ऊँचे-ऊँचे देवदारोंसे ढँका हुआ है। यहाँकी संस्थाएँ सभी भिक्षुओंके हाथमें हैं। हाईस्कूलके चारसौ विद्यार्थियोंमें तीनसौ भिक्षु हैं। कालेजके दोसौ साठ विद्यार्थियोंमें पाँच-सात छोड़ सभी भिक्षु हैं। अगले दिन हमने यहाँका म्यूज़ियम देखा। चित्रों और मूर्तियोंका अच्छा संग्रह है। कालेजमें संस्कृतके प्रोफ़ेसर फूचीदा और उयेदा मिले। पुस्तकालयमें ७० हजार ग्रन्थ हैं। कोयासान्में जापानके महान् धर्माचार्य कोबो धइशीका निवास स्थान रहा, यहीं उनकी समाधि है। ११,१२ शताब्दियोंमें यह स्थान जापानी बौद्धोंकेलिए एक तीर्थस्थानसा बन गया है। मैं यहाँके बीसियों विहारोंको घूम-घूमकर देखता रहा। दाईजोइन विहारमें तीन मंगोल भिक्षु मिले। कोयासानका प्राकृतिक सौन्दर्य अनुपम है। इसका अनुमान वही कर सकता है, जिसने कनौर (बुशहर राज्य) को देवदार-

स्थली को देखा है, अथवा हिमालयके किसी और देवदार-आच्छादित पर्वतस्थलीको मीजूहारा मान्को इसका बहुत अफसोस रहा, कि मैं दो रातसे ज्यादा वहाँ ठहर न सका। मैं भी समझता था कि जापानकेलिए मैंने बहुत कम समय दिया। सासा तोशोदाइजी, क्यो मीजू, और कोयासान्को तो दिन नहीं, महीने देने चाहिए। इ जगहोंमें मुझे मालूम नहीं होता था, कि मैं किसी दूसरे देशमें आ गया हूँ।

अगले दिन ७ बजे सबेरे मुझे विदाई लेनी पड़ी। प्रोफेसर फूचीदा स्टेशनत पहुँचाने आए। फिर उसी रास्ते ओसाका स्टेशन पहुँचा और ट्रेन पकड़कर कोबे आनन्दमोहन सहायके पास पहुँच गया। आनन्दमोहनने इधर-उधर सूचना दे रु थी, पत्रोंके संवाद-दाता और फोटोग्राफ़र पहुँच गए।

७, ८ अगस्तको कोबेहीमें रहना पड़ा। अभी भी रुपएकी कुछ कमी मालूम होत थी, इसलिए रूस जाना संदिग्ध था। आनन्दजीके प्रयत्नसे भारतसे ३ सौ ६७ येनव चेक मिल गया। अब रूस जाना निश्चित हो गया। लेकिन साथ ही मध्यची देखनेकी भी अब संभावना नहीं रह गई।

६ तारीखको १० बजे आनन्दमोहनसे विदाई ली। रेलपर बैठा। ८ ब शामको शीमोनोसकी पहुँचा। अब मैं कोरिया जा रहा था। १० बजे जहाजप पहुँच गया, लेकिन समुद्रमें तूफानका डर था, इसलिए जहाज वहीं खड़ा रहा। तीसरे दर्जेका यात्री था, लेकिन सफ़ाईकेलिए क्या कहना। बैठनेकेलिये बहुत साफ़ शीतल-पाटियाँ बिछी थीं, हवा देनेकेलिए नलियाँ लगी हुई थीं। पाखाना साफ़ था मुँह धोनेकेलिए पीतलके बरतनोंपर पचीसों नलियाँ लगी थीं और सामने दर्पण टँ थे। भोजनका प्रबन्ध भी उत्तम था। २० सेन (पौने चार आने)में तरकारी मछली, अचार आदिके साथ भातका एक लकड़ीका बक्स मिलता था। हिन्दुस्तानं तो ऐसे बक्स हीका दो आना लग जायगा। हाँ, भीड़ ज्यादा थी। तूफानके डरके मारे उस दिन जहाज नहीं छूट सका। अगले दिन १० अगस्तको भी वही हाल हुई। इधर जहाज जाने रुक गये थे, और उधर रेल मुसाफिरोंको ढो-ढोकर ल रही थी। हमें दो-दो बार जहाज छोड़कर नीचे उतरना पड़ा। ६ बजे रातक जब जहाज छोड़ा गया तो, भीड़में कुम्भका मेला याद आ रहा था। खैर, किसी तरह १० बजे रातको जहाज कोरियाकेलिए रवाना हुआ।

२०

कोरियामें

९ घंटा चलनेके बाद हमारा जहाज शीमोनोसकीसे फूसन (कोरिया) पहुँचा। छोटे-छोटे पहाड़ और उनपर जहाँ-तहाँ छोटे-छोटे देवदारके दरख्त थे। फूसन १ लाख १३ हजार (४१ हजार जापानी) आबादीका एक अच्छा शहर है। प्राकृतिक दृश्य जापानसा ही है, किन्तु यहाँ बड़े वृक्ष कम हैं, जापानकी रेलवे आई० आर० और ओ० टी० आर०की लाइनोंके बीचकी है, लेकिन यहाँ जो रेलवे लाइन है वह चौड़ाईमें ई० आई० ए०के बराबर है। हमारी ट्रेन तैयार थी, उसपर गद्दा भी था। हमारे डिब्बेमें दो कोरियन विद्यार्थी भी चल रहे थे। सवा तीन बजे कोरियाकी राजधानी केयिजोमें पहुँच गये। केयिजोकी आबादी ३ लाख, १५ हजार है, जिसमें ७८ हजार जापानी और ४३०० चीनी भी हैं। ढूंढते-ढाँढ़ते मैं हीगाशी विहारमें पहुँच गया। वहाँके धर्माचार्यको चिट्ठी मिल गई थी। वह कोङ्गोशान् (वज्र-पर्वत)की यात्राकेलिए तैयार थे। उन्होंने मुझे भी चलनेकेलिए कहा।

अगले दिन (१२ अगस्त)को ५ बजे सबेरे-ही हम सकुओजी स्टेशनपर पहुँचे। सबेरा होनेसे मोटर नहीं मिली और हमें पैदल चलना पड़ा। रास्तेमें एक कोरियन गाँव मिला। अभी पर्वत आगे था, लेकिन यहाँ भी भूमि समतल नहीं थी। कोरियन किसानोंके घर एकतल्ले होते हैं और छत फूसकी रहती है, किवाड़ दुहरे रहते हैं, और उनमें काग़ज साटा रहता है। हम एक जापानी होटलमें ठहरे। १० बजे मोटरसे मन्दिरकी ओर चले, लेकिन पहले फाटकतक ही वह जा सकती थी। यहाँ देवदारके बड़े-बड़े वृक्ष थे। पाँच, छ देवालय हैं, जिनमें भेसज्जगुरु (बुद्ध), साक्यमुनि और अमिताभकी मूर्तियाँ थीं। कलाकी दृष्टिसे उनमें कुछ नहीं था। एक मन्दिरमें ५०० अरहतोंकी पत्थरकी मूर्तियाँ हैं। कहते हैं, एक अरहत् नाराज हो गया और चला गया तबसे उसकी जगह खाली है, इन मूर्तियोंमें भी कोई कला नहीं है। यह मन्दिर १४वीं सदीमें बना था। हमारे यहाँ भी ११वीं शताब्दीसे कलापर शनिश्चरकी दृष्टि पड़ जाती है। यहाँके मठका उपनायक एक तरुण कोरियन भिक्षु था, जिसने जापानमें शिक्षा पाई है। जापानी बौद्धविहारोंकी कला और स्वच्छताके सामने सकुओजीके इस विहारकी कोई गिनती नहीं।

स्टेशन लौटकर हमने दो बजेकी गाड़ी पकड़ी और पूर्वी समुद्रतटपर गनमेन्के

कोरियाके एक बहुत बड़े विहार यूतेनजीको देखना था। कोतेई एक अच्छा बाज़ार है, यहाँ कोरियनों और जापानियोंकी दूकानें हैं, आगे पैदलका रास्ता था, जिसकेलिए एक आदमीका इन्तिज़ाम कर दिया गया था। साढ़े आठ बजेसे साढ़े तीन घंटा चलनेके बाद, हम पहाड़की सबसे ऊँची जगह पहुँचे और सवा तीन घंटे बाद यूतेनजी विहारमें पहुँच गये। यहाँ एक सौसे ऊपर भिक्षु रहते हैं। एक पाठशाला है, जिसमें विद्यार्थी पढ़ते हैं। यह विहार भी ४थी सदी में बना था, किन्तु उस वक़्तका एक छोटासा नौतल्ला पाषाणस्तूप बचा रह गया है। चार सौ वर्ष पुराना एक विशाल घंटा है। पुस्तकालयमें ७०० वर्षतककी पुरानी पुस्तकें हैं। स्थान देवदारोंसे ढँके पर्वतोंके बीचमें है, इसलिए प्राकृतिक सौन्दर्यके बारेमें कुछ कहनेकी जरूरत नहीं। कोरियामें किसी भारतीय भिक्षुके आनेका अवसर सात-आठ सौ बरससे इधर तो नहीं हुआ होगा। उसी दिन लौटनेकी बात सुनकर वहाँके भिक्षुओंको बड़ा अफ़सोस हुआ। वस्तुतः मुझे भी फाशियान और स्वेन्-च्वङ्की तरह अपने साथ समय काफ़ी लेकर चलना चाहिए था, लेकिन तब मैं अभी भी कहीं उधर ही घूमता रहता। शामको साढ़े सात बजे फिर मैं अपने होटलमें लौट आया।

अब अगले दिन हमें कोरियाके सबसे ऊँचे पर्वत विरुहोको देखना था। हमारे साथी अब लौटनेवाले थे, लेकिन उन्होंने तीन जापानी अफ़सरोंसे मेरा परिचय करा दिया, जिनमेंसे एक कोरियाकी रेलवे लाइनोंके बड़े इंजीनियर थे। हमें कुछ दूर मोटरसे जाना पड़ा, फिर पैदल चलके डाँड़ा पार किया, उतराई थोड़ी उतरके टेक्सी मिली। ४० सेन (५ आना) देकर होतेनतक गये। फिर वहाँसे पैदल। रास्तेमें सँवाँ, मकईके खेत मिले। सर्वांग सफ़ेद कपड़े पहिने कोरियन स्त्री-पुरुष अपने काममें लगे थे। मकान वही छोटे-छोटे छप्परवाले। टेकसी छोड़नेके स्थानसे ६ मील जानेपर होटल मिला। आरम्भमें चढ़ाई साधारण थी, फिर कठिन होती गई। पर्वतोंके आकार नाना प्रकारके थे। कोई नागके आकारका, कोई घोड़ेके आकारका। जल-मार्ग भी नाग, त्रिपुंड्र आदि आकारके थे। शिलाओंपर जापानी कम्पनियोंने मोटे-मोटे अक्षरोंमें अपने विज्ञापन खुदवा डाले थे। आखिरी तीन मीलका दृश्य अत्यन्त सुन्दर था। दर्शनीय जलप्रपात, विचित्र शिला और शिखर, घनी वृक्षावली, जिसमें नीचेकी ओर देवदार और ऊपरी भागपर भोजपत्र थे। ओसेइरीसे होटलवालेने भोजन साथ कर दिया था, रास्तेमें हमने वहीं खाया। उसने दो दिनका खाने-रहने, स्नान आदिका ८ येन् (६ रुपया) लिया था; जो कि बहुत

मुक्दन्—स्टेशनपर हिगाशी मन्दिरके धर्माचार्य आये थे, उनके साथ उनके विहारमें गये। यहाँ भी मुझे जापानी घरका मेहमान बनना पड़ा। मुक्दन् कुछ समयतक राजधानी रह चुका है। मंचूराजवंश पहिले यहींका था, अब भी यहाँ मंचूसम्राटोंके प्रासाद हैं, पुराने सिंहासन और राजवस्त्र रखे हुए हैं। प्रान्तीय जादूघर (म्यूज़ियम) पहले मंचू-प्रासाद था। उसमें मंगोल, सुङ्, और मंचू सम्राटों और साम्राज्ञियोंके चित्र रखे हुए थे। मुक्दन्के और भी कई दर्शनीय स्थानोंको देखा। पुराने शहरके चारों तरफ़ चहारदीवारी है। सफ़ाईका कोई ख्याल नहीं। मेरे मित्र मुझे वनसुङ् नामक बड़े बौद्धविहारमें ले गये। यह मंचूरियाका सबसे बड़ा चीनी मठ कहा जाता है, लेकिन जापानी क्या कोरियन मठों जैसा भी यहाँ कोई संगठन नहीं। सभी चीज़ें अस्तव्यस्त मालूम होती थीं। पता लगा कि यहाँ एक लामा मन्दिर भी है। हम लामा मन्दिर देखने गये। यह कुछ दूर हटकर उजड़ेसे स्थानमें है। लामामन्दिरमें राजाकी दी हुई वृत्ति है। यहाँ ४०, ५० मंगोल भिक्षु मौजूद थे। मालूम होता था मैं तिब्बतकी किसी गुम्बामें चला आया हूँ। यहाँ टशीलामाके २, ३ आदमी ठहरे हुए थे, मुझे फरफर तिब्बती बोलते देख वह दिल खोलकर मिले, चाय पिलाई, तिब्बतके बारेमें पूछते रहे। वह बहुत खिन्न थे, क्यों कि तिब्बत लौटनेका उन्हें कोई रास्ता नहीं दिखाई पड़ता था।

२२ अगस्तको मैंने हवाई जहाज़से सिङ्किङ् जानेका निश्चय किया था। लेकिन एक दिन पहिलेसे ही दस्त शुरू हो गये। अगले दिन भी दस्त होता रहा, इसलिए हवाई जहाजसे जानेका निश्चय छोड़ना पड़ा। सिङ्किङ् मुक्दन्से २०० मीलपर है। रातको १० बजकर २५ मिनटपर मैंने रेल पकड़ी।

सिङ्किङ्—सवेरे ६ बजकर ४० मिनटपर मैं सिङ्किङ् पहुँचा। यहाँ भी हिगाशी विहारके पुरोहित स्टेशनपर आये थे। मोटरसे उनके साथ विहारमें गये। विहार एक छोटेसे स्थानपर है। जापानके एक करोड़पति कौन्ट-महंतकेलिए यह शोभा नहीं देता, कि मंचूरियाकी राजधानीमें उनका इतना छोटासा मन्दिर हो। लेकिन यह जल्दी-जल्दीका काम था अब एक और बड़ी जगह गौकेसे ले ली गई है, जहाँ लाखोंका मन्दिर बनने जा रहा है। मेरी तबियत ठीक हो गई थी। भोजनोपरान्त पुरोहितके साथ मैं नगर देखने निकला। हरेक जापानी चाहे व्यापारी हो, या पुरोहित, प्रोफ़ेसर हो, या सैनिक सभी जापानकी यशःपताकाको ऊँचा करना चाहता है। उनको ख्याल भी नहीं आता, कि जिन लोगोंकी स्वतन्त्रता-को उन्होंने अपहरण किया है, उनके दिलपर क्या बीत रही है। कूटशासकोंकी बात

बतलाया कि हमारी दूकानें मुकदन और हर्बिनमें भी हैं। जापानियोंकी प्रतिद्वंदितासे वह बहुत परेशान थे, और भविष्यकेलिए बड़ी आशा नहीं रखते थे।

सिङ्‌किङ् नगरको बहुत बड़े पैमानेपर बसाया जा रहा था। तीन वर्षोंके भीतर आबादी १ लाख ५२ हजारसे २ लाख १८ हजार हो गई थी। कुछ ही दिनोंमें वह ६, ७ लाख होने जा रही थी। दक्षिणी मंचूरिया रेलवेने मुझे घूमनेकेलिए पहिले दर्जेका टिकट दिया था, लेकिन मैं अब सोवियतकी ओर जल्दी बढ़ना चाहता था, इसलिए उसे सधन्यवाद लौटाना पड़ा।

हर्बिन—कुछ ही समय पहिले सिङ्‌किङ्‌से आगेवाली रेलवेलाइन सोवियत-की सम्पत्ति थी। और सिङ्‌किङ् तथा दूसरे स्टेशनोंपर बहुत अधिक रूसी अधि-कारी रहते थे। बादमें जापानने यह रेलवे सोवियतसे खरीद ली। रूसमें क्रान्ति हुई। धनियोंने क्रान्तिको खतम करनेकेलिए कोई बात उठा न रखी। दुनियाभरके पूँजी-पतियोंने क्रान्तिविरोधियोंकी खूब मदद की। क्रान्तिकारी लाल कहे जाते थे। और क्रान्तिविरोधी सफ़ेद रूसी। सफ़ेद रूसियोंने वर्षों लड़ाई लड़कर पराजयका मुँह देखा। फिर वह भागकर पड़ोसी देशोंमें चले गये। लाख या अधिक सफ़ेदरूसी मंचूरियामें भाग आये। उसी तरह हजारों ईरानमें भाग गये और लाखों यूरोपके दूसरे मुल्कोंमें। धर्म और क्या-क्या कहकर कितने ही साधारण रूसियोंको भी बहकाया गया। धनी रूसी तो दूसरे मुल्कोंमें भी जाकर अपने सोना या हीरा-मोती-को बेंचकर दूकान या रोजगार क़ायम करनेमें सफल हुए। और नहीं तो उनकी फ़ैशनेबुल सुन्दर लड़कियोंने ही शरीर बेचनेका रोजगार शुरू किया। शाङ्‌हाईकी श्वेतांग वेश्याओंमें सफ़ेदरूसियोंकी बड़ी अधिक संख्या है। लेकिन, उनके साथ अपने भाग्यको नत्थी करनेवाले साधारण रूसियोंपर आफ़त आई। सोवियत्‌ने हज़ारोंको देश लौटनेकी इजाजत दी, लेकिन अब भी हजारों सिङ्‌किङ्‌में मौजूद थे। इनका एक छोटासा गाँव बसा हुआ था। कितने ही सफ़ेदरूसी रेलवेमें चपरासी, पैंटमैन जैसी नौकरियाँ कर पेट पालते थे। इनका चमड़ा वैसे ही सफेद था, जैसा अंग्रेजों, अमेरिकनों या फ्रांसीसियोंका, किन्तु मंचूरियामें सचमुच ही सफेद चमड़ेकी कोई क़ीमत न थी।

४ बजे बाद हमारी रेल सिङ्‌किङ्‌से चली। गाड़ियाँ उतनी साफ नहीं थीं। स्टेशनोंके नाम अब भी रूसी अक्षरोंमें लिखे हुए थे। आसपासके खेतोंमें बाजरा, सोया खड़े थे। नीले रंगके कुरते-पायजामे पहिने चीनी किसान कहीं अपने कामोंमें लगे थे, कहीं अपनी छोटी-छोटी झोंपड़ियोंके सामने खड़े थे। साढ़े ६ बजे हमारा

छोड़िये, ईमानदार जापानी भी सोचते हैं—"भीतरी कमजोरियोंके कारण जो दे यूरोपीय भेड़ोंके शिकार हैं, उन्हें यदि हम अपनी छत्रच्छायामें ले लेते हैं, तो कौनस बुरा करते हैं ? चीनी मूर्तिकला, चित्रकला, साहित्य, संस्कृति, सभ्यताका हम अपनेको उत्तराधिकारी मानते हैं, इसलिए हम उनकी रक्षा करना चाहते हैं। हम रंगभेदको नहीं मानते और सबके साथ खुला शादी-ब्याहका सम्बन्ध क़ायम करन चाहते हैं। क्रूर, लुटेरे जेनरलोंके शासनको हटाकर हम सुव्यवस्थित शासनव्यवस्था स्थापित कर रहे हैं, उद्योग-धन्धोंको बढा रहे हैं, और उसमें चीनी व्यवसायियोंका स्वागत करनेकेलिए तैयार हैं।" लेकिन उनका यह सोचना बिल्कुल एकतरफ़ा है यह सब कुछ जातीय स्वतन्त्रताके सामने कोई चीज नहीं है। अन्धा भी समझ सकता है, जापानी मंचूरियामें सिर्फ परोपकारकेलिए नहीं आये हैं। पिछले तीन वर्षोंमें सिन सिङ्किङ्में जापानी १० हजारसे ४० हजार हो गए। अच्छे-अच्छे मकान, अच्छी अच्छी दूकान, नगरका सबसे स्वच्छ स्थान उनके हाथमें है। जापानी सेनाकी अपनी अलग ही सरकार है—जापानमें भी, और जापानी सेना जहाँ जाय वहाँ भी।

पहिले हम जापानी (क्वान्तुङ्) सेनाके कार्य-भवनमें गये। प्रोपेगंडाकेलिए अंग्रेजीमें छपे बहुतसे बुलेटिन हमें दिये गये। जापानी प्रोपेगंडाके महत्वको समझते हैं, लेकिन उनका सबसे अधिक विश्वास अपनी भालाकी और तलवारपर है। दूसरे दिन (२४ अगस्त) कई सरकारी विभागोंमें गये। शिक्षाविभागोंके डाइरेक्टर तथा दूसरे अफसर मिले, उन्होंने यह समझानेकी कोशिश की, कि जापान मंचूरियामें अज्ञानको जल्दीसे जल्दी दूर करना चाहता है। मंगोलविभाग अलग था, जो मंचूरियाके मंगोल इलाक़ेका जिम्मेवार था। लेकिन जापानी इसे सिर्फ मंचूरियाके मंगोलोंकेलिए ही इस्तेमाल नहीं करना चाहते, बल्कि उनके सामने बाह्यमंगोलियाका स्वतन्त्र प्रजातन्त्र और बुर्यत् सोवियत प्रजातन्त्र भी था। वह आशा रखते थे, कि एक दिन सारी मंगोल जाति उनके झंडेके नीचे आयेगी। ३, ४ साल बाद उन्होंने मंगोल-प्रजातन्त्रमें पैर भी रखा था, लेकिन बहुत पिटना पड़ा था, कई हजार आदमियोंको मरवाकर शान्तिभिक्षाकेलिए नाक रगड़नी पड़ी थी। मैंने पुराने शहरको भी देखा। उस महलको भी देखा, जिसमें मंचूरियाके सिन्नौने राजा पूई रहते थे। शहरमें घूमते वक्त दो सिन्धी दूकानें मिलीं। मूलचन्द और दौलतराम हैदराबाद सिन्धके रहनेवाले थे। मुझे जब पहिले कहा गया, कि यहाँ हिन्दुस्तानी दर्जी रहते हैं, तो मैंने समझा कोई दर्जीकी दूकान होगी। लेकिन यहाँ तो अच्छी सजी हुई कपड़ेकी दूकान थी, वैसी ही जैसी मैंने पोर्टसईद और कोलम्बोमें देखी थी। उन्होंने

बतलाया कि हमारी दूकानें मुकदन और हरबिनमें भी हैं। जापानियोंकी प्रतिद्वंदितासे वह बहुत परेशान थे, और भविष्यकेलिए बड़ी आशा नहीं रखते थे।

सिङ्किङ् नगरको बहुत बड़े पैमानेपर बसाया जा रहा था। तीन वर्षोंके भीतर आबादी १ लाख ५२ हज़ारसे २ लाख १८ हज़ार हो गई थी। कुछ ही दिनोंमें वह ६, ७ लाख होने जा रही थी। दक्षिणी मंचूरिया रेलवेने मुझे घूमनेकेलिए पहिले दर्जेका टिकट दिया था, लेकिन मैं अब सोवियतकी ओर जल्दी बढ़ना चाहता था, इसलिए उसे सधन्यवाद लौटाना पड़ा।

हर्बिन्—कुछ ही समय पहिले सिङ्किङ्से आगेवाली रेलवेलाइन सोवियत-की सम्पत्ति थी। और सिङ्किङ् तथा दूसरे स्टेशनोंपर बहुत अधिक रूसी अधि-कारी रहते थे। बादमें जापानने यह रेलवे सोवियतसे खरीद ली। रूसमें क्रान्ति हुई। धनियोंने क्रान्तिको खतम करनेकेलिए कोई बात उठा न रखी। दुनियाभरके पूँजी-पतियोंने क्रान्तिविरोधियोंकी खूब मदद की। क्रान्तिकारी लाल कहे जाते थे। और क्रान्तिविरोधी सफ़ेद रूसी। सफ़ेद रूसियोंने वर्षों लड़ाई लड़कर पराजयका मुँह देखा। फिर वह भागकर पड़ोसी देशोंमें चले गये। लाख या अधिक सफ़ेदरूसी मंचूरियामें भाग आये। उसी तरह हज़ारों ईरानमें भाग गये और लाखों यूरोपके दूसरे मुल्कोंमें। धर्म और क्या-क्या कहकर कितने ही साधारण रूसियोंको भी बहकाया गया। धनी रूसी तो दूसरे मुल्कोंमें भी जाकर अपने सोना या हीरा-मोती-को बेंचकर दूकान या रोजगार क़ायम करनेमें सफल हुए। और नहीं तो उनकी फ़ैशनेबुल सुन्दर लड़कियोंने ही शरीर बेचनेका रोज़गार शुरू किया। शाङ्हईकी श्वेतांग वेश्याओंमें सफ़ेदरूसियोंकी बड़ी अधिक संख्या है। लेकिन, उनके साथ अपने भाग्यको नत्थी करनेवाले साधारण रूसियोंपर आफ़त आई। सोवियत्ने हज़ारोंको देश लौटनेकी इजाज़त दी, लेकिन अब भी हज़ारों सिङ्किङ्में मौजूद थे। इनका एक छोटासा गाँव बसा हुआ था। कितने ही सफ़ेदरूसी रेलवेमें चपरासी, पैंटमैन जैसी नौकरियाँ कर पेट पालते थे। इनका चमड़ा वैसे ही सफ़ेद था, जैसा अंग्रेज़ों, अमेरिकनों या फ़्रासीसियोंका, किन्तु मंचूरियामें सचमुच ही सफ़ेद चमड़ेकी कोई क़ीमत न थी।

४ बजे बाद हमारी रेल सिङ्किङ्से चली। गाड़ियाँ उतनी साफ़ नहीं थी। स्टेशनोंके नाम अब भी रूसी अक्षरोंमें लिखे हुए थे। आसपासके खेतोंमें बाजरा, सोया खड़े थे। नीले रंगके कुरते-पायजामे पहिने चीनी किसान कहीं अपने कामोंमें लगे थे, कहीं अपनी छोटी-छोटी झोंपड़ियोंके सामने खड़े थे। साढ़े ६ बजे

इंजन बिगड़ गया और कितनी ही देरतक यहीं रुका रहना पड़ा। फिर हर्‌बिन्‌से इंजन आया, तो हमारी गाड़ी चली और साढ़े १२ बजे रातको हम हर्‌बिन्‌ पहुँचे। उस वक्त हिंगाशी मन्दिरमें पहुँचनेमें दिक़्क़त होती, लेकिन मन्दिरके पुजारी मिड्‌किड्‌ हमारे साथ ही आये थे, इसलिए वह हमें साथ ले गये। एक छोटीसी जगह थी, जो आठ-नौ प्राणियोंकेलिए काफी नहीं थी, पीछे की ओर लोहा-लक्कड़ भरा हुआ था। एक अच्छा मन्दिर बनानेकेलिए जमीन भी ले ली गई थी। मच्छर नहीं थे, इसलिए हम आरामसे सो गये। अब दो दिन हर्‌बिन्‌ हीमें रहना था। बैंक भी आज (२५ अगस्त) अतवार होनेसे बन्द था।

यहाँ घोड़ेगाड़ीवाले अधिकतर रूसी थे, पुलिसमैन भी कितने ही रूसी थे और कुली भी ज्यादा वही थे। बहुतसे सफ़ेद रूसियोंको मैंने फटे और बुरे कपड़ोंमें देखा। कितनोंके पैरोंमें जूता नहीं था और वह फुटपाथोंपर बैठे थे। एक रूसी अर्थीका जलूस देखा। शायद कोई सफ़ेद रूसियोंका नेता मर गया था। जुलूस बहुत भारी था, जिसमें हजारों स्वस्तिकवाले थे। शायद यह लोग हिटलरसे अपने भाग्य पलटानेकी आशा रखते थे। आगे-आगे रूसी ईसाई भिक्षु चल रहे थे, उनके बड़े-बड़े केश, दाढ़ी, विचित्र पोशाकको देखकर मालूम होता था, कि जारशाही रूसका जनाजा ऐसे निकलता होगा। हम अगले दिन दोपहरको सामान ले चीरोलूगू (गोकुराजी या सुखावती) विहारमें गये। शायद मंचूरियाके किसी और मन्दिरमें बौद्धभिक्षुओंकी इतनी संख्या नहीं थी। यहाँ १७५ भिक्षु रहते थे। जिनमें २५ विद्यालयमें पढ़ते थे। तेन्‌दाई सम्प्रदायके ७ जापानी भिक्षु भी इन्हींके साथ रहते थे। विहारके नायकने भारतीय भिक्षुका बड़ा सत्कार किया, चीनी भोजन कराया। चीनी मांस नहीं खाते, लेकिन उन्होंने फलाहारी भोजनोंकी बहुतसी क़िस्मोंका आविष्कार किया है। भोजनके बाद भी हम विहारको घूम-घूमकर देखते रहे। यहाँ कितने ही मन्दिर और रहनेके बहुतसे घर हैं। विहार अच्छी अवस्थामें है। महंत भी हमारे साथ हुए और हम शहरकी ओर चले। दुभाषियाका काम एक जापानी भिक्षु कर रहे थे और मैं अपने सौ-डेढ़ सौ जापानी शब्दोंके बलपर बात कर रहा था। मन्दिर शहरसे बाहर है। रूसी महल्लेमें बड़ी-बड़ी दूकानें और अच्छे-अच्छे मकान हैं, सड़कें भी बहुत खराब नहीं हैं, लेकिन चीनी मुहल्लोंकी बुरी हालत है। हम सुडूगारी नदीके किनारे गये। यह गंगाकी तरह एक बड़ी नदी है, जिसपर रेलकेलिए पुल बँधा हुआ है। नावपर चढ़कर थोड़ी सैर की। शहरमें आकर एक फ़िल्म देखने गये। फ़िल्म अमेरिकन था, लेकिन दर्शकोंमें रूसी ज्यादा थे। हर्‌बिन्‌ रूसी भिखमंगों और रूसी

औरतोंकी आवारागर्दीका अड्डा है। मुझे ताज्जुब होता था, कि क्यों इन्होंने अमीरोंके फन्देमें पड़कर इस जिन्दगीको पसन्द किया।

अगले दिन (२६ अगस्त) मैंने "एसिया"के चेकको भुना लिया। ७८ डालरसे कुछ अधिक मिले। और पैसोंके डालर अमेरिकन एक्सप्रेस कम्पनीके यात्री-चेकके रूपमें मैं पहिले ही भुना चुका था। १६० डालर देकर मनचूलीसे मास्को होते बाकू तकका टिकट ले लिया। अभी भी मेरे पास २१० डालर बचे थे। विहारके नायक और दूसरे भिक्षुओंने मेरे साथ कितना सौहार्द दिखलाया, यह डायरीके इस वाक्यसे मालूम होगा—"इस विहारवालोंने सौजन्यमें हद मुका दी।"

मनचूली—अगले दिन (२७ अगस्त) ९ बजे बाद हमारी गाड़ी चली। जुङ्गारीका पुल पार किया। भूमि समतल मैदानसी थी। हरी खेती खड़ी थी। गाँवमें आबादी चीनियोंकी थी, स्टेशनोंपर रूसी भी दिखाई पड़ते थे। रेलके अफ़सर अधिकतर जापानी और कुछ चीनी भी थे। रूसी ज्यादातर पैंटमैन, चौकीदार या सिपाही, अर्थात् वह वही काम करते थे, जो यू० पी० बिहारवाले बंगालमें करते हैं। हमारे कम्पार्टमेंटमें तीन रूसी थे, जिनमें दो स्त्रियाँ थीं। एक स्त्री पुराने फटे किसी उपन्यासको समाप्त करनेमें लगी हुई थी। ट्रेन और स्टेशनोंपर शस्त्रधारी सैनिक पहरा दे रहे थे, जिससे मालूम हो रहा था, कि चीनी देशभक्तोंने अभी हथियार नहीं डाला है। डिब्बेमें जगह बहुत थी, सोनेका आराम था। जापानसे लेकर यहाँतक लाल-लाल तरबूजे खूब मिलते रहे।

सवेरे उठनेपर मालूम हुआ, कि रातको हमारी गाड़ी भी कहीं लेटी थी, अब आसपास छोटे-छोटे पहाड़ थे, जिनपर देवदार और भोजपत्र उगे हुए थे। यहाँ मैदानमें भी भोजपत्रके वृक्ष थे, जो कि हिमालयमें १२ या १३ हजार फ़ीट ऊँचाईसे कम पर नहीं होते। इसका अर्थ यह हुआ, कि यह जगह गंगोत्री और बद्रीनाथसे भी ठंडी है। अब खेत कम दिखाई पड़ रहे थे, किन्तु मवेशी ज्यादा थे, और उनकेलिए घास भी मौजूद थी। हमें सवा सात बजे मनचूली पहुँचना था, किन्तु गाड़ी ६ घंटा लेट थी। ११ बजे खैलर (हैलर) पहुँचे। यह मंगोल इलाका है, मंगोल ज्यादातर पशुपालनसे जीविका चलाते हैं, इसलिए उन्हें शहर और कसबेसे क्या मतलब? खैलरमें चीनी और रूसी ज्यादा हैं। मंगोल और जापानी भी हैं। खैलर मचूरियाके मंगोल-प्रदेशके ४ ज़िलोंमें एकका सदर है। यहाँ हमारे डिब्बेमें तीन मंगोल सवार हुए, जिनमें एक तो हिन्दुओंकी तरह चोटी रखे था, जिससे मालूम हुआ, कि वह गृहस्थ है। भिक्षुसे अलग पहिचान करनेकेलिए गृहस्थोंको सारा केश नहीं कटाना पड़ता, वह सिरमें चोटी—

शासन खतम कर दिया गया, अब वहाँ गरीबोंका राज है। मैंने इतनी पूँजीसे अगले साल (१९१८) "बाईसवीं सदी" लिखनेकेलिए खाका भी बना लिया, यद्यपि उसे पुस्तकका रूप देनेमें अभी ५, ६ वर्षकी और देर थी। गाँवों, शहरों, स्त्री-पुरुषों, का जो स्वरूप मैंने "बाईसवी सदी"में चित्रित किया था, वह कल्पना-जगतकी चीजें थी। लेकिन यहाँ ठोस दुनियामें उन्हें साकार रूप दिया जा रहा था, फिर सोवियत्-भूमिको मैं अपनी श्रद्धास्पद भूमि समझूँ, तो आश्चर्य क्या ? मनचूलीसे थोड़ा चलनेके बादको फासिस्ट-वादी जापान और साम्यवादी सोवियत्की सीमा मिली। वहाँ वृक्षरहित तृणपूर्ण पहाड़ियाँ थीं। फिर सोवियत्का पहिला स्टेशन आया, गाड़ी ठहर गई। कस्टमवालोंने हमारी चीजोंको देखा, मेरे पास कोई उतनी चीज नहीं थी। पासपोर्टको देखा तो मालूम हुआ, कि वीसाकी मियाद खतम हो गई है। मैं डरने लगा, कि कहीं यहींसे मनचूली लौटना न पड़े, फिर मैंने उन्हें समझाया—हम परतन्त्र देशोंके आदमियोंको सोवियत्-भूमिमें आनेकेलिए हजारों तरहकी रुकावटें हैं, आपको इसका भी ख्याल करना चाहिए। थोड़ी देर बाद उसने कहा—अच्छा कोई परवाह नहीं। मैं सिर्फ आरपार हो जानेवाला मुसाफ़िर था, इसलिए मेरे रोलीफ़्लेक्स (कैमरे) को बाँधकर रांगेकी मुहर कर दी गई। हमारे कम्पार्टमेंटके ४ आदमियोंमें एक नियुआर्कियन था, जो अमेरिकासे आ रहा था। कागजमें लपेट-लपेटकर प्याले, स्फटिकके बर्तन और नया-नया चीजें उसने बक्सोंमें भर रखी थीं। उसकी चीजोंकी जाँच-पड़ताल बहुत अधिक की गई। स्टेशनपर लेनिन, स्तालिन और दूसरे नेताओंकी बड़ी-बड़ी तसवीरें टँगी थीं। लड़के स्वस्थ और बहुत खुश मालूम होते थे। स्त्रियाँ वैसी ही गोरी थीं, जैसी लन्दन और पेरिसकी, किन्तु यहाँ उनमें वह अन्तर नहीं था, जो युरोपके भिन्न-भिन्न वर्गोंकी स्त्रियोंमें पाया जाता है। ट्रेनकी चौथी गाड़ीकी १६वीं उपरली बर्थ मेरी थी। कम्पार्टमेंटके चारों आदमियोंके पास काफी सामान था, और वह चारों ओर भरा हुआ था। लेकिन यही थी कि सोवियत्की रेलोंमें सारीकी सारी बर्थ (बेंच) एक आदमीको मिलती है, इसलिए सोनेकी कोई दिक्कत नहीं हुई।

उस दिन तो जल्दी ही शामको अँधेरा होनेपर मैं सो गया। दूसरे दिन सबेरे उठकर नीचे आया। बाहरकी ओर देखा, तो वृक्षोंमें भोजके वृक्ष ही अधिक हैं। गाँवके मकानोंमें भी अन्तर था : यह ज्यादा अच्छे थे। लोगोंके शरीरपर मजबूत कपड़े थे, लेकिन शौकीनी-सफेदपोशी नहीं थी। गाड़ीके डिब्बेके एक कोनेमें ..... और हाथ-मुँह धोनेका इन्तिजाम था। यह बहुत साफ-सुथरा था, और भीतरे

दर्जेकेलिए क्या दूसरेकेलिए भी हिन्दुस्तानमें वैसी आशा नहीं की जा सकती। हरेक डिब्बेमें दो आदमी डिब्बेकी सफाई और मुसाफिरोंकी ओर ध्यान रखनेकेलिए तैनात थे। कहनेपर वह चाय बनाके दे देते थे।

मैंने हाथ-मुँह धो, नाश्ता किया, फिर बरांडेमें आकर खिड़कीसे बाहरी दृश्य देखने लगा। तीन घंटा दिन चढ़ आया था, जब कि पहाड़ोंपर देवदारके वृक्ष दिखाई देने लगे। हमारी ट्रेन किसी नदीके किनारेसे चल रही थी। जहाँ-तहाँ पंचायती खेती—कल्खोज्—के बड़े-बड़े खेत थे, जिनको ट्रेक्टर (मोटरहल) जोत रहे थे। फसल बहुत कुछ कट चुकी थी, बाक़ी कटनेको तैयार थी। चीताका बड़ा शहर आया। जगह-जगह नये मकान बन रहे थे। मकानोंकी दीवारें अधिकतर लकड़ी-की थीं। यहाँ कितने ही मंगोल स्त्री-पुरुष दिखाई पड़े, लेकिन उनमें कोई चोटीवाला नहीं था। मंगोल तरुणियाँ भी रूसी स्त्रियोंकी तरहकी ही पोशाक पहिने थीं, उनके केश भी कटे हुए थे। गाँवमें भी बिजलीकी रोशनी और रेडियोके तार-खम्भे दिखलाई पड़ रहे थे। मैंने एक गाँवमें गुलाबी गालोंवाली एक तरुण सुन्दरीको बहँगीपर पानी भरकर लाते देखा। मुझे कहावत याद आ गई "रानी भरै पानी"। किन्तु उन रानियोंका जमाना तो दुनियाके इस षष्ठांशमें उठ गया, यहाँ अब पानी भरना शरमकी बात नहीं रही। एक जगह कम्बाइन—यन्त्रमें गेहूँके पूले डाले जा रहे थे, और दाने अलग होकर बोरेमें बन्द होते जा रहे थे। हमारी ट्रेनमें इनटूरिस्ट (सोवियत्-यात्राविभाग) का एक प्रतिनिधि चल रहा था, वह अंग्रेजी खूब बोलता था। हमारे कम्पार्टमेंटवालोंने लेनिनग्राद देखनेकी इजाजत पानेकेलिए मास्कोको तार दिया, मैंने भी दे दिया।

अगले दिन (३१ अगस्त) सबेरे हमारी गाड़ी बइकाल झीलके तटपर चल रही थी। बड़ा रमणीय दृश्य था। हमारी दाहिनी ओर नीलाभ सरोवर था, जिसके पास धुँधलेसे पर्वत दिखलाई पड़ रहे थे। बायें तो हम पर्वतके साथ चल ही रहे थे। हर जगह हमारी रेलको सुरंगोंसे पार होना पड़ता था। पहाड़ जंगलसे ढँके हुए थे। पत्थर काले रंगके (सिलिथा) थे। एक जगह स्कूलका मकान बन रहा था, लेकिन झूला और पैरेललबार वहाँ पहिले हीसे गड़ गये थे। बइकाल स्टेशनपर पहुँचे, वहाँ कई बुर्यत् (मंगोल) तरुणियोंको रूसी स्त्रियोंके वेषमें देखा। रेलवे अफ़सर भी एक स्त्री थी। आगे हमने अपने दाहिनी ओर अगारा नदीकी तीव्र धार-को बहते देखा। इर्कुत्स्कका विशाल नगर आया। प्लेटफार्मकी ओर स्टेशनकी इमारतपर लेनिन, स्तालिनके चित्र लगे हुए थे। यहाँ स्त्री-पुरुष रूसी ही रूसी

शासन खतम कर दिया गया, अब वहाँ गरीबोंका राज है। मैंने इतनी पूँजीसे अगले साल (१९१८) "बाईसवीं सदी" लिखनेकेलिए खाका भी बना लिया, यद्यपि उसे पुस्तकका रूप देनेमें अभी ५, ६ वर्षकी और देर थी। गाँवों, शहरों, स्त्री-पुरुषों, का जो स्वरूप मैंने "बाईसवीं सदी"में चित्रित किया था, वह कल्पना-जगतकी चीज़ थी। लेकिन यहाँ ठोस दुनियामें उन्हें साकार रूप दिया जा रहा था, फिर सोवियत्-भूमिको मैं अपनी श्रद्धास्पद भूमि समझूँ, तो आश्चर्य क्या? मनचूलीसे थोड़ा चलनेके बादको फ़ासिस्ट-वादी जापान और साम्यवादी सोवियत्‌की सीमा मिली। वहाँ वृक्षरहित तृणपूर्ण पहाड़ियाँ थीं। फिर सोवियत्‌का पहिला स्टेशन आया, गाड़ी ठहर गई। कस्टमवालोंने हमारी चीज़ोंको देखा, मेरे पास कोई उतनी चीज नहीं थी। पासपोर्टको देखा तो मालूम हुआ, कि वीसाकी मियाद खतम हो गई है। मैं डरने लगा, कि कहीं यहींसे मनचूली लौटना न पड़े, फिर मैंने उन्हें समझाया—हम परतन्त्र देशोंके आदमियोंको सोवियत्-भूमिमें आनेकेलिए हजारों तरहकी रुकावटें हैं, आपको इसका भी ख्याल करना चाहिए। थोड़ी देर बाद उसने कहा—अच्छा कोई परवाह नहीं। मैं सिर्फ़ आरपार हो जानेवाला मुसाफिर था, इसलिए मेरे रोलेफ़्लेक्स (कैमरे)को बाँधकर रांगेकी मुहर कर दी गई। हमारे कम्पार्टमेंटके ४ आदमियोंमें एक लिथुआनियन था, जो अमेरिकासे आ रहा था। कागज़में लपेट-लपेटकर प्याले, स्फटिकके बर्तन और क्या-क्या चीजें उसने बक्सोंमें भर रखी थीं। उसकी चीज़ोंकी जाँच-पड़ताल बहुत अधिक की गई। स्टेशनपर लेनिन, स्तालिन और दूसरे नेताओंकी बड़ी-बड़ी तसवीरें टँगी थीं। लड़के स्वस्थ और बहुत खुश मालूम होते थे। स्त्रियाँ वैसी ही गोरी थीं, जैसी लन्दन और पेरिसकी, किन्तु यहाँ उनमें वह अन्तर नहीं था, जो युरोपके भिन्न-भिन्न वर्गोंकी स्त्रियोंमें पाया जाता है। ट्रेनकी चौथी गाड़ीकी १६वीं उपरली बर्थ मेरी थी। कम्पार्टमेंटके चारों आदमियोंके पास काफ़ी सामान था, और वह चारों ओर भरा हुआ था। संस्थित यही थी कि सोवियत्‌की रेलोंमें सारीकी सारी बर्थ (बेंच) एक आदमीको मिलती है, इसलिए सोनेकी कोई दिक्कत नहीं हुई।

उस दिन तो जल्दी ही शामको अँधेरा होनेपर मैं सो गया। दूसरे दिन सवेरे उठकर नीचे आया। बाहरकी ओर देखा, तो वृक्षोंमें भोजके वृक्ष ही अधिक हैं। गाँवके मकानोंमें भी अन्तर था : यह ज्यादा अच्छे थे। लोगोंके शरीरपर मज़बूत कपड़े थे, लेकिन शौकीनी-सफ़ेदपोशी नहीं थी। गाड़ीके डिब्बेके एक कोनेमें पाखाना और हाथ-मुँह धोनेका इन्तिज़ाम था। वह बहुत साफ़-सुथरा था, और तीसरे

दर्जेकेलिए क्या दूसरेकेलिए भी हिन्दुस्तानमें वैसी आशा नहीं की जा सकती। हरेक डिब्बेमें दो आदमी डिब्बेकी सफाई और मुसाफिरोंकी ओर ध्यान रखनेकेलिए तैनात थे। कहनेपर वह चाय बनाके दे देते थे।

मैंने हाथ-मुँह धो, नाश्ता किया, फिर बराडेमें आकर खिड़कीसे बाहरी दृश्य देखने लगा। तीन घंटा दिन चढ़ आया था, जब कि पहाड़ोंपर देवदारके वृक्ष दिखाई देने लगे। हमारी ट्रेन किसी नदीके किनारेसे चल रही थी। जहाँ-तहाँ पंचायती खेती—कल्खोज्—के बड़े-बड़े खेत थे, जिनको ट्रेक्टर (मोटरहल) जोत रहे थे। फ़सल बहुत कुछ कट चुकी थी, बाक़ी कटनेको तैयार थी। चीताका बड़ा शहर आया। जगह-जगह नये मकान बन रहे थे। मकानोंकी दीवारें अधिकतर लकड़ीकी थी। यहाँ कितने ही मंगोल स्त्री-पुरुष दिखाई पडे, लेकिन उनमें कोई चोटीवाला नहीं था। मंगोल तरुणियाँ भी रूसी स्त्रियोंकी तरहकी ही पोशाक पहिने थीं, उनके केश भी कटे हुए थे। गाँवमें भी बिजलीकी रोशनी और रेडियोके तार-खम्भे दिखलाई पड़ रहे थे। मैंने एक गाँवमें गुलाबी गालोंवाली एक तरुण सुन्दरीको बहँगीपर पानी भरकर लाते देखा। मुझे कहावत याद आ गई "रानी भरै पानी"। किन्तु उन रानियोंका जमाना तो दुनियाके इस षष्ठांशसे उठ गया, यहाँ अब पानी भरना शरमकी बात नही रही। एक जगह कम्बाइन—यन्त्रमें गेहूँके पूले डाले जा रहे थे, और दाने अलग होकर बोरेमें बन्द होते जा रहे थे। हमारी ट्रेनमें इनटूरिस्ट (सोवियत्-यात्राविभाग) का एक प्रतिनिधि चल रहा था, वह अंग्रेजी खूब बोलता था। हमारे कम्पार्टमेंटवालोंने लेनिनग्राद देखनेकी इजाजत पानेकेलिए मास्कोको तार दिया, मैंने भी दे दिया।

अगले दिन (३१ अगस्त) सबेरे हमारी गाड़ी बइकाल झीलके तटपर चल रही थी। बड़ा रमणीय दृश्य था। हमारी दाहिनी ओर नीलाभ सरोवर था, जिसके पास धुँधलेसे पर्वत दिखलाई पड रहे थे। बायें तो हम पर्वतके साथ चल ही रहे थे। हर जगह हमारी रेलको सुरंगोंसे पार होना पड़ता था। पहाड़ जंगलसे ढँके हुए थे। पत्थर काले रंगके (तेलिया) थे। एक जगह स्कूलका मकान बन रहा था, लेकिन झूला और पैरेललबार वहाँ पहिले हीसे गड़ गये थे। बइकाल स्टेशनपर पहुँचे, वहाँ कई बुर्यत् (मंगोल) तरुणियोंको रूसी स्त्रियोंके वेषमें देखा। रेलवे अफ़सर भी एक स्त्री थी। आगे हमने अपने दाहिनी ओर अंगारा नदीकी तीव्र धारको बहते देखा। इरकुत्स्कका विशाल नगर आया। प्लेटफार्मकी ओर स्टेशनकी इमारतपर लेनिन, स्तालिनके चित्र लगे हुए थे। यहाँ स्त्री-पुरुष रूसी ही रूसी

दिखाई पड़ते थे। मैं ट्रेनसे उतरकर स्टेशनमें गया। मुसाफ़िरोंके बैठनेका अच्छ इन्तज़ाम था। स्टेशनसे बाहर शहरको एक आँखसे झाँककर देखा, चौड़ी और सा सड़क तथा किन्हीं-किन्हीं इमारतोंपर लाल झंडे दिखाई दिये। अब रेलपर चै तीसरा दिन हो रहा था, अपने कम्पार्टमेंटके दूसरे तीन आदमियोंसे घनिष्ठता पैद करनेकी मुझे इच्छा नहीं थी। लियुआनियन सज्जन बोलशेविकोंको गाली देते ही सन्तोष प्राप्त करते थे। चीनी नौजवान जर्मनीमें पढ़ने जा रहा था, उससे कु ज्यादा हेलमेल ज़रूर हुआ, और उसने मेरी सौसेज-देखकर चीनी सौसेज खानेके दी। वस्तुतः सौसेज बनाना चीनी ही जानते हैं। मुझे पता नहीं था कि सूअरका मांस इतना अमृतमय हो सकता है। लेकिन मुझे सबसे ज्यादा परवाह थी, रूसियोंसे मेलजोल बढ़ानेकी। मिसेज़ मोलेर् मास्को जा रही थी, और सखालेन द्वीपसे आ रही थीं। उनकी उमर पैंतालीसके आसपास होगी। उनके पिता एक करोड़पति ठेकेदार थे। उनको वह दिन याद थे, वह साज याद थे, जब कि वह राजकुमारीके रूपमें तड़क-भड़कके साथ पेरिस और स्वीट्ज़रलैंडकी सैर किया करती थीं। बचपनमें फ्रेंच और अंग्रेज़ दाइयाँ उनको खेलाया करती थीं। वह अंग्रेज़ी और फ्रेंचको भी उसी तरह फरफर बोलती थीं जैसे रूसीको। उनको अंग्रेज़ी बोलनेवाली देखकर मैं ज्यादा उनके पास जाने लगा। उन्हें भी बोलनेसे एतराज़ नहीं था, बल्कि दिल खोलकर बोलशेविकोंको गाली देती थी। मैंने सोचा—करोड़पति सेठकी बेटी अपने पिताकी सम्पत्ति छीन लेनेवाले बोलशेविकोंको गाली नहीं देगी तो आशीर्वाद देगी? वह कह रही थीं—"बोलशेविक बड़े झूठे होते हैं। उनके अख़बारों और पुस्तकोंमें सिर्फ झूठा प्रोपेगेंडा होता है। पहिले तो और झूठ बोलते थे, लेकिन इधर खाने-पीनेकी चीज़ें ज़्यादा मिलने लगी हैं, लोगोंकी हालत कुछ बेहतर हुई, तो उनका झूठ भी कम हुआ।" उनकी बहन खबारोव्स्कमें किसी सन्देहमें पकड़कर जेलमें डाल दी गई थी। अब वह उसीके छुड़ानेकी कोशिशमें मास्को जा रही थी। उन्होंने कोई नई बात नहीं कही, जिसे मैं पढ़ न चुका होऊँ। अफसोस कि मेरे दिलमें इस वर्गके प्रति सहानुभूति दिखलानेकी ज़रा भी प्रेरणा नहीं रह गई थी। अभी मैंने उस वर्गका नाम जोंक नहीं रखा था, किन्तु उसे साँप ज़रूर कहता था।

और उसकी माँ और भी उत्सुक थे, हमसे बात करनेकेलिए। पति लालसेनामें अफ़सर था। माँ-बेटे उसीके पाससे लौटे आ रहे थे। उन्होंने खरकोफ़में अपने घरका पता दिया, और मुझे वहाँ आनेकेलिए बहुत आग्रह किया। इंजीनियर मास्कोके थे, उन्होंने भी पता दिया था, और मास्कोमें जब उनकी बीवी मिलनेकेलिए आई, तो बीबीसे मेरा परिचय कराया। एक आदर्श और एक भावना भाषाकी दिक़्क़त रहनेपर भी आदमीको कितना घनिष्ठ बना देती है, उसका यहाँ एक बहुत अच्छा उदाहरण था। ५ दिन ५ रात हम एक साथ रहे। समय बहुत आनन्दसे कटा। एक दिन एक वोद्‌काकी बड़ी बोतल मँगाई गई, और प्याला मेरे सामने आया। मै बड़ी मुश्किलमें पड गया। धार्मिक ख्यालसे उसे मैं घृणाकी दृष्टिसे देखता था यह बात नहीं थी, लेकिन शराबसे मुझे सदा घृणा रही। मै उसके पीनेको हद दरजेकी बेवकूफ़ी समझता रहा। "नेत" (नहीं) शब्दसे मैं परिचित था, किन्तु जिस प्रेमके साथ उन्होंने दिया था, उसकेलिए तुरन्त नही करनेमें मुझे डर लग रहा था कि कहीं वह दूसरा न समझने लगें। मैंने प्यालेको ओठसे छुआ, और शिरपर हाथ रखकर बैठ यह दिखलानेकी कोशिश की, कि सिरमें पीड़ा है। फिर मेरे सामने वोदका नही पेश की गई। इनटूरिस्टका आदमी हमारी ट्रेनमें चल रहा था, उसकेलिए मेरी धारणा बहुत बुरी हो गई, उसने मुझसे सिगरेट खरिदवाकर अपनेलिए मँगाए। उस वक़्त सिगरेट विदेशियोंकेलिए जितना चाहे मिल सकता था लेकिन स्वदेशियोंकेलिए राश्न निर्धारित थी। वैसे मै सिगरेटोंका दाम नहीं लेता, लेकिन उसने दामकी बात भी न की। मैं सोचने लगा, ऐसे आदमी विदेशियोंके दिलमें बोलशेविकोंके प्रति बुरा भाव पैदा करेंगे। बोलशेविकोंकी निन्दा करनेकेलिए तो हर साल लाखों मन कागज़ खराब किये जा रहे हैं, सोवियत्-विरोधियोंके हाथमें ऐसा हथियार दे देना बुरी बात है। इसी कारण उस आदमीको मैं अच्छी निगाहसे नही देखता था, यद्यपि उसने कहा था, कि मैं सफ़ेद रूसियोंसे लड़ा था।

पहिली सितम्बरको हम जिस स्थानमें जा रहे थे, वहाँ दूसरे वृक्षोंका नाम नही था। भोजपत्रके वृक्ष और घासवाले पहाड़ वहाँ कहीं-कहीं ज़रूर थे। आगे येनेसेइ नदी आई, यह गंगासे भी बड़ी नदी है। सामने क्रास्नोयार्स्कके कारखाने आये। श्रमिकोंके घर, बड़े-बड़े महलसे मालूम होते थे। सारे घर नये बने थे। नदीमें लकड़ीके बड़े-बड़े ठाट बह रहे थे। स्त्रियाँ देखनेमें बड़ी स्वस्थ और फुर्तीली मालूम होती थी। आगे कितने ही गाँवोंमें फ़ैक्टरियाँ देखीं। एक गाँवमें ८, ९ ट्रेक्टरोंकी

मेरे और अपने बीचमें रख दिया, मैंने एकाध बार नहीं किया, लेकिन सबको मालूम था, कि मेरे पास एक भी रूसी पैसा नहीं है। उन्होंने मुस्कराते हुए इशारेसे कहा—"आओ खाओ, नखरा मत करो।" मैंने भी अपनी बेवकूफी समझी, और खानेमें शामिल हो गया। फिर वही सौ-सवा-सौ शब्दोंसे काम चलता रहा। पड़ोसी महिलासे पूछनेपर उन्होंने अपनेको टाइपिस्ट कहा। मालूम नहीं मेरे चेहरेपर उन्होंने क्या भाव देखा। झट अपने बाँहको दिखलाते बोल उठीं—"मैं हवाई जहाज चलाती हूँ, यह उसका निशान है; मैं बन्दूकका तेज निशाना लगाती हूँ, यह उसका बिल्ला है। हिटलर इधर मुँह करेगा तो दिखला दूँगी कि सोवियत्-स्त्रियाँ कैसी होती हैं।" फिर उसने अपनी कड़ी हथेलीको दिखाकर कहा—"मैं ट्रेक्टर भी चला सकती हूँ।" मैंने समझ लिया, यहाँ मक्खनसी हथेलीवाली पद्मिनियोंका मान नहीं है।

आगे खरियामिट्टीके पहाड़ मिले। हमारे डिब्बेमें युरोपियन भी थे, और एसियाई भी लेकिन वहाँ रंगकी गन्ध भी नहीं थी; बड़ा स्टेशन आता, तो तरुण-तरुणियाँ हाथ मिलाये प्लेटफार्मपर घूमने लगतीं। स्टेशनपर सेब और दूसरे फल बहुत बिकते थे। कितनी ही जगह मोटी लम्बी लकड़ी बेंचकी तरह रखी हुई थी, और उसपर पके मुर्गे, फल और दूसरी चीजें रखकर पचीसों स्त्रियाँ खड़ी थीं। मैं क्या खरीदने जाता? मेरे साथियोंमें कोई न कोई बराबर रोटी-मक्खन-चाय दे देता। एक कमकर काकेशस जा रहा था, वह अमेरिकामें कई साल रहा था, अंग्रेजी जानता था। वह खिलाने-पिलानेका बहुत ध्यान रखता था। मैंने उससे बीस रूबल माँगे और तीन डालर देने लगा। वह नहीं करने लगा, तो मैंने कहा, हो सके तो कहीं से भुना दीजिए, लेकिन लेनेसे इन्कार न कीजिए। रातके वक्त खरकोफ्—उक्रइनका सबसे बड़ा शहर आया। बिजलीकी रोशनीसे जगमग-जगमग कर रहा था। अगले दिन (७ सितम्बर) सबेरे ही दोनबास पहुँचे। यहाँ चारों ओर कोयलेकी खानें हैं, मकानोंका अन्त नहीं मालूम होता था, फिर दोन नदीके तटपर रोस्तोफ शहर आया। दोनको पार किया। अँधेरा होते-होते अब हमारी गाड़ी काकेशसमें चल रही थी। दाहिनी ओर बर्फसे ढँकी हुई चोटियाँ दिखाई देती थीं। उस दिन ट्रेनका गार्ड भी कुछ देरतक मेरे पास बैठा रहा, और मुझसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिपर वार्तालाप करता रहा था।

अगले दिन (८ सितम्बर) सबेरे दाहिनी ओर काकेशसका हिमाचल था; और बाईं ओर सूर्य उग रहा था। मेरे डिब्बेमें एक तुर्ककुटुम्ब भी उसी स्टेशनसे

चढ़ा था। यह ताशकन्दके रहनेवाले थे, किन्तु अब तिफ़लिसके पास कहीं रहते थे। उनमें कई लड़के और स्त्रियाँ थीं। लड़कों, स्त्रियोंके गलेमें ढेरकी ढेर तावीजें बँधी थीं। बोलशविक इन तावीजोंको जबर्दस्ती तोड़कर नहीं फेंकना चाहते थे। हाँ, यह मैंने देखा कि स्त्रियाँ अपनी तावीजोंको कुरतेके भीतर रखना चाहती थीं। उनकी पोशाक भी कुर्त्ता, पाजामा और ओढनी थी, जो पंजाबकी स्त्रियोंसे ज्यादा मिलती थी। मुसलमान ईसाईका तो सवाल ही नहीं था। सब साथ खाते-पीते चलते थे। अब गाँवोंमें नंगे पैरवाली स्त्रियाँ बहुत मिलती थीं। काकेशसमें घुसते ही जान पड़ा, कि मैं हिन्दुस्तानके नजदीक पहुँच गया हूँ। पावरोटीके साथ-साथ अब तन्दूरकी रोटियाँ मिलने लगी। किन्नोंके पैरोंके जूते हिन्दुस्तानी जैसे, स्त्रियोंके घँघरे और कुर्ते पंजाब जैसी और गाय-बैल उत्तरी भारतकी नसलके थे—युरोपीय बैलोंके कन्धेपर डील (ककुद) नहीं होता, यहाँ और हिन्दुस्तानके बैल ककुद्मान होते हैं। इधर गाँवोंके मकानोंमें खपरैल और दीवारें सफेदी की हुई थी। तरुण-तरुणियाँ पुरानी पोशाकको छोड़कर नई पोशाकको अपना चुकी थीं, तो भी रूसियों तथा उनमें रंगका फर्क था। सवा ६ बजे शामको दोनों ओर दो-एक मीलपर पहाड़ थे। किसी-किसी स्टेशनपर गाना गाकर पैसा माँगनेवाले भी एकाध दीख पड़े। अब इंजन कोयलेकी जगह तेलसे चल रहा था। रातको दो बजे हम बाकू पहुँचे।

बाकू—शहरमें दीपावलीसी जान पड़ती थी। स्टेशन बहुत स्वच्छ था। मुसाफ़िरखानेमें लोग कुर्सियोंपर बैठे थे। अंग्रेजी जाननेवाले साथीने मेरा सामान लिये-दिये स्टेशनप्रबन्धक एक एसियाई महिलाके पास पहुँचा सहायता देनेकेलिए कहकर खूब ज़ोरसे हाथ मिलाया। मैं स्टेशनकी क्लबमें जाकर बैठ गया। महिला बेचारी तुर्की और रूसी जानती थी, मैं ज्यादा क्या बातें कर सकता था? उन्होंने कहा—सबेरे इन्टूरिस्ट होटलमें पहुँचवा दूँगी। महिला अधेड़ थी उनके केश कटे हुए थे। थोड़ी देर बाद एक और एसियाई परिवार आया। माँ पुराने ढंगकी पोशाकमें थी, बेटा-बहू दोनों नई पोशाकमें थे। यह लोग कुछ ही साल पहिले कट्टर मुसलमान थे। उस वक्त इस तरुण बहूको सूर्य भी न देख पाता। सबेरे एक आदमी मेरा सामान लेकर इन्टूरिस्टके आफिसमें पहुँचा आया। इन्टूरिस्टके आफ़िसमें अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी भाषा जाननेवाली कितनी ही महिलाएँ थीं। एक सत-महला मकान इन्टूरिस्टका होटल था। दूसरे मुल्कोंसे आनेवाले यात्रियोंकी यात्रा, रहने, खाने-पीने, दिखलाने आदिका प्रबन्ध इन्टूरिस्ट करती है। सोवियत्के बड़े-

बड़े शहरोंमें इसके अपने आफ़िस और होटल हैं, पथप्रदर्शक दुभाषिए और मोटरें हैं। मुझे एक अच्छा कमरा मिला। नहानेका भी अच्छा इन्तिजाम था। आफ़िस-वाली महिलाने बतला दिया था कि ईरानका जहाज परसों दोपहर बाद मिलेगा; इसलिए मुझे इस ढाई दिनके समयको पूरा इस्तेमाल करना था। घूमनेकेलिए ले जानेवाली मोटर कुछ देरसे जानेवाली थी, इसलिए मैं अकेले ही निकल पड़ा। बड़े-बड़े मकानोंको देखता समुद्रतटसे एक उद्यानमें गया। यह उद्यान क्रान्तिके बाद बना था। सड़कें कोलतारवाली और कुछ छोटी-छोटी गोल रोड़ेवाली भी थी। एक जगह एक यहूदी-मन्दिर (सिनोगोज)को क्लबके रूपमें परिणत देखा, एक ईसाई गिरजा भी किसी दूसरे रूपमें था। एक मसजिद गिर रही थी, बाहरकी दुनियाँमें बोलशेविकोंके खिलाफ प्रचार करनेके लिए काफी मसाला था, क्योंकि कोई यह तो पूछेगा नहीं, कि इन मंदिरोंको क्लबमें परिणत करनेवाली बोलशेविक सर्कार है, या भगत लोग स्वयं ही इन मकानोंको दूसरा रूप देना चाहते हैं। सारे सिबेरिया और बाकूके रास्तेमें मैंने कितने ही गिर्जे सुरक्षित अवस्थामें देखे। बोलशेविकोंकी सर्कार तो इतना ही कहती है, कि सर्कारी खजानेसे किसीको एक कानीकौडी भी नहीं मिलेगी, मसजिद-गिरजा चलाना है, तो भगत लोग अपने पसीनेकी कमाईसे चन्दा करके चलाएँ। हिन्दुस्तानकी सर्कार जो हिन्दू-मुस्लमान कर-दाताओंके लाखों रुपयोंको ईसाई-चर्चकेलिये देती है, इसको जो उचित कहेगा, वही बोलशेविकोंको बुरा कह सकता है। मैं छोटी सड़कोंसे होकर बनारसकी टेढ़ी-मेढ़ी गलियोंवाले पुराने मुहल्लेमें गया। अभी यहाँ बनारसकी बहार थी, तुर्की नहीं जानता था, नहीं तो कुछ और भी बातें पूँछता।

खाना खानेके बाद एक महिला-दुभाषिया मिली। और मोटरपर हम बाकू और उसके आस-पास के दर्शनीय स्थानोंको देखनेकेलिए निकले। कुछ मकानोंपर १६२४ सन लिखा था, यह पहिलेवाले मकान दुमहले पक्के थे, लेकिन नए मकानोंको तो महल कहना पड़ेगा। इन महलोंमें एसियाई और योरोपीय सभी जातियोंके मजूर एक जगह रहते है। इनकी तनख्वाहें एक हैं। रंग, धरम और जातिका ख्याल इतना मिट गया है, कि परस्पर विवाह बहुत होते हैं। शहरसे बाहर एक विशाल हवाई अड्डा दिखाई पड़ा। सड़कपर कहीं-कहीं ऊँट और गधे भी सामान ढोते दिखाई पड़े। और दूर जानेपर मिट्टीके तेलके कुएँ मिलने लगे। कुएँ किसी वक्त रहे होंगे, अब तो ये मोटे-मोटे पाइप-कूप थे। जमीनमें गड़े हुए थे, जिनके ऊपर लोहेका ढाँचा खड़ा था, बिजली पम्पोंको चलाती थी और छोटे बड़े पाइपोंसे होकर तेल बड़े

कारखानोंमें चला जाता था। यह हजारों ढाँचे देखनेमें जंगलसे मालूम होते थे।

प्रातः ५ मील जानेपर हम बड़ी ज्वालादेवीके मंदिरके द्वारपर पहुँचे—यहाँवाले इसे अग्निपूजकोंका मंदिर कहते हैं, किन्तु है यह हिन्दुओंकी बड़ी ज्वालामाई। १६ वर्ष पहिले मैंने इसी ज्वालामाईकी बात सुनी, तो विश्वास नहीं हुआ। उस वक्त गर्मियोंमें नेपाल जानेकेलिए रक्सौल (चंपारन जिला) पहुँचा था। रक्सौलवाली नदीके तटपर नेपालराज्यमें सड़कके ऊपर एक वैष्णवकी कुटिया थी, मैं वहीं ठहरा हुआ था। वहाँ एक नौजवान वैरागी भी आया था। उससे मैंने पूछा—कहाँसे आए हो सन्त? उसने जवाब दिया था—"मैं बड़ी ज्वालामाईसे आया हूँ, बड़ी ज्वालामाई रूस मुल्कमें है, वडी जागता माई है, उसके सामने जो नैवेद्य रखा जाता है, माई अपने आप ग्रहण करती है। वहाँसे महीनों घूमते-घामते हिमालयके कितने ही पहाड़ोंको पारकर मैं यहाँ पहुँचा हूँ।" मैं उसे झूठा समझता था, यद्यपि उसके मुँहपर मैंने ऐसा नहीं कहा। पीछे अंग्रेजीकी किसी अनुसंधान-पत्रिकामें बाकूके हिन्दूमंदिर और उसकी ज्वालामाईका विवरण पढा, तब विश्वास हुआ, कि वह साधू सच बोल रहा था। आज मैं ज्वालामाईके द्वारपर पहुँचा था। पथप्रदर्शिकाने चौकीदारको बुलाया, फाटक खोला गया, एक चौकोर आँगन जिसकी चारों तरफ पक्की कोठरियाँ थी। कितनी ही कोठरियोंमें पत्थरपर लेख खुदे हुए थे, जिनकी संख्या बारह-तेरहसे कम न होगी। यह लेख ज्यादातर नागरीमें थे, दो गुरुमुखीमें भी थे। आँगनके बीचमें एक कुंड था, जिसके ऊपर खंभोंपर पक्की छतरी थी, इस कुंडमें आजसे दस साल पहिले तक आग जला करती थी, यही हिन्दुओंकी बड़ी ज्वालामाई थी। आसपास तो सारे मिट्टीके तेलके कुएँ है ही, ऐसी जगह किसी संघर्षसे आगका जल उठना और फिर भीतरकी गैससे उसका बराबर जलते रहना बिलकुल स्वाभाविक बात है। शायद हिन्दुओंकी ज्वालामाई उस वक्त प्रकट हुई थीं, जब कि मिट्टीके तेलका उपयोग अभी शुरू नहीं हुआ था।

मैंने जब वहाँके शिलालेखोंको धडाधड़ पढ़ना शुरू किया, तो पथप्रदर्शिकाको मेरे अपार ज्ञानपर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा—यहाँ बड़े-बड़े पंडित आये, लेकिन कोई इन लेखोंको नहीं पढ़ सका। मैंने कहा—इन लेखोंको हमारे देशका कोई भी चौथे दर्जेमें पढ़नेवाला लड़का धड़ल्लेके साथ पढ सकता है। उन लेखोंमेंसे एक नागरी लेख निम्न प्रकार है—

"॥६०॥ ओं श्रीगणेशायनमः॥ श्लोक॥ स्वस्तिश्री नरपति विक्रमादित राजसाके॥ श्रीज्वालाजी नियत दरवाजा बणायाः अतीकेचनगिर संन्यासी राम-

दहावासी कोटेश्वर महादेवका ॥. . . .आसोज वदि ८ । संवत् १८६६.॥"

ज्वालामाईकी समाधिको देखकर फिर हमारी मोटर एक पुराने गाँवको दिखलानेकेलिए जिख पहुँची। मकानोंको पुराना रखनेकेलिए बहुत कोशिश की गई थी, लेकिन वहाँके निवासी तो पुराने ढंगसे नही न रहना चाहते ? घरोंमें बिजली और पानीके नलके लगे थे, खिडकियोंमें भी काँच लगे थे। फिर समुद्रतटपर गये। यहाँ समुद्रमें कूद-कूदकर नहानेका इन्तिजाम है। बाकूकी पथरीली जमीनमें मीठा पानी दुर्लभ चीज है, लेकिन तो भी यहाँपर एक विशाल उद्यान लगाया गया है। हम लोग दुपहरीकी धूपमें पहुँचे थे, इसलिए शीतल छायाका मूल्य अच्छी तरह समझ सकते थे। अभी वृक्ष छोटे थे, लेकिन दस-पन्द्रह सालमें इनकी सघन छायाके भीतर सूर्यका ताप प्रविष्ट नहीं हो सकेगा। उद्यानमें नाटक और सिनेमाकेलिए एक बड़ी रंगशाला थी और एक बड़ा रेस्तोराँ भी। वहाँसे लौटकर हम होटल चले आये। रातको आरमेनियन भाषाका फ़िल्म देखने गये। फ़िल्ममें प्राकृतिक दृश्य बड़े ही सुन्दर और विशाल दिखलाये गये थे। जारशाही अफसर किस तरह न्यायका नाटक खेलते थे, यही कहानीका विषय था।

अगले दिन (१० सितम्बर) मैंने कुछ और स्थानोंको देखा। पहिले स्तालिन कमकर सांस्कृतिकप्रासादमें गया। यह एक पँचमहला इमारत थी। इसके दो सभाभवनोंमेंसे एकमें एक हजार और दूसरीमें चार सौ कुर्सियाँ थीं। नाटक, सिनेमा, व्याख्यान और सोवियत् चुनावकेलिए इन भवनोंका उपयोग किया जाता है। यहाँ एक मिट्टीके तेलका म्यूजियम था, जिससे मिट्टीके तेलके बारेमें बहुतसी बातें मालूम हो सकती थीं। पुस्तकालयमें पाँच हजार पुस्तकें थीं। एक कमरेमें बिना पंखका एक हवाई जहाज रखा हुआ था, रुचि रखनेवाले कमकर यहाँ हवाई जहाजके पुरजोंके बारेमें सीखते थे। फिर पंचायती-भोजनालयमें गये। यह भी पँचतल्ला महल है। भीतर जानेसे पहिले डाक्टरों जैसा सफ़ेद चोगा हमें ऊपरसे पहननेकेलिए दिया गया। भोजनसामग्री देखनेकेलिए यहाँ विशेषज्ञ डाक्टर थे। एक रसायनशाला थी, जिसमें कच्चे-पक्के भोजनकी परीक्षा होती थी। भीतर मेज-कुर्सीपर बैठकर खानेकेलिए कई शालाएँ थीं। तरकारियाँ, मांस सभी मशीनसे काटी जाती थीं और मशीन हीसे धुलाई होती थी, यहाँ तीस हजार भोजन (परोसा) रोज तैयार होता था, अर्थात् सात हजारसे ऊपर आदमी जलपान, मध्याह्न भोजन, चायपान और रात्रिभोजन यहाँ करते थे। ६ बजे ही जलपान तैयार हो जाता था। भोजन पकानेके कमरोंमें गये, यहाँ दो-दो तीन-तीन मन पकानेवाले कई बड़े कड़ाह थे, आँच एक नलीद्वारा पेंदीमें पहुँ-

चाई जाती थी। हर कड़ाहमें गर्मी नापनेकेलिए थर्मामीटर लगा हुआ था। सामने दीवारपर घड़ी टँगी हुई थी, हर चीजको नाप-तोलके डाला जाता था। थर्मामीटर तथा घड़ी बतला देते थे कि वह कब पक जायगा। एक जगह मशीन जूठे बरतनोंको धोकर साफ़ कर रही थी। भोजनशालामें जानेपर हमें कुछ भोजन करनेकेलिए कहा गया। मैंने शीशेकी ग्लासमें जमा दही खाया, बड़ा स्वादिष्ट था। हमारे साथकी अंग्रेज महिलाने इस संस्थाके बारेमें कहा कि यह बिल्कुल नई चीज़ है। वहाँसे फिर हम स्तालिनप्रासाद-स्कूलमें गये। यहाँ ७से १७ वर्षके १८०० बालक-बालिकाएँ एक साथ पढ़ती थी, जिनमें १६० तुर्क, २५० तातार, ३२० आरमेनियन और १०४० रूसी थे। बालकोंसे बालिकाओंकी संख्या अधिक थी। हर महीनेकी छठीं, १२वीं, १८वीं, २४वीं तथा महीनेकी अन्तिम तारीखको छुट्टी रहती थी। ७से १२ सालके बच्चे प्रतिदिन ४ घंटा पढ़ते थे, १३से १७वाले ६ घंटा। स्कूलके साथ भोजनशाला थी, जहाँ लड़कोंको मुफ्त भोजन मिलता था, फीसका तो सवाल ही नहीं। हमारे साथकी अंग्रेज महिलाने अध्यापकसे पूछा—आप धर्मके विरुद्ध किस तरह शिक्षा देते हैं। अध्यापकने बतलाया—धर्मके विरुद्ध क्या हम तो अपनी पुस्तकोंमें धर्मका नाम भी नहीं आने देते। हाँ, कोई घरसे सुन-सुनाकर कुछ पूछता है, तो उसका साइंसके सहारे समाधान करते है।

फिर हम बागीरोफ शिशुशालामें गये। यहाँ ४से ६ वर्षतकके डेढ़ सौ बच्चे रहते हैं। उनकेलिए मुँह धोनेको दीवारके सहारे नीचे-नीचे नल लगे हुए, जिनके पास रुमाल टाँगनेकी खूटियाँ लगी हैं। साबुनके भी स्थान बने हुए हैं। खानेके कमरेमे छोटी-छोटी मेजे, छोटी-छोटी कुर्सियाँ, उनकी प्याली और प्लेट भी छोटे-छोटे हैं। डेढ़ सौ किस्मसे बेशी खिलौने हैं। लड़कोंको अभी अक्षर नहीं सिखलाया जाता, इसलिए रूमालों और अपनी-अपनी आलमारियोंपर कुत्ते, बिल्ली, बन्दर आदिकी तसवीरें बनी हैं। यह तसवीरें एक-एक लड़केकेलिए अलग हैं और इसीसे वह अपने-अपने उपयोगकी चीजें पहिचानते हैं। माताएँ अपने बच्चोंको ८ बजेसे ४ बजेतककेलिए रख जाती है। शिशुशाला हीकी तरफसे उन्हें दो बार भोजन दिया जाता है। नर्सने हमें बच्चोंकी खींची तसवीरोंकी फ़ाइलें दिखाईं। लड़कोंको चीन्हा खीचनेका शौक होता है, उन्हें खेलनेकेलिए कागज और रंग-बिरंगी पेन्सिलें दी जाती हैं। वे खेलकेलिए तसवीरें बनाते हैं, लेकिन कागजके एक-एक टुकड़ेकी फ़ाइल रखी जाती है। जो चित्रकलामें असाधारण प्रतिभा रखते हैं, उन्हे ६ वर्षतक पकड़ लेते हैं, और पढ़ाने-सिखानेकेलिए उन्हे खास विद्यालयोंमें भेज दिया जाता

है। संगीत, अभिनय, गणित आदि कलाओंके भी असाधारण प्रतिभाशाली इसी तरह अलग करके सुशिक्षित किये जाते हैं। हम दो बजे पहुँचे थे, उस वक्त बच्चे चारपाईपर लेटे हुए थे। उनमेंसे कोई-कोई बात भी कर रहे थे। हम लोग पैर दबाये चुपकेसे कमरेको पार कर गये। बाकूमें इस तरहकी सौसे अधिक बालशालाएँ हैं।

अगले दिन (११ सितम्बर) फिर मैं अकेले ही शहरमें निकला और उसकी सड़कों तथा गली-कूचोंमें फिरता रहा। वहाँ सोडावाटर और छोटी-छोटी दूकानोंसे लेकर बड़ी-बड़ी महादूकानोंतक सभी राष्ट्रीय हैं, यह मैं जानता था। एक मझोले दर्जेकी दूकानमें जा मैंने चमड़ेका एक मनीबेग पसन्द किया। उसपर ८ रूबल १० कोपेक लिखा हुआ था। फिर मैं खजानचीके पास गया, उसे दाम दिया, उसने दोहरी पुर्जी दी, उसमेंसे एकको बेचनेवालेके हाथमें दिया, और मनीबेग लेकर चला आया। बाकूमें दो दिन पाँच-पाँच घंटा घूमनेका १४ डालर लगा, जहाजके सेकेंड क्लासका १६ डालर, बाकी खाने-रहने आदिका ६ डालर सब मिलाकर २३ डालर या ७० रुपये खर्च हुए।

ईरान कौंसलसे मैं वीजा ले चुका था। ढाई बजे बन्दरगाहपर पहुँचा। कस्टम अफसर एक एसियाई थे, जो फारसी जानते थे, उन्होंने मामूली तौरसे सब देख लिया, रुपयोंको गिन लिया। फिर मैं जहाजपर पहुँचा। जहाजका नाम 'फोमिन' था। यह एक हल्कासा जहाज था। मेरे केबिनमें तीन बर्थ थी, लेकिन मैं वहाँ अकेला था। जहाजपर आकर बाकूके दो फ़ोटो लिये। बाकू समुद्रतटपर धनुषाकार बसा हुआ है।

यात्रियोंमें कुछ युरोपियन और दो-चार ईरानी थे। रेडियोसे आजुरबाइजानी (बाकू) गाना गाया जा रहा था। ऊपर डेकपर गया। वहाँ एक अधेड़ ईरानी मिला। वह सोवियत् सरकारको सराप दे रहा था—मैं १२ वर्षसे गंजामें रहा, बीबी-बाल-बच्चे यहीं हैं। शरीरमें बल था, तो कमाया, अब हड्डी रह गई, तो कह दिया तुम चले जाओ अपने देशमें। उसने एकतरफा बात की। यह तो नहीं बतलाया कि उसने कितनी बार साम्यवादी नियमोंकी अवहेलना की, शराब पीकर कितनी बार बीबी-बच्चोंको मारा। खैर, मुझे सन्तोष हुआ कि अब गया तो शब्दोंके भरोसे पर जबानका गला घोंटना नहीं है। अब मैं पारसी बोलनेवालोंमें जा रहा था। कास्पियन समुद्रके शान्त तलपर "फोमिन" सरकता जा रहा था, और मैं पिछले १४ दिनके देखे दृश्योंकी मानसिक आवृत्ति कर रहा था।

२३

ईरानमें पहिली बार

१२ सितंबरको सवेरे ८ बजे दूर एक ओर धुंधलीसी तटभूमि दिखाई देने लगी। जहाज १० बजे एक पतली झीलमें होता हुआ किनारेपर पहुँचा। इसी झीलकी एक ओर कजियान और दूसरी ओर पहलवी नगर बसे हुए हैं। पहलवीकी जनसंख्या १४ हजार है, जिसमें काफी सख्या रूसियोंकी है। इस बन्दर और नगरको जारशाही सरकारने बसाया था। यहाँके मकान रूसी ढंगके है, सड़कें चौड़ी हैं। पासपोर्ट और कस्टमकी जाँचमें कोई दिक्कत नहीं हुई। हमें अब तेहरान जाना था। १५ तुमान (१५० रियाल)में एक मोटरमें जगह मिल रही थी, दूसरे मोटरवालेने १० तुमानमें ले जानेकी बात कही, लेकिन जब पहिली मोटर चली गई, तो वह इधर-उधर करने लगा। आखिरमें हम १३ तुमान देनेकेलिए राजी हुए। इस मोटरमें चेकोस्लोवाकियाके एक दम्पती (पति-पत्नी) भी चल रहे थे। पहलवीमें सबसे सस्ती चीज अंगूर मालूम हुई। १ बजे हमारी मोटर रवाना हुई। ३९ किलोमीतर (२६ मीलपर)पर रेश्तका कसबा मिला। अच्छी खासी आबादी है। प्रधान सड़क खूब चौडी है। बहुतसे मकानोंकी छतें लाल खपड़ैलोंकी है, जैसी कि पूर्वी यू० पी०में हुआ करती है। गाँवोके धानके खेत, फूस और खपड़ैलके छतोंको देखकर मुझे भारत याद आता था। ईरानी भी गिलानके इस इलाकेको छोटा हिन्दुस्तान (हिन्द-कोचक) कहते हैं। आगे दूरतक छोटे वृक्षोंका घना जंगल चला गया है। मैंने समझा कि अब सारा दृश्य हिन्दुस्तान जैसा आयेगा। १२० किलोमीतर (८० मील)पर मंजिल नामक स्थान आया। यहाँ खूब हवा चल रही थी। मालूम हुआ कि गर्मियोंमें इस पहाड़ी दर्रेसे हमेशा तेज हवा चला करती है। हमारी सड़क सफ़ेदरूद (श्वेत-रोधस्) दरियाको पुलसे पार हुई थी। नदीमें पानी काफ़ी था। इस सड़कसे बहुतसी लारियाँ चल रही थीं। चेकोस्लोवक सज्जन बहुत दिनोंसे ईरानमें रहते थे। फ़ारसी बहुत अच्छी बोलते थे। तेहरानमें तो मेरा कोई परिचित नहीं था, अत: रातको दूसरा स्थान ढूँढनेसे बेहतर यही था, कि उन्हींके होटलमें ठहर जाऊँ। ९ बजे हम कुहिन् (१९४ किलोमीतर)तक पहुँचे। यहाँ कितने ही भोजनालय थे। तीनोंने तँदूरी रोटी और मुर्गेका मांस खूब छककर खाया। साथीने बतलाया कि जाड़ोंमें रास्ता यहाँ कभी-कभी बरफ़से रुक जाता है। ११ बजे बाद हम कज़वीन (२३२

किलोमीतर) पहुँचे। किसी समय यह ईरानकी राजधानी थी—चौड़ी सड़क, विशाल फाटक और बिजलीकी रोशनी। पीछे भी कई जगह हमें अपने पासपोर्ट दिखाने पड़े थे। यहाँ भी जाँच हुई। १ बजे गाराज (३३७ किलोमीतर) पहुँचे। सड़क खूब अच्छी और रातको पूनोंसी चाँदनी छिटक रही थी। दो बजे रातको तेहरान (पहलवीसे ३७७ किलोमीतर या २५० मील) पहुँच गये। मेहमानखाना कस्र (प्रासाद होटल)में ठहरे।

तेहरानमें—६ बजे मुँह-हाथ धोकर बाहर निकले। सड़कें खूब चौड़ी, पक्की और साफ थीं। मकान भी कितने ही अच्छे थे। सरकारी दफ्तर और ईरान राष्ट्रीय बैंककी इमारतें विशाल और भव्य थीं। एक भोजनशालामें दो रियाल (५ आना) देकर मांस-रोटीका भोजन किया। सस्तेपनमें तो ईरान जापानको भी मात कर रहा था। हाँ यहाँ जूठ-मीठका परहेज़ बिल्कुल नहीं। शीशेके एक बड़े गिलासमें बरफका टुकड़ा डाल एक आदमीको पानी पिला, फिर उसी टुकड़ेके साथ दूसरा पानी डालकर दूसरेको पिला देते। लोगोंकी पोशाक बिल्कुल युरोपियन है। रज़ाशाह पहलवीने ईरानकी सारी पुरानी रूढ़ियोंको तोड़नेकेलिए इसे जरूरी समझा। स्त्रियाँ भी यूरोपियन पोशाक पहनती हैं, लेकिन ऊपरसे एक काला पर्दा डाल लेती हैं, लेकिन मुँह बिल्कुल खुला रहता है। घूमते-फिरते एक आरमेनियन बस-ड्राइवरसे मित्रता हो गई। उन्होंने ईरानकी बहुतसी बातें बतलाईं। उनकी अतिशयोक्ति थीं, पर्देकी आड़में यहाँ हद दर्जेका व्यभिचार है। शायद ही कोई औरत अपने पतिपर सन्तोष करती हो, और दूसरेके पास सिर्फ पैसेकेलिए न जाती हो। सरकारने इस बुराईको हटानेकेलिए भी पर्देका हटाना जरूरी समझा।

आज शुक्रवार (१३ सितम्बर)को छुट्टीका दिन था, लेकिन ईरानी छुट्टीको धर्मकेलिए नहीं, मौजकेलिए इस्तेमाल करते हैं। लोग तेहरानसे १५ किलोमीतर (१० मील) दूर शमीरानकी बसोंपर जा रहे थे। यह जगह तेहरानसे उत्तर अलबुर्ज—ईरानके सर्वोच्च तथा सुन्दरतम पर्वतशिखर—की जड़में है। शमीरान तेहरानसे ८०० मीटर ऊँची और अधिक ठंडी जगह है। मैं भी बसपर शमीरान चला। सड़क बहुत अच्छी है, रास्तेमें बहुतसे बाग हैं, और शमीरानमें तो और ज्यादा। रास्तेमें क़िलानुमा एक पुराना जेल, फौजी छावनी और बेतारका स्टेशन मिला। मैं सब देखकर रातको अपने होटलमें लौट आया। दूसरे दिन फिर निकला। पहलवी महल, हथियारखाना, मजलिस (पार्लामेंटभवन) आदि इमारतें देखीं, फिर खयाबान चिराग-बर्क (बिजली-बत्ती-सड़क)पर कई हिन्दुस्तानी दूकानें देखीं।

सरदार रनवीरसिंहसे परिचय हुआ, और मैं उनके पासके अहवाज-होटलमें चला आया। पहिले होटलमें एक रोजका जहाँ चौदह-पन्द्रह रियाल किराया था, वहाँ इस होटलमें चार रियाल (१० आना) रोजपर एक कमरा मिल गया।

अस्फ़हानको—अभी कुछ दिन मैं ईरानमें रह सकता था, इसलिए कुछ शहरोंके देखनेका निश्चय किया। रजाशाह-पहलवी जबसे ईरानके शासक हुए, तबसे उन्होंने देशकी काफी उन्नति की। शिक्षा भी बढ़ी, व्यवसायमें भी ईरानी आगे आये। डकैती-बटमारी भी देशसे हटी, और सबसे बड़ी बात यह हुई है, कि ईरानियोंने अपनेको पहिचाना है। पुरानी रूढ़ियोंको उखाड़कर उन्होंने देशोन्नतिकेलिए मजबूत नींव रखी है। अच्छे कामोंमें विघ्न भी होते है, जिन्हें जहाँ-तहाँ प्रसंगवश मैं बतलाऊँगा। साधारण जनताके जीवनमें कितनी ही अनावश्यक पाबन्दियाँ आ गई है, जिनमें एकके कारण ईरानमें यात्रा करना तरद्दुदका काम हो गया है। देशी लोगोंको भी यहाँ अपने फ़ोटोके साथ एक प्रमाणपत्र (जावाज़) लेना पड़ता है। इसमें शक नहीं, कि इससे सामाजिक अशान्तिकर्ताओंके रास्तेमें रुकावट होती है, लेकिन गाँव और शहरके हरेक यात्रीको एक शहरसे दूसरे शहर जानेकेलिए प्रमाण-पत्र लेना, और उसे शहर-शहरमें दिखलाना बड़ी कठिनाइयाँ पैदा करता है। खास करके जब अफ़सरोंमें सुस्ती, बेपरवाही और घूस-रिश्वतकी आदत मौजूद है। विदेशियोंके पास तो पासपोर्ट रहता ही है, उन्हें जावाज़केलिए मजबूर करना ख्वाहमख्वाह हैरान करना है। और जावाज़ देनेवाले अफ़सर तो और भी तंग करते है। लोग पासपोर्ट थामे घंटों खड़े रहते है और वहाँ रजिस्टर मिलाया जा रहा है। खैर, किसी तरह मैंने जावाज़ ले २६ रियाल (४ रु० १ आ०) देकर अस-फहान जानेवाली बसका टिकट लिया। इधर होटलोंमें ओढ़ना-बिछौना मिल ही जाता है, इसलिए मैं अपना सामान सरदार रणवीरसिंहके यहाँ छोड़ आया था, मेरे पास एक फ़ोलियोबैग, फ़ोटोकैमरा भर था। मोटर ८ बजे रातको रवाना हुई। बसोंपर आदमियोंकी तादाद लिखी रहती है, लेकिन उसकी कोई परवाह नहीं करता। आदमी ठूँस-ठूँसकर भर दिये जाते है। शहरसे बाहर आध घंटेतक पुलीसवालेने लिखापढ़ीकेलिए रोका। शहरसे कुछ मील चलनेपर फिर एक जगह कागज-पत्र देखनेकेलिए खड़ा किया गया, हमारी बसमें ३ आदमी बिना जावाज़के थे। स्थान तो मालूम ही था, इसलिए वह पहिले ही उतरकर पैदल चल दिये और आगे फिर उन्होंने बस पकड़ ली। दो बजे रातको हम कुम् पहुँचे। २ रियाल (५ आना) देनेपर मुसाफिरखानेमें सोनेकेलिए चारपाई, ओढ़ना-बिछौना सब मिल गया। कुम् तेहरानसे

१४६ किलोमीतर और समुद्रतलसे ३२०० फ़ीट ऊपर है, आबादी ३० हजार है। यहाँ इमामरजाकी बहन फ़ातमाकी सोनेकी छतवाली दरगाह है, इसीलिए कुम् भी एक छोटा-मोटा तीर्थ है। बतला रहे थे कि दरगाहके सामने पहिले लाखों कब्रें थीं। अब उनका पता नहीं, अब उनकी जगह एक सार्वजनिक बाग-(बागे-मिल्ली=जातीय उद्यान) और मैदान है। मैंने कहा—"शाबाश रजाशाह!" यहाँके घरोंकी छतें मिट्टी-की हैं, जिसे मजबूत करनेकेलिए भुसमिली मिट्टीको इस्तेमाल किया गया है। ईरानमें वर्षा कम होती है, इसलिए लोग पानीका मूल्य जानते हैं। हरेक घरके नीचे नह-बच्चा होता है, जिसमें बरसातका पानी जमा किया जाता है। यह हाथ-पैर धोने, नहानेके काम आता है। एक आदमीके जूठे बरफ़से पचासों आदमी ठंडा पानी यहाँ भी पी रहे थे। मैंने इससे बचनेकेलिए खरबूजा (सरदा) और तरबूज लेना पसंद किया। कुमके बाजारकी गलियाँ भी छतसे ढँकी हुई हैं। छतें मेहराबदार हैं। जिस होटलमें मैं ठहरा था, उसपर लिखा था "मुसाफ़िरखाना-इक़्तिसाद, बाकमाल एहतराम् अज आक़ायान् मुसाफ़िरीन् पज़ीराई मीशवद्" इसी तरह दूसरे मुसाफ़िर-खानोंपर भी लिखा था। मेहमानखाना अच्छे होटलको कहते हैं और मुसाफ़िरखाना टुटपुंजियाको। ३ बजे शामको फिर हमारी बस रवाना हुई। शहरसे बाहर होते ही पासपोर्ट देखा गया। देखनेमें यह प्रदेश तिब्बत जैसा मालूम होता था। वैसी ही छोटी-छोटी नंगी पहाड़ियाँ, वैसी ही उपत्यकाएँ। वृक्ष-जंगलका नाम नहीं। हाँ, तिब्बतमें नदियाँ काफ़ी बहती हैं, यहाँ वह भी नहीं। लेकिन जमीनमें पानी आसानीसे निकल आता है। इस पानीको कहीं-कहीं भूगर्भी नहरके द्वारा एक जगहसे दूसरी जगह ले जाया जाता है। ऐसी नहरोंको बनानेकेलिए थोड़ी-थोड़ी दूरपर कुएँ खोदे जाते हैं और भीतरसे खोदकर एक कुएँको दूसरे कुएँसे मिला दिया जाता है। कहीं-कहीं नहरें खुले मुँहकी होती हैं, जैसा कि यहाँ कुममें मैंने देखा। ईरानकी भूमिमें यह तासीर है, कि यहाँ जो भी फल लगाया जाता है, वही अमृत हो जाता है। हाँ, आम, लीची जैसे गर्म देशोंके फल यहाँ नहीं हो सकते। केवल पानीका इन्तिजाम हो जाय, तो सारा ईरान मेवोंके बागके रूपमें परिणत हो सकता है। ईरानमें अब डाकुओंका डर नहीं रहा, इसलिए बसें रातभर चला करती हैं। मुसाफ़िरोंकी आफ़त आती है, क्योंकि उन्हें अपने बेंचपर बैठे-बैठे ऊँघना पड़ता है। रातके २ या ३ बजे किसी गाँवमें बस ठहरी, और हम मुसाफ़िरखानेमें (होटलमें) सो गये।

अगले दिन सबेरे अस्फ़हान पहुँच गये। अस्फ़हान बहुत दिनोंतक ईरानकी राजधानी रहा। इसकी भी सड़कें चौड़ी और अच्छी हालतमें हैं। उसके किनारे

नहरें बहती हैं जिनसे छिड़काव होता रहता है। सड़कें निकालनेमें सरकारने मकानों, मक़बरों, मसजिदोंकी परवाह नही की। जो रास्तेमें पड़ा, उसे गिरा दिया गया। शहर घूमनेकेलिए तीन तोमान,=३० रियाल (४ रुपया ११ आना) पर एक फ़िटन (दुरुशका) किरायेपर ली। गाड़ीवान असग़र एक छ फ़ुट्टे हट्टेकट्टे नौजवान थे उनके भूरे बालोंके साथ उनकी नीली आँखोंमें रूक्षता, कठोरताका निशान नहीं था। चहलसुतून (चत्वारिंशत् स्थूणा) देखने गये। इस बारहदरीमें हैं बीस ही खम्भे, लेकिन सामनेके जलकुंडमें बीस खम्भोंकी छाया आती है, इसीलिए चालीस-खम्भा कहते हैं। मैदानशाहमें गये। यहाँ एक अच्छा तालाब और बाग़ है। सारे मैदानके गिर्द इमारतें बनी हुई हैं, और ख़ाली हिस्सेको नई इमारतोंसे घेरा जा रहा है। हारून-वलायतकी क़ब्र बहुत पूजी जाती है। यही बात सर आगाखानकी कब्रकी भी है। यहाँ भक्तोंकी बड़ी भीड़ लगी थी। इमामज़ादा इस्माइलकी क़ब्रके सामने एक नौजवान अपने हैटको उतारकर सिर झुका रहा था; जान पडता है, हैटकोटमे इस्लामको कोई ख़तरा नही, फिर मुल्ले हायतोबा क्यों मचाते हैं?

मैंने पुराने असफ़हानकी कुछ बची-खुची चीजोंको भी देखना चाहा, क्योंकि इस्लामके आनेसे पहिले भी असफ़हान ईरानका एक मशहूर शहर रहा। शहरसे बाहर कुह (कोह)-आतिशगाह वह पर्वत है, जिसपर कभी पुराने पारसियोंका अग्नि-मन्दिर था। कहते हैं, हजारों वर्षोंसे वहाँ आग जलती आई थी, जिसे कि इस्लामने आकर बुझाया। अब अग्निशालाकी कुछ दीवारेंभर खड़ी रह गई हैं। मध्याह्न होनेको आया। मैंने असग़रसे कहा, भाई! कहीं अच्छे बाग और नहरके किनारे चलो, वही खाना खाया जायगा। वह मुझे उपनगरके गाँवमे ले गया। नीले पानीकी चार-पाँच हाथ चौड़ी और तीन हाथ गहरी नहर बह रही थी। किनारेपर सायादार वृक्ष थे। मीठे सरदे, ख़रबूजे भी सस्ते बिकते थे, अगूर भी सस्ता था। मैंने काफ़ी सरदे और अगूर ले लिये। असग़रने वहाँ किसी घरमें चायका भी इन्तज़ाम कर दिया। जिस वक़्त मैं नहरके किनारे बैठकर खाना खा रहा था, उस वक़्त लड़कपनमें पढ़े "क़िस्सा हातिमताई"का कोई नजारा—देव और परियाँ याद आ रही थीं। हाँ, यह कोहक़ाफ़ नही तेहरान था। खा-पीकर बाहरकी ओर चले। शहरके बाहर उजड़े घर बहुत थे। दूर पहाड़ दिखाई पड़ते थे। शीराजकी सड़कने नजदीक लेकिन सड़कसे दूर कुहसफ़ेद था, जिसमें ईसाई साधुओंका एक मठ था। असग़रने बतलाया कि बरसातमें यह पहाड़ हरी घासोंसे ढँके बहुत सुन्दर मालूम होते हैं। जाड़ोंमें बर्फ पड़ जाती है। बाहरसे देखनेपर असफ़हान बागोंका नगर मालूम होता था, जिसमें

मस्जिदोंके नीले-नीले गुम्बद जहाँ-तहाँ दिखाई देते थे। असफ़हानसे पूरबमें करमान, दक्षिणमें शीराज (पारस), पच्छिममें बख्तियारी और उत्तरमें तेहरानके इलाके हैं। असफ़हानमें कपड़ेकी मिलें और कितने ही दूसरे भी कारखाने हैं। शहरकी ओर लौटे, रास्तेमें चहारबाग़का सुन्दर उद्यान मिला।

शीराजको—२८ रियाल (४ रुपया ६ आना) देकर शीराजकी बसपर बैठा। चार बजे खुलनेकी बात कही जा रही थी, लेकिन यहाँ बातका कोई ठिकाना नहीं, हमारी बस आठ बजे रवाना हुई। इसमें भी मुसाफ़िरोंको खूब ठूँसा गया था। दो जने कलसे ही टिकट कटाये बैठे थे। मैंने अपने भाग्यको सराहा। आबादीमें २ बजे रातको पहुँचे। एक चारपाई मिली, किन्तु ओढ़ना-बिछौना कुछ नहीं था। मैं कोट-पतलून पहिने ही सो गया। ड्राइवर बिल्कुल बेपरवाह, ऊपरसे मदक-चंडू पीनेवाले—चंडू पीना तो यहाँ तम्बाकू पीनेकी तरह है। लॉरी इतनी तेज चलाई जाती थी, कि किसी वक्त भी दुर्घटना हो जानेका डर रहता। सरकारकी ओरसे अफीम पर कोई रुकावट नहीं है।

८ बजे बस रवाना हुई। रास्ता सारा पहाड़ी था। कई डाँड़े पार करने पड़े। गाँव बहुत दूर-दूरपर मिलते और वृक्ष गाँव हीमें दिखलाई पड़ते। एक जगह मैंने अपने साथीके साथ भोजन किया। दोनों आदमियोंने खूब छककर गोश्त-रोटी, चाय-अंगूर खाया और दाम खर्च हुआ पाँच आनेसे भी कम। घंटाभर आराम करके हम फिर चले। बसमें एक पलटनिहा हवलदार थे, उनका मिजाज देखनेसे मालूम होता था कि शाहके उत्तराधिकारी हैं। हमारी बसमें नौ बुर्क़ापोश औरतें थीं, जिनमें एक बारह सालकी लड़की भी थी। अब हम दारयोश (दारा)की खास जन्मभूमि पारसके सूबेमें चल रहे थे। चारों तरफ़ वही नंगी सूखी पहाड़ियाँ थीं। बसमें धूल उड़ रही थी। ताज्जुब होता था कि प्राकृतिक सौन्दर्यसे वंचित इस देशमें हाफ़िज़ और शादी जैसे कवि कैसे पैदा हो गये। ४ बजेके करीब हम तख्तजमशीद (परसे-पुलीस=पारसपुरी) पहुँचे। सामने बहुत लम्बी-चौड़ी उपत्यका, लेकिन पहाड़ बिल्कुल नंगे थे। उपत्यका भी सौन्दर्य-वंचित। क्या ईरानके महान शाहंशाहोंके समय भी यह जगह ऐसी ही सूखी और नंगी थी। पारसपुरी उस समय सारी सभ्य दुनियाकी राजधानी थी। दाराके राज्यमें पूरबमें सिन्ध, पच्छिममें यूनान और मिस्रतक शामिल थे। पहाड़की जड़में दाराके महल थे। अब भी उसके बड़े-बड़े स्तम्भ वहाँ खड़े थे।

चिराग जलते समय हम शीराज पहुँचे। पहिले ही पुलिसने जायजा ले लिया।

मेहमानख़ाना ईरानमें भी ५ रियाल (साढ़े १२ आना) रोजपर एक अच्छा कमरा मिला। कुर्सी, मेज़, पलँग, बिस्तरा, लिहाफ़, बिजलीकी रोशनी सब मौजूद थी। आधा रियाल (५ पैसा) देनेपर स्नानका भी इन्तिज़ाम हो गया। अब दो दिन (१९, २० सितम्बर) शीराज़में ही रहना था। शीराज़ सूबा पारसका सदर है, यह समुद्र-तलसे ५२०० फ़ीट ऊपर है। इसकी आबादी ७० हज़ार है। करीमख़ाँ बाज़ार, आर्क (किला) को देखा। शाहरज़ा सिपाहीसे बादशाह बने, इसलिए सिपाहियोंकी ओर उनका ध्यान ज्यादा रहता है। पलटन, पुलिस उनके वफ़ादार हैं। दस तुमान (१५रुपए) मासिक तनख्वाह बुरी नहीं है। वरदी भी अच्छी होती है। घोड़ागाड़ी की, और नज़मिया (कोतवाली) से एक आदमी ले शहरसे बाहर हाफ़िज़के मज़ारपर गया। हाफ़िज़ फ़ारसीका महान कवि है। अपने पुराने कवियों और पुराने वीरोंके सम्मानकी ओर नए ईरानका ख़ासतौरसे ध्यान है। मज़ार (समाधि) की नए सिरेसे मरम्मत हुई है, नई छतरी लगी है, लेकिन कोई कला नहीं, कोई सौन्दर्य नहीं। इससे अच्छा होता, यदि यहाँ एक सुन्दर बाग लगा दिया गया होता। एक मील और जानेपर शेख़ सादी-की कब्र पर गए। यह थोड़ासा पहाड़के भीतर घुसकर है। पासके गाँवका नाम है, करिया-सादी (सादी गाँव) और पासके चश्मेका नाम है, "आबे-सादी" (सादी-आप)। एक दोमहलेके ढंगसे मकानके भीतर महान कविकी समाधि है। समाधिके किनारे पत्थरका कटघरा है, सफ़ाई और मरम्मतका ख्याल रखा गया है। लेकिन नवीन ईरान इतने हीसे संतुष्ट नहीं है, वह लोगोंकी इस धारणाको भी हटाना चाहता है, कि चित्र या मूर्तिका सम्मान करना बुरा है; इसीलिए ब्रिटिश-म्यूज़ियमसे सादीके चित्रका फ़ोटो उतरवाकर यहाँ रखा गया है। बाहर ६ चीड़के वृक्ष हैं। चारों ओर नीरस पहाड़ी, भूमि है, इसीके भीतर सरस कवि पैदा हुआ था।

रातको एक फ़िल्म देखने गए। स्त्री-पुरुषोंकी भीड़ बहुत थी। फ़िल्म अंग्रेज़ी भाषाका था, लेकिन उसमें फ़ारसीमें हेडिङ लगाया गया था और बीच-बीचमें एक आदमी व्याख्या करता जाता था। सिनेमा खुली जगहमें था, बाकूमें भी एक सोवियत् फ़िल्म खुली जगहमें देखा था। आगा मस्र मेरे साथ ही असफ़हानसे आए थे। कहाँ तो वह मुझे ज़ोर दे रहे थे, कि आप मेरे घर आइए, मैं अपनी तरुणी बहनसे आपकी शादी करूँगा, और कहाँ एक दिन झाँकनेका भी नाम नहीं लिया। मैं भी घूमने-फिरनेमें इतना व्यस्त था, कि उनके घरको ढूँढ निकालनेकी कोशिश नहीं की।

तेहरानको—२१ सितम्बरको ५७ रियाल (प्रायः ९ रुपया) देकर मैंने सीधा तेहरानकेलिए बसका टिकट लिया। कभी-कभी बसोंकेलिए इंतज़ार करना पड़ता है,

इसीलिए मैंने ऐसा किया। ६ बजे रातको गाड़ी रवाना हुई, और २ बजे रास्तेमें रुकी। अगले दिन (२२ सितम्बर) ७ बजे रवाना हुई। यज्द-खस्त पुरानी आबादी है। मिट्टीके पहाड़ हैं, और किन्हीं-किन्हीं मकानोंको मिट्टी खोदकर बनाया गया है। उस समय जौ-गेहूँकी खूब हरी फ़सल थी। यहाँ मकानोंके खँडहर बहुत हैं। ७ बजे इसफ़हान पहुँचे। मोटर यहाँसे आगे जानेवाली नहीं थी। मैंने फ़जूल ही समझा था कि अब तेहरान जानेकेलिए निश्चिन्त हो गया। ईरानमें ठहरने और खानेका सस्ता और अच्छा इन्तिजाम हो जाता है; तकलीफ़ उठानी पड़ती है, तो सिर्फ़ इन्हीं बसोंके कारण। अगले दिन (२३ सितम्बर)को मुझे यहीं रहना पड़ा। नदीपार आरमेनियन लोगोंका मुहल्ला जुल्फ़ा है, पिछली बार मैं उसे देखने नहीं गया, अबकी उसे भी देख आया। अब तो ईरानके सभी शहरोंमें और ईरानियोंमें पुरानी पोशाक उठ गई है, रहन-सहनमें भी भारी अन्तर हो गया है; इसलिए जुल्फ़ाके आरमेनियन स्त्री-पुरुषोंको देखनेसे अचरज करनेकी जरूरत नहीं; लेकिन दस-पन्द्रह साल पहिले यह जरूर आधुनिकताका केन्द्र समझा जाता रहा होगा। यहाँ आरमेनियन लोगोंके कई गिरजे (कलीसियाँ) हैं, मैं घूम-घूमकर अपने मनसे उन्हें देखता रहा। भोजनकेलिए फिर शहर लौट आया। इसफ़हानमें तेहरानकी तरह कुछ हिन्दुस्तानी दूकानें हैं, और ज्यादातर पंजाबके सिक्खभाइयोंकी। लड़ाईके वक्त बहुतसे पंजाबी सिपाही ईरानमें आ गये थे। उस वक्त कुछ पंजाबियोंने फ़ौजी मोटरोंको दौड़ाया था। लड़ाईके बाद उन्होंने अपनी मोटरें और लॉरियाँ खरीद लीं और मोटरका सारा काम उनके हाथमें आ गया। पीछे सरकारने ईरानी व्यापारियोंको भी इस क्षेत्रमें आनेकेलिए सहायता की। अब मोटरके रोजगारपर हिन्दुस्तानियोंकी इजारादारी नहीं, लेकिन अब भी उनकी बहुतसी लॉरियाँ हैं, बहुतसे हिन्दी ड्राइवर भी हैं, और मोटरके पुर्जोंके बेचनेका रोजगार तो प्रायः सारा हिन्दियोंके हाथमें है। सरदार साहेबसिंह पहिले आदमी थे, जिन्होंने मोटरका काम शुरू किया; आज वह पचीस-तीस लाखके धनी हैं।

अगले दिन (२४ सितम्बरको) तेहरानकेलिए रवाना हुआ। बस बिल्कुल नई और साफ़ थी, तबियत बहुत खुश हुई। लेकिन बारह बजे रातको एक बयाबानमें पुरजा टूट गया, बस वहीं खड़ी हो गई। आसमानके नीचे रातमें खुली जगह सोना पड़ा। सब लोग सर्दीसे ठिठुर रहे थे। ड्राइवर अच्छा था। वह बतला रहा था कि पहिलेका जमाना होता, तो यहाँ सब लुट जाते। यह भी मालूम हुआ कि ईरानी जगली सूअरका शिकार करने लगे हैं। कोई कह रहा था कि टोप (हैट) लगानेकेलिए सरकारी हुक्म निकला, बुशहर-बन्दरशाहके मुल्लोंने लोगोंको भड़काया

कि इसलाम खतम हो जायगा। बलवा हो गया। पल्टनने मशीनगन लगा दी, और एक हजार आदमी वहीं ढेर हो गये; फिर टोप लगानेमें किसीने आनकानी नहीं की। पहिले सामने छज्जेवाला गोल टोप चला। हमारा साथी बड़ी संजीदगीके साथ बतला रहा था—दरअसल शाहकी मरजी थी कि लोग नमाजको छोड़ दें, लेकिन इस छज्जेवाली टोपीने कोई रुकावट नहीं डाली। नमाज पढ़ना होता, तो लोग छज्जेको पीठकी ओर कर देते और नमाज पढ़ लेते, इसपर सरकारी हुकुम हुआ कि पूरे छज्जेके टोपको पहिनना होगा। खैर, मैंने तो कितनोंको नमाज पढ़ते देखा था, कितनों हीको पीरोंकी क़ब्रके सामने हैट उतारते भी देखा था।

सवेरा होते ही ड्राइवरके साथ मैं पैदल ही कुम्‌केलिए रवाना हो गया। कुम् ७ ही मील था। ड्राइवरने मुझे दूसरी बसपर बैठा दिया, और मैं तेहरान चला आया। मैं चाहता था कि अफ़ग़ानिस्तानके रास्ते लौटूँ। अफ़ग़ानिस्तानके कौन्सलसे वीसा लेने गया, पहिले तो कहा गया कि जानेका रास्ता नहीं है। मैंने जब कहा कि मशहदसे हिरात होते जाया जा सकता है। तो कहा—मशहदमें ही आप वीसा ले लें। तेहरानमें दो दिन (२६, २७ सितम्बर) और रहा। एक दिन फोटोग्राफ़रके पास कुछ अपने फिल्म धुलवाने गया, वहाँ एक तुर्क नौजवान बैठा था। बातचीतमें कहने लगा—अभी ईरानी बहुत पिछड़े हैं, अभी इनकी औरतोंने काली चादर नहीं छोड़ी और इन्होंने इस खूसट अरबीलिपिको भी क़ायम रखा है। वहाँ एक यहूदी दाँत-डाक्टर हमीदख़ाँ बैठे थे, वह मुझे अपने घरपर ले गये। यहूदी औरतोंमें बिल्कुल पर्दा नहीं होता। हमीदख़ाँने अपने पिता, सौतेली माँ और बीबीसे परिचय कराया। यहाँके यहूदी और मुसलमान दोनों ही फ़ारसी बोलते हैं, दोनों हीके नाम एकसे होते हैं। हमीदख़ाँके पिता पेरिसके पढ़े डाक्टर थे, बहुत खुशमिज़ाज थे। उन्होंने ईरानी भोजन खानेका निमन्त्रण दिया। चावल, गोश्त और मोठ एक साथ पकाया गया था। साथमें पोदीना और दौनाकी हरी-हरी पत्तियोंके साथ प्याज़के टुकड़े भी थे। रोटी पतली-पतली थी। पीछे खानेकेलिए अंगूर आए। जहाँ दो आना सेर अंगूर बिकता हो, वहाँ उसकी क्या क़दर हो सकती है। शीराज़में गदहोंके ऊपर लम्बे-लम्बे सुनहरे अंगूर बिक रहे थे। दो आनेके अंगूरको मैं दिनभरमें नहीं खा सका था। शामको "नुमाइश-मरकज़ी"में हम एक ईरानी नाटक "मेहर-गयाह" (प्रेमबूटी) देखने गये। दर्शकोंमें आधीके क़रीब स्त्रियाँ थीं, और स्त्री-पुरुष साथ-साथ बैठे थे। नाटकमें अंग्रेजी ढंगका नाच भी था। नायिकाका पार्ट एक आरमेनियन तरुणी लोरिताने बहुत अच्छा किया था।

अगले दिन (२७ सितम्बर) भी शहरमें इधर-उधर घूमता रहा। मैं हमी खाके घर गया। उनके पिताने अपने एक दोस्तसे आगा रुहुल्लाखान कहकर मे परिचय कराया। मुझे कभी ख्याल भी नहीं आया था, कि राहुलका इतनी आसानी रुहुल्ला बन जायगा।

मशहदको—२८ सितम्बरको मैं सबेरे जाकर जावाज ले आया। ३६ रिया (५ रुपया १० आना) देकर मशहदका टिकट भी ले लिया। बस रातको स आठ बजे चली। जगह बड़ी सासतकी मिली। ड्राइवरके पास बैठना था। वहाँ ए पैर रखनेकी जगह नहीं थी, और पीठकी ओर कोई आलम्ब नहीं था। ३ दिनक यात्रा सो भी रातदिन। रातको २ बजे सोनेकेलिए जावुनमें ठहरे, सोना धरतीप था। अगले दिन (२९ सितम्बर) ६ बजे ही रवाना हो गये। एक बड़ी जोत पा करनी पड़ी। पहाड़ी दृश्य तिब्बत जैसा था। साढ़े आठ बजे फ़ीरोज़कुह क़सबे पहुँचे, यहाँ बहुतसी दूकानें थीं। शराबखानेपर "मैकदऽ" लिखकर खूब अच्छी तर सजाया गया था। पहिले लोग शराब छिपकर पीते थे, लेकिन अब कोई रुकाव नहीं थी। पासमें एक नदी बह रही थी, जिसके किनारेको लोगोंने पाखानेसे गन्दा क दिया था। आगे एक जगह बहुतसे जंगली देवदार देखे। बसमूजोत बहुत ऊँची जोत है, यहाँ जाड़ोंमें बरफ़के मारे कभी-कभी रास्ता रुक जाता है। सेमरानमें बहुत भारी मैदान है, यहाँ मिट्टीके तेलके कुएँ खुद रहे हैं। रातको २ बजे शाहरूद पहुँचे। यहाँसे खुरासान शुरू होता है। रातको यहीं सोये। अगले दिन (३० सितम्बर) मियानुदश्त नामक शाह-अब्बासका बनवाया किला एक सुनसान बयाबानमें मिला। खानेकेलिए हर जगह रोटी-गोश्त-फल मिल जाते थे। ईरानी भी गोश्तमें मिर्च-मसाला डालना नहीं जानते। जान पड़ता है, मसालेदार मांस हिन्दुस्तानकी अपनी चीज है। मेरे एक हिन्दुस्तानी दोस्त कह रहे थे—खाना और गाना तो हिन्दुस्तान ही जानता है। यह दोस्त हिन्दू नहीं, मुसलमान थे। रातको सब्ज़वारमें रहना पड़ा। यहाँ रहनेका बहुत अच्छा इन्तिजाम था, लेकिन दो ही तीन घंटा ठहरनेके बाद बस-वालेने फिर लोगोंको उठाया। साढ़े ४ बजे रातको ही हम नेशापोर पहुँच गये। यहीं विश्वकवि उमरखैयामकी समाधि है। नींदके मारे हिम्मत पस्त थी, बसवाले-को कुछ और पैसे दे रहा था, पर वह समाधिपर जानेकेलिए तैयार नहीं था। मश-हद नगरी जहाँसे दिखाई पड़ी, वहाँ हमारे साथके तीर्थयात्री पत्थरोंका गुम्बद (स्तूप) बनाने लगे। मशहद इमामरजा—शिया लोगोंके १२ इमामोंमें एक प्रसिद्ध . का समाधिस्थान है, इसलिए दुनियाभरके शियोंका यह प्रसिद्ध तीर्थ है।

टोपकेलिए यहाँ भी मुल्लोंने लोगोंको उत्तेजित किया था। यद्यपि मारे गये थे पन्द्रह-बीस ही, लेकिन लोगोंमें मशहूर है कि हजारों आदमी मशीनसे उड़ा दिये गये। काफ़ी दिन था, जब हम मशहद पहुँचे। मशहद सुन्दर नगर है। आबादी एक लाख तीस हजार है। सड़कें खूब चौड़ी और साफ हैं। ईरानके शहरोंकी सड़कोंका मुकाबिला तो हिन्दुस्तानमें सिर्फ़ नई दिल्लीकी सड़कें कर सकती हैं। सीधी सड़कें निकालनेमें न जाने कितनी हज़ार कब्रें और कितने सौ मसजिदें खतम कर दी गईं।

काबुलके रास्ते जानेका विचार मैंने अब भी छोड़ा नहीं था। "मेहमानखाना-मिल्ली" (जातीय होटल)में ६ रियाल (साढ़े पन्द्रह आना) रोजानापर एक अच्छा कमरा मिला। पता लगा कि यहाँसे हिरात (अफ़गानिस्तान)का रास्ता खुला हुआ है। अफ़गान-कौन्सलके पास गया। मालूम हुआ कि वीसाकेलिए दस दिन ठहरनेकी जरूरत होगी। अब उधरकी आशा छोड़नी पड़ी। शहरको सुन्दर बनानेकी पूरी कोशिश की गई है, और नई इमारतें बनती जा रही हैं। यहाँसे २८ किलोमीतर (प्रायः १८ मील) पर तूस है। महाकवि फ़िर्दौसीकी समाधिको देखनेकेलिए मैंने घोड़ा-गाड़ी की। दो घंटे बाद तूस पहुँचा। तूस अब कौशाम्बीकी तरह एक उजाड़ ढेर है। इसीमें एक तरफ़ नया बाग लगा है, जिसमें ईरानके इस महाकविकी समाधि है। समाधिकी इमारत संगमरमरकी ईरानी ढंगपर बनी है, खम्भोंपर पारसपुरीके खम्भोंकी तरह बैल आदिकी मूर्तियाँ हैं। दरवाजेमें शाहनामाके पाँच दृश्य संगमरमर-पर उत्कीर्ण हैं। शायद उनमेंसे एकमें महमूद और फ़िर्दौसीकी मूर्ति भी है—नवीन ईरान इस्लामकी मूर्ति-भंजननीतिकी कोई परवाह नहीं करता। पास हीमें एक छोटासा बाग़ था, हमने वृक्षकी छायामें बैठकर मीठे सरदे खाये। पानी भी यहाँका अच्छा था।

रातको मशहद नगर घूमने गया। न जाने किस वक्त मेरा मनीबेग चोरी चला गया। उसमें ईरानी और अमेरिकन सिक्के मिलाकर ६० रुपये थे। खैरियत थी कि मैं चेकको अपने बक्समें छोड़ गया था।

भारतकी ओर—३ अक्तूबरको मैं बैंकसे चेक भुना लाया। ९ बजे रातको हमारी बस रवाना हुई। इस बसकी तकलीफ़के बारेमें मत पूछिये। शायद इतनी तकलीफ़ ज़िन्दगीभरमें किसी यात्रामें न हुई होगी। यह माल लादनेकी लारी थी। नीचे दो हिस्सा माल भरा हुआ था। पीछेकी एक चौथाई जगह मालसे पूरी पटी थी। छत भी बोझसे टूटी जा रही थी। लॉरीपर लिखा हुआ था "मख्सूस हम्ल-बार" (सिर्फ़ बोझा ढोनेकेलिए), तो भी अठारह मुसाफ़िर इसमें ठूँस दिये गये थे। लॉरियों-

की कमीके कारण मुसाफिर मजबूर थे, लेकिन यहाँ १८ आदमियोंके लिये बैठनेकी भी जगह नहीं थी, फिर हमको पाँच दिनरात इसी बसमें चलना था। बसमें एक-दूसरे परिचय हुआ। पंडित मस्तराम शर्मा पत्नी और बहनके साथ शायद तीन आदमी थे। यह गुरदासपुर (दीनानगर)के रहनेवाले थे। गुजरातके मुल्लाजी, उनके दामाद अहमदभाई और बीबी-बेटी चारों जने तीर्थ करके आ रहे थे। अम्बालाके तरुण अलमदादहुसेन मशहदसे तीर्थ और प्रेम करके लौट रहे थे। इस प्रकार हम ९ हिन्दुस्तानी थे, और ९ ही ईरानी। पहिली रात बैठनेके बाद सोनेका नाम आया। मैंने राय पेश की—हमें शिरको सिर्फ़ अपना समझना चाहिए, बाकी शरीरको बोरोंका ढेर मान लेना चाहिए। वही हुआ। रास्तेमें तुरबते-हैदरी, काईन, बिरजन्द होते ७ अक्तूबरको हम जाहिदान पहुँचे। यह ८ हजार आबादीका अच्छा क़सबा है। आसपासके गाँवोंमें बलोची रहते हैं, लेकिन शहरमें ईरानियों और उनमें भी ज्यादा भारतीयोंकी दूकानें हैं। यहाँ भी आसपास नंगे पहाड़ हैं। पिछली लड़ाई (१९१४-१८)में कोयटावाली रेल यहाँतक लाई गई थी। आज भी शहरकी कुछ सड़कों पर रेलकी पटरी बिछी हुई हैं, लेकिन रेल नोककुंडीसे आगे नहीं आती। उस वक्त पल्टनकेलिए अंग्रेजोंने बहुतसे मकान बनवाये थे, जिनमेंसे अधिक आज खाली पड़े हैं। कुछ मकानोंमें अब ईरानी सिपाही रहते हैं। १९२०में अंग्रेजोंको ईरान छोड़ जाना पड़ा। उन्होंने सोचा था कि बोलशेविकोंके आनेसे रूस कमजोर हो गया और आधेकी जगह सारा ईरान हमारा है। लेकिन बोलशेविकोंने जारके समय ईरानियोंसे छीने अधिकारोंको छोड़कर अंग्रेजोंको भी पीछे हटनेकेलिए मजबूर किया। गुमरुग् (कस्टम)के गोदाममें बादाम और पिस्ताके अलावा जीरेकी हजारों बोरियाँ थीं, और हींगके बस्ते भी रखे थे। ईरानी न जीरेको बरतना जानते हैं, न हींगको। ९ अक्तूबरको एक बजे लॉरी नोककुंडीकेलिए रवाना हो गई। इधर मालकी लॉरियाँ ही ज्यादा चलती हैं, और ड्राइवर बगलमें एक-दो मुसाफिरोंको बैठा लेते हैं। साढ़े ४ घंटा चलनेके बाद मीरजावा पहुँचे। किसी समय यह अच्छा स्टेशन था, अंग्रेजोंकी रखी पानीकी टंकी अब भी काम दे रही थी। मीरजावासे एक-दो ही मील दूर ईरान और भारतकी सीमा है। यदि मीरजावा भारतकी सीमामें होता, तो यहाँतक रेल आती, लेकिन उस पार तो सैकड़ों मीलतक पानी है ही नहीं। नोककुंडीमें भी दूरसे रेलमें पानी लादके लाना पड़ता है। ढाई घंटेतक कस्टमवालोंने सामान और पासपोर्ट देखनेमें लगाये। आठ बजे जब चलने लगे, तो लॉरी बिगड़ गई। ड्राइवर उसे सुधारने लगा। १ बजे अंग्रेजी सीमाकी फ़ौजी चौकीपर पहुँचे। दोनों राज्यों-

की सीमा है एक सूखा छिछला नाला। खैर, चौकीमें पासपोर्ट देखा गया। हम फिर चले और रास्तेमें रेलवे मजूरोंके एक खाली घरमें पहुँचकर सो गये। यहाँ हवा अधिक थी, सर्दी भी अधिक थी, लेकिन दिरजन्दके पास जैसी नहीं, जहाँ कि रातको मशकका पानी बरफ बन गया था। १० तारीखको सबेरे ही रवाना हुए। हवा तेज थी, और छोटी-छोटी कंकड़ियाँ उड़ रही थी, ३ जगह गाड़ी बालूमें फँसी। कभी-कभी दो-दो दिन गाड़ियाँ इस सूखी दलदलमें फँसी रहती हैं। शताब्दियोंमें यह निर्जल, निर्जन सैकड़ो मीलोंका कान्तार हिन्दुस्तानकी रक्षा करता था; शत्रुकी हिम्मत नहीं होती थी, कि भारी सेना लेकर इधरसे आये। लेकिन अब तो लौरियोंने इस बयाबानको चन्द घंटोंका रास्ता बना दिया। हम एक बजे नोककुंडी पहुँच गये।

२४

मौतके मुँहमें (१९३५-३६)

नोककुंडी बलोचिस्तानमें एक छोटासा रेलवे-स्टेशन है। जैसा कि मैंने पहिले बताया, यहाँसे जाहिदानतक रेलकी पटरी मौजूद है; किन्तु रेल अब यहींतक जाती है। यहाँ तीस-चालीस दूकाने हैं। पंजाबी और सिन्धी दोनों ही तरहके दूकानदार हैं। पानी बिल्कुल नहीं है, उसे बहुत दूरसे पानीकी टंकियोंमें लाना पड़ता है, और नापकर मिलता है। मकान भी छोटे-छोटे हैं, वृक्ष-वनस्पतिका नाम नहीं है। सप्ताहमें सिर्फ एक गाड़ी बृहस्पतिको जाती थी, आज बृहस्पति था। १६ रुपया २ आनेमें लाहौरका टिकट लिया। पासपोर्ट दो-दो बार देखा गया। ८ बजे शामको गाड़ी रवाना हुई। नंगे पहाड़ और रेतीलीसी भूमि दिखाई पड़ रही थी, जब कि मैंने गाड़ीसे बाहरकी ओर झाँका। स्टेशन कोई कोई सौ मील पर था। पानी है ही नहीं, तो आदमियोंकी बस्ती कहाँसे होगी। दोपहर बाद ट्रेन बोलान-दर्रेमें घुसी, उसे कई सुरंगोंसे पार होना पड़ा। इस तरफ़से विदेशी शत्रुओंके आनेमें दो-दो प्राकृतिक बाधाएँ थीं। एक तो सैकड़ों मीलका वह निर्जन निर्जल बयाबान, और फिर यह बोलानकी पहाड़ियाँ। यह भारतकेलिए कितने सहायक साबित हुए हैं, यह इसीसे मालूम है, कि अंग्रेजोंसे पहिलेके सभी आक्रमणकारी खैबरसे आये, किसीको बोलानसे आनेकी हिम्मत न हुई। तीसरे पहर गाड़ी मस्तुंग-रोड स्टेशनपर पहुँची। सारे

मकान गिर गये थे। मैंने जापानमें क्वेटाके भूकम्पकी खबरभर सुनी थी, लेकिन यहाँ देख रहा था कि पानीकी टंकियोंके लोहेके खम्भोंको किस तरह उसने तोड़-मरोड़ डाला था, किस तरह उसने बाग़ोंकी दीवारोंको सुला दिया था। स्पेजन्द जंक्शनसे एक लाइन क्वेटा जाती है, और दूसरी सक्खर-रोड़ीको। हम लोग लाहौरवाले डिब्बेमें बैठे। अब हिन्दुस्तानी तीसरे दरजेकी बहार मालूम हुई। रेलवे कम्पनियोंकेलिए हम आदमी नहीं जानवर हैं, मैंने इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनीकी रेलें देखीं, जापानकी रेलें भी देखी, कोरिया, मंचूरियाकी रेलें देखीं। खैर, सोवियत्‌की रेलोंके तीसरे दर्जेके आरामसे तुलना करनेकी जरूरत नहीं। हमारा तीसरा दर्जा नरक है। सक्कर-रोहड़ी होते हुए १२ तारीखको सवा ७ बजे शामको लाहौर पहुँचा। डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप स्टेशन हीपर मिले। मैं उनके घर चला गया। अब ६ दिन लाहौरमें बिताने थे। श्रीविश्वबन्धु शास्त्री, और दूसरे मित्रोंसे मिला। मैंने कोशिश की थी कि पंजाब विश्वविद्यालय भी कलकत्ता विश्वविद्यालयकी तरह तिब्बती भाषाको पाठ्य-विषयमें स्वीकार कर ले। डा० लक्ष्मणस्वरूपने प्रस्ताव रखा था, लेकिन कश्मीर-शिक्षामन्त्रीने इसके खिलाफ़ लिखा। तिब्बती भाषाभाषी कश्मीर-राज्यमें रहते हैं, फिर विश्वविद्यालय कैसे मंजूर करता? मैं वाइस-चांसलर डाक्टर वुलनरसे मिला, और यह भी बतलाया कि काश्मीर-राज्य हीमें नहीं, काँगड़ा जिलेकी लाहुल तहसीलमें भी तिब्बती बोली जाती है। उन्होंने कहा—यदि वहाँके लोग डिप्टी-कमिश्नरकी मारफत आवेदनपत्र भेजें, तो हमारा हाथ मजबूत होगा।

लाहौरमें दो-तीन व्याख्यान देने पड़े। १८को मैं दिल्लीकेलिए रवाना हुआ, और अगले दिन साढ़े ८ बजे ही यहाँ पहुँच गया। प्रोफेसर सुधाकरके घरपर ठहरा। हरिजनसेवकसंघमें श्रीमलकानी और वियोगी हरिजी मिले। शामको पहाड़ीपर टहलने गये। मेरठसे लाया अशोकस्तम्भ यहीपर गड़ा है।

अगले दिन (२१ अक्तूबरको) भी पुरानी जगहोंको घूमकर देखना था। शामको हिन्दीप्रचारिणीसभाकी ओरसे मानपत्र मिला। महामहोपाध्याय हरिनारायणजी सभापति थे। चतुरसेन शास्त्री, जैनेन्द्रजी, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पंडित इन्द्र जैसे दिल्लीके साहित्यधुरीणोंसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। २२को सबेरे कानपुरमें उतर गया। स्वामी भगवानके साथ जाजामऊ देखने (२३ अक्तूबर) गया। पुरानी जगह है, अधिक खंडित मूर्तियाँ नहीं हैं, यह बहुत पुरानी जगह नहीं मालूम होती।

प्रयागमें ४ दिन (२४-२७ अक्तूबर)केलिए डाक्टर बद्रीनाथप्रसादके यहाँ

ठहरा। कुछ प्रूफ देखे। २६ तारीखको टॉन्सिलका दर्द उभड़ पड़ा, और बुखार भी एक-दो डिग्रीका था। खैरियत यही हुई कि भारतसे बाहरकी यात्रामें यह बला सिरपर नहीं आई। थूक उगलनेपर भी भारी दर्द हो रहा था। शायद लक्ष्मीदेवीने कहा—कि गलेमें गमछा बाँधकर कोई टौन्सिलवाले गुनी इसे ठीक कर देंगे। मैंने कहा—अच्छी बात है, गुनीका भी हाथ लग जाय। आखिर वैद्योंका चूरन, होमियोपैथोंकी खाक-भभूतकी परीक्षा तो हो ही चुकी है, अब इसीको क्यों बाक़ी रखा जाय? लेकिन मैं जानता था कि इसकी दवा पटनामें डाक्टर हसनैन ही कर सकते हैं। २९ अक्तूबरको साढ़े ६ बजे पटना पहुँचा। जायसवालजीका स्नेह और स्वागत प्राप्त हुआ, और ३ घंटे बाद डाक्टर हसनैन देखने आये। १० बजे मैं मेडिकल कालेजके अस्पतालमें दाखिल हो गया। डाक्टर पहिले हीसे कह रहे थे, कि टौन्सिलको काटकर निकलवा देनेमें ही कुशल है। मुझे भी कोई उज्र नहीं था, लेकिन अभी तो टौन्सिल पक रही थी, जबतक स्वस्थ न हो जाये, तबतक आपरेशन कैसे हो सकता था। पहिली नवम्बरको धूपनाथजी आ गये। दर्द तो अब भी था, लेकिन बातचीतमें वह उतना मालूम नहीं होता था। ३ और ४ तारीखको टौन्सिलको चीर दिया गया। थोड़ा पीव और खून निकला। अब सालभरकेलिए फिर फ़ुर्सत। ७ बजे मैं अस्पतालसे जायसवालजीके घरपर चला आया।

सारनाथमें मूलगन्धकुटी विहारका वार्षिकोत्सव था, आनन्दजी और धूपनाथके साथ मैं वहाँकेलिए रवाना हुआ। मेला अच्छा खासा था। शायद मैं इस अवसरपर जरूर आऊँगा, यह बात श्यामलालको मालूम हो गई थी, और १८ साल बाद श्यामलाल, रामधारी और श्रीनाथ अपने तीनों ही सहोदरोंको मैंने वहाँ देखा। १४ नवम्बरको हिन्दूविश्वविद्यालयमें छात्रोंके सामने जापानपर व्याख्यान दिया। ध्रुवजी सभापति थे। कहाँ मैं नाकतक नास्तिकवादमें डूबा और कहाँ ध्रुवजी जैसे आस्तिक वृद्ध? मेरी कितनी ही बातें तो उन्हें पसन्द न आई होंगी, खासकर भक्ष्याभक्ष्यकी बातें।

अबकी गर्मियोंमें मुझे फिर तिब्बत जाना था, क्योंकि शलू-विहारकी सारी पुस्तकोंको मैं देख न पाया था, और देखी हुई पुस्तकोंमेंसे भी कितनोंको उतारके लाना था। दो दिन (१५-१७ नवम्बर)केलिए कलकत्ता हो आया। तेरगीके दुर्लभ कंजूरको बड़ी मुश्किलसे मैंने प्राप्त किया था, लेकिन उसे मैंने छुशिङ्-शामें उधार रुपये लेकर खरीदा था। मैं चाहता था, कि कंजूर पटने हीमें रहे, लेकिन वहाँ जायसवालजीको छोड़कर उसकी क़दर जाननेवाला कौन था? न

बिहार-रिसर्च-सोसाइटी उसके महत्त्वको जानती थी, न पटना विश्वविद्यालय। लाचार होकर कलकत्ताविश्वविद्यालयको लिखना पड़ा।

पटना-बनारस होके फिर मैं प्रयाग चला आया। और २० नवम्बरसे १५ दिसम्बर तक यहीं "दीर्घनिकाय" (हिन्दी-अनुवाद), "जापान", "वादन्याय" आदिके प्रूफ देखता रहा। १५ दिसम्बरको जायसवालजीकी चिट्ठी मिली, कि कंजूरको कलकत्ता विश्वविद्यालय ले रहा है, चले आइए। मैं दूसरे दिन पटना पहुँच गया। अगले दिन (१७) डा० प्रबोधचन्द्र बागची आगए, और कंजूरको उन्होंने सम्हाल लिया। अब मैं पटने हीमें था। सबेरे बड़े लड़के जायसवालजीके साथ गंगा नहाने जाता, जिसमें मैं थोड़ा तैर भी लेता था। जलपानके बाद जायसवालजी मुवक्किलोंके कागज-पत्र देखते और फिर खाना खाकर हाईकोर्ट चले जाते। मैं जलपानके बाद चौड़ी पलंगपर कागज-पत्र फैलाकर प्रूफ देखने बैठता। मुझे यह भी पता नहीं होता, कि खानेका समय हुआ है। खाना तैयार होनेपर वहीं छोटी मेजपर आ जाता। खानेके बाद फिर उसी तरह मैं काममें जुट जाता। कितने ही समय बाद मुझे यह कथानक सुननेमें आया—राहुलजी लिखने-पढ़नेमें इतने तन्मय रहते हैं, कि उनको यह भी पता नहीं लगता कि भोजनमें नमक है या नहीं। मुझे यह सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ, क्योंकि न मैं ऐसा विदेह हूँ, न बनना चाहता हूँ। इस कथानकका स्रोत अंतमें माँजी (जायसवाल-पत्नी) मालूम हुईं। ऐसा बहुत कम देखा जाता है, कि किसी विद्वान मित्रका जिस तरह स्नेह पाया जाय, उसी तरह उनकी पत्नीका भी वात्सल्य मिले।

जायसवालजी स्वयं विद्वान थे, अद्भुत गवेषक और विचारक थे, और इससे भी बढ़कर उनको यह लालसा रहती थी, कि दूसरे विद्वानों और सहकर्मियोंको मदद पहुँचाई जाय। विज्ञानमार्तण्ड अजमेरके एक तरुण थे। पहिले लाहौरमें और पीछे काशीमें उन्होंने संस्कृतको पढ़ा था। वह बहुत व्युत्पन्न तरुण थे। हर छन्दमें बड़ी सुन्दर कविता करते थे। उनका संस्कृतभाषण अप्रयास चलता था। वह पटना पहुँचे। जायसवालजीने पटनाके दो नामी पंडितोंको बुलाया। विज्ञानमार्तण्डने व्याकरणका पांडित्य तो दिखलाया ही, साथ ही वह यह कहकर खण्डन-खण्डखाद्यकी पंक्तियाँ उद्धृत करने लगे, कि वस्तुतः यह ग्रंथ साराका सारा नागार्जुनके माध्यमिक दर्शन पर अवलंबित है, और ग्रंथकारने मंगलाचरण जोड़कर अपनेको आस्तिक रखनेकी कोशिश की है। बेचारे पंडित विद्वान तो थे, लेकिन इसके लिए तैयार न थे। विज्ञानमार्तण्ड मुझे ढूँढ़ते यहाँ पहुँचे थे। अब वह बौद्धधर्मका अध्ययन करना चाहते थे। मैंने उन्हें सिंहल या बर्मा जानेकी सलाह दी। परिचयपत्र भी दे दिया। मेरी बड़ी इच्छा थी,

कि उनका ज्ञान और भी विस्तृत हो जाय। जायसवालजी तो उनपर मुग्ध थे। एक दिन कचहरीसे आनेपर चुपकेसे सौ एक रुपये विज्ञानमार्तण्डकेलिए दे दिए। पत्नी कँजूस नहीं थीं, लेकिन पतिकी शाहखर्चीका कष्ट उन्हें ही भोगना पड़ता था। जायसवालजीका मैं यदि स्नेहपात्र था, तो उसका कारण उनकी गुणग्राहकता थी, लेकिन बेचारी माँजी तो बड़े मुश्किलसे रामायण पढ़ पाती थीं; किंतु वह भी अपने पुत्रों जैसा ही मुझपर स्नेह रखती थीं। नमकवाली कथाका मूल ढूँढ़ते वक्त मुझे मालूम हुआ कि शायद किसी दिन खानेकी चीजमें नमक न रहा हो, या कम रहा हो। मैंने उसे जाना जरूर होगा, लेकिन नौकरको नमककेलिए दौड़ाना और तब तक हाथको रोकना मुझे पसन्द नहीं था। आखिर, पासमें प्रूफ़ भी तो इंतजार कर रहे थे। और मेरे पास रह गए थे उस समय जाड़ेके कुछ इने-गिने दिन। मुंगेरवालोंने अपने जिला-साहित्य-सम्मेलनके सभापति बननेके लिए मुझसे बहुत आग्रह किया। मैंने स्वीकार कर लिया। अबकी बार ओरियन्टलकान्फ्रेन्स मैसूरमें होनेवाली थी। जायसवालजी जा रहे थे, उन्होंने मुझे भी चलनेकेलिए कहा, किन्तु मुझे अपने कामसे छुट्टी नहीं थी। अबकी शिवरात्रिमें नेपालके रास्ते तिब्बत भी जाना था।

टाईफाइडके चंगुलमें—२३ दिसम्बरको कुछ ज्वर आ गया। जायसवालजीने देखा और पूछा "मैं रह जाऊँ?" उस वक्त कोई वैसा बुखार नहीं था। मैंने कहा—नहीं आप जाइए। होमियोपैथीपर जितना मेरा अविश्वास था, उतना ही उनका विश्वास। उन्होंने एक होमियोपैथ डाक्टरको दवाकेलिए कह दिया। वह २३ दिसम्बरको ही मैसूरकेलिए रवाना हो गए। ४ दिन तक होमियोपैथीकी दवा होती रही, बुखार रात-दिन रहता था। हाय-तौबा मचानेकी मेरी आदत नहीं है, इसलिए मैं चुपचाप लेटा रहता। २६ तारीखके दोपहरको थर्मामीटर लगाया गया, तो बुखार १०३ डिग्री था, और रातको १०५ डिग्री। मैंने समझा कि अब होमियोपैथीके भरोसे नहीं रहना चाहिए। दूसरे दिन १० बजे मैंने श्यामबाबू (बैरिस्टर श्यामबहादुर) को बुलाया। रोगियोंकी चिकित्साका स्थान मैं घरको नहीं अस्पतालको मानता हूँ। वहाँ जितना दवाई और पथ्यका ख्याल किया जा सकता है, उतना घरपर नहीं, और घरवालोंको नाहक तरद्दुदमें पड़ना पड़ता है। उन्होंने डाक्टर बुलानेकेलिए कहा, तो मैंने कहा—नहीं, अस्पताल ले चलिए। मैं वहाँ हथुवावार्डकी ११ नम्बरकी चारपाईपर पहुँचा दिया गया। उस दिन बुखार १०३ डिग्रीसे १०५ डिग्री तक रहा। जब १०३से ऊपर होने लगता, तो सिरपर बरफ रखा जाता। आज (२७ दिसम्बर) ही धूपनाथ आ गये, वह रातको भी मेरे पास रहना चाहते थे, लेकिन

मैंने उन्हें होटलमें सोनेकेलिए भेज दिया। दूसरे दिन भी रातको मैंने उन्हें होटल भेजा। अस्पतालवालोंको बड़ा आश्चर्य होता था, कि मैं अकबक क्यों नहीं बोलता २६ तारीखको बुखार १०३से १०४ डिग्रीतक रहा। उस दिन बीच-बीचमें बेहोशी आने लगी, लेकिन मुझे कोई घबराहट नहीं थी। अब धूपनाथ रातदिन मेरी चारपाईके पास बैठे रहते, सिर्फ़ खानेकेलिए बाहर जाते। आज देहमें लाल-लाल दाग निकल आये, इसलिए सन्देह नहीं रहा कि यह टाईफाइड (मोतीझरा) ज्वर है।

३० दिसम्बरसे ३ जनवरी पाँच दिनतक मैं बेहोश रहा, उस वक्तकी बातें मैंने धूपनाथसे सुनकर पीछे अपनी डायरीमें लिखीं। बेहोशीके साथ पाखाना-पेशाबकी भी संज्ञा जाती रही। नर्स और डाक्टर बड़ी तत्परतासे देखते रहते, और धूपनाथ तो मुश्किलसे एकाध घंटे इधर-उधर जाते, नहीं तो, बराबर वहीं रहते। पाखानेकी बदबू बहुत खराब होती, धूपनाथ कपड़ोंको बदलते और अतर छिड़कते रहते। ३० और ३१ दिसम्बरको बुखार १०५ डिग्रीतक बढ़ता रहा। अखबारोंमें खबर छप गई थी, इसलिए बहुतसे दोस्त मिलने आते। बेहोशीमें आयोंको मैं क्या पहचानता, लेकिन जान पड़ता है, कभी-कभी स्वप्नकी तरह मुझे होश भी आ जाता। पहिली जनवरीको नारायन बाबू (बाबू नारायणप्रसादसिंह, गोरयाकोठी, छपरा) आये थे। मैंने उन्हें पहचान लिया, और एकाध बात भी कही। दूसरी जनवरीको बुखार १०१-१०३ डिग्री रहा और ३ जनवरीको १००-१०३ डिग्रीतक। यद्यपि ४ जनवरीको भी १०१-१०३ डिग्री बुखार रहा, पर आज बेहोशी नहीं थी। निमोनियाका डर था, इसलिए डाक्टर बहुत सावधानी कर रहे थे। डाक्टर सेन और घोषालने मेरी जान बचानेकेलिए बहुत परिश्रम किया। ३० दिसम्बरसे ३ जनवरीके ५ दिनोंमें मैं ज़िन्दगी और मौतके बीचमें झूल रहा था। धूपनाथ बहुत खिन्न थे, मालूम होता था किसी वक्त भी मेरे प्राण निकल जायेंगे। उन्होंने तो यहाँतक सोच लिया था कि शरीरको जलाकर हड्डियोंको अपने गाँवमें ले जा उसपर स्तूप बनायेंगे। पीछे जब मैं खतरेसे बाहर हो गया, तो मैंने खुद देखा कि १०३ डिग्री टाईफाइड-वाले बीमारको लोग धर-पकड़कर रखते थे, और वह उठ-उठकर भागना चाहता था। मैं सारी बीमारीमें न चिल्लाता, न आह करता, न अकबक बोलता था। यह सुनकर बड़ी खुशी हुई, कि मैंने राम या भगवानका नाम बेहोशीमें भी नहीं लिया—मेरे नास्तिक होनेका यह एक पक्का सबूत था। धूपनाथने बतलाया—एक बार आपके मुँहसे धर्मकीर्तिका नाम निकला था। यह निकलना स्वाभाविक था। मौतके-लिए मुझे ज़रा भी हर्ष-विषाद नहीं था, लेकिन यह ख्याल ज़रूर आता था, कि धर्म-

कीर्त्तिके प्रमाणवार्त्तिकको पूरा संपादित करके मैं प्रकाशित नहीं कर सका। वेहोशीके वक्त मुझे ग्लूकोसका पानी और फिर फटे दूधका पानी मिलता रहा। ५ जनवरीको अनारका रस मिला। आज ज्वर १०० डिग्री रह गया था। वेहोशी भी नहीं थी। ६ जनवरीको ज्वर नहीं रहा। मैंने अपने कमरेमें आंख फैलाई। देखा वहाँ २२ रोगी हैं। मेरी बगलकी १२ नम्बरकी खाटपरका रोगी ६ हफ़्तेसे टाईफ़ाइडमें पड़ा है। आज ही जायसवालजी मैसूरसे लौटे। सुनते ही मांजीके साथ दौड़े आये। उनको बहुत अफ़सोस था, कि वह क्यों चले गये, लेकिन पहिले दिन किसको मालूम था; कि यह साधारण ज्वर नहीं है। अब ज्वर नहीं था। ७ तारीखको नारंगी, और अनारका रस और चार बार दूध भी पीनेको मिला। ८ तारीखको केलेकी तरकारीसे भात खानेको मिला। ९को मांस-सूप दिया गया। १०को भी वही भोजन रहा, लेकिन १० बजे दिनसे सर्दी मालूम होने लगी, और दोपहर वाद ज्वर आने लगा, जो रातको १०१ डिग्रीतक पहुँच गया। डाक्टरने मित्रोंको समझाया, कि घबड़ानेकी कोई बात नहीं है, साधारण भोजन देनेपर ऐसा हो जाता है। फिर बुखार नहीं आया, लेकिन बहुत कमजोर था, चारपाईपर भी बैठना मुश्किल था।

२७ दिसम्बरको अस्पताल गया था। १५ जनवरीके ९ वजेसे वहाँसे जायसवाल-भवन चला आया। पैरमें शक्ति नहीं थी। चारपाईपरसे धूपनाथ और दूसरेके सहारे मैं मोटरपर पहुँच सका। अब प्रातः दूध-रोटी और दो अंडा खानेको मिलता, दोपहरको मांस-सूप और भात, चार बजे टोस्ट और ओमलेट, फिर रातको मछली-भात।

१६ जनवरीको डंडा लेकर उठा, लेकिन दो-चार क़दम हीमें पैर जवाब देने लगा। दुर्गम पहाड़ोंपर चलनेवाले अपने पैरोंकी इस अवस्थाको देखकर मेरा दिल अफ़सोस करने लगा। लेकिन दिलको सिर्फ़ परमार्थ हीका ख्याल नहीं था, बल्कि वह प्रमाणवार्तिककेलिए फिर तिब्बत जाना पक्का कर चुका था। डर होने लगा कि कहीं पैर जल्दी तैयार न हो। १७ तारीखसे भोजनके साथ दो बार टानिक मिलता। १९ तारीखको तिब्बती कलाकार देबूजोर् पटना आये। मैंने उन्हें तिब्बतके प्रथम बौद्धमन्दिर (जोखङ्, ल्हासा)का लकड़ीका नमूना बनानेकेलिए कहा था। वह उस नमूनेको साथ लाये थे। बादमें उसे पटना म्यूजियममें रख दिया गया। २० तारीखको विना डंडा लिये जब थोड़ासा चल पाया, तो बड़ी खुशी हुई।

२१को इंग्लैंडके बादशाह पांचवें जार्जके मरनेकी खबर आई। सारे आफ़िस बन्द हो गये। उस दिन मैंने "जापान"का प्रूफ देखना चाहा, लेकिन थोड़ी ही देरमें

थकावट मालूम होने लगी। २३को जायसवालजीके घर (बांकीपुर-जेलके सामने) से स्टेशनतक घूमने गया, लेकिन लौटके आनेपर बहुत थक गया। "वादन्याय"के प्रूफ़का काम खतम हो गया, लेकिन "जापान" और "दीघनिकाय"का प्रूफ देखना था। किंतु चन्द ही पन्नोंके देखनेपर थक जाता था। कुछ सेर मांसकी कमी मनुष्यके शरीरको कयासे क्या बना देती है! २६ जनवरीको मैंने लिखा था—"१५ जनवरीको शरीर पर दो मनका बोझ मालूम हो रहा था, आज चलनेपर तीन सेरका है। पाँच सेरका बोझ रोज़ घटता गया, इस हिसाबसे चार दिन और लगेंगे प्रकृतिस्थ होनेमें।"

२७ जनवरीको मुंगेर साहित्य-सम्मेलनकेलिए भाषण लिख दिया। उस दिन पुराने राजाकी मृत्यु और नये राजाके सम्बन्धमें पटनाके मैदानमें सार्वजनिक सभा हुई। हज़ार आदमी थे, जिनमें आधे स्कूलके लड़के थे। ड्राइवर कह रहा था—रायबहादुर, खानबहादुर पदवी पानेकेलिए खुशामदी आयें थे, हमारेलिए तो चाहे खानदानमें दिया बालनेवाला भी न रहे, तो कोई बात नहीं।

बरियारपुर और मुंगेर—भूपनाथ अभी साथ थे। उनके साथ मैं (२९ जनवरी) बरियारपुर गया। उनके छोटे भाई बर्म्हा आजकल यही बनैलीके तहसीलदार थे। बड़े भाई देवनारायणसिंह भी आये हुए थे। यहाँ मेरा काम था, जल्दीसे जल्दी और अधिकसे अधिक मांसको शरीरपर जमा करना। उसकेलिए यहाँ मांस, मछली, अंडा यहाँ चार-चार पाँच-पाँच बार चलता था। सामने गंगा और उसकी कछार जिसमें गेहूँ, जौकी हरी फसल लहरा रही थी।

कई साल पहिलेकी बात है, गंगाने कई गाँवोंको बहा दिया। लोग भागकर सड़कके पास आ गये। जमीन बनैली राजकी थी, यहीं लोग झोपड़ी लगाके रह रहे थे। अंग्रेज़-मैनेजरने वहाँसे हट जानेकेलिए कहा, मगर बेचारे जायें कहाँ। सारी जमीन तो डाकुओंने बाँट ली है। मैनेजरने आग लगवा दी, पाँच सौ झोपड़ियाँ जल गईं। कहींसे कोई खोज-पूछ करने नहीं आया, और न कहीं सरकारी न्यायका पता लगा। वैयक्तिक सम्पत्ति आदमीको कितना क्रूर बना देती है!

पहिली फ़र्वरीको मोटरमें मैं मुंगेर गया। दो साल पहिले भी इस सड़कसे गुज़र चुका था। आज सम्मेलनका अधिवेशन था। मैंने अपना भाषण मुश्किलसे पढ़ा। देरतक कुर्सीपर बैठनेकी ताक़त नहीं थी। अगले दिन कई भाषण और कवितापाठ हुए। सिद्धहस्त वक्ता—पंडित जनार्दन झा "द्विज" ने भाँसीकी रानी[illegible] कविता पढ़ी।

३से ९ फ़र्वरीतक पटनामें रहा। कालेजके विद्यार्थियोंके सामने दो-एक व्याख्यान दिये, बाक़ी समय प्रूफ़ देखनेमें लगाता रहा। ८ फ़र्वरीको शरीर तो देखनेमें पूर्ववत् ही जान पड़ता था, किन्तु शक्ति उतनी नहीं आई थी—मांस तो बढ़ गया, लेकिन अभी वह गठा नही था। छपरा होते १२ फ़र्वरीको प्रयाग पहुँचा, और दो दिन प्रेसका काम देखा। १४ फ़र्वरीको बनारस। सिंहलवासी श्री अभयसिंह परेरा दस-बारह सालसे भारतमें संस्कृत पढ़ रहे थे, अबकी साल वह संस्कृत कालेजके न्याया-चार्यकी अन्तिम परीक्षा दे रहे थे। मैंने उनसे कहा—"भोटभाषामें बौद्धन्यायके कितने ही महत्त्वपूर्ण और दुर्लभ ग्रंथ मौजूद है, भारतीय न्यायके विकासको अच्छी तरह समझनेकेलिए इन ग्रंथोंका पढ़ना जरूरी है, क्योंकि उनके संस्कृत मूल लुप्त हो चुके है। यदि आप तिब्बत जाना चाहें, तो परीक्षा देकर नेपाल चले आयें। मैं अपने साथ ले चलूँगा, और टशील्हुन्पोमें एक विद्वानके पास पढ़नेका इन्तिजाम कर दूँगा।"

बनारससे छपरा जानेवाली गाड़ीमें चढे। अबकी धूपनाथको भी नेपालतक साथ चलना था। माँझी स्टेशनसे उतरकर एकमा गये। असहयोगके समय एकमामें (१९२१-२२ ई०) एक हिन्दी मिडिल स्कूल था, फिर लक्ष्मीनारायण, प्रभुनाथ गिरीश, हरिहर, रामबहादुर आदि तरुणोंने एक गाँधी-स्कूल खोल दिया, जो असहयोगके कई सालों बादतक लस्टम-पस्टम चलता रहा। वही अब एक हाई स्कूलके रूपमें परिणत हो गया है, यह देखकर मुझे बडी प्रसन्नता हुई। विद्यार्थियोंने कुछ बोलनेकेलिए कहा। मैंने कुछ यात्राकी बातें बतलाई और अंडेका माहात्म्य भी। कितनोंको आश्चर्य हुआ होगा, तरुण विद्यार्थियोंको नहीं, बूढ़े श्रोताओंको जरूर जो अब भी रामउदार बाबा कहनेकी जिद करते थे। उसी दिन दोपहरको धूपनाथके साथ छपरा आया, और शामकी गाड़ीसे नेपालकेलिए रवाना हुआ। १७ को ७ बजे रक्सौल और ९ बजे दूसरी गाड़ीपर चढ़कर हम अमलेखगंज पहुँच गये।

२५

तिब्बतमें तीसरी बार (१९३६ ई०)

शिवरात्रीके यात्री खूब जा रहे थे, इस वक्त राहदारीका सवाल नहीं था। खुली लारियाँ एक-एक रुपयेपर भीमफेरी पहुँचा रही थी। ढाई घंटेमें हम भीमफेरी पहुँच गये।

अबकी वार यह अच्छा इन्तिजाम देखा, कि चीजोंकी तलाशी ऊपर सीसागढ़ी
नहीं, बल्कि यहीं कर लेते थे। अभी मेरे शरीरमें इतनी ताक़त नहीं थी,
दोनों डाँड़ोंको लाँघ सकता। १४ रुपया सवा आठ आनेमें चार क़ुलियोंवाला
खटोला किया गया। खटोलेमें इतना सिमिटके बैठना पड़ता था, कि बड़ी तकल
होती थी। अँधेरा होते-होते हम सीसागढ़ी पहुँचे। कहीं और ठिकाना न मिल
कारण मन्दिरके आँगनमें सो गये। आधी रातको वर्षा होने लगी, फिर नीचे एक घ
चले गये। दूसरे दिन (१८ फ़र्वरी) ५ बजे शामको चन्द्रागढ़ीके ऊपर पहुँचे। उ
राईमें जमीन इतनी विछली थी, कि लोग फिसलकर गिर रहे थे। शामको स
छः बजे थानकोटके नीचे मोटरके अड्डेपर पहुँचे। आठ-आठ आना लेकर मोट
इन्द्रचौकमें पहुँचा दिया। ढूँढ़-ढाँढ़ कर किसी तरह धर्ममानसाहुके घर पहुँच गये
उतराईमें लोगोंको फिसलकर गिरते देख मैं खटोलेपर बैठना बेवकूफी समझ पैद
ही आया था, इसलिए कमर और पैरोंमें दर्द मालूम होता था।

१—नेपालमें

हेमिस-लामाको दस साल बाद आज यहाँ देखा। उस वक्त उनसे लदाखमें ज
मिला था, तो उन्हें हिन्दी बोलने नहीं आती थी, और मुझे तिब्बती नहीं आती थी
अब वह हिन्दी भी बोलते थे। वह तीर्थ करनेकेलिए इधर आये थे। अब लदाख
लौटनेवाले थे। ञेनम्के जोङ्पोन् भी यहीं ठहरे हुए थे। अभी वह एक मासतक
यहाँ रहनेवाले थे। लेकिन तबतक मेरा काम खतम हो जायगा, इसमें सन्देह था और
ठीक वैसा ही हुआ भी। मुझे १८ फ़र्वरीसे १४ अप्रेलतक प्रायः दो मास काठमाँडोंमें
ठहरना पड़ा। धूपनायकको यहाँसे भारत लौट जाना था। यद्यपि उनके मनमें भी
साथ चलनेकी इच्छा थी, किन्तु उन्होंने प्रकट नहीं किया। उनको नेपालके कितने
ही स्थानोंको दिखला देना जरूरी था। हम थापाथली गये, अब भी वहाँ साधू उसी
तरह डटे हुए थे, जैसा कि हमने १३ साल पहिले देखा था। पशुपति और गुह्येश्वरी
को दिखाया, किन्तु धूपनायकको श्रद्धा नहीं थी। महाबौधा गये। चीनीलामाने चाय
पिलाई, तीन घंटेतक बात होती रही। आजकल तिब्बतके बहुतसे यात्री यहाँ ठहरे
हुए थे। मैं अबकी चौथी बार महाबौधा आया था। मैंने धूपनायकको कोठरियाँ
दिखलाकर बतलाया, कि कैसे मैंने वहाँ स्वेच्छापूर्वक क़ैद-तनहाई काटी थी। अब
मैं प्रगट था। लोगोंको पता चल ही जाता, इसलिए कि यहाँ दो-चार जिज्ञासु
आते ही रहते थे। एक दिन कालेजके प्रोफ़ेसर पंडित गोकुलचन्द्र शास्त्री मिले,

उनसे मालूम हुआ कि स्वामी प्रणवानन्द आये हुए हैं—लाहौरके छात्रावस्थाके मित्र सोमयाजुलु, जिन्हें हम लोग प्यारसे मिस्टर कहा करते थे। १७ वर्ष बाद आज इतना पास आ गये हैं, फिर मिलनेकी इच्छा क्यों न होती? यद्यपि उनका शरीर अब भी वैसा ही पतला था, रंग वैसा ही साँवला था, किन्तु सिरपर लम्बे-लम्बे बाल और मुँहपर लम्बी दाढ़ी—ऐसे भेषको देखकर आदमी जल्दी भ्रममें पड़ सकता है, लेकिन मुझे पहिचाननेमें कठिनाई नहीं हुई। १७ वर्ष पहिले हम दोनों एक चौरस्तेपर खड़े थे। फिर हमने अपने-अपने पैरोंको आगे बढ़ाया, और अब कितना अन्तर है। वह घरबार छोड़कर योगी हुए। १९२६ ई०तक यह भी कांग्रेसके काममें लगे हुए थे। फिर ब्रह्म और योगने उन्हें अपनी ओर खींचा। उन्हें एक अच्छा गुरु मिला और दस-दस घंटेकी समाधि लगने लगी। बतला रहे थे, बीमारीके कारण आपरेशन कराना पड़ा, इसलिए अब चार-पाँच घंटेकी ही समाधि रहती है। प्रणवानन्द रमण-महर्षि और स्वामी सियाराम (स्वर्गीय)के बड़े प्रशंसक हैं। मैं उनके मुँहसे योगकी बातोंको सुन रहा था, लेकिन इन सबके सुननेकी मेरे दिलमें कभी स्पृह नहीं हुई। ज्यादासे ज्यादा मैं यही मान सकता था, कि शायद हमारे योगियोंने क्लोरोफ़ारमके विना भी बेहोशीकी कोई युक्ति निकाल ली है। ऐसी युक्तिको समझना कोई बुरी बात नहीं है। लेकिन, मेरे पास उसका समय कहाँ था? साथ ही मुझे यह भी विश्वास है, कि योग मनुष्यकी प्रकृतिमें अन्तर नहीं डाल सकता। अब भी प्रणवानन्द "मिस्टर"की तरह ही निस्संकोच भाषण कर सकते थे। जब मैं पहिली बार सीलोनमें था, (१९२७-२९) तो वह लदाख होकर मानसरोवर गये थे, तबसे वह कई बार मानसरोवर हो आये हैं। एक बार तो सालभरसे ज्यादा वहीं रहे। कच्चे योगी होनेसे, मैं समझता हूँ, उन्होंने कभी भी याक्के कच्चे मांसका स्वाद नहीं लिया होगा। हाँ, कैलाशके हवा-पानीमें आध्यात्मिकताकी विद्युत्-तरंगें प्रवाहित हैं, यह उनको विश्वास है। हम एक-दूसरेको एक मतका बनानेकेलिए उत्सुक नहीं थे, इसलिए बातचीतका ही आनन्द रहा। दो-चार दिन हम दोनों एक ही मकानमें रहे। हमने अपने पुराने जीवनकी स्मृतियाँ दौड़ाई। एक बातमें जरूर हम दोनों एक थे, उनको भी तिब्बतके कष्टोंका आह्वान करनेमें आनंद आता था, और मुझे भी।

एक दिन मैं नेपाल और जापानकी तुलना कर रहा था—(१) दोनों ही हरे-भरे सर्द देश हैं, (२) दोनों हीके मनुष्य मंगोल-किरात (मलाई)-श्वेतांग (श्रेमिन् या हिन्दी-आर्य) मिश्रित जातिके हैं। (३) दोनों ही बड़े मेहनती और साहसी

हैं, (४) और यह बात यद्यपि आज कोई महत्त्व नहीं रखती, किन्तु ६८ वर्ष पूर्व दोनोंका शासन भी एक जैसा था—वहाँ मिकादोको पर्देमें रखकर शोगुन राज करता था, यहाँ विराजको पर्देमें रखकर अब भी तीन सरकार राज करते हैं। जापानकी खेती-बारी, बिजली, फल आदिकी विद्या सारीकी सारी नेपाल भी अपने व्यवहारमें ला सकता है।

धूपनाथ फ़र्वरी १०से १५के ६ दिनोंको छोड़कर २७ दिसम्बरसे २८ फर्वरी तक बराबर मेरे साथ रहे। आज वह विदा होने लगे तो मुझे जरूर कुछ खेद मालूम हो रहा था। ऐसे मित्रका वियोग खेदरहित कैसे हो सकता है? मैं नेपालमें था। जायसवालजीकी इच्छा हुई कि नैपाल देख लिया जाय, मैंने भी लिख दिया कि जरूर आइये। फिर नेपाल-सरकारसे आज्ञा लेनेकेलिए मैंने राजगुरु पंडित हेमराज शर्मासे कहा। उन्होंने उसके बारेमें कोशिश करनेकी ज़िम्मेवारी ली। इधर ज्योतिषियोंने फिर भविष्यद्वाणी की थी, कि ३ मार्चको भूकम्प होनेवाला है। १९३४के भूकम्पसे लोग पूरे भयभीत थे। नेपालमें बहुत नुक़सान हुआ था। मैंने दो मार्चको लिखा था—"यहाँ कलके भूकम्प आनेका इतना हल्ला है, कि बहुतसे लोग घर छोड़कर बाहर रह रहे हैं। इस मूर्खताका क्या ठिकाना? ऐसे ज्योतिषियोंको तो सजा देनी चाहिए। ख्याति और प्राप्तिकेलिए वह तो लिख डालते हैं, और प्रेससे भी फ़ायदा उठाते हैं, इधर करोड़ों आदमी हैरान होते हैं। कितनोंके घर चोरी हो जाती है।" ३ तारीखको भूकम्प नहीं आया, तो ज्योतिषियोंने २० मार्चको भूकम्प आनेकी बात कही।

६ मार्चको मालूम हुआ कि जायसवालजीके आनेकी इजाजत मिलनेमें एक कठिनाई है—उनकी धर्मपत्नी भी आयेंगी, शायद वह पशुपतिका दर्शन करना चाहें, लेकिन, उनके पति विलायत हो आये हैं, इसलिए पशुपतिका दर्शन नहीं हो सकता। खैर, रास्तेकी कठिनाईको देखकर वह खुद नहीं आईं और पशुपतिके दर्शन करनेकी जरूरत नहीं पड़ी। १७ मार्चको अमरसिंह आ गये। अब उन्हें तिब्बतकेलिए तैयार करना था। मैंने उन्हें तिब्बती अक्षर सिखलाना शुरू किया। पहिली अप्रैलको जायसवालजी, श्याम बाबू और अपने सबसे छोटे लड़के दीपके साथ नेपाल पहुँच गये। अगले दिन हम पशुपति गये। साथमें "साहेब लोग" थे, इसलिए मन्दिरके भीतर नहीं जा सके, बाहर-बाहरसे देखा। पहिली अप्रैलसे ११ अप्रैलतक जायसवालजी नेपालमें रहे। उस वक़्त मेरा अधिक समय उनके साथ भिन्न-भिन्न स्थानोंके देखनेमें लगा। ५ तारीख़को हम म्यूज़ियम गये, यहाँ नये-पुराने हथियारोंका अच्छा संग्रह है। चित्र भी अच्छे हैं। मूर्तियाँ उतनी सुन्दर नहीं हैं, लेकिन कुछ मल्ल-राजपतियोंकी पीतलकी मूर्तियाँ सुन्दर हैं।

तीन बजे हम कमांडर-इन्-चीफ़ सर पद्मशमशेरसे मिलने गये। मधुर स्वभाव स्पष्टवादी और व्यवहारमें अत्यन्त सुजन प्रतीत हुए। मेरे "तिब्बतमें सवा बरस"को उन्होंने ध्यानसे पढ़ा था। कह रहे थे—"सत्य बहुधा अप्रिय होता है"। मैंने उसमें कुछ कटु सत्य जरूर कहे हैं। गोरा रंग, लम्बा क़द, प्रायः सारा बाल सफ़ेद। उनके चेहरे हीसे हृदयकी मृदुता झलकती थी। पोशाक बिल्कुल सादी थी। नेवार लोग अपने चीफ साहेबकी बड़ी प्रशंसा करते थे। कह रहे थे, वह भूकम्पके समय लोगोंके पास अकेले ही घूमा करते थे। उनका महल भी भूकम्पमें गिर गया था। दो वर्ष हो गये, लेकिन अभी भी उन्होंने उसे नहीं बनवाया। वह एक मामूली अस्थायी घरमें रहते थे। इसमें शक नहीं कि वह अपनी प्रजा और नेपालका हित चाहते हैं। लेकिन चाहनेसे क्या होता है, वह जिस तरहकी राजनीतिक व्यवस्थाके पुर्जे हैं, उससे उनके लिए कुछ कर सकना सम्भव नहीं है।

७ अप्रैलको हम चांगूनारायण गये। इस मन्दिरकी स्थापना छठीं सदीके आस-पास हुई थी। मन्दिरके बाहर चारों ओर अत्यन्त सुन्दर काष्ठप्रतिमायें हैं, जहाँ-तहाँ कितनी ही खंडित मूर्त्तियाँ पड़ी हुई हैं। उसी दिन हम स्वयंभू चैत्य देखने गये। एक कोनेमें जयार्जुनदेवका शिलालेख है। मैं इधर कई दिनोंसे नेपालकी राजवंशावलीका अध्ययन कर रहा था। उससे मालूम हुआ, कि ७७० नेपालसंवत् (१३५० ई०)में बंगालका "सुरत्राण शमसदीन भाँगरा" (सुल्तान शमसुद्दीन बागरा) नेपाल आया, उसने बहुतसे देवालयोंको तोड़ा। मैंने नेपालमें जहाँ-तहाँ नाक-कटी मूर्त्तियों-को देखा था, इसलिए वंशावलीको ध्यानसे देखा। यह लेख उसी बातकी पुष्टि करता था। मैंने राजगुरुसे एक दिन इसकी चर्चा की, तो उन्होंने कहा—नेपालमें किसी मुसल्मानविजेताने पैर नहीं रखा। लेकिन इन तीन-तीन प्रमाणोंका उतने-से कैसे खंडन हो सकता था? मैंने जायसवालजीको सारी बातें बतलाईं, फिर उस शिलालेखको दिखाया। बात बिल्कुल साफ़ थी। भारत लौटनेपर जायसवालजीने इसके बारेमें एक वक्तव्य दिया, जिसमें नेपालकी राजवंशावलीपर कुछ लिखने-का भी विचार प्रकट किया। नेपाल-दरबारकी ओरसे उनसे कहलाया गया, कि प्रकाशनसे पहिले पुस्तकको उनसे दिखला लें। निश्चय ही यह धृष्टता थी। जायस-वालको जो कुछ लिखना था, अपनी ऐतिहासिक जिम्मेवारीके साथ लिखना था। भला वह कैसे इस बातको मान लेते? उन्होंने पीछे अपनी खोजोंको प्रकाशित किया। १२ अप्रैलको जायसवालजी चले गये। मुझे भी अब ज्यादा दिन रहनेकी जरूरत नहीं थी।

मैंने अपने दो महीनेके निवासमें जहाँ "दीर्घनिकाय" और "जापान"के प्रूफ काम खतम किया, वहाँ नेपालकी वंशावली, सिक्कों, तालपत्रोंका भी अध्य करता रहा। बहुत काफी सिक्के पटना म्यूजियमकेलिए जमा करवाये। पता ल कि, एक आदमीके पास ५०० वर्षके तालपत्रपर लिखे खरीद-बेचके दस्तावेज हैं। उनमेंसे कुछ देखे। यह पत्र उत्तरी भारतके ताड़के हैं, इसलिए उतने मजबूत न हैं। इन तालपत्रोंके एक कोनेमें राजाकी मुहर रहती है। चित्तहर्षके पास ऐसे ३० तालपत्र जमा हैं। उनसे नेपालके राजनीतिक इतिहास ही नहीं, आर्थिक इतिहास भी प्रकाश पड़ सकता है।

राजगुरुने एक दिन कहा—"तिब्बतमें सवा बरस"में आपने जो यहाँके शास वर्गपर टिप्पणी की है, उससे वह बड़े असन्तुष्ट हैं। इसकी वजहसे आपकी दूस किताबोंको यहाँ आनेमें बड़ी रुकावट हो रही है, इसलिए उसे आप हटा दें, तो अच्छ है। असन्तोषका एक और पता २४ मार्चको लगा। "जापान" और "बुद्ध निकाय" (पाली)के प्रूफोंको डाकसे भेजनेके पहिले अभयसिंह जी कस्टम (भनसार) वालोंको दिखलानेकेलिए ले गये। उन्होंने कहा—हम इसे तबतक नहीं भेज सकते जबतक आप "तिब्बतमें सवा बरस"की एक कापी नहीं दे देते। वहाँ भला कापी कहाँ थी। फिर वह पुस्तक तो सरकार द्वारा जब्त है। उन्होंने इन्कार कर दिया, पीछे गुरुजीने कोशिश करके उन्हें भिजवाया। मैंने भी देखा कि मेरी एक पुस्तकके लिए दूसरी पुस्तकोंके पढ़नेसे लोग क्यों वंचित रहें, इसलिए "तिब्बतमें सवा बरस"के ३३से ३६ पृष्ठको फिरसे लिखकर नरम कर दिया।

३० मार्चको महादशमी थी। आज पुराने राजमहलमें खूब बलिदान हुए। डेढ़ सौ तो भैंसे ही काटे गये। नेपालमें उज्जैनकी देवी हर्गसिद्धिका मन्दिर है, पहिले बारह-बारह सालपर वहाँ नरबलि हुआ करती थी। ३ साल हुए जब कि १२ वर्ष पूरे हुए थे। कहते हैं, उस वक्त पुजारियोंने चोरी-चोरी एक बलि चढ़ाई थी।

सीमाकी ओर—१५ अप्रेलको हमने काठमाडौंसे बिदाई ली। राजगुरु पंडित हेमराज शर्मामें विद्वत्ता, विद्याप्रेम, सहृदयता, कार्यज्ञता, राजनीतिज्ञता सबोंका सुन्दर सम्मिश्रण है। उन्होंने, जब-जब मैं इधर आया, मेरे कामोंमें सहायता की। धर्ममान साहु और उनके पुत्र प्रथम साथा हीसे सहायक रहे। मुझे यह देखकर अफसोस हो रहा था, कि धर्ममानसाहु अब बहुत कमजोर हो गये हैं। ७४ वर्षकी आयु और ऊपरसे दमाका रोग, बहुत ही कम उम्मेद थी, कि उन्हें देखनेका फिर मौका मिलेगा। सामान ढोनेके हमने चार भरिया(कुली) ठीक किये थे। यद्यपि

अब शरीरमें बल पूर्ववत मालूम होता था, किन्तु तो भी गुरुजीने दो घोड़ोंको तातपानीतककेलिए दे दिया, तातपानीके आगे तो घोड़ा जाता ही नहीं। ज्ञानमानसाहुके साथ साखूतक हम मोटरमें गये। आज रातभर यहीं रहना हुआ। अगले दिन (१६ अप्रेल) हम पाँच ही बजे रवाना हुए। अबकी बार देवपुर-डाँडासे न जाकर नड्लासे पार हुए। भरिया बहुत धीरे-धीरे चल रहे थे। उस दिन नवलपुर बाजारमें ठहर जाना पड़ा। भरियोंकेलिए इन्तजार करते रहे, लेकिन वे रातभर नहीं आये। बाजार था, लेकिन वहाँ खानेका इन्तिजाम न हो सका। सामान सब भरियोंके पास था, मेरे चीवर काफी मजबूत थे। हाँ, खटमलों और पिस्सुओंने बहुत तकलीफ़ दी। दूसरे दिन (१७ अप्रेल) भरिया ७ बजे आये। बोझके मारे दो लड़के नहीं चल सके, इसीलिए पीछे ठहरना पड़ा। यहाँसे हम १२ बजे रवाना हुए। सारा रास्ता चढ़ाई-उतराईका था। हमारे घोड़े साढ़े तीन बजे चौतारा पहुँच गये। लेकिन भरिया ६ बजे पहुँचे। यहाँ एक साईसने पेटकी बीमारीका बहाना कर दिया, हमें उसे लौटाना पड़ा। एक भरिया भी बीमार पड़ा, फिर एक दूसरे आदमीको तातपानी तककेलिए लेना पड़ा। दूसरे दिन (१८ अप्रेलको) हम जलबीर पहुँचे। अबके वह बाजार सूनी थी, और भुनी मछलियोंका भी कहीं पता नहीं था। मालूम होता है, फसल कटनेके वक्त ही जलबीरका बाजार जमता है। आगे चढ़ाई थी, और कुछ दूर तक तो इतनी कठिन थी, कि घोड़ा छोड़कर पैदल चलना पड़ा। पइरेगाँवमें एक तितल्ला मकान रहनेकेलिए मिला, लेकिन घोड़ेकेलिए खोजनेपर भी पुवाल न मिल सका; उसे सिर्फ दानेपर रहना पड़ा। १९ अप्रेलको हम देवरालीके डाँड़ेपर पहुँचे। यह सबसे ऊँचा डाँड़ा है, और चढ़ाई बहुत सख्त है। सारी चढ़ाई पैदल पार करनी पड़ी। यन्लाकोट होते ४ बजे ठागम पहुँचे। यह अच्छा बड़ा गाँव है। रहनेवाले नेवार हैं। आए थे बेचारे दूकान करनेकेलिए, लेकिन व्यापारका स्रोत बहुत बरस हुए सूख गया, अब खेती करके गुजारा करते हैं। बड़ी मुश्किलसे एक घरमें चावल मिला। अगले दिन (२०अप्रेल) भी रास्ता खराब रहा। खिन्तीगाँवमें माईथान देवीका थान है। मंदिरके सामने एक पाषाणस्तंभपर पीतलका सिंह है, जिसे कर्नल गंगा-बहादुरने बनवाया था। यहाँ भी नेवारोंके चार-पाँच घर हैं, किन्तु यह लोग व्यापारी नहीं, आलू आदिकी खेती करते हैं। कितनी ही चढ़ाईके बाद शरवा लोगोंका गाँव मिला। यहाँ एक गुंबा भी है। नीचेके गाँवोंमें जौ कट गया था, और यहाँ शरवा लोगोंके गाँवोंमें अभी जौ बिल्कुल हरा था। उस दिन हम डुग्ना गए और अगले दिन (२१ को) १० बजे तातपानी पहुँच गए। स्नान गरमकुंडमें हुआ। गुरुजीका

घोड़ा और साईस सिर्फ़ यात्राकेलिए ही सहायक नहीं साबित हुए, बल्कि उनकी वजहसे अधिकारियोंपर भी प्रभाव पड़ा। हमारे पास एक भरियाकी कमी थी, भनसारके अधिकारीने अपना आदमी दे दिया। कुदारीकी फौजी चौकीपर भारदारने गुरुजीके साईसको देखा। वह हमें आगे जानेसे रोक तो नहीं सकता था, किंतु नम्रतासे बोला—आगेसे आएँ, तो एक सरकारी चिट्ठी लाएँ, यह हमारेलिए भी अच्छा होगा; दूसरा वक़्त रोकें, तो आपको कष्ट होगा। अब हम ५ आदमी थे, तीन भरिया, अभय-सिंह और मैं। भोटकी सीमामें पहुँचकर चढ़ाई आई, और थोड़ी ही दूर जानेपर पैरोंने जवाब दे दिया। हम तेंजीगड (रमदत) में रातको ठहर गए।

२–तिब्बतमें

डामके सामने ही आकर हम शामको ठहर गए थे। सुबह ६ ही बजे चले। जंजीरवाले पुलपर अभयसिंहको बहुत उत्साह देकर पार कराना पड़ा। डाममें हम नीचेसे जा रहे थे, देखा, हमारी एल्मोकी परिचिता भुट्टी और डुक्पालामाके एक चेला बैठे हुए हैं। मिले, कुशल प्रश्न हुआ। फिर वहाँसे रवाना हुए। आजके आधे रास्तेपर जाकर चाय पी। एक जगह सुनास (पहाड़ी अशोक) के लाल-गुलाबी फूलोंकी अद्भुत शोभा थी, पत्तियाँ बिल्कुल नहीं, सिर्फ़ फूल ही फूल दिखाई देते थे। रास्ता कठिन था, कहीं-कहीं इतना संकीर्ण था, कि दिल दहल उठता था। उसी दिन ६ बजेके क़रीब हम छोकुसुमके गरमपानीके चश्मेपर पहुँच गए। कल नेपाल सीमा पार करनेके बादसे अब तक नौ पुल पार करने पड़े थे। अब हम नौ, दस हज़ार फ़ीट ऊँची जगहपर थे। सर्दी इतनी थी, कि अभयसिंहने तप्तकुंडमें नहानेका ख्याल छोड़ दिया। २३ अप्रेलको ढाई बजे हम ञेनम् पहुँच गए। रास्तेमें बरफ बहुत कम मिली थी। इस वक़्त पहाड़ी लोग नमककी ढोवाईमें लगे हुए थे। यह तीसरी बार मैं ञेनम् आया था। अबकी चार दिन यहाँ रहना पड़ा, पहिले तो कुछ सन्देह मालूम होने लगा, क्योंकि एक जोङ्पोन् (जोङनुब)ने दूसरे जोङ्पोन (जोङ्शर्) के ऊपर टालना चाहा। नेपालमें हमारा परिचय पहिले जोङ्पोन्से हुआ था, दूसरे जोङ्पोन्का मिजाज लोग कड़ा बतला रहे थे। मेरे पास अपनी लिखी तिब्बती पुस्तकें, और ल्हासा और सक्याके बहुतसे फ़ोटो थे, उनको देखकर उसने कहा—वैसे तो आचारा (साधू) आदि को हम ऊपर नहीं जाने देते, किन्तु आप धर्मकार्यकेलिए जा रहे हैं, इसे हम दोनों जोङ्पोन् बातचीत करके ठीक कर लेंगे। यह सुनके जीमें जी आया। शामको जोङ्नुबकी ओरसे चावल और मांसकी सौगात आई। हम भी सौगात लेकर दोनों

जोङ्पोनोंके पास पहुँचे। जोङ्नुवूने भाड़ेपर खच्चर भी कर देनेका वचन दिया।

मैं अपने साथ रुपया नहीं लाया था। रुपया साहु धनमानके यहाँ जमा कर दिया था। उन्होंने ञेनम्के जिस व्यापारीको रुपया देनेकेलिए चिट्ठी लिखी थी, वह हिचकिचाने लगा। मैं अपनी गलतीकेलिए पछताने लगा। दो-तीन सौ रुपयेके नोट कोई बहुत भारी थोड़े ही होते हैं। खैर, उन्होंने भी कुछ पीछे सोचा और मुझे सौ रुपयेके तिब्बती सिक्के दिये। शिगर्चेके फ़ोटोग्राफ़र तेजरतन अपनी भोटियापत्नीके साथ लौट रहे थे, इसलिए रास्तेके साथी भी मिल गये। अगले दिन (२७ अप्रेल) मैं जोङ्नुवूके यहाँ गया। वहाँ उनके परिवारके कई फोटो लिये। तिब्बतकी स्त्रियाँ कितनी निर्भय हैं, यह इसीसे मालूम होगा, कि जोङ्पोन्की चाम् (पत्नी)ने मर्दाना पोशाक पहनकर फ़ोटो खिंचवाया। इधरकी यात्रा, यहाँकी सर्दी और नये शिष्टाचारके सीखनेमें उपेक्षा और निर्बलता देखकर मैंने अभयसिंहसे कहा—अभी तो हम तिब्बतके अंचलपर पहुँचे हैं, आगे और भी ज्यादा तकलीफ़ें हैं; यहाँसे नेपाल जाना आसान है। उन्होंने आगे चलनेका आग्रह किया।

२८ अप्रेलको ६ बजे हम ञेनम्से रवाना हुए। हम ६ आदमी घोड़ों या खच्चरोंपर सवार थे—मैं, अभयसिंह, तेजरत्न, उनकी स्त्री तथा दो और नेपाली। जोङ्का नौकर भी घोड़ेपर चलता था, साथमें एक खच्चरवाला पैदल चल रहा था। हमारे बहुतसे सामान तो ताड़ू (घोड़ेकी पीठपर रखे जानेवाले चमड़ेके थैले)में भरे थे। कपड़ा-लत्ता भी घोड़ेकी पीठपर आ गया था। और सामानकेलिए दो बेगार थे। मुझे चढ़नेकेलिए एक खच्चर और अभयसिंहको दुबला घोड़ा मिला था। पहिला मुकाम चाङ्दोग्रोमामे रहा। ज़ोङ्शर् भी सदलबल वहाँ पहुँचा। सारे गाँवने बढ़कर उसकी अगवानी की। हमें जो घोड़े मिले थे, उनका किराया जोङ्नुवूको दिया था, लेकिन घोड़े ज़ोङ्का आदमी हमें बेगारमें पकड़-पकड़कर देता था। अगले दिन नये घोड़ोंके आनेमें देर हो गई, और १० बजे बाद रवाना हुए। घोड़ा कुछ अच्छा था।

अभयसिंहको दौड़ानेका शौक़ हुआ और वह आगे बढ़ गये। घोड़ेवाला बहुत नाराज़ हुआ, लेकिन उनको समझावे कौन? ञेनम्तक ही यह पता लग गया था कि वह सीखेंगे तो अपने मनसे ही, किसीको गुरुगडरिया मानके नहीं। उस रात हम थुलुङमें ठहरे। यह जगह १५ हजार फ़ीटसे कम ऊँची नहीं होगी। अभयसिंहको सारी रात नींद नहीं आई, मैं घबड़ा गया। मैंने लदाखमें दूसरी यात्राके वक़्त देखा था—एक सिपाहीको वहाँ पहुँचते ही साँस लेनेमें तकलीफ़ होने लगी थी, जबतक

पीछे लौटानेका इन्तिज़ाम किया जाय, तबतक वह चल बसा। अभयसिंहको यदि ऊँचाईके कारण फेफड़ेके कष्टसे यह हो रहा है, तो यह जरूर खतरेकी बात थी, ख़ैर सवेरेतक ठीक हो गया।

अगले दिन (३० अप्रेल) हम थोङ्ला पार करके ५ बजे लङ्कोर पहुँचे। अभयसिंह वैद्य प्रसिद्ध हो गये, लोग उनसे दवाई लेनेकेलिए आये। घरके मालिकको आतशक (उपदंश)की बीमारी थी, उनको दवा दी गई। साथियोंमेंसे दोके सिरमें दर्द था। यद्यपि लङ्कोर भी १३ हजार फीटसे कम ऊँची जगह नहीं है, लेकिन हम तो बड़ी ठंडी जगहसे होकर आये थे, इसलिए गर्मी मालूम होती थी। लङ्कोरसे फिर रवाना हुए और साढ़े तीन घंटेमें तिङ्री पहुँच गये। ज्योद्पोनको यहीं ठहरना था, इसलिए हमें भी यहीं ठहर जाना पड़ा। आजकल तिङ्री मैदानकी घास पीली पड़ गई थी। क्याङ् (जंगली गदहों)का भी कहीं पता नहीं था। जहाँ-तहाँ भूमिसे अपने ही पानी निकल रहा था। दो मईको हम चा-कोर् पहुँचे। ज्योद्पोन यहाँ भी आया, और महापंडित, न्यायाचार्य, खच्चरवाले और खच्चर सभी एक घरमें रख दिये गये।

फ़क (३ मई) अगला पड़ाव था। गुस्सा, बात न मानना तथा वहाँके ढंगोंके सीखनेमें अवहेलना यह अभयसिंहमें बराबर चल रही थी, कोई उपाय नहीं था। मैंने सोचा कि साक्यामें रखनेसे बेहतर है, उन्हें शिगर्चे भेज दिया जाय। और लोग जाही रहे हैं, इसलिए तकलीफ़ न होगी। रघुवीरको पत्र दे देंगे, वह उनका इन्तिज़ाम कर देंगे। अगले दिन हमें शामको छोनूदू पहुँचना था। पिछली बार नेपाल जाते वक़्त हमने एक डाँड़ा (जोत) पार किया था, अबकी हम पहाड़की परिक्रमा करते-करते नीचेंसे जा रहे थे। कई जगह धरतीसे सोडा निकला हुआ था, जिसके कारण घोड़ोंको भी खाँसी आ रही थी। आगे आतावूके बनाये वालुका-पर्वत मिले। कहते हैं, यह पिशाच घंटेभरमें लाखों मन बालू उठाकर एक जगहसे दूसरी जगह रख देते हैं। लाखों मन बालूके टीलोंको हमने जरूर देखा, लेकिन आतावू नहीं दीख पड़े। आज बवंडर नहीं था, नहीं तो क्या जाने हम भी आतावूके फेरमें पड़ते और लाखों मन बालू हमारे भी ऊपर आ जाती। रातको छोनदूमें ठहरे।

सबेरे (५ मई) घोड़ेको बढ़ाकर हम मब्जा पहुँचे। मालूम हुआ, कुशो डोनिर्त्सा नावचा गये हुए हैं। उनकी माँने चाय पीनेका बहुत आग्रह किया, लेकिन साथियोंके आगे चले जानेके डरसे हम नहीं ठहर सके। ३ बजे डोङ्लाकी जोतपर पहुँचे, और शामतक लुग्राम्। एक बड़े महलके पास ६ आदमियोंके लेटनेकेलिए एक बिलकुल

छोटीसी कोठरी मिली। मैं जाहिदानकी यात्रामें ४ दिनतक इससे भी भयंकर मासतको सह चुका था, इसलिए यहाँकी सासतकी परवाह क्या? अब साक्या घंटा-डेढ़ घंटाका रास्ता था। तेजरत्न और दूसरोंको शिगर्चे जाना था। मैंने अभयसिंहको समझाकर कहा—"न मेरा दोष है, न आपका दोष है। आदमीका दिल यदि कुछ हफ़्ते-दो-हफ़्तेके निरन्तर सहवाससे प्रयत्न करनेपर भी नही मिल सका, तो समझना चाहिए, कि दोनोकी प्रकृतिमें भेद है। अब अधिक साथ रहना निरी कटुताका कारण होगा। वैसे तो मुझे कुछ महीने रहकर तिब्बतसे चला जाना है, और आपको दो-तीन साल रहना है। मैं रघुवीरको चिट्ठी लिख देता हूँ, वहाँ आपके रहनेका इन्तिज़ाम कर देता हूँ, आप चले जाइए।" मेरी बातमें कहीं कटुता या क्रोधका चिह्न नही था। मैंने रघुवीरको चिट्ठी लिख दी। भारत भेजनेकेलिए कितनी ही चिट्ठियाँ लिख दी। जिस वक़्त खाने-पीनेकी चीज़ोंको सुपुर्द करते वक़्त मैंने उनके हाथमें नोट रखा, तो वह यकायक रो पड़े। अभीतक मैं उनके जीवनके एक ही रूपको देखता था, मैंने फिर उन्हे शिगर्चे जानेकेलिए नही कहा। तिब्बतमें जब-जब दोनोको निरन्तर बहुत दिनोंतक रहना पड़ा, तब-तब फिर वही कठिनाइयाँ आईं। मैं अभयसिंहको दोष नही दे सकता। आदमीका हृदय वीणाके तारकी तरह कुछ ऐसे सूक्ष्म भेद रखता है, कि मिल जाये तो फिर कभी मिठास हट ही नहीं सकती, और न मिले तो ठोंक-पीटकर उसे नहीं मिलाया जा सकता। आखिर दिन-रातमें वे जाने आदमी परिहासमें, क्रोधमें, खेदमें बुद्धिमानकी तरह, बेवकूफ़की तरह, पागलकी तरह, न जाने कितनी तरहकी बातें करता है, काम करता है। किंतु, दूसरे आदमीके दिलमें यदि ज़रा भी गलतफ़हमी बैठ गई, सहृदयता नहीं दिखी तो हर जगह उसे सन्देह होने लगता है।

६ मईको हम दोनो तड़के सबसे आगे निकल गये और डेढ़ घंटेमे (साढ़े सात बजे) साक्या पहुँच गये। रास्तेमें पानी अब भी बर्फ़ बना था। वृक्षोंमें पत्तियाँ हरी कलियों जैसी आ रही थीं। खेतोंमें जुताई अभी शुरू ही हुई थी। डोनिर-छेन्पोने दिल खोलकर स्वागत किया। अचा दिकिलाने सबसे ऊपरी तलके एक कमरेमें हमारा आसन लगवाया।

साक्यामें—चामकुशो छेरिङ् पल्मो उस वक़्त एक विहारमें पूजा और ध्यान करने गई थी। घरमे डोनिर् छेन्पो, उनकी दूसरी स्त्री दिकोला, साले डोनिर्ला, और उनकी पत्नी मौजूद थी। डोनिर्लाकी छोटी सी बच्ची मर गई थी, और आगेकी पीढ़ीकेलिए घर फिर सूना था। रसोई बनानेवाली पुरानी अनी अब भी मौजूद

थी। यह मालूम हुआ कि जापानसे भेजी चित्रावली उनके पास नहीं पहुँची, किन्तु मेरी चिट्ठी पहुँच गई थी, जिसमें चित्रावलीका जिक्र था।

साक्याके महन्तराज दगुछेन् रिनूपोछेका पिछले साल देहान्त हो गया था, और अब फुनूछोग प्रसादके लामा गद्दीपर बैठनेवाले थे। अभी भी इन्तिजाम तारा (डोलूमा)प्रासादके हाथ हीमें था। शामको ४ बजे ताराप्रासादमें गये। कुछ भेंट और तिब्बतमें संस्कृत पुस्तकोंकी सूची भेंट की। चाय पी, थोड़ी दोनों बेटोंसे बात की, और फिर वृद्धा दामो (महन्तरानी) और तरुणी दामोसे भी कुशल-प्रश्न हुआ। फुनछोग् प्रासादके लामा इस वक्त ल्हाखड्छेनूमोके महाविहारमें गये थे। वहाँ पहुँचे। लामा उसी तरह हँसते हुए प्रेमसे मिले।

६ मईसे २२ जुलाईतक प्रायः ढाई महीना साक्या हीमें रहना पड़ा। अगले दिन दोनों प्रासादोंसे चाय-सत्तू और मांसकी सौगात आई। जैसा कि दरबारी सौगातोंमें अकसर होता है—उपयोगकी चीजें बहुत कम आईं। सत्तू पुराना सड़ा, कड़वा, गोश्त सूखा कीड़े पड़ा, मक्खन भी खराब। शायद दुनियाभरके दर्बारोंका यही हाल है। भेजनेवाले स्वयं तो इन चीजोंको देखते नहीं। नौकर-चाकर समझते हैं, कि इन छोटी-छोटी बातोंकी शिकायत एक बड़ा आदमी महाराजके सामने कैसे करेगा? फिर अच्छी चीजोंको अपनेलिए रखकर सड़ी-गली चीजें क्यों न भेजी जायें? खैर, मुझे तो सौगातोंकी जरूरत नहीं थी, मुझे तो चाहिए थी उनकी प्रसन्नता। और दोनों प्रासाद (फोटाङ) मेरे काममें सहायता देनेकेलिए तैयार थे। मैं दोपहरका भोजन करके फुनछोक लामाके पास गया। उनको बाहरी दुनियाकी बातें सुननेकी बड़ी शौक थी, राजनीतिक ज्ञानकेलिए नहीं, केवल मनोरंजनकेलिए। जापानके बारेमें बात हुई, चीनके बारेमें, फिर भारतके बारेमें। रूसकी बातें मैंने नहीं कहीं, वहाँकी बातोंको जाननेकेलिए वह बहुत उत्सुक भी न होते। उस वक्त कनजूरके पारायणमें भिक्षु लगे हुए थे, और देवताओंके साथ विशाल खम्भोंवाला हॉल कथा बाँचनेवाले भिक्षुओंसे भरा था। लामा दो बार मुझे लेकर पाठ करनेवालोंके बीच घूमे। बार-बार पूछते थे—किसी चीजकी आवश्यकता है। हमारी आवश्यकताओंका जिम्मा डोनिर्छेनूपोने ले लिया था। पुस्तकोंको छोड़कर और क्या आवश्यकता हो सकती थी। टोरगुमूबाके ग्येनूपो भी आजकल यहीं थे, उनसे भी मिलने गया। यह खुशीकी बात थी, कि भारतसे भेजे फ़ोटो उनको मिल गये थे। गेशे धर्मवर्धनके बारेमें सभी बहुत पूछ रहे थे।

८ मईको दोपहर बाद वार्त्तिकालंकार (प्रज्ञाकरगुप्तकृत प्रमाणवार्त्तिक-भाष्य)-

की पुस्तक आ गई। विभूतिचन्द्रने १३वीं सदीके आरम्भमें कागजपर इसके डेढ़ परिच्छेदोंको लिखा था। पहिली बार सान्यामें जब मैं आया था, तभी आधे परिच्छेद-को लिख ले गया था। अब बाकी एक (चौथे) परिच्छेदको लिखना था। यद्यपि सारा ग्रंथ (तीनों परिच्छेद) मौजूद नहीं था, लेकिन सर्वनाशमें आधेका मिलना भी गनीमत है। अभयसिंहको अभी अक्षरसे परिचय नहीं था, क्योंकि पुस्तक १२वीं तेरहवीं सदीकी लिपिमें लिखी गई थी। पन्ने बड़े और अक्षर छोटे थे। इसलिए रोज दो पन्नेसे ज्यादा लिखनेकी आशा नहीं थी। उसी दिन जुकाम आ गया। और तीन-चार दिनतक चलता रहा। लेकिन वैद्यराज घर हीमें थे, दूध पानी गरम करके पिलाया गया। ११ मईको थोड़ासा ज्वर भी आया। लेकिन वह जुकाम हीके कारण। ऋतु भी प्रतिकूल थी; आकाश मेघाच्छन्न और आसपासके पहाड़ोंपर बरफ़ पड़ गई थी। हमारी छतपर तो बरफके कुछ कण ही गिर पाये थे। शिरमें हल्की सुई-सी जब-तब चुभ जाती थी। लेकिन मैंने अपनी कलम ढीली नहीं की—काम असल चीज़ है, जीवन तो चलायमान है ही।

१३ मईको सर्दीके कारण हमारे हाथ कुछ फटसे रहे थे। टोन्सिल भी दुखने लगी। अभी भी वृक्षोंपर हरे पत्ते निकले नहीं थे। शिरका दर्द तो बराबर ही थोड़ा-बहुत होता रहता था। १९को वार्त्तिकालंकारके उपलब्ध अंशको लिखकर समाप्त कर दिया। फिर लिखे पन्नोंको फिरसे मिलानेका काम शुरू किया। डोर्ज़ेन्पो अभी अपने गुम्बामें जानेवाला नहीं था, इसलिए वहाँ जानेसे अभी कोई फायदा नहीं था।

मेरे मित्र कुशो डोनिर्छेन्पो और फुन्छोग्-प्रासादके नये महन्तराजसे बहुत अनबन थी। मेरे ऊपर दोनोंका घनिष्ठ स्नेह था। दामो (महन्तरानी) एकाध बार जरूर डोनिर्छेन्पो और उनकी दोनों चामके बारेमें पूछ देती थीं, लेकिन लामा कभी कुछ नहीं पूछते थे। मैं जब जाता तो ४, ५ घंटेसे पहिले कहाँ लौट पाता! जाते ही खबर होती, प्रतिहारी श्रीगर्भमें ले जाती, जहाँ कि लामा और दामो बैठती थीं। मेरेलिए एक कुर्सी आ जाती थी। मैं बतला चुका हूँ, कि तिब्बतमें सास्यालामाका सम्मान दलाईलामा और टशीलामाकी तरह किया जाता है। उनके सामने सभी बहुत नीचे आसनपर बैठते हैं—चाहे भिक्षु हों या गृहस्थ, लेकिन मेरेलिए कुर्सी जरूर आती थी। और लामाकी दोनों जेचुन्मा (=भट्टारिकाएँ) भी चाय मँगवाने या किसी दूसरे खाने-पीनेकी चीज़ोंके लानेमें तत्पर रहतीं। सास्याके दोनों प्रासादोंकी कन्याओंको सम्मानकेलिए जेचुनमा कहा जाता है। यह कुल इतना पवित्र समझा जाता है, कि कोई इसकी लड़कियोंसे शादी नहीं करता। प्रारम्भिक मुग़ल

सम्राटोंकी तरह शताब्दियोंसे इस कुलकी लड़कियोंको आजन्म कुमारी रहना पड़ता है। बचपन हीसे उनके केश काट दिये जाते हैं, वह भिक्षुणी बना दी जाती हैं। माँ-बापके समयतक तो वह उनके साथ रहती हैं, फिर किसी छोटे महलमें अलग रहने लगती हैं। ऐसे छोटे महल साक्यामें कई हैं। उन्हें नौकर-चाकर भी मिलते हैं। जहाँतक खाने-कपड़ेका सम्बन्ध है, उनका जीवन आरामका होता है, लेकिन पुरुष-संसर्ग उनकेलिए मुश्किल है। हमारे लामाकी दोनों लड़कियाँ भी दस-दस, बारह-बारह सालकी थीं। डोनिर्छेन्पोके लामासे अनबनका कारण लामाका छोटा भाई था। तिब्बतके रिवाजके मुताबिक़ राजा हो चाहे रंक सभी भाइयोंकी एक पत्नी होती है। दामो (महन्तरानी) अपने देवरको सँभाल नहीं सकीं। उसने अपना अलग ब्याह किया—इस कुलको अपनी लड़की देनेमें तिब्बतके सभी सामन्त अपना अहोभाग्य समझते हैं। ब्याह करके वह अलग रहने लगा। खर्च-बर्चकी दिक़्क़त थी। उस वक़्त गद्दीपर ताराप्रासादके लामा थे। उन्होंने छोटे भाईको थोड़ी जागीर दे दी। बड़ा भाई और भाभी इसे पसन्द नहीं करते थे। गद्दीपरसे भी बिगाड़ हुआ, छोटे भाईका पक्ष डोनिर्छेन्पोने भी लिया था, इसलिए उनसे भी बिगाड़ हो गया। छोटा भाई कई साल हुए, मर गया। उसकी दामो अब भी मौजूद है, घरमें कोई सन्तान नहीं है। डोनिर्छेन्पोको नये महन्तराजका केवल क्रोधभर प्राप्त हुआ। उनको डर है, कि गद्दी सँभालते ही उनका दर्जा चला जायगा।

उस दिन (२१ मई) महन्तराजने कहा, कि डोर् ले जानेकेलिए मैं घोड़े दूँगा, तिब्बतके सभी साक्या सम्प्रदायवाले मठोंकेलिए मैं परिचयपत्र दूँगा। उन्होंने यह भी कहा, कि साक्यामें बहुतसी तालपोथियाँ हैं, उन्हें अच्छी तरह ढूँढ़ना चाहिए। मैंने देखे हुए पुस्तकालयोंके नाम बतलाए। महन्तराजने कहा, कि एक बार ल्हाखड्-छेन्मोके कोठेपर छगूपे-ल्हाखड् नामक छोटासा पुस्तकालय भी खुलवाकर देखो। अभी प्रबन्ध ताराप्रासादकी ओरसे हो रहा था। मैंने उस दिन लौटकर डोनिर्छेन्पोसे कहा। उन्होंने कहा—मैं इसकेलिए प्रासादमें निवेदन करूँगा।

२५ मईका स्मरणीय दिवस आया। ताराप्रासादसे खबर आई, कि छगूपे-ल्हाखड्की कुंजी मिल गई है, हमारा अफसर वहाँ जानेकेलिए तैयार है। मैं छगूपे-ल्हाखड्में दोपहरको गया, उन सीधी, लम्बी, डरावनी सीढ़ियोंपर चढ़ते वक़्त मुझे बहुत कम आशा थी, कि वहाँ कोई संस्कृतकी पुस्तक होगी। कोठेपर पहुँचकर दाहिनी ओर घूमा। पहिली कोठरी थी। बाहर देखनेसे बिल्कुल मामूलीसी मालूम होती है। सैकड़ों वर्ष पुराना किवाड़ और चौखट विद्रूपसा दिखाई देता था। भिक्षु

अफ़सरने मुहरको तोड़ा, तालेपर लिपटे कपड़ेको अलग किया, कुंजी घुमाई, ताला खुल गया। किवाड़ोंको पीछेकी ओर ढकेला। न जाने कितने वर्षोंकी धूल जमी हुई थी। एक बार इतनी धूल उड़ी, कि कोठरीमें धुआँ सा भर गया। जरासा ठहर-कर हम भीतर घुसे। फ़र्शपर भी पैरोंकी छाप लगानेकेलिए धूल मौजूद थी। घरमें दीवारोंके सहारे चारों ओर लकड़ीके तितल्ले-चौतल्ले ढाँचे खड़े थे। इनके ऊपर कपड़ेमें लिपटी या खुली बँधी हजारों पुस्तकें थीं। इनमें सात-सात सौ आठ-आठ सौ वर्षकी पुरानी पुस्तकें थीं। यह वह पुस्तकें थीं, जिन्हें तिब्बतके ऐतिहासिक विद्वानोंने अपने हाथसे लिखा या पढ़ा था। तिब्बती साहित्य और इतिहासकेलिए ये अनमोल रत्न हैं। लेकिन मैं तो अपने समय और शक्तिके ही अनुसार काम कर सकता था। मुझे जरूरत थी, संस्कृतकी तालपोथियोंकी। इधर-उधर हाथ मारनेके बाद तालपोथियोंपर हाथ पड़ा। इनपर कपड़ा नहीं लिपटा था, दो लकड़ीकी तख्तियोंके बीचमें मोटे डोरेसे आरपार छेद करके बँधी ये पुस्तकें एक जगह मिलीं,—एक, दो, तीन, चार, ... बीस पोथियाँ निकल आईं। कुछ तो तिब्बती पोथियोंके बीचमें थीं। मैंने खोलकर देखना शुरू किया। मेरे आनन्दकी सीमा न रही, जब देखा कि वार्त्तिकालंकार (प्रमाणवार्त्तिकभाष्य) सम्पूर्ण वहाँ मौजूद है। कर्णक गोमिकृत स्ववृत्तिटीका भी है।—अर्थात् प्रमाणवार्त्तिककी टीका और भाष्य! महान् दार्शनिक असंगकी महत्वपूर्ण पुस्तक "योगाचारभूमि" भी वहाँ मौजूद थी। चांद्र-व्याकरणकी टीका भी देखी। एक पोथी तमिल अक्षरोंमें लिखी थी, और दूसरी सिंहलमें। मैं वार्त्तिकालंकार और स्ववृत्तिटीकाको साथ लेकर चला आया। अब साक्याको तुरन्त छोड़नेका सवाल कहाँसे हो सकता था। यद्यपि मेरे पास फ़ोटोका केमरा और फिल्म था, लेकिन वहाँ धोनेका कोई इन्तिजाम नहीं था, इसलिए मैं फ़ोटोपर विश्वास नहीं कर सकता था। अब सिर्फ लिखने हीकी धुन थी। अभय-सिंहको अभी अक्षरोंसे थोड़ा परिचय था, दूसरे यह भी ठिकाना नहीं था, कि कब वह दुर्वासा बन जायँ। मैंने २६ तारीखसे स्ववृत्ति और अभयने वार्त्तिकालंकारको लिखना शुरू किया। दो-चार दिन बाद अभयसिंहने भी लिखनेमें हाथ बढ़ाया। १५ जूनतक अभयने "वार्त्तिकालंकार"का आधा लिख डाला। अभयसिंहसे पटती न देखकर मैंने यही समझा, कि उनको टशील्हुनपो भेज दिया जाय। अगले दिन (१६ जून) घोड़ेका इन्तिजाम हो गया, और वह साक्यासे रवाना हो गये। मैंने रघुवीर और दूसरे मित्रोंको चिट्ठी लिख दी। वहाँ रहनेकेलिए कुछ महीनोंका खर्च भी दे दिया। यह भी कह दिया, कि डोर् और शलू होते टशील्हुनपो मुझे

आना ही है, उस वक्त में कुछ और इन्तिजाम करूँगा। अभयसिंहने रातको बहुतसी चिट्ठियाँ लिखी थी, मैं जानता था कि उनमें मेरी काफ़ी शिकायत लिखी होगी। विदाईके वक्त मेरे वर्तावसे उन्होंने देख लिया, कि उसमें कड़ुवाहटका लेश भी नहीं है। मुझे डर था, कि वह इन चिट्ठियोंको नहीं भेजेंगे। मैंने कहा—इन चिट्ठियोंको मुझे दे दो, मैं इन्हें अपने पास नहीं रखूँगा, जैसे ही कोई शिगर्चे या ग्यानची जानेवाला आदमी मिलेगा, मैं उसके हाथसे डाकमें छुड़वा दूँगा। अभयसिंहने समझा—यह विचित्र आदमी है, यह चिट्ठियोंको जरूर भेज देगा। उन्होंने वहीं सारी चिट्ठियोंको फाड़ डाला। मैंने तो समझा था कि, चिट्ठियोंसे लोगोंको तसवीरका दूसरा रुख भी देखनेको मिलेगा, इसीलिए मैं उन्हें भिजवाना चाहता था। मैं समझता हूँ, लोगोंको व्यक्तिका सफेद-काला दोनों रुख देखनेको मिले, तो अच्छा है। मुझे नाम और सम्मान कोई ऐसी ठोस चीज नहीं मालूम होती, ठोस चीज़ है, वह काम, जो स्वयं तो नष्ट हो जाता है, लेकिन आगे काम करनेवालोंको धक्का देकर एक क़दम आगे बढ़ा देता है।

१७ जूनको स्ववृत्तिटीका मैंने लिख डाली। अब वार्त्तिकालंकारके बाकी बचे आधेको लिखना था। २० जूनसे २८ जूनतक उसे भी लिखकर समाप्त कर दिया। फिर लिखे हुए अंशोंकी आवृत्ति करता रहा। महंतराजका बहुत आग्रह था, कि मैं कुछ दिनों उनके प्रासादमें आकर रहूँ, इसलिए मैं २ जुलाईको वहाँ चला गया और २२ जुलाई तक वहीं रहा। अब सबसे मुख्य काम था, पुस्तकोंकी सूची बनाना। ताराप्रासादके बगीचेमें एक बँगला था। पुस्तकें वहाँ मँगा दी गई और मैं दिनभर वहाँ रहकर पुस्तकोंको सिलसिलेसे लगाता, उनकी सूची बनाता। १० तारीखको सूचीका काम समाप्त हुआ। कुल २७ पोथियाँ थीं। एक बार फिर मैं छ्रगपे-ल्हाखड्को ढूँढ़ने गया, किन्तु वहाँ और कोई तालपोथी नहीं मिली। कालचक्रतंत्रकी टीका कागजपर लिखी पहले दिन देखी थी, लेकिन, वह हजारों अपनी तरहकी दूसरी पुस्तकोंमें मिल गई थी। दुबारा ढूँढ़नेपर वह नहीं मिली। सभी वेष्टनोंको खोल-खोलकर देखना आसान काम न था।

ताराप्रासादके बड़े लामा बेचारे बहुत सीधे-सादे थे, वह भी बड़े प्रेमसे मिलते थे, लेकिन अपने भावोंके प्रकट करनेकी उनमें क्षमता नहीं थी। उनके छोटे भाई घंटों मेरे पास आकर बैठते, बातें होतीं, वह बहुत समझानेकी कोशिश करते कि तिब्बतको खतरनाक जोतोंमें हर जगह खूनी डाकू रहते हैं। आप इस तरह दो-एक आदमियोंके साथ घूमते हैं, यह अच्छी बात नहीं है। मैं कहता—"धर्मोत्तर

तो कोई ऐसा डाकू मिला नहीं, और अगर इस डरका ख्याल करता, तो मैं तिब्बतमें आ नहीं सकता था। मैंने खतरेको उठाकर जो काम कर पाया है, उससे मुझे पूरा सन्तोष है। रहा मरना, सो तो मैं इस साल अभी मरके बचा हूँ। मुझे उस वक़्त अफ़सोस सिर्फ़ इसी बातका होता था, कि मैं धर्मकीर्त्तिके महान ग्रंथ "प्रमाण-वार्त्तिक" को दुनियाके सामने रख नहीं पाया।"

ताराप्रासादकी वृद्धा दामों हर वक़्त पूजा-पाठमें रहा करती थी, लेकिन उनका भी स्नेह इतना था, कि वह अक्सर मुझे बुलाती, फिर तिब्बतके अच्छेसे अच्छे भोजन तैयार कराती। खम्, अमूदो, लदाख, और नेपालतकके सूखे ताज़े फलों और मेवोंको सामने रखतीं, मक्खनमें पके गुड़की पट्टीको मैं बड़ी रुचिसे खाता था, उसे वह ज़रूर ताज़ा बनवाती। उनका ज्ञान बहुत परिमित था, इसलिए मेरी बातें भी ज्यादा दूरतक नहीं फैल सकती थी। छोटी दामों (महंतरानी) ल्हासाके एक बड़े सामन्तकी पुत्री थीं, वह ज्यादा जानकार थी, बोलने-चालनेमें भी बहुत चतुर। मैं कैमरा लेकर जाता, तो वह उसे बड़े गौरसे देखतीं, उसके एक-एक पुर्ज़ेके बारेमें पूछतीं। तिब्बतमें उतना संकोच नहीं है, और मेरे साथ तो उनका और भी संकोच नहीं था। जान पड़ता है, छोटे पतिसे उनका अधिक प्रेम था, क्योंकि मैं उन्हें अक्सर उनके ही साथ देखता। दामोको अभी कोई सन्तान नहीं थी। तिब्बतकी धारणाके अनुसार सन्तानसे निराशा होती जा रही थी। लेकिन तिब्बतमें निःसन्तान न होनेसे दूसरा व्याह कर लेना उतना आसान नहीं। उसकेलिए स्त्री जबतक स्वयं आग्रह न करे, तबतक चुप ही रहना पड़ता है। लेकिन वहाँ घरकेलिए किसी पुत्र या पुत्रीका होना बहुत ज़रूरी था, क्योंकि न होनेपर सैकड़ों वर्षोंसे चला आया अविभाज्य घर सर्वदाकेलिए लुप्त हो जाता।

योगाचारभूमि भी क़रीब-क़रीब सम्पूर्ण थी, और आठ हज़ार श्लोकोंके बराबर इस महाग्रंथको लिखनेकेलिए अब समय नहीं था। इसलिए मैंने उसके फ़ोटोपर ही सन्तोष किया। सावया छोड़नेसे पहिले मैं फिर डोनिर् छेन्पोके मकानपर चार दिन (१६-१९ जुलाई)केलिए गया। गुरिम्-ल्हाखङ्को फिर देखा, किन्तु वहाँ कोई नई पुस्तक नहीं मिली। अगले दिन चामकुशो भी आ गईं। तीन महीनेसे अधिक एक विहारमें वह ध्यान-पूजामें रत थीं। ध्यान-पूजाका अर्थ शायद घरकेलिए एक सन्तानकी प्राप्ति रहा हो। सचमुच ही उनके पति और पितृ-कुल दोनों ही निःसन्तानी थे। वह पहिले हीकी तरह मेरी आवभगतकेलिए तैयार थी। मुझे प्रसन्नता हुई, कि सावया छोड़नेसे पहिले चामकुशोसे भी भेंट हो गई।

आना ही है, उस वक़्त मैं कुछ और इन्तिज़ाम करूँगा। अभयसिंहने रातको बहुतसी चिट्ठियाँ लिखी थी, मैं जानता था कि उनमें मेरी काफी शिकायत लिखी होगी। विदाईके वक़्त मेरे बर्तावसे उन्होंने देख लिया, कि उसमें कड़ुवाहटका लेश भी नहीं है। मुझे डर था, कि वह इन चिट्ठियोंको नहीं भेजेंगे। मैंने कहा—इन चिट्ठियोंको मुझे दे दो, मैं इन्हें अपने पास नहीं रखूँगा, जैसे ही कोई शिगर्चे या ग्यानची जानेवाला आदमी मिलेगा, मैं उसके हाथसे डाकमें छुड़वा दूँगा। अभयसिंहने समझा—यह विचित्र आदमी है, यह चिट्ठियोंको जरूर भेज देगा। उन्होंने वही सारी चिट्ठियोंको फाड़ डाला। मैंने तो समझा था कि, चिट्ठियोंसे लोगोंको तसवीरका दूसरा रुख भी देखनेको मिलेगा, इसीलिए मैं उन्हें भिजवाना चाहता था। मैं समझता हूँ, लोगोंको व्यक्तिका सफ़ेद-काला दोनों रुख देखनेको मिले, तो अच्छा है। मुझे नाम और सम्मान कोई ऐसी ठोस चीज नहीं मालूम होती, ठोस चीज है, वह काम, जो स्वयं तो नष्ट हो जाता है, लेकिन आगे काम करनेवालोंको धक्का देकर एक क़दम आगे बढ़ा देता है।

१७ जूनको स्ववृत्तिटीका मैंने लिख डाली। अब वार्त्तिकालंकारके बाक़ी बचे आधेको लिखना था। २० जूनसे २८ जूनतक उसे भी लिखकर समाप्त कर दिया। फिर लिखे हुए ग्रंथोंकी आवृत्ति करता रहा। महन्तराजका बहुत आग्रह था, कि मैं कुछ दिनों उनके प्रासादमें आकर रहूँ, इसलिए मैं २ जुलाईको वहाँ चला गया और २२ जुलाई तक वहीं रहा। अब सबसे मुख्य काम था, पुस्तकोंकी सूची बनाना। ताराप्रासादके बगीचेमें एक बँगला था। पुस्तकें वहाँ मँगा दी गईं और मैं दिनभर वहाँ रहकर पुस्तकोंको सिलसिलेसे लगाता, उनकी सूची बनाता। १० तारीखको सूचीका काम समाप्त हुआ। कुल २७ पोथियाँ थी। एक बार फिर मैं छगपे-ल्हाखड़्को ढूँढ़ने गया, किन्तु वहाँ और कोई तालपोथी नहीं मिली। कालचक्रतंत्रकी टीका कागज़पर लिखी पहले दिन देखी थी, लेकिन, वह हजारों अपनी तरहकी दूसरी पुस्तकोंमें मिल गई थी। दुबारा ढूँढ़नेपर वह नहीं मिली। सभी वेष्टनोंको खोल-खोलकर देखना आसान काम न था।

ताराप्रासादके बड़े लामा बेचारे बहुत सीधे-सादे थे, वह भी बड़े प्रेमसे मिलते थे, लेकिन अपने भावोंके प्रकट करनेकी उनमें क्षमता नहीं थी। उनके छोटे भाई घंटों मेरे पास आकर बैठते, बातें होतीं, वह बहुत समझानेकी कोशिश करते कि तिब्बतकी ख़तरनाक जोनोंमें हर जगह ख़ूनी डाकू रहते हैं। आप इस तरह दो-एक आदमियोंके साथ घूमते हैं, यह अच्छी बात नहीं है। मैं कहता—"अभीतक

तो कोई ऐसा डाकू मिला नहीं, और अगर इस डरका ख्याल करता, तो मैं तिब्बतमें आ नही सकता था। मैंने खतरेको उठाकर जो काम कर पाया है, उससे मुझे पूरा सन्तोष है। रहा मरना, सो तो मैं इस साल अभी मरके वचा हूँ। मुझे उस वक़्त अफ़सोस सिर्फ इसी बातका होता था, कि मैं धर्मकीर्त्तिके महान ग्रंथ "प्रमाण-वार्त्तिक" को दुनियाके सामने रख नहीं पाया।"

ताराप्रसादकी वृद्धा दामो हर वक़्त पूजा-पाठमें रहा करती थीं, लेकिन उनका भी स्नेह इतना था, कि वह अक्सर मुझे बुलातीं, फिर तिब्बतके अच्छेसे अच्छे भोजन तैयार करातीं। खम्, अम्दो, लदाख, और नेपालतकके सूखे ताजे फलों और मेवोंको सामने रखतीं, मक्खनमें पके गुड़की पट्टीको मैं वड़ी रुचिसे खाता था, उसे वह जरूर ताज़ा बनवातीं। उनका ज्ञान बहुत परिमित था, इसलिए मेरी बातें भी ज्यादा दूरतक नहीं फैल सकती थी। छोटी दामों (महंतरानी) ल्हासाके एक बड़े सामन्तकी पुत्री थीं, वह ज्यादा जानकार थी, बोलने-चालनेमें भी बहुत चतुर। मैं केमरा लेकर जाता, तो वह उसे बड़े ग़ौरसे देखतो, उसके एक-एक पुर्ज़ेके बारेमें पूछतीं। तिब्बतमें उतना संकोच नहीं है, और मेरे साथ तो उनका और भी संकोच नही था। जान पड़ता है, छोटे पतिसे उनका अधिक प्रेम था, क्योंकि मैं उन्हें अक्सर उनके ही साथ देखता। दामोको अभी कोई सन्तान नहीं थी। तिब्बतकी धारणाके अनुसार सन्तानसे निराशा होती जा रही थी। लेकिन तिब्बतमें नि.सन्तान न होनेसे दूसरा व्याह कर लेना उतना आसान नही। उसकेलिए स्त्री जवतक स्वयं आग्रह न करे, तवतक चुप ही रहना पड़ता है। लेकिन वहाँ घरकेलिए किसी पुत्र या पुत्रीका होना बहुत जरूरी था, क्योंकि न होनेपर सैकड़ों वर्षोंसे चला आया अवि-भाज्य घर सर्वदाकेलिए लुप्त हो जाता।

योगाचारभूमि भी क़रीब-क़रीब सम्पूर्ण थी, और आठ हज़ार श्लोकोंके बरावर इस महाग्रंथको लिखनेकेलिए अब समय नही था। इसलिए मैंने उसके फ़ोटोपर ही सन्तोष किया। साक्या छोड़नेसे पहिले मैं फिर डोनिर् छेन्‌पोके मकानपर चार दिन (१६-१६ जुलाई)केलिए गया। गूरिम्-ल्हाखङ्को फिर देखा, किन्तु वहाँ कोई नई पुस्तक नही मिली। अगले दिन चामकुशो भी आ गई। तीन महीनेसे अधिक एक विहारमें वह ध्यान-पूजामें रत थीं। ध्यान-पूजाका अर्थ शायद घरके-लिए एक सन्तानकी प्राप्ति रहा हो। सचमुच ही उनके पति और पितृ-कुल दोनों ही निःसन्तानी थे। वह पहिले हीकी तरह मेरी आवभगतकेलिए तैयार थीं। मुझे प्रसन्नता हुई, कि साक्या छोड़नेसे पहिले चामकुशोसे भी भेंट हो गई।

२० जुलाईको मैं फिर फुन्छोग्-प्रासादमें चला आया। अब डोर जाने तैयारी थी।

अबकी सा-स्क्याका आना बहुत सफल रहा। टाईफाइडके जमानेमें ही मे जवानपर धर्मकीर्त्तिका नाम नहीं था, बल्कि जेनमुरे चलनेके बाद मैंने स्वप्नमें दे था, कि किसीने तालपत्रकी पुस्तकें मेरे हाथमें दीं, खोलनेपर उनमें दिग्नागका प्रमाण समुच्चय और धर्मकीर्त्तिके ग्रंथ निकले। दिग्नागके ग्रंथों—प्रमाणसमुच्चय औ न्यायमुख—को तो मैं नहीं पा सका, किन्तु धर्मकीर्त्तिके ग्रंथोंके पानेमें आशाती सफलता हुई। सारा "प्रमाणवार्त्तिक" ही नहीं मिल गया, बल्कि एक परिच्छेदप ग्रंथकर्त्ताकी अपनी वृत्ति (स्ववृत्ति) और उसपर कर्णकगोमीकी विस्तृत टीका मिल जिन्हें मैंने यहाँ बैठकर उतार डाला। पीछे स्ववृत्तिके खंडित अंशको तिब्बत अनुवाद और टीकाके सहारे फिरसे संस्कृतमें कर डाला और अब (सितम्ब १९४४) यह दोनों पुस्तकाकार छप चुके हैं। प्रमाणवार्त्तिकके बाकी तीन परिच्छेदो पर प्रज्ञाकरगुप्तका वार्त्तिकालंकार—बृहद्भाष्य—बहुत अनमोल पुस्तक है इसको भी मैंने सास्क्यामें पाया। सबकी कापी भी तैयार हो गई। शलू जानेपर प्रमाणवार्त्तिककी एक बहुत ही सुन्दर वृत्ति मनोरथनन्दीकृत मिली, उसक भी मैंने कापी की। और पीछे सम्पादित करके छाप दिया। वादन्यायको मैं पहिल ही सम्पादित कर चुका था, इस प्रकार प्रमाणवार्त्तिक और वादन्याय यह दो धर्म कीर्त्तिके ग्रंथ प्रकाशित हो चुके है। न्यायविन्दु पहिले हीसे मिल चुका था। हेतुविन्दु को भी मैं तिब्बती अनुवाद और अर्चट (धर्माकर दत्त) की टीकाके सहारे संस्कृतमें कर चुका हूँ। अर्चटकी टीका और न्यायविन्दु-पंजिका (धर्मोत्तर) के ऊपर दुर्वेक मिश्रकी टीकाएँ डोर गुमबामें मिली। धर्मकीर्त्तिकी संबंध-परीक्षा-को भी संस्कृतमें तैयार कर चुका हूँ। अब धर्मकीर्त्तिके न्यायके सात ग्रंथोंमें "सन्तानान्तरसिद्ध"; और "प्रमाणविनिश्चय" दो ग्रंथ सिर्फ तिब्बती अनुवादमें मिलते है, जिन्हें मूल या तिब्बती अनुवादसे संस्कृतमें करके किसी वक्त प्रकाशित करना होगा।

डोर और शलूमें—२३ जुलाईको मैंने सास्क्यासे विदाई ली। फुन्छोग-प्रासादने तीन खच्चर और अपने एक बड़े मजबूत रसोइयेको साथ जानेकेलिए दिया। तारा-प्रासादने पाथेयकेलिए कितनी ही चीजें भेजीं। महतराज और दामोंने बड़े प्रेमसे विदाई दी। ११ बजे हम सास्क्यासे चले। एक खच्चरी बहुत मजबूत थी। दो बार रसोइएको पटका। रास्तेमें सास्क्याके कुछ खच्चरवाले मिले, उसने

उसने खचरीको बदल लिया। जब मैं आया था, उस समय खेतोंकी जुताई शुरू हुई थी। अब खेतोंमें हरे-हरे जौ-गेहूँ खड़े थे। सरसों फूली हुई थी। यह बरसातके दिन थे। नंगे रूखे पहाड़ोंपर चारो ओर हरी-हरी घास दिखलाई देती थी। थाटोला फिर शोङ्ला दोनों जोतोंको पार करके हम डोक्पा लोगोंके गाँव—शोङ्-चिक्यपुमें रातको ठहरे, और पिछले सालवाली कोठरीमें आसन पड़ा। यद्यपि पैदल नहीं चलना पड़ा था, लेकिन कमरमें दर्द बहुत रहा, आखिर ढाई महीने बैठे-बैठे कलम भी तो चलानी पड़ी थी। अगले दिन (२४ जुलाई) सत्तू-चाय खाकर ७ बजे चलने लगे, तो बूँदें हल्की-हल्की पड रही थीं। कितनी ही दूर उतरकर नदीके किनारे-किनारे चलने लगे। उस वक्त नदीमें बहुत पानी बह रहा था, और कहीं-कहीं हमें पानीमेंसे होकर चलना था। एक जगह खचरी बक्सोंको लिये-दिये बैठ गई। जल्दीसे उसे उठाया गया। मुझे डर लगा, कि पानी बक्सके भीतर चला गया होगा, पीछे देखा कि सभी चीजें सुरक्षित हैं। फिर बड़ी नदीके किनारे आये। दोपहरके खानेकेलिए एक जगह थोड़ी देर ठहरे। अब नदीको पार करनेकी समस्या थी। पिछली बार गेशे और मैं बरसातके बाद आये थे, उस वक्त भी नदीको बहुत ढूँढ-ढाँढ़कर पार हुए थे। अबकी बार तो बरसाती नदी थी। बहुत ढूँढ़ने-ढाँढ़नेपर यही मालूम हुआ, कि नीचे शब्में पुलसे पार हुआ जा सकता है। तिब्बतकी प्रथम यात्रामें मैं उसी पुलसे गुजरा हुआ था। हम चाङ्शोमें पहुँचे। अभी काफी दिन था, लेकिन खच्चर लादकर चलते वक्त पानी बरसने लगा, इसलिए रातको यहीं रहना पड़ा।

२५ तारीखको भी साढ़े सात बजे रवाना होते समय बूँदें पड़ रही थीं। छारोङ्-छू (नदी)में पानी और बढ आया था। दो घंटे बाद क्यिदोतग्पामें पहुँचे। आशा थी कि यहाँ चमड़ेकी नाव (क्वा) मिल जायगी, लेकिन उसका कोई पता न था। फिर दो आदमी खच्चरपर चढकर नदीमें थाह ढूँढनेकेलिए गये और किसी तरह डरते-डरते हम सही-सलामत नदीपार पहुँचे। एक बक्समें थोड़ासा पानी चला गया था, मगर कोई नुकसान नहीं हुआ। आज रातको शब्में रहे। अगले दिन (२६ जुलाई) चलते वक्त जरा-जरा बूँदें पड रही थीं। डेढ़ घंटेमें छाचा-लाको पार गए। उसी दिन ताचोला भी पार होकर साढ़े ५ बजे ङोर-गुम्बामें पहुँच गए। खङ्सरमें रहनेकेलिए अच्छी जगह मिली। ङोरकी किताबें अभी नहीं मिल सकती थीं, क्योंकि अधिकारी वहाँ मौजूद न था, इसलिए पहिले सलू जानेका निश्चय किया गया। कुशो न् और कुङ्डि दोनों लामाओंसे मुलाकात की। अगले दिन भोजन करके १० बजे

हम शलूकेलिए रवाना हुए। घूमकर जानेपर हम बिना पहाड़ चढ़े भी पहुँच सकते थे, लेकिन हमने सीधा रास्ता लिया। चढ़ाई कठिन और रास्ता भी पगडंडीका थाँ। पहिले डोला पार किया। उतराईमें तो कुछ दूर इतना खराब रास्ता था, कि खच्चरका बोझ आदमियोंको देना पड़ा। नीचे नदीकी कछारमें आनेपर वर्षा होने लगी और वहाँ पचीसों धारें बहने लगी। किनारेके खेतोंको नदी काट न ले जाय, इसकेलिए पत्थरके बाँधोंपर सफेद रंगके बहुतसे शिलापुत्रक रखे हुए थे। लोगोंको विश्वास है, कि ये शिलापुत्रक जलदेवताको आगे नहीं बढ़ने देंगे। ङ्यालाका डाँड़ा भी अच्छा खासा है, लेकिन चढ़ाई ज्यादा नहीं; फिर कगोड्ला नामक एक छोटासा डाँड़ा मिला। इस प्रकार तीन डाँड़ोंको पारकर ६ घंटेकी यात्राके बाद हम शलूविहारमें पहुँचे। रिसुरलामा बड़े प्रेमसे मिले। एक अच्छी जगह रहनेकेलिए मिली। भारत और जापानसे मैंने जो चित्र इनके पास भेजे थे, वह मिल गए थे। अगले दिन (२८ जुलाई) ६ बजे हम एक मील चलकर रिफुग्में पहुँचे। शलूगुम्बाकी यह एक शाखा ही नहीं, बल्कि अभिन्न अंग है। महाविद्वान् बुतोन् (१२६०–१३६४ ई०) पहिले बहुत साल साक्यामें रहे थे, किन्तु उन्होंने अपने अंतिम समयको यहीं बिताया था। यहाँ उनका चैत्य है। लालमन्दिर उन्हींका बनवाया हुआ है, जिसके भीतर उनकी मूर्ति भी है। हम पुस्तकालयमें गए। एक छोटीसी बहुत अँधेरी कोठरी थी। बगलमें एक और कोठरी थी, जिसके दरवाजेपर ताला बन्द था, और उसपर मोट सर्कारकी मुहर लगी थी। बिना सर्कारी आज्ञाके उसे खोला नहीं जा सकता था। लेकिन रिसुर्लामाने बतलाया, कि उसमें तालपोथी नहीं है। फिर सारे पुस्तकालयको ढूंढने लगे। लकड़ीके ढाँचे (रैंक) पर हाथकी लिखी बहुतसी पोथियाँ थीं, लेकिन वह सभी तिब्बती भाषाकी थीं। एक बक्स खोला गया, उसमें ३६ बंडल (मुट्ठे) तालपोथियोंके मिले। इनमें मनोरथनन्दी-की प्रमाणवार्त्तिक-वृत्ति तथा प्रमाणवार्त्तिक-मूलके भी तीन परिच्छेद मौजूद थे। और भी कितनी ही कामकी पुस्तकें थीं।

नेपालसे आते वक्त तेजरत्नसे बातचीत हुई थी, और उन्होंने फोटो खींच देनेकेलिए कहा था, इसलिए मैंने सोचा, कि उनको यहाँ ले आकर कुछ पुस्तकोंके फोटो खिंचवा लूँ।

अगले दिन (२९ जुलाई) मैं शिगर्चे चला गया। भारतसे आई बहुतसी चिट्ठियाँ मिलीं। सबसे अफसोसकी खबर यह थी, कि पटनाम्यूजियमके क्यूरेटर मनोरंजनघोष-का देहान्त हो गया। मुझे याद आता था, उनका सौहार्द और सरलता, तिब्बती वस्तुओंके संग्रहकेलिए वह कितना आग्रह किया करते थे और चीजोंके पहुँचनेपर

कितना खुश होते थे।

मैंने साक्यामें जितने चित्र लिए थे, तेजरत्नने उन्हें धोया। योगाचार-भूमिके तीन फिल्म ठीक नहीं आए। योगाचार भूमिको छोड़कर जा नहीं सकता, इसलिए साक्या ही के रास्ते भारत लौटना होगा, यह निश्चय करना पड़ा। पता लगा, कि नेरीकाछामें कुछ तालपोथियाँ हैं। तीन-चार दिन इन्तिज़ार करनेपर एक घोड़ा मिला, उस गुमवाका एक ढाबा भी आया था। साढ़े तीन घंटा कुछ पैदल और कुछ घोड़ेपर चलकर मैं गुमवा पहुँचा। यह बहुत पुराना विहार नहीं है। २५, ३० वर्ष पहिले वर्त्तमान टशी-लामाके शिक्षक योङ्-जिन लामाने इसे बनवाया था। यहाँ भला संस्कृत पुस्तक होनेकी क्या आशा हो सकती थी ? हाँ, वहाँ एक तालपोथी जरूर थी और सिंहलाक्षरमें "पाराजिका"(पाली) थी, जिसे ४०, ४५ साल पहिले लिखा गया था। मैं ३ बजे उसी घोड़ेपर लौटा। वर्षा आगे-पीछे दोनों ओर हो रही थी, लेकिन मैं भीगनेसे बच गया। डोसुम् ब्रह्मपुत्रके किनारे एक घाट है, जहाँ ल्हर्त्सेसे चमड़ेकी नावें आया करती हैं। वहाँ पहुँचते ही घोड़ेका मालिक आ गया। उसने कहा—मैं तो घोड़ेको नहीं जाने दूँगा। घोड़ा वहीं छोड़ दिया। साढ़े पाँच बज गया था। रास्तेमें अँधेरा होनेका डर था। मैं अकेला था और तिब्बतमें बस्तीसे बाहर सभी जगह जानका खतरा रहता है। मैं जल्दी-जल्दी चला। यदि तिब्बती भिक्षुओंका वेष होता, तो कोई मेरी ओर ताकनेकी हिम्मत न करता, किन्तु मेरे शरीरपर तो पीले चीवर थे। आगे दो आदमी—जो शायद पासमें भेड़ चरा रहे थे—मेरे नजदीक आये और कहने लगे "सौदा ! छड्रिन्(शराबका दाम) दे।" उनके स्वरसे ही मालूम होता था कि वह भिखमंगी नहीं कर रहे हैं। मैं पैसा देकर उन्हें क्यों बतलाता, कि मेरे पास पैसा है। मैंने कहा, मेरे पास पैसा नहीं है। फिर उन्होंने धमकानेके स्वरमें उसी वाक्यको दुहराया। मैंने चीवरको ज़रासा खिसका दिया, और कैमरेका चमड़ेवाला फ़ीता साफ दिखलाई देने लगा। दाहिने हाथको भी मैंने बगलमें डाला। उनका रुख बदल गया और रास्ता छोड़कर चले गये। उनको क्या मालूम था कि यह पिस्तौल नहीं, फ़ोटोका कैमरा है। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि रोलैफ़्लेक्सने उस दिन ज़बर्दस्त तावीज़का काम किया। मेरे पास कोई हथियार नहीं था, और उन दोनोंके पास तिब्बती छुरे थे। मैं जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते अँधेरेसे पहिले ही शिगर्चे पहुँच गया।

यहाँ आते ही अभयसिंह और रघुबीरसे भेंट हो गई। अगले दिन (३ अगस्त) मैं टशील्हुनपो विहारमें मंगोलोंसे मिलने गया। न्यायके बड़े विद्वान, लेकिन थे पुराने

युगके पंडित। उस दिन या पहिले किसी दिन बात चल रही थी, मेरे मुँहसे निकल आया कि पृथ्वी गोल है। उन्होंने झट मेरी बातको पकड़ लिया, और कहने लगे—तब तो आप "अभिधर्मकोष" (वसुबंधु) और बुद्धवचन (त्रिपिटक) को नहीं मानते। "नहीं मानता" कहकर मैं नास्तिक कैसे बनता? मेरे दिमागपर बहुत जोर पड़ा, लेकिन मैंने जवाब खूब अच्छा सोच निकाला। मैंने पूछा—"जिस वक्त कुशीनारामें भगवान शाक्य मुनिका परिनिर्वाण हुआ था, उस वक्त भूकम्प आया था कि नहीं?"

"आया था"

"उस भूकम्पसे पृथ्वी दस-पाँच अंगुल या दस-बीस योजन हिली थी?"

"योजन नहीं सारी पृथ्वी भी नहीं, बल्कि दशसाहस्री लोकधातु (ब्रह्माण्ड) जड़मूलसे हिल गई थी।"

फिर मैंने हँसते हुए कहा—"गेशे रिनपोछे! मामूली भूकम्प आता है, तो जलका थल और थलका जल हो जाता है, कितने पहाड़ दब जाते हैं, कितने द्वीप समुन्दरमें घुस जाते है, फिर उस असाधारण भूकम्पने दुनियामें असाधारण परिवर्त्तन किया होगा या नहीं?"

"परिवर्त्तन क्यों नहीं किया होगा।"

फिर मैंने दोनों हथेलियोंकी पीठको कछुएकी पीठका रूप देते हुए कहा—"पहिले पृथ्वी इस तरहकी अर्ध-गोलाकार थी, उस महाभूकम्पके बाद वह इस तरह गोल हो गई" कहते हुए मैंने दोनों हाथोंको गोलकी शकलमें बदल दिया। बेचारे गेशे क्या बोलते? मैंने कहा—"बुद्धका वचन गलत नहीं है, क्योंकि वह परिनिर्वाण के उस महाभूकम्पके पहिले कहा गया था। आचार्य वसुबंधुका भी कथन गलत नहीं, क्योंकि उन्होंने बुद्ध-वचनमें जैसा देखा, वैसा ही लिख दिया।"

गेशेने कुछ सोच करके कहा—"उस पृथ्वीके बीचोंबीचमें सैकड़ों योजन ऊँचा सुमेरु पर्वत खड़ा था, वह क्या हुआ?"

मैंने कहा—"पृथ्वी जब कच्छपपीठसे गोल बन गई, तो बेचारे सुमेरु-पर्वतका क्या ठिकाना? वह उसीके पेटमें चला गया। आजकल जो पृथ्वी है, उसकी नाप-तोल हो चुकी है, उसका नक्शा बन चुका है। उसी नक्शेको देखकर जिस दिशाको उड़ते हैं, हवाई जहाजवाले वहाँ पहुँच जाते हैं, इसलिए यह नक्शा गलत नहीं है, वह अर्थक्रिया-समर्थ है।" कहते मैंने धर्मकीर्तिका वाक्य भी दुहरा दिया। गेशेने कुछ सोचकर कहा—"सुमेरु नहीं रहा तो, देवेन्द्र शक्र, और त्रायस्त्रिंश देवता कहाँ गये?"

मैंने चेहरेसे कुछ खेद प्रकट करते हुए कहा—"गेशे रिनपोछे! यह बड़े दुखकी

बात है। लेकिन ऐसे भूकम्पोंमें ऐसा हुआ ही करता है। दो साल पहिलेके भूकम्पमें हमारे एक शहर (मुंगेर)के २० हजार आदमी मर गये, पिछले सालके भूकम्पमें एक दूसरे शहर (क्वेटा)के ५० हजार आदमी मरे। देवलोकको उससे भी अधिक क्षति उठानी पड़ी। भूकम्प रातके पिछले पहर आया था न ?"

"हाँ, पिछले पहर आया था।"

मैंने कहा—"वेचारे शाम, उसकी अप्सराएँ और सारे देवता दो-पहर राततक नाचते और शराब पीते रहे। वह अभी-अभी सोये थे। पहिली नींद बहुत गाढ़ी होती है, इसी वक्त भूकम्प आ गया। कोई जागने भी न पाया, और सुमेरु सबको लिये दिये पृथ्वीके गर्भमें समा गया। नीद खुली होती, तो वह हवामें उड़ सकते थे, उनमें बहुतेरे अपनी जान बचा सकते थे। अफसोस देवलोक, देवता सभी दुनियासे गायबसे हो गये!"

रघुवीर बहुत खुश था, समलो गेशे भी मुस्कराकर रह गये।

उस वक्त अमदोकी ओरसे बहुतसी उल्टी-सीधी खबरें आ रही थी। कोई कहता था—सारे कनसू और अमदोको लाल (बोलशेविक)ने ले लिया, अब वह तिब्बतकी ओर आ रहे हैं। पुन्छोग-प्रासादके महंतराजने सुना था कि खम्में "लाल" आ गये है। उनका सेनापति एक स्त्री है, जिसके मुँहके कोनेमें तीन-तीन अंगुलके दाँत बाहर निकले हुए है। उसपर गोलीगोला किसीका असर नहीं होता, वह बच्चोंको चबा जाती है। किसीने यह भी बतलाया कि वह पलदन् ल्हामो (श्रीदेवी)—तिब्बतकी सबसे बडी देवी मां काली—का अवतार है। लामा लोग यह भी खबर फैला रहे थे, कि लोबोन् रिन्पोछे (पद्मसम्भव)ने भविष्यद्वाणी की है, कि एक बार दुनियामें लालका राज हो जायगा, और वही अब हो रहा है। टशील्हुनपोमें, रघुवीर कह रहे थे कि, भिक्षु लोग बंदूक चलाना सीख रहे है। मैंने पूछा—क्यों ?

रघुवीर—"लाल आयेंगे, तो वह हमारे गुम्बाको तोड़ डालेंगे, ढाबा लोग इसे कैसे बरदाश्त करेंगे ?"

मैंने कहा—"दो-चारके बन्दूक सीखनेसे कुछ नही बनता, तुम बाकायदा लोगोंको भरती करो, खूब क़वायद-परेड सिखाओ, उनसे निशाना लगवाओ, शिगर्चे और आसपासके लोगोंकी भी सेना बनाओ।"

रघुवीरने हँसते हुए कहा—"जिसमें कि मेरे ही गलेमें पहिले फाँसी लगे, क्योंकि ढाबा और पल्टन तो सब धूपमें मक्खनकी तरह विला जायगी और मेरा ही नाम पहिलेसे मशहूर रहेगा।"

फिर शलूमें (१५ अगस्त)—शम्लुगोंगेने अपने दो घोड़े दिये और मानवहादुर साहुने अपना एक घोड़ा। एक घोड़ेपर फ़ोटोका सामान रखा गया। रघुवीर, तेजरत्न, अभयसिंह और मैं चारों १० बजे शलूकेलिए रवाना हुए। एक नदीको हम जब पार हो रहे थे, तो फ़ोटोके केमरेवाला घोड़ा बीच धारमें बैठ गया। शायद अभयसिंह उसपर सवार भी थे। उनका पाजामा तो भीग ही गया। लेकिन हम लोगोंको डर लगा कि कहीं फ़ोटोके बकसके भीतर पानी न चला गया हो। खैर, वह बाल-बाल बच गया। शलू पहुँचे। सभी पुस्तकें रिफुग्से यहाँ नहीं आ सकती थीं, इसलिए निश्चय हुआ कि हम लोग रिफुगमें ही चले चलें। अगले दिन (६ अगस्त) हम रिफुगमें चले गये, और ८ दिनतक रहकर वहीं तसवीरें खिंचवाते रहे। तसवीरें तेजरत्न खींचते थे, मैं पुस्तकोंकी सूची बनाता और बीच-बीचमें पत्रोंको लगाकर फ़ोटोकेलिए उन्हें सजाता था। कलकत्तेसे आई कितनी ही प्लेटें पुरानी निकलीं, इस लिए फोटो नहीं आया। तेजरत्नकी पुरानी प्लेटें अच्छी थीं। बीच-बीचमें वर्षा भी ज़ोर मारती थी इसलिए फ़ोटो लेनेमें विघ्न होता था। मैंने सूची तैयार की। पिछले साल "सद्धर्मपुण्डरीक" और "काशिकापंजिका"की तालपोथियाँ देखी थीं, लेकिन अबकी वह नजर नहीं आईं। कलकत्तेसे आई सारी प्लेटें बेकार गईं। तेजरत्नकी प्लेटोंसे कुछ फ़ोटो मिले। अबकी बार भी फोटोका काम ठीक नहीं हुआ। मैं पछता रहा था, कि क्यों नहीं एक-दो महीने किताबोंके फ़ोटो लेने और धोनेमें लगा दिये। १३ अगस्तको तेजरत्न शिगर्चे लौट गये और हम शलू विहारमें चले आये। यहाँकी पुस्तकोंमेंसे "मध्यमकहृदय" (भाव्य) "विग्रहव्यावर्तनी" (नागार्जुन) "प्रमाणवार्तिकवृत्ति" (मनोरथनंदी) और "क्षणभंगाध्याय" (ज्ञानश्री)को तीन महीने साथ रखनेकेलिए गुम्बाके पाँचों पचोंने इजाजत दी। गुम्बाके लोग समझ रहे थे कि यह कोई बड़ा धनी लामा है, इसलिए आशा रखते थे कि गुम्बाके भीतर चित्रकारीकेलिए रंग, छतकेलिए कपड़ा, मूर्त्तिपर चढ़ानेकेलिए सोना आदि चीज़ोंकी माँग कर रहे थे। मैं अगर चार-छ हज़ार रुपये खर्च कर सकता, तो उन्हें बहुत खुशी होती, और मैं सभी महत्त्वपूर्ण तालपोथियोंको ले आता, लेकिन रुपये कहाँ थे? मैं तो जबर्दस्ती घूमनेकी हिम्मत करता था। रुपये उधार देनेकेलिए छुशिङ्शावाले तैयार थे, लेकिन मैं उतने ही रुपये ले सकता था, जिनके कि लौटानेमें दिक़्क़त न होती।

ग्यान्चीमें (१७ अगस्त—७ सितंबर)

१६ अगस्तको हम तीनों ग्यान्चीकी ओर रवाना हुए। दूसरे दिन हम चार

बजे ग्यान्ची पहुँचे। रास्तेमें नेसामें चाय पीनेकेलिए ठहरना पड़ा। पता लगा कि यहाँ एक पुराना मंदिर युम्-ल्हाखङ (मातृमंदिर) है, जिसे सम्राट् रल्पाचन् (८७७-९०१ ई०)ने बनवाया था—ऐसी कहावत है। मैदानमें यह छोटा सा मंदिर है जरूर पुराने ढंगका। बीचमें चतुर्मूर्त्ति वैरोचन—शायद यह पीछेकी मूर्त्ति हो। पीछेके और युम् (माता) प्रज्ञापारमिता और दश बुद्धकी मूर्त्तियाँ हैं। कारीगरी सुन्दर है, कला उस कालके अनुरूप है। सामने सम्राट् ठीस्रोङ (८२३ ई०)का बनवाया मंदिर है, जिसमें वैरोचन, आठ बोधिसत्त्व आदि मूर्त्तियाँ हैं। यह उतनी सुन्दर नहीं हैं, तो भी काफ़ी पुरानी है। यह मन्दिर चाहे सम्राटोंके बनवाये न हों, लेकिन पुराने जरूर हैं। मुमकिन है, वे उसी कालमें बने हों।

ग्यान्चीमें रहते वक़्त मैं और अभयसिंह पुस्तकोंकी कापी करनेमें व्यस्त रहे। "प्रमाणवार्त्तिक" सम्बन्धी साहित्यकी प्राप्तिके बारेमें मैंने जायसवालजी और डाक्टर श्चेर्वात्स्की(सोवियत)के पास पहिले ही अभयसिंहके साथ चिट्ठियाँ भेज दी थीं। जायसवालजीने इसकी सूचना एसोसिएटेड् प्रेसको दे दी, और वह भारतके पत्रोंमें छप गई। कुछ फोटोके सामानकी जरूरत थी, मैंने उनकेलिए ग्यांचीसे तार और चिट्ठियाँ भेजीं।

२ सितम्बरको चीज़ोंके तीन पार्सल आये, इनमें फ़ोटोके सामान तथा लामाओंको भेंट देनेकी चीजें थीं। ४ सितम्बरको डाक्टर श्चेर्वात्स्कीका पत्र आया। नई पुस्तकोंकी खोज सुनकर उन्हें अत्यन्त आनन्द हुआ और लिखा कि मैं डाक्टर वोस्त्रीकोफके साथ भारत आना चाहता हूँ। इन पुस्तकोंका कितना महत्त्व था, वह इसे अच्छी तरह जानते थे। जैसे प्लेटो और अरस्तूके मूलग्रंथ लुप्त हो गये हों, सदियोंसे अनुवादों और उनकी टीकाओंके सहारे यूनानी दार्शनिकोंके विचारका अध्ययन हो रहा हो, फिर यकायक मूलग्रंथ अपनी मूलभाषामें मिल जायें। २२ तारीखको मैंने पुस्तकोंके हस्तलेखों और दूसरी चीज़ोंको डाकसे डा० जायसवालके पास भेज दिया। इन बहुमूल्य वस्तुओंको साथ लेते फिरना मैंने अच्छा नहीं समझा। इसमें सन्देह नहीं कि तिब्बतमें जैसे अकेले-दुकेले मैं घूम रहा था, उससे किसी वक़्त भी भारी खतरेमें पड़ सकता था।

डोरमें—८ सितम्बरको हम ग्यान्चीसे शिगर्चेकेलिए रवाना हुए। अब खेत कट रहे थे। पहिली रात दोड्ले और दूसरी रात पेनाङ्में ठहरे। पेनाङ्में खच्चरोंकेलिए घास नहीं मिली, और हम लोगोंको पिस्सुओंने रातमें तबाह कर डाला। १० सितम्बरको रघुवीर और मैं आगे बढ़कर शलू विहारमें गये। एकको छोड़कर बाक़ी

पुस्तकें लौटा दीं। उसी दिन तीन बजेके क़रीब शिगर्चे पहुँच गये। अभी पोइखड्, तानक् और ङोरकी पुस्तकोंको देखना था, लेकिन तिब्बतमें आदमी और घोड़ोंका मिलना आसान काम नहीं है।

१२ सितम्बरको ङोर आने-जानेकेलिए घोड़े मिले। हम लोग उसी दिन शामतक ङोर पहुँच गये। लेकिन मालूम हुआ कि किताब देनेवाला अधिकारी अभी नहीं आया है। अगले दिन हम नये अधिकारीके पास गये। वह किताबोंको दिखलानेकेलिए तैयार थे, लेकिन चाभी अभी पुराने अधिकारीके हाथमें थी। वह चाभीको लामा गेनदेनुके पास दे गया था, तो भी उसने कहा—पुराने अधिकारीके बिना द्वार नहीं खोला जा सकता। खड्सरके दोनों बड़े लामाओंने भी कोशिश की, लेकिन वह दुष्ट राजी नहीं हुआ। अन्तमें यही निश्चय हुआ कि कुडिङ् रिनपोछे (खड्सर के बड़े लामा) पुराने अधिकारी (छनुजो)के पास आदमी भेजेंगे, जब पुस्तकोंके मिलनेकी सम्भावना होगी, तो सन्देश भेजेंगे, फिर हम आयेंगे।

ङोर्से नरथड गये। वहाँ "बोधगयामंदिर" और दो भारतीय चित्रपटोंके फ़ोटो लिये। रातको वहीं रह गये और अगले दिन (१४ सितम्बर) ३ घंटेमें शिगर्चे पहुँचे। मैं अब "क्षणभंगाध्याय"की कापी करनेमें लग गया, और रघुवीर तथा अभयसिंह अगले दिन (१५ सितम्बर) तानक गये। १७ तारीखको ङोरका आदमी बुलानेकेलिए आया और १८ सितम्बरको हम फिर ङोर् पहुँच गये। उसी दिन मुहर तोड़ी गई और पुस्तकालयकी तालपोथियोंको देखा गया। वसुबंधुका "अभिधर्मकोषभाष्य" सम्पूर्ण मिल गया। "तर्करहस्य" और "वादरहस्य" नामक खंडित न्यायग्रंथ मिले। मैंने पुस्तकोंके बहुतसे फ़ोटो खींचे। पिछले साल मैंने "सुभाषित", "प्रातिमोक्ष", "वादन्याय"की पोथियाँ देखी थीं, अबकी वह नहीं दिखाई पड़ीं। ढूँढ़नेपर वह पहिलेवाले अधिकारीके घर में मिलीं। तिब्बतमें पुस्तकें कितनी अरक्षित हैं, यह इससे मालूम हो सकता है। चार दिन ङोर्में रहकर फिर हम शिगर्चे चले आये। तेजरत्नने फ़ोटो लिया, उसे वहीं धोकर देख लिया गया था, इसलिए फ़ोटोपर विश्वास तो हो सकता था, किन्तु फ़ोकस उतना अच्छा नहीं था। रघुवीर और अभयसिंह तानकसे लौट आये, वहाँ दो-तीन तालपत्रकी पोथियाँ थीं, किन्तु उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं थीं। कलकत्तासे और भी पारसल आये थे। बाबू ब्रजमोहन वर्मा चलने-फिरने और शरीरसे लाचार थे, लेकिन यदि उन्होंने तन्देही न की होती, तो कलकत्तासे समयपर चीज़ोंके आनेमें बड़ी दिक़्क़त होती। वर्माजी ... कोई पर्वाह नहीं करके दर्जनों जगहोंसे ढूँढ़कर चीज़ोंको भिजवाते थे।

-पोडखड् जानेकी बड़ी इच्छा थी। लेकिन, एक तो वहाँकेलिए घोड़े नहीं मिल रहे थे, दूसरे तेजरत्न वहाँ जाना नहीं चाहते थे, इसलिए अब फ़ोटो लेना सम्भव नहीं था। तेजरत्नसे फ़ोटोकी दर मुक़र्रर हो गई थी, लेकिन अब उन्होंने मनमाना दाम लगाना शुरू किया। इस तरहकी दिक्कतें आया ही करती हैं।

२८ सितम्बरको मैं रघुवीरके साथ टशील्हुनपो विहारमें चला आया और चार दिन यही रहा। पहिले दिन धामलोगेशेके साथ सुमेरु और भूकम्पवाली बात हुई। पिस्सुओंके मारे आफ़त थी। अब मैं साक्या जानेकेलिए तैयार था, लेकिन घोड़ेका कोई इन्तज़ाम नही हो रहा था।

फिर साक्यामें—बहुत मुश्किलसे २ अक्तूबरको शब तककेलिए दो घोड़े मिले। ज्ञान्स्करका एक भिक्षु शब्तक चलनेकेलिए तैयार हुआ। साढ़े तीन बजे हम रवाना हुए, और रातको नरथङ्में रह गये। अगले दिन चार बजे रात हीको चल पड़े। ७ बजते-बजते तालाजोतपर पहुँचे। यह बहुत छोटासा डाँडा है, पर है खतरेसे भरा। पहिली तिब्बत-यात्रामें मैं इस डाँड़ेसे गुजरा था। दो बजे हम एक गाँवमें पहुँचे। घोड़ेवालेका पैर दुखने लगा, और वह यहीं ठहर गया। लेकिन हम दोनों आगे चल दिये। छारोङ्छू नदीको पुलसे पार किया, फिर थोड़ासा ऊपरकी ओरसे चलनेपर चाङ्गुवा गाँव आया। यहाँ साक्याके कुशो डोनिर-छेनपोका घर है। यद्यपि मैं यहाँ कभी नही आया था, और न यहाँके नौकर-चाकरोंने मुझे देखा था, लेकिन वह मेरे बारेमें सुन चुके थे, इसलिए जान-पहचान होनेमें देर न लगी। इस वक़्त फ़सल कट रही थी, लोग उसीमें लगे हुए थे, इसलिए आदमी मिलना आसान नहीं था, लेकिन हम कुशो डोनिर्छेनपोके घरमें थे। चोला हर तरहसे मदद करनेको तैयार थे। मकान बहुत अच्छा और बड़ा था, लेकिन मालिक, मालकिन यहाँ बहुत कम आते थे, इसलिए मरम्मत आदिके ऊपर उतना ध्यान नहीं दिया गया था। एक तरफ़ मालिक थे, कि सन्तान विना उनका घर सूना था, दूसरी ओर उनका चोला था, जिसकी बीबी अभी जवान थी, तो भी ५ लडके और २ लड़कियाँ मौजूद थे। लड़के-लड़कियाँ गोरे थे, सुन्दर थे, स्वस्थ थे, यद्यपि उनके चेहरेपर मैलकी मोटी तह जमी रहती थी। उसी ग्रामकी बगलकी किसी स्त्रीके पेटमें दर्द हुआ। मेरे पास दवाकेलिए आये। तिब्बत ऐसे मुल्कोंकी यात्राओंमें चार-पाँच प्रकारकी दवाएँ रखना आवश्यक है, जिनमें टिनचर-आयोडिन्, जुलाब, पाचक लवण, कुनैन मुख्य हैं। मैंने "एनो-साल्ट" एक चिम्मच दिया, कुछ फ़ायदा हुआ।

४ अक्तूबरको आचो ल्हगुपा दो गधे और एक घोड़ेके साथ चले। घोड़ा मेरी

सवारीकेलिए था, गधे सामान ढोनेकेलिए। हम लोग ६ बजे सबेरे ही रवाना हुए। पुलके सामने आकर बाईं ओरकी उपत्यकामें मुड़ पड़े। ल्हासा-नेपाल-भारतका पुराना रास्ता यही है। आगे उपत्यकामें जमीनसे अपने आप पानी निकल रहा था। कई जगह भूमि दलदल बन गई थी। ताज्जुब है कि जो खेत चन्द दिन पहिले सूखे थे, उनमें गेहूँ लहरा रहे थे, और पानीवाली क्यारीसे बन गये थे। साढ़े दस बजे ज़िलुङ् गाँवमें पहुँच गये। यह बड़ा गाँव है, और शायद पहिले और बड़ा रहा होगा। पुराने घरोंकी मिट्टीकी दीवारें अब भी खड़ी थीं। चीनका जब तिब्बतमें प्रभुत्व था, उस वक़्त चीनी अफसरोंको ठहरानेकेलिए घर (ग्य खङ्) बने थे, इस गाँवमें भी वैसा घर था। आगे ज्यादातर निर्जन, सुनसान, चौड़ी उपत्यकासे चलना पड़ा। ५ बजे हम ल्हाऊकी भिक्षुणियोंके मठमें पहुँचे और बाहर यात्रीगृहमें ठहरे। तिब्बतमें भिक्षुणियोंके मठ कहीं-कहीं बड़े ही दुर्गम और निर्जन स्थानोंमें मिलते हैं, यह वैसा ही स्थान था। भिक्षुणियोंका भिक्षुओं जैसा मान नहीं, इसलिए उनका जीवन ज्यादा कष्टका है। उनके विहारोंमें जागीरें भी नहीं होतीं, प्रसिद्ध मंदिर भी उनके पास नहीं हैं। लेकिन तब भी उन्हें जीवित रहना है। जब घर भरकेलिए एक ही बहू आ सकती है—पाँच-सात भाइयोंपर एक ही पत्नी रहती है—, और लड़कियोंकी संख्या लड़कोंसे कम नहीं होती, फिर भिक्षुणियोंकी संख्या ज्यादा होना जरूरी ठहरा। यद्यपि पुरुष भिक्षुणियोंका सम्मान और सहायता करनेकेलिए उतने उदार नहीं होते, लेकिन स्त्रियाँ जरूर उनका ख्याल करती हैं। कोई घर नहीं है, जिसकी कोई लड़की भिक्षुणी न हो; चाहे वह घर हीमें रहती हो, लेकिन उसका कोई गुरुस्थान (भिक्षुणीविहार) जरूर होता है।

सबेरे ढाई बजे रातको ही रवाना हुए, सिर्फ़ दो जने और एक ही दिनमें तीन खतरनाक जोतोंवाले निर्जन रास्तेसे! अचो ल्हक्पा (भाई बुध) को जब पर्वाह नहीं थी, तो मुझे क्यों पर्वाह हो; जो एक आदमी कर सकता है, वह मैं भी क्यों नहीं कर सकता। चढ़ाई कठिन थी। ऊपर-नीचे होते चार बजे ठिमोना जोतपर पहुँचे। फिर उतरनेपर पाँच बजे एक डोक्पा-(पशुपालकों)का गाँव मिला। अभी भी सूर्योदय नहीं हुआ था। जगह-जगह काली चमरियाँ चर रही थीं। वहाँके लोग सिर्फ़ सत्तू भरकेलिए कुछ खेती कर लेते हैं, नहीं तो उनकी प्रधान जीविका है, भेड़ और चमरी। एक नालेके मुँहपर बसे डोक्पाघरमें हमने चाय पी, फिर आगे चढ़ाई चढ़ते दोपहरसे पहिले ही पोछेनलापर पहुँचे। ऊपर बहुत दूरतक घासका मैदानसा होना था, अब घासें पीली पड़ गई थीं। यहाँ चुले डाँड़े और सुने आसमानके

नीचे हज़ारों भेड़ें चर रही थी। एक ओर काले तम्बूसे धुवाँ निकल रहा था। पुरानी इच्छा फिर जागृत हो आई—कभी मैं भी साल दो साल ऐसे बिता पाता? लेकिन अब वह जीवन बहुत दूर था। फिर उतराई उतरते पहिलेवाले रास्तेपर आ गए। आटोला पार किया, और साढ़े तीन बजे सावया पहुँच गए।

साक्यामें

कुशो डोनिर्छेनपोके घरमें ल्हासा-सर्कारके दो अफसर ठहरे हुए थे। वह ज़मीनका हिसाब कर रहे थे। शायद सर्कार मालगुजारी बढाना चाहती थी। दो-एक दिन बाद अफ़सर चले गए और मुझे फिर उसी पुराने कमरेमें जाना पड़ा। अबकी बार सबसे जरूरी काम था "योगाचार-भूमि"को उतारना। दोनों प्रासादोंके लामा उसी तरहसे स्नेहप्रदर्शन कर रहे थे। अच्छा हुआ, मैं ठीक वक़्तपर आ गया, क्योंकि अब वह दो हफ़्तेके लिए यहाँसे कुछ दूर तप्तकुण्डमें जा रहे थे। मैं "योगाचार-भूमि" लाके उसे कापी करनेके काममें जुट पड़ा। आठ-दस हजार श्लोकके बराबर-का ग्रन्थ है। मैं ५०० श्लोकके बराबर रोज़ लिख लिया करता था। कभी-कभी कुशो डोनिर्छेनपो, चाम्कुशो और दिकीलासे कुछ बात करनेमें समय लगता, नहीं तो सारा समय मेरा पुस्तक लिखनेमें जाता।

१५ अक्तूबरको सर्दी काफी बढ गई थी, रातके वक़्त पाला मारजानेके डरसे फूलोंके गमले भी घरके भीतर रखे जाने लगे। १८ तारीखसे तो दिनमें और घरके भीतर भी सर्दीसे हाथ ठिठुरने लगता। बादल और हवा दोनोंका जोर बढ़ा। २० अक्तूबरको पासके पहाड़ोंपर वर्फ़ पड़ गई। अब जरूर जल्दी करनी थी, क्योंकि रास्तेमें बहुतसे वर्फ़वाले डाँड़े पार करने थे, जो ज्यादा वर्फ़ पड़जानेपर हफ़्तों दुर्लंघ्य हो जाते। २१ अक्तूबरको योगाचार-भूमि खतम हुई। वैसे पुस्तक सम्पूर्ण है, किन्तु पुस्तकमें दो भूमियाँ—"श्रावक-भूमि" और "बोधिसत्त्व-भूमि" नहीं हैं। बोधिसत्व-भूमि तो खैर जापानसे छप चुकी है। अब मुझे कितने ही फोटो लेने थे। दोनों प्रासादोंके लामों और उनके परिवारके फ़ोटो तो लिए ही, साथ ही भारतीय मूर्त्तियोंके कई फ़ोटो लिए और उन्हें वहीं धोया। फ़ोटो धोने और डेवलप करनेका गुर कुछ कुछ मालूम हो चला था। मेरे काममें चामकुशो या दिकीला मदद करती थीं। मैं मज़ाकमें चामकुशोसे कहता था—अब आपको चार-चार महीना योग-तपस्या करनेकी ज़रूरत नहीं, मैं जब भारतीय पुस्तकों, और मूर्त्तियोंका फोटो खींचूँ, तो आप उसमें मदद करें। उनको पहिले जादूसा मालूम होता था, कि कैसे उस पीले लेपपर आदमीकी शकल उतर आती है; लेकिन तस्वीर

उतरती उन्होंने देखी। मैंने बतलाया—तसवीर तो हर दरपनपर उतर आती है, यहाँ सिर्फ़ पकड़नेवाले मसालेकी कमी रहती है। मैंने चामकुशोका नौकरानीके साथ एक फ़ोटो खीचा, फिर उनके सामने ही डेवलप करके दिखाया। संयोगसे वह तसवीर अच्छी आई। उन्होंने तीस हजारवाला मोतियोंका धनुषाकार शिरोभूषण धारण किया था। वह बोल उठी—"अखखा! छीलिङ्, (विदेशी, युरोपियन) बड़े होशियार हैं।" मैंने कहा—होशियार न होते तो आकाशमें देवताओंकी तरह उड़ते। इधर कई सालोंसे गर्मियोंमें अँगरेजोंका दल चामोलुङ्मा (एवरेस्ट)पर चढ़नेकेलिए जाया करता था। उनके साथ पचासों कुली खाने-पीनेके सामान और दवाइयोंके बक्सको ढोनेकेलिए जाते थे। कभी-कभी कोई-कोई कुली सामान लेके गायब हो जाता था। दो चीजें चामकुशोके पास भी पहुँची थी—एक शीशेके बड़े मर्तबानमें खीरा आदिका सिरकेमें पड़ा अचार था और दूसरे छोटेसे खूबसूरत बक्समें इनजक्शन देनेकी दवा थी। सिरकेके अँचारको मैंने खाके दिखलाया, लेकिन किसीको खानेकी हिम्मत न हुई। चामकुशो शीशेके बरतनको चाहती थी; अँचारसे उनको कोई मतलब नही था। कुशो डोनिर् छेन्पोको जब मालूम हुआ, कि इंजेक्शन दिलकी बीमारी और ताकतकी दवा है, तो उन्होंने अपने रोगियोंपर उसका प्रयोग करनेकी इच्छा प्रकट की, लेकिन वहाँ इजेक्शन देनेकी सुई नही थी, और मैंने यह भी बतला दिया कि सुई देनेका ठीक तरीक़ा जाने बिना इंजेक्शन देनेमें खतरा है।

शितोग्प्रासादके ग्यगरल्हाखङ् (भारतीयमंदिर)में ५००से ऊपर धातुकी मूर्त्तियाँ हैं, जिनमें १५० भारतसे गई है, और दो दर्जन तो बहुत ही सुन्दर हैं—कुछ-तो छठी-सातवीं शदीतककी पुरानी हैं। यहाँ भी बोधगयामंदिरके पत्थरके दो नमूने हैं। मैंने बहुतसी मूर्त्तियोंके फ़ोटो लिये, और उन्हे वहीं धोया। कुछ साफ आये।

अक्तूबरके अंततक सर्दी बहुत बढ़ गई थी। फुन्छोगप्रासादकी महंतरानीने रास्तेकेलिए एक ऊनी गुलूबन्द और खानेकी बहुतसी चीजें दी। ताराप्रासादके छोटे भाई, पहिले हीमें खतरनाक जोतोंमें इस तरह घूमनेकेलिए मुझे बहुत समझाया करते थे। उन्होने चलते वक़्त अपना चमड़ेका पायजामा दिया। मैंने शिगर्चेमें एक पोस्तीनका सलूका (जाकट) बनवा लिया था, इसलिए सर्दीसे तो अब निश्चिन्त था। कुशो डोनिर् छेनपोने भी रास्तेकी उपयोगी कितनी ही चीजें दी। वह अब बहुत खुश रहते थे, क्योंकि उनकी छोटी चाम् दिकीलामें बंश चलानेके चिह्न प्रकट हो गये थे।

३. भारतकी ओर

३० अक्तूबरको मैंने साक्या छोड़ी। चड्मा (बीरी)के वृक्षोंपर कोई ही कोई सूखी पत्तियाँ रह गई थी। पहाड़ोंकी हरियाली लुप्त हो चुकी थी, और उन्होंने फिर अपना वही नंगा सूखा रूप धारण कर लिया था। अबकी बार ताराप्रसादने मेरेलिए ३ खच्चर और अपना एक आदमी—जयड्—दिया था। मब्जातक चाम्कुशोके मौसेरे भाई लामा ग्यंजे भी साथ चल रहे थे। उसी दिन हम मब्जा पहुँच गये। जयड्को रास्ता नहीं मालूम था, इसलिए कुशो डोनिर्लाने एक और आदमी साथ कर दिया। पहिली नवम्बरको मब्जासे रवाना हुए। पाचाके रास्ते थोड्पाला पार हो निब्लुड्-उपत्यकामें चले गये, और उस दिन रातको शादोङ् गाँवमें ठहरे। अगले दिन (२ नवम्बर) तोब्डाला पारकर छिका गाँवमें जलपान किया। हमारी बाईं ओर झील थी, जिसके किनारे तोब्डा गाँव था। यह तिब्बतके भीतर है, लेकिन जागीर है, शिकमके राजाकी। छिकाके सामने तिङ्री जैसा विशाल मैदान है। वैसे ही यहाँ भी घास है, कहीं-कहीं बालूके टीले है। सवा ५ घंटे चलनेके बाद हम इस मैदानको पार कर सके। रास्तेमे कोई बस्ती नही थी, सूर्यास्तको हम ऊँचे-दामा गाँवमें पहुँचे—इस प्रदेशका नाम शमा है।

यद्यपि अब मैदान नहीं था, लेकिन रास्ता बराबर था। डेढ़ घंटा चलनेके बाद हम खम्बाजोड्के मैदानमे पहुँचे। रातको पौने दो घंटा चलकर हम ८ बजे खम्बा गाँवमें पहुँचे। अब पूरा जाड़ा था, फिर सर्दीकेलिए क्या पूछना? चायसत्तू हुआ, घोड़ोंको घास-दाना दिया गया। ३ घंटेके विश्रामके बाद हम फिर चले। रास्तेमें कहीं-कहीं क्याडों (जंगली गदहों)के झुंड दिखाई पड़े। कौरुलाकी चढ़ाई बहुत मुश्किल नहीं है। डाँड़ेसे कुछ उतराईके बाद डोक्पा लोगोंका गाँव कौरू मिला। यहाँ १०, १२ घर है, लेकिन चँवरियोंपर परलेपारसे लकड़ी ढोनेका सुभीता है, इसलिए मकान अच्छे बने है। एवरेस्ट जानेवाले इसी रास्तेसे गुज़रते हैं। हम लोग दो ही बजे पहुँच गये थे, लेकिन आगे लाछेन्की बड़ी जोत थी, और अगली बस्ती बहुत दूर पड़ती, इसलिए आज यहीं ठहर गए। बर्फके कारण कई दिनोंसे रास्ता बन्द हो गया था। आज लाछेन्से आदमी आया, मालूम हुआ, बर्फ़ कम है, जो है वह सख्त हो गई है, इसलिए रास्ता खुल गया है।

भारतमें (१९३६-३७ ई०)

हमने साक्यासे लाई पिस्तौलोंको कीरूमें छोड़ दिया, क्योंकि, डाँड़ा पार करते ही हम उस देशमें पहुँच जाते हैं, जहाँ आत्मरक्षाके साधन पिस्तौल या बन्दूकको हाथमें रखनेकेलिए आदमियोंको जेलकी हवा खानी पड़ती है। ४ नवम्बरको साढ़े ५ बजे जब हम गाँवसे बाहर हुए, तो हिमालयकी बर्फीली चोटियोंको सूर्यकी किरणें स्वर्णिम बना रही थीं। सर्दी खूब थी, लेकिन ऊन और चमड़ेमें लिपटे शरीरका वह क्या बिगाड़ सकती ? दो फर्लाङ् चलनेके बाद रास्तेमें बर्फ़ आ गई। चारों ओर विस्तृत हिमक्षेत्र था। दाहिनी ओर दूर सामने हिमालयकी शिखर-पंक्तियाँ थीं। पौने दो घंटे चलनेके बाद हम लाछेन्-जोतपर पहुँचे। चढ़ाईसे उतराई कुछ अधिक जोरदार थी, किन्तु मुश्किल नहीं थी। जोतसे थोड़ा नीचे आनेपर तिब्बत और सिकम्राज्य—तिब्बत और अँगरेजी राज या तिब्बत और भारत—की सीमा मिली। डेढ़ घंटा चलनेके बाद हमें एक छोटीसी झील मिली। झीलके बादसे रास्तेमें अब बरफ़ कम थी। गाँव छोड़े ४ घंटे हो गए थे, पौने १० बज रहा था; इसलिए चाय पीनेका कोई इंतजाम करना जरूरी था। रास्तेसे दाहिने थोड़ा ऊपर याकके काले बालोंका तम्बू दिखाई पड़ा। हम वहाँ चले गये। तम्बूमें आगके पास बैठे। पता लगा कि यह लाछेनके चौपोन् वङ्ग्यलूके डोकपा (पशुपालक) हैं। जाड़ेके सिर्फ़ दो महीने ये लोग किसी एक जगह रहते हैं, नहीं तो अपनी भेड़ों और याकों चमरियोंको लिये दस महीने नई-नई चरागाहोंमें घूमते रहते हैं।

दो घंटेके विश्रामके बाद हम फिर चले। आगे नदीकी धार मिली। ३ बजे तक रास्तेमें बरफ़ पड़ी हुई मिली। आगे एक छोटासा अकेला घर आया और उसके बादसे सड़क आ गई। इस वक्त बादलोंकी भारी पलटन जोतकी ओर जा रही थी। हमने अपने भाग्यको सराहा, न जाने वहाँ कितनी बरफ पड़ती, और हम मुश्किलमें पड़ जाते। चार बजेसे नंगे पहाड़ोंकी जगह झाड़ीवाले पहाड़ आने लगे, फिर देवदार आ गये, और बीस मीलतक अब पहाड़ोंपर देवदार ही छाये हुए

"परवाह" नही थी, यह बात ठीक थी, तिब्बतमें यात्रा करते वक्त जैसे रोएँ-रोएँको हर वक्त सजग रहनेकी जरूरत पड़ती थी, अब उसकी जरूरत नहीं थी, सर्दी भी अब हमें उतनी नहीं मालूम पड़ रही थी।

सिकममें—साढ़े पाँच महीने बाद तरसती आँखोंको फिर वृक्षोंसे आच्छादित पर्वत देखनेको मिले और यह थे देवदारके सुन्दरतम वृक्ष। पौने ६ बजे सबेरे ही हम रवाना हुए। हमने पोस्तीन उतार दी थी, तो भी गर्मी मालूम होती थी। ४ मील चलनेपर यातुङ गाँव मिला। लाछेन गाँववाले गर्मियोंमें आकर यहाँ रहते हैं, और आलू-फाफड़की खेती करते हैं। अब सारा गाँव निर्जन था। एक घर में धुआँ निकलता देख हम वहाँ गये। वहाँ चीपोन पेग्यल् (पद्मराज) का लड़का था। उसने चाय, भात और मांस तैयार किया। भोजन करके सवा दो घंटेके विश्रामके बाद हम फिर चले। १ मील जानेपर मालूम हुआ कि केमरा घर में छोड़ आये। लौटकर आये, तो देखा ताला बन्द था। जयङ्को ऊपर भेजा। मालूम हुआ कि कैमरा घरमें है, और तरुण कल अपने साथ लायेगा। दो-तीन मील चलनेके बाद देवदार-वृक्ष बड़े-बड़े दिखलाई देने लगे, फिर बाँसी (पतला बाँस) भी आने लगी। आज १४ मील चलनेके बाद लाछेन् आया। एसोमें एक प्रौढ़ पुरुष मिल गये। उनके साथ बात करते चले। मैंने बतलाया कि साक्यालामाने चीपोन वङ्ग्यल्केलिए परिचयपत्र दिया। डाकबँगलेके पास जानेके बाद उन्होंने कहा—मेरा ही नाम वङ्ग्यल है। उन्होंने बँगलेके सामनेके एक तिब्बती वृद्धको बुलाया, और उसे एक कोठरी रहनेकेलिए देनेको कहा। कोठरी बुरी नही थी। अब आलू-भातका मुलुक आ गया था, यद्यपि चावल यहाँ नही पैदा होता। चीपोनने डलियाभरके सेव भेजा।

लाछेनमें अब सेवके बहुत बगीचे लग गये हैं। फिनलैंडकी एक महिला पचीसों वर्षोंसे यहाँ ईसाईधर्मका प्रचार कर रही हैं, उनके सेवके बगीचेको देखकर यहाँके लोगोंने भी सेव लगाने शुरू किये। यह सेबोंकी फ़सलका समय था। लाछेनवाले कल खच्चरों और घोड़ोंपर सेव लादकर नीचे ले जाते, और चावल खरीदकर ले आते थे। गाँवमें कोई घोडा या खच्चर नहीं था। तीसरे दिन (७ नवम्बर) साक्यावाले लौट गये। मैंने उस दिन गरम पानीसे साबुन लगाकर सबेरे और शामको दो बार स्नान किया। नहीं कह सकता, महीनोंकी जमी मैल शरीरसे उसी दिन छूट गई। कपड़ोंको धुलवाया, लेकिन जुएँ अब भी बाकी थीं।

पुलीसकी चौकीके सामनेसे गुजरे। यहाँ एक हवलदार और दो सिपाही रहते हैं। यदि मैं नीचेसे आया होता, तो सिकमके अँगरेज-अफ़सरके आज्ञापत्रके बिना यह मुझे ऊपर नहीं जाने देते। लाछेन् और लाछुङ् दोनों जोतोंको पारकर तिब्बतके आनेवाले रास्ते यहीं मिलते हैं और नीचेसे आनेवालोंको इसी पुलको पार करना पड़ता है। चौकीमें फूल खूब अच्छे लगे हुए थे। अब भी पहाड़ नीचेसे ऊपरतक जंगलसे ढका हुआ था, लेकिन देवदारका पता नहीं था। इधरके वृक्षोंपर भारी लताएँ लिपटी हुई थीं। इनके पत्ते केलोंके पत्तों जैसे बड़े-बड़े थे और भार इतना था कि कितने ही वृक्ष तो बोझके मारे टेढ़े पड़ गये थे। मैंने पाली ग्रंथोंमें पढ़ा था कि मालुवा नामकी एक लता होती है, जो बरसातके पानीको इतना सोख लेती है, कि जिस वृक्षपर वह चढ़ी रहती है, वह बोझके मारे फट जाता है। ऐसी ही लताको देखकर मालुवाकी कल्पना तो नहीं की गई। इधर लिपचा (सिकमी) लोगोंकी बस्तियाँ थी। इनकी पोशाक तिब्बती लोगोंसे अलग, रंग भी ज्यादा पीला लिये हुए था। एक जगह मैंने चाय पी, फिर आगे चले। एक झूलेवाला पुल पार करके नदीकी बाईं ओर चले आये। रास्ता अधिकतर चढ़ाईका था, लेकिन बड़े-बड़े वृक्षों और हरियालीके भीतरसे था। एक डाकबँगलेको छोड़ा। इधर बड़ी इलायचीके बहुतसे बगीचे थे। किसी वक्त हिन्दुस्तानकेलिए बड़ी इलायची नेपाल दिया करता था, लेकिन पिछली (१९२९-३२ ई०) मन्दीमें इलायचीका दाम बहुत गिर गया। नेपालने इलायचीकी खेतीसे उपेक्षा की। आजकलके सिकमकी आबादीमें सबसे अधिक संख्या गोरखा लोगोंकी है, जो नेपालसे आकर यहाँ बस गये हैं। उन्होंने यहाँ भी इलायचीकी खेती तैयार कर दी। इलायचीके पत्ते हल्दी या कचूरके पत्ते जैसे होते हैं; और फलियाँ जड़के पास छोटे-छोटे धागोंमें लगती हैं। गधे बहुत धीमे-धीमे चल रहे थे, यह इसीसे मालूम होगा, कि हम दो दिनमें लाछेनसे सिर्फ २२ मील आ सके थे। आज पुल पार करते वक्त ३ कोड़ी ७ (६७) वर्षकी एक भोटिया भिक्षुणी आ मिली। यह भी बेचारी धीरे ही धीरे चल सकती थी, हमने भी सोचा कि ४की जगह ५ अच्छे होते हैं, इसलिए अनी (भिक्षुणी)को भी साथ कर लिया। गुन्तम् ढाई मील रह गया था, तभी गधोंने हिम्मत हार दी। अभी साढ़े तीन ही बजे थे, लेकिन आज चढ़ाई काफ़ी पड़ी थी, इसलिए यदि नोर्बू और छेरिङ् विश्राम लेना चाहते थे, तो अपराध नहीं करते थे। यहाँ हरियाली भी थी, चरनेकेलिए घास थी, पासमें पानीका झरना था, सूखी लकड़ी ऐसे ही जंगलमें पड़ी हुई थी, खाने-पीनेका सामान हमारे पास मौजूद था। इसलिए रातको यहीं ठहरनेका निश्चय किया गया।

हाँ, उस वक्त हमें किसीने बतलाया नहीं था, कि यहाँ चीते या तेंदुए हैं और नोर्बू तथा छेरिङ उनकेलिए रसगुल्लेसे भी ज्यादा मीठे हैं। यदि यह मालूम हुआ होता, तो हम जरूर नोर्बू और छेरिङ्को मनाकर अगले गाँवतक ले जाते। खैर, उनका भाग्य अच्छा था। हमने रातभर ऐसे ही छोड़ दिया और कोई चीता-तेंदुआ उनके पास नहीं आया। अब चाय रसोई तैयार करनेकेलिए हम ३ आदमी थे। ३ कोड़ी ७ वर्षवाली—पूछनेपर बुढ़ियाने यही कहा था—अनी अभी हाथ-पैर चला सकती थी। उसकी पीठपर तो इतना सामान था कि उसे लेकर दो मील चलने हीमें मैं थौंम करके बैठ जाता। इस जगह आनेसे थोड़ा पहिले मीठी चाय और छड्की दूकान मिली, हमने वहाँ मीठी चाय पी, और पैसेकी तीन-तीन नारंगियाँ खरीद ली थीं। अनीसे दलाईलामा और भोटके दूसरे लामाओंके बारेमें बात होती रही। वह शायद ल्होखा प्रदेशकी थी, उधर भी कोई लड़का था, जिसे दलाईलामाका अवतार कहा जाने लगा था। अनीने कहा—"मैं भी दर्शन करने गई थी। अभी छोटे-छोटे हाथ हैं, तीन बरसके तो रिन्पोछे (रत्न-महाराज, महागुरु) हैं ही। मेरे शिरपर अपना हाथ रखकर उन्होंने आशीर्वाद दिया।" जब तक दलाईलामाका अन्तिम स्वीकार नहीं हो जाता, तबतक न जाने कितने छोटे-छोटे हाथ इस तरह आशीर्वाद देते रहेंगे। रातको मेतोक्का दाँत दुखा, मैंने गरम पानीमें नमक डालकर कुल्ली करनेके लिए कहा।

अगले दिन (१०) हम ५ बजे रवाना हुए। ४ मीलका रास्ता साढ़ेतीन घंटेमें पूरा किया और मंगन पहुँच गए। मंगन बाजार सड़ककी बगलमें है। ६,१० दूकानें हैं, जिनमें दो पानकी हैं, जिसका अर्थ है, भारतीय सभ्यता यहाँ पूरे ज़ोर-शोरके साथ पहुँच गई है। छाता (बलिया) के बाबू रमाशङ्करकी दूकानपर लसकरीपुर (एकमा) के छब्बूराम गुमास्ता थे। छपराकी बोली बोलते ही पीले कपड़ोंका भेद भाव जाता रहा, अब वह बिना भात खिलाए यहाँसे कैसे जाने देते? भात बनने लगा। मैं मेतोक और अनीको खाना बनाकर खालेनेकेलिए कह आया। साप्ताहिक "विश्वमित्र" मिल गया। देश-विदेशकी खबरें पढ़ीं। दोपहरके क़रीब, फिर पाँचोंका काफला रवाना हुआ। हमें तो गर्मी सता रही थी, और छेरिङ्, नोर्बू अशर्फीकी चालसे चल रहे थे। एक बड़ा झूले वाला पुल आया, उसे पारकर थोड़ा आगे जानेपर लाछेन्के खच्चरवाले मिले। एक नौजवानने तंबाकूकी २, ३ सूखी पत्तियाँ और कागजसे सिगरेट बनाके मेतोकको पीनेकेलिए दिया। इससे भी बड़ा काम उसने किया—उसने हमें सूचित कर

दिया कि इस जंगलमें चीते, तेंदुए (जिक्) लगते हैं, गदहोंसे खबरदार रहना। हम कुछ ही मील और आगे बढ़ सके, कि नोरबू और छेरिङ्को आगे ले चलना मुश्किल होने लगा। आस-पास बहुतसे सूखे वृक्ष गिरे पड़े थे, पानी भी पासमें था, और सामने जंगली बाँसका ठट लगा था। जंगल तो इतना घना था, कि शामसे पहिले ही अँधेरेने वहाँ बसेरा कर लिया था। मेतोक्को बुखार भी आ गया था। यहीं हमने गदहोंकी पीठपरसे सामान उतारा, मेतोक् कोई काम करनेमें असमर्थ थी। वह टाट बिछाकर लेट गई। अनीको मैंने भोजन बनानेकेलिए कहा और स्वयं बाँसकी पत्तियाँ तोड़ने लगा। हाथ कई जगह छिल गए, लेकिन अपने दोनों साथियोंके खानेभरकेलिए मैंने पत्तियाँ तोड़ लीं। चीतोंसे भी बचनेका इन्तिज़ाम करना था। मैंने दो जगह बड़े-बड़े लक्कड़ लगाकर खूब आग तैयार कर दी। आगके पास जंगली जानवर नहीं आते, यह मालूम था। हमने अपना सामान तो थोड़ा हट करके रखा, लेकिन नोरबू और छेरिङ्को दोनों आगोंके बीचमें बाँध दिया। अनी और मैंने कुछ खाना खाया, मेतोक्को १०४ डिग्रीसे कम बुखार न रहा होगा। कल हीसे मैंने देखा था कि वह चश्मेके ठंडे पानीको पीती रहती है। गर्मी लग रही हो, तो बर्फ जैसे ठंडे और अति मधुर जलको कौन नहीं पीना चाहेगा। मैंने मेतोक्को कई बार मना किया था, लेकिन उसने माना नहीं। उस रातको तो वह बुखारमें बेसुध थी, लेकिन मुझे गदहोंकी फिक्र थी। अँधेरा हो गया, ऐसा अँधेरा कि दहकती आग और उसके हाथ-डेढ़-हाथ आस-पासको छोड़कर कुछ नहीं दिखाई पड़ता था। कितनी ही देर तक कीड़ों और पतंगोंकी झनकार सुनाई देती रही, फिर रात साँय-साँय करने लगी। ९ या १० बज गए, जब "क्यू" "क्यू" की आवाज कानमें आई। अनीने कहा—"जिक्" (चीता या तेंदुआ)। अब नींद किसको आती, मेरा ख्याल कभी जिक्की आवाजकी ओर जाता [illegible] भी नोरबू-छेरिङ्की ओर, लकड़ी जैसे ही जल जाती, उसे ढकेलकर आगपर कर देता। मेरे हृदयमें भय नहीं, बल्कि उत्साह ज्यादा था। आदमी खतरेके जीवनका जब दिन लगातार सामना करता है, तो उसके दिलमें एक तरहका उत्साह, एक तरहका आनन्द आता है। यह भावना और भी बढ़ जाता है, जब उसको अकेले ही कई साथियोंकी रक्षाका भार अपने ऊपर लेना पड़ता है। रातको थोड़ी बूँदा-बाँदी हुई, खैरियत यही हुई कि ज्यादा पानी नहीं बरसा, नहीं तो आगको जलाए रखना मुश्किल होता।

११ नवंबरको चाय पीकर रवाना हुए। आसमानमें बादल अब भी थे। मेतोक्को अब बुखार नहीं था, नोरबू और छेरिङ् भी ताजे हो गए थे। सड़क अच्छी थी। वनमें जगह-जगह बह रहे थे। चारों ओरसे पक्षियोंका कलरव सुनाई देता था। दो घंटा

चलनेके बाद हम दिक्छू पहुँच गए। यह ९,१० दूकानोंका अच्छा बाजार है। दूकानदारोंमें कुछ मारवाड़ी और कुछ बिहारी भी थे। मीठी चायकी दूकान थी। गदहोंको शङ्दम् तकके लिए लिया था, किन्तु दोपहर बाद मेतोकको फिर बुखार आ गया। आगे कैसे चला जाय? गर्मी भी बहुत बढ़ रही थी, और लाछेन जैसी ठंडी जगहके व्यक्तिको और गर्म जगह ले जाना अच्छा नहीं था। मैंने इधर-उधर पूछा, तो मालूम हुआ कि गनतोक्के बाबू तोबूदन यहाँ आये हुए हैं। वह शिक्षित व्यक्ति थे। उनसे परिचय हुआ। उन्होंने कहा कि यहाँसे गनतोक् तक घोड़ेका इन्तजाम हो जायगा, आप मेरे साथ चलें। लेकिन मेतोक् बीमार थी, उसे छोड़कर मैं कैसे जाता। मेतोक्का परिचित लाछेन्का एक आदमी आ गया। उसने कहा कि कल मैं सवेरे लौट आऊँगा, फिर मैं मेतोक्को ऊपर ले जाऊँगा। मेतोक्का बुखार भी सवेरे उतर गया था। अनीको खाने-पीनेकेलिए मैंने पैसा दे दिया। मेतोक्ने विश्वास दिलाया कि कोई चिन्ता नहीं, आदमी आता ही होगा।

गनतोक् यहाँसे १३ मील था। एक-एक रुपयेपर दो कुली सामान ले जानेकेलिए मिले और तीन रुपयेपर सवारीका घोड़ा। सवा १० बजे बाबू तोबद्न्के साथ मैं गनतोक्केलिए रवाना हुआ। पहिले साढे आठ मीलकी चढ़ाई थी—पेलुङ्ला जोतको पार किया। आध मीलपर चायकी दूकानें थीं, चाय पी। फिर थोड़ा आगे जानेपर गनतोक् दिखाई देने लगा। दाहिनी ओरके पहाड़पर सिकमकी महारानीका महल था। पिछली (१९३४ ई०) तिब्बत-यात्रामें मैं जब गनतोक् आया था, तो महाराज और महारानी अपने महलमें ही मिले थे। दोनोंने कितनी ही देरतक तिब्बतमें मेरे काम और बौद्धधर्मके बारेमें बातचीत की थी। मैंने अपनी लिखी तिब्बती भाषाकी पहिली पुस्तक भेंट की थी, जिसे महारानी उस वक्त अपने गुम्बामें उतरे एक लामाको दिखलाने गईं थी। उस साल भी मैंने महारानीको उनके भाई रकसाकुशोके महलमें देखा था और देरतक बातचीत हुई थी। अब मालूम हुआ, कि महाराज और महारानीका सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है और महारानी अब इस महलमें रहती हैं। यह भी बतलाया गया कि महारानीको कोई लड़की है, जिसे महाराज स्वीकार नहीं करते; उनकी चलती, तो दूसरे हिन्दू महाराजाओंकी तरह अपनी रानीके साथ पेश आते, लेकिन महारानी भोट-देशकी स्त्री हैं, एक बड़े सामन्तकी लड़की हैं, काफ़ी अकरा रखती हैं; वह अँगरेज़ी सरकारके राजनीतिक-विभाग तक पहुँच गईं और अब डटकर गनतोक्में रहती हैं।

मैं बाबू तोबूदनके घरपर ठहरा। डाकखानेमें कुछ चिट्ठियाँ मिलीं, लेकिन

दिया कि इस जंगलमें चीते, तेंदुए (जिक्) लगते हैं, गदहोंसे खबरदार रहना। हम कुछ ही मील और आगे बढ़ सके, कि नोरबू और छेरिङ्को आगे ले चलना मुश्किल होने लगा। आस-पास बहुतसे सूखे वृक्ष गिरे पड़े थे, पानी भी पासमें था, और सामने जंगली बाँसका ठट लगा था। जंगल तो इतना घना था, कि शामसे पहिले ही अँधेरेने वहाँ बसेरा कर लिया था। मेतोक्को बुखार भी आ गया था। यहीं हमने गदहोंकी पीठपरसे सामान उतारा, मेतोक् कोई काम करनेमें असमर्थ थी। वह टाट बिछाकर लेट गई। अनीको मैंने भोजन बनानेकेलिए कहा और स्वयं बाँसकी पत्तियाँ तोड़ने लगा। हाथ कई जगह छिल गए, लेकिन अपने दोनों साथियोंके खानेभरकेलिए मैंने पत्तियाँ तोड़ लीं। चीतोंसे भी बचनेका इन्तिजाम करना था। मैंने दो जगह बड़े-बड़े लक्कड़ लगाकर खूब आग तैयार कर दी। आगके पास जंगली जानवर नहीं आते, यह मालूम था। हमने अपना सामान तो थोड़ा हट करके रखा, लेकिन नोरबू और छेरिङ्को दोनों आगोंके बीचमें बाँध दिया। अनी और मैंने कुछ खाना खाया, मेतोक्को १०४ डिग्रीसे कम बुखार न रहा होगा। कल हीसे मैंने देखा था कि वह चश्मेके ठंडे पानीको पीती रहती है। गर्मी लग रही हो, तो बर्फ़ जैसे ठंडे और अति मधुर जलको कौन नहीं पीना चाहेगा। मैंने मेतोक्को कई बार मना किया था, लेकिन उसने माना नहीं। उस रातको तो वह बुखारमें बेसुध थी, लेकिन मुझे गदहोंकी फिक्र थी। अँधेरा हो गया, ऐसा अँधेरा कि दहकती आग और उसके हाथ-डेढ़-हाथ आस-पासको छोड़कर कुछ नहीं दिखाई पड़ता था। कितनी ही देर तक कीड़ों और पतंगोंकी झनकार सुनाई देती रही, फिर रात साँय-साँय करने लगी। ९ या १० बज गए, जब "क्यू" "क्यू" की आवाज कानमें आई। अनीने कहा—"जिक्" (चीता या तेंदुआ)। अब नींद किसको आती, मेरा ध्यान कभी जिक्की आवाजकी ओर जाता, और कभी नोरबू-छेरिङ्की ओर, लकड़ी जैसे ही जल जाती, उसे ढकेलकर आगपर कर देता। मेरे हृदयमें भय नहीं, बल्कि उत्साह ज्यादा था। आदमी खतरेके जीवनका जब दिल लगाकर सामना करता है, तो उसके दिलमें एक तरहका उत्साह, एक तरहका आनन्द आता है। यह मात्रामें और भी बढ़ जाता है, जब उसको अकेले ही कई साथियोंकी रक्षाका भार अपने ऊपर लेना पड़ता है। रातको थोड़ी बूँदा-बाँदी हुई, ग़नीमत यही हुई कि ज्यादा पानी नहीं बरसा, नहीं तो आगको जलाए रखना मुश्किल होता।

११ सर्वेबरको चाय पीकर रवाना हुए। आसमानमें बादल अब भी थे। मेतोक्को अब बुखार नहीं था, नोरबू और छेरिङ् भी ताजे हो गए थे। सड़क अच्छी थी। नदमें जगह-जगह बह रहे थे। चारों ओरसे पक्षियोंका कलरव सुनाई देता था। दो घंटा

चलनेके बाद हम दिक्छू पहुँच गए। यह ९,१० दूकानोंका अच्छा बाजार है। दूकानदारोंमें कुछ मारवाड़ी और कुछ विहारी भी थे। मीठी चायकी दूकान थी। गदहोंको राङ्दम् तकके लिए लिया था, किन्तु दोपहर बाद मेतोकको फिर बुखार आ गया। आगे कैसे चला जाय? गर्मी भी बहुत बढ रही थी, और लाछेन जैसी ठंडी जगहके व्यक्तिको और गर्म जगह ले जाना अच्छा नहीं था। मैंने इधर-उधर पूछा, तो मालूम हुआ कि गनतोक्के बाबू तोबृदन यहाँ आये हुए हैं। वह शिक्षित व्यक्ति थे। उनसे परिचय हुआ। उन्होंने कहा कि यहाँसे गनतोक् तक घोड़ेका इन्तजाम हो जायगा, आप मेरे साथ चलें। लेकिन मेतोक् बीमार थी, उसे छोड़कर मैं कैसे जाता। मेतोक्का परिचित लाछेन्का एक आदमी आ गया। उसने कहा कि कल मैं सवेरे लौट आऊँगा, फिर मैं मेतोक्को ऊपर ले जाऊँगा। मेतोक्का बुखार भी सवेरे उतर गया था। अनीको खाने-पीनेकेलिए मैंने पैसा दे दिया। मेतोक्ने विश्वास दिलाया कि कोई चिन्ता नहीं, आदमी आता ही होगा।

गनतोक् यहाँसे १३ मील था। एक-एक रुपयेपर दो कुली सामान ले जानेकेलिए मिले और तीन रुपयेपर सवारीका घोड़ा। सवा १० बजे बाबू तोवद्न्के साथ मैं गनतोक्केलिए रवाना हुआ। पहिले साढे आठ मीलकी चढाई थी—पेलुङ्ला जोतको पार किया। आध मीलपर चायकी दूकानें थीं, चाय पी। फिर थोड़ा आगे जानेपर-गनतोक् दिखाई देने लगा। दाहिनी ओरके पहाड़पर सिकमकी महारानीका महल था। पिछली (१९३४ ई०) तिब्बत-यात्रामें मैं जब गनतोक् आया था, तो महाराज और महारानी अपने महलमें ही मिले थे। दोनोंने कितनी ही देरतक तिब्बतमें मेरे काम और बौद्धधर्मके बारेमें बातचीत की थी। मैंने अपनी लिखी तिब्बती भाषाकी पहिली पुस्तक भेंट की थी, जिसे महारानी उस वक़्त अपने गुम्बामें उतरे एक लामाको दिखलाने गई थी। उस साल भी मैंने महारानीको उनके भाई रकसाकुशोके महलमें देखा था और देरतक बातचीत हुई थी। अब मालूम हुआ, कि महाराज और महारानीका सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है और महारानी अब इस महलमें रहती हैं। यह भी बतलाया गया कि महारानीको कोई लड़की है, जिसे महाराज स्वीकार नहीं करते; उनकी चलती, तो दूसरे हिन्दू महाराजाओंकी तरह अपनी रानीके साथ पेश आते, लेकिन महारानी भोट-देशकी स्त्री है, एक बड़े सामन्तकी लड़की हैं, काफ़ी अक़्ल रखती हैं; वह अँगरेज़ी सरकारके राजनीतिक-विभाग तक पहुँच गईं और अब डटकर गनतोक्में रहती हैं।

मैं बाबू तोवृदनके घरपर ठहरा। डाकखानेमें कुछ चिट्ठियाँ मिलीं, लेकिन

कितनी ही चिट्ठियोंको उन्होंने लौटा दिया था। हाईस्कूलके अध्यापक दो बिहारी मित्रों—श्रीव्रजनन्दनसिंह और संस्कृताध्यापक मिश्रजीसे भेंट हुई। गेशे धर्मवर्धन दार्जिलिंगमें थे, उन्हें सिलीगोड़ीमें आनेकेलिए तार दे दिया। १४ नवम्बरको ११ बजेको मोटरसे रवाना हुए। १ घंटामें शिङ्तम् पहुँच गये। मेतोक् बीमार न हुई होती, तो गधोंको लेकर यहाँ आना था। ७ बजे सिलीगोड़ी पहुँच गये। घंटेभर बाद गेशे भी आ गये, और ६ बजे हम कलकत्ता-मेलमें बैठ गये।

४. पटना और प्रयागमें

१५ नवम्बरको ७ बजे सवेरे हम स्यालदा पहुँच गये। धावले, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और विमलानन्द स्टेशनपर मिले। हम वहाँसे महाबोधिसभामें गये। अबकी बारकी खोजोंका अखबारोंमें ज्यादा प्रचार हुआ था, वैसे तो पहिली तिब्बत-यात्रासे लौटनेके बाद ही मेरे कार्यके महत्त्वको माना जाने लगा था। वक्तव्यकेलिए अखबारवाले दौड़ने लगे। मैं अपनी खोजोंके महत्त्वको समझता था, और यह भी समझता था कि लोगोंको जब उसका पता लगेगा, तो जरूर मुझे बाजारमें लानेकी कोशिश की जायगी, लेकिन मैं अब उस अवस्थामें था, जब कि मुझे उसकी प्यास नहीं रह गई थी। साथ ही मैं यह भी जानता था, कि जिन हृदयोद्गारोंको मैं "बाईसवीं सदी", और "साम्यवाद ही क्यों ?"में प्रकट कर चुका हूँ, वह दिल अब भी मौजूद है। अभी मैंने बहुत जोर देकर अपनेको गरीबोंकेलिए लड़नेके क्षेत्रसे अलग रखा था, शायद ज्यादा दिनोंतक मैं वैसा न कर सकता था। १९२१-२२में जब असहयोगका खूब जोर था, तब भी मैं अपने मित्र नारायन बाबूसे कहा करता था, कि आप (कांग्रेस)-के राज्यमें भी न जाने कितनी बार मुझे जेल आना पड़ेगा। मैं भली भाँति जानता था कि जो आज मेरे सम्मानकेलिए होड़ लगा रहे हैं, मानपत्रपर मानपत्र दे रहे हैं, वही कार्यक्षेत्रमें आनेपर अपमानित करनेमें कुछ भी उठा न रखेंगे। मेरा यह मतलब नहीं, कि मेरे प्रशंसकोंमें सभी ऐसे निकले, कुछ तो सिर्फ इतना ही अफ़सोस प्रकट करते रहे, कि मैंने अपने उसी कामको क्यों नहीं जारी रखा। शायद उनको मालूम नहीं कि अबतक जितने हस्तलिखित महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंका फ़ोटो या कापी करके मैं ला चुका, वह छापनेपर ८०० सौ फ़ार्मसे कम न होंगे। छपाईकी बात तो अलग, अच्छी धुलाई न होनेके कारण उस समय बहुतसे फ़ोटो खराब हो रहे थे, लेकिन उनकी पर्वाह ऐसे ही लोगोंको थी, जो विद्वान् और विद्याप्रेमी थे, किन्तु पैसा उनके पास नहीं था।

कलकत्तामें मैं ५ दिन (१५-१६ नवम्बर) रहा। महामहोपाध्याय विधुशेखर शास्त्री, महामहोपाध्याय फणिभूषण, डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी आदि-आदि विद्वानोंसे विचार-विमर्श हुआ। हिन्दी साहित्यिकोंने स्वागत किया। क्षीरोद बाबू (क्षीरोदकुमार राय) मिले और अपने साथ एक दिन बेहाला ले गये। यह उनका आखिरी दर्शन था। एक सहृदय मित्रके नाते ही मुझे उनके वियोगपर अफसोस नहीं होता, बल्कि सबसे अधिक अफ़सोस इसलिए होता है, कि क्षीरोद बाबूकी प्रतिभाको अपना जौहर दिखानेका मौका नही मिला। जब जायसवालजीने उन्हें पटना म्यूजियमके क्यूरेटर होनेकेलिए जोर दिया, तो झट बंगाली, बिहारीका सवाल उठ गया, यदि वह बिहारी होते, तो फिर कायथ-भूमिहारका सवाल उठ जाता। एक तो हम ऐसे ही गुलाम हैं, दूसरे हमारा महासड़ा समाज ऐसा है, कि यहाँ ताज़ी हवामें साँस लेनेका अवसर ही नही मिल सकता। २० नवम्बर-को सवेरे ही मैं पटना पहुँच गया और २१ अप्रेल तक ५ महीने पटनामें रहा। बीचमें कुछ दिनोंकेलिए प्रयाग, बनारस, बलिया, छपरा गया था। इतने दिनों तक एक बार कभी पटनामें नहीं रहा। जायसवालजीके साथ रहनेका जैसे यह सबसे लम्बा समय था, वैसे ही आखिरी समय भी था। २२ नवम्बरको टौनहालमें काशी-वासियोंने मानपत्र प्रदान किया। २४ नवम्बरको वहींपर प्रोफेसर पुणताम्बेकरके सभापतित्वमें मुझे तिब्बत-यात्रापर व्याख्यान देना पड़ा। यात्राके सिलसिलेमें खान-पानका जिक्र आना ज़रूरी था। मैंने वहाँ याक्‌का मांस खाया था। याक् और गाय एक ही जाति हैं। यात्राके वर्णनमें इसका भी जिक्र आ गया। खैर, श्रोताओं-में किसीने इसपर आपत्ति नहीं की। आपत्ति करनेका सवाल क्या था, मैं तो आप बीती सुना रहा था, लेकिन पीछे कितने ही धर्मधुरन्धरोंने इसके विरुद्ध कलम उठाई। कुछ तो कहते थे—खाया सो खाया, लेकिन इसका यहाँ जिक्र क्यों करते हैं? मुझे यह कोई ठीक तर्क नही जँचा। हिन्दूविश्वविद्यालयके छात्रोंके सामने व्याख्यान देना पड़ा, वहाँ भी किसीकी निन्दाका ख्याल किये बिना मैंने अपने अनु-भवों और विचारोंको नवयुवकोंके सामने रखा। २८-३० नवंबरको सारनाथमें बौद्धोंका वार्षिकोत्सव था, मैं भी उसमें शामिल हुआ। हिन्दू विश्वविद्यालयमें पंडित सुखलालजी और पंडित बालकृष्ण मिश्रसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई, दोनों हीने संस्कृतके दर्शनका गम्भीर अध्ययन किया था, दोनों ही भली भाँति अनुभव करते थे, कि संस्कृतका दर्शन ब्राह्मण हो या जैन, तब तक नहीं लग सकता, जब तक कि उसकी सबसे महत्वपूर्ण कड़ी बौद्धदर्शनको नही समझा जायगा। बौद्धदर्शनके अधिकांश ग्रन्थ

बौद्धधर्मके साथ-साथ भारतसे लुप्त हो गए और अब वह फिरसे मिले हैं, यह उनकेलिए बड़ी खुशीकी बात थी। पंडित सुखलालजी तो दर्शन ही नहीं, दूसरे विषयोंमें भी बहुत उदारता रखते हैं।

पहिली दिसंबरको मैं पटना आगया था। जायसवालजी इधर अब अपने बचे समयका अधिकसे अधिक उपयोग ऐतिहासिक अनुसंधानमें करना चाहते थे। उन्होंने बड़ी गंभीरताके साथ सलाह करनी शुरू की थी, कि चलकर बनारसमें रहूँ, बिल्कुल साधारण तौरसे और सरलसे सरल जीवनमें। उन्होंने हिन्दूविश्वविद्यालयको भी लिखा था, लेकिन आदमीका मूल्य जीवनमें समाज बहुत कम लगा पाता है।

१५–१७ दिसंबरको बलियामें जिला साहित्यसम्मेलनका सभापति होकर मुझे जाना पड़ा। मैंने भाषा और साहित्यके बारेमें अपने विचार प्रकट किए। संस्कृत-कालेजमें मैंने तिब्बतमें प्राप्त संस्कृतके ग्रन्थोंके महत्वपर संस्कृतमें व्याख्यान दिया। आनंदजी भी बोले और इन पुस्तकोंके छपानेमें आर्थिक कठिनाइयोंका जिक्र किया। मुझे यह कुछ बुरासा लगा। मेरी उपस्थितिमें ऐसा कहना चन्दा माँगने जैसा मालूम पड़ रहा था। बलियामें मल्ली (भोजपुरी) भाषाके मौखिक साहित्यके संग्रहकेलिए एक उपसमिति बनाई गई। मैंने १९३२ में ही मातृभाषाओंके मौखिक साहित्यकी रक्षाकी ओर पाठकोंका ध्यान दिलाया था, लेकिन अभी उनके इस महत्वको नहीं समझ सका था, कि मातृभाषाओंको शिक्षाका माध्यम बनाना चाहिए।

२० दिसंबरको मैं पटना आया और तबसे लगातार ४ महीने वहीं रहा। इसी बार २६ दिसंबरको ब्रह्मचारी विज्ञानमार्त्तण्ड पटना आए। जायसवालजी उनकी विद्वत्ताको देखकर कितने प्रभावित हुए और सहायताकेलिए कितने तत्पर हुए थे, इसे मैं अन्यत्र लिख चुका हूँ। इस सालके हिंदी साहित्यसम्मेलनके सभापतित्वकेलिए मेरा भी नाम रखा गया था। बिहारमें तो मैंने अपने दोस्तोंसे कह दिया था कि मैं सम्मेलनके वक्त भारतमें नहीं रहूँगा, इसलिए मेरेलिए सम्मति न दें, और उन्होंने सम्मति नहीं दी। लेकिन, दूसरे प्रान्तोंने मेरे नामपर वोट दिया। यद्यपि श्रीजमुनालाल बजाज गाँधीजीका वरदान लेकर सभापति होनेकेलिए खड़े थे, और उनके चेलोंने जी तड़ाकर कोशिश की थी, तो भी उन्हें मुश्किलसे सफलता मिली। मुझे पता नहीं था, नहीं तो मैं अपने नामको वापिस ले लिए होता। पटनामें ज्यादा रहनेका कारण मेरा टॉनसिलका फिरसे उभड़ आने, फिर उसे आपरेशन करके निकलवा देनेके कारण हुआ। १९३४ में ही मैंने साल-भरकेलिए यह बीमारी पाल ली थी। ११ जनवरीसे ३१ जनवरी तक तो पिछले सालों जैसी चिकित्सा होती रही, और बीचमें कई दिन मैं अस्पतालमें रहा

डाक्टर हसनैनकी राय हुई कि इसको निकलवा देना चाहिए; लेकिन आपरेशन तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि टोनसिलकी जगह नीरोग न हो जाये। नीरोग करनेकेलिए मुझे पटनामें रहना पड़ा।

जनवरी (१९३७) के अन्तमें एसेम्बलीके चुनावोंका परिणाम निकलने लगा। ३ फर्वरीको मालूम हुआ कि बिहारके एसेम्बलीमें कांग्रेसके ९५ आदमी गए। यद्यपि पिछले १० सालोंसे मैं सक्रिय राजनीतिसे अलग था, तो भी मेरी सहानुभूति कांग्रेसके साथ थी—१९३१में कुछ दिनोंकेलिए मैंने ज़रूर कुछ सक्रिय भाग लिया था। जायसवालजीसे भारतीय राजनीति और साम्यवादपर अक्सर बात होती रहती थी। चुनावके दिनोंमें भोजपुरी और मगहीमें बहुतसी कविताएँ और गाने निकले थे, जिनमें किसानोंको सम्हलकर अपने हितको देखते हुए वोट देनेकी बात कही गई थी। मैंने ऐसी बहुतसी नोटिसोंको इकट्ठा किया था। मैं जायसवालजीको उन्हें सुनाता रहता था। जायसवालजीके जन्मके समय उनके पिता बहुत ग़रीब थे। चाचीकी नादिरशाहीके कारण उनकी माँको कई साल उपेक्षित रह नैहरमें दिन काटना पड़ा था। जायसवालजीका ननिहाल भी बहुत ग़रीब था। दूसरे लड़कोंकी देखादेखी वह भी मिठाई माँगते, तो उन्हें चनेके सत्तूमें गुड़ मिलाकर छोटी-छोटी गोलियाँ बनाके लड्डूके नामसे दी जाती थीं। जायसवालजी जब पक्के साहबी ठाटसे रहते थे, जब उनके यहाँ बैरा-खानसामा खाना बनाकर मेजको सजाते थे, तब भी उन्हें गुड़ मिला चनेके सत्तूका लड्डू भूलता नहीं था, और वह उसे बड़ी रुचिसे खाते थे। एक नई महत्त्वाकांक्षा, और उसीकेलिए स्वीकार किया गया नया जीवन, बचपनके उस जीवनको भुलवा देना चाहता था, लेकिन जायसवालजी उसे भूलनेको तैयार नहीं थे। उनका मिजाज कड़ा था। वह बड़े हठीले थे, यद्यपि मेरे सम्बन्धमें उनके मनका यह रूप कभी प्रकट नहीं हुआ। मैंने देखा था, उनका नेपाली रसोइया लछिमन खाना पकानेमें कोई गलती कर बैठा। जायसवालजी बहुत गुस्से हुए, और उसे फटकारने लगे। सब लोग जानते थे कि आज लछिमनकी साहेब खुशामद करेंगे। उन्होंने सिर्फ़ आँखोंसे आँसू भर नहीं बहाया, नहीं तो उन्हें अपने आचरणपर बहुत दुःख हुआ। उन्होंने लछिमनको बुलाकर कहा—देखो लछिमन ! मैंने बहुत बुरा किया, तुम मुझे माफ कर दो। फिर उसे क्या क्या इनाम-उनाम दिया। जाड़ेके दिनोंमें रातके वक्त वह चौबन्दी पहन लेते और ज़मीनपर आसन बिछा पलथी मारकर बैठ जाते, फिर उनकी कथा शुरू होती, जिसमें जुमई मेहतरसे लेकर घरभरके नौकर शामिल हो जाते। कभी भूतोंकी कथा शुरू होती थी। वह किसी वृक्षपर एक बड़े भूतको बतलाते,

नौकरोंमें किसीने पहिले भी इस कथाको सुना होता और अँधेरे-धुँधेरेमें कभी भय लगा होता, इसलिए उनमेंसे कोई अपनी आँखदेखी बातें कहने लगता, फिर उस रातको कितनोंको आँख खोलनी मुश्किल हो जाती। जुमईसे एक दिन वह आसमानमें एक सफ़ेद दाढ़ीवाले पुरुषकी बात बतला रहे थे। जुमईने कहा—हाँ भइया! मैंने देखा था, चाँदी जैसी सफ़ेद, लम्बी-लम्बी दाढ़ी फिर आगसा चमकता चेहरा...। जयसवालजीने बड़ी गम्भीरतासे कहा—'बस-बस जुमई! वही अल्ला मियाँ थे।' भूतोंके बारेमें वह लड़कपनसे ही बड़े निर्भीक थे। मिर्जापुरमें उनके घरके पास लोग जोग-टोन करके मिठाई, बकरा छोड़ आते। बालक काशीप्रसाद मिठाई हाथमें ले लेते और बकरेपर चढ़कर उसी रातको लड़कोंकी पलटन बटोरते और मिठाई बाँटकर खाते।

एसेम्बलीके चुनावका परिणाम निकला। हर जगह कांग्रेसने सरकारको करारी हार दी थी। जायसवालजी और मैं राजनीतिक वार्तालापमें एक दूसरेके पूरक हुआ करते। उन्हें आक्सफ़ोर्डमें पढ़ते वक्त साम्यवादकी हवा लगी थी। वह इतने खतरनाक समझे गये थे, कि विश्वास नहीं था, वह हिन्दुस्तानमें रहने पायेंगे। लेकिन धीरे-धीरे वह आग राखके नीचे दब गई। कुछ विद्या-व्यसन और कुछ आरामके जीवनने उन्हें ऐसा करनेकेलिए मजबूर किया। तो भी अपनेको दबा रखना उनकेलिए बड़ा मुश्किल था। १० दिनतक गौरांग प्रभुओंके सामने वह नम्रता और शिष्टाचार दिखाते, फिर अनुचित कोई बात आती, तो उबल पड़ते। ऐसे आदमीपर भला अँगरेज प्रभु क्यों विश्वास करने लगे? कांग्रेसके चुनाव और उस वक्तकी सर्वप्रिय गीतोंको देखकर उनको विश्वास हो चला कि अब यह शक्ति मैदानमें आ रही है, जिसमें क्रांति करनेकी क्षमता है। उन्होंने "माडर्न रिव्यू" और दूसरे पत्रोंमें उस वक्त कुछ लेख लिखे, जिसमें बतलाया कि अब पुरानी दुनिया नहीं रहेगी, शोषित पीड़ित मूक श्रमिक जनताने अँगड़ाई ली है। उन्होंने जमींदारीके ख़िलाफ़ लिखा था, इसलिये बिहारके बड़े-बड़े ज़मींदार बहुत रुष्ट हो गये। एक बड़े ज़मींदार-नेताने उनको धमकी दी, कि हम लोग आपका बायकाट करेंगे और मुकदमा नहीं देंगे। जायसवालजीने इसका बड़ा कड़ा जवाब दिया था। तरुणाईके बोये बीज अब फिर ऊपर उठते आ रहे थे।

डाक्टर स्चेर्बात्स्कीके पास मैंने कुछ पुस्तकोंके और विवरण भेजे थे। ८ फ़र्वरीको उनका पत्र मिला। उन्होंने मुझे रूस आनेकेलिए लिखा और यह भी कहा कि मैंने सोवियत सरकारसे वीसा भेजनेकेलिए लिखा-पढ़ी की है। दो दिन बाद डाक्टर योगीहारा (जापान)का पत्र आया, उन्होंने पुस्तकोंकी प्राप्तिपर बहुत सन्तोष

प्रकट किया था और योगाचार-भूमिको सम्पादित करनेकेलिए उत्सुकता दिखलाई। फ़र्वरीमें रातके ३-४ बजे तक जागते रहना मेरेलिए मामूली बात हो गई। इस समय "प्रमाणवार्तिकवृत्ति" (कर्णकगोमी) और दूसरे ग्रन्थ प्रेसमें थे। उनके प्रूफ़ोंको देखना पड़ता था। उधर "ईरान"पर एक पुस्तक लिख रहा था। तिब्बतमें प्राप्त पुस्तकोंका एक सविवरण सूचीपत्र भी बना रहा था। पटनाके विद्यार्थियोंके सामने भी कभी-कभी लेक्चर देनेकेलिए जाना पड़ता था।

अब टोनसिल ठीक हो गई थी। २० मार्चको मैं अस्पताल चला गया। २२को टोनसिल काटकर निकाली गई। डाक्टर हसनैन एक सिद्धहस्त शल्य-चिकित्सक थे यद्यपि टोनसिल इतनी खराब हो गई थी, कि जहाँसे पकड़ते वहींसे फुस-फुस निकल आती, लेकिन उन्होंने बड़ी सफलतासे आपरेशन किया। क्लोरोफ़ार्म सूँघनेपर मेरे मनकी जो हालत हुई, उसने प्रत्यक्ष दिखला दिया, कि यह शरीर आत्मासे बिल्कुल शून्य है, यहाँ जीवात्मा जैसी कोई चीज़ नहीं। १ बजकर ५ मिनटपर क्लोरोफार्मकी टोपी मेरे मुँहपर रखी गई। मालूम हुआ, पेटके भीतर कोई चीज भर रही है। फिर कलेजा हिलने लगा, पहिले धीरे-धीरे फिर वेग, तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम हो गया। जान पड़ा, अब वह शून्य हो रहा है। हाथ पहिले बेकाबू हो गये, कान कुछ देरतक जागता रहा, फिर कानोंमें आनेवाले शब्द विकृत होने लगे। अन्तमें शिरमें सिर्फ चेतना रह गई, और थोड़ी देरमें वह भी बुझ गई। मुझे समझमें आ गया, कि शरीर भी एक बहुत ही सूक्ष्म यन्त्रसा है। आपरेशन एक घंटे तक होता रहा, और ढाई बजे (क्लोरोफ़ार्म देनेसे १ घंटा २५ मिनट बाद) मुझे होश आया। २९ मार्चको मैं अस्पतालसे चला आया।

१० अप्रेलको मैं और जायसवाल डाक्टर बीरबल साहनीका व्याख्यान सुनने साइंस-कालेजमें गये। डाक्टर साहनीने पुराकल्पके वनस्पतियोंके बारेमें जादूकी लालटेनके साथ एक लेक्चर दिया। उसमें उन्होंने बतलाया कि कश्मीर-उपत्यकामें पुराने पत्थरके हथियार मिले हैं, और हिमालयके पार भी। उस वक़्त हिमालय इतना ऊँचा नहीं था, बहुत सम्भव है, पुराण पाषाणधारी मानव हिमालयके इस पारसे उस पार जाता रहा हो। व्याख्यान समाप्त हुआ। जायसवालजीने किसी पुराणका नाम लेकर कहा, यह बात वहाँ भी आई है। मैंने कहा—मनुष्यकी भाषा उस समय शायद इतनी विकसित नहीं थी कि उसकी अपनी इन यात्राओंका वर्णन अगली पीढ़ियों द्वारा हमारे पास पहुँचता। डाक्टर साहनी भी हमारे साथ जायसवालजीके घर भोजन करनेकेलिए जा रहे थे। उनसे पूछा गया, तो उन्होंने मेरी बातका समर्थन

किया। जायसवालजीको कितनेही विद्वान-ज़िद्दी कहते थे। लेकिन वह ज़िद वहीं करते थे, जहाँ बहुत विचार करनेके बाद उनके निर्धारित मतको कोई हल्के दिलसे उड़ा देना चाहता था। ब्राह्मी लेखोंके पढ़ने, मूर्त्तियोंकी विशेष-कालिकता आदि कितनी ही बातोंमें न जाने कितनी बार मैंने अपना मतभेद प्रकट किया होगा। वह तुरन्त स्वीकार तो नहीं करते थे, लेकिन तुरन्त विचार करने लगते थे और जान जानेपर अपनी ग़लतीको साफ़ प्रकट करते थे। उनकी बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी, और विचार करते वक़्त चित्तमें एकाग्रता ग़ज़बकी आ जाती थी। एक दिन वह चित्तकी एकाग्रताकी बड़ी तारीफ़ कर रहे थे। मैंने कहा—चित्तकी एकाग्रता बड़ी अच्छी है—लेकिन बाज़ वक़्त बड़े ख़तरेकी चीज है; मान लीजिये आप किसी पुराने शिलालेखको पढ़ रहे हैं, वहाँ कोई अक्षर बिल्कुल मिट गया है। चित्तपर आप बहुत ज़ोर देते हैं, और फिर मनमें बना हुआ अक्षर वहाँ पत्थरपर दीखने लगता है। उन्होंने कहा—ठीक है।

पहिली यात्रामें तिब्बतसे कनजुर और तनजुर ख़रीदकर लाया था, जो पटनामें रखे थे। रगून यूनीवर्सिटीने अपनेलिए एक कनजुर-तनजुर मँगा देनेकेलिए मेरे पास लिखा। मैंने लिखा कि नरथड़के कनजुर-तनजुर यहाँ हैं, आप चाहें तो ले सकते हैं, लेकिन यदि सुपाठ्य कनजुर-तनजुर चाहते हैं, तो देरगीसे मँगवाने होंगे, लेकिन उसमें समय लगेगा। उनको जल्दी थी, उन्होंने हमारे ही कनजुर-तनजुरको मँगा लिया। मुझे अब पटनाकेलिए सुपाठ्य कनजुर-तनजुरकी जरूरत थी। पिछली यात्रामें एक बहुत अच्छा कनजुर लाया था, मगर पैसा न होनेके कारण उसे कलकत्ता भेज देना पड़ा। अबकी मालूम हुआ, कि ल्हासामें नया कनजुर बना है। मैंने उसे भेजनेकेलिए लिख दिया। वह उसी साल आ गया। पीछे (१९४०) देरगीका कनजुर भी पहुँच गया। अब तिब्बतसे बाहर तिब्बती साहित्यका इतना अच्छा संग्रह और कहीं नहीं है, जितना कि बिहार रिसर्च सोसाइटीमें रखा मेरा संग्रह।

डाक्टर श्चेर्बात्स्की मुझे सोवियतमें बुलानेकेलिए प्रयत्न कर रहे थे। यदि जुलाईसे पहिले मुझे भारत छोड़ना रहता, तो युरोप-यात्राके वक़्त लिया गया मेरा पासपोर्ट काफ़ी था। किन्तु यह कोई ठीक नहीं था, कि तबतक सोवियत वीसाकी ख़बर आ जाय, इसलिए ज़रूरी था, पासपोर्टकी मियाद ५ साल और बढ़वा दी जाय। मैंने १७ अप्रैलको बिहार-सरकारके पास इसकेलिए दरख़्वास्त दे दी। पीछे जायसवालजीने भी सरकारके पूछनेपर लिख दिया कि वह केवल अनुसन्धान कार्यकेलिए जा रहे हैं। बोलशेविकोंका रूस ख़तरनाक मुल्क है, १९४०में मैत्रीके ज़मानेमें

भी पासपोर्ट देनेका अधिकार भारत-सरकारने अपने हाथमें रखा है, तो उस वक्तकी तो बात ही क्या? बिहार-सरकारने मेरी दरख्वास्त भारत-सरकारके पास भेज दी। अपने प्रूफके कामकेलिए मैं २२ अप्रेलको प्रयाग गया। डाक्टर बद्रीनाथप्रसाद और पंडित उदयनारायण त्रिपाठीके घर यही दोनों मेरे ठहरनेके अड्डे थे। मैं डाक्टर बद्रीनाथके यहाँ ठहरा था। २३को पंडित मोहनलाल नेहरूने मुझे एक व्याख्यान देनेकेलिए कहा। पंडित जवाहरलालजीने मिलनेकेलिए बुलाया। बड़े आदमियोंसे अलग रहना—मेरा कुछ स्वभावसा हो गया है। पिछले वर्षकी बात है, ब्रह्मचारी गोविन्द (जर्मन) आनन्दभवनमें ठहरे थे। एक दिन मैं उनसे मिलने गया। मेरे साथ चित्रकार पंडित शम्भूनाथ मिश्र भी गये थे। उन्होंने श्री विजयलक्ष्मी पंडितसे मिलना चाहा, और मुझसे पूछे बिना ही मेरा भी नाम लिखकर पुर्जी भेज दी। उन्होंने मिलनेसे इनकार कर दिया। मुझे मालूम हुआ, तो शम्भूनाथसे नाराजी तो जाहिर की, साथ ही विजयलक्ष्मी जीके इस आचरणपर मुझे बहुत खेद हुआ। जवाहरलालसे मिलनेका मुझे कोई काम नहीं था, इसलिए मैंने पत्रवाहकसे जवाहरलालजीके यहाँ जानेमें अपनी असमर्थता प्रकट की। मैंने उस दिन (२३ अप्रेल)की डायरीमें लिखा था—"शामको पंडित जवाहरलालजीकी ओरसे श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडितने कल १० बजे दिनका निमंत्रण भेजा। विजयलक्ष्मीजीका नाम सुनते अनिच्छा हो आई। पिछले वर्ष शम्भूनाथ मिश्रने ग़लतीसे मेरा नाम अपने साथ रखकर भेंटकेलिए पुर्जा भेजा। मैं तो ब्रह्मचारी गोविन्दसे मिलने गया (था)। उसका इनकारमें उत्तर पाकर मुझे अफसोस हुआ। आज वही भाव जाग्रत हो आये। मैंने कल आनेकी अस्वीकृति ही नहीं दे दी, बल्कि जवाहरलालजीका ख्याल करके भी उधर जानेके प्रति विरोधी इच्छा हो रही है। नामकी निस्सारता मुझे खूब मालूम है। काल—अनन्त संवत्सरोंका समूह—दो हजार वर्षोंतक भी हमारे नामको ढो नहीं सकता।"

अगले दिन शामके वक्त पं० जवाहरलालजीका फिर पत्र आया कि (आपको) अवकाश न मिलनेपर हम खुद आयेंगे। बीमारीसे अभी वह हाल हीमें उठे थे, इसलिए उनको कष्ट देना मैंने उचित नहीं समझा। दूसरे दिन मैं आनन्दभवन गया। अधिकतर तिब्बत-यात्राके सम्बन्धमें बातें होती रहीं। उन्होंने पूछा—तिब्बतमें कोई साइंस-सम्बन्धी पुस्तकें भी मिली हैं? मैं समझता हूँ कि आयुर्वेद और आयुर्वेदिक-रसायन भी आरम्भिक साइंसकी चीजें हैं, इसलिए मैं उनका नाम ले रहा था; इसी समय कृपलानीजी टपक पड़े। उन्होंने समझा कि पीले कपड़ेवाला साधू क्या अनाप-शनाप बक रहा है। उन्होंने मुझे समझाना चाहा कि साइंस किसे कहते हैं।

मन तो आया, कि कोई उसी तरहका जवाब दूँ, किन्तु कृपलानीसे यह पहिली ही बार साम्मुख्य हुआ था, इसलिए मैं चुप रहा।

२. लाहुलमें दूसरी बार—अभी सोवियतके बीसाका पता नहीं लगा। गर्मी आ गई थी। गर्मीमें इधर कई वर्षोंसे मैं अपने कामके सिलसिलेमें ठंडे मुल्कोंमें चला जाया करता था, इसलिए सोचा अबकी लाहुल क्यों न चले चलें। ठाकुर मंगलचन्द और कलाकार रोइरिकके निमंत्रण भी आ गये थे। रूसके बारेमें जबतक कोई निश्चय नहीं हो जाता, तबतक मैं दूर जाना पसन्द नहीं करता था। मैं और आनन्दजी लाहुलकेलिए चल पड़े। दिल्ली होते लाहोर पहुँचे। लाहोरमें ७ मईको लाजपत-राय-हालमें "तिब्बतमें तीन बार"पर एक व्याख्यान देना पड़ा। यहाँ एक सज्जन आग़ा मुहम्मदअली शाहसे मुलाकात हुई। उन्होंने कहा, मेरे पास कुछ बहुत पुरानी भोजपत्रपर लिखी बौद्धपुस्तकें हैं, आप उन्हें देखिये। अगले दिन मैं उनके घरपर गया। उनके पास दो भोजपत्र और एक काग़ज़पर तीन पुस्तकें और कुछ मिट्टीकी मुद्राएँ थीं—२५ इंच लम्बे ५ इंच चौड़े दो सौ पत्रे (भोजपत्र) महावस्तुके थे, लिपि शारदा थी। यह "महावस्तु" (विनय)की खंडित पुस्तक थी, बाकी दो पुस्तकें भी ७वीं सदीके आसपासकी थीं। उन्होंने बतलाया कि यह चीज़ें उन्हें किसी पेशावरीसे मिली। वह आदमी इन्हें लालकाफ़िरोंके प्रदेश (चितराल और अफ़ग़ानिस्तानके बीच)से लाया था। उस जगह पत्थरकी बड़ी बुद्धमूर्ति (ध्याना-वस्थित) है। खोदनेपर वहाँसे एक मिट्टीका कुसूल (कोठिला) निकला। उसी में तीनों पुस्तकें और कुछ मिट्टीकी मूर्त्तियाँ मिलीं। गुणाढ्य, अश्वघोष, आदि कितने ही बड़े-बड़े विचारकोंके ग्रंथ आज हमें प्राप्य नहीं हैं। उनमेंसे बहुतसे सदाकेलिए लुप्त हो गये होंगे, लेकिन गिलगित, काफ़िरिस्तान, गोबी मरुभूमि, और तिब्बतके भंडारों तथा स्तूपोंमें हमारे साहित्यके न जाने कितने अनमोल रत्न अभी भी छिपे पड़े हैं? आग़ा मुहम्मदअली कुछ सौ रुपयोंमें पुस्तकें देनेकेलिए तैयार थे, मैंने दो-चार जगह चिट्ठी भी लिख दी, लेकिन मालूम नहीं किसीने उन पुस्तकोंको लिया या नहीं।

लाहोरसे हम दोनों अमृतसर-पठानकोट होते जोगिंदरनगर पहुँचे, फिर मण्डीकी लारी मिली। रास्तेमें पहाड़की घुमघुमौआ चढ़ाईमें आनन्दजी तथा दो-एक सहयात्रियोंको कै हुई। इस रातको हमें मंडीमें रहना पड़ा। अगले दिन कुल्लू (अखाड़ाबाज़ार) पहुँच गये। ठाकुर मंगलचंद यहाँ मौजूद थे। मैंने इसकी यात्रा-केलिए जहाँ-तहाँसे ७०० रुपये जमा किये थे। ६०० रुपये मैंने यहीं कुल्लूके गेसिंग

बैंकमें जमा कर दिये। १२ मईको आनन्दजी और मैं नगर गये। कटराईतक लॉरीसे जाकर नदी पार हुए। दो मीलकी चढ़ाईके बाद नगर मिला। यहाँ शाङ्रीके राजाका महल है, जो अब डाकबँगलेके रूपमें परिणत हो गया है। गर्मियोंमें असिस्टेन्ट कमिश्नर यहीं रहते हैं—मिस्टर शटलवर्थने न जाने कितनी गर्मियाँ यहाँ बिताई होंगी। कुछ दूर और ऊपर चढ़कर हम उरुस्वती पहुँचे। प्रोफ़ेसर रोइरिक और उनके दोनों पुत्र जार्ज, और स्वेतस्लाव मिले। जार्ज भोटभाषाके अच्छे पंडित हैं, और उनके छोटे भाई अच्छे चित्रकार। यहाँ पुस्तकोंका भी अच्छा संग्रह है। रहनेका आग्रह था, किन्तु अभी तो हमें लाहुल जाना था, इसलिए दो दिन रहकर हम कुल्लू चले आए।

नारायण (जायसवाल-पुत्र)के पत्रसे मालूम हुआ, कि जायसवालजीको फोड़ा हो गया है और उसका आपरेशन हुआ है। २१ अप्रेलको जब मैं पटनासे चला, तो उस वक्त जायसवालजीके गर्दनपर जरासी फुसी हुई थी, और उसपर वह पानीकी पट्टी बाँध रहे थे। मुझे यह ख्याल नहीं हो सकता था, कि उसी फुसीने इस फोड़ेका रूप धारण किया है। पत्रमें कोई भयकी बात नहीं थी। हम लोग १७ तक कुल्लू हीमें रहे। शामको नदी पार हो ऊपरकी ओर कुछ दूरतक हम दोनों टहलने जाया करते थे। उस वक़्त बगूगोशे (चेरी)के फल पके हुए थे। एक दिन हम एक बाग़में गये, वहाँसे कुछ फल खरीदकर खाना चाहते थे, किन्तु बाग़के मालिक ब्राह्मणने अपने घरमें ले जा ताज़े बगूगोशे तोड़कर खिलाये। बड़े संकोचके साथ हम दाम देने लगे, लेकिन वहाँ लेनेकेलिए कौन तैयार था?

१८ मईको ठाकुर मंगलचंदके साथ हम उनके बँगले हरिपुरमें गये। मनाली यहाँसे डेढ़ मील रह जाता है। जमीन बहुत है। लेकिन उन्होंने थोड़े ही हिस्सेमें बाग लगाया है। मकान पुराना है, लेकिन ठाकुर साहबने उसमें थोड़ा परिवर्तन करके कुछ नये ढंगका बना लिया है। चारों तरफ़ बड़ा सुन्दर प्राकृतिक दृश्य है। मालूम हुआ, पासके गाँवमें कोई पुराना मन्दिर है। शामको हम उधर गये। पहाड़की जड़में कार्त्तिकेयकी मूर्त्ति है। कई पुरानी मूर्त्तियाँ हैं, लेकिन कलाकी दृष्टिसे अच्छी नहीं। गुप्तकालमें भी ऐसा थोड़ा ही रहा होगा, कि देशमें सभी जगह सभी कलापूर्ण मूर्त्तियाँ ही बनती हों। यहाँके देवताके अपने खेत हैं, जिससे काफ़ी आमदनी होती है। देवता एक बूढ़े आदमीके सिरपर आता है—उसे ओझा कह लीजिए, किन्तु यहाँ गुर कहा जाता है। गुर भूत भविष्य सब जानता है। मैंने कहा—अच्छी बात है, हम भी गुरसे कुछ पूछते हैं। बूढ़ा गुर बैठ गया। थोड़ी देरमें देवता भी आ गया। मैंने पूछा—

पहाड़से कितने ही पत्थर आ गिरे। संयोग था जो हम आगे निकल गये थे। मैदानसे भी अधिक खतरा इन पहाड़ोंमें है—मानवजाति खतरोंमें ही पलकर तो बड़ी हुई है। गूँदलासे मैं अकेला था। साढ़े तीन बजे खोकसर पहुँचा। अगले दिन (१० जून) खोकसर हीमें रहना पड़ा। रातभर और दिनके ९ बजेतक वर्षा होती रही। यहाँ वर्षा होनेका मतलब था, रुटङ्‌जोतपर बर्फ़का पड़ना। जबतक रास्तेके बारेमें ठीक पता न लग जाय, तबतक आगे बढ़ना अच्छा नहीं था।

नगरमें (११-२५ जून)—अगले दिन सवा पाँच बजे रवाना हुए। चढ़ाईमें बर्फ़ १ मीलसे भी कम रह गई थी। सवा दो घंटेमें जोतपर पहुँच गये। आँगनमें बर्फ़ काफ़ी थी। ३ बजेतक मनाली पहुँच गये। नारायणकी चिट्ठी मिली—घाव भर रहा है, लेकिन बुखार अब भी है। उरुस्वतीकी मोटर पहुँची हुई थी। आधे घंटेमें कटराई पहुँच गये और ५ बजे उरुस्वती। दो हफ़्ते रोइरिक-परिवारके साथ रहनेका मौका मिला। क्रान्तिके पहिले रोइरिक-परिवार रूसका एक धनी जमींदार-परिवार था। क्रान्तिके कारण दूसरे ज़मींदारों और पूँजीपतियोंकी तरह इनकी भी जायदाद जब्त हो गई और कलाकार रोइरिक रूससे बाहर निकल गये। आजकल उनका परिवार अमेरिकन प्रजा है। आज भी उनके पास लाखोंकी सम्पत्ति है। मैं समझता था सफ़ेद-रूसियोंकी भाँति यह लोग भी सोवियत-विरोधी होंगे, लेकिन मेरी धारणा ग़लत निकली। सोवियत्-रूससे उनको उतना ही प्रेम है। उस वक्त कुछ रूसी उड़ाकोंने उत्तरी ध्रुवके रास्ते अमेरिकाकी यात्रा की थी। सारी दुनियाने उनकी यात्राका स्वागत किया था। रोइरिक-परिवारके आनन्दकी कोई सीमा नहीं थी। वृद्धा रोइरिक तो और भी मृदुस्वभावकी है, वह अधिकतर योग-ध्यानमें रहती हैं। योगध्यानके प्रति मेरी तो कोई श्रद्धा नहीं है, किन्तु मैं उनके मधुर बर्तावसे अवश्य प्रभावित हुआ। प्रोफेसर रोइरिक डाक्टर श्चेरबात्स्कीके घनिष्ट मित्र थे। लेनिनग्राद्‌में बौद्ध-विहार स्थापित करनेमें दोनोंने बड़ा काम किया था। उन्हें मालूम हो गया था कि मैं रूस जानेवाला हूँ, इसलिए उनकी पुरानी स्मृतियाँ ताज़ी हो गईं।

यहाँ रहते हुए मैं जार्जसे रूसी पढ़ता, वह इन्दो-यूरोपीय भाषातत्त्वके पंडित हैं, इसलिए उनके साथ रूसी पढ़नेमें बड़ा आनन्द आता था। जार्जने एक बड़ा ...-कोष तैयार किया था। मेरे अपने भोटसंस्कृतकोशमें कितने ही नये शब्द ...लिए हम दोनों कोषोंको मिलाते जाते थे, और वह अधिक शब्दोंको नोट कर ...। मैं लाइब्रेरीवाले घरके कोठेपर रहता था, जो कि परिवारके बँगलेसे कुछ

सौ गज़ ऊपर था। इसकी चारों तरफ़ बड़े-बड़े देवदारोंका घना जंगल था। दुतल्ला मकान भी देवदारकी लकड़ीका ही बना था, जिधर देखें, उधर देवदारकी सुई जैसी हरी-हरी पत्तियाँ दिखलाई पड़ती और साँसमें हर वक्त देवदारकी सुगन्धि आती थी। मैं देवदारकी भूमिमें नहीं पैदा हुआ, लेकिन न जाने क्यों वह मुझे इतना प्रिय मालूम होता है। मैं उसे प्राकृतिक सौन्दर्यका मानदंड समझता हूँ। यहाँ मैं देवदार-वनका एक अंग बन गया था। दोपहरको खाने तथा बादमें रूसी-पाठ, कोप-मिलान और चाय-पानकेलिए नीचे जाता था, बाकी २० घंटे यहाँ, इस कोठेपर। पुस्तकालयमें फ्रेंच और इंगलिशकी बहुतसी पुस्तकें और अनुसन्धान-पत्रिकाएँ थीं। वहाँ पढ़नेमें बड़ा आनन्द आता था। चारों तरफ़के जंगलमें चीते आते रहते थे। यद्यपि इस ऋतुमें वह नीचेकी ओर नहीं दिखाई पड़ते थे। पहिले चीता मारनेका इनाम मिलता था, अब वह बंद हो गया था, जिससे चीतोंकी संख्या बढ़ गई थी। बागोंमें फल खानेके लिए रातको रीछ भी आते थे।

३—जायसवाल मृत्युशय्यापर—२५ जूनको डाक्टर श्चेरबात्सकोीके दो पत्र आए; जिनमें लिखा था कि वीसाकी कोई बात नहीं, आनेका समय लिखनेपर प्रबन्ध हो जायगा। उसी दिन चेतसिंहका तार मिला—"Condition unchanged your presence required" (अवस्था नहीं बदली, आपका रहना जरूरी है)।

अगले दिन (२६ जून) साढ़े ४ बजे सवेरे मैं नगरसे रवाना हुआ। पुल पार हो मोटर पकड़ी। साढ़े ५ बजे कुल्लू पहुँचा, वहाँसे लारी मिली। ४ बजे जोगिन्दर नगर पहुँचा और लाहौर होते २६ जूनको सवेरे ५ बजे पटना पहुँच गया। ३० जुलाई तक यहीं रहना पड़ा। इस समय होमियोपैथीकी दवा हो रही थी, किन्तु साथ ही इनसोलिन और ग्लूकोस भी दी जाती थी। पहिलेकी अवस्थाको तो मैंने देखा नहीं था, बतला रहे थे कि सारा शरीर और मुँह फूल गया था। घाव अब भी बहुत बड़ा था, सूजन हट गई थी। घाव थोड़ा भरा था और ज्वर १०० डिग्री था। लेकिन अब मुझे जायसवालजीको स्वस्थ-मस्तिष्क रूपमें देखनेका मौक़ा नहीं मिल रहा था। उनकी मानसिक वृत्तियाँ विशृंखलित थीं। बीच-बीचमें स्मरणशक्ति बिखर जाती थी। पासपोर्ट ५ वर्षकेलिए फिरसे नया होकर चला आया था। अगले दिन (३० जून) इन्सोलिन्का इंजेक्शन बड़ी मुश्किलसे दिया जा सका। घावमें पीब ज्यादा थी। दिमाग अर्धप्रमत्त अवस्थामें था। बोलते अधिक थे। निर्बलता बढ़ गई थी।

७ जुलाईको समाचार मिला, कि कांग्रेसने मंत्रिपद स्वीकार कर लिया। जायस-

बाबूजीने कईबार इसके बारेमें पूछा और खबर सुनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। ८ जुलाईको लदाखसे पत्र आया, कि गर्मियोंमें यारकंद (चीनी तुर्किस्तान)का क़ाफ़िला जायगा। अगले दिन (९ जुलाई) क्योदोसान (जापान)का पत्र आया, उन्होंने जापान आनेकेलिए निमंत्रण दिया था। अब रूस, यारकन्द, जापान और तिब्बत चार जगहें थी, जहाँ मैं जा सकता था। लेकिन अभी तो जायसवालजीकी बीमारीको देखना था। उसमें कोई सुधार नहीं हुआ। उन्होंने उस दिन न घाव धुलवाया न इंजेक्शन लिया। दिनभर यही धुन रही, कि मुझे कांग्रेसके जुलूसमें ले चलो। खादीका अचकन और पाजामा पहिना, और जबर्दस्ती अपनी चारपाईको उठवाकर बरसातीमें ले गये। दिनभर वहीं पड़े रहे। एक ओर कमजोरी बढ़ती जा रही थी, दूसरी ओर वह बोलते बहुत थे। वह मस्तिष्क जो गम्भीरता और सूक्ष्मतामें लासानी था, अब ५ बरसके बच्चोंकी तरहका हो गया था। दवा लेनेसे भी इनकार करते थे, घाव भी नहीं धुलवाना चाहते थे। मैंने उनके जीवनपर एक दृष्टि डालते हुए १२ जुलाईको लिखा था—"जायसवाल विद्यामें, लिखने-बोलनेमें प्रवीण रहे वह राजनीतिसे अलग रहे। इतना होते हुए भी वह हाईकोर्ट-जज या किसी दूसरे पदपर क्यों नहीं गये? किसी समय वह अधिकारियोंको भले ही प्रसन्न करना चाहते हों, किन्तु खुशामद उनके स्वभावमें नहीं थी? स्वाभिमानकी मात्रा बहुत अधिक है। गर्म मिजाज है। अच्छी प्रैक्टिस होनेपर भी रुपया नहीं जमा कर पाये, क्योंकि मितव्ययिता जानते ही नहीं। घरपर, घरके सामानोंपर, लड़कोंपर, यार-दोस्तोंपर आँख मूँदकर खर्च करते रहे।"

इन्हीं दिनोंमें कालेजके विद्यार्थी अलीअशरफ़से भेंट हुई। पीछे तो वर्षों हमें जेलमें साथ रहना पड़ा। बाहर साथ-साथ काम करना पड़ता था। अशरफ़ने "साम्यवाद ही क्यों?"का उर्दूमें अनुवाद करना शुरू किया था।

पंडित रामावतार शर्माका दर्शन विद्यार्थी-अवस्थामें बनारसमें हुआ था। उसके बाद भी दो-एक बार भेंट हुई थी। जब मैं बिहारमें राजनीतिक काम करने लगा, उस वक्त तो कई बार मुलाक़ात होती। वह कितने ही बार मुझे राजनीति छोड़ अनुसन्धान-क्षेत्रमें आनेकेलिए कहते थे। अनुसन्धान-क्षेत्रमें आया और फिर पटनामें भी आड़ेमें रहने लगा; लेकिन जब मैं तिब्बतमें पहिली बार गया था, उसी वक्त (३ अप्रैल १९२९) उनका देहान्त हो गया—उनका जन्म १८७७ ई०में हुआ था। वह जब जीवित थे, तब मैंने उनके "संस्कृतकोष"को जहाँ-तहाँ सुना था। २१ जुलाईको मैं उनके घरपर गया। कोषको देखा ६०१ पृष्ठमें प्राय: ६ हजार

श्लोकोंमें अकारादि-क्रमसे उन्होंने इस कोषको वद्ध किया है। श्लोकमें आये शब्दोंका विस्तार उन्होंने कई जिल्दोंमें लिखा था। मुखबन्धके श्लोक हैं—

> श्रीदेवनारायणशर्मणः श्रीगोविन्ददेव्याश्च महामहिम्नोः,
> प्रणम्य पित्रोश्चरणाम्बुजाते आचार्य गंगाधरशास्त्रिणश्च।
> रामेण सारंगभवोद्भवेन काश्या यदारम्भि महाभिधानम्,
> समापितं तत् किल विश्वविद्यासर्वस्वमेतत् कुसुमाख्यपुर्याम्॥

पंडित रामावतार शर्मामें अप्रतिम प्रतिभा थी, लेकिन उनका मन कभी स्थिर होकर एक काममें नहीं लग सकता था; नहीं तो न जाने उन्होंने कितने ग्रंथ रचे होते। यही एक ग्रंथ है, जिसके श्लोक भागको उन्होंने समाप्त किया था, लेकिन वह अब भी अप्रकाशित है।

२५ जुलाईको मालूम हुआ कि जायसवालजीकी पीठपर दो जगह और फोड़े हो गए हैं। अभी तो एक फोड़ेने ही प्राणोंको संकटमें डाल दिया था, अब क्या आशा हो सकती थी?

काश्यपजीका तार आया था, इसलिए ३० जुलाईको मैं सारनाथ गया। इस वक्त सारनाथमें एक हाईस्कूलकी बात चीत हो रही थी। बनारस संस्कृतकालेजके पाठ्य-विधानमें भी परिवर्तन करनेकी जरूरत थी। युक्तप्रान्तमें काँग्रेसने मंत्रिमंडल सँभाल लिया था। मुझे प्रयाग होते हुए लखनऊ जाना पड़ा। वहाँ शिक्षामंत्री पंडित प्यारेलालसे बातचीत हुई। उनसे दोनों संस्थाओंके बारेमें बातें कीं। प्रान्तके कितने ही परिचित उस समय लखनऊमें थे, लेकिन मुझे तो पटना जानेकी फिक्र पड़ी थी। ४ अगस्तको साढ़े ५ बजे शामकी गाड़ीसे मैं रवाना हुआ, और अगले दिन (५ अगस्त) को पौने ५ बजे सवेरे पटना उतरा। पटना जंकशनसे जायसवालजीका घर बिल्कुल नजदीक है। कुलीके साथ वहाँ पहुँचा। कुलीने बरसातीके बाहर बाँसकी अर्थी पड़ी देखकर कहा "यहाँ तो अर्थी है"। देखते ही दिल सन्न हो गया। आखिर वह अत्याहित होकर ही रहा। मालूम हुआ, कल (४ अगस्त) सवा ६ बजे शामको जायसवालजीने प्रयाण कर दिया। ३ जहरवादोंने जीवनको समाप्त कर दिया। बतला रहे थे, स्मृति अन्त तक कायम रही। लेकिन वह स्मृति वही रही होगी, जिसे मैं देखकर गया था। मैंने अपने हृदयोद्गारोंको ५ अगस्तकी डायरीमें लिखा था—"हा मित्र! हा बंधु! हा गुरो! अब तुम मना करनेवाले नहीं हो, इसलिए हमें ऐसा-वैसा कहनेसे कौन रोक सकता है। हो सकता है तुम कहते—हमने भी तो आपसे सीखा है, किन्तु

तुम नहीं जानते (कि) मैंने कितना तुमसे सीखा है। इतनी जल्दी प्रयाण ! अभी तो अवसर आया था, अभी तो तुम्हारी सेवाओंकी इस अभागे देशको बहुत जरूरत थी। आह ! सभी आशाएँ खाकमें (मिल गईं) !! जायसवाल ! ओः ऐसा !! दुनियाकेलिए (कुछ) करना ही होगा, तुम्हारे बहुतसे स्नेहभाजन थे, मैं भी उनमें एक था। समय दूसरोंके दिलसे वियोगके दुःखको क्षीण भले ही करता जायगा, किन्तु स्मृति उसे दिनपर दिन ताजी करती जायगी, तुम्हारा वह सांगोपांग भारतका इतिहास तैयार करने और साम्यवादकेलिए मैदानमें कूदनेका ख्याल !! हा ! वंचित श्रमिकवर्ग !! सहृदय मानव ! निर्भीक अप्रतिम मनीषी ! दुनियाने तुम्हारी कदर न की" !!

साढ़े ८ बजे श्मशान-यात्रा आरंभ हुई, मैंने भी अर्थीमें कंधा लगाया। राजेन्द्रबाबू, कांग्रेस-मंत्री डाक्टर महमूद और अनुग्रह बाबू, हाईकोर्टके जज और कितने ही मंत्री श्मशान तक गए। गंगाके किनारे चिता चिनी गई, और साढ़े ११ बजे तक शरीर जलकर राख हो गया, राख गंगामें बहा दी गई, अब मेरा हृदय खाली था।

२,३ दिन तक मैं जायसवालजीकी चिट्ठियोंमेंसे कितने ही महत्त्वपूर्ण पत्रोंको छाँटनेमें लगा था। मैं उनकी एक जीवनी लिखना चाहता था, लेकिन उस वक्त वह काम नहीं हो सकता था।

३ सितम्बरतक पटना हीमें रहा। १६ अगस्तको डाक्टर श्चेरबात्सकीका पत्र आया। उसमें लिखा था कि तेहरानमें मेरा वीसा तैयार है। अब रूस जाना निश्चित था। कुल्लूसे सेविंग बैंकका रुपया मँगवाया। ३० अगस्तको यह भी मालूम हुआ, कि बिहार सरकारने तिब्बत जानेकेलिए ६ हजार रुपया मंजूर किया है। लेकिन अभी तो पहिले रूस हो आना जरूरी था। पटनामें रहते हुए मैंने "गाधीवाद और साम्यवाद", "दिमागी गुलामी", "जमीदारीप्रथा" आदि कई लेख लिखे।

बनारस होते हुए ४ सितम्बरको प्रयाग पहुँचा। यहाँ कालेजके छात्रोंने व्याख्यान देनेकेलिए जोर दिया। पहिला व्याख्यान ६ सितम्बरको विश्वविद्यालयके छात्रोंके सामने पंडित जवाहरलालके सभापतित्वमें "हमारी कमजोरियों"पर हुआ। दो और व्याख्यान हुए।

मेरे पास अभी सात-आठसौ ही रुपये थे, प्रयागमें कुछ और रुपयोंका इन्तजाम हुआ, जिसमें १०० रुपया पंडित जवाहरलालजीने दिये। उनसे रुपया लेना मुझे ठीक नहीं जँचता था, लेकिन इनकार भी नहीं कर सकता था। ११ बजे दिल्ली पहुँचा। पासके रुपयोंको देकर टामस कुकसे ६० पौंडके ट्रेवलर्स-चेक लिये। मुझे ईरानके

रास्ते जाना था, और ईरान-कौंसल उस समय शिमलामें था। मैं उसी रात शिमलाके लिए रवाना हो गया। १२ सितंबरको शिमला पहुँचा। रायबहादुर काशीनाथ दीक्षित और मिस्टर एन्० सी० मेहता के यहाँ ठहरा। विपिन बाबू एसेम्बलीकी बैठककेलिए शिमला आये हुए थे, उन्होंने भी कोशिश की और १४ सितम्बरको ईरानका वीसा मिल गया। दूसरे दिन मैं दिल्ली पहुँचा। अभीतक मेरे पास सिर्फ़ ६० पौंड थे, जो पहलवी पहुँचकर ४० पौंड ही रह जाते। इसके बारेमें मैंने अपने विचारको लिखा था—"अच्छा, अँधेरेमें कूदनेकी तो अपनी आदत ही है।" प्रयागसे कुछ और रुपया आ गया और मैंने ४० पौंडके और चेक ले लिये। अब मेरे पास सौ पौंड और एक सौ अस्सी रुपये थे।

१७ तारीखको मैंने दिल्लीसे प्रस्थान किया। १९ सितम्बरको ट्रेन साढ़े १ बजे क्वेटा पहुँची। होटलकी तजवीज ही कर रहा था, कि उसी समय दो आर्यसमाजी सज्जन आ गये। उन्हें पंडित इन्द्रने दिल्लीसे लिख दिया था। आर्यसमाजमें गया। भूकम्पसे उजडा क्वेटा बस रहा था। दूकानें बहुतसी बन गई थी, किन्तु शहर अभी आबाद नहीं हुआ था। यहाँ आसपास बाग बहुत हैं, पानी मीठा और बहुत अच्छा है। ईरानी ढंगकी जमींदोज नहरें भी निकाली गई हैं।

उस वक़्त क्वेटासे नोक्कुण्डीको हफ़्तेमें सिर्फ एक ट्रेन जाती थी और सो भी सोमवारको।

२० सितम्बरको हमारी ट्रेन साढ़े ११ बजे दिनको रवाना हुई। साढ़े ११ रुपये में नोक्कुण्डीका ड्योढ़ेका टिकट मिला। हमारे डिब्बेमें सरदार रामसिंह एक दूसरे सज्जन भी ईरानकी सैरकेलिए जा रहे थे। यह गाड़ी सिर्फ़ मुसाफ़िरों हीकेलिए नहीं थी, बल्कि रास्तेमें रेलवे नौकरोंको वह रसद, तनख्वाह और पानी भी देती चलती थी। हर लांडी (कुलियोंकी बैरक)में उसे ठहरना पड़ता था। दालबन्दीसे पहिलेवाला स्टेशन एक सौ मीलसे ऊपर है और दालबन्दीसे अगला नोककुण्डीका स्टेशन भी १०० मीलसे ऊपर है। गाड़ी भी धीरे-धीरे चलती है। २१ तारीखको ढाई बजे दिनको हम नोक्कुंडी पहुँचे। पासपोर्ट देखा गया। पचीस रुपये देकर पचीस तुमान भुनाये। कुछ चीजें खरीदीं। ६ रुपया जाहिदानका किराया देकर लारीपर बैठे। दो बजे रातको एक खाली लांडीमें सो गये। सवेरे ७ बजे फिर रवाना हुए। अँगरेजी सीमान्त-चौकी, किला-सफेद ३ मील रह गया, तो पेट्रोल खतम हो गया, लारी वहीं खड़ी हो गई। टहलते हुए चौकीपर पहुँचे। पासपोर्ट दर्ज किया गया।

तुम नहीं जानते (कि) मैंने कितना तुमसे सीखा है। इतनी जल्दी प्रयाण! अभी तो अवसर आया था, अभी तो तुम्हारी सेवाओंकी इस अभागे देशको बहुत जरूरत थी। आह! सभी आशाएँ खाकमें (मिल गईं)!! जायसवाल! ओः ऐसा!! दुनियाकेलिए (कुछ) करना ही होगा, तुम्हारे बहुतसे स्नेहभाजन थे, मैं भी उनमें एक था। समय दूसरोंके दिलसे वियोगके दुःखको क्षीण भले ही करता जायगा, किन्तु स्मृति उसे दिनपर दिन ताजी करती जायगी, तुम्हारा वह सांगोपांग भारतका इतिहास तैयार करने और साम्यवादकेलिए मैदानमें कूदनेका ख्याल!! हा! वंचित श्रमिकवर्ग!! सहृदय मानव! निर्भीक अप्रतिम मनीषी! दुनियाने तुम्हारी क़दर न की"!!

साढ़े ८ बजे श्मशान-यात्रा आरंभ हुई, मैंने भी अर्थीमें कंधा लगाया। राजेन्द्रबाबू, कांग्रेस-मंत्री डाक्टर महमूद और अनुग्रह बाबू, हाईकोर्टके जज और कितने ही मंत्री श्मशान तक गए। गंगाके किनारे चिता चिनी गई, और साढ़े ११ बजे तक शरीर जलकर राख हो गया, राख गंगामें बहा दी गई, अब मेरा हृदय खाली था।

२,३ दिन तक मैं जायसवालजीकी चिट्ठियोंमेंसे कितने ही महत्त्वपूर्ण पत्रोंको छाँटनेमें लगा था। मैं उनकी एक जीवनी लिखना चाहता था, लेकिन उस वक्त वह काम नहीं हो सकता था।

३ सितम्बरतक पटना हीमें रहा। १६ अगस्तको डाक्टर दबेरवाससर्कीका पत्र आया। उसमें लिखा था कि तेहरानमें मेरा बीसा तैयार है। अब रूस जाना निश्चित था। कुल्लूसे सेविंग बैंकका रुपया मँगवाया। ३० अगस्तको यह भी मालूम हुआ, कि बिहार सरकारने तिब्बत जानेकेलिए ६ हजार रुपया मंजूर किया है। लेकिन अभी तो पहिले रूस हो आना जरूरी था। पटनामें रहते हुए मैंने "गाँधीवाद और साम्यवाद", "दिमागी गुलामी", "जमींदारीप्रथा" आदि कई लेख लिखे।

बनारस होते हुए ४ सितम्बरको प्रयाग पहुँचा। यहाँ कालेजके छात्रोंने व्याख्यान देनेकेलिए जोर दिया। पहिला व्याख्यान ६ सितम्बरको विश्वविद्यालयके छात्रोंके सामने पंडित जवाहरलालके सभापतित्वमें "हमारी कमजोरियाँ"पर हुआ। दो और व्याख्यान हुए।

मेरे पास अभी सात-आठसौ ही रुपये थे, प्रयागमें कुछ और रुपयोंका इन्तजाम हुआ, जिसमें १०० रुपया पंडित जवाहरलालजीने दिये। उनसे रुपया लेना मुझे ठीक नहीं जँचता था, लेकिन इनकार भी नहीं कर सकता था। ११ बजे दिल्ली पहुँचा। पासके रुपयोंको देकर टामस कूकसे ६० पौंडके ट्रेवलर्स-चेक लिये। मुझे ईरानके

रास्ते जाना था, और ईरान-कौसल उस समय शिमलामें था। मैं उसी रात शिमलाके लिए रवाना हो गया। १२ सितंबरको शिमला पहुँचा। रायबहादुर काशीनाथ दीक्षित और मिस्टर एन्० सी० मेहता के यहाँ ठहरा। विपिन बाबू एसेम्बलीकी बैठककेलिए शिमला आये हुए थे, उन्होंने भी कोशिश की और १४ सितम्बरको ईरानका वीसा मिल गया। दूसरे दिन मैं दिल्ली पहुँचा। अभीतक मेरे पास सिर्फ़ ६० पौंड थे, जो पहलवी पहुँचकर ४० पौंड ही रह जाते। इसके बारेमें मैंने अपने विचारको लिखा था—"अच्छा, अँधेरेमें कूदनेकी तो अपनी आदत ही है।" प्रयागसे कुछ और रुपया आ गया और मैंने ४० पौंडके और चेक ले लिये। अब मेरे पास सौ पौंड और एक सौ अस्सी रुपये थे।

१७ तारीख़को मैंने दिल्लीसे प्रस्थान किया। १९ सितम्बरको ट्रेन साढ़े १ बजे क्वेटा पहुँची। होटलकी तजवीज़ ही कर रहा था, कि उसी समय दो आर्यसमाजी सज्जन आ गये। उन्हें पंडित इन्द्रने दिल्लीसे लिख दिया था। आर्यसमाजमें गया। भूकम्पसे उजड़ा क्वेटा बस रहा था। दूकानें बहुतसी बन गई थी, किन्तु शहर अभी आबाद नहीं हुआ था। यहाँ आसपास बाग बहुत हैं, पानी मीठा और बहुत अच्छा है। ईरानी ढंगकी ज़मीदोज़ नहरें भी निकाली गई हैं।

उस वक़्त क्वेटासे नोक्कुण्डीको हफ़्तेमें सिर्फ़ एक ट्रेन जाती थी और सो भी सोमवारको।

२० सितम्बरको हमारी ट्रेन साढ़े ११ बजे दिनको रवाना हुई। साढ़े ११ रुपये में नोक्कुण्डीका ड्योढ़ेका टिकट मिला। हमारे डिब्बेमें सरदार रामसिंह एक दूसरे सज्जन भी ईरानकी सैरकेलिए जा रहे थे। यह गाड़ी सिर्फ़ मुसाफिरों हीकेलिए नहीं थी, बल्कि रास्तेमें रेलवे नौकरोंको वह रसद, तनख्वाह और पानी भी देती चलती थी। हर लांडी (कुलियोंकी बैरक)में उसे ठहरना पड़ता था। दालबन्दीसे पहिलेवाला स्टेशन एक सौ मीलसे ऊपर है और दालबन्दीसे अगला नोक्कुण्डीका स्टेशन भी १०० मीलसे ऊपर है। गाड़ी भी धीरे-धीरे चलती है। २१ तारीख़को ढाई बजे दिनको हम नोक्कुंडी पहुँचे। पासपोर्ट देखा गया। पचीस रुपये देकर पचीस तुमान भुनाये। कुछ चीजें खरीदीं। ६ रुपया जाहिदानका किराया देकर लारीपर बैठे। दो बजे रातको एक खाली लांडीमें सो गये। सबेरे ७ बजे फिर रवाना हुए। अँगरेजी सीमान्त-चौकी, किला-सफेद ३ मील रह गया, तो पेट्रोल खतम हो गया, लारी वहीं खड़ी हो गई। टहलते हुए चौकीपर पहुँचे। पासपोर्ट दर्ज किया गया।

अरबी-फारसी शब्दोंके बल पर समझनेकी कोशिश करते थे। वह कह रहे थे, उसे हमारी भाषाका व्याकरण अभी तक अरबी व्याकरणके ढाँचेपर लिखा जाता रहा है। अरबी भाषाका हमारी भाषासे कोई संबंध नहीं है, इसलिए यह सारे व्याकरण अधूरे हैं। मैंने कहा यदि आप अपने व्याकरणको संस्कृतसे मदद लेकर लिखें, तो वह ज्यादा अच्छा होगा। कई दिनों तक हमारी बैठकमें व्याकरणके ढाँचेपर बहस होती रही। कभी सुबन्तकी चर्चा छिड़ती, कभी तिङन्तकी, कभी कारक आता, तो कभी स्त्री-प्रत्यय। कृदंत और तद्धितके प्रत्यय फ़ारसीमें भी मिलते हैं। टायंत स्त्री-प्रत्यय तो बहुत ज्यादा है—जैसे हम्-शीरा। मैंने कहा—यह संस्कृतमें सम-क्षीरा होगा। मैंने एक दिन कहा—हिन्दी-योरोपीय-जातियोंका पहिला विभाजन जो हुआ था, उसे विद्वान् लोग सौके पर्याय शब्दको लेकर शतम् और केन्टमके नामसे पुकारते हैं। शतम् परिवार आगे दो टुकड़ोंमें बँटा—एक आर्य दूसरा स्लाव; स्लाव रूसी लोग है, और आर्य नाम हिन्दियों और इरानियोंने अपनेलिए सुरक्षित रखा। संस्कृत और स्लाव भाषाओंमें जो समान शब्द या धातु मिलते हैं, उनको जरूर इरानी भाषामें होना चाहिए। एक दिन हम "पीना" धातुपर विचार कर रहे थे। साहित्यिक फ़ारसीमें "पीना" का बिल्कुल उपयोग नहीं होता, फिर हममेंसे किसीने प्यालाका नाम लिया और अंतमें हुमाईने लोरी या किसी दूसरी प्रान्तीय भाषामें "पीना" का प्रयोग भी ढूँढ निकाला।

९ नवम्बरको साढ़े तेईस तुमानमें पहलवी तककेलिए मोटरकारमें एक सीट मिली। ५ मील चले जानेपर मालूम हुआ, कि चेकको मैं सरदार रघुवीरसिंहके यहाँ छोड़ आया हूँ। फिर कार पीछे लौटाई गई और चेक लेकर साढ़े छ बजे हमने तेहरान छोड़ा। पौनेतीन घंटेमें कज़वीन पहुँचे। भोजन करनेमें एक घंटा लगा। फिर पहाड़ियों और घाटियोंको चढ़ते उतरते ढाई बजे रातको रश्त पहुँचे। पहाड़से उतरकर जैसे ही गैलानमें पहुँचे, तैसे ही सर्दी कम हो गई। वैसे सर्दीसे मैं निश्चिन्त था, क्योंकि मैंने चमड़ेके पतलून, कोट और ओवरकोट बनवा लिए थे, जिनपर ३५ तुमान खर्च हुए थे। चमड़ेका मोजा और कनटोप भी साथमें था। रातको रश्तमें सोए। पिछले दो सालोंमें रश्तमें भी काफी परिवर्तन हुआ था। सड़कें चौड़ी, कितने ही बड़े-बड़े मकान बन गये थे, मेहमानखाने (हॉटल) अच्छे थे।

आज (१० नवंबर) जब साढ़े आठ बजे हम रश्तसे चले, तो आसमानमें बादल घिरा था। गड्ढोंमें पानी भरा था, चारों ओर हरियाली, घास और जंगल था। नदियोंमें पानी बह रहा था। धानके खेत कट चुके थे। वर्षाकी अधिकताके कारण यहाँकी

छतें कच्ची मिट्टीकी नहीं हैं। गेलान-प्रान्तकी सारी भूमि उपजाऊ है, लेकिन अभी वह सब आबाद नहीं हैं। यहाँका चावल बहुत मशहूर है। १ घंटेमें हम पहलवी पहुँच गये, और १५ रियाल रोजानाका एक कमरा लेकर ग्रांद-होतलमें ठहरे। दिल्लीसे पहलवीतक रेल और मोटरका खर्च एक सौ तीन रुपये आया था। मालूम हुआ, कि जहाज अगले दिन जायगा। उसी दिन मैं इनतूरिस्तके पास जाकर टिकट बनानेकेलिए कह आया।

२७

सोवियत-भूमिमें दूसरी बार (१९३७-३८ ई०)

मैंने जहाजके तीसरे दर्जेका टिकट लिया था। इसमें सोनेकेलिए लकड़ीके तख्ते थे। मेरे सिवा दो इतालियन-दम्पती भी इसी दर्जेमें चल रहे थे। अँधेरा होनेपर जहाज रवाना हुआ। सोवियत् का जहाज था। समुद्र शान्त था।

अगले दिन १२ नवम्बर कास्पियन-सागरके पच्छिमी तटके नंगे पहाड़ दिखाई दे रहे थे। समुद्र इतना निस्तरंग था, कि देखनेमें शांत झीलसा मालूम होता था। हम एक पहाड़ी टापूके पाससे गुजरे। वहाँ मछुओंके कुछ घर थे। ११ बजे जहाज बाकू बन्दरके तटसे जाकर लगा। करटमवाले अफ़सरने चीजोंको देखा, तालपोथीके पन्नोंको गिनकर उसने पासपोर्टपर लिख दिया, जिसमें कि देशके बाहर जानेपर उसकेलिए कोई रुकावट न हो। उसे शायद कुछ पता लग गया था। उसने पूछा—"हिन्दुस्तानसे जो विद्वान आनेवाले थे, आप वही तो नहीं हैं"। मैंने कहा—"शायद, क्योंकि मैं सोवियत एकदमीके निमंत्रणपर जा रहा हूँ।" मोटरकार मुझे इनतूरिस्त होटलमें ले गई। मैं समझता था, उसी पुराने सतमहले मकानमें जाना होगा, लेकिन देखा यह एक बिल्कुल नया चौमहला प्रासाद है। यह एक ही साल पहिले तैयार हुआ था। इसमें ७६ कमरे थे। हरेक कमरेके भीतर दो मेज, तीन कुर्सियाँ, एक आलमारी, एक चारपाई और एक टेलीफ़ोन था। स्नानघर भी पासमें था, सफ़ाई और आराम दोनों हीका अच्छा प्रबन्ध था। भोजनशाला बहुत सुन्दर थी और भोजन तो इतना सुन्दर कि आदमी अपनेको सँभाले नहीं, तो अपच होनेका डर था। शामको ५ बजे मोटरसे घूमने निकले। २ वर्ष पहिले मैंने जिस बाकूको देखा था, उससे अब बहुत परिवर्तन हो गया था। अनेकों बड़े-बड़े

अरबी-फारसी शब्दोंके बल पर समझनेकी कोशिश करते थे। वह कह रहे थे, उनें हमारी भाषाका व्याकरण अभी तक अरबी व्याकरणके ढाँचेपर लिखा जाता रहा है। अरबी भाषाका हमारी भाषासे कोई संबंध नही है, इसलिए यह सारे व्याकरण अधूरे हैं। मैंने कहा यदि आप अपने व्याकरणको संस्कृतसे मदद लेकर लिखें, तो वह ज्यादा अच्छा होगा। कई दिनों तक हमारी बैठकमें व्याकरणके ढाँचेपर बहस होती रही। कभी सुबन्तकी चर्चा छिड़ती, कभी तिङन्तकी, कभी कारक आता, तो कभी स्त्री-प्रत्यय। कृदंत और तद्धितके प्रत्यय फ़ारसीमें भी मिलते हैं। टावन्त स्त्री-प्रत्यय तो बहुत ज्यादा हैं—जैसे हम-शीरा। मैंने कहा—यह संस्कृतमें सम-क्षीरा होगा। मैंने एक दिन कहा—हिन्दी-योरोपीय जातियोंका पहिला विभाजन जो हुआ था, उसे विद्वान् लोग सौके पर्याय शब्दको लेकर शतम् और केन्टम्के नामसे पुकारते हैं। शतम् परिवार आगे दो टुकड़ोंमें बँटा—एक आर्य दूसरा स्लाव; स्लाव रूसी लोग हैं, और आर्य नाम हिन्दियों और इरानियोंने अपनेलिए सुरक्षित रखा। संस्कृत और स्लाव भाषाओंमें जो समान शब्द या धातु मिलते हैं, उनको जरूर इरानी भाषामें होना चाहिए। एक दिन हम "पीना" धातुपर विचार कर रहे थे। साहित्यिक फ़ारसीमें "पीना" का बिल्कुल उपयोग नही होता, फिर हममेंसे किसीने प्यालाका नाम लिया और अंतमें हुमाईने लोरी या किसी दूसरी प्रान्तीय भाषामें "पीना" का प्रयोग भी ढूँढ़ निकाला।

९ नवम्बरको साढ़े तेईस तुमानमें पहलवी तककेलिए मोटरकारमें एक सीट मिली। ५ मील चले जानेपर मालूम हुआ, कि चेकको मैं सरदार रघुबीरसिंहके यहाँ छोड़ आया हूँ। फिर कार पीछे लौटाई गई और चेक लेकर साढ़े छ बजे हमने तेहरान छोड़ा। पौनेतीन घंटेमें कज़वीन पहुँचे। भोजन करनेमें एक घंटा लगा। फिर पहाड़ियों और घाटियोंको चढ़ते उतरते ढाई बजे रातको रश्त पहुँचे। पहाड़से उतरकर जैसे ही गेलानमें पहुँचे, तैसे ही सर्दी कम हो गई। वैसे सर्दीसे मैं निश्चिन्त था, क्योंकि मैंने चमड़ेके पतलून, कोट और ओवरकोट बनवा लिए थे, जिनपर ३५ तुमान खर्च हुए थे। चमड़ेका मोजा और कनटोप भी साथमें था। रातको रश्तमें सोए। पिछले दो सालोंमें रश्तमें भी काफ़ी परिवर्तन हुआ था। सड़कें चौड़ी, कितने ही बड़े-बड़े मकान बन गये थे, मेहमानखाने (होटल) अच्छे थे।

आज (१० नवंबर) जब साढ़े आठ बजे हम रश्तसे चले, तो आसमानमें बादल घिरा था। गड्ढोंमें पानी भरा था, चारों ओर हरियाली, घास और जंगल था। नदियोंमें पानी बह रहा था। धानके खेत कट चुके थे। वर्षाकी अधिकताके कारण यहाँकी

छतें कच्ची मिट्टीकी नहीं हैं। गेलान-प्रान्तकी सारी भूमि उपजाऊ है, लेकिन अभी वह सब आबाद नहीं है। यहाँका चावल बहुत मशहूर है। १ घंटेमें हम पहलवी पहुँच गये, और १५ रियाल रोजानाका एक कमरा लेकर ग्रांद-होटलमें ठहरे। दिल्लीसे पहलवीतक रेल और मोटरका खर्च एक सौ तीन रुपये आया था। मालूम हुआ, कि जहाज अगले दिन जायगा। उसी दिन मैं इनतूरिस्तके पास जाकर टिकट बनानेकेलिए कह आया।

२७

सोवियत-भूमिमें दूसरी बार (१९३७-३८ ई०)

मैंने जहाजके तीसरे दर्जेका टिकट लिया था। इसमें सोनेकेलिए लकड़ीके तख्ते थे। मेरे सिवा दो इतालियन-दम्पती भी इसी दर्जेमें चल रहे थे। अँधेरा होनेपर जहाज रवाना हुआ। सोवियत् का जहाज था। समुद्र शान्त था।

अगले दिन १२ नवम्बर कास्पियन-सागरके पच्छिमी तटके नंगे पहाड़ दिखाई दे रहे थे। समुद्र इतना निस्तरंग था, कि देखनेमें शांत झीलसा मालूम होता था। हम एक पहाड़ी टापूके पाससे गुजरे। यहाँ मछुओंके कुछ घर थे। ११ बजे जहाज बाकू बन्दरके तटसे जाकर लगा। कस्टमवाले अफ़सरने चीजोंको देखा, तालपोथीके पन्नोंको गिनकर उसने पासपोर्टपर लिख दिया, जिसमें कि देशके बाहर जानेपर उसकेलिए कोई रुकावट न हो। उसे शायद कुछ पता लग गया था। उसने पूछा—"हिन्दुस्तानसे जो विद्वान आनेवाले थे, आप वही तो नहीं हैं"। मैंने कहा—"शायद, क्योंकि मैं सोवियत एकदमीके निमंत्रणपर जा रहा हूँ।" मोटरकार मुझे इनतूरिस्त होटलमें ले गई। मैं समझता था, उसी पुराने गतमहले मकानमें जाना होगा, लेकिन देखा यह एक बिलकुल नया चौमहला प्रासाद है। यह एक ही साल पहिले तैयार हुआ था। इसमें ७६ कमरे थे। हरेक कमरेके भीतर दो मेज, तीन कुर्सियाँ, एक आलमारी, एक चारपाई और एक टेलीफ़ोन था। स्नानघर भी पासमें था, सफ़ाई और आराम दोनोंहीका अच्छा प्रबन्ध था। भोजनशाला बहुत सुन्दर थी और भोजन तो इतना सुन्दर कि आदमी अपनेको सँभाले नहीं, तो अपच होनेका डर था। शामको ५ बजे मोटरसे घूमने निकले। २ वर्ष पहिले मैंने जिस बाकूको देखा था, उससे अब बहुत परिवर्त्तन हो गया था। अनेकों बड़े-बड़े मकान बन

इसपर वह पोल्स्की सबोर (पोलैण्डवालोंके गिरजे)में ले गये। हजारसे ऊपर आदमी इस गिरजेकी बड़ी शालामें बैठ सकते हैं। यह प्रार्थनाका समय था। मैंने देखा कि इतनी बड़ी शालामें एक कोनेपर १०, १२ बूढ़ियाँ घुटना टेककर ईसामसीह की प्रार्थना कर रही थीं। शायद यह भी परिहासके डरसे अपने जवान बेटे-बेटियोंसे आँख बचाकर आई होंगी। मैंने गिरजेके पादरीसे पूछा, तो उसने बतलाया कि सब भगत कम रह गये हैं, इतना भी चन्दा मिलना मुश्किल हो गया है, कि कोयला खरीद कर इस मकानको गरम रखा जा सके। जिस दिन मकान गरम करना छूटा, उसी दिन यह बुढ़िया भी नहीं आयेगी।

१६ नवम्बरको रयीन मुझे इन्स्टीट्यूटमें ले गये। इन्स्टीट्यूटके अध्यक्ष स्त्रुवे उस दिन देखा-देखी हुई। आधुनिक भारतीय भाषाओंके प्रकांड पंडित बाराम्निकोफ़ मिले। उनसे बातचीत होती रही। रोमनी भाषाके वह विश्वविख्यात पंडित हैं। उन्होंने प्रेमसागरको रूसीमें करके प्रकाशित किया है। आजकल (१९४४) वह तुलसीकृत रामायणके रूसी अनुवादको पूरा कर रहे थे। ४ बजे सूरीकोफ़ (मृत्यु १९१२)के चित्रोंकी प्रदर्शिनी देखने गये। एक चित्र बड़ा ही हृदयद्रावक था। दो घुड़सवार मित्र किसी मुहिमपर अलग-अलग निकले थे। एक मित्र और उसका घोड़ा किसी बयाबानमें जाकर मर गया। कुछ वर्ष बाद वहाँ आदमी और घोड़ेकी कुछ हड्डियाँ रह गई थीं। दूसरा मित्र वहाँ पहुँचा, और अपने मित्र की हड्डियोंको देखकर उसका हृदय शोकसे भर गया। इस भावको चित्र सूरीकोफ़ने बड़ी सफलतासे अंकित किया था।

७ बजे हम एक ऐतिहासिक फ़िल्म पुगाचेफ़ देखने गये। यह दो-ढाई सौ वर्ष पहिलेकी घटना है। उस वक्त ज़ारशाही हुकूमतके अत्याचारोंके मारे किसान त्राहि-त्राहि कर रहे थे। हज़ारों किसानोंकी तरह पुगाचेफ़ भी एक खेतमें था। उसने कुछ सोचा, फिर जंगलमें भागकर धीरे-धीरे डाकुओंका एक दल कायम किया, और अपने इलाकेसे ज़ारशाही हुकूमतको मार भगाया। कितने ही समय बाद पुगाचेफ़ पकड़ा गया, और कुल्हाड़ेसे उसका सिर काट दिया गया। बड़ा ही सुन्दर फ़िल्म था। सिनेमाघरोंमें जहाँपर हमारे यहाँ निचले दो दर्जोंके दर्शक आँख फोड़नेके लिए बैठाये जाते हैं। सोवियत् सिनेमाघरोंमें वह जगह खाली रहती है। हर महल्लेमें सिनेमाघर रहनेपर भी दर्शकोंकी भीड़ लगी रहती है।

२० नवम्बरको मैं आचार्य श्चेर्बात्स्कीके मकानपर गया। मालूम हुआ मास्कोमें एकदमीका अधिवेशन होने जा रहा है, डाक्टर स्त्रुवे वहाँ जा रहे

आचार्यने कहा—साथी स्तालिन और दूसरे नेता भी वहाँ मिलेंगे, जाना चाहें तो जायें; लेकिन मैंने सोचा, अभी तो मुझे न जाने कितने दिन यहाँ रहने हैं, फिर कभी चला जा सकता हूँ; इसलिए नहीं गया। इक्कीस नवम्बरसे मैं रोज नियमपूर्वक इन्स्टीटचूट जाने लगा, और वहाँ इन्दो-तिब्बती विभागमें मुझे मेज-कुर्सी दे दी गई। मैं भोट अनुवादसे वार्तिकालंकारको संस्कृत प्रतिको मिलाने लगा। होटलमें रहना पसन्द नहीं था, मैं चाहता था किसी घरमें रहूँ, जहाँ निरन्तर रहनेवाले पड़ोसी हों, और मुझे भाषा सीखनेका सुभीता हो। लेकिन, अभी वह इन्तिजाम नहीं हो सकता था। हमारे विभागकी सेक्रेटरी लोला (एलेना) नार्वेर्तोवना कोजेरोवस्काया-की तबियत ठीक नहीं थी, इसलिए अभी वह इन्स्टीटचूटमें नहीं आ रही थी। स्चेनने बतलाया, कि वह एक भोट-रूसीकोष बना रही है।

२४ नवंबरको मैं श्री दाऊदअली दत्त के पास गया। दाऊदअली दत्तका भारतीय नाम था प्रमथनाथ दत्त। वह कलकत्ताके रहनेवाले थे। बंगभंगके बाद जो जबर्दस्त आन्दोलन हुआ था, और सैकड़ों देशभक्त जेलमें पकड़कर डाल दिए गये थे, उसी वक्त वह भारतसे निकल भागे। पच्छिमी देशोंमें कितने ही सालों तक घूमते रहे। तुर्कीमें बहुत दिन रहे, फिर ईरानमें रहे, मुसल्मानी देशोंमें उन्होंने अपना नाम दाऊदअली रख लिया। जब ईरानमें थे, उस वक्त मुरादाबादके सूफ़ी अम्बाप्रसाद और पंजाबके सरदार अजीतसिंह भी वहीं रहते थे। सूफ़ीने शीराजमें एक मदरसा खोल रखा था। पिछली लड़ाईके समय शीराजके हिन्दुस्तानियोंको पकड़ लिया गया, सूफ़ीको मालूम हुआ कि अंगरेज शीराज आनेवाले हैं। अंगरेजोंके हाथमें पड़ जानेके भयसे उन्होंने जहर खाकर जान दे दी। १० वर्ष हुए जब कि दत्त महाशयकी दाहिनी टाँगमें चोट आगई और अब वह बेकार हो गई थी। दत्तकी बीबी नोरा एक रूसी महिला थीं, वह अंगरेजी अच्छी बोल लेती थी, दत्त महाशय हिन्दी, उर्दू, बँगला तीनों भाषाओंको अच्छी-तरह जानते, और लेनिनग्रादमें वह इन्हींको पढ़ाते थे।

मैं जब तेहरानमें था, उस वक्त आगे खर्चकेलिये कुछ ईरानी पैसोंकी जरूरत थी। यद्यपि प्राइवेट तौरसे पौंडका मोल ज्यादा था, लेकिन बैंकमें लेनेपर वह ड्योढ़ा कम मिलता था। मैं २०, २५ पौंड भुनाने जा रहा था। इसपर हाफ़िज इलाहीबख्श मुहम्मद हाशिम—मेरे मक्खड़ी दोस्त ने कहा—"आप पैसा न भुनायें, जितने पैसोंकी जरूरत हो, मैं दूंगा। हिन्दुस्तान जाकर मेरे घरपर पैसोंको भेज देंगे।"
मैंने कहा—"पैसेकेलिए किसीपर ऐसा विश्वास नहीं करना चाहिए।"
हाफ़िज—"मेरा मन विश्वास करनेको कहता है।"

मैं—"कहता है, तो गलती करता है, आप जानते ही हैं कि मैं धरम, ईश्वरको नहीं मानता, फिर ऐसे आदमीपर आप क्यों विश्वास करते हैं?"

हाफ़िज—इसकेलिए मैं तुमपर और भी विश्वास करता हूँ।

खैर, हाफ़िज साहेबने मुझे रुपये दे दिये। मैंने २६ नवम्बरको २० पौंड उनके कहे अनुसार हाजी फ़तेहमुहम्मद पराचा सावल मकलड-शरीफ (ज़िला केम्बलपुर)के पास भेज दिया।

मैं अकसर पैदल ही इन्स्टीट्यूट चला जाता था। सर्दी बहुत बढ़ गई थी और सूर्यने तो जान पड़ता है, सारे जाड़ेकेलिए अपने मुँहको बादलमें छिपा लिया था।

२८ नवम्बरको मैं इन्स्टीट्यूट गया। रास्तेमें चारों तरफ़ बरफ़ ही बरफ़ थी। बड़ी सड़कोंसे तो काटकर बरफको हटाया जाता था, लेकिन छोटी सड़कों और बागोंमें वह वैसे ही पड़ी रहती थी। नरम बर्फमें पैर धँसता, और ज्यादा कड़ी हो जाने-पर पैर खूब फिसलता था। मैं उस दिन आते वक्त एक जगह फिसलकर गिर पड़ा था। उस दिन जरा-जरा हिमवर्षा भी हो रही थी। इन्स्टीट्यूटमें आज मैंने अपने विभागके सेक्रेटरी लोलाको देखा। वह फ्रेंच, अंग्रेजी, रूसी और मंगोल बोल सकती थी, इसलिए संभाषणमें कोई दिक्कत न थी। उन्होंने कहा, मेरी अंग्रेजी बहुत कमजोर है, नहीं तो मैं रूसी पढ़ाती। मैंने कहा, "नहीं तवारिश! तुम मुझे रूसी अच्छी तरह पढ़ा सकती हो, क्योंकि तुम्हें ज्यादातर रूसीको अपना माध्यम बनाना पड़ेगा। मैं तुम्हें संस्कृत पढ़ाऊँगा और तुम मुझे रूसी पढ़ाया करो।" दोनोंने 'एवमस्तु' कहा।

दिसम्बर शुरू होते सर्दी बहुत बढ़ गई थी। मैं अपने तिब्बती पट्टूके सफेद सूट को पहिनके जाता था, किन्तु अब ऊपरसे चमड़ेके ओवरकोटको भी ले जाने लगा। हाथोंमें चमड़ेका दस्ताना था, इसलिए सर्दी मालूम नहीं होती थी।

दो दिसम्बरको मैंने देखा, आज नेवा नदीका पानी जहाँ-तहाँ बर्फ बन गया था। आजसे मैंने लोलाको संस्कृत पढ़ाना शुरू किया। लोलाने मंगोल और तिब्बती भाषाको पढ़ा था, आचार्य श्चेरबात्स्कीकी वह एक योग्य शिष्या थी, किन्तु संस्कृत पढ़नेकी ओर ध्यान नहीं दिया था। वह नागरी अक्षर जानती थी। मैंने उसे संस्कृत पढ़ानेकेलिए खुद पाठ बनाये। इन पाठोंमें ज्यादातर उन्हीं धातुओं और शब्दोंको रखता था, जो रूसी और संस्कृतमें समान हैं। आज उसने पहिला पाठ पढ़ा।

६ को दत्त महाशयके यहाँ गया, तो वहाँ उनकी सानी और सालीपुत्र अर-

काशा—साढ़े ६ वर्षका एक स्वस्थ लड़का—भी मिला। नोराका तो मैं देवर बन ही चुका था अब अरकाशाका द्या-द्या (चाचा) भी बन गया।

जब मैं दत्त महाशयके पास जाता, तो अरकाशा मुझे छोड़ता नहीं था। मैंने तिब्बती भाषापर अधिकार इसी तरहके एक छोटे बच्चेकी मददसे प्राप्त किया था, इसलिए मैं अरकाशाको गुरु बनाना चाहता था, लेकिन उसकी माँ एक महीनेके ही लिए अपनी बहिनके पास मास्कोसे आई थी।

७ दिसम्बरको देखा, नेवा (नदी) बिल्कुल जम गई है। लेनिनग्राद नेवाके दोनों किनारोंपर बसा है। मुझे होटलसे इन्स्टीटयूट जाते वक्त रोज इसे पार करना होता था।

इस वक्त महासोवियत्के चुनावकी धूम थी। घरोंके सामने सोवियत्के महानेताओं और कितने ही स्थानीय उम्मेदवारोंके बड़े-बड़े फ़ोटो लगे थे। ट्रामोंपर लाल-नीली बत्तियोंद्वारा विज्ञापन दिए जा रहे थे। १२ दिसम्बरको छुट्टीका दिन था, आज दुनियाके छठे भागके लोग अपने देश की सबसे बड़ी शासनसभा महासोवियत्केलिए वोट दे रहे थे। वोटकेन्द्रोंमें बडी भीड़ थी। कहीं-कहीं सड़कोंके किनारे चुनावके संबंधमें नेताओंके फ़िल्म दिखाए जा रहे थे। रेडियोके ब्राडकास्टको सारे नगरवासियोंके सुनानेकेलिए कुछ-कुछ गजपर शब्दप्रसारक-यंत्र (लाउडस्पीकर) लगे हुए थे। नगरमें सड़कसे १० मील चले जाइए, और आपके कानोंमें भाषण आते रहेंगे। उस दिन लौटकर जब होटलमें आया, तो कान और कनपटीमें दर्द होने लगा—अभी तक मैंने चमड़ेके कनटोपको इस्तेमाल नहीं किया था। हैट रख दिया और दूसरे दिनसे कनटोप लगाने लगा।

१५ दिसंबरको चुनावके उपलक्ष्यमें शामको नगरके लोगोंने जुलूस निकाले। ३ बजे हीसे ट्राम बन्द हो गई। नौसेना, स्थलसेना, वायुसेनाके सैनिक कहीं झंडा पताका और नेताओंके चित्र लेकर चल रहे थे, कहीं यूनिवर्सिटी और इनस्टीचूटके विद्यार्थियोंका जुलूस था, कहीं साधारण नागरिक जा रहे थे। लाल सैनिकोंका जुलूस जहाँ थोड़ी देरकेलिए रुकता, वहाँ ही वह नाच शुरू कर देते और आस-पासमें खड़ी जिस किसी गोरीको साथ नाचनेकेलिए निवेदन करते, वह जरूर अखाड़ेमें कूद पड़ती। दुनियाके और मुल्कोंमें सिपाहियोंसे बड़े घरकी औरतें भय खाती हैं, किन्तु सोवियत्का लालसैनिक उस तरहका सिपाही नहीं है। लालसैनिकका जीवन कालेजके विद्यार्थीके जीवन जैसा है, उसे वहाँ पढ़ना पड़ता है। साथ ही साम्यवादने सोवियत् नागरिकोंके दिलमें यह भाव पैदा कर दिया है, कि वह अपने देशके सारे तरुणोंको घरका आदमी समझते हैं।

१६ दिसंबरको मैंने लोलाकेलिए सातवाँ पाठ लिखा। वह बड़े मनसे पढ़ रही थी। २८ नवंबरको जब मैंने पहलेपहल लोलाको देखा, तो मुझे यह ख्याल भी नहीं आया था, कि हम दोनो किसी स्थायी संबन्धमें बँधने जा रहे हैं; लेकिन धीरे-धीरे हम एक दूसरेके नजदीक आते गये। एक बार लोला रास्तेमें कहीं बर्फमें गिर गई, उसने आकर इस बातको कहा। मैंने एक श्लोकार्ध पढ़ा—"काले पयोधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम्।"

लोलाने विभागके दो संस्कृतज्ञों—शिवायेफ् और कलियानोफ़्से अर्थ पूछा। मैंने उन्हें अर्थ-विवरण करके बतलाया। सुनकर उसने मुस्कुरा दिया। अंतमें २२ दिसंबर आया, जिस दिन कि हम दोनों एक दूसरेके हो गये। मैं लोलाके घरपर जाता, वह इन्स्टीटयूटसे बहुत दूर एक घंटेका रास्ता था। उधर कारखानोंके कमकर रहते थे और चारों ओर उन्हीके नए-नए महल खड़े थे। लेकिन अब भी मैं रहता था, होटल हीमें, क्योंकि अकदमीने मेरे बारेमें अभी कोई पक्का निश्चय नहीं किया था।

२५ दिसंबर—बड़े दिनको लेनिनग्रादमें कोई चहल-पहल नहीं थी, लेकिन ३१ दिसंबर बच्चोंका दिन था। उस दिन हर घरमें देवदारकी शाखाएँ गाड़ी गई थी, उन्हें रंग-बिरंगी बत्तियों, मिठाइयों और खिलौनोंसे सजाया गया था। मैं उस दिन दस भाईके घर गया था। अरकाशाने खूब तैयारी कर रखी थी। आस-पासके भी कुछ लोग आए थे, जिनमें अरकाशाके उमरकी एक छोटी लड़की थी। वह बहुत कम बोलती थी। अरकाशाने उस दिन एक लेक्चर सुनाया, और शायद पुशकिनकी किसी कविताको स्वरके साथ पढ़ा। अगले दिन (१ जनवरी १६३८) तो सारे सोवियत्‌का महोत्सव-दिन था। उस दिन आचार्यकी छात्रा जेन्या विकोवाने मेरे पथप्रदर्शनका काम हाथमें लिया। जेन्या संस्कृत पढ़ती थी, और शायद विश्वविद्यालयके तीसरे वर्षकी छात्रा थी। यह अंग्रेजी भी बोल लेती थी। मैंने लेनिनग्रादके बौद्धविहारके देखनेकी इच्छा प्रकट की। विहार, नगरके एक छोरपर है। ट्रामपर दो घंटे चलनेके बाद हम वहाँ पहुँचे। विहार तिब्बती ढंगका है, दीवारें पत्थरकी हैं, और सामनेकी ओर सुनहले दो मृगोंके बीचमें धर्म-चक्र बना हुआ है। सामने सड़ककी दूसरी तरफ एक नदी बहती है, जिसकी दूसरी ओर लेनिनग्रादका सांस्कृतिक उद्यान है। विहार लड़ाईसे कुछ पहिले तैयार हुआ था। विहार-कमेटीके प्रधान थे आचार्य श्चेरबात्स्की और मंगोलियाने रुपया जमा करके लानेवाले थे लामा ङवङ् दोर्जे। लामादोर्जे कई बरस ल्हासामें रहे थे, और १३ वें दलाईलामाके वह बहुत दिनों तक अध्यापक थे। उन्होंने रूस और तिब्बतके बीच घनिष्ठ संबंध स्थापित करनेकी बड़ी कोशिश की थी, जिससे इंग्लैंड सशंकित

तिब्बतसे लड़ाई छेड़ दी, और अंग्रेजी फ़ौजें ल्हासा तक गईं। उस समय दुर्जेयेफ़के नामसे इंगलैंडका विदेश-विभाग चौंक पड़ता था। लाल क्रान्ति आई, तो दूसरी जगहोंकी तरह उनके प्रदेश-बुरयत्—मे भी क्राति-विरोधियोंने मंगोलोंको उभाड़ना चाहा, लेकिन दुर्जेयेफने उन्हें समझा दिया। आज बुरयत मंगोलप्रजातंत्र सोवियतके स्वच्छन्द वायुमंडलमें बहुत उन्नति कर चुका है। मैं चाहता था उनसे मिलना, किन्तु वह उस समय बुरयत गये हुये थे। विहार आजकल बन्द था। पूजा करनेवाले भगत जब ईसाई गिरजोंमें दुर्लभ हो गये, तो यहाँकेलिए क्या पूछना? विहार अब एक म्यूज़ियम बन गया था, लेकिन जाड़ोंमें वह नहीं खुलता था, इसलिए हम उसे भीतरसे नहीं देख सके। वहाँसे हम उद्यान गये। सैकड़ों युवक-युवतियाँ दो लंबी लकड़ियोंपर पैर रखकर हाथमें डंडे लिए फिसलती हुई दौड़ लगा रही थीं।

वहाँसे हम लौटकर रूसके सबसे बड़े गिरजे ईसाइकी-सवोर देखने गये। यह भी आजकल म्यूज़ियम है। भीतर बड़े-बड़े सुन्दर चित्र और ईसामसीह तथा सन्तोंकी मूर्त्तियाँ हैं। शीशेके विशाल दरवाजेपर एक सुन्दर चित्र देखकर मैंने जेनियासे पूछा—यह किसका चित्र है। उसने दूसरे आदमीसे पूछकर बताया—यह ईसाकी तसवीर है। मैं कुछ ताज्जुबमें पड़ गया—जिसका खान्दान छ-छ सात-सात सौ बरसोंसे ईसाका अनुयायी रहा, वह ईसाकी तसवीर भी न पहिचान सके! उस दिन शामको आचार्य श्चेरबात्स्की (जन्म १६ सितंबर १८६२) के घरपर भोजन हुआ। लोला और मैं भोजन करने गये। शराब भी रखी थी, लेकिन मैं तो शराब पीता नहीं था, जिसपर एक लाल रंगका पेय लाया गया। आचार्यने कहा—यह शराब नहीं है, सिर्फ़ रंग इसमें अच्छी शराबका है। मैंने मुँहमें लगाया तो कड़ुवासा मालूम हुआ, और उसे वहीं छोड़ दिया। आचार्यने कहा—पियो, न इसमें नशा है, और न यह शराब है। मैंने कहा—"यह गुनाह बेलज्जत है। नशाका लोभ होता, तो शायद कड़ुवाहट को बर्दाश्त कर लेता, इस कड़ुवे पानीको पीना मुझे तो फ़िजूल मालूम होता है। वहाँसे लोला हमें अपने घरपर ले गई।

दो जनवरीको हम शरद्प्रसादमें क्राति-संग्रहालय देखने गये। इसमें १६०५की प्रथमक्रांतिके संबन्धकी बहुत सी चीज़ें हैं। उस वक्त क्रान्तिकारियोंके साथ कितनी पाशविकता दिखाई गई, इसे जंगलो, क़ैदखानों और क़ैदियोंकी मूर्त्तियोंद्वारा दिखलाया गया था। लेनिन और दूसरे नेताओंकी जीवन-घटनाओंका भी प्रदर्शन था।

लेनिनग्रादमें फिल्म देखने अक्सर जाता था। कुछ पद्यमय नाटक (ओपेरा) और मूकनाटक (बैले) भी देखे।

लौटनेकी तैयारी—मैं लिख चुका हूँ कि जिस वक़्त मैं हिन्दुस्तानको छोड़ रहा था, उस वक़्त विहार-सरकारने तिब्बती अभियानके लिए छ हज़ार रुपये मंजूर किए थे। यहाँ मैं इस अभिप्रायसे आया था कि डाक्टर श्चेरवात्स्कीके साथ रहकर बौद्ध न्यायके कुछ ग्रंथोंका उद्धार किया जाय, कुछ का योरोपीय भाषाओंमें भी अनुवाद किया जाय। यह भी बतला चुका हूँ कि मैं ऐसे सालमें वहाँ पहुँचा, जब कि क्रान्तिके विरुद्ध एक बड़े षड्यन्त्रका आयोजन किया गया था। सरकारका ध्यान उस तरफ़ लगा हुआ था। मेरे बारेमें कुछ ठहरके निर्णय करना चाहते थे, क्योंकि हरेक विदेशी के संबंधमें उन्हें फूँक-फूँककर पैर रखना था। यह भी हो सकता था कि राजनीति-विभागके जिन लोगोंने पूछताछ करके मेरे बुलानेकी सिफ़ारिश की थी, उनमेंसे कोई षड्यंत्रियोंके संपर्कमें रहा हो? और तब उसकी सिफ़ारिश मेरे पक्ष नहीं, विपक्षकी चीज हो सकती थी। मैंने अब सोवियत्के जीवनको नजदीकसे देखा कितने संघर्षों, कितनी कुर्बानियोंके बाद उन्हें यह जीवन प्राप्त हुआ है। स्पेनमें उस वक़्त फासिस्तोंके साथ संघर्ष चल रहा था। चीनी कम्यूनिस्त भी पीसे जा रहे थे। अपने देशमें हम भारतीय भी गुलाम थे। इन बातोंको ख्याल करके मेरे मनमें होता था, मुझे युद्धक्षेत्रमें कूदना चाहिए। स्पेन या चीनमें भी मैं चला जाता, लेकिन जानता था, मैं वहाँ उतना उपयोगी नहीं हो सकूँगा। मेरेलिए सबसे अच्छा क्षेत्र अपना ही देश है। मैंने तै किया कि भारत जाके स्वराज्यसंघर्षमें सक्रिय भाग लेना चाहिये।

प्रतिष्ठान (इन्स्टीटयूट)में छठे दिनको छोड़कर रोज चार-पाँच घंटे काम करता था। नाटक, सिनेमा और दूसरी दर्शनीय चीजोंको देखने जाता था, तब भी मेरा काफी समय राजनीतिक और सोवियत्संबंधी पुस्तकोंके पढ़नेमें जाता। सोवियत्के संबंधमें एक पुस्तक लिखनी होगी, यह ख्याल शुरू हीमें आगया था, इसीलिए मैंने अपनी पुस्तक "सोवियत्-भूमि" केलिए सामग्री जमा करनी शुरू कर दी थी।

अकदमीवाले बड़ी मन्थरगतिसे कोई निर्णय करना चाहते थे, लेकिन मैं सोच रहा था, अगर भारत लौटना है, तो जल्दी लौटना चाहिए, जिसमें कि मैं इस साल पूरी तैयारीके साथ तिब्बत जा सकूँ। इसीलिए जल्दी निर्णय करनेकेलिए मैंने ज़ोर देना शुरू किया, और अकदमीके अधिकारी फिरसे अच्छी तरह राजनीतिक जीवनके बारेमें जाँच किए बिना रहनेके पक्षमें निर्णय नहीं दे सकते थे। अन्तमें मैंने भारत लौटनेकेलिए कहा। इस बातका सबसे अधिक कष्ट लोलाको होना स्वाभाविक था, हम डेढ़ ही महीना साथ रह सके थे। अभी भारत लौटते ही मुझे तिब्बत

जाना था. इसलिए लोलाको साथ ले जानेका ख्याल कैसे कर सकता था, लेकिन मेरा हृदय उसके पास था। इस बातका अनुभव मैंने लेलिनग्राद्में रहते जितना नही किया, उतना वहाँसे दूर हटते-हटते अनुभव करने लगा।

आखिर विदाईका दिन—१३ जनवरी आया। डाक्टर श्चेरबात्स्कीको लोलाके बाद सबसे दुःख हुआ। उनका मेरे प्रति बहुत स्नेह हो गया था। पत्रव्यवहार हमारा कई वर्षोंमें था, लेकिन इस दो महीनेके सहवासने एक दूसरेको बहुत नजदीक कर दिया था। १३ जनवरीको लेनिनग्राद् छोड़ते वक्त मुझे कभी ख्याल नहीं आया था, कि आचार्यके दर्शन अब न हो सकेंगे। मुझे वह जायसवाल हीकी तरह एक बड़े सहृदय मित्र मिले थे, और अपनी शिष्या लोला तथा मेरे पुत्र इगोर्के प्रति उनके प्रगाढ़ स्नेहने मुझे और भी उनका आत्मीय बना दिया था।

सभी मित्रोंसे विदाई ले आए। नोरा भाभीने रास्तेके पाथेयके जमा करनेमें सहायता की। अन्तमें रबीन और लोलाके साथ मैं स्टेशनपर पहुँचा। १२ बजकर ४० मिनटपर हमारी गाड़ी खुलनेवाली थी। अभी देर थी, रबीनको मैंने विदाई दे दी। लोला और मैं देर तक टहलते रहे। बाहरी दुनिया और सोवियतका जो संबंध है, उससे यह आशा तो नही की जा सकती थी, कि हम जल्दी और आसानीसे मिल सकेंगे। लेकिन प्रेम इन बाधाओंकी पर्वाह नही करता। आधीरात बीती, गाड़ीका इंजन सन-सन करने लगा, हमारे हृदयोंमें काँटासा चुभने लगा; विदा होनेका समय आया। आँखोंसे करुणा बरसाते लोलाने विदाई ली। गाड़ी रवाना हुई। देर तक वह प्लेटफार्मपर खड़ी देखती रही।

अगले दिन (१४ जनवरी) साढ़े ११ बजे दिनको हमारी गाड़ी मास्को पहुँची। इनतूरिस्तका कोई आदमी स्टेशनपर नही मिला। भारवाहकसे कहनेपर नवमास्को होटल तक जानेकेलिए तैयार तो हुआ, किन्तु उसे वह होटल नहीं मालूम था। मैंने कहा—यदि क्रेम्लिन् तक तुम जानते हो, तो आगेका पता मुझे मालूम है। क्रेम्लिन् भला किस मास्को-निवासीको न मालूम होगा। हम भूगर्भी रेलवेसे कितनी ही दूर गए, फिर क्रेम्लिन्के सामने लाल-मैदानसे होते पुलको नदी पारकर गये। ५,७ मिनट तक मैं इधर-उधर चक्कर काटता रहा, लेकिन वहाँ किसी होटलका पता नही लगा। आस-पास पूछनेसे उन्होंने सड़क बता दी, जो इस सड़कके समानान्तर पीछेकी ओर थी। हम होटलमें पहुँचे। मुझे अच्छी तरह याद था, कि दो महीने पहिले जब मैं इधरसे गुजरा था, तो पुलवाली सड़कपर ही थोड़ा हटकर नवमास्को-होटल मिला था। मेरे पूछनेपर होटलपरिचारिकाने कहा—वह पुल टूट गया, और आज जिससे आए हैं, वह नया पुल है। मैंने देखा, उस वक्त भी पुलके किनारे की बाढ़ोंमें

काम हो रहा था। सर्दी जनवरीकी थी, गीला सीमेन्ट बर्फ़ हो जाता, इसलिए लोग भापसे वायुमंडलको गर्म रखते हुये; जुड़ाई कर रहे थे।

उस वक्त महासोवियत (पार्लियामेन्ट) का अधिवेशन हो रहा था। चुनावके बाद यह पहिला अधिवेशन था। सदस्य ही नही आए हुए थे, बल्कि भारतसे ७ गुनी इस भूमिके कोने-कोनेसे कितने दर्शक भी आए थे। मास्कोके सारे होटल भरे हुए थे। मैं सामान एक जगह रखवाके कुर्सीपर बैठा था। अब मैं अफ़गानिस्तानके रास्ते जाना चाहता था, पहले समझा था, ताशकन्द या मध्यएसियाके किसी दूसरे शहरमें अफ़गानिस्तानी कौन्सल होगा; लेकिन पता लगा, कि वहाँ कोई कौन्सल नही है। ३ बजे कौन्सलके पास गये, तो आफिस बन्द हो चुका था। अगले दिन जानेपर उसने परसोंपर टरकाना चाहा, किन्तु मैंने और कुछ कहा सुना और वीजा उसी दिन मिल गया।

पहिले दिनके खाली वक़्तको मैंने लालमैदान और दूसरे स्थानोंमें घूमकर विताया। रातको सोनेका सवाल आया, सचमुच ही कोई कोठरी खाली नही थी। बेचारे करते क्या? इसकी अपेक्षा यदि अकदमीकी अतिथिशालामें गया होता तो अच्छा रहता। लेकिन मुझे इस दिक़्क़तका पता क्या था? पता होता तो किसी दोस्तका पत्र लाया होता। खैर, साढ़े ८ बजे ७१७ नंबरकी एक छोटीसी कोठरी खाली हुई, और वही रातको सोनेकी जगह मिल गई। अगले दिन (१५) स्तालिनाबादकी डाक पौने ग्यारह बजे जानेवाली थी। दिनमें भी इधर-उधर घूमता रहा। मास्कोकी सड़कें चौड़ी की जा रही थी। सोवियत्‌प्रासाद—दुनियाकी सबसे ऊँची इमारत—के निर्माणका काम हो रहा था।

रातको पौने ग्यारह बजे हमारी गाड़ी रवाना हुई। यह गाड़ी मास्कोसे तेरमिज ही नही, एक दिन और आगे ताजिकिस्तान प्रजातन्त्रकी राजधानी स्तालिनाबाद तक जाती थी। गाड़ियाँ आजकल भरी रहती थी—इन दूर जानेवाली गाड़ियोंके भरी रहनेका मतलब इतना ही था, कि सीट खाली नही थी, नहीं तो टिकिट मिलनेपर आदमीको पूरी सीट मिल जाती थी। हमारा डिब्बा गद्देवाला था।

दूसरे दिन (१६ जनवरी) जमीन ऊँची-नीची आई, पहाड़ोंकी चारों ओर सफ़ेद बर्फ़ ही बर्फ़ दिखाई देती थी। कितने ही गाँव मिले। घरोंकी छतोंपर बर्फ़ पड़ी हुई थी। जहाँ-तहाँ देवदार और भोजपत्रके वृक्ष दिखाई पड़ते थे। गाँवोंके मकान छोटे, लेकिन साफ़ थे। उनकी चिमनियोंसे धूँआ निकल रहा था—वे जाड़ेकेलिए गरम किए हुए थे। हमारी ट्रेनके साथ रसोईगाड़ी भी लगी रही थी। उस दिन

मैं वहाँ खाना खाने गया। मेरी मेज़ हीपर सामने दो कज़ाक किसान खानेकेलिए बैठे। परोसिकाने एक प्लेटमें गोश्त और चम्मच-काँटा रख दिया। कज़ाक बेचारे सदासे हाथसे खाते आए थे, चम्मचसे माँस उठाना चाहते तो वह प्लेटसे बाहर गिरना चाहता। दो तीन बारके प्रयत्नमें असफल होकर सोच रहे थे, किस तरह से खायें। दोनों अपने यहाँके किसी पार्लामेंट-सदस्य (देपूतात्) के साथ प्रथम अधिवेशन देखने और साथ ही तवारिश (साथी) स्तालिन के दर्शनके लिए आए हुए थे और अब मास्कोसे घर लौट रहे थे। परोसिकाने उनकी दिक्कतको समझा। वह उनके कंधेसे सटकर खड़ी हो गई। वह अपनी मातृभाषा रूसी छोड़ दूसरी भाषा नहीं जानती थी, इसलिए बातसे समझा नहीं सकती थी। छोटेसे बच्चेको जैसे क़लम पकड़कर लिखना सिखाया जाता है, उसी तरह उसने कज़ाकयात्रीके हाथको पकड़कर चम्मचसे माँस उठाना सिखलाने लगी। यद्यपि शिक्षक और विद्यार्थीकी उमर एक ही थी, लेकिन परोसिकाकी आँखोंमें मातृत्वकी झलक थी। मुझे उस वक़्त ग्यारह साल पहिले पहल छुरी-काँटा हाथमे लेनेकी बात याद आई। मैं पहिली बार सीलोन जा रहा था। मदरासमेलकी रसोईगाड़ीमें खाना खाने गया। चम्मच-काँटेको पकड़ना नहीं जानता था। जब खाना प्लेटसे बाहर निकलने लगा, तो परोसनेवालेने बड़े घृणापूर्ण स्वरमें कहा—"रहने दो, हाथसे खाओ।" शरमके मारे मैं उस वक़्त गड़ गया था, और यहाँ मैं इसी तरुणीको ही नहीं, आस-पासके बैठे हुए लोगोंको देख रहा था, जो चम्मचके उपयोगकी अनभिज्ञताको घृणाप्रदर्शन करनेका कारण नहीं बना रहे थे। मानो सोवियत् नागरिक अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि अपने अनभिज्ञ भाईको अभिज्ञ बनाएँ। फिर परोसिका श्वेतागजातिकी थी, जब कि खानेवाला काला आदमी था। २० ही साल पहिले रंगका सवाल रूसमें भी वैसा ही था, जैसे हिन्दुस्तानमें आज भी था। रसोईगाड़ीमें दो वक़्त भोजन करनेकेलिए मुझे जाना पड़ता था, और परोसिकाओंसे मेरा इतना परिचय हो गया था कि जब ७ वें दिन मैं तेरमिज़में ट्रेन छोड़ने लगा, तो चिरपरिचित मित्रकी तरह उन्होंने मुझे विदाई दी। तीसरे दिन तेरमिज़ स्टेशनपर मैं सामान लेने गया था। ट्रेन भी उसी वक़्त स्तालिनाबादसे लौटकर आई थी। परोसिकाओंने मुझे स्टेशनपर देखा, तो दौड़ी-दौड़ी आई, और खूब हाथ मिलाया। वस्तुतः सोवियत्के २० करोड़ आदमियोंका एक दूसरेके साथ वही संबंध नहीं है, जो कि बाहरकी दुनियामें देखा जाता है। मैं यह नहीं कहता कि उनका आपसमें सगे परिवार जैसा संबंध पूरा हो गया है, लेकिन काफी दूर तक वह हो चुका है, इसमें संदेह नहीं।

१७ जनवरीके सवेरे हमारी ट्रेन पहाड़ी मैदानसे गुजर रही थी। यहाँ भी चारों ओर वर्फ़ ही वर्फ़ दिखाई पड़ती थी, लेकिन वह कम मोटी थी। कहीं-कहीं गोबरके उपले छल्ली करके रखे हुए दिखाई पड़े। गेहूँके डंठल और सूखी घासके गंज गाँवोंमें रखे हुए थे। कुछ गंजोंपर फ़ूसकी छान भी थी। अधिकतर मकानोंकी छतें फ़ूसकी थीं। गाँवोंके पास वृक्ष थे, लेकिन आजकल पत्तियाँ झड़ गई थी। जंगल कम थे। नदी-नाले सब जमे हुए थे। कुओंसे पानी निकालनेकेलिए वैसी ही गड़ारियाँ थीं, जैसे हमारे कुओंपर हुआ करती हैं। दोपहर बाद ओरेनबुर्ग शहर आया। उतरकर स्टेशनके बाहर गये। कई लाखकी आबादीका यह एक बड़ा शहर है। यहाँ रूसियोंके अतिरिक्त मंगोलमुखमुद्रावाले बहुतसे तातार स्त्री-पुरुष भी दिखाई दिए। तातार स्त्रियोंमें अब भी कितनी ही पाजामा पहिने थीं।

१८ जनवरीके सवेरे मैं मध्यएसियाके मैदानमें पहुँच गया था। ९ बजे (मास्को-समय) हमारी गाड़ी पहाड़पर चल रही थी। कज़ाकोंके मकान छोटे-छोटे और उनकी छतें मिट्टीकी थीं, वैसी ही जैसी कि लखनऊके गाँवोंमें मिलती हैं। मिट्टीकी छतें ओरेनबुर्गसे शुरू होती हैं। सारे मध्यएसिया, और अफ़ग़ानिस्तान होते उत्तरी भारतमें वह लखनऊ तक चली आती है। यहाँ छोटी-छोटी घासें उगीं थीं, जिनमें दो-कोहानी ऊँट और भेड़ें चर रही थी। खेत बहुत कम मिलते थे। १२ बजे (मास्को-समय) हम चेलूकर पहुँचे। यह बड़ा स्टेशन है। मिट्टीके तेलकी यहाँ बहुत-सी टंकियाँ हैं। शहर रेलवे सड़कको दोनों ओर बसा है। रूसी और कज़ाक बच्चे साथ खेल रहे थे। इधर रेलवे लाईनके किनारे तारकी जगह लकड़ीके चाचरोंकी बाढ़ लगी हुई थी। पतली बरफ़ अब भी जमीनपर पड़ी थी। भूमि अब समतल मैदान-जैसी थी, संदेह होता था, शायद यह रेगिस्तान है। आगे एक जगह पीली मिट्टीवाली जमीन दिखाई पड़ी। इधर स्टेशन-मास्टर कज़ाक थे, लाल सैनिक भी बहुतसे कज़ाकजातिके थे। ताशकन्दसे मास्को जानेवाला हवाईजहाज आसमानमें उड़ा जा रहा था।

१९ जनवरीके सवेरे हम सिर (सैहूँ) नदीकी उपत्यकामें चल रहे थे, यह मध्य एसियाके दो बड़े दरियाओं—आमू और सिर—मेंसे एक है। उपत्यका पर्वत रहित है। कज़लओर्द स्टेशनके पास बरफ़की चित्तियाँ कहीं-कहीं दिखाई पड़ती थीं। यह बड़ा कस्बा था। मकान अधिकतर एकतल्ले थे। गाड़ियोंमें ऊँट और घोड़े दोनों जुते थे। आगे मीलों दो-दो हाथ ऊँचे सरकंडोंका जंगल चला गया था। स्टेशनोंपर कज़ाकतरुणियाँ वाम कटाए योरोपीय पोशाकमें घूम रही थीं। उनको देखनेसे क्या पता लगता था, कि यह

उस देशकी लड़कियाँ हैं, जहाँ वे २० साल पहिले पूरी बोराबंदीके साथ घरसे निकलती थीं। इधर सैकड़ों मीलतक समतल पीली मिट्टी वाली जमीन हैं, सरकंडोंको देखने हीसे पता लग जाता था, कि इस भूमिको खेतोंके रूपमें परिणत किया जा सकता हैं, जरूरत है, सिर्फ़ नहरोंकी; जिसकेलिए गंगा जैसी बड़ी सिर नदी वहाँ मौजूद ही हैं। मध्यएसियाकी हजारों मील विस्तृत इस उजाड़ पड़ी धरतीको देख मुझे कभी ख्याल आता था; यदि यहाँ ५,१० लाख हिन्दुस्तानी लाके बसा दिए जाते, तो कितना अच्छा होता। कभी ख्याल आता; हमारे पच्चीसो लाख आदमी जो गुलामीकी जिन्दगी बितानेकेलिए दक्षिणी अफ्रिका, मारिशस, फ़ीजी, गायना आदि गए, यदि वह मध्यएसियामें गए होते, तो आज वहाँ एक भारत सोवियत्-समाजवादी प्रजातंत्र रहता। फिर ख्याल आता, पकीपकाई खानेका लोभ निकम्मा आदमी किया करता है।

रातको (२ बजे मास्को) दूरसे ताशकन्दकी बिजली दिखाई पड़ने लगी। ताशकन्द बहुत बड़ा शहर है, और बड़ी तेज़ीसे बढता जा रहा है। सोवियत्‌में सूती कपड़ेकी मिलोंका यह प्रधान केन्द्र है। स्टेशन बड़ा था, किन्तु देखनेमें उतना अच्छा नहीं जितना कि सोवियत्‌के पच्छिमी भागोंमें मैंने देखा था।

२० के सवेरे हम पहाड़ीमें चल रहे थे। यह पहाड़ छोटे-छोटे और नंगे थे। पूरब तरफ हिमालयकी पच्छिमी शृंखला पामीरके हिमाच्छादित पहाड़ दिखाई दे रहे थे। जौजक् एक कल्खोजी गाँव है। यहाँ पचासों ट्रेक्टर और खुली लारियाँ देखीं। आजकल उनकी मरम्मत हो रही थी। मकान साफ़-सुथरे थे। स्त्रियोंमें कोई पर्दा नहीं था। पाजामा भी कुछ बुढ़ियोंके ही शरीरपर दिखाई देता था। तरुण उजबकोंकी कलाइयोंपर घड़ी भी बँधी दिखाई देती थी। कुछ बच्चे नंगे पैर घूम रहे थे। हमारा एक सहयात्री उनसे कह रहा था—अता (बाप) से कहो कि गलोस (जूता) खरीद दें। शायद अभी इधरके अता गलोसको उतना जरूरी नहीं समझते। इधर वर्फ़ नहीं थी। नदीमें पानी बह रहा था। बागोंमें फलदार वृक्ष थे। बीरी और सफेदाके दरख्त बहुत थे। खेतोंकी भूमि असमतल थी। दोपहरको हमारी गाड़ी उत्तरसे दक्खिनको जा रही थी। (११ बजे मास्को समय) क्रोपत्किन् कल्खोजका बड़ा गाँव आया। हम लोगोंने सुन रखा है, कि बोलशेविक सिर्फ़ अपने पार्टीके वीरोंका ही सम्मान करते हैं, लेकिन यहाँ एक बड़ा गाँव प्रसिद्ध अराजकवादी क्रान्तिकारी प्रिन्स क्रोपत्किनके नामसे बसा दीख रहा था—अराजकवादी बोलशेविकोंके विरोधी थे। इस बस्तीके मकान बहुत साफ़ और सुन्दर थे। स्टेशनके पास मिट्टीके तेलका

गोदाम था। पंचायतघरके बरामदेमें कितने ही उज़बक पंच मंत्रणा कर रहे थे। उनके भीतर दो एक रूसी चेहरे भी दिखाई पड़ रहे थे। १ बजे समरकन्द आया। शहर आनेसे बहुत पहिले बाग शुरू हो गए। यहाँके सेब, अंगूर, इंजीर आदि मेवे काबुलसे भी अच्छे होते हैं, लेकिन आजकल तो वृक्षोंपर फल क्या पत्ते भी नहीं थे। यहाँके मिट्टीकी दीवार और छत वाले मकान कुछ-कुछ तिब्बत जैसे मालूम होते थे। ईरान में भी मिट्टीकी छत होती है, लेकिन वहाँ कच्ची ईंटोंको जोड़कर उन्हें गुम्बदकी शकलमें बनाया जाता है, यहाँ वह चौरस थी। गाड़ीसे उतरकर मैं स्टेशनके बाहर गया। सामने ही अनगढ़ पाषाणकी वेदीपर लेनिनकी मूर्ति (वस्ट) थी। शहर खूब लंबा चौड़ा है। दो तल्ली इमारतें कम दीखीं। पुराने मकान भी बहुत हैं। मैंने वहाँ खड़े ८० आदमियोंमें गिना, तो सिर्फ तीन हीके दाढ़ी थी, उनमें भी बाक़ायदा इस्लामी दाढ़ी सिर्फ एकके मुँहपर थी। वहाँ कोई पर्देवाली स्त्री नहीं थी। यद्यपि फलोंका मौसम नहीं था, लेकिन अंगूर कुछ बिक रहे थे। वह बहुत मीठे थे।

२१ जनवरीको बड़े सवेरे आस-पास नंगे पर्वत दिखाई दे रहे थे। अब हमारी गाड़ी उज़बकिस्तान प्रजातंत्रको पार करके तुर्कमानिस्तानमें चली आई थी। पहाड़ोंके बीचमें तिब्बत जैसी मैदानी ज़मीन भी थी। जगह-जगह घास उगी हुई थी, और कितनी ही जगह तुर्कमान लोगोंके तंबू थे। तुर्कमान स्त्रियोंके सिरपर सीधी खड़ी टोकरीकी तरह ५ सेरकी पगड़ी बँधी हुई थी। इनका चेहरा चिपटा, बड़ा और भद्दा था, मर्द खूब कद्दावर थे। दूर वक्षु (आमू) नदीकी विस्तृत उपत्यका थी। एक लंबी सुरंगमें रेल पार हुई। सुरंगके मुँहपर फ़ौजी चौकी थी। आगे दाहिनी ओर वक्षु बह रही थी। इधरके गाँवमें अभी दाढ़ी, पुरानी पोशाक, पुराना रिवाज काफी दिखाई पड़ता था। गाड़ी साढ़े ६ बजे (मास्को) तेरमिज़ स्टेशनपर पहुँची।

तेरमिज़में (२१—२५ जनवरी)

स्टेशन शहरसे ५ मील दूर है। गाड़ीको अभी और आगे स्तालिनाबाद (दुशान्बे) तक जाना था। ७ दिनके परिचित मित्रों और परिचिकाओंको "पुनर्दर्शनाय" कह-कर विदाई ली। पता लगानेपर मालूम हुआ, कि मेरे दोनों बक्स इस ट्रेनसे नहीं आये। साथमें थोड़ासा सामान था, जिसे स्टेशनके रक्षागृहमें रख दिया। स्टेशन-पर उज़बक लोगोंके अलावा कुछ ताजिक भी थे। ताजिकोंके चेहरेपर मंगोल-मुद्रा नहीं होती, इसलिए पहचानना आसान था। मैंने महम्मदोफ़ (ताजिक) से

परिचय कर लिया। उन्होंने कहा—चलिए हमारे कलखोज-नमूनाके चायखानेमें चाय पीजिये। गाँववालोंको जब-तब शहरमें आना पड़ता है, इसलिए सुभीतेके वास्ते उन्होंने गाँवकी ओरसे शहरमें भी अपना चायखाना (रेस्तोराँ) खोल लें, यह उनकेलिए कोई मुश्किल नहीं था; क्योंकि गाँवोंमें भी खेतीकी तरह चाय-खाना और दूकान सबका साझेका, पंचायती होता हैं। जब गाँववाले शहरमें सिनेमा देखने या किसी और कामसे आते हैं, तो अपने चायखानेमें ठहरते हैं। उन्हें वह वैसा ही मालूम होता हैं, जैसे एक घरके सगे भाईके पास कोई दूसरा शहरमें जाय। चायखाना बहुत सीधा-सादा था। मिट्टीकी दीवार और मिट्टीकी छत थी। मेज़-कुर्सी नहीं थी। दीवारोंके किनारे-किनारे ऊँचा चबूतरा बना हुआ था, जिसपर चटाइयाँ बिछी थीं। लोग वहीं बैठे, चाय पीते गप कर रहे थे। मध्य-एसियामें न हमारे यहाँ दूध-चीनीवाली चाय पी जाती है, न रूस जैसी नीबू-चीनीवाली। इसी तरहकी चाय जापानमें पी जाती है, लेकिन वहाँ प्याले छोटे-छोटे होते हैं। यहाँ एक-एक आदमीको पूरा चाइनेक (चायका बर्त्तन) और प्याला नहीं, चीनी मिट्टीका कटोरा दिया जाता है। इस फीके-कड़वे पानीको लोटा-लोटाभर लोग कैसे चढ़ा जाते हैं? वहाँ तंदूरी रोटियाँ भी थी। मैंने यही खाना खाया। मुहम्मदने शहरकी सड़कपर छोड़ते हुए कहा, आप किसी दिन आयें तो मैं अपने गाँवमें ले चलूँगा। मैं पैदल ही शहर पहुँचा। पहिले पासपोर्ट देखनेवाले कार्यालयमें गया। वहाँ एक अर्धरूसी (यूरेशियन) महिलाके जिम्मे यह काम था। किसी जमानेमें यह हमारे एंग्लो-इंडियनकी तरह रही होगी, किन्तु अब वह अपनेको ऐसा नहीं समझती। मध्यएसियामें कितने ही रूसी पादरी अपने धर्म-का प्रचार करते थे, और वहाँ लाखों ईसाई रहे होंगे, जो कि क्रान्तिके बाद सबसे पहिले सोवियत्के समर्थक बने। महिलाने बड़ी भद्रताके साथ बात की। पासपोर्ट रख लिया। ठहरनेकेलिए सामने एक गस्तिनित्सा (अतिथिगृह) बतलाया। पूछनेपर मालूम हुआ कि यहाँ एक अफ़ग़ानसराय है। मैंने सोचा, अफ़गानसरायमें चलना अच्छा है। वहाँ अफ़ग़ानोंसे मुलाकात होगी। मुझे अफ़ग़ानिस्तान होकर जाना है, वह अपने देशके बारेमें कुछ बतायेंगे। मैं अफ़ग़ानसरायमें चला गया। यहाँ पहिले शाक-सब्ज़ीकी हाटका मैदान था, जिसमें जहाँ-तहाँ कुछ घर बने हुए थे। एक श्रीहीन मकान था, इसीको अफ़ग़ानसराय कहते थे। किसी वक्त यह किसी अफ़ग़ानकी सम्पत्ति थी। चौकीदार उज़बक उज़बकी, तुर्की और ताजिकी (फ़ारसी) बोलता था। उसने एक बड़ी कोठरीमें चारपाई दे दी। मैं फिर शहरकी ओर निकला। सड़कें ज्यादातर कच्ची थीं, और उनमें कीचड़ थी। मकान छोटे-छोटे

थे, जिनमें कितने ही पक्के थे। रेलवे लाइन स्टेशनके पाससे होते वक्षुके तटतक चली गई थी, लेकिन उससे सिर्फ़ माल ढोया जाता था। शहरमें रूसियोंकी संख्या अधिक थी, उनके बाद उजबक, फिर तुर्कमान और ताजिक आते थे। एक मकानके ऊपर १८६६ लिखा हुआ था, अर्थात् वह आजसे ३६ वर्ष पहिले बना था। स्टेशनकी ओर कितने ही सेवके बाग थे। यहाँकी आबोहवा वैसी ही थी, जैसी जाड़ोंमें लाहौर-की। बर्फ़ कहीं नहीं थी और पानी भी नहीं जमता।

अगले दिन (२२ जनवरी) दोपहर बाद घूमने निकला। कितने ही नए मकान बनते देखे। एक स्कूल मिला। दोतल्ला पक्की इमारत थी। देखनेकेलिए भीतर गया। फ़र्श लकड़ीकी ईंटोंका बना था, किन्तु पालिश नहीं थी। दरवाजा खटखटानेपर एक रूसी बुड्ढी आई। देखनेकी इच्छा प्रकट करनेपर उसने कमरोंको खोल-खोलकर दिखलाना शुरू किया। आज लेनिनका मृत्यु-दिवस था, स्कूलकी छुट्टी थी। मकानके ऊपर दूसरी जगहोंकी तरह काली हाशियाका लाल झंडा लगा हुआ था। वह मुझे एक उजबक भूगोल-अध्यापकके पास ले गई। अध्यापक छात्र-छात्राओंको फ़ोटो खींचनेका तरीका सिखला रहे थे। मुझसे वह बात करने लगे। इसी वक़्त दो प्योनिर्काओं—स्काउट बालचरियों—का डेपूटेशन आया। उन्हें मालूम हो गया कि इंदुस् (हिन्दुस्तानी) आया हुआ है। उन्होंने कहा—हम कुछ प्योनीर् और प्योनीर्का यहाँ जलूस निकालनेकी तैयारी कर रहे हैं। आपके बारेमें सुना, आप चलकर हिन्दु-स्तानके बारेमें एक व्याख्यान दें। मैंने कहा, मुझे व्याख्यान देने भरकी रूसी नहीं आती। उन्होंने कहा कि आप ताजिकीमें बोलें, हमारा एक ताजिक सहपाठी रूसीमें अनुवाद कर देगा। वह मुझे एक बड़े कमरेमें ले गये। वहाँ बेन्चोंपर कितने ही प्योनीर् प्योनिर्काएँ तथा अध्यापिकाएँ भी बैठी हुई थीं। एक मेजके पास दो कुर्सियाँ रख दी गईं थीं और पीछे दीवारपर एसियाका नक़्शा टाँग दिया गया था। पासकी कुर्सीपर १० वर्षका एक ताजिक बालक बैठा था, जो दुभाषियाका काम कर रहा था। पहिले उन्होंने मेरी यात्राका रास्ता पूछा। मैंने नक़्शेपर दिखला दिया। फिर हिन्दुस्तानी प्योनीरके बारेमें पूछा। मैंने कहा—हिन्दुस्तानमें बहुत कम लड़के स्कूलमें पढ़ने जाते हैं, और उनमें भी बहुत कम प्योनीर (बालचर) बनते हैं। उन्होंने पूछा—बच्चे क्या करते हैं। मैंने कहा—काम करते हैं। एक ८ बरसके रूसी लड़केने अपनी छातीपर हाथ रखकर कहा—मेरे जैसे लड़के क्या करते हैं ? मैंने कहा—तुम्हारे जैसे लड़के ढोर चराते हैं, दूसरोंके बच्चोंको खेलाते हैं, या कोई और काम करके पेटकी रोटी कमाते हैं। उनके चेहरोंको देखनेसे मालूम

होता था, कि वह मेरी बातपर विश्वास नहीं कर रहे हैं। मैंने पूछा—तुममेंसे किसीने कापितलिस्त (पूँजीपति) देखा है? सबने 'नहीं' कहा, लेकिन एक लड़केने खड़े होकर कहा—मैंने देखा है। सब बच्चे सन्देहकी दृष्टिसे उसकी ओर देखने लगे। मैंने पूछा—कहाँ देखा है? उसने कहा—सिनेमाके फ़िल्ममें। मैंने कहा—हमारे देशमें कापितलिस्तोंका राज है, इसलिए अधिकांश बच्चे न स्कूल जाने पाते हैं और न प्योनीर बन सकते हैं। उन बच्चोंने कापितलिस्त नहीं देखे थे, लेकिन कापितलिस्तोंकी बहुतसी कहानियाँ सुनी थीं। वह कापितलिस्तको वैसा ही समझते थे, जैसे हमारे बच्चे पिशाच और दानवको। मेरी बातपर उन्होंने विश्वास किया। अपने देशमें सफ़ेद (पूँजीवादियों) और लाल (साम्यवादियों)के युद्धकी कथाएँ वह सुन चुके थे। स्पेनमें जो उस वक्त सफेद जनतापर जुल्म ढाह रहे थे, उसकी भी खबरें उन्होंने सुनी थीं। उन्होंने पूछा—सफेद और लाल की लड़ाईमें आप किसकी ओर हैं। मैंने कहा—लालसेनाकी ओर। उन्होंने हिन्दुस्तानी सिक्का दिखलानेकेलिए कहा। मेरे पास अंग्रेजी सिक्के थे। मैंने उन्हें दे दिया। सबने एक-एक करके देखा। उनका धन्यवाद लेकर मैं स्कूलसे बाहर निकला।

शहरसे बाहर निकला। सड़कसे थोड़ा हटकर एक गाँव दिखाई दिया। वहाँ गया। यह कलूखोजी गाँव था, जिसका नाम था, "कलखोज-इंतर्नेशनल" (अन्तर्राष्ट्रीय पंचायती गाँव)। कलखोजके आफिसमें गया। वहाँ रेडियो और बिजलीकी रोशनी लगी हुई थी। कोई ताजिक नहीं था, इसलिए मैं अपनी बातको समझा नहीं सका। मैंने ट्रेक्टर और खेतीकी दूसरी मशीनोंको देखा, गाँवके स्कूलको देखा। इस गाँवमें १५० उज़बक घर थे।

सारे मध्यएसियामें कपासकी खेती होती है, गेहूँ और दूसरी खानेके चीजें आसपासके प्रजातन्त्रोंसे आती हैं। खेत जुत गये थे। लोग कपास बोनेकी तैयारी कर रहे थे, और कितने ही नर-नारी नहर साफ़ करनेमें लगे हुए थे। यहाँ ईंधनकेलिए कपासका डंठल इस्तेमाल किया जाता था। सभी मकान कच्चे थे, लेकिन खिड़कियोंमें शीशे लगे थे। किसी आदमीके शरीरपर फटा कपड़ा नहीं था और न चेहरा सूखा हुआ। मैं ब्रिगादीर—कमकरोंके सरदार—के कार्यालयमें पहुँचा। आँगनमें कितने ही लोग योजना बना रहे थे। द्वारपर कुत्ते बँधे थे। ब्रिगादीर बाहर आया, और इतने जोरसे हाथ मिलाया कि मेरा हाथ दुखने लगा। हम दोनों एक दूसरेकी भाषा नहीं समझ सकते थे, इसलिए बातचीत नहीं कर सके।

२३ जनवरीको मैं स्टेशन गया। मुहम्मदोफ मिल गये। वह मुझे लेकर अपने

थे, जिनमें कितने ही पक्के थे। रेलवे लाइन स्टेशनके पाससे होते वक्षुके तटतक चली गई थी, लेकिन उससे सिर्फ़ माल ढोया जाता था। शहरमें रुसियोंकी संख्या अधिक थी, उनके बाद उजबक, फिर तुर्कमान और ताजिक आते थे। एक मकानके ऊपर १८६६ लिखा हुआ था, अर्थात् वह आजसे ३६ वर्ष पहिले बना था। स्टेशनकी ओर कितने ही सेबके बाग़ थे। यहाँकी आबोहवा वैसी ही थी, जैसी जाड़ोंमें लाहौर-की। बर्फ़ कहीं नहीं थी और पानी भी नहीं जमता।

अगले दिन (२२ जनवरी) दोपहर बाद घूमने निकला। कितने ही नए मकान बनते देखे। एक स्कूल मिला। दोतल्ला पक्की इमारत थी। देखनेकेलिए भीतर गया। फ़र्श लकड़ीकी ईंटोंका बना था, किन्तु पालिश नहीं थी। दरवाजा खटखटानेपर एक रूसी बुढ़ी आई। देखनेकी इच्छा प्रकट करनेपर उसने कमरोंको खोल-खोलकर दिखलाना शुरू किया। आज लेनिनका मृत्यु-दिवस था, स्कूलकी छुट्टी थी। मकानके ऊपर दूसरी जगहोंकी तरह काली हाशियाका लाल झंडा लगा हुआ था। वह मुझे एक उजबक भूगोल-अध्यापकके पास ले गई। अध्यापक छात्र-छात्राओंको फोटो खींचनेका तरीका सिखला रहे थे। मुझसे वह बात करने लगे। इसी वक़्त दो प्योनिर्काओं—स्काउट बालचरियों—का डेपुटेशन आया। उन्हें मालूम हो गया कि इदुम् (हिन्दुस्तानी) आया हुआ है। उन्होंने कहा—हम कुछ प्योनीर् और प्योनीर्का यहाँ जलूस निकालनेकी तैयारी कर रहे हैं। आपके बारेमें सुना, आप चलकर हिन्दुस्तानके बारेमें एक व्याख्यान दें। मैंने कहा, मुझे व्याख्यान देने भरकी रूसी नहीं आती। उन्होंने कहा कि आप ताजिकीमें बोलें, हमारा एक ताजिक सहपाठी रूसीमें अनुवाद कर देगा। वह मुझे एक बड़े कमरेमें ले गये। वहाँ बेन्चोंपर कितने ही प्योनीर् प्योनिर्काएँ तथा अध्यापिकाएँ भी बैठी हुई थीं। एक मेज़के पास दो कुर्सियाँ रख दी गई थीं और पीछे दीवारपर एसियाका नक़्शा टाँग दिया गया था। पासकी कुर्सीपर १० वर्षका एक ताजिक बालक बैठा था, जो दुभाषियाका काम कर रहा था। पहिले उन्होंने मेरी यात्राका रास्ता पूछा। मैंने नक़्शेपर दिखला दिया। फिर हिन्दुस्तानी प्योनीरके बारेमें पूछा। मैंने कहा—हिन्दुस्तानमें बहुत कम लड़के स्कूलमें पढ़ने जाते हैं, और उनमें भी बहुत कम प्योनीर (बालचर) बनते हैं। उन्होंने पूछा—बच्चे क्या करते हैं। मैंने कहा—काम करते हैं। एक ६ बरसके रूसी लड़केने अपनी छातीपर हाथ रखकर कहा—मेरे जैसे लड़के क्या करते हैं? मैंने कहा—तुम्हारे जैसे लड़के ढोर चराते हैं, दूसरोंके बच्चोंको खेलाते हैं, या कोई और काम करके पेटकी रोज़ी कमाते हैं। उनके चेहरोंको देखनेसे मालूम

होता था, कि वह मेरी बातपर विश्वास नहीं कर रहे हैं। मैंने पूछा—तुममेंसे किसीने कापितलिस्त (पूँजीपति) देखा है ? सबने 'नहीं' कहा, लेकिन एक लड़केने खड़े होकर कहा—मैंने देखा है। सब बच्चे सन्देहकी दृष्टिसे उसकी ओर देखने लगे। मैंने पूछा—कहाँ देखा है ? उसने कहा—सिनेमाके फ़िल्ममें। मैंने कहा—हमारे देशमें कापितलिस्तोंका राज है, इसलिए अधिकांश बच्चे न स्कूल जाने पाते हैं और न प्योनीर बन सकते हैं। उन बच्चोंने कापितलिस्त नहीं देखे थे, लेकिन कापितलिस्तोंकी बहुतसी कहानियाँ सुनी थीं। वह कापितलिस्तको वैसा ही समझते थे, जैसे हमारे बच्चे पिशाच और दानवको। मेरी बातपर उन्होंने विश्वास किया। अपने देशमें सफ़ेद (पूँजीवादियों) और लाल (साम्यवादियों)के युद्धकी कथाएँ वह सुन चुके थे। स्पेनमें जो उस वक्त सफेद जनतापर जुल्म ढाह रहे थे, उसकी भी खबरें उन्होंने सुनी थीं। उन्होंने पूछा—सफेद और लाल की लड़ाईमें आप किसकी ओर हैं। मैंने कहा—लालसेनाकी ओर। उन्होंने हिन्दुस्तानी सिक्का दिखलानेकेलिए कहा। मेरे पास अंग्रेजी सिक्के थे। मैंने उन्हें दे दिया। सबने एक-एक करके देखा। उनका धन्यवाद लेकर मैं स्कूलसे बाहर निकला।

शहरसे बाहर निकला। सड़कसे थोड़ा हटकर एक गाँव दिखाई दिया। वहाँ गया। यह कलखोजी गाँव था, जिसका नाम था, "कलखोज़-वैनुलमलल्" (अन्तर्राष्ट्रीय पंचायती गाँव)। कलखोज़के आफ़िसमें गया। वहाँ रेडियो और बिजलीकी रोशनी लगी हुई थी। कोई ताजिक नहीं था, इसलिए मैं अपनी बातको समझा नहीं सका। मैंने ट्रैक्टर और खेतीकी दूसरी मशीनोंको देखा, गाँवके स्कूलको देखा। इस गाँवमें १५० उज़बक घर थे।

सारे मध्यएसियामें कपासकी खेती होती है, गेहूँ और दूसरी खानेकी चीज़ें आसपासके प्रजातंत्रोंसे आती हैं। खेत जुत गये थे। लोग कपास बोनेकी तैयारी कर रहे थे, और कितने ही नर-नारी नहर साफ़ करनेमें लगे हुए थे। यहाँ ईंधनकेलिए कपासका डंठल इस्तेमाल किया जाता था। सभी मकान कच्चे थे, लेकिन खिड़कियोंमें शीशे लगे थे। किसी आदमीके शरीरपर फटा कपड़ा नहीं था और न चेहरा सूखा हुआ। मैं ब्रिगादीर—कमकरोंके सरदार—के कार्यालयमें पहुँचा। आँगनमें कितने ही लोग योजना बना रहे थे। द्वारपर कुत्ते बँधे थे। ब्रिगादीर बाहर आया, और इतने ज़ोरसे हाथ मिलाया कि मेरा हाथ दुखने लगा। हम दोनों एक दूसरेकी भाषा नहीं समझ सकते थे, इसलिए बातचीत नहीं कर सके।

२३ जनवरीको मैं स्टेशन गया। मुहम्मदोफ़ मिल गये। वह मुझे लेकर अपने

गाँव कलखोज-नमूनाकी ओर चल पड़े। हम पगडंडीके रास्ते गये। यह दो सौ घरोंका गाँव है, जिनमें कुछ घर ताजिकोंके भी हैं। इस गाँवको बसे १० साल हुए थे, जब कि वख्शकी-नहर इधरसे निकली। इनके पास दो हजार एकड़ खेत है। एक ट्रैक्टर और दो खुली लारियाँ गाँवकी हैं। काम पड़नेपर मशीन-ट्रैक्टर-स्टेशनसे और भी ट्रैक्टर आजाते हैं। उस वक़्त एक ट्रैक्टर खेतमें चल रहा था जिसे एक रूसी चला रहा था। महम्मदने मेरा परिचय दिया, और ड्राइवरने आकर हाथ मिलाया। स्कूलमें गये। वहाँ ३५ बालिकाएँ और ५३ बालक पढ़ रहे थे, दो अध्यापक थे। पढ़ाईका माध्यम उज़बकी भाषा थी। अक्षर उन्होंने रोमन कर दिए हैं। हमारे यहाँकी तरह वहाँ १० बजेसे ४ बजे तक पढ़ाई नहीं होती। सबेरे ८ बजेसे १२ बजे तक और शामको २ बजेसे ६ बजे तक पढ़ाईका समय है। लेकिन सभी लड़कोंको ८ घंटा नहीं पढ़ना पड़ता। मुख्याध्यापकने चाय पीनेका निमंत्रण दिया। उनका मकान स्कूलसे पीछेकी ओर था। मकान कच्चा था, लेकिन साफ़-सुथरा था। भीतर एक मेज़ और दो-तीन कुर्सियाँ थीं। दीवारोंपर नेताओंकी तसवीरें लगी थीं। हम कुर्सियोंपर बैठ गये। अध्यापकने प्लेटमें कुलचे लाकर रख दिए। थोड़ी देरमें लाल मुँह और पीले बालवाली एक स्वस्थ तरुणी चायका बर्तन लेकर आई। अध्यापकने "यह मेरी बीबी है" कहकर परिचय कराया। बीबी रूसी थी, इसलिए बात करना अधिक आसान था। सोवियत्-में इस तरहके एसियाई-योरोपीय ब्याह बहुत हो रहे हैं, इतने ज्यादा हो रहे हैं कि इस शताब्दीके अंततक सभी जातियाँ मिश्रित हो जायेंगी। चाय पीकर फिर बाहर निकले। मकतब (स्कूल) से सटा ही गाँवका चायख़ाना है। बैठनेकेलिए यहाँ भी दीवारके किनारे चबूतरे थे। वहाँ कई इकतारे रखे हुए थे। रातके नाच-गानकी तैयारी हो रही थी। फिर हम क्लुब (क्लब) में गये। क्लब गाँवके जीवनका बड़ा केन्द्र है। क्लबके हालमें पाँचसौ आदमी बैठ सकते हैं। उसके साथ ही पाँच और कमरे थे, जो पुस्तकालय आदिके काममें आते थे। गाँवोंमें हर हफ़्ते चलते-फिरते सिनेमा आया करते हैं। उस वक़्त यह बड़ा हाल सिनेमाहाल बन जाता है। यहीं सभाएँ होती हैं, लेक्चर और नाटक होते हैं। अभी क्लबका मकान पूरी तौरसे तैयार नहीं हो पाया था। पक्की ईंटोंकी दीवारें तैयार थीं, लेकिन हालकी छत अभी नहीं पटी थी। बढ़ई दरवाजे तैयार कर रहे थे। अस्तबलमें गये। वहाँ ६० घोड़े थे, जो इस वक़्त चरनेकेलिए गये थे। लेकिन अस्तबल बहुत साफ़ था। हर घोड़ेका साज़ उसकी पीठवाली दीवारपर क़ायदेके साथ टँगा हुआ था, गोशालामें १०० गाएँ थीं। इनके अतिरिक्त लोगोंके पास कुछ वैयक्तिक गाएँ भेड़ें और मुर्गियाँ थीं।

हर घरको अपने पिछवाड़े थोड़ा-थोड़ा खेत साग-सब्जीकेलिए मिला था, बाकी सारी खेती साझेमें होती थी। स्त्री-पुरुषोंकी टोलीसे ब्रिगेड बना हुआ था। हरेक आदमीका काम हाजिरी वहीमें लिखा जाता था। अभी तो खेतीका काम नहीं था, खेतीके कामके वक़्त बच्चाखाना (शिशुशाला) संगठित किया जाता है, जिसमें कुछ औरतें बच्चोंकी देखभालको सँभाल लेती हैं। इस गाँवमें सिर्फ़ मिश्री कपासकी खेती होती है। पिछले साल ८ लाख रूबल (करीब ४ लाख रुपये) का कपास बेचा गया था, और हर घरको तीनसे पाँच हजार रूबल तककी आमदनी हुई थी। इस गाँवमें खरबूजे, तरबूजे और तरकारी आदिकेलिए भी अलग खेत हैं।

हम जब पुस्तकालय (वहाँ कई अखबार थे) आदि देखकर स्कूलके पास पहुँचे, तो तेरमिजसे पाँच साइकिलवाले सैलानी आ गये। उनमें चार अध्यापक थे, एक डाक्टर—चार उजबक और एक रूसी। रंगभेद जातिभेदका तो ख्यालतक भी इनके भीतर नहीं रह गया था। महम्मदके साथ जब हम लौटने लगे, तो पूरब ओर एक नीले गुम्बदवाली ऊँची इमारत देखी। मेरे कहनेपर महम्मद मुझे वहाँ ले गये। देखा, गुम्बदकी नीली ईंटें कहीं-कहीं निकल गई हैं, लकड़ीका ढाँचा बाँधकर उस वक़्त मरम्मत हो रही थी। महम्मदने बतलाया कि यह गाँवकी ओरसे नहीं, पुरातत्त्वविभागकी ओरसे हो रही है। मैंने भीतर जाकर देखा। वहाँ हातेमें हज़ारों क़ब्रें थीं। गुम्बदके भीतर कुछ पक्की और अच्छी क़ब्रें थीं। महम्मदने बतलाया, यह सुल्तानुस्सादात्की जियारत है। क्रान्तिसे पहिले यह सारे मध्य-एसियाकेलिए एक बड़ा तीर्थ था, दूरतक गिरे हुए कच्चे घरोंको दिखलाकर उनने कहा—पहले यहाँ बहुत से मुजावर (पंडे) रहा करते थे। उसने बतलाया कि लोग दुख-सुखमें हजरत सुल्तानुस्सादात्की मिन्नत माना करते हैं। मुजावरोंको खूब आमदनी होती थी। यदि उस वक़्त आप आये होते, तो गुम्बदके भीतरवाली कब्रपर ज़री और रेशमकी चादरें देखते। यहाँ सुगन्धित धूपका धुआँ दिखाई पड़ता, दर्शनकी भीड़ लगी रहती थी और अब देख रहे थे कि सिर्फ़ हम दो दर्शक हैं। कब्र वर्षोंसे बेमरम्मत हो गई थीं, जहाँ-तहाँ पत्थर-चूना निकलने लगता है। मैंने पूछा—वह मुल्ला मुजावर गये कहाँ?

महम्मदने कहा—हमने उन्हें रवाना कर दिया। मैंने पूछा—कहाँ? महम्मदने जवाब दिया—दोज़खमें और कहाँ? जब हम अमीर (नवाब) और वेगों (जागीरदारों)से लड़ रहे थे, तो यह मुल्ले फ़तवा देते थे, कि तुम अल्लासे लड़ रहे हो। हमने उसे भी मान लिया, और सोचा जो अल्ला अमीरके ही साथ रहता है, तो चलो दोनों

हीके साथ निपट लिया जाय । हम अपनी लड़ाईमें कामयाब हो गये और अब अमीर, अल्ला, मुल्लाको आप आमूं-दरियाके उस पार पायेंगे। मैंने पूछा—"रफ़ीक महम्मदोफ़ ! क्या तुम्हें मजहबकी जरूरत नहीं मालूम होती ?" महम्मदने इतमीनानसे जवाब दिया—"हम काम करना, पढ़ना जानते हैं, सबकी भलाईमें अपनी भलाई समझते हैं। खाना-पीना नाच-गाना जानते हैं, हमें और क्या चाहिए।" हम वहाँसे स्टेशन जा रहे थे, उस समय कुछ औरतें आ रही थीं। उनमेंसे कुछ पाजामा-कुर्ता और ओढ़नीमें थीं। मैंने महम्मदसे पूछा—तुम्हारे गाँवमें कोई नमाज पढ़ता है कि नहीं। महम्मदने जवाब दिया—चार साल पहिले कुछ रोजादार थे, किन्तु अब कोई नहीं रोजा रखता। दो-चार नमाज पढनेवाले है, लेकिन वह घरके भीतर पढते हैं। मैंने पूछा—घरसे बाहर मस्जिदमें क्यों नही पढते। जवाब मिला—उठते-बैठते देखकर युवक-युवतियाँ मजाक उड़ाते हैं।

१४ जनवरीको मै फिर शहरमें चक्कर काटने निकला। कारखानोंकी ओर गया, वहाँ बच्चाखाना (शिशुगृह) देखा। पक्का साफ़ मकान था। सर्दीसे बचनेकेलिए उसे गरम किया गया था। सोनेकेलिए चारपाइयाँ पड़ी थीं। दाइयाँ, खिलौने सभी चीजें थीं। एक क्लबमें गया। वहाँ कई कमरे थे, और दो सौ कुर्सियोंका एक हाल था। आज "पुगाचेफ़ फ़िल्म" दिखलाया जानेवाला था। दो नवजवान और एक युवती मोटे-मोटे अक्षरमें विज्ञापन लिखनेमें जुटे थे।

हाट देखने गया। वहाँ मूली, चुक़न्दर, गाजर, गोभी, आलू आदि चीजें बिक रही थीं। यह सब चीजें खुली जगहमें बिक रही थीं, बेचनेवाले आसपासके कल्खोजोंके किसान थे। कुछ दूकानें भी थीं, जिनमें बड़ी-बड़ी नावरोटी आरीसे काट-काटकर बिकती थी, रोटियाँ बहुत सस्ती थीं। एक शरतराशखाना (हजामघर) भी था। मैंने बाल बनवाये, जिसके तीन रूबल (प्रायः डेढ़ रुपया) देने पड़े। अफ़ग़ानसरायमें कुछ अफ़ग़ान सौदागर मेरे ही कमरेमें ठहरे हुए थे। वह अपने साथ गोश्त ले आये थे। दो-एक दिनमें गोश्त खतम हो गया, तो चौकीदारसे कहा—हमारेलिए एक भेड़का अच्छा गोश्त ले आओ।" चौकीदारने कहा—"हाँ साहेब। मै कल्खोजका गोश्त लाऊँगा।" मैंने पीछे चौकीदारसे कहा—"अच्छा गोश्तका मतलब समझा ?" उत्तर दिया—"हाँ उनका मतलब है, हलाल किया हुआ गोश्त। जानवरको रेत-रेतकर मार करके तैयार किये गोश्तको अच्छा समझते हैं। यहाँ कौन रेतनेकेलिए तैयार है। गोश्त तो यही है, लेकिन मैंने कोलखोज कह दिया है, वह समझ रहे हैं कि गाँवोंमें भेड़ें हलाल की जाती हैं।"

एक दिन मैं बाहरसे घूमकर सरायकी ओर आ रहा था। देखा सड़कपरसे कितने ही स्त्री-पुरुष हँसते हुए सरायके फाटकके भीतरकी ओर देख रहे हैं। सामने आकर देखा तो एक उज़बक और एक रूसी दो जवान एक दूसरेके कन्धेपर हाथ रखे झूमते-झामते लड़खड़ाते गीत गाते आ रहे हैं। उन्होंने शराब कुछ ज्यादा पी ली थी, इसलिए एकका अलाप पूरब जाता था, तो दूसरेका पच्छिम। सब लोग उसका आनन्द ले रहे थे। उनको देखकर मेरे दिलमें दूसरा ख्याल हो आया—"इनमें एक काला है, और एक गोरा, किन्तु आज काले गोरोंका फर्क यहाँ कुछ नहीं है"। वक्षुके किनारे अफ़ग़ानिस्तानसे आये बहुतसे रुईके गट्ठर पड़े थे, वहाँ भी मैंने देखा, कितनी ही काली-गोरी औरतें फटे वस्त्रोंको सी रही थीं। जिस नावसे मैं आमू-दरिया पार हुआ, उसमें १२ खलासी थे, जिनमें १० रूसी थे। सब साथ-साथ सामान ढोते रहे और जब नाव चली, तो साथ ही बैठकर चाय-रोटी खा रहे थे। सोवियत्-भूमिमें ऐसे दृश्य बिल्कुल साधारण हैं।

पासपोर्टके इन्तिज़ाममें देरी देखकर मैं गस्तनित्सामें चला आया। यहाँ अलग कमरा नहीं पा सका, इसलिए एक रूसी इंजीनियरके कमरेमें मुझे जगह मिली। २६को चलनेका सब इन्तिज़ाम हो गया। मेरे पासके रूसी सिक्के खतम हो गये थे। २० रूबल दुरुस्की-(घोड़ागाड़ी)के नदी तटतक देने पड़ते। रुपयोंकेलिए बैंकके खुलने आदिका इन्तिज़ार करना पड़ता। मैंने अपनी घड़ी इंजीनियरको दे दी—उसकी बातोंसे मालूम हुआ था, कि उसे एक घड़ीकी ज़रूरत है। वह पैसा देने लगा, मैंने सिर्फ़ उसमेंसे २० रूबल लिये। उसे आश्चर्य हो रहा था। मैंने कहा—आमूपार तो मैं एक भी रूबल नहीं ले जा सकता, फिर अधिककी क्या ज़रूरत?

२६ जनवरीको १० बजे अपना सामान लिये-दिये मैं एक घोड़ागाड़ीपर घाटकी ओर चला। रास्तेमें कुछ खाली जगह मिली, फिर गाँव और खेत आये, आगे सिपाहीने रोका। पासपोर्ट देखनेपर वह हमें कनत्रोलरके यहाँ ले गया। कागज़-पत्तर देख लेनेपर फिर मैं नदीके किनारे पहुँचा। चीनी, लोहा, कपड़ा, चीनीबर्तन यह चीज़ें सोवियत्से अफ़ग़ानिस्तानको जाती हैं, जिनके बदलेमें अफ़ग़ानिस्तान ऊन, चमड़ा, कपड़ा, और सूखे मेवे भेजता है। घाटपर मेरे बक्सोंको खोलकर एक-एक चीज़को ग़ौरसे देखा गया। काग़ज़ोंकी छानबीन हुई। कनत्रोलर बुलाया गया। वह अख़बारकी कतरन और आमतौरसे बिकनेवाले फ़ोटो देना नहीं चाहता था। मैंने समझाया कि हिन्दुस्तानमें जाकर मुझे सोवियत्-भूमिपर एक पुस्तक लिखनी है। खैर, आखिरमें उसने सभी चीज़ें लौटा दीं। २ बजे बाद मोटरबोट रवाना हुआ। वहाँ मैं अकेला यात्री था, बाकी माल, माल उतारनेवाले तथा खलासी नाविक थे। वक्षु जिसे ओक्सेस

और आमू-दरिया भी कहते हैं, गंगासे कम चौड़ी और गहरी नहीं है। यही सोवियत् और अफ़ग़ानिस्तानकी सीमा है। मोटरबोटको नदी पारपार करनेमें एक घंटा लगा। दूसरे किनारेपर पहुँचनेपर अफ़ग़ान-अफ़सर मुझे नाव पर ही रोके रहा।

२८

अफगानिस्तानमें (२६ जनवरी--८ फरवरी १९३८)

सामानको नीचे उतारा गया। अफ़सरने मामूली तौरसे जाँच की। अफ़ग़ान (पठान) होते हैं ज्यादा मेहमान-नेवाज। उसने चाय पिलाई और रहनेकेलिए कहा। यह लोग नदीके कछारमें तम्बू डालकर पड़े हुए थे। मैंने उन्हें तकलीफ़ देना नहीं चाहा और कहा कि मैं जल्दीसे जल्दी मजारशरीफ पहुँच जाना चाहता हूँ। उसने कहा—मैं मजारसे ताँगा भेजनेकेलिए टेलीफोन कर देता हूँ, और यहाँसे साथमें सिपाही भेज दूँगा, असकरखानामें आपको ताँगा मिल जायगा। २५ अफगानी (साढ़े १२ रुपये) में दो घोड़े किराये कर दिये। एक घोड़ेपर सामान रखवा दूसरे घोड़ेपर चढ़के सिपाहीके साथ मैं चला। उस वक़्त सूर्य डूब रहा था। वक्षुकी कछारोंमें मूँजका जंगल लगा हुआ था। इसी जंगलमेंसे रास्ता था। मँगाने पर मोटर किनारे तक आ सकती थी, किन्तु वह खर्चीली थी। दो मील चलनेके बाद एक फ़ौजी चौकी मिली। साथ आए सिपाहीने वहाँ चिट्ठी दी। यहाँ भी रहनेकेलिए लोगोंने मूँजकी झोपड़ियाँ बना ली थी। मुझे झोपड़ीमें बैठाया और बहुत आग्रह करके भोजन कराया गया। भोजन चाहे जितना सीधा-सादा हो, लेकिन जब उसके साथ प्रेम और सत्कार मिल जाता है, तो वह बहुत मधुर हो जाता है। वक्षुतटसे खैबर तक पठानोंका साथ रहा, हर जगह मैंने उन्हें अकृत्रिम स्नेह-सत्कार दिखलाते पाया। सोवियत्-भूमिमें भी स्नेह-सत्कार है, लेकिन वह बिलकुल दूसरी दुनिया है। भोजनके बाद दो सशस्त्र घुड़सवार मेरे साथ कर दिए गये और डेढ़-दो घंटा रात गये मैं फिर रवाना हुआ। इस रातको भी ऊँटोंका काफला वक्षु-तटकी ओर जा रहा था। सशस्त्र सवार इसलिए जरूरी समझे गये थे, कि रास्तेमें कोई खतरा न आए। ५ मील चलनेके बाद असकरखाना आया। यह एक छोटासा किला था। ताँगा आकर खड़ा था। अफ़सरने दो नए सवार दिए, और हमारा ताँगा आगेकेलिए रवाना

हुआ। आधीरात गये हम शागिर्दकी फ़ौजी चौकीपर पहुँचे। यहाँ फोन नही आया था, इसलिए आगे जानेका इंतजाम नहीं हो सका और रातको हम वहीं एक घरमें सो गये। सवेरे (२७ जनवरी) शागिर्दसे चले। शागिर्द किसी वक्त बड़ी बस्ती थी, लेकिन अब उजड़ गई हैं। यहाँ पासमें न पहाड़ है न जंगल, लेकिन पशु-चारणकेलिए अच्छी जगह है।

यही पुराना वाह्लीक देश है। सड़क कच्ची थी, लेकिन ख़राब नहीं थी। दूरसे मजारकी जियारतके नीले गुम्बद दिखलाई पड़ने लगे। पहिले हवाई अड्डा आया, लेकिन आजकल वह परित्यक्त है, क्योंकि अमानुल्लाके शासनके ख़तम होनेके बाद काबुलसे ताशकन्द हवाई जहाज़ोंका जाना बन्द हो गया। फिर एक कच्चा किला आया, जिसके पास जानवरोंका बाजार लगा था। गुमरगमें गये, सामान वहाँ रखवा लिया गया, और सरकारी होटलमें हमारे रहनेका इन्तिजाम करके भेज दिया गया। बलख़, मजारशरीफ और आगे ऐबकतक उजबक लोगोंका प्रदेश है—वही उजबक जो वक्षु पार सोवियत् उजबकिस्तानमें बसते है अर्थात् ताशकन्दसे ऐबकतक सारा प्रदेश उजबक-जातिका है। सोवियत्की तुर्कमान और ताजिक जातियोंके भी लाखों भाई-बन्द इसी तरह अपने भाइयोंसे अलग करके काबुलके राजमें डाल दिये गये है। अफ़गानिस्तानके भीतर रहनेवाले ये लोग जानते हैं, कि नदी पार उनके भाई एक नया स्वर्ग बनानेमें लगे हुए है, और बहुत दूरतक उनका जीवन एक बहिश्ती जिन्दगीसा हो गया है। यद्यपि दूसरी सरकारोंकी तरह अफ़गान-सरकार भी कोशिश करती है कि उसके यहाँके ताजिक-उजबक-तुर्कमान अपने सोवियत्-निवासी भाइयोंसे कोई सम्पर्क स्थापित न रख सकें; लेकिन उन्हे आमूके किनारे तो जाना ही पड़ता है, जहाँसे वह मीलोंतक बलती तेरमिजकी बिजली-बत्तियोंको देख सकते है। कभी-कभी छिपकर आने-जानेवालोंसे और भी बातें उन्हें मालूम होती रहती हैं। सोवियत् कौन्सलत् और दूतावासमें भी उनके भाई अफसर होकर आते है, उनसे भी कभी-कभी बातचीतका मौका मिलता है। इस लड़ाईके बीचमें तो सोवियत्के इन प्रजातन्त्रोंको अपनी सेना ही रखनेका अधिकार नही मिला है, बल्कि वह दूसरे देशोंमें अपने राजदूत भी रख सकते है। जिस वक्त उजबक, तुर्कमान और ताजिक प्रजातन्त्र अफ़गान सरकारसे दूत-सम्बन्ध स्थापित करनेकेलिए कहेंगे, उस वक्त इन-कार करना आसान नही होगा। सोवियत्-सीमाका हिन्दकुशतक पहुँचना उतना ही स्वाभाविक है, जितना कि उसका पोलैंडकी ओर कर्ज़न-रेखा तक था। यद्यपि अफ़गा-निस्तानके ताजिकों, उजबकों, तुर्कमानोंको "बोलशेविक लामजहब है" कहकर बहुत

भड़काया जाता है, लेकिन मैंने स्वयं कुछ ताजिकों और उजबकोंको कहते देखा —यह सब बातें झूठी हैं, एक दिन अपने भाइयोंसे मिलनेमें ही हमारा कल्याण है।

मजार एक अच्छा खासा कसबा है। यह अफ़ग़ानी तुर्किस्तानका व्यापारकेन्द्र है। पहिले यहाँ काफ़ी हिन्दुस्तानी दूकानें थीं, लेकिन अब अफ़ग़ान-सरकार विदेशी सौदागरोंको प्रोत्साहन नहीं देती। बहुतसे रोजगार सरकारने अपने हाथमें ले लिये, जिससे व्यापारियोंकेलिए मुक़ाबला करना मुश्किल हो गया। दोपहर बाद ताँगेसे बलख देखने गया। बलख यहाँसे ६ क्रोर (कोस) है। १५ अफ़ग़ानी (प्रायः ४ रुपयामें) आने-जानेका ताँगा किया था। घोड़ेके बारेमें क्या पूछना। बाह्लीकके घोड़े ठहरे। बाह्लीक घोड़े पुराने समयमें भी मशहूर थे। इधर ताँगेमें जुतता तो एक ही घोड़ा है, लेकिन उसके साथ-साथ एक और भी घोड़ा चलता है। सड़क कच्ची थी। रास्तेमें तख्तापुल नामक एक कच्चा क़िला मिला। आजकल यह खाली पड़ा है। फिर दूरतक फैला बलख-नगरका ध्वंसावशेष है। हजार साल पहिले यह दुनियाके सबसे बड़े शहरोंमें गिना जाता था, आज भी इसे मादरेशहर कहते हैं किन्तु अब जहाँ-तहाँ छोटे-छोटे गाँव रह गये हैं। हजरत अकसाका मजार बहुत पवित्र माना जाता है, इसके आसपास हजारों क़ब्रें बनी हैं। साथ चलनेवाला ताजिक बतला रहा था, कि हजरत अकसाकी छायामें जिसकी क़ब्र बन जाय, उसको दोजख-की आग नहीं जला सकती। अफ़ग़ान-सरकार बलखमें एक शहर नहीं छोटा-मोटा क़सबा बसाना चाहती है। बड़ी मस्जिदके थोड़े हिस्सेकी मरम्मत की गई है, उसके सामने गोल बाग़ बनाया गया है। एक ओर बहुतसी नई दूकानें बस गई हैं। यह दूकानें मजारसे लाकर बसाये गये यहूदियोंकी हैं; लेकिन मँगनीकी चीज़ोंको बेचनेसे थोड़े बड़े-बड़े शहर बसा करते हैं। बलखका भाग्य तभी खुलेगा, जब कि यहाँके उजबक भी अपने वक्षुपारके भाइयोंसे मिल जायेंगे।

मकानोंके बनानेकेलिए यहाँ ईंटोंके पकानेकी जरूरत नहीं पड़ती। जमीनके नीचे पुराने घरोंकी इतनी ईंटें पड़ी हैं, कि हजारों घर तैयार किये जा सकते हैं। एक जगह ईंटें निकाली जा रही थीं। मैंने जाकर देखा, वहाँ साढ़े तीन हाथ मोटी दीवार थी और एक-एक ईंट १५ इंच लम्बी और १५ इंच चौड़ी ३ इंच मोटी थी। आज ही मेरे पैरमें मोच आ गई थी, इसलिए ज्यादा नहीं घूम सकता था। ताँगा छोटीसी नदीके पुलसे पार हो रहा था, पुलपर कुछ लकड़ियाँ रखी थीं, घोड़ेका पैर उनमें फँस गया और चरेंकी आवाजके साथ वह वहीं गिर गया। मैंने तो समझा कि हड्डी टूट गई। लेकिन ताँगावाला घोड़ा खोलकर टहलाने लगा। दूसरा घोड़ा लगाके

कुछ मील दौड़नेके बाद उसका लँगड़ाना छूट गया।

अगले दिन (२८ जनवरी) मैंने पूछ-ताछ की, तो मालूम हुआ कि हुबली (कर्नाटक)के कप्तान प्रभाकर यहाँ चिकित्सक हैं। उनके पास गया। वड़े प्रेमसे मिले। वह २० महीनेसे यहाँपर हैं। पहिले आई० एम० एस० डाक्टर थे, पेन्शन लेनेके बाद उन्होंने दो सालकेलिए अफ़गान-सरकारकी नौकरी कर ली थी। धर्मसे वह ईसाई थे, लेकिन हिन्दुस्तानसे वाहर जानेपर हिन्दुस्तानियोंको हिन्दू-मुसलमान-ईसाईका ख्याल भूल जाता है, और वह अपनेको हिन्दुस्तानी समझने लगते हैं। यदि किसी अभागेने नहीं समझा, तो वहाँवाले ठोकर मार-मारकर समझा देते हैं।

२६ जनवरीको मैं बल्दिया (म्युनिसिपैल्टी)का म्यूज़ियम देखने गया। यहाँ पुराने सिक्कोंका अच्छा संग्रह है। यूनानी और कुषाण कालके चाँदी, सोने, ताँबेके हज़ारसे ऊपर सिक्के हैं। ज्यादातर सिक्के यहाँसे ३ कोस दक्खिन शहरवानमें मिले थे। गन्धारकलाकी कितनी ही चूनेकी मूर्त्तियाँ भी हैं। कुछ पुरानी हस्तलिखित पुस्तकें थे, जिनमेंसे एक हज़ार वर्षसे ज्यादा पुरानी थी।

गुमरगने मेरे दोनों बकसोंपर मुहर लगा दी और उनके बारेमें काबुल तार भी दे दिया। मजारशरीफ़से काबुलको लॉरियाँ बराबर जाया करती हैं। ६० अफ़ग़ानी (१५ रुपया)में काबुल जानेवाली लारीपर ड्राइवरके पास सीट मिली। रुपयोंके हिसाबमें पेशावरसे २० रुपयेमें आदमी मजारशरीफ़ पहुँच सकता है, और २५ रुपयेमें सोवियत्की सीमाके भीतर दाखिल हो सकता है। हमारी लॉरीके मालिक जरीफ़खान बड़े ही भलेमानुस निकले। काबुलतक उन्होंने अपने ही साथ खानेके-लिए मुझे मजबूर किया। मुझे वह एक भी पैसा खर्च नहीं करने देते थे। दोपहर बाद हम मजारसे रवाना हुए। पहिले खुला मैदान था, फिर पहाड़के भीतर घुसे। कोतल-ऐबक (ऐबकजोत) एक छोटासा डाँड़ा है, उसे पारकर उस दिन रातको ऐबककी सरायमें ठहरे। अब हम हजारा लोगोंके प्रदेशमें आ गये थे। हज़ारा मंगोल—चंगेज़खाँवाले मंगोल—है। अफ़ग़ानिस्तानमें सिर्फ़ यही शिया धर्मके माननेवाले हैं, बाकी सभी सुन्नी हैं।

अगले दिन (३० जनवरी) १० बजे रवाना हुए। कोतल-रोबातक काफ़ी ऊँची जोत है। यहाँ ऊपर बर्फ़ थी। मैंने लॉरीमें कई तावीज़ें बँधी देखी। ड्राइवरसे पूछा, तो उसने कहा—"अभी आगे आप देखेंगे, रास्ता बहुत खतरनाक है। मैंने बड़े-बड़े पीरोंकी तावीज़ें ली है, यह न होती, तो गाड़ी न जाने कितनी बार उलटी होती।" उस वक़्त मुझे महम्मदोफ़की बात याद आई। उसने कहा था, कि सुल्ता-

तुस्सादातकी *ज़ियारतमें गदहोंकेलिए भी तावीज़ मिलती थी।* आगे उतराईके बाद मैदानी जमीन आई, यह था गोरीका प्रदेश, जिसने हिन्दुस्तानके विजेता सुल्तान *शहाबुद्दीनको पैदा किया था। यहाँ शाली (धान)के खेत बहुत ज्यादा थे। काफी* रात जानेपर हम दोशी पहुँचे, और रातको यही ठहर गये।

३१ जनवरीको चाय पीकर चले। भूमि सारी पहाड़ी है। कुछ चढ़ाई आई, इधर खेत और बाग़ बहुत थे, पहाड़ नंगे थे और उनपर बर्फ नहीं थी। उस दिन रातको हम यलूवलामें ठहरे। अगले दिन (१ फर्वरी) तड़के ही रवाना हुए। थोड़ा आगे जानेपर यलूवलाका किला मिला। किलेसे थोड़ा पहिले ही वामियानकी सड़क अलग हुई। वामियान देखनेकी इच्छा थी, लेकिन इस वक़्त तो सामानके साथ पहिले काबुल जाना ज़रूरी था। काबुलसे आनेका विचार कर रहे थे, इसी बीच वर्फ़ पड़ गई, और फिर आनेका रास्ता नहीं रह गया। किलेसे आगे चढ़ाई थी, और बरफके ऊपर लारीके पहिए फ़िसल रहे थे। सब लोग उतर गये। बड़ी मुश्किलसे लारी आगे बढ़ी। एक छोटासा कोतल पार हो फिर कुछ दूरपर हिन्दुकुशका सबसे बड़ा डाँड़ा कोतल-शबकर आया। यहाँ चारों ओर बरफ़ ही बरफ़ थी। आगे उतराई और बरफ मिलती गई। शामसे बहुत पहिले हम चारदी-गुर्बन पहुँचे। गुर्बन नदीके किनारे चारदी बड़ी बस्ती है, यहाँ दूकानें भी काफ़ी हैं। एक देशी होटलमें ठहरे। पता लगा, मिट्टीकी पिटारियोंमें बन्द किए ताज़े अंगूर यहाँ मिलते हैं। जरीफ़ खानको मालूम होने नहीं दिया, और मैंने २,३ सेर अंगूर खरीद मँगवाया। *खानेकेलिए मैं यहीं* अपना पैसा खर्च कर सका।

रातसे ही बरफ पड़ने लगी थी। दूसरे दिन (२फर्वरी) जब हम चले, तब भी बरफ पड़ रही थी। गुरबन नदीकी धार बह रही थी, किन्तु उसके किनारेपर सफेद बरफकी मगजी लगी हुई थी। एक जगह गदहेवाला लारीसे बिल्कुल चार अंगुलपर खड़ा था। ड्राइवरने जब हटनेकेलिए कहा तो उसने कहा—"बरो, खुदा खैर कुनी" (जाओ, खुदा खैर करेगा)। आगे शागिर्दकी बड़ी बस्ती आई। यहाँ बड़ा किला है। गुरबन नदीका किनारा छोड़कर हम दाहिनी ओर मुड़े, फिर मतरुका कस्बा आया। "मतफता अतक" (मतरुसे अटक) पठानोंका देश कहा जाता है। अब कोहदामन—कपिशा—की विस्तृत उपत्यका थी। ढाई हजार बरससे अपने अंगूरोंकेलिए कपिशा मशहूर है। चहारेकार यहाँका बड़ा कस्बा है। सारी कपशा बरफसे ढँकी हुई थी। छतोंके ऊपर लंबे-लंबे दंदोंवाली दीवारें खड़ी देखकर, मैं पहिले समझने लगा कि यह बंदूकका निशाना लगानेकेलिए है; लेकिन एक ओर थोड़ीसी दोहरी

दीवार इसकेलिए उपयुक्त नहीं थी। जरीफ़ खानने बतलाया कि इनपर अंगूरके गुच्छे सुखाए जाते हैं। चाहारेकारमें पचासों सुनारोंके घर है, जिनको देखकर पता लगता था कि पठानियोंको जेवरका बहुत शौक है। सड़कसे बाएँ हटकर एक जला हुआ घर मिला। मेरे साथीने बतलाया, यही बच्चा-सक्काका घर है। बच्चा-सक्का ताजिक था। कोहदामन सारा ताजिकोंका है। यहाँसे बदख्शाँ होते ताजिकिस्तान तक सारा प्रदेश ताजिक लोगोंका है। ताजिक पढ़ने-लिखनेमें ज्यादा होशियार और लड़नेमें बहादुर होते हैं। मध्यएसियामें जब ७ वीं सदीमें अरब पहुँचे, तो ताजिकोंने उनके दाँत खट्टे कर दिए थे। आज १४ लाख ताजिकोंका अपना एक सोवियत् प्रजातंत्र है। शिक्षा, उद्योग-धंधा, सेना सभीमें वह बहुत तेजीसे उन्नति कर रहे हैं, और उनकी प्रगतिको कोहदामनके ताजिक बड़ी लालसासे देखते हैं। दो बजे कपिशा पारकर हम एक छोटेसे कोतलपर पहुँचे, इसकी एक ओर कपिशा थी, और दूसरी ओर कुभा (काबुल)। वस्तुतः यही कोतल (जोत) पठान और ताजिक देशोंकी सीमा काबुल-उपत्यकामें भी चारों ओर बरफ दिखाई पडती थी। वृक्षोंपर पत्ते नहीं थे, बालाबाग पहिले मिला, फिर हम काबुल शहरमें प्रविष्ट हुए। बस हमें होटल-काबुलके सामने ले गई। यह सरकारी होटल था। ठहरनेकेलिए एक कमरा मिल गया।

काबुलमें (३–७ फर्वरी)—गुमरगमें गये, बकसोंको खोलकर दिखलाया। इस कामसे छुट्टी पाकर अकदमी-अफ़ग़ान (अफगान-परिषद्) में पहुँचे। यहाँ एक भारतीय भाई याक़ूब हसन खाँसे मुलाकात हुई। २३ साल पहिलेकी बात है। उस वक़्त जर्मनीके साथ भीषण युद्ध चल रहा था, उसी वक़्त लाहौरके कालेजके कुछ विद्यार्थी देशसे यह ख़्याल लेकर भाग निकले, कि बाहर जाकर अपने देशको आज़ाद करनेकी तदबीर करेंगे। याकूबहसन उन्हीं तरुणोंमें थे। अब भी उनके हृदयमें देश-भक्तिकी आग जल रही थी। लेकिन अब अधिकतर उनका समय साहित्यिक कामोंमें लगता है। उनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। ५ घंटे मैं वहीं रहा। अकदमी पश्तो साहित्यकेलिए बहुत काम कर रही है। उसमें एक नया व्याकरण और कोष तैयार किया जा रहा था, कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। काबुलके पठान सदियोंसे फ़ारसी भाषाको अपनाए हुए है। काबुलकी सड़कोंपर फारसी उसी तरह बोली जाती है, जैसे पश्तो। पहिले पठान अपनी मातृभाषाको गँवारू समझकर उपेक्षा करते थे, लेकिन अब राष्ट्रीयताका भाव उनमें जग गया है, इसलिए वह पश्तोको ही सर्वोपरि रखना चाहते हैं। मेरे काबुल रहते वक़्त याकूब हसन बराबर चार-चार

पाँच-पाँच घंटा मेरे साथ रहते। पश्तोभाषा और संस्कृतभाषाका क्या सम्बन्ध है, इसपर बहुत विचार होता रहा। उन्होंने हजारों शब्द जमा किए थे, और मुझसे संस्कृत प्रतिशब्द पूछा करते थे। यद्यपि पश्तोपर ईरानीका भी प्रभाव है, लेकिन संस्कृतसे उसका सम्बन्ध ज्यादा घनिष्ठ है। वारिको वाल, आपको ओवा, तोयको तोय ही कहा जाता है, इसी तरह गिरिशाको गरसँ, अप्शाको ओसँ कहकर वैदिक शब्दोंसे भी वह अपनी घनिष्ठता बतलाती है। सरवन्त पश्तोमें सद्वन है।

४ फ़र्वरीको बर्फ गिरनी शुरू हो गई, इसलिए अब एक-दो दिन पेशावर जानेकी आशा नहीं थी, क्योंकि आगेकी जोतोंमें बरफ़के ज्यादा हो जानेसे जाना सम्भव नहीं था। ५ फ़र्वरीको फ्रेंच-दूतावासके मोशियें मोनियेसे मुलाक़ात हुई। कपिशा अपनी उपत्यकामें किसी वक़्त बड़ी नगरी थी, इसके ध्वंसावशेषको बगराम कहते हैं। कुछ ही समय पहिले फ़्रेंच विद्वानोंने इसकी खुदाई की थी, जिसमें बहुतसी ऐतिहासिक सामग्री मिली थी। मोनिये इस खुदाईमें रहे थे। उन्होंने खुदाईके कुछ फ़ोटो दिखाये। फिर हमारे साथ वह काबुल-म्यूजियम गये। म्यूजियम दारुलअमानमें है—अमानुल्ला यहाँ नया नगर बसाना चाहते थे, लेकिन बसनेसे पहिले ही धर्मान्धोंने उन्हें काबुलका तख़्त छोड़नेकेलिए मजबूर किया। म्यूजियम नया है। बच्चासक्काके जमानेमें कुछ मूर्तियाँ ख़राब हो गईं; तो भी यहाँका संग्रह बहुत सुन्दर है। हड्डासे प्राप्त एक मैत्रेय मूर्तिकी दोनों तरफ अफ़ग़ान और शक परिधानका सुन्दर चित्रण था। मैंने जब इतिहास-विभागके विद्वान अहमदअलीख़ाँसे उस मूर्तिको दिखलाते हुए कहा—देखिये, पठानियाँ दूसरी तीसरी सदीमें भी सलवार पहनती थीं। सलवार आज भी हम देखते हैं, लेकिन जैसी गोल, चढ़ा-उतार, और खूबसूरत शिकन पड़ी यह सलवार थी, वैसी अहमदअलीने भी नहीं देखी थी, वह उछल पड़े।

स्याहगिर्द-शागिर्द (कपिशा)से मिली मिट्टीकी सुन्दर रंगीन मूर्तियाँ देखी, उनके रंग अब भी ताजा मालूम होते थे। स्त्रियोंके केशोंको पचासों तरहसे सजाया गया था। मोनिये कह रहे थे, कि इन केशविन्यासोंको पेरिसकी सुन्दरियाँ पायें, तो निहाल हो जायें। बेग्रामसे हाथीदाँतके ऊपर साँची और भरहुतकी तरहसे किसी स्तूपका बहुत सुन्दर चित्र उत्कीर्ण है। वहींसे गंगा-यमुनाकी काष्ठकी सुन्दर मूर्तियाँ मिली हैं। पाणिनिके वक़्त (ईसापूर्व चौथी सदीमें) कपिशाकी सुरा और अंगूर बहुत मशहूर थे, यहाँसे काँचकी बहुत सुन्दर सुराधानी और चषक मिले हैं। यहाँके पुराने हिन्दुओं और बौद्धोंकी कितनी ही चीजें म्यूजियममें मैंने देखीं।

१ में ४०० घर हिन्दू रहते हैं, उनके २२ मन्दिर हैं।

हिन्दू अपने घरोमें पंजाबी बोलते हैं। काबुलके अलावा चारिकार, बेग्राम, कन्धार, ग़ज़नी और जलालाबादमें भी हिन्दू बसते हैं। इनमें ब्राह्मण (सारस्वत, मोहियाल) खत्री, अरोड़ा, वैश्य, (उत्तरार्धी, दक्षिणी, सुनार आदि) जातियाँ हैं। हिन्दू अधिकतर दूकानदारी करते हैं। वह अपनेको महमूद ग़जनीके समय आया बतलाते हैं। उन्होंने अपने कई तीर्थ बना लिये हैं। दर्राशक्कर, शंकर बन गया, और वहाँ उनका मानसरोवर झील है। सरायखोजाके पास कलायगग्गरमें जटाशंकर है, लोगरके पास बाणगंगा है। ताशकुर्गान् और ऐबकके पास कवलानी गाँवका चेक्-आब शिवजीका चश्मा है। आज वसन्तपंचमी थी, हम लोग आसामईके मन्दिरमें गये, दो हारमोनियम, सितार और तबलापर विनयपत्रिका (तुलसीदास) के पद गा रहे थे।

६ फ़र्वरीको धूप निकल आई थी, बर्फ़ पिघलने लगी। सड़कोंपर कीचड़ उछल रही थी। रास्तेसे चलना आसान नहीं था। हम शहरके भीतर चौक और बाज़ार देखने गये। वहाँकी टेढ़ी-मेढ़ी गलियोंको देखकर बनारस याद आ रहा था। यद्यपि अब लाल पगड़ीका निर्बन्ध नहीं है, तो भी बहुतसे हिन्दू लाल पगड़ी बाँधते हैं। कितनी ही हिन्दू स्त्रियाँ पीला बुरका भी ओढ़ती हैं। बाग़बान-कूचामें "जोगियाँदाथावें" या "बड्डायावें" काबुलमें सबसे बड़ा हिन्दूमठ है। कहते हैं, यहाँ गोरखनाथके शिष्य वीररतननाथ आये थे, उन्होंने आँगनके सूखे वृक्षको हरा कर दिया था। इसके महन्त पेशावरमें रहते हैं, आसामईके महन्त राघवदास भी पेशावरमे रहते हैं। पहिले साधू लोग यहाँ आया जाया करते थे, लेकिन जबसे पासपोर्ट लेना ज़रूरी हो गया, तबसे साधुओंका आना बन्द हो गया। मैंने काबुलमें दो फ़िल्म देखे, जो दोनों ही अमेरिकन फ़िल्म थे। उनमें फ़ैशन और नई रोशनीकी भरमार थी। दर्शक बहुत कम थे। मैंने अपने साथीसे पूछा तो उन्होंने बतलाया कि हिन्दुस्तानी फ़िल्म जब आता है, तो दर्शकोंकी भीड़ लग जाती है, लेकिन हमारे मालिक अमानुल्लाके पतनके बाद खुलकर तो नहीं कुछ करते, लेकिन भीतर ही भीतर युरोपियन भेस और भाव का प्रचार करना चाहते हैं। उन्होंने यह भी बतलाया कि यद्यपि अमानुल्लाके समयकी तरह अब मुँह खोले स्त्रियाँ बाहर नहीं घूमतीं, लेकिन घरके भीतर पर्दा नहीं रखती और युरोपियन पोशाक पहनती हैं।

काबुलसे प्रस्थान—८ फ़र्वरीको ५ रुपएपर पेशावरकी लारीमें ड्राइवरके पास बैठनेकी जगह मिली। काबुलसे पेशावर १९१ मील है। १ बजे हमारी गाड़ी रवाना हुई। दर्राकाबुलखुर्द (७५०० फ़ीट) एक छोटीसी जोत है। काबुल-उपत्यका पार की, बरफ़ बराबर मिल रही थी। बर्फपर ऊँटोंका चलना मुश्किल था, उनका पाँव फिसलता

था। आगे का दर्रा-जगदलक (८२०० फ़ीट) बहुत भारी जोत है। चढ़ाई दूर तक थी, इसलिए उतनी कठिन नहीं थी। एक बार इसी दर्रेमें अंगरेज़ी फ़ौजको बड़ी हानि उठानी पड़ी। जगदलकसे नीचे उतराई बहुत मुश्किल है। बहुत दूरतक हमें बर्फ़ ही बर्फ़ मिली फिर बर्फ़ खतम हो गई। पहाड़ोंपर जहाँ तहाँ मूँज दिखलाई पड़ती थी, यही मूँजवान पर्वत तो नहीं है? आठ बजे एक जगह खानेकेलिए ठहरे। ग्यारह बजे रातको जलालाबाद (दो हज़ार नौसौ बासट फ़ीट) पहुँचे। इधर वृक्षोंके पत्ते हरे थे। गर्मी मालूम होती थी। २२ मील और चलकर २ बजे रातको हम दक्का पहुँचे और रातको वहीं सो गये। दक्कामें फिर लारियोंके सामानकी जाँच हुई, काफ़ी देर ठहरना पड़ा, फिर पासपोर्ट अफ़सरके पास गये। पासपोर्टका काम तो उन्होंने जल्दी खतम कर दिया। लेकिन जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं इतिहास और पुरातत्व का विद्यार्थी हूँ, तो उनके प्रश्न खतम ही नहीं होते थे, और उधर लारीवालेको देर हो रही थी।

९ बजे हमने वहाँसे छुट्टी पाई और ९ मील चलकर तोरखम पहुँचे। यहाँ कुछ अफ़ग़ानी सिपाही थे। अफ़सरने पासपोर्टके बारेमें रजिस्टरपर लिखा, मुहर और दस्तखत की। चन्द ही क़दमपर एक फाटक था, यही अंग्रेज़ीभारत और अफ़ग़ानिस्तानकी सीमा थी। फाटक खुला और हमारी लारी अब टूटी-फूटी सड़कसे कोलतार पड़ी सड़कपर चलकर अंग्रेज़ी तोरखमके आफ़िसके सामने खड़ी हो गई। क्लर्कने पासपोर्टको रजिस्टरपर चढ़ाया, फिर हम नौजवान अफ़सर सादुल्लाख़ाँके सामने गये। उन्होंने भी यात्राके बारेमें कुछ पूछा। उनकी जिज्ञासा और बढ़ गई, जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं बौद्धकला और साहित्यमें काफ़ी परिचय रखता हूँ। उन्होंने कहा, हमारे मर्दानमें बहुतसी बौद्धमूर्तियाँ निकलती हैं, आप एक बार वहाँ ज़रूर आइए।

डेढ़ घंटे बाद हमारी लारी फिर चली। पेशावर वहाँसे सिर्फ़ ४९ मील है। ४ मीलकी हल्की चढ़ाईके बाद लन्डीखाना पहुँचे। रेल यहाँ तक आई है। फिर हम खैबरके दर्रेमें घुसे, और चढ़ाई चढ़ते-चढ़ते लन्डीकोतलकी जोतपर पहुँचे। १९२६ में एक बार मैं यहाँ तक आया था। सड़क सभी जगह अच्छी है, और जगह-जगह सैनिक मोर्चाबन्दी है। रास्तेमें कितने ही पठानोंके गाँव मिले, वह लाठीकी तरह बन्दूकोंको लिए घूम रहे थे। जमरूदमें फिर ड्राइवरका कागज-पत्र देखा गया। अब आगे पेशावरकी हरी-भरी उपत्यका थी। सिक्खपुरियोंकी धर्मशालाका पता लगा, हम अपना सामान लेकर वहाँ पहुँच गये।

२६

भारतमें (१९३८)

मैं बतला चुका हूँ, कि सोवियत्से इतनी जल्दी लौटनेका एक मुख्य कारण था पुस्तकोंकी खोज और फ़ोटोकेलिए तिब्बत जाना। अब भिक्षुके वेषमें मैं नहीं रहना चाहता था, लेकिन तिब्बत जानेकेलिए वह बहुत जरूरी था, नहीं तो वहाँकी गुंबाओंके अँधेरे पुस्तकालयोंका ख़ुलना आसान न होता; इसलिए पेशावरमें आकर कोट-पतलून हटाकर मुझे फिर पीले कपड़ोंको पहनना पड़ा। दूसरे दिन (१० फर्वरी) को मैंने रेल पकड़ी। यह ट्रेन सहारनपुर तक जाती थी। दूसरे दिन (११ फर्वरी) दोपहरको मैं सहारनपुर उतरा। स्टेशनके पास ही एक होटलमें ठहरा। शहरमें घूमते-घामते पंडित कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकरसे' भेंट हुई। उसी दिनकी गाड़ीसे इलाहाबादकेलिए रवाना हो गया और १३के दोपहरको प्रयागमें डाक्टर बदरीनाथ प्रसादके यहाँ पहुँच गया। प्रूफ़ अब भी ला जर्नल प्रेसमें कुछ थे, इसलिए तीन-चार दिन ठहरना भी जरूरी था। १६को सारनाथ गया। गेशे मिले। इधर वह कई महीने नगरमें डाक्टर रोइरिकके साथ रहे थे, और उन्होंने काफ़ी तरक्की कर ली थी। उन्हें भी तिब्बत जाना है, यह बतला दिया। अब पटनामें जाकर पता लगाना था कि जानेके बारेमें क्या-क्या काम हुआ है। २३ फर्वरीको पटना पहुँचा, तो मालूम हुआ कि सिकमके पोलिटिकल एजेन्टके पास लिखा गया था, उसने दरख़्वास्तको भारत सरकारके पास भेज दिया है। भारत सरकारने उन स्थानोंको पूछा था, जहाँ-जहाँ मुझे जानेकी जरूरत थी।

पटनासे नाम भेज दिए गए और भारत सरकारने तिब्बत सरकारको लिखा। यहाँ वालोंको नहीं मालूम था, लेकिन मैं तो जानता था, कि तिब्बत सरकारको किसी बातके निर्णय करनेमें कितनी देर लगती है। मैं इसकी प्रतीक्षाकेलिए तैयार नहीं था, उसका प्रबन्ध तो मुझे अपनी बुद्धि और साहसके बलपर करना था। लेकिन तिब्बत जानेसे पहिले सोवियत्-भूमिपर अपनी पुस्तकको लिख डालना जरूरी था। इसकेलिए मैंने सबसे एकांत और सुन्दर स्थान सारनाथको चुना। पटनामें यह भी मालूम हुआ है कि मोटर-दुर्घटनासे अनुग्रहबाबूको बहुत चोट आई। यह सुनकर बहुत खेद हुआ कि हजारीबाग़ जेलके मेरे साथी पंडित पारसनाथ त्रिपाठीका उसी मोटर-दुर्घटनामें देहांत हो गया। २८ फर्वरीको मैं

था। आगे का दर्रा-जगदलक (८२०० फ़ीट) बहुत भारी जोत है। चढ़ाई दूर तक थी, इसलिए उतनी कठिन नहीं थी। एक बार इसी दर्रेमें अंगरेजी फौजको बड़ी हानि उठानी पड़ी। जगदलकसे नीचे उतराई बहुत मुश्किल है। बहुत दूरतक हमें बर्फ़ ही बर्फ़ मिली फिर बर्फ़ खतम हो गई। पहाड़ोंपर जहाँ तहाँ मूँज दिखलाई पड़ती थी, यही मूंजवान पर्वत तो नहीं है? आठ बजे एक जगह खानेकेलिए ठहरे। ग्यारह बजे रातको जलालाबाद (दो हजार नौसौ बासट फ़ीट) पहुँचे। इधर वृक्षोंके पत्ते हरे थे। गर्मी मालूम होती थी। २२ मील और चलकर २ बजे रातको हम दक्का पहुँचे और रातको वहीं सो गये। दक्कामें फिर लारियोंके सामानकी जाँच हुई, काफ़ी देर ठहरना पड़ा, फिर पासपोर्ट अफ़सरके पास गये। पासपोर्टका काम तो उन्होंने जल्दी खतम कर दिया। लेकिन जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं इतिहास और पुरातत्व का विद्यार्थी हूँ, तो उनके प्रश्न खतम ही नहीं होते थे, और उधर लारीवालेको देर हो रही थी।

९ बजे हमने वहाँसे छुट्टी पाई और ९ मील चलकर तोरखम पहुँचे। यहाँ कुछ अफ़गानी सिपाही थे। अफ़सरने पासपोर्टके बारेमें रजिस्टरपर लिखा, मुहर और दस्तखत की। चन्द ही कदमपर एक फ़ाटक था, यही अंग्रेजीभारत और अफ़गानिस्तानकी सीमा थी। फाटक खुला और हमारी लारी अब टूटी-फूटी सड़कसे कोलतार पड़ी सड़कपर चलकर अंग्रेजी तोरखमके आफ़िसके सामने खड़ी हो गई। क्लर्कने पासपोर्टको रजिस्टरपर चढ़ाया, फिर हम नौजवान अफ़सर सादुल्लाखाँके सामने गये। उन्होंने भी यात्राके बारेमें कुछ पूछा। उनकी जिज्ञासा और बढ़ गई, जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं बौद्धकला और साहित्यसे काफ़ी परिचय रखता हूँ। उन्होंने कहा, हमारे मर्दानमें बहुतसी बौद्धमूर्त्तियाँ निकलती हैं, आप एक बार यहाँ जरूर आइए।

डेढ़ घंटे बाद हमारी लारी फिर चली। पेशावर वहाँसे सिर्फ़ ४६ मील है। ४ मीलकी हल्की चढ़ाईके बाद लन्डीखाना पहुँचे। रेल यहाँ तक आई है। फिर हम खैबरके दर्रेमें घुसे, और चढ़ाई चढ़ते-चढ़ते लन्डीकोतलकी जोतपर पहुँचे। १९२६ में एक बार मैं यहाँ तक आया था। सड़क सभी जगह अच्छी है, और जगह-जगह सैनिक मोर्चाबन्दी है। रास्तेमें कितने ही पठानोंके गाँव मिले, वह लाठीकी तरह बन्दूकोंको लिए घूम रहे थे। जमरूदमें फिर ड्राइवरका कागज-पत्र देखा गया। अब आगे पेशावरकी हरी-भरी उपत्यका थी। सिकारपुरियोंकी धर्मशालाका पता लगा, हम अपना सामान लेकर वहाँ पहुँच गये।

२६

भारतमें (१९३८)

मैं बतला चुका हूँ, कि सोवियत्‌से इतनी जल्दी लौटनेका एक मुख्य कारण था पुस्तकोंकी खोज और फ़ोटोकेलिए तिब्बत जाना। अब भिक्षुके वेषमें मैं नहीं रहना चाहता था, लेकिन तिब्बत जानेकेलिए वह बहुत जरूरी था, नहीं तो वहाँकी गुमवाओंके अँधेरे पुस्तकालयोंका खुलना आसान न होता; इसलिए पेशावरमें आकर कोट-पतलून हटाकर मुझे फिर पीले कपड़ोंको पहनना पड़ा। दूसरे दिन (१० फर्वरी) को मैंने रेल पकड़ी। यह ट्रेन सहारनपुर तक जाती थी। दूसरे दिन (११ फर्वरी) दोपहरको मैं सहारनपुर उतरा। स्टेशनके पास ही एक होटलमें ठहरा। शहरमें घूमते-घामते पंडित कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'से भेंट हुई। उसी दिनकी गाड़ीसे इलाहाबादकेलिए रवाना हो गया और १३के दोपहरको प्रयागमें डाक्टर बदरीनाथ प्रसादके यहाँ पहुँच गया। प्रूफ़ अब भी ला जर्नल प्रेसमें कुछ थे, इसलिए तीन-चार दिन ठहरना भी जरूरी था। १६को सारनाथ गया। गेशे मिले। इधर वह कई महीने नगरमें डाक्टर रोइरिकके साथ रहे थे, और उन्होंने काफ़ी तरक्की कर ली थी। उन्हें भी तिब्बत जाना है, यह बतला दिया। अब पटनामें जाकर पता लगाना था कि जानेके बारेमें क्या-क्या काम हुआ है। २३ फर्वरीको पटना पहुँचा, तो मालूम हुआ कि सिकमके पोलिटिकल एजेन्टके पास लिखा गया था, उसने दरख्वास्तको भारत सरकारके पास भेज दिया है। भारत सरकारने उन स्थानोंको पूछा था, जहाँ-जहाँ मुझे जानेकी जरूरत थी।

पटनासे नाम भेज दिए गए और भारत सरकारने तिब्बत सरकारको लिखा। यहाँ वालोंको नहीं मालूम था, लेकिन मैं तो जानता था, कि तिब्बत सरकारको किसी बातके निर्णय करनेमें कितनी देर लगती है। मैं इसकी प्रतीक्षाकेलिए तैयार नहीं था, उसका प्रबन्ध तो मुझे अपनी बुद्धि और साहसके बलपर करना था। लेकिन तिब्बत जानेसे पहिले सोवियत्-भूमिपर अपनी पुस्तकको लिख डालना जरूरी था। इसकेलिए मैंने सबसे एकांत और सुन्दर स्थान सारनाथको चुना। पटनामें यह भी मालूम हुआ है कि मोटर-दुर्घटनासे अनुग्रहबाबूको बहुत चोट आई। यह सुनकर बहुत खेद हुआ कि हजारीबाग़ जेलके मेरे साथी पंडित पारसनाथ त्रिपाठीका उसी मोटर-दुर्घटनामें देहांत हो गया। २८ फर्वरीको मैं

नालन्दा और राजगृह गया। फिर दो मार्चको बनारस पहुँच गया और बर्मी-धर्मशालामें पुस्तक लिखनेका अनुष्ठान होने लगा। प्रेमचन्दजीके गाँवके श्री गुरुप्रसाद विश्वकर्मा साहित्यरत्न लिखनेकेलिए मिल गए थे। उनके अक्षर भी अच्छे थे, और क़लम भी तेज़ चलती थी। ३ मार्चको लिखाई शुरू हुई। बीचमें ३ दिन (७-९ मार्च) लखनऊ जाना पड़ा, उसके बाद १३,१४ दो दिन और चिरौंदा (पटना)के पुस्तकालयके वार्षिकोत्सवमें जाना पड़ा, नहीं तो बराबर ८ अप्रैल तक लिखना जारी रहा। सारी पुस्तक एक महीनेमें समाप्त हो गई। राय कृष्णदासने उसे नागरीप्रचारिणी सभाकी ओरसे प्रकाशित करनेकेलिए माँगा, मैंने स्वीकार कर लिया।

वैसे असहयोगके ज़माने (१९२१—२२) में ही मैं अनुभव करने लगा था, कि हमारा राजनीतिक आन्दोलन और राजनीतिक प्रगति तबतक अच्छी तरह नहीं हो सकती, जब तक कि जनता समझ-बूझकर इसके भीतर न आए। इसीलिए मैं छपरा जिलेमें सदा वहाँकी बोलीमें ही भाषण दिया करता था। पिछले एसेम्बलीके चुनावमें जनभाषाके गीतोंके महत्वको मैंने देखा था और मैं उसकी उपयोगिताको समझता था। सोवियत्‌में मैंने जननृत्य देखे और वहाँके महान् नर्तकोंकी कला देखकर मुझे अपना बचपनका देखा अहीरनृत्य याद आया। सारनाथमें पूछनेपर मालूम हुआ, कि अभी यहाँ अहीरनृत्य जाननेवाले कुछ आदमी हैं, मैंने इसकेलिए तैयारी की। लेकिन, १८ मार्चको बनारसमें हिन्दू-मुसलिम झगड़ा हो गया, अब उस वक़्त नृत्यकी किसको सूझती। २३ मार्चको बाबू मैथिलीशरण गुप्त, श्रीरायकृष्णदास, पं० रामनारायण मिश्र और बाबू शिवप्रसाद गुप्त आए। देर तक बातचीत होती रही। बाबू मैथिलीशरणको शिकायत थी, कि मैं अपने लेखोंमें कभी-कभी ऐसे निष्ठुर प्रहार कर जाता हूँ, कि कितने ही श्रद्धालु हिन्दू-हृदय बहुत पीड़ा अनुभव करते हैं। बाबू शिवप्रसाद जब अपनी मोटरसे बनारस लौट रहे थे, उसी वक़्त चौखण्डी-स्तूपके पास कुछ हिन्दू तीन मुसलमानोंको मार रहे थे। वह एककी जानको तो नहीं बचा सके, लेकिन दोकी जान बच गई। पुलिसने धर-पकड़ शुरू की, गंजगाँवमें इतना आतंक छा गया कि लोगोंको किसी चीजकी सुध न रही। वहाँके सभी मरद पकड़ लिए गए। २४ मार्चको कोई औरत घरसे बाहर नहीं निकली। खेतोंमें कटे अनाज पड़े हुए थे, उन्हें कोई उठाके खलिहानमें रखनेवाला नहीं था। थानोंपर गायें भैंसें बिना भूसा-पानीके बँधी हुई थीं। अगले दिन काश्यपजीको मालूम हुआ, उन्होंने पशुओंको पानी और भूसा डलवाया। स्कूलके विद्यार्थियोंको ले जाकर अनाज खलिहानमें रखवाया।

गाँवकी सफ़ाई कराई। औरतोंको हिम्मत दिलाया। रातभर गाँवमें पहरा देते रहे।

पुस्तक खतम हो गई। ११ अप्रेलको मैंने प्रयाग जाकर पुस्तक लॉ जर्नल प्रेसमें कम्पोज़ करनेकेलिए दे दी। फिर पटना गया। वहाँ मेरे तिब्बत जानेका निश्चय हो गया। सनाठी गाँवमें मुजफ़्फ़रपुर ज़िला साहित्य सम्मेलन हो रहा था, जिसका कि मैं सभापति बनाया गया था। १७ अप्रेलको वहाँ पहुँचा। फिर मुजफ़्फ़रपुर पहुँचकर गेशेके साथ सिलीगोड़ीकेलिए रवाना हुआ। सिलीगोड़ीमें साढ़े ६ बजे मोटर पकड़ी और ढाई घंटेमें कलिम्पोङ् पहुँच गया। सोवियत्से लौटनेके बाद अब सरकार मेरे बारेमें बहुत सतर्क हो गई थी, कांग्रेस मंत्रिमंडलवाले प्रान्तोंमें वह खूब पीछा करती थी। कलिम्पोङ्में मेरे जानेके एक घंटा बाद ही पुलीसका आदमी पहुँचा और पूछा कि मुज़फ़्फ़रपुरसे आनेवाले आदमी आये कि नहीं। मैंने कहला दिया, आ गये हैं। सारनाथमें भी मैं देखा करता था कि खुफ़िया-का एक आदमी धरना दिये हुए था। यह लच्छन अच्छे तो नहीं थे, क्योंकि पुलीस ही सरकारकी आँख-कान है, और मुझे पोलिटिकल एजेन्टसे तिब्बत जानेके-लिए आज्ञापत्र (परमिट) लेना था।

२७

तिब्बतमें चौथीबार (१९३८)

गन्तोक्में—२३ अप्रेलको मैं गन्तोक् पहुँचा। महाराजाके प्राइवेट-सेक्रेटरी रायसाहब बर्म्मक क़ाज़ीके साथ पहिली यात्रामें परिचय हो गया था। अपना थोड़ासा जो सामान था, मैंने उसे उनके घरपर रख दिया, क़ाज़ी साहब अभी घरपर मौजूद नहीं थे, लेकिन उनके पास मैंने सूचना भिजवा दी। फिर ब्रजनन्दन बाबूसे मिलकर पोलिटिकल एजेन्टके सहायक सोनम् क़ाज़ीके पास गया। उनसे बात की। उन्होंने कहा कि कल साहेबसे पूछकर आपको खबर दूँगा। मैं लौटकर बर्म्मक काज़ीके घर गया। मालूम हुआ, उन्होंने मेरा सामान ब्रजनन्दन बाबूके पास भेजवा दिया। मुझे इसकेलिए दुख करनेकी जरूरत नहीं थी, पुलीस जिस तरह तत्परता दिखला रही थी, उससे उन्हें मालूम हो गया, कि यह कोई खतरनाक आदमी है। बाल-बच्चेवाले आदमीको खतरा मोल लेना अच्छा नहीं है। इस सबके ऊपर वह एक

देशी रियासतके नमकख्वार थे, जहाँ क़ानून-क़ायदाका कोई काम नहीं। अंग्रेज-शासक कहनेकेलिए तो कह देते हैं, कि यहाँ तो सब काम राजाके हाथमें है, लेकिन राजाकी निरंकुशताकी आड़में वह ख़ुद अपनी निरंकुशता चलाते हैं। देशी रियासतके राजाकी तो और भी मुसीबत है, वह तो अंग्रेज रेज़ीडेन्टके हाथकी कठपुतली है। व्यभिचार-दुराचार वह चाहे कितना ही करता रहे, इस बारेमें चाहे वह आदमीसे पशु हो जाय, कोई पूछ नहीं होती; लेकिन जहाँ उसने अपने श्वेतांग स्वामियोंकी मर्ज़ीके खिलाफ़ ज़रा भी कोई बात की, तो अदालत-कचहरी, गवाही-साखीकी भी जरूरत नहीं, राजा साहेब २४ घंटेके भीतर राज्यसे निकाल दिये जायेंगे। फिर बेचारे बम्मक क़ाजीको दोषी ठहराना उचित नहीं। मैं ब्रजनन्दन बाबूके पास गया, और चाहता था, कि सामान लेकर किसी मन्दिर या धर्मशालामें ठहरूँ। ब्रजनन्दन बाबूने कहा—मैं दूसरी जगह जाने नहीं दूँगा। मैंने कहा कि यह बड़े ख़तरेकी चीज़ है, आप राजके स्कूलमें नौकर हैं। उन्होंने कहा—आपका जाना मेरेलिए भारी अपमानकी चीज़ होगी। मैंने और कोई यशका काम तो नहीं किया, किसी तरह पेट पालता रहा हूँ। आप मेरे दिल और आत्मसम्मानका ख्याल कर ख़तरेमें पड़ने दीजिये। लाचार।

उनके घरके सामने ही थाना था, थानेका एक आदमी बराबर मेरी ओर देखता रहता था। मुझे अपनेलिए तो कोई चिन्ता नहीं थी, लेकिन मित्रोंका ख्याल करके जरूर कुछ बुरा लगता था।

अगले दिन (२४ अप्रैल) बाबू सोनम क़ाज़ीका ख़त आया, और मैं साढ़े ३ बजे ही पोलिटिकल एजेन्टके पास चला गया। मिस्टर गोर्ड ऐसे मिलनसार आदमी तो नहीं हैं, लेकिन मैंने अपने कामोंके बारेमें बतलाया। उनको यह भी मालूम था, कि बिहार सरकार और भारत सरकार इसके बारेमें लिखा-पढ़ी कर रही हैं, तत्कालीन बिहार गवर्नरने मेरे तिब्बत-संबंधी खोजोंकी बड़ी प्रशंसा की थी, वह सोसाइटीके जर्नलमें छपी थी। मैंने उसे भी उनके हाथमें दे दिया। १०, १५ मिनट हीमें मेरा काम हो गया। उन्होंने परमिट देनेकेलिए हुकुम दे दिया। लौटके आनेपर देखा कि पुलीसका रुख बिल्कुल बदल गया। दूसरे दिन (२५ अप्रैल) परमिट आ गया, और उसी दिन शामको मैं कलिम्पोङ् चला आया।

कलकत्तासे फ़ोटोका सामान लाना था, इसलिए २७-२९ अप्रैल वहीं बीता। पहिली मईको सिलीगोड़ीसे हम कलिम्पोङ्केलिए रवाना हुए। ८ मील जानेपर मोटरका एक पहिया उसी तरह साफ़ निकल गया, जैसा कि ईरानमें हुआ था। ...ी ख़ैरियत हुई कि पहाड़पर पहुँचनेसे पहिले ही यह दुर्घटना घटी।

कलिम्पोङ्से गेशे और दूसरे साथियोंके साथ में ४ मईको रवाना हुआ था, और ६ महीने बाद ३ अक्तूबरको गनतोक लौटा था। यह मेरी चौथी तिब्बत-यात्रा थी, इसमें मैं बहुतसे साधनोंसे सज्जित होकर गया था। तिब्बत सरकारने सभी पुराने पुस्तकालयोंमें लगी अपनी मुहरोंको तोड़कर चीजोंके दिखलानेकी आज्ञा दे दी थी; साथ ही मुझे हर जगह ३ घोड़े और ३ गदहे सवारी-बारबरदारीकेलिए देनेका हुकुम दे दिया गया था और काम भी काफी हुआ। लेकिन उतना काम नहीं हो सका, जितनेकेलिए मेरे पास साधन थे। इस सारी यात्रामें जितना तरद्दुद और मानसिक कष्ट उठाना पड़ा, उसको लिखकर पुस्तकको और बढ़ानेकी जरूरत नहीं, लेकिन ऐसी यात्राका मेरा पहिला अनुभव था, और मैंने देखा, कि उसकेलिए व्यक्तिको अलग-अलग दोष देना बेकार है। दोष था, ठीक साधनोंके एकत्रित न होनेका। मैं अगर चार-पाँच बातोंका ख्याल रख सका होता, तो यात्रा और सफल रहती। सबसे पहिली बात यह, कि तिब्बतमें सुकुमार आदमी ले जानेकी जरूरत नहीं। जो आदमी शहरी ऐश-आरामकी ज़िन्दगीमें पला है, वह चाहे साहसी-सा भी मालूम होता हो, तो भी वह डट नहीं सकता, क्योंकि शहरके साहस और गाँवके साहसमें काफ़ी अन्तर है, और तिब्बतकी यात्रामें तो उससे भी सौगुने साहसकी जरूरत होती है। जो आदमी हिमालयके पारके इन दुरूह स्थानोंमें भी अपने पहिलेके जीवनके सारे वातावरणको ले जाना चाहता है, उसको जरूर असन्तुष्ट होना पड़ेगा। दूसरी बात जरूरी है कि जानेवाला या तो पहिलेसे किसी ऐसी स्थायी जीविकामें लगा हुआ हो, कि अपनेको अयोग्य बनानेमें उसे स्थायी हानिका डर हो अथवा वह भी उसी पथका फ़कीर हो, और कामके महत्त्वको उतना ही अनुभव करता हो, जितना कि आप। तीसरी बात यह है, कि जमातके अनुशासनको मानता हो, जहाँ एक आदमीने अनुशासनकी अवहेलना शुरू की और उसके सुधारनेकी कोशिश नही की गई, तो वह रोग दूसरोंमें भी फैले बिना नही रहता। चौथी बात—तिब्बतमें एक जगहसे दूसरी जगह जानेमें सवारी और सामान ढोनेकेलिए खच्चर-घोड़ोंका मिलना उतना आसान नहीं है। मैंने सिर्फ़ पहिली यात्रामें दो खच्चर खरीदे थे और उस वक्त कोई दिक़्क़त नही आई थी, क्योंकि धर्मकीर्ति खच्चरको सँभाल लेते थे, मैं भी देख-भाल करता था। वह इसीलिए सम्भव था कि तब इतना लिखने या फ़ोटो लेनेका काम नही था। और मैं ङोर् जैसी जगहोंमें नहीं गया था, जहाँ दाम देनेपर भी घासभुस नहीं मिल सकता। यदि आपने चरनेकेलिए छोड़ दिया और जानवर किसीके खेतके पास पहुँच गया, तो उसके पैर टूटे बिना नही रहेंगे। नौकेका साईस वहाँ काम नहीं दे सकता,

क्योंकि न उसे भाषा मालूम होगी और न वह लोगोंसे मेल-मुहब्बत करके काम ले सकेगा। अपना खच्चर न लेनेपर भाड़ेके खच्चरोंकेलिए कभी-कभी हफ्तों एक जगह रुक रहना पड़ेगा। इसके तरद्दुदसे बचनेका एक ही उपाय है, कि आप वहाँके बड़े आदमियोंको काफ़ी रकम भेंट-पूजामें दे सकें, जिसकेलिए आपके पास पाँच-सात हज़ार नहीं, ज्यादा रुपये होने चाहिएँ। पाँचवीं बात—साथीकी रुचि दूसरी बातोंमें उतना ही होना चाहिए, जितनी कि इस काममें आपकी है, नहीं तो वह अपनी रुचिके काममें भी समय देने लगेगा, और असली काममें कमी होगी।

खैर, कलकत्तासे सामान लेकर हम कलिम्पोङ् पहुँचे, और ४ मईको १० बजे तिब्बतकेलिए रवाना हुए। सवारी और बोझेकेलिए किरायेपर खच्चर मिल गये थे। ७ तारीखको हम लिङ्तम्से आगे बढ़े। कठिन चढ़ाई आई। रास्ता अधिकतर खड़े पत्थरोंको जोड़कर बना था, और खच्चरके पैर फिसलनेपर बचनेकी उम्मेद नहीं हो सकती थी। हमारे खच्चरवालोंका एक खच्चर लुढ़का, और उसको इतनी चोट लग चुकी थी, कि जब हम वहाँसे आगे बढ़े, तो बचनेकी उम्मीद नहीं थी। खच्चरवाले उसे वहीं छोड़कर चल पड़े। ६ मईको हम नथङ्से सवेरे ही चले। थोड़ी देर उतराईके बाद चढ़ाई शुरू हुई। ऊपर चारों ओर बर्फ थी, एक ओर एक सरोवर था। लोग बतला रहे थे, कि इसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सब दिखाई देता है। आगे १४ हज़ार ३०० फीट ऊँचा जालेपलाका डाँड़ा आया। बादल आसमानमें दौड़ रहे थे, लेकिन उस दिन बर्फबर्षा नहीं हुई। उतराई उतरते उस दिन हम रिनछेनगङमें पहुँचे। जालेपला ही तिब्बतकी सीमा है, यह हम बतला चुके हैं। ११ मईको हम फरीमें पहुँच गये। दूसरे दिन मुझे बुखार आया। अगले दिन भी वह १०३ डिग्रीतक रहा। बुखार हटनेका इन्तिजार यहाँ नहीं कर सकते थे, क्योंकि यहाँ रहते उसके जल्दी दूर होनेकी उतनी आशा नहीं थी, जितनी कि कहीं नीची और गर्म जगहमें। १५ मईको डं की गई और मैं अपने साथियोंके साथ ग्यानचीकेलिए रवाना हुआ। डंडीमें सवारी बहुत हिलता-डोलता था, जिससे थकावट भी होती थी, और भूख तो बिल्कुल नहीं लगती थी। २१ मईको हम ग्यानची पहुँचे। तीन-चार दिन यहीं विश्राम करना पड़ा, फिर तबियत ठीक हो गई। ल्हासासे हमारे लिए खरीदे तीन खच्चर भी आ गये, और तिब्बती सरकारकी चिट्ठी भी, जिसके अनुसार हम ३ गधे ३ घोड़े निश्चित किरायेपर ले सकते थे। इस प्रथाको ठऊ कहते हैं। यह एक

तरहकी बेगार है। एक गाँवका तऊ आग किस गाँवमें बदला जायगा, यह सदियों पहिलेसे निश्चित है—बदलनेके गाँवको सची कहते हैं। सची छोटी भी होती है, लम्बी भी होती है। नये घोड़ों गदहोंको जमा करनेमें कुछ देरी लगती है, यदि सची बहुत नजदीक हुई, तो एक-एक दिनके रास्तेमें दो-दो तीन-तीन दिन लग जाते हैं।

शलू (२७ मई–२८ जून) २७ को हम शलू पहुँच गये। २८ को पुस्तकालय खोला गया। पहिले साल जो पुस्तकें मिली थी, उनमें दो-तीन गायब थीं। लेकिन एक नई पोथी बड़े महत्त्वकी मिली। इसमें प्रसिद्ध नैयायिक ज्ञानश्रीके लिखे १२ ग्रन्थ है। योगाचार भूमिके खंडित अध्याय भी यहाँ मिले। तिब्बती हस्तलिखित ग्रन्थोंमें छग-लोचवाकी जीवनी मिली। यह विद्वान् १२२० ई० के आसपास भारत गया था, और नालन्दामें राहुलश्रीभद्रके पास रहा। वह लिखता है, कि गरलोक (तुर्क) ने नालन्दाको नष्ट कर दिया था, तो भी कुछ मकान बाकी थे। गरलोकका हाकिम उड़न्तपुरी (विहार-शरीफ़) में रहता था। तिरहुतको उसने "तीर्थकों-का देश" कहा है। जान पड़ता है, वहाँ ब्राह्मणोंका प्रभाव बहुत ज्यादा था। शलूके प्रधान विहारकी भीतोंमें नेपाली कलमके सुन्दर चित्र हैं। कुछ चित्र अत्यन्त सुन्दर हैं। चित्रकारने अपना नाम छिम्पा सोनम् बुम लिखा है।

१९ जूनको हम शिगर्चे चले गये। आगे जानेकेलिये सरकारकी चिट्ठीके पास रहनेपर भी शिगर्चेके जोङ्पोनकी चिट्ठी लेनी थी। जिसका मतलब था, दो-तीन दिन और ठहरना। खैर, वहाँसे हम २७ तारीखको पोड़खङ् पहुँचे और २ जुलाई तक वहीं रहे। वहाँकी पुस्तकों और चित्रपटोंके बहुतसे फ़ोटो लिये। फिर शिगर्चे लौट आये। ५ जुलाईसे ३० जुलाई तक बेकार बैठा रहना पड़ा, क्योंकि जिनको ग्यानची सामान लेनेकेलिए भेजा था, वह वहीं बैठे रहे। १४ जुलाईको मैंने मध्य-तिब्बतके अधिकांश लोगोंके स्वभावके बारेमें लिखा था—"तिब्बतके लोग न जंगली हैं न सभ्य। पानी पीनेकी भाँति झूठ बोलनेके अभ्यस्त हैं। बड़ेसे छोटे तक यही बात है, किन्तु यही बात तिब्बत-जातिक—अमृदो खम्बा और लदाखियोंके बारेमें नहीं कही जा सकती। कृतज्ञता और मुरौवतका इनमें अभाव है। सच्चा मित्र मिलना असम्भव-सा है, बहादुर नहीं हैं, हाँ धोखेसे वार कर सकते हैं—और सो भी सामनेसे नहीं। काममें सुस्त (होते हैं।) उद्योग और साहसके काममें इनका मन कम लगता है। विहारीय विश्वविद्यालयोंमें पढ़नेमें भी यह पिछड़े हुए हैं। सिफारिश, सम्बन्ध तथा और कारणोंसे ये मठ तथा सरकारी उच्च पदोंपर पहुँच ही सकते हैं, फिर प्रयत्न और परिश्रमकी क्या आवश्यकता? यह सारे दुर्गुण इनमें कहाँसे आए?

क्योंकि न उसे भाषा मालूम होगी और न वह लोगोंसे मेल-मुहब्बत करके काम ले सकेगा। अपना खच्चर न लेनेपर भाड़ेके खच्चरोंकेलिए कभी-कभी हफ़्तों एक जगह रुक रहना पड़ेगा। इसके तरद्दुदसे बचनेका एक ही उपाय है, कि आप वहाँके बड़े आदमियोंको काफ़ी रक़म भेंट-पूजामें दे सकें, जिसकेलिए आपके पास पाँच-सात हज़ार नहीं, ज्यादा रुपये होने चाहिएँ। पाँचवीं बात—साथीकी रुचि दूसरी बातोंमें उतना ही होना चाहिए, जितनी कि इस काममें आपकी है, नहीं तो वह अपनी रुचिके काममें भी समय देने लगेगा, और असली काममें कमी होगी।

खैर, कलकत्तासे सामान लेकर हम कलिम्पोङ् पहुँचे, और ४ मईको १० बजे तिब्बतकेलिए रवाना हुए। सवारी और बोझेकेलिए किरायेपर खच्चर मिल गये थे। ७ तारीखको हम लिङ्तमसे आगे बढ़े। कठिन चढ़ाई आई। रास्ता अधिकतर खड़े पत्थरोंको जोड़कर बना था, और खच्चरके पैर फिसलनेपर बचनेकी उम्मेद नहीं हो सकती थी। हमारे खच्चरवालोंका एक खच्चर लुढ़का, और उसको इतनी चोट लग चुकी थी, कि जब हम वहाँसे आगे बढ़े, तो बचनेकी उम्मीद नहीं थी। खच्चरवाले उसे वहीं छोड़कर चल पड़े। ६ मईको हम नथङ्से सवेरे ही चले। थोड़ी देर उतराईके बाद चढ़ाई शुरू हुई। ऊपर चारों ओर बर्फ थी, एक ओर एक सरोवर था। लोग बतला रहे थे, कि इसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सब दिखाई देता है। आगे १४ हज़ार ३०० फ़ीट ऊँचा जालेपलाका डाँड़ा आया। बादल आसमानमें दौड़ रहे थे, लेकिन उस दिन वर्फ़वर्षा नहीं हुई। उतराई उतरते उस दिन हम रिनछेनगडमें पहुँचे। जालेपूना ही तिब्बतकी सीमा है, यह हम बतला चुके हैं। ११ मईको हम फरीमें पहुँच गये। दूसरे दिन मुझे बुखार आया। अगले दिन भी वह १०३ डिग्रीतक रहा। बुखार हटनेका इन्तिज़ार यहाँ नहीं कर सकते थे, क्योंकि यहाँ रहते उसके जल्दी दूर होनेकी उतनी आशा नहीं थी, जितनी कि कहीं नीची और गर्म जगहमें। १५ मईको डंडी की गई और मैं अपने साथियोंके साथ ग्यानचीकेलिए रवाना हुआ। डंडीमें शरीर बहुत हिलता-डोलता था, जिससे थकावट भी होती थी, और भूख तो बिल्कुल नहीं लगती थी। २१ मईको हम ग्यानची पहुँचे। तीन-चार दिन यहीं विश्राम करना पड़ा, फिर तबियत ठीक हो गई। ल्हासासे हमारे लिए खरीदे तीन खच्चर भी आ गये, और तिब्बती सरकारकी चिट्ठी भी, जिसके अनुसार हम ३ गधे ३ घोड़े निश्चित किरायेपर ले सकते थे। इस प्रथाको तऊ कहते हैं। यह एक

तरहकी वेगार है। एक गाँवका तऊ आग किस गाँवमें वदला जायगा, यह सदियों पहिलेसे निश्चित है—वदलनेके गाँवको सची कहते हैं। सची छोटी भी होती है, लम्बी भी होती है। नये घोड़ों गदहोंको जमा करनेमें कुछ देरी लगती है, यदि सची बहुत नजदीक हुई, तो एक-एक दिनके रास्तेमें दो-दो तीन-तीन दिन लग जाते हैं।

शलू (२७ मई–२८ जून) २७ को हम शलू पहुँच गये। २८ को पुस्तकालय खोला गया। पहिले साल जो पुस्तकें मिली थीं, उनमें दो-तीन गायव थीं। लेकिन एक नई पोथी बड़े महत्त्वकी मिली। इसमें प्रसिद्ध नैयायिक ज्ञानश्रीके लिखे १२ ग्रन्थ हैं। योगाचार भूमिके खंडित अध्याय भी यहाँ मिले। तिब्बती हस्तलिखित ग्रन्थोंमें छग-लोचवाकी जीवनी मिली। यह विद्वान् १२२० ई० के आसपास भारत गया था, और नालन्दामें राहुलश्रीभद्रके पास रहा। वह लिखता है, कि गरलोक (तुर्क) ने नालन्दाको नष्ट कर दिया था, तो भी कुछ मकान बाकी थे। गरलोकका हाकिम उड़न्तपुरी (विहार-शरीफ) में रहता था। तिरहुतको उसने "तीर्थकों-का देश" कहा है। जान पड़ता है, वहाँ ब्राह्मणोंका प्रभाव बहुत ज्यादा था। शलूके प्रधान विहारकी भीतोंमें नेपाली कलमके सुन्दर चित्र हैं। कुछ चित्र अत्यन्त सुन्दर हैं। चित्रकारने अपना नाम छिम्पा सोनम् बुम लिखा है।

१९ जूनको हम शिगर्चे चले गये। आगे जानेकेलिये सरकारकी चिट्ठीके पास रहनेपर भी शिगर्चेके जोङ्पोनकी चिट्ठी लेनी थी। जिसका मतलब था, दो-तीन दिन और ठहरना। खैर, वहाँसे हम २७ तारीखको पोइखङ् पहुँचे और २ जुलाई तक वहीं रहे। वहाँकी पुस्तकों और चित्रपटोंके बहुतसे फ़ोटो लिये। फिर शिगर्चे लौट आये। ५ जुलाईसे ३० जुलाई तक बेकार बैठा रहना पड़ा, क्योंकि जिनको ग्यानची सामान लेनेकेलिए भेजा था, वह वहीं बैठे रहे। १४ जुलाईको मैंने मध्य-तिब्बतके अधिकांश लोगोंके स्वभावके बारेमें लिखा था—"तिब्बतके लोग न जंगली हैं न सभ्य। पानी पीनेकी भाँति झूठ बोलनेके अभ्यस्त हैं। बड़ेसे छोटे तक यही बात है, किन्तु यही बात तिब्बत-जातिक—अम्दो खम्वा और लदाखियोंके बारेमें नहीं कही जा सकती। कृतज्ञता और मुरौवतका इनमें अभाव है। सच्चा मित्र मिलना असम्भव-सा है, वहादुर नहीं हैं, हाँ धोखेसे वार कर सकते हैं—और सो भी सामनेसे नहीं। काममें सुस्त (होते हैं।) उद्योग और साहसके काममें इनका मन कम लगता है। विहारीय विश्वविद्यालयोंमें पढ़नेमें भी यह पिछड़े हुए हैं। सिफारिश, सम्बन्ध तथा और कारणोंसे ये मठ तथा सरकारी उच्च पदोंपर पहुँच ही सकते हैं, फिर प्रयत्न और परिश्रमकी क्या आवश्यकता? यह सारे दुर्गुण इनमें कहाँसे आए?

इसकी जिम्मेवारी यहाँके लामों और धर्मपर है। लामा, मठों और अमीरोंकी जागीरें उठ जायँ, शिक्षाका सार्वजनिक प्रचार हो, तो ये लोग बहुत जल्द ऊपर उठ सकते हैं। किन्तु, यह सब तो साम्यवाद ही कर सकता है। तिब्बतमें राजनीतिक यन्त्रके बदलनेहीमें देर होगी, नहीं तो बाकी सामाजिक, आर्थिक ढाँचेको बदलनेमें उनको दिक्कत नहीं पड़ेगी। तिब्बतमें जाति-पाँतिका न झगड़ा है, और न मजहबोंका पारस्परिक संघर्ष। वहाँ जो कुछ भेदभाव है, वह है धनी और निर्धनका।

डोर् (३१ जुलाई-१५ अगस्त)—खच्चरोंके चारे और ईंधनकी अबकी बार डोरमें तकलीफ़ हुई। हमारे दो खच्चरोंको पत्थर मार-मारकर किसीने लगड़ा कर दिया था। खैरियत यही हुई, कि चोट बहुत ज्यादा नहीं आई। हमने चारेकी दिक्कतसे उन्हें शिगर्चे भेज दिया।

नरथङ् (१६-२८ अगस्त)—१६ अगस्तको हम नरथङ् चले गए, और एक गृहस्थके घरमें ठहरे। अगले दिन बहुत ओले पड़े। तंत्र-मन्त्रवाले लामा भगानेकी कोशिश कर रहे थे, लेकिन ओलेके देवताओंपर कोई असर नहीं हुआ। ऊपरके पहाड़से ओले और पानीकी एक जबर्दस्त बाढ़ चली। हमारे घरसे डेढ़-दो फ़र्लाङ्के ऊपर नाला दो धाराओंमें विभक्त हो जाता था, जिनमें दाहिनी धाराके बाँएँ तटपर हमारा घर मौजूद था। घरभरके लोग त्राहि-त्राहि कर रहे थे, और देवताओंको मना रहे थे। यदि बाढ़ हमारे ओरके नालेमें आती, तो वह उस मकानको मूने कागजकी तरह गलाती-बहाती चली जाती। हम वहीं डटे रहे, इससे घरवालोंकी बड़ी हिम्मत हुई। मैंने कहा—हमारे पास यह भारतकी धर्मपुस्तकें हैं, कभी हो नहीं सकता, कि देवता इस घरको नष्ट कर दें। और सचमुच बाढ़ने दाहिने नालेका रास्ता नहीं लिया। नरथङ्में तालपोथी कोई नहीं थी, किन्तु यहाँ कई बड़े-बड़े भारतीय चित्रपट थे, जिनका फ़ोटो लिया गया। स्लेटी पत्थरोंपर ८४ सिद्धोंकी मूर्तियाँ उत्कीर्ण थीं, उनका भी फ़ोटो लिया गया। बोधगया मन्दिरके नमूनेका पैरिस्प्लास्तरपर साँचा उतारा गया। इन सबसे छुट्टी पानेके बाद साक्याकेलिए रवाना हुए और ल्होड्ला होते एक सितम्बरको साक्या पहुँचे।

साक्यामें (१-१५ सितंबर)—पहिली सितम्बरके दोपहरको हम साक्यामें फुनछोगुफ्रासादमें पहुँचे। कुशो डोनि छेनपोके यहाँ रहनेका ज्यादा आराम होता, लेकिन फ़ोटो खींचनेकेलिए हमें यहाँ आना पड़ता, इसीलिए हम वहाँ नहीं गये। फुनछोगुफ्रासादके लामा अब साक्याके महन्तराज थे। बहुत वर्षों बाद इस प्रासादके हाथमें प्रभुता आई थी, इसलिए पुराने घरोंकी नई तरहसे मरम्मत,

नये घरोंका निर्माण, नये सामानका तैयार कराना आदि बहुत-से कामोंमें लामाका ध्यान बँटा हुआ था। कितने ही बढ़ई, सोनार और चित्रकार काममें लगे हुए थे। सभी घर उनसे भरे हुए थे। लामाने बड़े स्नेहके साथ स्वागत किया, लेकिन किस घरमें ठहराया जाय, इसकेलिए उन्हें दिक्कत मालूम होने लगी। एक साधारण-सा घर खाली किया गया, और उसमें हम लोगोंको जगह मिली। दो हप्ता हम यहाँ पुस्तकोंके फ़ोटो खींचनेमें लगे रहे, काम में बड़ी ढिलाई होती थी। कुशो डोनिर्छेनपो मब्जा गये हुए थे। चाम्कुशो यहीं थी और १३ सितम्बरको जब मैं वहाँ गया, तो उन्होंने इसपर क्षोभ प्रकट किया, कि मैं उनके यहाँ क्यों नहीं ठहरा। मैंने अपनी दिक्कत उन्हें बतलाई। १५ तारीखको डोनिर्छेनपो आगए थे, इसलिए मैं उनसे मिलने गया। उनकी द्वितीय पत्नी दिकीला और पौने दो बरसकी अनामिका लड़की भी आगई थी। चलते-चलाते अपरिचित आदमीके पास छोटा बच्चा क्यों आए ? यद्यपि चाम्कुशोने उसे मेरे पास लानेकी बहुत कोशिश की, किन्तु वह रोने लगी। लड़की बहुत ही सुन्दर थी, और कुशो डोनिर्छेनपो कह रहे थे—बड़ी समझदार है। बुढ़ापेमें अपनी एकलौती सन्तानकेलिए पक्षपात स्वाभाविक था। मैंने कहा—यदि आप इसे पढ़ायेंगे, तो विदुषी होगी। उन्होंने कहा—हमारे घरमें तो यही एक बच्चा है, इसे हम जरूर पढ़ायेंगे। मैं पिछली यात्राके वक़्त लिख चुका हूँ, कि डोनिर्छेनपो और नये महन्तराजमें पहिले हीसे अनबन थी। डोनिर्छेनपो बहुत दुःखी थे। चाङ्गुआ-में उनके पास बहुत अच्छी जायदाद थी, मब्जामें भी काफ़ी सम्पत्ति थी। अब वह ६० बरससे ऊपरके बूढ़े थे। वह चाहते थे, कि रियासतका काम छोड़कर विश्राम लें, लेकिन नये महन्तराज उन्हें वैसा करने दें तब न। कह रहे थे,—न मुझे जानेकी स्वतन्त्रता मिलती है, न कोई काम ही मिलता है। मैंने भारत आनेकेलिए कहा, तो उन्होंने बड़े करुण स्वरमें कहा—मुझे भारतके तीर्थोंके दर्शन करनेकी बड़ी लालसा है, लेकिन छुट्टी कहाँ मिले।"

१६ सितम्बरको मुझे साक्यासे विदाई लेनी थी, पहिले महन्तराजसे विदाई ली, फिर ताराप्रासादके दोनों भाइयोंके पास गया। यह देखकर प्रसन्नता हुई कि ताराप्रासादमें भी उजाला होनेवाला है। पहिली दामोको कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने खुद ही अपनी बहिनको सौत बनाया, और अब नववधू आसन्नप्रसवा थी। फिर कुशो डोनिर्छेनपोके घर गया। तिब्बत फिर आनेकी मुझे बहुत कम आशा रह गई थी, क्योंकि एक तो अब मैं लौटकर राजनीतिमें प्रवेश करनेवाला था, जिसके कारण भारत-में अंग्रेजी शासनके रहते मुझे इधर आनेकी कौन अनुमति देता ? दूसरे मैं अपने साथ इतनी

पुस्तकोंके फ़ोटो ले जा रहा था, जिनके सम्पादन और प्रकाशनकेलिए दस-पन्द्रह वर्षों-की ज़रूरत थी। यदि तिब्बतमें फिर आना हुआ तो भी इसकी सम्भावना बहुत कम थी, कि डोनिर्छेनपो तब तक जिन्दा रहेंगे। इसलिए उनसे विदा होते वक़्त मुझे बहुत अफ़सोस हो रहा था। चामकुशो और दिकीला अभी स्वस्थ थीं। उनकी लड़की भी तो पौने दो ही वर्षकी थी। फिर कभी आना हुआ तो इन्हींसे मिलनेकी आशा थी। मिलते-मिलाते ३ बजे हम साक्यासे रवाना हुए।

भारी ख़तरेमें—दूसरे दिन हम मब्जा पहुँचे। तऊका रास्ता डोङ्लासे होकर एक दूसरे ला (जोत) से बहुत घूमकरके था। कुशो डोनिर्लाने एक दिन अपने घरपर रक्खा—और हम, १६ सितम्बरको यहाँसे रवाना हुए। २२ तारीख़को जब हम डोब्थ्या ला पार होकर नीचे जा रहे थे, तो रास्तेमें कुछ तम्बू लगे देखे, पासमें कुछ घोड़े चर रहे थे। हम तो पहिले ही छेगा गाँवमें पहुँच गए, किन्तु हमारे साथी कुछ पीछे आ रहे थे। उनसे तम्बूवाले एक आदमीने कुछ पूछ-ताछ की। हमने इसे मामूली बात समझी। गदहे और बैलपर सामान को पहिले ही रवाना कर दिया गया और हम लोग चाय पी साढ़ेग्यारह बजे रवाना हुए। आगे बहुत विस्तृत निर्जन मैदान मिला। १६, १७ मील तक कोई गाँव नहीं था। ३ मील चलनेके बाद कुछ गदहेवाले मिले। उन्होंने कहा—"आगे खालमें डाकू ठहरे हुए हैं, बहुत सजग होकर जाइये, उन्होंने हमारे सत्तू, माँस, छङ्, और गदहोंके पीठारकों यहीं छीन ली।" हमारे तीन साथी मीलभर पीछे बड़े ही इतमिनानसे आ रहे थे। मेरे साथ साक्यासे आया आदमी घोड़ेपर चल रहा था। हम दोनोंमें एक ही पिस्तौल थी, और साथी पिस्तौल चलाना नहीं जानता था। मैंने लकड़ीके पिस्तौलदानसे निकालकर पिस्तौल अपने हाथमें ले ली। पिस्तौलदान उसीके कन्धेसे लटकते छोड़ दिया, जिसमें डाकुओंको मालूम हो कि हम दोनोंके पास पिस्तौल है, साथीके पास लम्बी तिब्बती तलवार भी थी। मुझे डर लग रहा था कि, हमारे सामानको डाकुओंने कहीं छीन न लिया हो—उसी सामानमें महीनोंके लिए फ़ोटो थे। हम जल्दी-जल्दी आगे बढ़े। कुछ दूर और आगे जानेपर

गया। दो और बालूके भीटे मिले और गधेवाले दूर जाते दिखाई पड़े। मैं घोड़ा दौड़ाकर उनके पास पहुँचा। उन्होंने बतलाया कि हमसे भी एक आदमी पूछने आया था। हमने कह दिया कि साक्याके महन्तका सामान है, हम आगे जा रहे हैं। यह अच्छा हुआ, जो हमने भी साक्याका ही नाम लिया। डाकुओंने सामानको हाथ नहीं लगाया। पीछेवाले तीन साथियोंके पास दो पिस्तौल थे, लेकिन क्या मालूम उन्हें डाकुओंकी खबर लगी है। मैंने अपने साथीको गदहोंके साथ जानेकेलिए कह दिया और पिस्तौल हाथमें पकड़े खच्चरको पीछेकी ओर मोड़ा। भीटेके पास आकर उसकी आड़में मैं पिस्तौल सँभाले बड़ी उत्सुकतासे यह सोचते खड़ा रहा, कि जैसे ही कोई आवाज आई, मैं डाकुओंपर झपट पड़ूँगा। लेकिन मैं गलतीमें था। मैं जिस भीटेकी आड़में खड़ा था, उससे सौ गज आगे एक और भींटा था, जिसके बाद डाकुओंका डेरा था। अगर वहाँ कुछ होता भी, तो मेरे पास तक आवाज़ नहीं आ सकती थी। मैं यह नहीं जान रहा था, मैं तो समझता था कि आज मृत्युसे मुकाबिला करना है। जितना ही ज्यादा खतरा था, उतना ही ज्यादा मेरे हृदयमें निर्भयता और उत्साह था। सारे शरीरमें बड़े जोरसे खून दौड़ रहा था। कुछ देर बाद साथी आए। गेशेने बतलाया कि पूछनेपर मैंने बतला दिया—साक्यालामाके आदमी अभी और पीछेसे आरहे हैं।

हम आगे चलकर तड्गरा गाँवमें साढे बारह बजे पहुँचे। छेगसे आए गधेवाले अपने गाँवको लौट गए, लेकिन घंटा भरके भीतर ही देखा, कि वह फिर वहीं आ गए। उन्होंने बतलाया, कि डाकू गाँवसे एक मीलपर नदीके किनारे ठहरे हुए हैं। हमें डर लगा कि कहीं वह हमारे घोड़ों या दूसरे सामानको छीन न लें, इसीलिए हम लौट आए। गोवा (मुखिया) ने भी बात सुनी। बन्दूकधारी घुड़सवार डाकुओंका आतंक होना स्वाभाविक था। रातको सारा गाँव सजग होकर जागता रहा। जंजीरोंमें बँधे गाँव भरके बड़े-बड़े कुत्ते छोड़ दिए गए। हम लोग अपने पिस्तौलोंको सम्हालकर छतपर लेटे—हमने आपसमें पहरा बाँट लिया था। उस रातको नींद क्या आती?

अगले दिन (२४ सितम्बर) सुना कि डाकुओंके घोड़े तड्रावालोंके खेतोंमें चर रहे हैं। डरके मारे कोई बोलने नहीं गया। हम लोगोंने गाँवसे कुछ और आदमियोंको लिया और साढ़े १० बजे खमड़ा जोङ् गए। हमारे सामने भारत लौटनेके दो रास्ते थे, एक तो घूम-घुमौवे रास्तेसे फरी होते कलिमपोङ् पहुँचना और दूसरा था लाछेन्‌का रास्ता, जिससे एक ही दिनमें हम तिब्बतकी सीमाके पार हो जाते। डाकू अब भी पीछा कर रहे थे, इसलिए हमने फरीके रास्तेका ख्याल छोड़

दिया। खम्बाके दोनों जोङ् पोनोंसे मिले। सरकारी चिट्ठीको उन्होंने रख लिया, रेंडिङ्लामाकी चिट्ठी मेरे नाम थी, उसे देखकर उनपर बहुत प्रभाव पड़ा। अपने ही यहाँ भोजन कराया और कितनी ही देर तक गपशप होती रही। उन्होंने किरूयालों-को लिख दिया कि हम लोगोंको याथङ् तकका तऊ दे दें, दो घंटा चलनेके बाद हम किरू पहुँच गए। वहाँ लाछेनके भी कुछ घोड़े वाले आए थे। उनसे मालूम हुआ कि डाकू ऊपरके पहाड़ोंकी ओर आए हैं। गेशेका कहना था, कि वह अब भी हमारा पीछा कर रहे हैं। यह भी मालूम हुआ कि उनके पास तलवारोंके अतिरिक्त सिर्फ तीन पलीतेवाली बंदूकें हैं। पलीतेवाली बन्दूकें दूरतककी मार भले ही करें, लेकिन आठ-गोलीके पिस्तौलोंके सामने उनकी हिम्मत नहीं हो सकती थी। २५ सितम्बरको सामान ढोनेवाले याकोंके आनेमें देर हुई, इसलिए हम दो बजे बाद रवाना हुए। लाछेन जोत पार करते वक्त वर्षा-बर्फका मुकाबला नहीं करना पड़ा, लेकिन हवा बड़ी तेज थी और सब को सर्दी लग रही थी। कई मील नीचे उतरकर हम रातको डोङ्गुकेमें रह गए, लेकिन सामान यहाँ तक नहीं पहुँच सका। २६ तारीखको चाय पीकर जब तक तैयार हुए, तबतक सामान भी आ गया, और उसी दिन हम याथङ् पहुँच गए। चीपोन् वङ्‌ग्यल्‌के लड़केके घरमें ठहरे। गृहपतिने खच्चरोंको खरीदने-केलिए कहा। तीनों खच्चरोंका साढ़े तीनसौ रुपया दाम कम था। लेकिन मुझे पहिली यात्राके दोनों खच्चरोंका तजरबा था। उन्हें मैं फरीमें जितने दाममें बेच सकता था, कलिम्पोङ्‌में उससे बहुत कम दाम मिला और हैरानी अलग हुई। गृहपतिने दाम तीनसौ पचास रुपएके अतिरिक्त हमारे तीन और अपने चार खच्चरोंको गनतोक् तक भेज देनेकी बात कही। हमने उसे मान लिया।

२८ को हम लाछेन पहुँच गए। मालूम हुआ कि फिनलैण्डवाली वृद्धा धर्मोपदेशिका अपने बँगलेपर मौजूद हैं। हम भी उनके पास गए। बेचारी बुढ़िया तीस साल पहिले बड़े उत्साह और श्रद्धाके साथ इन पहाड़ोंमें ईसामसीहके धर्मको फैलानेकेलिए आई थीं। उतनी सफलता तो उसे नहीं प्राप्त हुई, किन्तु लाछेन-वालोंकी उसने कुछ सेवा जरूर की। आज वह बहुत बूढ़ी थीं। कानमें भी बहुत कम सुनती थीं। किसी वक्त भी मर गईं तो यहाँ काम कौन चलायेगा, इस बातका ख्यालकर वह अपने देशसे एक तरुणीको लाई थीं। पहिले तो वह ईसामसीहके धर्मपर लम्बा लेक्चर देती रहीं, फिर तरुणीका परिचय देते हुए कहा—यह संगीत जानती है। हमारे कहनेपर तरुणीने बाजा हाथमें ले लिया और पूछा, क्या सुनाऊँ? मैंने कहा—फिनलैण्डका कोई अपना गीत सुनाइए। उसने दो-तीन गीत सुनाए। फिर

मैंने फिनलैण्डके बारेमें कुछ पूछा—बुढ़िया और तरुणी दोनों ही प्रशंसा करते नहीं थकती थी। बुढ़ियाने कहा—पहिले हमारा देश रूसियोंका गुलाम था, लेकिन अब आज़ाद है, और उसे आज़ाद और सुखी देखकर मुझे जो आनन्द हुआ, मैं कह नहीं सकती। मैंने कहा—"हम हिन्दुस्तानी उसे अच्छी तरह समझ सकते हैं, क्योंकि गुलामी कितनी कड़वी होती है, इसे हम जानते हैं।" रूसके बारेमें तरुणी कह रही थी—वहाँ लोग बहुत गरीब हैं, लाखों आदमी भूखे मर रहे हैं। मैंने कहा—"आप यह दूसरेकी सुनी सुनाई बात कह रही हैं, आजसे आठ महीने पहिले मैं वहींपर था, और मैंने वहाँ किसीको गरीब-भूखा नहीं देखा।" चलते वक्त मैंने वृद्धाको धन्यवाद देते हुए कहा—"आपको कष्ट देनेके लिए हम क्षमा माँगते हैं। लेकिन अफ़सोस है, कि हम ईश्वरको नहीं मानते।" वृद्धाको बहुत धक्का लगा। उसने कहा—"मैं कितना अफ़सोस करती हूँ! मुझे भगवानका प्रकाश मिला था, इसलिए मैं फिनलैण्डसे यहाँ आई, आपको भी भगवान प्रकाश दें।" तरुणीने मेरे शब्दोंको आश्चर्यसे नहीं सुना, उसे नई दुनियाकी हवा लगी थी। उसने कहा—"बूढ़े लोगोंको आजकी बातका पता नहीं है।"

१९ सितम्बरको हम लाछेनसे रवाना हो गए।

२ अक्तूबरको गन्तोक चले आए। हम फरी गए होते, तो पिस्तौल वहाँ छोड़ देते। खम्‌बाजोङ्‌में पिस्तौल किसीको दे नहीं सकते थे, इसलिए गन्तोक तक अपने साथ ले आए, और यह हथियारके कानूनके खिलाफ़ था। मैंने पुलिस सबइंसपेक्टरको एक चिट्ठी लिखी और एक पोलिटिकल अफसरको, यह कहकर पिस्तौलें पुलिसके हाथमें दे दीं, कि उन्हें ग्यानचीमें छुशिङ्‌शाके श्री धर्ममानसाहुकी दूकानमें दे दिया जाय। ४ अक्तूबरको मोटरसे सिलीगोड़ी आए, फिर अगले दिन रेलसे कलकत्ता पहुँच गए।

षष्ठ खंड

किसानों-मजूरोंके लिये

१

परिस्थितियोंका अध्ययन

कलकत्तामें मुझे १० दिन रहना पड़ा। पहिले ही दिन (५ अक्तूबर) पत्रसंवाद-दातासे कह दिया था, कि मैं अब क्रियात्मक राजनीतिमें भाग लेने जा रहा हूँ। मैंने ग्यारह वर्षोंसे राजनीतिक क्षेत्रको छोड़ रखा था। यह अच्छा ही हुआ, जो कि मैंने अध्ययन, अनुसंधान और पर्यटनमें इतना समय देकर अपनी एक बड़ी लालसाकी पूर्ति कर ली। मैं पहिले भी राजनीतिमें अपने हृदयकी पीड़ा दूर करने आया था,—गरीबी और अपमानको मैं भारी अभिशाप समझता था। असहयोगके समय भी मैं जिस स्वराज्यकी कल्पना करता था, वह काले सेठों और बाबुओंका राज नहीं था, वह राज था किसानों और मजदूरोंका, क्योंकि तभी ग़रीबी और अपमानसे जनता मुक्त हो सकती थी। अब तो देश-विदेश देखनेके बाद और भी पीड़ाको अनुभव करता था। मैंने भारत जैसी ग़रीबी कहीं नहीं देखी। मार्क्सवादके अध्ययनने मुझे बतला दिया, कि क्रान्ति करनेवाले हाथ हैं, यही मजदूर-किसान; क्योंकि उन्हींको सारी यातनाएँ सहनी पड़ती हैं, और उन्हींके पास लड़ाईमें हारनेकेलिए सम्पत्ति नहीं है। लेकिन यह सब रहते हुए जब तक वह अपना मजबूत संगठन तैयार नहीं करते, तबतक क्रान्ति करनेकी शक्ति उनमें नहीं आ सकती। उनका संगठन भी तभी मजबूत हो सकता है, जब कि अपने रोज-ब-रोजके कष्टोंको हटानेकेलिए वह संघर्ष करें। उनके इस संघर्षके संचालनके लिए कोई सेनासंचालक-मंडली होनी चाहिए, और मंडली ऐसी होनी चाहिए, जिसके सदस्य दूरदर्शी हों, अन्तिम त्यागकेलिए तैयार हों, और जिनको कोई प्रलोभन अपनी ओर खींच न सके। रूसमें मजदूरों किसानोंकी क्रान्ति इसीलिए सफल हुई कि वहाँ बोल्शेविक-पार्टी—कम्यूनिस्टपार्टी मजदूरों-किसानोंके संघर्षका संचालन कर रही

थी। मुझे मालूम हुआ था कि हिन्दुस्तानमें भी साम्यवादी हैं, लेकिन अभी तक मुझे उनके सम्पर्कमें आनेका मौका नहीं मिला था। इस बातका निर्णय २१ साल पहिले ही हो गया था, कि कौनसा पथ मेरा अपना पथ होगा। सोवियत् क्रान्तिकी खबरोंने मुझे एक नई दृष्टि दी थी। उसने ही मुझे आगे मार्क्सवादी बनाया, और मैं साम्यवादका प्रशंसक बना। कलकत्तामें मैं किसी कम्युनिस्टसे मिलना चाहता था। कम्युनिस्टपार्टी उस वक़्त गैरकानूनी थी, तो भी मुझे सोमनाथ लाहिड़ीका पता लगा। मैंने उनसे बात की। उन्होंने बतलाया कि बिहारमें अभी हमारी पार्टी नहीं बनी है, वहाँ हमारे साथी कांग्रेस सोशलिस्टपार्टीके साथ काम करते हैं, आप भी उन्हींके साथ काम करें। कांग्रेस सोशलिस्टपार्टीसे मैं कुछ भड़क सा गया था। जिस वक़्त मैं शिगर्चेमें था, उस वक़्त मुझे "जनता" का कोई अंक मिला था, जिसमे मसानीका एक लेख था। लेखमें सोवियत्को बहुत बुरा-भला कहा गया था। सोवियत् मेरेलिए साम्यवादका साकार रूप था, सोवियत्की बुराई करके जो अपनेको साम्यवादी या समाजवादी कहे, उसे मैं वंचक या बेवकूफ़ छोड़कर और कुछ नही समझ सकता था। लाहिड़ीने बतलाया कि कांग्रेस सोशलिस्टपार्टीमें सभी मसानीकी तरहके नही हैं।

मैं १६ अक्तूबरको पटना चला आया। तिब्बतसे आई चीजोंकी देख-भाल की, और आमदनी-खर्चका हिसाब सोसाइटीके हाथ में दे दिया। यहीं मालूम हुआ, कि छपरामें राजेन्द्रकालेज स्थापित हो गया है। २३ तारीखको मैं छपरा पहुँचा। पं० गोरखनाथ त्रिवेदीका घर सदासे मेरा अपना घर रहा है, अबकी बार भी वही ठहरा। अगले दिन राजेन्द्रकालेज देखने गया, उसकी स्थिति और भविष्य को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। पण्डित महेन्द्रनाथ शास्त्री सत्याग्रहके समयसे ही मेरे परिचित थे, उनसे मालूम हुआ कि बाबू नारायण प्रसादने गोरया कोठीमें अपने परिवारके कई घरोंके खेतोंको मिलाकर पंचायती खेती शुरू की है। वर्तमान शासन-व्यवस्थामें पंचायती खेती सभव नहीं है, यह मैं समझता था, किन्तु मैं यह भी जानता था कि इस तरहके प्रबन्धमें ही साइंसके कितने ही आविष्कारोंका इस्तेमाल हो सकता है। २७ तारीखको मैं छपरासे गोरयाकोठीकेलिए रवाना हुआ। रास्तेमें जामोमें डाक्टर सियावरशरणजी के घरपर उतरना हुआ, फिर गोरयाकोठी पहुँच गया। नारायणबाबू घरपर ही थे। उन्होंने अपने खेतोंको दिखलाया, अपनी योजना बतलाई। इस पंचायती खेतीमें चार परिवार (२६ व्यक्ति) शामिल हुए थे, और उनके पास ६७ बीघे (प्राय. ६५ एकड़) जमीन थी। खेती अभी दस ही महीने पहिले शुरू हुई

थी, लेकिन इतने हीमें लोगोंको फ़ायदा मालूम हो गया था। मैंने "पंचायती खेतीका एक प्रयास" के नामसे एक विस्तृत लेख लिखा। २ नवम्बर तक महाराजगंज, अतरसन, एकमा, परेजा, भीखी, आदि गाँवोंमें घूमा, और वहाँकी राजनीतिक अवस्थाका अध्ययन करता रहा। बनारस, प्रयाग भी गया, और वहाँ कालेजके छात्रोंके सामने व्याख्यान दिए। जायसवाल जीके देहांतके बाद मेरी बड़ी इच्छा थी, कि उनका एक जीवन लिख डालूँ, उनके काग़ज-पत्रोंसे मैंने कितनी बातें नोट भी की थीं। अबकी बार पटनामें भी कुछ मसाला जमा किया था। उसी सिलसिलेमें मैं २४ नवम्बरको मिर्जापुर गया, वहाँ जायसवाल-परिवार, जायसवालके बाल शिक्षक नाऊ गुरु तथा दूसरे परिचितोंसे पूछकर बहुतसी बातें जमा कीं। लेकिन २६ तारीखको गयासे पटना जाते वक़्त सारी सामग्री चमड़ेके बैगमें रखी रेलपर ही छूट गई, फिर मुझे उत्साह नहीं रह गया, कि उतनी मेहनत करूँ।

२५ नवम्बरको डालमियाँनगर वहाँके मजदूरोंकी अवस्था देखने गया। सड़कके पास मेहतरोंकी झोपड़ियाँ थीं। झोपड़ियाँ भी कहना मुश्किल था, क्योंकि ४ हाथ लम्बी ३ हाथ चौड़ी इन टट्टियोंपर टीन, छप्पर या टाटकी छोटी-छोटी छतें थीं, बरसातका पानी शायद ही वह रोक सकतीं। फ़र्श भी बहुत भीना था। मैंने एक स्त्रीसे पूछा —"बरसातमें कहाँ रहती हो ?" स्त्रीने कुछ अभिमानके साथ कहा—"खटियापर बाबू।" शायद उसकी पड़ोसिनोंके पास खटिया भी न हो, इसलिए उसे खटियाका अभिमान था। बरसातमें सचमुच ही वहाँ पानी भर जाता था, इसलिए खटिया बिना बैठनेका ठाँव कहाँ था ? यह धर्ममूर्ति देशभक्त सेठके नगरके भंगी थे। जिन ग़रीबोंकी कमाईसे करोड़ोंका लाभ हो, उनकी यह हालत ! डालमियाँ नगरके बाबू लोगोंकी एक क्लब है। साहित्यिक रचनाओं और अनुसन्धानोंके कारण मेरा नाम क्लबवालोंको मालूम था। उन्होंने शामको मानपत्र देनेका आयोजन किया। वह इसके लिए किसी दूसरी जगह सभा करना चाहते थे, लेकिन सेठजीने बड़ी उदारता दिखाते हुए कहा—यहीं अपने ही हातेमें मानपत्र दो, मैं भी शामिल होऊँगा। मानपत्र दिया गया। मैंने ईरान और तिब्बतके बारेमें भी कुछ कुछ कहा। लोगोंने कहा कि रूसके बारेमें भी कुछ बतलाइए। मैं चुप था, और दो-तीन बार यह आग्रह जब दुहराया गया, तो सेठजीने कहा—यहाँ रूसके बारेमें कुछ न कहें। मैंने वहाँ कुछ नहीं कहा। हाँ, पीछे फैक्टरीके मजदूरोंकी सभा हुई, उसमें मैंने रूसकी बातें बतलाईं। गया जिलेके किसान तरुणोंका देवमें शिक्षण-शिविर चल रहा था, वहाँ मुझे

भी कुछ व्याख्यान देने थे। मैं डालमियाँनगरसे वहाँ चला गया।

किसान सम्मेलन—उस साल विहारप्रान्तीय किसान सम्मेलन ओइनी (दरभंगा) में हो रहा था। मैं भी वहाँ गया। श्री कार्यानन्द शर्मा सभापति थे। असहयोगके जमानेसे हम दोनों एक दूसरेको जानते थे। कार्यानन्दजीने बड़ी गरीबीसे पढ़ा था। कालेजमें पढ़ रहे थे, उसी वक्त स्वतन्त्रताके आन्दोलनने जोर पकड़ा, और कालेजकी पढ़ाई छोड़कर वह रणक्षेत्रमें कूद पड़े। वह १८ वर्षोंसे बराबर उसी लगनसे काम करते रहे। स्वराजका अर्थ वह गरीबी और अपमानका दूर होना समझते थे, धीरे-धीरे उनके तजर्बोंने बतला दिया, कि निराकार स्वराजसे काम नहीं चलेगा, किसानोंकी साकार तकलीफ़ोंको दूर करना पड़ेगा। वह किसानोंकी कई लड़ाइयाँ लड़ चुके थे। आज ३० हजार किसान अपने वीर सभापतिके भाषणको बड़ी श्रद्धा और उत्साहके साथ सुन रहे थे। मैंने अपना व्याख्यान छपराकी भाषा (मल्लिका) में दिया था। यद्यपि यहाँके किसानोंकी भाषा मैथिली है, लेकिन वह हिन्दीकी अपेक्षा मल्लिकाको ज्यादा समझते हैं। ओइनीसे पूसा ६ मील दूर है। ४ दिसम्बरको कई साथियोंके साथ मैं वहाँके फार्म (कृषि) को देखने गया। भूकम्पके बाद यहाँकी बहुतसी संस्थाएँ दिल्ली चली गईं, लेकिन जो कुछ देखा, उससे यही मालूम हुआ कि यहाँके सारे साइंस-संबंधी अनुसन्धान किसानोंकेलिए नहीं, बल्कि कागजोंपर छाप-छापकर सरकारकी वाहवाही लेनेकेलिए है।

मुझे यह भी पता लग गया कि "किसानोंकी जय" का नारा जिन लोगोंने लगाकर किसानोंसे वोट लिए, वही काँग्रेसी मंत्रीमंडलमें पहुँचकर अब कोई बात करनेसे जमींदारोंकी तकलीफोंपर लेक्चर देने लगते हैं। ओइनीसे मैं जीरादेई (५-६ दिसंबर) गया। राजेन्द्रबाबू आजकल घर ही पर थे, उनके साथ देश-विदेशकी राजनीति और खास करके किसानोंकी समस्यापर बात होती रही। मैंने यह भी कहा कि सरकारी फार्मोंसे नए ढंगकी खेतीका उतना प्रचार नहीं हो सकता, जितना कि पंचायती खेतीमें उन तरीकोंके बरतनेसे होगा। वहाँसे लखनऊ, गोरखपुर, प्रयाग आदि घूमते-घामते २९ दिसम्बरको मुजफ़्फ़रपुर पहुँचा। उस वक्त प्रान्तीय काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टीका वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। बिहारके सभी जिलोंके कार्यकर्त्ता आए थे। इस वक्त यह भी देखा कि मेरे व्याख्यानोंको नोट करनेकेलिए एक डिप्टी-मजिस्ट्रेट खास तौरसे आए हुये हैं। राजनीतिक कार्य-कर्ताओंकेलिए यह भयकी नहीं, सम्मानकी चीज है। जयप्रकाशबाबू और दूसरे साथियोंने मुझे पार्टीका सदस्य होनेके लिए कहा। मैंने मसानीके लेखका जिक्र करके कहा कि आपकी पार्टी यदि सोवियत्-

थी, लेकिन इतने हीमें लोगोंको फ़ायदा मालूम हो गया था। मैंने "पंचायती खेतीका एक प्रयास" के नामसे एक विस्तृत लेख लिखा। २ नवम्बर तक महाराजगज, अतरसन, एकमा, बरेजा, माँझी, आदि गाँवोंमें घूमा, और वहाँकी राजनीतिक अवस्थाका अध्ययन करता रहा। बनारस, प्रयाग भी गया, और वहाँ कालेजके छात्रोंके सामने व्याख्यान दिए। जायसवालजीके देहांतके बाद मेरी बड़ी इच्छा थी, कि उनका एक जीवन लिख डालूं, उनके कागज-पत्रोंसे मैंने कितनी बातें नोट भी की थी। अबकी बार पटनामें भी कुछ मसाला जमा किया था। उसी सिलसिलेमें मैं २४ नवम्बरको मिर्जापुर गया, वहाँ जायसवाल-परिवार, जायसवालके बाल शिक्षक नाऊ गुरु तथा दूसरे परिचितोंसे पूछकर बहुतसी बातें जमा की। लेकिन २६ तारीखको गयासे पटना जाते वक्त सारी सामग्री चमड़ेके बैगमें रखी रेलपर ही छूट गई, फिर मुझे उत्साह नहीं रह गया, कि उतनी मेहनत करूँ।

२५ नवम्बरको डालमियाँनगर वहाँके मजदूरोंकी अवस्था देखने गया। सड़कके पास मेहतरोंकी झोपड़ियाँ थीं। झोपड़ियाँ भी कहना मुश्किल था, क्योंकि ४ हाथ लम्बी ३ हाथ चौड़ी इन टट्टियोंपर टीन, छप्पर या टाटकी छोटी-छोटी छतें थीं, बरसातका पानी शायद ही वह रोक सकतीं। फ़र्श भी बहुत नीचा था। मैंने एक स्त्रीसे पूछा—"बरसातमें कहाँ रहती हो ?" स्त्रीने कुछ अभिमानके साथ कहा—"खटियापर बाबू।" शायद उसकी पड़ोसिनोंके पास खटिया भी न हो, इसलिए उसे खटियाका अभिमान था। बरसातमें सचमुच ही वहाँ पानी भर जाता था, इसलिए खटिया बिना बैठनेका ठाँव कहाँ था ? यह धर्ममूर्ति देशभक्त सेठके नगरके भंगी थे। जिन ग़रीबोंकी कमाईसे करोड़ोंका लाभ हो, उनकी यह हालत! डालमियाँ नगरके बाबू लोगोंकी एक क्लब है। साहित्यिक रचनाओं और अनुसन्धानोंके कारण मेरा नाम क्लबवालोंको मालूम था। उन्होंने शामको मानपत्र देनेका आयोजन किया। वह इसके लिए किसी दूसरी जगह सभा करना चाहते थे, लेकिन सेठजीने बड़ी उदारता दिखाते हुए कहा—यहाँ अपने ही हातेमें मानपत्र दो, मैं भी शामिल होऊँगा। मानपत्र दिया गया। मैंने ईरान और तिब्बतके बारेमें भी कुछ कुछ कहा। लोगोंने कहा कि रूसके बारेमें भी कुछ बतलाइए। मैं चुप था, और दो-तीन बार यह आग्रह जब दुहराया गया, तो सेठजीने कहा—यहाँ रूसके बारेमें कुछ न कहें। मैंने वहाँ कुछ नहीं कहा। हाँ, पीछे फैक्टरीके मजदूरोंकी सभा हुई, उसमें मैंने रूसकी बातें बतलाईं। गया जिलेके किसान तरुणोंका देवमें शिक्षण-शिविर चल रहा था, वहाँ मुझे

भी कुछ व्याख्यान देने थे। मैं डालमियाँनगरसे वहाँ चला गया।

किसान सम्मेलन—उस साल विहारप्रान्तीय किसान सम्मेलन ओइनी (दरभंगा) में हो रहा था। मैं भी वहाँ गया। श्री कार्यानन्द शर्मा सभापति थे। असहयोगके जमानेसे हम दोनों एक दूसरेको जानते थे। कार्यानन्दजीने बड़ी ग़रीबीसे पढा था। कालेजमें पढ रहे थे, उसी वक़्त स्वतन्त्रताके आन्दोलनने जोर पकड़ा, और कालेजकी पढ़ाई छोड़कर वह रणक्षेत्रमें कूद पड़े। वह १८ वर्षोंसे बराबर उसी लगनसे काम करते रहे। स्वराजका अर्थ वह ग़रीबी और अपमानका दूर होना समझते थे, धीरे-धीरे उनके तजर्बोंने बतला दिया, कि निराकार स्वराजसे काम नहीं चलेगा, किसानोंकी साकार तकलीफ़ोंको दूर करना पडेगा। वह किसानोंकी कई लड़ाइयाँ लड़ चुके थे। आज ३० हजार किसान अपने वीर सभापतिके भाषणको वड़ी श्रद्धा और उत्साहके साथ सुन रहे थे। मैंने अपना व्याख्यान छपराकी भाषा (मल्लिका) में दिया था। यद्यपि यहाँके किसानोकी भाषा मैथिली है, लेकिन वह हिन्दीकी अपेक्षा मल्लिकाको ज्यादा समझते हैं। ओइनीसे पूसा ६ मील दूर है। ४ दिसम्बरको कई साथियोंके साथ मैं वहाँके फार्म (कृषि) को देखने गया। भूकंपके बाद यहाँकी बहुतसी संस्थाएँ दिल्ली चली गईं, लेकिन जो कुछ देखा, उससे यही मालूम हुआ कि यहाँके सारे साइंस-संबंधी अनुसन्धान किसानोंकेलिए नहीं, बल्कि कागजोंपर छाप-छापकर सरकारकी वाहवाही लेनेकेलिए है।

मुझे यह भी पता लग गया कि "किसानोंकी जय" का नारा जिन लोगोंने लगाकर किसानोसे वोट लिए, वही कांग्रेसी मंत्रीमंडलमें पहुँचकर अब कोई बात करनेसे जमींदारोंकी तकलीफोंपर लेक्चर देने लगते हैं। ओइनीसे मैं जीरादेई (५-६ दिसंबर) गया। राजेन्द्रबाबू आजकल घर ही पर थे, उनके साथ देश-विदेशकी राजनीति और खास करके किसानोंकी समस्यापर बात होती रही। मैंने यह भी कहा कि सरकारी फार्मोंसे नए ढंगकी खेतीका उतना प्रचार नहीं हो सकता, जितना कि पंचायती खेतीमें उन तरीकोंके बरतनेसे होगा। वहाँसे लखनऊ, गोरखपुर, प्रयाग आदि घूमते-घामते २६ दिसम्बरको मुजफ़्फ़पुर पहुँचा। उस वक़्त प्रान्तीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टीका वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। विहारके सभी जिलोंके कार्यकर्त्ता आए थे। इस वक्त यह भी देखा कि मेरे व्याख्यानोको नोट करनेकेलिए एक डिप्टी-मजिस्ट्रेट खास तौरसे आए हुये हैं। राजनीतिक कार्य-कर्त्ताओंकेलिए यह भयकी नहीं, सम्मानकी चीज है। जयप्रकाशबाबू और दूसरे साथियोंने मुझे पार्टीका सदस्य होनेके लिए कहा। मैंने मसानीके लेखका जिक्र करके कहा कि आपकी पार्टी यदि सोवियत्-

विरोधी नीति रखती है, तो मैं कैसे उसमें शामिल हो सकता हूँ ? उन्होंने बतलाया कि यह मसानीका अपना विचार है, पार्टी उसकेलिए जिम्मेवार नहीं है। मैं मेम्बर बन गया। उस वक्त हरिनगर (चंपारन) की चीनी मिलोंमें हड़ताल जारी थी। मैं २२ तारीखको वहाँ पहुँचा। हरिनगर मिल कांग्रेसी पूँजीपतिकी मिल है, किन्तु वहाँके हड़तालके देखनेसे मालूम हुआ, कि देशकी आजादीकेलिए लड़नेवाले ये लोग किसानोंको पीस डालनेकेलिए किसीसे कम नहीं हैं। मिल-मालिक और बड़े नौकर मजदूरोंको दाससे बढ़कर नहीं समझते। जरा-जरासी बातकेलिए जुर्माना कर देना, नौकरीसे निकाल देना मामूली बात थी। ऊपरसे मजदूरी भी बहुत कम थी। शायद दुनियाके किसी मुल्कमें पूँजीपति इतना ज्यादा नफा नहीं कमाते। हिन्दुस्तानकी चीनी मिलोंने तीन-तीन चार-चार वर्षके भीतर इतना नफा कमाया, कि कारखानेमें लगी सारी पूँजी नफेसे निकल आई। यह पूँजीवादी प्रथामें भी रोजगार नहीं, सीधी लूट है।

जिन मजदूरोंके पसीनेकी कमाईसे पूँजीपति इतना नफा कमाते हैं, उनकी ओर उनका कुछ भी ध्यान नहीं जाता। हरिनगर मिलके मजदूरोंकी बहुतसी शिकायतें थीं, जब ६ महीना बंद रहनेके बाद पेरनेका मौसिम नजदीक आया और मिलकी मशीन और पुर्जे साफ़ किए जाने लगे, उस वक़्त मिलवालोंने खूब नादिरशाही की। ७ अक्तूबर (१६३८) को ३०० सौ मजदूरोंमें २० को छोड़कर बाकी सबने हड़ताल कर दी। उनकी माँग थी—(१) मजूरीमें २५ सैकड़ा वृद्धि। यानी साढ़े तीन आनेकी जगह छ आना रोजाना मजूरी हो; (२) मजूरोंके घरोंमें चिराग और सफ़ाईका इन्तिजाम किया जाय; (३) विवाहित मजदूरोंकेलिए जनाना क्वाटर मिले; (४) मिल-मालिक मजदूरसभाको स्वीकार करें; (५) किसी मजदूरको बर्खास्त करना हो तो उसे अपने मनसे न करें, बल्कि फ़ैसला करनेका अधिकार मजदूरों और मालिकोंकी एक सम्मिलित सभाको हो। हड़ताल २० अक्तूबर तक जारी रही। मिलवालोंकेलिए यह बड़े नुकसानकी चीज थी, क्योंकि यदि मशीन साफ होकर लग नहीं जाती, तो ऊख पेरनेका का काम कैसे होता ? १८ से २० तारीख तक मिलके भीतर ही जिलाकांग्रेस कार्यकारिणीकी बैठक होती रही—मिलमें बैठक होनेकेलिए कोई आश्चर्य करनेकी जरूरत नहीं, आखिर मिल-मालिक भी तो कांग्रेसी थे। कार्यकारिणीने मजदूरोंको अश्वासन दिया, और मजदूरोंने सप्ताह भरकेलिए हड़ताल रोक दी। पेरनेका मौसिम आ गया, और मिलमें १२०० मजदूर काम करने लगे। मजदूरोंने कांग्रेसी नेताओंको चिट्ठी और तार दिये, लेकिन जवाब देनेकी जरूरत नहीं समझी गई। १५ दिन इन्तजार करनेके बाद ५ नवम्बरको फिर हड़ताल करनेके-

लिए मजदूरोंने अल्टिमेटम दे दिया। उसी दिन जिलाके बड़े कांग्रेसी नेता आए, उन्होंने मजदूरोंको धमकी दी, कि यदि हड़ताल किया, तो सबको बाहर निकाल दिया जायगा और नए मजदूर रखे जाएँगे। ९ नवम्बरको मजदूरोंने फिर हड़ताल शुरू कर दी। १४ नवम्बरको नेताने आकर फैसला सुनाया कि मजूरी साढ़े तीन आनेकी जगह चार आना मिलेगी। बाकी किसी बातपर विचार नहीं किया गया। लेकिन मजदूर इतनेसे सन्तुष्ट कैसे हो सकते थे! हड़ताल जारी रही। मजदूरोंने धरना देना शुरू किया। पुलिस पकड़ नहीं रही थी, इसपर कांग्रेसी नेताओंने उन्हें हिजड़ा कहा और धमकी दी। पुलिसने लोगोंको गिरफ्तार करना शुरू किया। मिलके सिपाही और पुलिस-घुड़सवार मजदूरोंको खूब मारते-पीटते, उनके ऊपर घोड़े दौड़ाते, ठंडा पानी डालते। जनार्दन प्रसादको तो इतना पीटा था कि दस दिन तक वह बोल न सका। आज (२२ दिसम्बर) तक १६८ मजदूर जेलमें भेजे जा चुके थे। सब-डिविजनल मजिस्ट्रेटने कई लड़कोंके हाथोंपर बेत लगवाए।

मुझे यह सब सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ। यह सब कांग्रेसी सरकारके राज्यमें उस जनतापर हो रहा था, जिसने कांग्रेसको इतना बड़ा किया! क्या वह कांग्रेस मंत्रि-मंडलसे यही आशा रखती थी? सबसे बड़ी बात तो यह कि अभी हमारा देश अंग्रेजोंका गुलाम था। क्या कांग्रेसवाले नहीं जानते थे कि जिस गरीब जनताके ऊपर इतना अत्याचार किया जा रहा है, उसीके बलपर उसे विदेशियोंसे लड़ना है। मुझे कांग्रेसी नेताओंसे कभी ऐसी आशा नहीं थी।

रांची साहित्य सम्मेलन (२७-३० दिसंबर)—उस साल प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन रांचीमें हो रहा था, मैं ही उसका सभापति चुना गया था। २६ दिसम्बर-को मैं रांची पहुँचा। रांचीकी यह पहिली यात्रा थी। हरीभरी पहाड़ी जगह थी, गर्मीमें कैसी लगती होगी? मैंने अपने भाषणमें जनभाषा और जनगीतपर जोर दिया था, हिन्दी उर्दूको मिलाकर एक कृत्रिम भाषा (हिन्दुस्तानी)के विपक्षमें कहा था। मैं बिलकुल समझ नहीं सकता था कि इक़बाल और पन्तकी कविताओंके साहित्यको कैसे एक कहा जा सकता है? मैं समझता था, कि हिन्दी और उर्दूको अपने अपने स्थानपर रहने देना चाहिए। ३० तारीखको हम कांके देखने गए। मुर्गी पालनेको मैं बहुत फायदेकी चीज समझता था, इसलिए वहांके मुर्गी खानेको बड़े ध्यानसे देखता रहा। हम पागल-खाना देखने गये। एक पागल कह रहा था—"देखिये हम काम करते हैं, किन्तु मजदूरी नहीं मिलती। हम कैदी थोड़े ही हैं, हमको शादी ब्याह नहीं करने दिया जाता।" वह पागल ज्यादा खतरनाक नहीं था।

२

किसान-सत्याग्रह (१९३९ ई०)

पहिली जनवरी (१९३९) को सबेरे नागार्जुनजीके साथ मैं पटना पहुँचा, और दूसरे दिन छपराकेलिए रवाना हो गया। जिला भरके किसान-कार्यकर्त्ता आए हुए थे, वहाँ किसानोंकी परिस्थिति जाननेका मौका मिला। अमवारीके किसानोंने बतलाया "हमारे खेत छीन लिए गए हैं, हमने इधर-उधर बहुत दौड़धूप की, कांग्रेस नेताओंके पास भी गए, मगर कोई नहीं सुनता।" ५ जनवरीको मैं सीवानमें रेलसे उतरकर अमवारी पहुँचा। मालूम हुआ, सचमुच बहुतसे किसानोंके खेत निकाल लिए गए हैं। यह भी पता लगा कि झगड़ा हुरीबेगारीसे शुरू हुआ। सतयुगसे व्यवस्था चली आई थी, कि किसान अपने हल-बैलसे मालिकके खेतको पहले जोत-बो दें, फिर वह उसे अपने खेतमें ले जा सकता है। रामधनी महतो अपना खेत जोत रहे थे, जमींदार (गु० बाबू) ने कहा—हल हमारे खेतमें ले चलो। रामधनीने कहा—इस खेतको जोतकर बाबू हम आपके खेतमें चलेंगे। बाबूने तीन लाठी मारी। पुलिसने भी रैय्यतके खिलाफ़ ही रिपोर्ट दी। दूसरे किसानोंको यह बात बुरी लगी। पुलिसकी रिपोर्ट पढ़कर मजिस्ट्रेटने किसानोंके ऊपर दफा १४४ लगा दी। सारा मामला एकतरफा था, और यह सब कांग्रेसी मन्त्रियोंके राजमें हो रहा था।

मैं अगले दिन (६ जनवरी) पासके गाँव जयजोरीकी ओर चला। अमवारी प्राइमरी स्कूलके लड़कोंने मुझे खूब गालियाँ दीं। उनके अध्यापक जमींदारके यहाँ नौकरी भी करते थे, इसलिए नमक-हलाली दिखलानी ही चाहिए थी। रातको हम जयजोरीमें रहे। यहाँके किसानोंपर भी जमींदारका बर्षों तक जुल्म होता रहा। खेतमें चाहे एक अच्छत पैदा न हो, लेकिन मालगुजारी जुर्माना सब मालिकके पास पहुँचना चाहिए। किसान कितने दिनों तक मालगुजारी कर्ज लेकर देते ? जब देनेमें असमर्थ हुये तो जमींदारने खेत नीलाम करवा लिया। खेतको छोड़कर किसान जी कैसे सकते थे ! अन्तमें उन्होंने निश्चय किया, कि चाहे कुछ भी हो, हम अपने खेतको नहीं छोड़ेंगे। जमींदारने सब कुछ करके देख लिया, लेकिन गाँवके एक दोको छोड़कर सारे ही किसान एक राय थे। वह उनका कुछ नहीं बिगाड़ सका। वर्षों तक लड़ते रहनेके कारण, मैंने देखा जयजोरीके किसानोंमें जान है—मोहन भगत और कई दूसरे किसान सिर्फ अपना स्वार्थ नहीं देखते थे।

दूसरे दिन (७ जनवरी) हम सीवानकेलिए रवाना हुए। थोड़ी ही दूर जानेपर सुल्तानपुर गाँव मिला। यहाँ हिन्दू मुसल्मान दोनों ही धर्मोके किसान हैं। मैंने एक मुसल्मान किसानसे बातचीत शुरू की—"तुम्हारे गाँवमें कितने खेत और कितने घर असामी है ?

किसान—५ सौ बीघा (३०० एकड़से कुछ ऊपर) खेत और पाँच सौ परिवार हैं—हिन्दू-मुसल्मान दोनों।"

मैंने पूछा—"तुम्हारे मालिक कौन हैं।"

किसान—"हमारे मालिक डाक्टर म० साहब हैं।

मैं—"तब तो तुम्हारा अहोभाग्य हैं। कांग्रेसके इतने बड़े नेता तम्हारे मालिक हैं।"

किसान—'अहोभाग्य। सारे रय्यत परेशान-परेशान हैं। एक किस्त मालगुजारी जो बाकी रह जाय, तो मारकर खाल उधेड़ लेते हैं। हरी-बेगारी, जुर्मानाके मारे नाकमें दम है। मालिकके ७५ बीघेकी बकाश्त (अपनी खेती) है, और उसका सारा जोतना-बोना हम लोगोंको अपने हल-बैलसे करना पड़ता है।"

यह थे कांग्रेसी सरकारके एक मंत्री और शायद दूसरे मंत्रियोंसे काफ़ी अच्छे !

उसी दिन हम सीवान पहुँच गए। दूसरे दिन सीवानके अंग्रेज एस० डी० ओ० के पास जाकर मैंने अमवारीके किसानोंकी तकलीफें बतलाईं। उसने कहा—"मैं अभी-अभी नया आया हूँ, मैं वहाँ जाकर जाँच करूँगा।" लेकिन वह कभी जाँच करने नहीं गया। जाँच करनेकी जरूरत भी नहीं थी, क्योंकि जमींदार (च) बाबूसे झगड़ा था, वह सरकारके बहुत खैरख्वाह थे, कई सालोंसे अवैतनिक सी० आई० डी० (खुफिया)का काम कर रहे थे, सरकारने उन्हे उपाधि भी दी थी। उनके पास कई बड़े अंग्रेज हाकिमोंके प्रशसापत्र थे। उनकी एक-एक बात अंग्रेज मजिस्ट्रेटकेलिए ब्रह्मवाक्य था।

छपरामें सबसे बड़ी जमींदारी हथुवाके महाराजा बहादुरकी है। सारा कुआड़ी परगना उनका है। जब मैं असहयोग और बादमें भी कांग्रेसका काम करता था, तो कुआड़ीमें मुझे बहुत जाना पड़ता था। मैंने यहांके किसानोंकी बहुतसी तकलीफे सुनी थी। मैं कुआड़ीमें जानेका ख्याल रखता था, लेकिन अबकी बार सिर्फ मीरगंजको दूरसे देखकर ही संतोष करना पड़ा। मीरगंज बाजार अब बहुत बढ़ गया था। वहाँ एक चीनीकी मिल क़ायम हो गई थी। थावेसे सिधवलियाकी रेलपर पहिले-

पहल चढा। रतनसराय स्टेशनसे उतरकर बरौली गया, वहाँ एक सभामें भाषण दिया, फिर रास्तेमें रातको एक जगह ठहरकर गोरयाकोठी पहुँचा और चार दिन वहीं रहा। वहाँ हाई स्कूलके विद्यार्थियोंके सामने व्याख्यान दिया, और पंचायती खेती देखी। छितौलीके किसानोंने अपनी तकलीफें बताईं। ३१ जनवरीको छितौली पहुँचा। वहाँके जमींदार अशर्फीसाहुसे मिला। उन्होंने कहा कि मैंने किसी असामीको खेत नहीं दिया है, मैं अपना खेत आप जोतता हूँ। अशर्फीसाहु धर्मात्मा समझे जाते थे, उन्होंने एक मन्दिर बनाकर संस्कृत पाठशाला भी खोल रखी थी। पूजा-पाठ, व्रत-उपवासमें भी आगे रहते थे, लेकिन वह बोल रहे थे सरासर झूठ। ४८६ बीघा खेतकेलिए वहाँ उनके पास हल-बैल कहाँ थे? जब अशर्फीसाहुने एक निलहे साहबसे यह जमीन और कोठी खरीदी, उस वक्त कितने ही असामी खेतोंको जोता करते थे। उनसे साहुने खेत निकाल लिया। गाँवके असामियोंको जोतनेके-लिए देनेपर निकालना मुश्किल होता, इसलिए १४ घर असामियोंको दूसरे गाँवसे बुलाकर बसाया। पैमायश (सर्वे) में इन असामियोंके नाम दर्ज हो गए, फिर उन्हें इस्तीफा देनेकेलिए मजबूर किया। बेचारे गरीब किसान लखपती जमींदारसे कैसे लड़ते? पुलिस उनकी बात करती थी। अदालतकी आँखमें धूल झोंकनेकेलिए वह पानीकी तरह रुपयेको खर्च कर सकते थे। खैर, अब तक वह किसानोंको मनमाना मालगुजारीपर खेत जोतनेको देते थे, लेकिन अब वह इसकेलिए भी तैयार नहीं थे।

एकड़वाले पंचायती खेतिहरोंको मदद देना चाहिए, उनकी सफलता देखकर दूसरे भी अनुकरण करेंगे। खैर, उन्होंने हाँ-हाँ किया और खर्चेकी योजना बना देनेके लिए कहा। मैंने कुआँ, रहट और कुछ और चीजोंकेलिए रुपयेका हिसाब दे दिया।

उस वक़्त मुंगेर और गया जिलामें किसानोंका जमीदारोंके साथ संघर्ष चल रहा था। कांग्रेस मन्त्रिमंडलके कायम होनेपर जमीदारोंको डर हो गया था कि जिन खेतोंको उन्होंने जबर्दस्ती किसानोंसे छीन लिया है, और जिन्हें अब भी किसान ही जोत रहे हैं, उनपर किसानोंका अब हक हो जायगा, क्योंकि कांग्रेसी सरकार उनकी धाँधली चलने नहीं देगी। इसीलिए सारे विहारमें वर्षोंसे किसानोंके जोतमें रहते खेतोंको जमीदारोंने निकालना शुरू किया। किसान विरोध करते थे और अपने खेतोंको छोड़ना नहीं चाहते थे, यही संघर्षका कारण था। श्रीकार्यानन्दजीसे मैंने बढ़ैयाटालके किसानोंकी दुर्दशा सुन ली थी, और अब मैं उसे खुद देखना चाहता था।

बढ़ैयाटालमें—२० जनवरीको मैं लक्खीसराय चित्तरंजन आश्रममें गया। वहाँ उस वक़्त किसानकार्यकर्त्ताओंका शिक्षणशिविर चल रहा था और एक तरुण कर्मी अनिलमिश्र बड़ी तत्परतासे काम कर रहे थे। अगले दिन (२१ जनवरी) को कार्यानन्दजीके साथ हम पैदल रवाना हुए। रास्तेमें रजौनामें पालवंशी राजा सूरपालके समय (१०७५-७७ ई०) की एक बौद्धमूर्ति देखी। एक दूसरी मूर्तिकी चौकीपर किसी पालवंशी राजाके १३वें वर्षका शिलालेख था। हरोहर नदीमें नाव तैयार थी। हम नावसे रेपुरा गए। नदीसे थोड़ा हटकर गाँव था। एक बगीचेमें सभाका इन्तजाम किया गया। ५ हजारसे अधिक लोग जमा थे, जिनमें तीन चार सौ औरतें थीं। सदियोंसे इन किसानोंपर अत्याचार होता आया था। वह इसे भाग्यका फेर समझते थे, लेकिन अब वह अपने भाग्यको अपने हाथसे बनानेकेलिए तैयार थे। बढ़ैयाटाल चालिस गाँवोंका एक विस्तृत मैदान है। यहाँकी जमीन नीची है, इसलिए बरसात भर वह एक छोटे-मोटे समुद्रका रूप ले लेता है, जिसके भीतर छोटे-छोटे गाँव द्वीपसे मालूम पड़ते हैं। बरसात खतम होते ही पानी निकल जाता है। लेकिन हजारों गाँवोंकी गन्दी-सड़ी चीजोंको अपने भीतर घोलकर वहाँ मोटी काली मिट्टीकी तहके रूपमें छोड़ भी जाता है, जिसके कारण रब्बीकी फ़सलकेलिए जमीन अधिक उपजाऊ हो जाती है। पानी निकलते ही किसान हल ले जाकर बीज बो देते हैं, और फिर लाखों एकड़ भूमिमें हरी फ़सल लहराने लगती है। टालको बराबर इन गाँवोंके किसान जोता करते थे। जमींदार उनसे मनमाना अनाज और भूसा लिया करते थे, और किसानोंको इतना अन्न उपजाकर भी भूखे मरना पड़ता था। अब जब

किसान जाग गए, तो जमीदार हर तरहके अत्याचारपर उतर आए थे। उनके लठधर किसानोंका सिर फोड़ते औरतोंको बेइज्जत करते थे। पुलिसने सैकड़ों आदमियोंको जेल भेजा। लेकिन अब जेलका डर इनके दिलसे निकल गया था। उस दिन औरतें अपनी मगही भाषा में गाना गा रहीं थी "चलु चलु माता! जेहलके जवैयारे।" औरतें भी जेल जानेसे नही डरती थीं।

अगले दिन (२२जनवरी) रेपुरासे हम रवाना हो मेहरामचक गाँवमें पहुँचे। गाँव वालोंका जिधर निकास था, उधर ही पुलिसने डेरा डाला था। शांति-व्यवस्था तथा जमीदारोंकी लूट-की रक्षा करनेकेलिए पुलिसका भारी दल टालमें पहुँचा हुआ था। लेकिन उन्हें डेरा डालनेमें इतना तो ख्याल रखना चाहिए था, कि जिधर औरतें रात-बिरात निकलती है, उस जगहको छोड़ देते—साफ था कि कांग्रेसी सरकारने जमीदारोंका पल्ला पकड़ा था। यह बहुत गरीब गाँव था। ५ व्यक्तिके एक परिवारके घरको मै देखने गया। तीन हाथकी दीवारपर फूसकी झोंपड़ी रखी थी। घर भीतरसे ८ फ़ीट लम्बा और ५ फ़ीट चौड़ा था। बाहर एक फूसका बरांडा था। इसीमें वह गुजारा करते थे। एक २१ व्यक्तिके परिवारके पास वैसे ही तीन घर थे। क्या इसे मनुष्यजीवन कह सकते है? एक घरमें देखा कि जमींदारने घरवालोंको निकाल दिया है और उसमें भूसा भर रखा है। हद दरजेकी ग़रीबी और असहायता। भूखे थे तो भी अब उनके अन्दरसे डर निकल गया था। उनके उत्साहको देखकर मेरी तबियत बहुत खुश हुई। मैने कहा—क्रांति तुम्हारा स्वागत है।

रघोड़ामें—२३ जनवरीको कार्यानन्दजीके साथ रघोड़ा देखने जारहा था। गयाके किसान-नेता पंडित यदुनन्दनशर्मापर किसानोंके संघर्षमें सहायता देनेके अपराध-में मुकदमा चल रहा था। पचासों हजार किसान अपने वीरनेताके दर्शनकेलिए गया जानेको तैयार थे। उस भीड़में भला टिकट कौन मांगता और जेलसे डरनेवाला कौन था? रेलवालोंने ढाई घंटा बाद रेल छोड़ी, इसपर भी उन्हें हिम्मत नहीं थी फिर उन्होंने हम दोनोंको भी साथ चलनेकेलिए कहा। कासीचक स्टेशनपर अब भी पचास आदमी थे, बहुतसे कचहरीका समय बीत गया समझकर लौट गए थे। हमलोग लारीसे रघोड़ा गए। सशस्त्र पुलिस गाँवसे बाहर पड़ी थी। गाँवमें दरिद्रता हद दर्जेकी थी। कितनी ही छानोंपर वर्षोंसे गर नहीं पड़ा था। इस गाँवमें बड़ी जातिवाले किसान ज्यादा रहते थे और जमींदार भी उसी बड़ी जातिके थे। एक-एक करके उन्होंने किसानोंके सभी खेत नीलाम करवा लिये। अब किसानोंके-लिए दो ही रोजगार था, बैल-गाड़ी लादना या लकड़ियोंको पैदाकर उन्हें अपने जातिमें-

बेंचना। इतनी ग़रीबी थी, किन्तु मैंने वहाँके स्त्री-पुरुषोंके रंग और शरीरको देखा तो उनसे सौन्दर्यकी झलक आ रही थी। ज़मींदारपर पुलिस और सरकारी अफ़सरोंका वरदहस्त था, क्योंकि उन्होंने अपनेको पक्का अंग्रेजभक्त साबित किया था। कांग्रेस-मंत्रियोंमें चारमेंसे तीन स्वयं ज़मींदार थे और चौथे बननेकी तैयारीमें थे, फिर उनकी सहानुभूति किसानोंके प्रति क्यों होती? लेकिन किसानोंमें अब गज़बका एका हो गया था। वह अपने हक़पर एक साथ लड़ने, एक साथ जेल जाने, मारखानेकेलिए तैयार थे। औरतें हमें देखकर "चलु चलु सखिया जेलके जवैया गे" गा रही थीं। मैंने वहाँ एक व्याख्यान दिया।

२४ जनवरीको सबेरे मैं पटनामें था। वहाँ खबर मिली कि करनौती (हाजीपुर) की घरू नौकरानियोंने हड़ताल कर दी है। हमारे देशमें एकहीं कोढ़ थोड़ा है। जिन गाँवोंमें बड़े-बड़े ज़मींदार रहते हैं, वहाँकी औरतोंकी इज्जत मुश्किलसे बच पाती है। ज़मीदारोंकी अपनी इज्जतपर भी आबरवाँ जैसा ही पर्दा होता है। साधारण स्त्रियोंपर तो वह भी नहीं रहने पाता। फिर सैकड़ों वर्षोंसे उन्होंने कुछ जातियोंका अपना खवास—गृहसेवक बना रखा है। इन घरोंके पुरुष और स्त्रियाँ बाबुओंके घरमें ज़िन्दगी भर सेवा करनेकेलिए बने हैं। इनकी अवस्था दास-दासीसे बेहतर नहीं है। मालिकके जूठे भातसे वह पेट पालते हैं, उतारे कपड़ेसे शरीर ढाँकते हैं। महीनेमें ८ आना और १२ आना उन्हें तनख्वाह मिलती है, और कामकेलिए पहर भर रातसे आधीरात तक हाथ बाँधे खड़ा रहना पड़ता है। लड़कीका ब्याह होनेपर जैसे मोटर, हाथी, सोने-रूपेका दहेज दिया जाता है, उसी तरह खवासिनें भी दहेजमें जाती हैं। क्या दास-प्रथामें कोई कसर है? करनौतीमें घरू नौकरानियोंकी हड़तालने बतलाया कि, कि राजर्षियों और ब्रह्मर्षियोंका हिन्दुस्तान हिलने लगा है।

उसी दिन रातको मैं छपरा गया। मढ़ौरामें चीनी, शराब और लोहेकी एक बड़ी फैक्टरी है, एक अंग्रेजी मिठाइयोंका भी कारखाना है। कारखानेके मालिक अंग्रेज हैं। यद्यपि वह इंगलैण्डमें अपने मज़दूरोंको चार-चार रुपया रोज मजूरी देनेकेलिए तैयार हैं, लेकिन हिन्दुस्तानके मजूरोंको वह चार आनेमें टरकाना चाहते हैं। मजूरोंने बहुत शिकायतें कीं, उन्होंने मालिकोंके पास बार-बार दरख्वास्तें दी, लेकिन कौन सुनता है? कांग्रेसवाले अब मिलमालिकोंके सगे भाई थे, जैसा कि हमने हरिनगरमें देखा था। लेकिन मढ़ौराके मालिक हिन्दुस्तानी नहीं अंग्रेज सेठ थे, इसलिए उन्होंने मजूरोंके साथ अपना द्रोह दिखाना चाहा। जिला कांग्रेसके तत्कालीन सभापति एक बड़े ज़मीदार थे। जिलेमें जगह-जगह किसानोंपर जुल्म हो रहे थे। ज़मीदार उनके खेतोंको

जबर्दस्ती निकाल रहे थे। किसान दौड़े-दौड़े जिला कांग्रेसके पास जाते, किन्तु सभापति महाशय क्यों उधर ध्यान देने लगे? उनकी जमींदारीमें भी तो वही बातें दुहराई जाती थीं। खैर, अंग्रेज सेठका कारखाना होनेके कारण कांग्रेसी नेताओंने यहाँके मजदूरोंकी सभा स्थापित की। १ दिसम्बरको जिला सभापतिने मजदूरोंकी सभा की और उनकी मांगें लिखकर मालिकोंके पास भेज दीं। साथ ही यह भी लिख दिया कि १६ तारीखके १२ बजे तक माँगें पूरी कर दी जायें। लेकिन मिलवाले इस तरहकी चिट्ठियोंसे थोड़े ही माँगें पूरा किया करते हैं। २० को चिट्ठी लिखी गई कि यदि चौबीस घंटेमें समझौता नहीं हुआ, तो मजदूर हड़ताल कर देंगे। २१ जनवरीको मजदूरोंकी आम सभा करके २३ जनवरीसे हड़ताल करनेकी चिट्ठी लिख दी गई। यह सब कांग्रेसके नेता कर रहे थे। मजदूर उनकी बातपर विश्वास करके लड़नेपर तैयार थे। कांग्रेसवाले कई बार हड़तालको स्थगित कर चुके थे। २२ तारीखको फिर उन्होंने हड़ताल स्थगित करनेकेलिए लिखा। मजदूरोंको मालूम हो गया, कि वह नहीं चाहते कि हम अपने हकके लिए लड़ें। उन्हें बड़ी निराशा हुई। वह हमारे साथियोंके पास दौड़े। २३ को आकर साथी विश्वनाथ श्रमिकने मजदूरोंका पक्ष लिया, इसपर कांग्रेसी नेताओंने धमकी दी, और २४ तारीखको उन्होंने फतवा दिया कि मजदूरोंके नेता गुंडा हैं। अब पुलिस क्यों चूकने लगी? उसने ३१ आदमियोंको गिरफ्तार किया। इसी कामकेलिए मैं २५ जनवरीको मढ़ौरा पहुँचा था। मजदूर डटे हुए थे। बाजारके लोग थोड़ा-थोड़ा अन्न जमा करके हड़तालियोंकी मददकेलिए तैयार हो गए। मैंने मजदूरोंकी सभामें व्याख्यान भी दिया।

२६ जनवरीको सोनपुरमें स्वतन्त्रता-दिवस मनाया जानेवाला था। मुझे निमंत्रण दिया गया था। कई वर्षों बाद मैं वहाँ एक राजनीतिक कार्यकर्ताके रूपमें गया। २ बजे एक भारी जुलूस निकाला गया, और ५ बजे स्वराज-आश्रममें राष्ट्रीय झंडा फहरानेके बाद मैंने व्याख्यान दिया। मैंने देखा कि लोगोंमें पहिलेकी अपेक्षा अधिक जागृति है। लोग सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियोंके खिलाफ भी बात सुननेकेलिए तैयार हैं। मुझे एक अभिनन्दनपत्र दिया गया, लेकिन अभिनन्दनपत्रोंको रखनेकेलिए न मेरे पास ठाँव था, न लालसाही। बाराबंकी, सरायमीरसराय आदिकी तरह इस अभिनन्दनपत्रको भी मैंने वहीं छोड़ दिया।

उस वक्त मैं देख रहा था, कि सब जगह किसानोंमें उत्साह है। वह जमींदारोंके जुल्मको बरदाश्त करनेकेलिए तैयार नहीं थे, किन्तु उन्हें संगठित तथा सचेतन बनानेकेलिए योग्य नेतृत्व नहीं मिल रहा था। मैं समझता था, कि किसान अपने भीतरसे

नेता पैदा कर सकते हैं। किन्तु कैसे ? इसका जवाब मैं अभी नही दे सकता था।

हथुवा-राजमें—अब मैं हथुआ राजके कुवाड़ी परगनेमें जानेका निश्चय कर चुका था। इसकी खबर राजवालोंको मालूम हुई, तो वह बहुत घबड़ाए। उन्होंने मेरे पास एक सज्जनको भेजा। उन्होंने कहा कि सिर्फ़ एकतरफा बातें न सुनें, हमारी बातोंको भी सुननेका कष्ट उठाएँ। मैं इसकेलिए तैयार था। २९ तारीखको पता लगा कि मढ़ौरामें दो साथी शिवबचनसिंह और श्रमिक विश्वनाथ गिरफ़्तार कर लिए गए। ३१ को १५ आदमी और गिरफ़्तार हुए—मढ़ौराके ६० आदमी इस वक़्त जेलमें थे। उस दिन छपरामें मालूम हुआ कि कांग्रेसके दोनों नेताओंने मजूरोंसे बिना पूछे मालिकोंके साथ समझौता करके उसपर हस्ताक्षर कर दिया। इसपर मैंने लिखा था "क्या यह मोतेपर आघात करना नही है ? लेकिन यह कोई असम्भव बात नही, जो श्रमजीवी श्रेणीके साथ आगे बढनेके लिए तैयार नही, वह अपने नेतृत्वके लिए सब कुछ कर सकता है।"

मैं देख रहा था कि हमारे किसान-मजूरोंको हिन्दी समझना आसान नहीं है, यदि उनकी मातृभाषामें लिखा-बोला जाय, तो वह अच्छी तरह समझ सकते हैं। मैंने सोचा, छपराकी भाषा भोजपुरी (मल्लिका) में इसकेलिए एक साप्ताहिक निकालना चाहिए, जिसका दाम सिर्फ एक पैसा रहे। मैंने कुछ रुपयोंका प्रबन्ध भी किया, प्रेस भी ठीक हो गया। १५०० सौ बिक जानेपर घाटा नही रहता, यह भी मालूम था। मैंने जिला मजिस्ट्रेटके पास 'किसान मजूर' निकालनेकेलिए दरख्वास्त देदी। लेकिन अंग्रेज मजिस्ट्रेट जानता था कि कमेरोंकी भाषामें अखबार निकालना बड़े खतरेकी बात है, साथ ही वह यह भी जानता था कि कांग्रेस सरकार उसे पसन्द नहीं करेगी; इसलिए कई महीनों तक उसने इसपर कोई विचार ही नही किया। जब मैं जेलमें पहुँच गया, तो ५ सौ रुपया जमानत देनेकी बात लिख भेजी।

पहिलीसे नवीं फरवरी तक ९ दिन मैंने कुआड़ी परगनेमें कई किसानोंकी सभाओंमें भाषण दिया। पहिले दिन मीरगंजमें सभा हुई। तीन हजारके करीब आदमी एकत्रित थे। नागार्जुनजी भी मेरे साथ थे। चीनी मिलके बाबू लोगोंने भी कुछ बोलनेकेलिए कहा और मैं उनके यहाँ भी गया। अगले दिन लारपुरमें ५ हजार किसानोंके बीचमें बोलना पड़ा। मालूम हुआ कि राजने अपने एक इंस्पेक्टरको हमारी हरेक सभामें जानेकेलिए नियुक्त कर दिया है। उस दिन रातको हम दीवान-परसामें रहे। यहाँके कई तरुणोंने कांग्रेसके प्रथम आंदोलनमें भाग लिया था। मैं भी अक्सर यहाँ आया करता था। लोगोंने गाँव-सुधार पंचायत

कायम की थी, लेकिन बिना राजनीतिक अधिकारके सुधार क्या हो सकता है? ऊपरसे इन लोगोंने बड़े तड़क-भड़कके साथ वार्षिकोत्सव कर डाला और अब करजमें फँसे हुए थे। अगले दिन (३ फरवरी) भोरेमें ८ हजार किसानोंके सामने बोलना पड़ा। लोगोंमें जागृति देखी—वस्तुतः कमेरोंको जब ज़रा भी पता लग जाता है, कि उनकी तकलीफ़ें सुननेकेलिए दुनिया तैयार है, तो असफलताएँ उन्हें निरुत्साह नहीं कर सकती। भूखी पीड़ित जनताको रोज तकलीफ़ें सुई-सी चुभती रहती हैं, इसलिए वह संघर्ष से पीछे नही रह सकती। किसानोंकी तकलीफ़ें मैंने नोट कीं, और उनकी शिकायतोंको जमा करनेकेलिए पाँच आदमियोंकी कमेटी बना दी गई। दूसरे दिन ४ फरवरीको मॉडर घाटपर सभा हुई। कटया और भोरेके थाने गोरखपुर की सीमापर हैं। पचासों वर्षोंसे यहाँ थानेदारका निरंकुश राज चला आया था। जिलेका हरेक थानेदार चाहता था, कि उसकी बदली इन थानोंमें हो जाय; क्योंकि इन थानोंमें सोना बरसता था। अपनी आमदनीकेलिए थानेदारोंने दफा ११० में सैकड़ों आदमियोंके नाम लिख रखे थे, उनकी संख्या बढ़ती ही जाती थी। जिस किसी आदमीपर दफा ११० लगानेकी धमकी दी, वह गहना जमीन बेचकर थानेदारकी पूजा करनेकेलिए तैयार हो जाता था। कांग्रेसी राजसे कोई फर्क नहीं हुआ था। अब भी थानेदार लोगोंको पीटता था। अब भी उनसे रुपए ऐंठता था कटयामें (५ फरवरी) भी दो हज़ारकी जनतामें व्याख्यान दिया। अगले दिन (६फरवरी) राजापुर गए। महन्त जी—जो आनन्दजीको शिष्य बनाना चाहते थे—अब भी जिंदा थे। उन्होंने महाजनसे १३०० सौ रुपया कर्ज लिया था, उसने ३१०० सौकी डिग्री कराई थी। घबड़ा रहे थे। जब कर्ज लेना होता है, खर्च करना होता है, तो महंत लोग कहते हैं—मालिक हम हैं। जब जायदाद बिकने लगती है तो कहने लगते हैं—सम्पत्ति मठकी, ठाकुरजीकी है।

एकाध और सभाओंमें व्याख्यान देते ७ फरवरीको मासामूसा पहुँचे; यहाँ चीनी मिलके पास सभा हुई। यहाँ पर भी कांग्रेसी नेताओंने सभामें मजूरोंका नेता बननेके लिए हलके दिलसे काम किया था। मिलवालोंको जरा डराया, धमकाया लेकिन हड़तालमें पड़नेकी इच्छा नहीं थी। मिलवालेने ८ रुपया महीना मजूरी मान ली, और नेताओंने अपना काम समाप्त समझा।

यहींपर एक ६० वर्षका बूढ़ा आया। वह जन्म-जात अभिनेता था। उसने पहिने हुए कपड़ोंहीमें वह साम-ससुर और बेटेके जीवनकी बिलकुल वास्तविक नकल [illegible] था। दूसरा समाज होता, तो वह एक ऊँचे दर्जेका कलाकार बना होता,

किन्तु यहाँ जहाँ तहाँ अपने अभिनयको दिखलाकर वह किसी तरह पेट पालता था—उसकी उम्र ६० की होगी। सासामूसा मिलमें देखा, एक पक्की मसजिद बनी हुई है। मौलवी धर्म सिखलानेकेलिए रखे हुए हैं। दालमियाँ नगरमें भी मैंने जैन और हिन्दू-मंदिर देखे थे और सेठने पचासों आदमियोंको वेतनपर हरिकीर्तन करनेकेलिए रखे हुए थे। यह मिल-मालिक कितने धर्मात्मा है ? धर्मके लिए हजारों रुपया खर्च करते हैं, लेकिन फिर मजूरोंको पेटके अन्न और तनके कपड़े भर केलिए तनख्वाह क्यों नही देते ? शायद उस वक्त छपरामें सबसे कम मजूरी सासामूसाकी मिलमें दी जाती थी। यदि वह ८ से १२ रुपया मजूरी कर देते, तो महीनेमें चार पाँच हजार रुपए देना पड़ता। इससे कही अच्छा था, कि सौ दो सौ रुपए धर्मपर खर्च किए जायँ और महन्त-मौलवी सेठका जयजयकार मनाएँ।

सेमराबाजार (कुचायकोट) की सभामें व्याख्यान दे ६ बजे गोपालगंज गया। यहाँ हथुआ राजके प्रधान मैनेजरसे बातचीत करनेका निश्चय हुआ था। दो घंटे तक बात होती रही, मैंने राजके अमलोंकी घूस-रिश्वत और अत्याचारके बारेमें कहा। बतलाया कि पानीके निकासीके रास्तोंकी मरम्मत वर्षोंसे बन्द हो चुकी है, जिससे किसानोंकी फ़सल तबाह हो जाती है। किसानोंकी जो जमीन निकाल ली गई, उसका न उन्हें दाम मिला और न मालगुजारी कम की गई। भोरेके पास इसी तरहकी निकाली हुई जमीन थी, जिसमें कई मील लम्बी नहर निकाली गई थी, जो अब बेमरम्मत थी, लेकिन उसके किनारे शीशमके दरख्त लगे हुए थे। मैंने सोच रखा था, कि हथुआ-राजमें सत्याग्रह इन्हीं शीशमके वृक्षोंपर करना होगा ; घटनाएँ कुछ दूसरी घटी, जिसके कारण सत्याग्रह यहाँ न हो अमवारीमें करना पड़ा। मैं मानता था कि अमवारीके एक छोटेसे जमींदारसे भिड़नेकी जगह हथुआके महाराजबहादुरसे लोहा लेनेमें किसानोंका ज्यादा हित होता। खैर, हथुवा बाल-बाल बच गया। मैनेजर साहबने आमदनी खर्चका लेखाजोखा देकर कहा, कि हमारे पास जो बच रहता है, उससे हम किसानोंकेलिए कुछ काम करनेकेलिए तैयार हैं। सिधौलियामें बिड़लाकी चीनी मिल है। वहाँपर मजदूरोंकी एक सभा हुई। फिर हम छितौली (१२ फरवरी) गए। अशर्फीसाहु किसानोंको उजाड़नेकेलिए तैयार थे। ६ हजार किसान सभामें आए थे—हिन्दू-मुसलमान सब। सत्याग्रहके सिवा कोई चारा नहीं था। मैं दो दिन वहीं रहा। ६० से ऊपर परिवारोंने सत्याग्रहियोंमें अपना नाम लिखाया। सत्याग्रह आश्रम कायम हुआ। साहुने मामला बिगड़ते देखा। उन्होंने अपने आदमीको भेजकर कहलवाया—आधा खेत रैयतोंको दिलवा दें, और

आधा हमारे पास रहने दें। मैंने कहा—दिलवाना न दिलवाना इतना आसान नहीं है। एक जमींदारकी ओरसे और एक किसानोंकी ओरसे प्रतिनिधि हों, दोनों मिलकर एक तीसरे आदमीको चुनें। इन्हीं तीनों आदमियोंके फैसलेको दोनों मंजूर करें, तो मामला निपट जायगा। भगवानके बड़े भगत अशर्फी साहूने इसे मंजूर करके कागज-पर दस्तखत भी कर दिया, लेकिन पीछे साबित हुआ, कि उन्होंने फैसला माननेकेलिए यह काम नहीं किया था।

१४ फरवरीको मैं छपरामें था। मालूम हुआ कि मढ़ौरा मिलके झगड़ेका फैसला करने केलिए एक पचायत मानी गई है, जिसमें मजदूरोंने अपना प्रतिनिधि मुझे चुना है, दूसरा मिलमालिकका आदमी था, और कलक्टर मिस्टर,केम्प सरकार-के प्रतिनिधि।

उस वक्त परसादी (परसा थाना) में भी जमींदार किसानोंको खेतसे निकालना चाहते थे। इसकेलिए किसानोंको सत्याग्रहकी तैयारी करनी पड़ी। १६ फरवरीको मुझे परसा ही पहुँचना था। १५ को मैं रामपुर और गठियामें व्याख्यान देने गया। रास्तेमें फदनामें दो एकड़का एक प्राचीन ध्वंसावशेष मिला। वह सड़कके किनारे था। वहाँ सैकड़ों वर्षोंमें ढेलहवा बाबाको ढेला मारते-मारते ढेर जमा हो गया था। संभव है इस डूहे (स्तूप) के भीतर बुद्धकी मूर्ति हो। ब्राह्मणोंने बिहारमें गरगर बुद्धको ढेलहवा बाबा बनाया है, और उन्हीं हाथोंको ढेला फेकनेकेलिए तैयार किया, जो कभी बुद्धकी पूजा करते थे। पारसके शिवालयमें पहिले कितनी ही काले पत्थरकी खंडित मूर्तियाँ थीं, जिन्हें कुछ ही साल पहिले वहाँके साधूने उठाकर गंगामें फिकवा दिया था। उनमें न जाने कितनी ऐतिहासिक सामग्री रही होगी। परसादीकी सभामें दो हजार आदमी जमा हुए थे। जमींदार और अधिकांश किसान दोनों एक ही अहीर जातिके थे, लेकिन जाति एक होनेसे वर्गस्वार्थ एक थोड़े ही हो सकता है। जमींदार खेत निकाल लेना चाहते थे, और किसान भूखे मरनेकेलिए तैयार नहीं थे।

हिलसामें—अन्नपूर्णा-पुस्तकालयके वार्षिकोत्सवकेलिए हिलसाके तरुणोंने मुझे बुलाया था। १८ फरवरीकी शामको मैं वहाँ पहुँचा। हिलसा मगध (पटना जिला) का कोई पुराना स्थान मालूम होता है। दूसरे दिन सवेरे मैं उसके पुराने चिह्नोंको देखने निकला। पहले जमन-जतीकी समाधिपर गया। यह एक मुसलमान फकीर-की दरगाह है। वर्तमान इमारतको शेरशाहने बनवाया था, लेकिन स्थान उससे बहुत पुराना है—जमनजती मालूम होता है यवन (मुसलमान) यतीसे बना है। जमन-जतीके बारेमें कहा जाता है, कि यह गौस पाकके भानजे और शाहमदार (मकनपुर)

के शिष्य थे। उनका जन्म बगदादमें हुआ था। बहिनने बेटेको गौस पाकको देदेनेकी मिन्नत माँगनेपर पाया था, किन्तु बेटेके पैदा हो जानेपर उसे लोभ लगने लगा। बच्चेको खुदाने छीन लिया। माँ हाय-तोबा मचाने लगी, फिर भाई (गौस पाक) ने मुर्दे बच्चेकी ओर देखकर आवाज लगाई—"यया बाबा जानेमन!" (आ बाबा मेरे प्राण) बच्चा जिन्दा होकर गौसपाकके पास चला आया। वक्ताने बतलाया कि "जानेमन" से ही जमन शब्द निकला है। जमनजती लँगोटबन्द साधू थे, उन्होंने ब्याह नही किया था, और (बौद्ध साधुओंकी तरह) पीला कपडा पहनते थे। जब वह हिलसामें आए, तो यहाँ एक भिक्षु रहा करते थे। दोनों फ़क़ीर थे। बौद्ध विज्ञानवाद, और सूफी दर्शन एक ही विचारके दो रूप थे, इसलिए जमनजती बौद्ध भिक्षुके साथ रहने लगे। भिक्षुके मरनेके बाद जमनजती ही उत्तराधिकारी हुए। आगे चलकर बौद्ध विहार मुसलमान खानकाह कहा जाने लगे। बाद भी कितने ही गद्दीधर अविवाहित भिक्षुके रूपमे रहते थे। पीछे विवाह करने लगे। अब वह एक श्रीहीन दरगाह है, जिसकी जियारत करनेकेलिए लोग कभी-कभी आया करते है। हिलसा पटना (पाटलीपुत्र) से बिहार शरीफ़ (उड़न्तपुरी), नालन्दा और राजगृहके पुराने रास्तेपर है। इसलिए न जाने वह अपने भीतर कितनी ऐतिहासिक सामग्री छिपाये होगा।

अमवारी सत्याग्रह (२४ फरवरी)—२० फरवरीको छपरा आनेपर मालूम हुआ, कि अमवारीने मेरे नाम दफा १४४ लग गई है—अर्थात् मेरा वहाँ जाना निषिद्ध है। वहाँ जानेका मतलब था—जेलकी सजा। मै पहिले कह चुका हूँ, कि सत्याग्रहका स्थान मैंने अमवारी नहीं हथुवाराजको चुना था, लेकिन अब १४४ को मैं सरकारकी चुनौती समझने लगा। साथियोंसे भी पूछनेपर यही सलाह हुई, कि १४४ को तोड़ा जाये, अमवारीमें सत्याग्रह किया जाय। मै सीवान उतरकर जँजोरी गया। चार दिन आसपासके गाँवोंमें सत्याग्रहका प्रचार करके पाँचवें दिन सत्याग्रह करनेका निश्चय हुआ। मेरे साथ नागार्जुन जी और एक दूसरा तरुण जलील था। हिन्दुओंके घरपर मुसलमानोंके खाने-पीनेका इन्तिजाम करनेमें बहुत बखेड़ा होता, इसलिए जलीलका नाम मैंने प्रतापसिंह रख दिया। हम जँजोरी, नदियाँव, देवपुर हरिनायपुर में सभा करते निखतीमें पहुँचे। निखती भी कोई प्रचीन स्थान है। हरिनायपुरमें मैने एक कूएँपर चुनारी पत्थरकी एक गुप्तकालीन मूर्तिका खंड देखा और निखतीमें काले पत्थरका मुखलिंग। निखतीसे रघुनाथपुर गए। थानेदारने बतलाया, कि दफ़ा १४४ नहीं लगी है, लेकिन सत्याग्रहकी तैयारी बहुत आगे बढ़ गई थी, इसलिए गाड़ी रोकना सम्भव न था।

ग्रांदरमें २३ तारीखको सभा हुई। देशभक्त मजहरुलहकके पुत्र हसन मजहर सभापति थे। डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस और सीवानके मजिस्ट्रेट (एम० डी० ओ०) अपनी मोटरमें बैठकर व्याख्यान सुनते रहे। उस रातको हम लोग जँजोरीमें ठहरे। पता लगा कि जमींदारने अपने दोनों हाथियोंको मुझे कुचलवानेकेलिए तैयार कर रखा है, और जहाँ-तहाँसे सैकड़ों लठधर बुलाए हैं। मृत्युसे भय खाना मेरे लिए मरनेसे भी बदतर है।

अगले दिन (२४ फरवरी) ८ बजे सबेरे जल-पानके बाद हम अमवारीकेलिए रवाना हुए। गाँवके पास दोनों हाथी तैयार खड़े थे, और उनके पीछे सैकड़ों लट्ठ-धारी आदमी भी। लालजी भगतके बथानमें सैकड़ों किसान जमा हो गए थे। हमने निश्चय किया कि दस-दस आदमी और एक-एक नायककी पाँच टोलियाँ बारी-बारीसे सत्याग्रहकेलिए जायें। सत्याग्रह था—एक किसानके खेतमें ऊख काटना। जमींदार इस खेतको अपना कहता था। थानेदार बहुत चिन्तित थे। मैंने उनसे कहा कि ठीक १० बजे हम ग्यारह आदमी अमुक खेतमें ऊख काटने जायेंगे।

१० बजे हम ग्यारहो आदमी हँसुवा लेकर खेतमें पहुँच गये। शराब पिला कर मतवाला किये दोनों हाथी पास खड़े थे, उनके पास सैकड़ों लठधरोंकी पाँति खड़ी थी। लठधरोंमेंसे तो कुछ को तो जमींदारने भाड़ेपर बुलाया था, कुछ आदमी आसपासके दूसरे जमींदारोंने दिये थे, और कुछको समझाया गया था कि कुर्मी एक राजपूत भाईकी इज्जत बिगाड़ रहे हैं, जातिगुहारमें शामिल होना चाहिए। लेकिन, पिछला प्रोपेगंडा जान पड़ता है सफल नहीं हुआ, क्योंकि सबेरेके चार पाँच सौ लठधरोंमें बहुतसे खेतपर नहीं आए थे। यद्यपि अमवारीमें पचासों सशस्त्र पुलिस आगई थी, लेकिन इंस्पेक्टरने उन्हें ३ फर्लाङ्ग दूर ही एक बागमें रोक रखा था। खेतपर सिर्फ दो थानेदार, एक सिपाही और दो चौकीदार आए थे। इंस्पेक्टरको अच्छी तरह मालूम था, कि जमींदार खून करनेको उतारू है; फिर भी हाथियों और लठधरोंको खेतपर जमा होने देना और सिपाहियोंको न भेजना इसका क्या अभिप्राय था, यह बिलकुल स्पष्ट था। हमारे खेतपर पहुँचते ही जमींदार-परिवारके दो व्यक्ति लठैतोंको लाठी चलानेकेलिए उकसा रहे थे, लेकिन कोई आगे बढ़ना नहीं चाहता था। शायद मेरे शरीरपर जो पीले कपड़े थे, उनकी वजहसे उनको हाथ छोड़नेकी हिम्मत नहीं पड़ती थी, अथवा वह समझते थे कि यहाँ लाठी चलाने-वाला कोई नहीं है। ग्यारह निहत्थे आदमी, हाथमें हँसिया लेकर ऊख काटने आए। मैंने दो ऊख काटी, थानेदारने मुझे गिरफ्तार कर लिया। इसी तरह बाकीको

भी गिरफ़्तार कर लिया गया मैंने सिर पीछेकी ओर किया, देखा—जमींदारका हाथीवान कुरबान हाथीसे उतरा। मैंने दूसरी ओर मुंह घुमाया, उसी वक़्त खोपड़ीके बाई ओर जोर की लाठी लगी। मुझे कोई दर्द नहीं मालूम हुआ, हाँ देखा कि सिरसे खून बह रहा है। थानेदारने दूसरी लाठी नहीं लगने दी। वहाँसे हमें डिप्टी मजिस्ट्रेटके कैम्पमें लाया गया। थानेदारने कुरबानको गिरफ़्तार कर लिया था, किन्तु जमींदारके कहनेपर इंस्पेक्टरने उसे छोड़ दिया। उस दिन ५२ आदमी गिरफ़्तार हुए, लेकिन पुलिसने २८ को छोड़ दिया। शामके वक़्त १५ आदमियोंको मोटरमें भरकर सीवानकेलिए रवाना किया। रास्तेमें पेशाब करनेकेलिए गाड़ीको ठहरनेकेलिए कहा, लेकिन पुलिसने मना कर दिया। पता लग गया, कि डेढ़ सालके कांग्रेसीराज्यमें हम कितने आगे बढ़े हैं।

जेलमें—(२४ फरवरी—१० मई)—रातको सीवानके जेलमें हमें बंद कर दिया गया। जाड़ेका दिन था, हमें गन्दे कम्बल ओढ़नेको मिले। पिस्सुओंने रातको सोने नहीं दिया। लेकिन स्वेच्छापूर्वक इनसे भी गन्दे कम्बलों और इनसे सख्त पिस्सुओंको मैं कितनी ही बार भुगत चुका था।

अगले दिन (२५ फरवरी) सवेरे दरवाजा खुला। हमने हाथ-मुँह धोया। नमकके साथ पकाया पतला चावल खानेको मिला। फिर साढ़े तीन छटाँक आटेकी रोटी खानेको मिली। किसानोंका भला साढ़े तीन छटाँकसे क्या बनता, लेकिन मंत्रियोंको तो अब जेल भूल गया था, इसलिए इसकी ओर ख्याल करनेकी क्या जरूरत थी? नागार्जुन, जलील, मजहर, वासुदेव नारायण, महाराज पांडे और कितने ही अमवारीके किसान अब जेलमें थे।

तीसरे दिन (२६ फरवरी) हमें छपरा जेलमें भेजा जाने लगा, क्योंकि सीवानका जेल बहुत छोटा है। पहिले अपनी टोलीके नौ आदमियोंके साथ मुझे भेजा गया। मेरे साथियोंके हाथमें हथकड़ी डाल दी गई। मैंने सिपाहियोंसे कहा—या तो मेरे भी हाथमें हथकड़ी डालो, नहीं तो सबको विना हथकड़ी चलने दो। सिपाहीने हथकड़ी खोल दी, और रस्सीसे घेरकर हमें स्टेशन ले गए। रास्ते भर हम नारा लगाते रहे—"इनकलाब जिन्दाबाद" "किसान राज कायम हो" "मजूर राज कायम हो," "जमींदारी प्रथा नाश हो" "कमानेवाला खायेगा, इसके चलते (लिए), जो कुछ हो"। सीवानके नागरिकोंकेलिए यह बिलकुल नई चीज थी। यही नहीं कि वह राहुल बाबाको सिर फूटे डोरीमें बँधे सड़कपरसे जाते देख रहे थे, बल्कि वह यह भी ख्याल करते थे कि यह सब कुछ गान्धीबाबाके राजमें हो रहा है। रास्तेमें मैंने रेलपर

अखबारोंकेलिए एक वक्तव्य लिख दिया। १० बजे छपरा पहुँचे और पैदल ही जेलमें ले जाये गए। प्रोपेगंडाकेलिए यह पैदल चलना बहुत अच्छा था। शायद इसका भी न लगा होगा कि अमवारीके सत्याग्रहमें मेरे सिर फूटनेकी खबर हरेक गाँवमें पहुँच गई।

उस दिन अमवारीमें मेरे बहुत जोरदेनेपर खोजवासे डाक्टर बुलाया गया था और सिरमें मामूली पट्टी बाँध दी गई। सीवानके डाक्टरने घाव देखनेकी जरूरत नहीं समझी। आज तीसरे दिन यहाँ छपरा जेल के डाक्टरने स्प्रिटसे घावको धोकर पट्टी बाँधी। डाक्टरने अस्पतालमें रखने और विशेष भोजनके लिए कहा, किन्तु मैंने इनकार कर दिया। ४ बजे कलक्टर आए। उन्होंने सुलहकी बातचीत की। मैंने निष्पक्ष पंचायतके हाथमें झगड़ेका फैसला दे देनेकेलिए कहा। उन्होंने चन्देश्वर बाबूसे बात करके जवाब देनेका वचन दिया।

अखबारोंमें खबर पहुँच गई थी। जिलेके बाहरके भी नेता आने लगे थे। शिव-वचन सिंह और कितने ही दूसरे साथी अमवारी पहुँच गए थे और वह सत्याग्रहका संचालन कर रहे थे। जेलके बारेमें मैंने २७ फरवरीको लिखा था—"जेलका ठेकेदार खराब चीजें देता है, खाना कम दिया जाता है, तरकारी, दाल भी खराब। अस्पतालमें न कोई जमीन साफ़ न कपड़ा साफ़। सामान भी बेतरतीब। कोई कम्पाउंडर भी नहीं।"

२८ फरवरीको कलक्टर फिर आए। सुझाव रखा कि झगड़ेके फैसलेके लिए तीन आदमियोंकी पंचायत बनाई जाय—जिसमें एक किसान प्रतिनिधि, एक जमींदार प्रति-निधि और एक सरकारी प्रतिनिधि हो। कलक्टरने तीन डिप्टी कलक्टरोंका नाम भी बतलाया, जिनमेंसे एकको लिया जाये। उसने यह भी कहा कि मैं एक कानूनगोको अमवारी भेज रहा हूँ। वह किसानोंकी खेतीबारीका लेखा तैयार करके लाएगा।

अमवारीके किसान दबे नहीं, और आसपासके सभी किसान उनकी मददकेलिए तैयार थे। वह हजारोंकी संख्यामें जेल आए होते, यदि पुलिसने गिरफ्तारी बन्द न करदी होती। वहाँ सत्याग्रह-आश्रममें बहुतसे स्वयंसेवक रहते थे, जिनके खाने-पीनेका इन्तिजाम आस-पासके लोग करते थे। हाटोंमें स्वयंसेवक जाते, तो साग-भाजी बेचने वाली औरतें उनको तरकारी देतीं। किसानोंको यह समझानेकी जरूरत नहीं थी, कि यह उनकी अपनी लड़ाई है। ६ मार्चकी डायरीमें मैंने लिखा था—"(आज) होलीके उपलक्षमें पुआपूड़ी मिली, घी बरता गया इस लोगोंकी वजहसे। कैदी चाहते हैं, स्वराजी लोग जेलमें आते रहें। जेलके कैदी यहाँके स्टाफ (अधिकारियों) में क्या

सीखेंगे, जिन्हें कि वह खुद अपनेसे बदतर समझते हैं। जबतक मानव-संसारमें जोंकोंको चैनकी बाँसुरी बजानेका मौका है, तबतक संसारसे बेईमानी कैसे हट सकती है?"

८ मार्चको कलक्टरने बतलाया कि जमींदार सुलह करनेकेलिए तैयार नहीं है। यह तो बहानाबाजी थी। वह भला कैसे कलक्टरकी मर्जीके खिलाफ जा सकते थे? ९ मार्चको मैंने जेलखानेके इन्सपेक्टर-जनरलके पास निजी रेडियो मँगवानेकी आज्ञा माँगी। ११ मार्चको किसान कैदियोंकी तकलीफें बताते हुए कुछ माँगें रखीं, जो खाने, कपड़े, बिस्तरे, पढ़ने-लिखनेके सामान और अखबार आदिकी सुविधाकेलिए थीं। उसमें लिख दिया गया था, कि हम लोग एक हफ़्ता इन्तिजार करेंगे, यदि १८ मार्चके १२ बजे तक हमारी माँगोंके बारेमें तै नहीं किया गया, तो हम ५ आदमी (मैं, वासुदेवनारायण, मज़हर, जलील और नागार्जुन) आमरण अनशन करेंगे। दूसरे दिन सुपरिन्टेन्डेन्टने कहा—आपकी माँगोंमेंसे जिन बातोंका संकेत है, उन्हें करनेकेलिए हम तैयार हैं।

१४ मार्चको मैंने "तुम्हारी क्षय" पुस्तिका लिखनी शुरू की। आचार्य श्चेर्बात्स्कीका पत्र आया, जिसमें लिखा था कि लोलाको एक स्वस्थ सुन्दर पुत्र हुआ है, पुत्र-जन्मकी प्रसन्नता होनी ही चाहिए, क्योंकि पुत्र ही आदमीका पुनर्जन्म और परलोक है। पत्रके साथ फ़ोटो भी था।

समझौतेकी बातचीतकेलिए अमवारीका सत्याग्रह स्थगित हो गया था। वह १३ मार्च से फिर शुरू हुआ। लेकिन पुलिस लोगोंको गिरफ़्तार नहीं करना चाहती थी।

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ बड़ी तेजीके साथ बदल रही थीं। मैं इसीलिए रेडियो चाहता था। और सो भी अखबारोंमें यह पढ़नेके बाद कि बिहार-सरकार जेलोंमें रेडियो लगवा रही है। लेकिन पीछे सरकारने इस बातको लेकर प्रचार करवाया, कि वह तो जेलको आरामगाह बनवाना चाहते हैं। १७ मार्चको पता लगा कि हिटलरने प्राग (चेकोस्लोवाकिया) को ले लिया। मैं सोचने लगा—देखें अगला कदम रूसकी ओर होता है, या इंग्लैंडकी ओर। उस दिन यह भी मालूम हुआ कि पुलिसवाले सत्याग्रह करनेवाले किसानोंको नहीं सिर्फ कार्यकर्त्ताओंको पकड़ते हैं। रोज १८,२० आदमी सत्याग्रह करने जाते हैं। कार्यकर्त्ताओंको रखकर बाकीको पुलिस शामको छोड़ देती है। प्रधानमंत्रीसे बात करके एक ऐसेम्बली मेम्बर उस दिन मेरे पास आए। उन्होंने कहा—प्रधानमन्त्री माँगोंपर विचार

करनेकेलिए समय चाहते हैं, इसलिए, आप भूख-हड़तालका इरादा छोड़ दें। मैंने कहा—मैंने अपने चार साथियोंको उपवास न करनेकेलिए राजी कर लिया है। मैं भी हड़ताल कुछ दिनोंकेलिए स्थगित करनेकेलिए तैयार हूँ। लेकिन सरकार किसान-क़ैदियोंको राजनीतिक बन्दी मान ले। कांग्रेस मन्त्रि-मंडलने अपने शासनके आखिरी दिन तक इस बातको नहीं माना। दुनिया आश्चर्य करेगी कि यह किसान चोर-डाकू नहीं थे, इन्होंने उसी तरह अपने हककेलिए लड़ाई की थी, और जेल आए थे, जैसे कि कांग्रेसी सत्याग्रही अंगरेजी सरकारसे लड़नेकेलिए जेल जाते थे। उस वक़्त जिन्होंने राजनीतिक बन्दियोंकेलिए विशेष सुविधापर जोर दिया था, अब वही किसान सत्याग्रहियोंको राजनीतिक बन्दी नहीं, चोर-डाकू माननेकेलिए तैयार थे। इसमें आश्चर्य करनेकी जरूरत नहीं, मन्त्री स्वयं जमींदार थे, किसान-आन्दोलनसे स्वयं परेशान थे, यह भला अपने वर्ग-शत्रुओंके साथ कैसे न्याय कर सकते थे?

पहिली भूख-हड़ताल (१८-२२ मार्च)—जैसा कि मैंने पहिले लिखा है, मेरे दूसरे साथी मान गए, और १८ मार्चके दोपहरसे मैंने अकेले भूखहड़ताल (उपवास) शुरू कर दी। उस दिन भी कुछ कांग्रेसी नेता आए और उपवास न करनेकेलिए कहते रहे; अगले दिन (१९ मार्च) एक एम० एल० ए० मित्र आए। उन्होंने भी उपवास स्थगित करनेकेलिए कहा। मैंने उनसे कह दिया "अब इसकेलिए इतना प्रयत्न करने की जगह अच्छा होगा, जिन बातोंकेलिए उपवास किया जा रहा है, उसीके मनवानेका प्रयत्न करें।"

२० तारीखको उपवासका तीसरा दिन था। वजन १८४ पौंडकी जगह १७५ पौंड रह गया, अर्थात् ३ दिनमें ९ पौंड घटा। मैं अब जेलमें पहुँचाया गया। मेरी बगलके सेलमें एक फाँसीवाला कैदी था। आज "तुम्हारी क्षय" पुस्तिका लिखकर खतम कर डाली। चौथे दिन वजन सिर्फ आधा पौंड घटा था। २१ मार्चको शरीर कुछ कमजोर मालूम हो रहा था। सोडा मिला हुआ पानी मुझे दिया जाता था। भूख मर गई थी। पढ़नेमें थकावट मालूम होती थी। २२ मार्चको उपवासका पाँचवाँ दिन था। इंस्पेक्टर-जनरलका पत्र लेकर कोई सज्जन आये। उसमें लिखा था कि सत्याग्रहियोंकेलिए हम सभी माँगोंको स्वीकार करते हैं। उन्होंने फोनद्वारा यह भी स्वीकृति दे दी कि हमारे सभी साथी स्पेशल क्लास २ में रखे जायेंगे और हम रेडियो मँगा सकेंगे। उसी दिन दोपहरको मैंने उपवास तोड़ दिया। अमवारीके बारेमें मालूम हुआ, कि वहाँ सभाओंमें १५,२० हजार किसान जमा होते हैं, लोग दिनमें दो बार नेताओंपर सत्याग्रह करने

जाते हैं—सवेरे स्त्रियां और बालक, और ३ बजे पुरुष। २३ मार्चको मैं अपने साथियोंमें चला आया।

मुझे कुछ दिनोंसे ख्याल आ रहा था कि राजनीतिक प्रगति और भविष्यके कार्य-के सम्बन्धमें एक उपन्यास लिखूं। मैंने अब तक "बाईसवीं सदी" को ही उपन्यासके ढंगपर लिखा था। "सतमीके बच्चे" आदि कुछ कहानियां लिखी थीं, कुछ अंग्रेजी उपन्यासोंका भारतीकरणके साथ हिन्दी अनुवाद भी किया था; मगर अब तक कोई वास्तविक उपन्यास नहीं लिखा था; २५ मार्चसे मैं "जीनेकेलिए" उपन्यासको लिखवाने लगा—मैं बोलता जाता था और नागार्जुन जी लिखते जाते थे।

२८ मार्चको पता लगा कि अमवारीमें सत्याग्रहियोंपर मार पड़ रही है और कुछ लोगोंको सख्त चोट आई है।

२९ मार्चको शिक्षा-मंत्री डाक्टर महमूद आए। वह कहने लगे कि चलिए जेलसे निकलकर पंचायती खेतीका काम सँभालिए। मैंने कहा—अभी तो किसानोंके पास खेत ही नहीं है। पहिले अपना खेत होना चाहिए न।

हाथोंमें हथकड़ी—मेरा मुकदमा सीवानके मजिस्ट्रेटकी अदालतमें था। मुझ पर और मेरे साथियोंपर दफ़ा ३७९ चोरीका अपराध लगाया गया। हम लोगोंकी तारीख ३१ मार्चको थी। उस दिन दोपहर बाद जेलके द्वारपर दोनों फाटकोंके बीचमें हमें ले गए। पुलिस सिपाही मेरे हाथमें हथकड़ी लगाने लगा। जेलके एक अफ-सरने कहा—बिना हथकड़ीके ही ले जाइए। इसपर पुलिसवालेने वारन्ट दिखाकर कहा कि हथकड़ी लगानेकेलिए यहाँ लिखा हुआ है। मैंने उस दिनकी डायरीमें लिखा था—"आज आग्रहपूर्वक हथकडी लगाई गई, वारन्टपर खास तौरसे हथकड़ी लगाने केलिए लिखा गया था। अच्छा यह भी साध बुझी।" रेलमें धूपनाथसे मुलाकात हुई और भी कितने ही दोस्त मिले। मालूम हुआ कि सारे जिलेके किसानोंमें चेतना आ गई है, वह जमींदारोंके सामने दबनेकेलिए तैयार नहीं है।

अगले दिन (१ अप्रैल) दो बजे हमें कचहरी ले जाया गया। चन्देश्वरसिंहके आदमियोंने गवाही दी कि बहुरिया (जमींदारिनी) का खेत काटनेकेलिए राहुलजी १० आदमियोंके साथ गए। कुरबानने रोका, इस पर राहुलने अपने हँसिएसे उसके ऊपर वार किया और वह कट गया। उसने अपने बचावकेलिए बरगदकी डाली घुमाई।

मुझसे मजिस्ट्रेटने पूछा, तो मैंने कहा—बहुरियाका खेत है, और हमने गैरकानूनी मजमा बनाया, इसे मैं इनकार करता हूँ। लेकिन खेत काटनेको मैं क़बूल करता हूँ। दूसरे साथियोंसे पूछनेपर उन्होंने कहा—हम नहीं जानते, बाबा जानते हैं। हमारी

करनेकेलिए समय चाहते हैं, इसलिए, आप भूख-हड़तालका इरादा छोड़ दें। मैंने कहा—मैंने अपने चार साथियोंको उपवास न करनेकेलिए राजी कर लिया है। मैं भी हड़ताल कुछ दिनोंकेलिए स्थगित करनेकेलिए तैयार हूँ। लेकिन सरकार किसान-क़ैदियोंको राजनीतिक बन्दी मान ले। कांग्रेस मन्त्रि-मंडलने अपने शासनके आखिरी दिन तक इस बातको नहीं माना। दुनिया आश्चर्य करेगी कि यह किसान चोर-डाकू नहीं थे, इन्होंने उसी तरह अपने हककेलिए लड़ाई की थी, और जेल आए थे, जैसे कि कांग्रेसी सत्याग्रही अंगरेजी सरकारसे लड़नेकेलिए जेल जाते थे। उस वक्त जिन्होंने राजनीतिक बन्दियोंकेलिए विशेष सुविधापर जोर दिया था, अब वही किसान सत्याग्रहियोंको राजनीतिक बन्दी नहीं, चोर-डाकू माननेकेलिए तैयार थे। इसमें आश्चर्य करनेकी जरूरत नहीं, मन्त्री स्वयं जमींदार थे, किसान-आन्दोलनसे स्वयं परेशान थे, वह भला अपने वर्ग-शत्रुओंके साथ कैसे न्याय कर सकते थे?

पहिली भूख-हड़ताल (१८-२२ मार्च)—जैसा कि मैंने पहिले लिखा है, मेरे दूसरे साथी मान गए, और १८ मार्चके दोपहरसे मैंने अकेले भूखहड़ताल (उपवास) शुरू कर दी। उस दिन भी कुछ कांग्रेसी नेता आए और उपवास न करनेकेलिए कहते रहे; अगले दिन (१९ मार्च) एक एम० एल० ए० मित्र आए। उन्होंने भी उपवास स्थगित करनेकेलिए कहा। मैंने उनसे कह दिया "अब इसकेलिए इतना प्रयत्न करने की जगह अच्छा होगा, जिन बातोंकेलिए उपवास किया जा रहा है, उन्हींके मनवानेका प्रयत्न करें।"

२० तारीखको उपवासका तीसरा दिन था। वजन १८४ पौंडकी जगह १७५ पौंड रह गया, अर्थात् ३ दिनमें ९ पौंड घटा। मैं अब सेलमें पहुँचाया गया। मेरी बगलके सेलमें एक फाँसीवाला क़ैदी था। आज "तुम्हारी क्षय" पुस्तिका लिखकर खतम कर डाली। चौथे दिन वजन सिर्फ आधा पौंड घटा था। २१ मार्चको शरीर कुछ कमजोर मालूम हो रहा था। सोडा मिला हुआ पानी मुझे दिया जाता था। भूख मर गई थी। पढ़नेमें थकावट मालूम होती थी। २२ मार्चको उपवासका पाँचवाँ दिन था। इंसपेक्टर-जनरलका पत्र लेकर कोई सज्जन आये। उसमें लिखा था कि तत्कालकेलिए हम सभी मांगोंको स्वीकार करते हैं। उन्होंने फोनद्वारा यह भी स्वीकृति दे दी कि हमारे सभी साथी स्पेशल क्लास २ में रक्खे जायेंगे और हम रेडियाँ मँगा सकेंगे। उसी दिन दोपहरको मैंने उपवास तोड़ दिया। अमवारीके बारेमें मालूम हुआ, कि वहाँ सभाओंमें १५,२० हज़ार किसान जमा होते हैं, लोग दिनमें दो बार खेतोंपर सत्याग्रह करने

जाते है—सवेरे स्त्रियाँ और बालक, और ३ बजे पुरुष। २३ मार्चको मैं अपने साथियोंमें चला आया।

मुझे कुछ दिनोंसे ख्याल आ रहा था कि राजनीतिक प्रगति और भविष्यके कार्य-के सम्बन्धमें एक उपन्यास लिखूँ। मैंने अब तक "बाईसवी सदी" को ही उपन्यासके ढंगपर लिखा था। "सतमीके बच्चे" आदि कुछ कहानियाँ लिखी थीं, कुछ अंग्रेजी उपन्यासोंका भारतीकरणके साथ हिन्दी अनुवाद भी किया था; मगर अब तक कोई वास्तविक उपन्यास नहीं लिखा था; २५ मार्चसे मैं "जीनेकेलिए" उपन्यासको लिखवाने लगा—मैं बोलता जाता था और नागार्जुन जी लिखते जाते थे।

२८ मार्चको पता लगा कि अमवारीमें सत्याग्रहियोंपर मार पड़ रही है और कुछ लोगोंको सख्त चोट आई है।

२९ मार्चको शिक्षा-मंत्री डाक्टर महमूद आए। वह कहने लगे कि चलिए जेलसे निकलकर पंचायती खेतोंका काम सँभालिए। मैंने कहा—अभी तो किसानोंके पास खेत ही नहीं है। पहिले अपना खेत होना चाहिए न।

हाथोंमें हथकड़ी—मेरा मुकदमा सीवानके मजिस्ट्रेटकी अदालतमें था। मुझ पर और मेरे साथियोंपर दफ़ा ३७९ चोरीका अपराध लगाया गया। हम लोगोंकी तारीख ३१ मार्चको थी। उस दिन दोपहर बाद जेलके द्वारपर दोनों फाटकोंके बीचमें हमें ले गए। पुलिस सिपाही मेरे हाथमें हथकड़ी लगाने लगा। जेलके एक अफ-सरने कहा—बिना हथकड़ीके ही ले जाइए। इसपर पुलिसवालेने वारन्ट दिखाकर कहा कि हथकड़ी लगानेकेलिए यहाँ लिखा हुआ है। मैंने उस दिनकी डायरीमें लिखा था—"आज आग्रहपूर्वक हथकड़ी लगाई गई, वारन्टपर खास तौरसे हथकड़ी लगाने केलिए लिखा गया था। अच्छा यह भी साध बुझी।" रेलमें धूपनाथसे मुलाकात हुई और भी कितने ही दोस्त मिले। मालूम हुआ कि सारे जिलेके किसानोंमें चेतना आ गई है, वह जमींदारोंके सामने दबनेकेलिए तैयार नहीं हैं।

अगले दिन (१ अप्रैल) दो बजे हमें कचहरी ले जाया गया। चन्देश्वरसिंहके आदमियोंने गवाही दी कि बहुरिया (जमीदारिनी) का खेत काटनेकेलिए राहुलजी १० आदमियोंके साथ गए। कुरवानने रोका, इस पर राहुलने अपने हँसिएसे उसके ऊपर वार किया और वह कट गया। उसने अपने बचावकेलिए बरगदकी डाली घुमाई।

मुझसे मजिस्ट्रेटने पूछा, तो मैंने कहा—बहुरियाका खेत है, और हमने गैरकानूनी मजमा बनाया, इसे मैं इनकार करता हूँ। लेकिन खेत काटनेको मैं क़बूल करता हूँ। दूसरे साथियोंसे पूछनेपर उन्होंने कहा—हम नहीं जानते, बाबा जानते हैं। हमारी

अगली तारीख १५ अप्रैलको पड़ी। अगले दिन (२ अप्रैल) दोपहरकी गाड़ीसे हम छपराकेलिए रवाना हुए। हथकड़ियाँ फिर लगाई गईं। वारंटको मैंने देखा, उसमें लिखा था—"Supplied 5 pairs of handcuffs" (५ जोड़े हथकड़ियाँ दी गई हैं)। यह साफ़ मालूम होता था कि अधिकारी जान बूझकर अपमानित करनेकेलिए हथकड़ियाँ पहिनवा रहे हैं, लेकिन मुझे तो उसमें कोई अपमान नहीं मालूम होता था। जब मैं छपरा स्टेशनपर उतरा, तो किसी दोस्तने हथकड़ियोंके साथ मेरा फ़ोटो ले लिया। वह अख़बारोंमें छपा। बिहारके कांग्रेसी मंत्रिमंडलपर लोगोंने आक्षेप किया, फिर सरकारने छपवाया कि मैंने माँगकर हथकड़ियोंको पहना था, जो कि सरासर झूठी बात थी।

मढ़ौरा फैक्टरीके झगड़ेका फ़ैसला करनेकेलिए तीन पंचोंकी पंचायत थी, जिसमें गवर्नमेंटकी तरफ़से पहिले मिस्टर पिल्ले नियुक्त हुए थे। ३ अप्रैलको तीनों पंच मढ़ौरामें इकट्ठा होनेवाले थे। पुलिस मुझे जेलसे ले चली, लेकिन जाते जाते रेल छूट गई। शामको जाना था, लेकिन फिर तार आ गया कि मिस्टर पिल्ले कल नहीं आरहे हैं।

६ अप्रैलको फाँसीवाले कुछ क़ैदी छूटे। सोनपुरके तगड़े जमींदारने एक आदमीका ख़ून करवाया था, जिसमें चार आदमियोंको फाँसीकी सजा हुई, लेकिन मालिक साफ़ बच गए। जेलके फाटकसे निकलते वक़्त उनके पिट्ठुओंने ख़ूब जयकार मनाई। मुझे यह बहुत बुरा लगा। मेरे ही कहने पर चार आदमी फाँसीपर चढ़ने जारहे थे, इस बातका तो उसे ख़याल करना चाहिए था। यदि उनके पास भी मुक़दमे लड़नेके लिए उतने रुपये होते, तो बहुत कम सम्भव है कि उन्हें फाँसीकी सजा होती।

हमारे सत्याग्रही साथियोंमें अधिकतर अशिक्षित किसान, कुछ अल्पशिक्षित और कुछ अधिक शिक्षित तरहके लोग थे। सभी गाँवोंके रहने वाले थे, तो भी उनमें पटरी नहीं जमती थी। मैं सोचता था कि शिक्षित अशिक्षितके साथ क्यों नहीं चल सकते। आख़िर ग्यारह आदमियोंको सैंतीस आदमियोंसे अलग रहनेकी जरूरत क्या? यह ठीक था कि जेलमें बेकार रहना भी झगड़ेका एक कारण है। मैंने ६ तारीख़की डायरीमें लिखा—"शिक्षित साथी मुझसे बहुत नाराज हैं। कारण यही है कि मैंने अशिक्षित साथियोंको दबाया क्यों नहीं। लेकिन शिक्षितोंका अशिक्षितोंके साथ रहना क्या असम्भव है? कुछ कठिनाइयाँ जरूर हैं। सबसे बढ़कर बात यह है, कि शिक्षित (स्वयं) एक अलग ही श्रेणी बन जाते हैं।" हमारे शिक्षितोंका व्यवहार अधिक बुद्धिपूर्वक था, किन्तु वे ग़लतफ़हमियोंको हटा नहीं सकते थे।

"गलतफ़हमी अधिकांश गलत बातोंपर निर्भर थी।" १८ अप्रैलकी डायरीमें लिखा था, "शिक्षित क्यों साधारण जनताके विश्वासपात्र नहीं होते, आखिर वह भी तो उसीमेंसे हैं ? वह उनकी परवाह नहीं करते।" अगले दिन लिखा था—"नेतृत्वकी ईर्ष्या ही झगड़ेका प्रधान कारण होती रही है।" मैं यह नहीं कहता, कि अशिक्षित किसानोंका कोई दोष नहीं था, लेकिन २४ घंटे साथ रहनेपर, आदमी नंगा हो जाता है, इसलिए तोपतापके रोब गाँठनेका प्रयत्न व्यर्थ है, इस बातको हमारे शिक्षित माननेकेलिए तैयार नहीं थे।

मेरी भूख-हड़ताल काँग्रेसी सरकारको किसी निर्णयपर पहुँचनेके वास्ते समय देनेकेलिए स्थगित थी। वह फिर शुरू होनेवाली थी। १३ अप्रैलको मैंने प्रधान मंत्रीके पास भूख-हड़तालकी सूचना भेज दी। उस दिन पटनासे आनेवाले एक दोस्तने खबर दी, कि किसान कैदियोंकी माँगोंको सरकार नहीं मानेगी और उपवास करनेपर मुझे जेलसे छोड़ देगी। मुझे समझमें नहीं आता था, कि कांग्रेस मंत्रियोंके सामने मैंने कौनसी ऐसी माँग पेश की, जिससे कि वह खुद राजनीतिक बन्दियोंके लिए न माँगते, यदि वह मेरी तरह जेलमें होते।

१४ अप्रैलको श्री वासुदेवनारायण और दूसरे सात साथी सीवानसे आए। उनको एक-एक सालकी कड़ी सजा हुई। उसी दिन हमें भी सीवान ले गए, फिर हमारे हाथोंमें हथकड़ी लगी थी, और साधारण नहीं, सशस्त्र पुलिस हमारे साथ चली। सीवान स्टेशनपर उतरे, तो लोगोंकी भीड़ बढ़ने लगी, और हजारों आदमी पीछे-पीछे जेल तक गए।

सजा और भूखहड़ताल—१५ अप्रैलको जेलके भीतर ही हमारा मुकदमा हुआ। मि० ब्राइसन थे तो नए आई० सी० एस० अँग्रेज, लेकिन जान पड़ता है, तानाशाही काफी सीख गये थे। उन्होंने इजलास इस तरह लगवाया था, कि जिसमें हमें बराबर खड़ा रहना पड़े। समझते होंगे कि इस अपमानसे वह मुझे हताश कर सकेंगे। मानअपमानको मैं बहुत पीछे छोड़ आया था, हाँ ब्राइसनके दिलको शान्ति जरूर मिली होगी। वह एक परम अंग्रेज भक्त अवैतनिक खुफ़िया अफ़सरकी सेवाओंकेलिए पुरस्कार भी तो दे रहा था। हमने विरोधके तौरपर अदालतकी कार्रवाईमें कोई भाग नहीं लिया। हमारे खिलाफ़ ५ गवाह गुजरे, जिनमें एक थे रघुनाथपुरके दारोगा, जंगबहादुरसिंह। जंगबहादुरसिंहने दो बातें सरासर झूठ कही थी, एक यह कि मेरे सिरमें चोट गिरफ़्तारीसे पहिले लगी थी और दूसरी यह कि कुरबानको भी चोट लगी। पहिला झूठ तो उन्होंने इसलिए कहा कि सरकारी

अगली तारीख १५ अप्रैलको पड़ी। अगले दिन (२ अप्रैल) दोपहरकी गाड़ीसे हम छपराकेलिए रवाना हुए। हथकड़ियाँ फिर लगाई गईं। वारंटको मैंने देखा, उसमें लिखा था—"Supplied 5 pairs of handcuffs" (५ जोड़े हथकड़ियाँ दी गई हैं)। यह साफ़ मालूम होता था कि अधिकारी जान बूझकर अपमानित करनेकेलिए हथकड़ियाँ पहिनवा रहे हैं, लेकिन मुझे तो उसमें कोई अपमान नहीं मालूम होता था। जब मैं छपरा स्टेशनपर उतरा, तो किसी दोस्तने हथकड़ियोंके साथ मेरा फ़ोटो ले लिया। वह अखबारोंमें छपा। बिहारके काँग्रेसी मंत्रिमंडलपर लोगोंने आक्षेप किया, फिर सरकारने छपवाया कि मैंने माँगकर हथकड़ियोंको पहना था, जो कि सरासर झूठी बात थी।

मढ़ौरा फैक्टरीके झगड़ेका फ़ैसला करनेकेलिए तीन पंचोंकी पंचायत थी, जिसमें गवर्नमेंटकी तरफ़से पहिले मिस्टर पिल्ले नियुक्त हुए थे। ३ अप्रैलको तीनों पंच मढ़ौरामें इकट्ठा होनेवाले थे। पुलिस मुझे जेलसे ले चली, लेकिन जाते-जाते रेल छूट गई। शामको जाना था, लेकिन फिर तार आ गया कि मिस्टर पिल्ले कल नहीं आरहे हैं।

६ अप्रैलको फाँसीवाले कुछ कैदी छूटे। सोनपुरके तगड़े जमींदारने एक आदमीका खून करवाया था, जिसमें चार आदमियोंको फाँसीकी सजा हुई, लेकिन मालिक साफ़ बच गए। जेलके फाटकसे निकलते वक़्त उनके पिट्ठुओंने खूब जयकार मनाई। मुझे यह बहुत बुरा लगा। मेरे ही कहने पर चार आदमी फाँसीपर चढ़ने जारहे थे, इस बातका तो उसे ख्याल करना चाहिए था। यदि उनके पास भी मुकदमे लड़नेके लिए उतने रुपये होते, तो बहुत कम सम्भव है कि उन्हे फाँसीकी सजा होती।

हमारे सत्याग्रही साथियोंमें अधिकतर अशिक्षित किसान, कुछ अल्पशिक्षित और कुछ अधिक शिक्षित तरहके लोग थे। सभी गाँवोंके रहने वाले थे, तो भी उनमें पटरी नहीं जमती थी। मैं सोचता था कि शिक्षित अशिक्षितके साथ क्यों नहीं चल सकते। आखिर ग्यारह आदमियोंको सैंतीस आदमियोंसे अलग रहनेकी जरूरत क्या? यह ठीक था कि जेलमें बेकार रहना भी झगड़ेका एक कारण है। मैंने ६ तारीखकी डायरीमें लिखा—"शिक्षित साथी मुझसे बहुत नाराज हैं। कारण यही है कि मैंने अशिक्षित साथियोंको दबाया क्यों नहीं। लेकिन शिक्षितोंका अशिक्षितोंके साथ रहना क्या असम्भव है? कुछ कठिनाइयाँ जरूर हैं। सबसे बढ़कर बात यह है, कि शिक्षित (स्वयं) एक अलग ही श्रेणी बन जाते हैं।" हमारे शिक्षितोंका व्यवहार अधिक बुद्धिपूर्वक था, किन्तु वे गलतफहमियोंको हटा नहीं सकते थे।

"गलतफहमी अधिकांश गलत बातोंपर निर्भर थी।" १८ अप्रैलकी डायरीमें लिखा था, "शिक्षित क्यों साधारण जनताके विश्वासपात्र नहीं होते, आखिर वह भी तो उसीमेंसे हैं ? वह उनकी परवाह नहीं करते।" अगले दिन लिखा था—"नेतृत्वकी ईर्ष्या ही झगड़ेका प्रधान कारण होती रही है।" मैं यह नहीं कहता, कि अशिक्षित किसानोंका कोई दोष नहीं था, लेकिन २४ घंटे साथ रहनेपर, आदमी नंगा हो जाता है, इसलिए तोपतापके रोब गाँठनेका प्रयत्न व्यर्थ है, इस बातको हमारे शिक्षित माननेकेलिए तैयार नहीं थे।

मेरी भूख-हड़ताल कांग्रेसी सरकारको किसी निर्णयपर पहुँचनेके वास्ते समय देनेकेलिए स्थगित थी। वह फिर शुरू होनेवाली थी। १३ अप्रैलको मैंने प्रधान मंत्रीके पास भूख-हड़तालकी सूचना भेज दी। उस दिन पटनासे आनेवाले एक दोस्तने खबर दी, कि किसान कैदियोंकी माँगोंको सरकार नहीं मानेगी और उपवास करनेपर मुझे जेलसे छोड़ देगी। मुझे समझमें नहीं आता था, कि कांग्रेस मंत्रियोंके सामने मैंने कौनसी ऐसी माँग पेश की, जिससे कि वह खुद राजनीतिक बन्दियोंके लिए न माँगते, यदि वह मेरी तरह जेलमें होते।

१४ अप्रैलको श्री बासुदेवनारायण और दूसरे सात साथी सीवानसे आए। उनको एक-एक सालकी कड़ी सजा हुई। उसी दिन हमें भी सीवान ले गए, फिर हमारे हाथोंमें हथकड़ी लगी थी, और साधारण नहीं, सशस्त्र पुलिस हमारे साथ चली। सीवान स्टेशनपर उतरे, तो लोगोंकी भीड़ बढ़ने लगी, और हजारों आदमी पीछे-पीछे जेल तक गए।

सजा और भूखहड़ताल—१५ अप्रैलको जेलके भीतर ही हमारा मुकदमा हुआ। मि० ब्राइसन थे तो नए आई० सी० एस० अँग्रेज, लेकिन जान पड़ता है, तानाशाही काफी सीख गये थे। उन्होंने इजलास इस तरह लगवाया था, कि जिसमें हमें बराबर खड़ा रहना पड़े। समझते होंगे कि इस अपमानसे वह मुझे हताश कर सकेंगे। मानअपमानको मैं बहुत पीछे छोड़ आया था, हाँ ब्राइसनके दिलको शान्ति जरूर मिली होगी। वह एक परम अंग्रेज भक्त अवैतनिक खुफ़िया अफ़सरकी सेवाओंकेलिए पुरस्कार भी तो दे रहा था। हमने विरोधके तौरपर अदालतकी कार्रवाईमें कोई भाग नहीं लिया। हमारे खिलाफ़ ५ गवाह गुजरे, जिनमें एक थे रघुनाथपुरके दारोगा, जंगबहादुरसिंह। जंगबहादुरसिंहने दो बातें सरासर झूठ कही थी, एक यह कि मेरे सिरमें चोट गिरफ्तारीसे पहिले लगी थी और दूसरी यह कि कुरबानको भी चोट लगी। पहिला झूठ तो उन्होंने इसलिए कहा कि सरकारी

हिरासतमें कोई आदमी हो, तो उसकी रक्षाका सारा भार सरकारी अफ़सरपर है। शिर फटनेका मतलब था, कि अफ़सरने असावधानी की। इस प्रकार पहिला झूठ तो वह बोले थे, अपनेको बचानेकेलिए; लेकिन, दूसरे झूठको बोलनेकी जरूरत नहीं थी। सिवाय इसके इसका कोई और मतलब नहीं हो सकता था कि वह सुफ़िया-जमींदारकी सहायता करना चाहते थे। उनका कहनेका अर्थ यह हुआ, कि मैंने शान्तिमय सत्याग्रह नहीं किया, बल्कि हँसुआको मैंने हथियारके तौरपर इस्तेमाल किया। मैंने पहिले दिनकी पेशीमें देखा, कि क़ुरबानके हाथमें पट्टी बँधी हुई है। जमींदारने जरूर उसके हाथमें घाव बनवाया था। तो क्या पुलिस भी पूरी तौरसे मेरे मामलेमें दिलचस्पी ले रही थी? पुलिस ही क्यों, ज़िला-मजिस्ट्रेट और सीवानके मजिस्ट्रेट भी खास तौरसे दिलचस्पी ले रहे थे। शायद वह समझते थे, कि दूसरो लोटा यह बोलशेविक ब्रिटिश साम्राज्यमें गड़बड़ी मचा रहा है, इसलिए उसको दबाना और अंग्रेज-भक्त जमींदारको मदद करना उनका फ़र्ज़ है। मुझे दफ़ा १४३ (ग़ैरक़ानूनी मजमेका मेम्बर होने) और दफ़ा ३७९ (ऊखकी चोरी करने) में छ-छ मासकी कड़ी सजा हुई, और बीस रुपया जुर्माना, न देनेपर तीन मासकी और सजा। यह मुझे तीसरी वार जेलकी सजा हुई थी, और सो भी चोरीके अपराधमें! और सख्त सजा! खूब!!

अगले दिन (१६ अप्रैल) हमें सिपाही छपराकी ओर ले चले। वह मेरे हाथमें हथकड़ी देनेसे हिचकिचा रहे थे, मैंने अपना हाथ बढ़ा दिया और दोनों हाथोंमें हथकड़ी पड़ गई। उसी दिन हम छपरा जेलमें चले आए। जेलमें अबकी बार जब गिरफ्तार करके आया, तभीसे मैंने अधबहियाँ कुरता और जाँघिया पहनना शुरू किया था। लेकिन अब भी पीले कपड़े मेरे पास थे। १७ अप्रैलको मुझे कैदियोंका कपड़ा पहननेको मिला। उस दिन "चलो धर्मसे अब नाममात्रका भी सम्बन्ध नहीं रहा" यह वाक्य लिखा था, और यह भी—"मिस्टर कैम्प कलक्टर अपनी सारी शक्ति लगाए हुए हैं। सारी पुलिस और खुफिया-विभाग लगा हुआ है। जिलेकी सभी जमींदारियोंके साथ यही मुकाबिला हो रहा है।" अब हमें रोज दस-दस सेर गेहूँ पीसनेके लिए मिलनेवाला था, हम चक्की आदि भी देख आए।

पुलिसकी जाँच—कांग्रेस मंत्री भी उसी तरह कुचलनेकेलिए तैयार थे, जैसे सारन (छपरा) के अंग्रेज-अफसर। यह आश्चर्यकी बात नहीं थी, इसकेलिए उन्हें वर्गस्वार्थ प्रेरित कर रहा था, लेकिन, अभी हिन्दुस्तानको आजादी नहीं मिली थी, अभी किसानोंकी शक्तिको कुचलनेकेलिए तैयार हो जाना राजनीतिक दूरदर्शिता नहीं कही जा सकती थी। लेकिन अखबारोंमें मेरे सिर फटने, हाथमें हथकड़ी लगाने

तथा दूसरी अपमानजनक बातोंकी खबरें छप चुकी थीं। अखबारवाले बिहारकी कांग्रेस मिनिस्ट्रीको धिक्कार रहे थे, इसलिए सरकारको कुछ लीपापोती करनेकी जरूरत थी। उसने पुलिसके इंसपेक्टर-जनरल अलखकुमार सिंहके जिम्मे जाँच करनेका काम दिया। एक साधारण रायटर कांस्टेबुल तरक्की करते करते सारे सूबेकी पुलिसका इंसपेक्टर-जनरल हो जाय, यह जरूर असाधारण सी बात थी। अलखबाबूमें विशेष योग्यता थी, इसे इन्कार करनेकी जरूरत नहीं, किन्तु साधारण तौरकी योग्यता उनको इतने ऊँचे पदपर नहीं पहुँचा सकती थी। उनमें सबसे बड़ी योग्यता यह थी कि उन्होंने अपने शरीर और आत्माको अंग्रेजोंके हाथमें बेच डाला था, फिर ऐसा आदमी जाँच करने आए, तो उससे क्या आशा हो सकती है? उन्होंने मुझसे चोट लगनेके बारेमें पूछा—मैंने सारी बातें बता दी।

उसी दिन सात बजे मुझे जेलसे सीवानकी ओर ले चले। मेरे साथ दो सिपाही और एक थानेदार था।

अगले दिन (२१ अप्रैल) इंसपेक्टर-जनरल, सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस, डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस, कलक्टर सारे अमवारी पहुँचे। रामयशसिंहके बथानके द्वारपर गए। वहाँ मैंने बतलाया कि यहीं मैंने थानेदारको दो घंटा पहिले सत्याग्रह करनेका समय बतलाया था। हम यहाँसे १० बजे रोशन भगतके खेतमें गए। रोशनभगतके खेतपर जाकर घटना स्थानको बतलाया। दारोगा जगबहादुरने मुझपर जिरह करना शुरू किया। वह कितनी ही बातें कह जाते, जिनको इंसपेक्टर-जनरल नोट नहीं करते और सिर्फ मेरी बातोंको काट-छाँटके लिखवाते। थानेदार जगबहादुरसिंह और पुलिस इंसपेक्टर विक्रमाजीतसिंह चार घंटेतक जिरह करते रहे। सारी कार्रवाईसे मालूम हो रहा था, कि यह जाँच सिर्फ लीपापोतीकेलिए हो रही है। आसपासके गाँवोंमें खबर पहुँच गई थी, और झुण्डके-झुण्ड आदमी वहाँ जमा हो रहे थे। हमलोग उसी दिन सीवान लौट गए।

साढ़ेचार बजे शामको फिर जाँच शुरू हुई। यहाँ इंसपेक्टर-जनरल, सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस (अंग्रेज), कलक्टर (अंग्रेज), विक्रमाजीतसिंह (इंसपेक्टर), द्रुतलेखक और मैं कुल ६ आदमी थे। यहाँ भी मैं देख रहा था, इंस्पेक्टर जनरल हमारी बातोंको पूरा नहीं लिखवाते, और जो लिखवाते, उसे भी तोड़-मरोड़कर। मैंने इसका विरोध किया, तो इंस्पेक्टर-जनरल (अलख बाबू) उबल पड़े। मैंने साफ कह दिया —"मैं तुम्हें अपना खुदा नहीं समझता, तुम भूल कर रहे हो, जो अपनेको मेरा भाग्य-विधाता समझते हो। तुम किस लायक हो, इसे तुम खुद अपने मनसे पूछो।" इंस्पेक्टर जनरलका दिमाग कुछ ठंडा हुआ। उन्होंने कहा—"कुछ मेरी उमरका भी ख्याल करें।

मैंने कहा मैं भी छियालीस सालका हूँ। हम दोनोंकी उमरमें बहुत अन्तर न होगा।"

थोड़ी देर और कुछ लिखते-पढ़ते रहे, इसके बाद मुझे छुट्टी मिल गई, और मैं उसी रात छपरा चला आया।

जेल बन्द हो चुका था, इसलिए थानेदार मुझे शहरके थानेपर ले गए। थानेदार भले मानुष थे। मैं खाकी हाफपैन्ट, हाफशर्टमें कुर्सीपर बैठा था। लोग क्या जानते थे, कि यह चोर-कैदी बैठा हुआ है, वह मुझे ही दारोगा समझकर सलाम कर रहे थे। जलपानके बाद मुझे थानेदार जेलमें छोड़ आए।

अबकी बार अमवारी सत्याग्रहकेलिए जब मैं पटनासे आया था, तो अपने साथ सफेद (लेघोर्न) मुर्गीके अंडे इस मतलबसे लाया था कि इनको सेयाकर बच्चे पैदा करें, फिर एक मुर्गीखाना तैयार किया जाय। मुर्गीखानेकी जगह भी ठीक कर ली गई थी और नगरके सर्वमान्य देवताके नामपर उसका नाम "धर्मनाथ मुर्गीभवन" रखा जानेवाला था। सत्याग्रहके बाद मुर्गीभवनकी बात तो बीच हीमें रह गई। २२ अप्रैलको मालूम हुआ कि १२ अंडोंमें सिर्फ ४ ही बच्चे पैदा हुए—अंडे कुछ दिनों तक बिना सेए ही रख दिए गये, इसीसे यह हुआ था। दो पालनेवालेने रख लिए थे, और दो मेरेलिए छोड़े थे। आन्दोलनकारी ऐसे कामोंको कैसे कर सकता? २२ अप्रैलको मैंने प्रधानमंत्रीको तार दे दिया, कि यदि हमारी माँगें नहीं मानी गईं, तो पहिली मईसे मुझे भूख हड़ताल करनी होगी।

अगले दिन (२३ अप्रैल) बाबू मथुराप्रसाद आए। उनसे किसान-कैदियोंकी माँगोंके बारेमें बातचीत हुई। इसी बीचमें ही पुलिसका जमादार अँगूठेका निशान लेने आया—चोर कैदियोंके अँगूठेका निशान लिया जाता है। मैं चोरकैदी था ही। मैंने कहा—मुझे कोई उजुर नहीं, एक नहीं पाँचों उँगुलियोंका निशान लीजिए। मथुरा बाबूने मना कर दिया, और निशान लेना बन्द हो गया। पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट इंस्पेक्टर-जनरलके जिरहवाले कागजको लेकर दस्तखत कराने आए। मैंने "Distorted and many points left out" (तोड़ा-मरोड़ा और बहुतसे महत्त्वपूर्ण अंशोंको छोड़ दिया गया) लिखकर हस्ताक्षर कर दिया। पार्लामेंट्री सेक्रेटरी बाबू कृष्णवल्लभ सहायने भी हमारी माँगोंके बारेमें बातचीत की। कलक्टरने चिट्ठी भेजी कि सरकार कुरवानके ऊपर मुकदमा चलाना चाहती है। शामको फिर हमारी माँगोंके बारेमें कृष्णवल्लभ बाबू और मथुरा बाबूने बातचीत की, जिससे पता लगा कि कांग्रेस-सरकार किसान कैदियोंको राजनीतिक बन्दी बनानेकेलिए तैयार नहीं है। शायद भविष्यके लोगोंको यह पढ़कर आश्चर्य होगा, कि किसान

बन्दी भी उसी तरह अपने अधिकारोंकेलिए लड़ रहे थे, जैसे किसी समय कांग्रेसी बन्दियोंने लड़ाई की थी, फिर किसानोंके चुने हुए कांग्रेसी मंत्री उचित माँगोंको माँगनेकेलिए क्यों तैयार नहीं हुए ? लेकिन यह मामूली सी बात है—कोई प्रतिद्वन्दी अपने विरोधीके साथ रियायत करनेकेलिए तैयार नहीं होता । जमीदार-मंत्री इसे अपने हाथसे अपने पैरमें कुल्हाड़ा मारना समझते थे ।

२७ अप्रैलको डाक्टर श्चेर्वात्स्की का पत्र आया, यह १७ मार्चको लिखा गया था, साथमें बच्चेका चित्र और लोलाका भी चित्र था ।

हमारे साथियोंमें से वासुदेव नारायण, मजहर, जलील और नागार्जुनको द्वितीय श्रेणीका कैदी बना दिया गया था । ३० अप्रैलको उन्हें हजारीबाग भेजने वाले थे, लेकिन अगले ही दिन मैं भूख हड़ताल शुरू करनेवाला था, इसलिए उन्होंने जानेसे इनकार कर दिया, और उन्हें यहीं रहने दिया गया ।

१० दिन (१-१० मई) का उपवास—अपनी उचित माँगोंको मनवानेका कोई रास्ता न देखकर कैदीको भूख-हड़ताल करनी पड़ती है । मैंने अपनी भूख-हड़तालको हलके दिलसे नहीं शुरू किया था, मैं उसे अन्ततक ले जानेकेलिए तैयार था । सरकारको मौका देनेकेलिए एक बार कुछ दिन तक भूख हड़ताल कर उसको छोड़ दिया था, लेकिन सरकार टससे मस नहीं हुई । कांग्रेसी जमीदार कितने पानीमें हैं, यह बात मुझे ही नहीं, दूसरोंको भी स्पष्ट होती जा रही थी । मैंने पहिली मईसे भूख-हड़ताल शुरू कर दी, जो दस दिन तक जारी रही, और उसी समय टूटी जब कि मुझे जेलसे बाहर कर दिया गया । उस वक्त मेरे स्वास्थ्यकी अवस्था निम्न प्रकार थी—

दिन	वजन (पौंड)	नाडी-गति	हृदय-गति	तापमान	विशेष
१.	१७४	..	.	..	
२.	..	..	..	..	कमजोरी
३.	..	..	..		कमजोरी नहीं भूख मर गई
४.	..	६४	१८	,,	भुनभुनी १०२° ज्वर
५.	१६८	६६	१६	..	फुर्ती
६.	१६४	..	..		कमजोरी नहीं
७.	१६०	..	उठनेपर बैठनेकी ताकत है, अँतड़ीमें तिलमिली		
८.	१५८	७२	१८	९५.४	
९.	१५६	..	..	..	
१०.	१५६	७४	२०	..	

मैंने उपवास करते वक़्त साथियोंसे कह दिया था कि ७ दिन तक कोई उपवास शुरू न करे। दूसरे दिन पटनासे टेलीफोन आया कि मुझे हजारीबाग भेज दिया जाय। मैंने जानेसे इन्कार कर दिया। चौथे दिन जेलवालोंने जबर्दस्ती नाकके रास्ते दूध पिलाना चाहा, लेकिन वह सफल नहीं हुए। मुझे बहुत पीड़ा हुई, और दोपहर बाद १०२ डिग्री बुखार आ गया। सिर और शरीरमें दर्द होने लगा। जेलमें कलक्टर आये थे। पता लगा कि मेरे हाथोंमें हथकड़ी डालनेके बारेमें जाँच हो रही है। पाँचवें दिन जेल विभागके पार्लामेन्टरी-सिक्रेटरी कृष्णवल्लभ बाबू आए। माँगोंपर बात-चीत हुई। उन्होंने कहा कि अनशन छोड़ दें, सरकार माँगोंपर विचार कर रही है। मैंने कहा—"मैं इतनी जल्दी नहीं मरूँगा, आप माँगोंको मानकर उपवास तुड़वानेकी कोशिश करें।" आजसे लिखना पढ़ना बन्द हो गया। तीसरे दिन तक तो मैं "जीनेकेलिए" बाकायदा लिखवाता रहा। ७ वजे दिन तक मैंने पुस्तक थोड़ीसी लिखाई। उठने-बैठने-चलनेमें किसीकी सहायताकी जरूरत थी, आँखोंके सामने अँधेरा आता था। पेटमें अँतड़ियाँ कुछ तिलमिलाती मालूम होती थीं, लेकिन भूख न थी। उसी दिन जेलोंके इंस्पेक्टर-जनरल मिस्टर अंगर आए। उन्होंने दूधवाली लेनेको कहा और बहुत आग्रह किया कि जान मत दें। मैंने कहा—मैं जान देनेकेलिए तैयार हूँ, जुएपर जानकी बाजी लगा चुका हूँ।

जेलसे बाहर—८ मईको मालूम हुआ कि कालेज और स्कूलोंके लड़के मेरे बारेमें शाम-सुबह रोज जलूस निकाल रहे हैं, और कांग्रेस-सरकारकी भद्द उड़ रही है। १०वें दिन (१० मई) रातको फाटकपर चलनेकेलिए बुलवाया गया, मैंने किसीका सहारा नहीं लिया और अपने पैरों हीसे चल पड़ा। कलक्टर आये हुए थे। उन्होंने कहा—बिहार सरकारने आपको जेलसे छोड़ा दिया है। फिर अपने साथही मोटर पर अस्पतालमें छोड़ गए। २४२ घंटेके बाद मैंने उपवास तोड़ा। हमारी माँगोंको पूरा नहीं किया गया; लेकिन मैं जानता था कि मुझे न जाने कितनी बार किसानोंकेलिए जेलमें आना होगा और जब तक इन माँगोंका निपटारा नहीं होता, तब तक जेलमें मुझे कुछ खाना नहीं है।

दूसरे दिन मैं पंडित गोरखनाथ त्रिवेदीके घरपर चला गया। डाक्टर सियावर-शरण अपने घर आए हुए थे, वह मिलने आए और मुझे साथ ले चलनेकेलिए बोले। १६ मईको उनकी मोटरपर मैं जामो-बाजार चला गया—गाँव और एकान्त स्थान था। डाक्टर सियावर एक सफल डाक्टर हैं, सफल ही नहीं, सहृदय डाक्टर हैं, मेरे ही लिए नहीं, सारे दीहातके लोगोंकेलिए भी। दूसरे दिन (१७ मई) स्वामी सहजानन्द

और पं० यदुनन्दन शर्मा सीवान आनेवाले थे। विरजा (व्रजबिहारी मिश्र)ने अमवारीमें बड़ी तत्परता और निर्भयतासे काम किया था। एक बार किसानोंके खोदे हुए कुएँको पुलिसवाले मिट्टी डालकर बन्द करना चाहते थे, विरजा कुएँमें कूद पड़ा और उन्हें मट्टी डालना बन्द करना पड़ा। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र अपने सबसे छोटे पुत्रको बहुत पढ़ानेकी कोशिश करते रहे, लेकिन विरजाने पढ़ा नहीं, तो भी उसके पास हृदय था, हिम्मत थी, और निर्भयता थी। विरजा मुझे सीवान चलनेकेलिए कहने आया था। डाक्टर सियावरशरण अपनी मोटरको वहाँ ले गए। बहुत भारी सभा थी, जिसमें अमवारीसे १४ मील चलकर ३०० मर्द और १०० से ऊपर किसान औरतें आई थी। सीवानवालोंने उनके खाने-पीनेका अच्छा इंतिजाम किया था। यही मुझे पहिले-पहिल यदुनन्दन शर्माका व्याख्यान सुननेको मिला। उनका भेस किसानों जैसा था, वैसी ही उनकी भाषा थी। वह ऐसा एक भी वाक्य नही कहते थे, जिसे किसान न समझ पाए। उनके भेस, भाषाको देखकर कोई कह नही सकता था कि यह हिन्दू यूनीवर्सिटीका ग्रेजुएट क्या चार दर्जे भी अंग्रेजी पढ़ा होगा। उसी दिन में जामो लौट आया। डाक्टर सियावरने ज्यादातर निरन्न भोजनका इंतिजाम किया था। सिर्फ दोपहरको चावल या रोटी खानेको मिलती थी, नही तो अंडा मछली, कबूतर, मुर्गी, बकरेका माँस यही प्रधान खाद्य थे। साथमें हरे खीरे जैसी कुछ चीजें भी थीं। बड़ी तेजीसे मेरा स्वास्थ्य सुधर रहा था।

२१ मईको "जीनेकेलिए" के अवशिष्ट अंशको लिखकर मैंने खतम कर दिया। लोग बराबर आया करते थे, और पुलिस भी पूछती रहती थी। जामोमें मैं ६ दिनसे ज्यादा नही रह सका, इसकेलिए डाक्टर सियावरको बडा अफ़सोस रहा। लेकिन जब शरीरमें ताकत आ गई, तब फिर विश्राम कैसे किया जा सकता था। २४ तारीखसे फिर मैंने काम शुरू किया। २५ को अमवारीमे ८,१० हजार जनताकी एक बड़ी सभा हुई, जिसमें पाँच-छ सौ स्त्रियाँ थीं। उसके देखनेसे मालूम होता था, कि किसानों-के पास अटूट हिम्मत है, वह अपराजेय हैं। स्त्रियाँ नए तरहकी गीत गाती थीं, जिसमें किसानोंके दु:ख और अत्याचारकी बात होती थी।

२६ मईको मैरवा गया। हरीराम ब्रह्म किसी राजाके जुल्मके कारण पेटमें छूरी भोंककर मर गये थे। आज उस राजाका गढ ढह गया है, लेकिन हरीराम ब्रह्म-का मृत्युस्थान एक तीर्थके रूपमें परिणत है, जहाँ हर साल लाखों आदमी दर्शनकेलिए आते हैं। बारह-चौदह वर्ष हुए, जमुना भगत एक अनपढ किन्तु साधुहृदय कुम्हारने यहाँ धूनी रमाई। यात्रियोंको टिकने और नहाने धोनेकी बड़ी तकलीफ होती थी।

ओंका पक्ष ले रहे थे। इसमें मेरी बीबी है, यह बात भी उन्हें मालूम थी। वह लोग फूले न समाते थे। उन्होंने चिट्ठियोंके फ़ोटो लिए। बीबी-बच्चेके फोटुओंकी कापियाँ कराईं। अख़बारोंमें मेरे विरुद्ध छपवा रहे थे, कि इस तरह हम राहुलको जनताके सामने पतित साबित कर देंगे। मेरे घनिष्ट दोस्त पहिले हीसे इस बातको जान गए थे। मैं मंत्रिमंडलके इस उल्लास भरे प्रयासको सिर्फ़ कौतूहलकी दृष्टिसे देखता था। मुझे उनके इस लड़कपनपर हँसी आती थी—वह समझते थे कि कमेरे राहुलजीके कपड़े और साधुताई पर मुग्ध हैं। वह यही नहीं जानते थे, कि उनकी जीविकाके लिए जो भी ईमानदारीसे लड़ेगा, उसके साथ वह स्नेह प्रकट करेंगे। जब मैं सत्याग्रहकेलिए अमवारी गया, तो जलीलको प्रतापसिंह बनाके रखना पड़ा था। हम साठ-सत्तर सत्याग्रही छपरा जेलमें थे, जिसमें अधिकांश किसान थे। मैं और मेरे शिक्षित दोस्त तथा किसान मजदूर और जलील एक साथ खाते थे। हिन्दू-मुसलमानकी एक रोटी होनी चाहिए, हमने इसपर एक दिन भी लेक्चर नहीं दिया। लेकिन कुछ ही दिनोंमें किसान एक दूसरेके हाथसे रोटी छीनकर खानेकेलिए तैयार हो गये। दूसरी बार जब छितौली सत्याग्रहकेलिए जाना पड़ा उस वक्त इब्राहीम और दूसरे कमियोंका मैंने नाम नहीं बदला। पाँच-पाँच सात-सात आदमियोंकेलिए थाली-जमा करवाने कौन जाय। हम लोग एक थालीमें दाल रख लेते थे, और एकमें रोटी और उसीमें बैठकर सब खाना खा लेते। इससे किसानोंको कोई तरद्दुद नहीं करना पड़ता था। एक घरमें नहीं होता, तो वह दस घरोंसे थोड़ा-थोड़ा खाना जमा करके ले आते। जमींदारने इस बातको ले बेधर्मी आदि कह कहकर बदनाम करना चाहा, लेकिन किसानोंका एक ही जवाब था—हम उनसे धर्म नहीं ले रहे हैं, हम तो खेतकेलिए उनकी सहायता चाहते हैं, और राहुल बाबा जी-जान देनेके-लिए तैयार हैं। कांग्रेसी सरकारके विरोधी प्रोपेगंडेका थोड़ा बहुत असर जमींदारोंके बाद शिक्षित मध्यमवर्गपर हो सकता था, लेकिन वह तो शुद्ध नगण्य है।

पुराने कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओंपर बुढ़ापेका पूरा असर दिखलाई पड़ता था, लेकिन नौजवानोंमें तत्परता थी। मैंने ७ जूनको लिखा था, नई पीढ़ीसे ही आशा रखनी चाहिए। जब (हम) भूमिकी विषमताको देखते हैं, तो निराशा-सी होती है, जब संगठनके ज़ोरको देखते हैं, तो निराशाका कोई कारण नहीं मालूम होता।

सरजू (घाघरा) की बाढ़के कारण इधर कई सालोंसे कई थानोंके लोग फ़सल मारे

जानेसे तबाह हो रहे थे। सरकारका ध्यान इस तरफ नहीं था। कांग्रेसी सरकार कान में तेल डाले बैठी थी। जब हल्ला होता, तो दो चार हजार रुपयेकी माटी कहीं कहीं रखवा दी जाती और कहा जाता कि सरकारका ध्यान इस ओर है। इसकेलिए १८ जूनको एक बड़ा प्रदर्शन किया गया। गुठनी और रघुनाथपुर जैसे दूर दूरके थानोंके किसान पैदल चलकर आए थे। १३ थानोंके लोग छपरा पहुँचे थे। पानी बरस गया था, इसलिए लोग खेत बोनेमें लग गए, नहीं तो उनकी संख्या पचासों हजार तक पहुँचती। शहरवालों तकको जलूस देखकर इतना उत्साह हुआ, कि रायबहादुर वीरेन्द्र चक्रवर्ती जैसे राजभक्तने सैकड़ों आदमियोंको आम और चिउड़ा खानेको दिया। कलक्टर डरके मारे बँगला छोड़कर भाग गया, और वहाँ पचास फ़ौजी पुलिस पहरा दे रहे थे।

(ग) छितौलीका सत्याग्रह (जून १९३९)—प्रदर्शनसे छुट्टी मिली और दूसरे दिन छितौलीके किसान दौड़े-दौड़े आए। मालूम हुआ कि जमींदार खेत नहीं जोतने दे रहा है। जो किसान आसाढ़में खेत नहीं जोतने पायेगा, उसे जीनेकी क्या आशा हो सकती है। उसी दिन (१९ जून) इब्राहीम, रामभवन, अखिलानन्दके साथ छितौलीकेलिए रवाना हो गया। दूसरे दिन ६ बजे हम सत्याग्रही झोंपड़ीमें पहुँच गए। यहाँके किसान बहुत गरीब थे, तो भी वह खानेकेलिए विशेष तरद्दुद करने लगे। मैंने कहा—हम कोई ऐसी चीज नहीं खाएँगे, जिसे तुम रोज नहीं खाते। जाओ, जिसके घरमें जो बना हुआ हो, उसीको थोड़ा-थोड़ा जमा करके लाओ। उस दिन उनके घरोंसे जो खाना आया था, वह था चीनाका भात, महुआका लाटा—खाली भी और भुनी मकईके साथ भी कुटा हुआ भी। साथमें तालकी घास कर्मीका साग था। मैंने उसे बड़ी रुचिसे खाया, किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि वह मनुष्यके ३० दिन खानेकी चीजें थीं। वह ऐसा भोजन था, जिसे भारतका ही गरीब खाकर धैर्य रख सकता है।

३ बजे बाद हम लोग सभाकी जगह गए। अशर्फी साहुके लठियल जगह छेंककर खड़े थे। मैंने कहा, क्या अशर्फीसाहु इतने तक उतर आए और फिर एक लठियलको पकड़कर साहुके घरकी ओर ले चला। जरूर यह खतरेकी चीज थी, लेकिन ऐसे वक्त मुझे खतरे की बिल्कुल पर्वाह नहीं रहती। अशर्फी साहुसे पूछा—आप धर्मात्मा बनते हैं, आपने मन्दिर खड़ा किया है, बहुत पूजा-पाठ करते हैं, क्या आप लड़ाई झगड़ा भी करना चाहते हैं। वह मीठी-मीठी बातें करके अपनी माया पसारने लगे। उसी वक्त कुछ हल्ला हुआ। आकर देखता हूँ कि अशर्फीसाहुके पुत्र जगन्नाथ

बन्दूक लेकर पहुँचे हुए हैं। बहुतसे लोग भाला-तलवार लेकर खड़े हैं। मैं उनके भीतर घुस गया। मैंने उन्हें ललकार कर कहा—हिजड़ो! क्यों खड़े हो, यदि कुछ भी तुममें ताकत है, तो अपनी तलवार और भालेको मेरे ऊपर चलाओ, मैं तुम्हारे सामने खड़ा हूँ। सब वहाँसे चले गए। मैं इधर-उधर अपने दोनों गुम साथियोंके विषयमें पूछता रहा। मालूम हुआ, कि मार खाकर वह गिर पड़े, और उन्हें हमारे आदमी झोपड़ीमें ले गए। रामभवनपर चार और अखिलानन्द (१८ सालके नौजवान) पर आठ लाठी पड़ी थी। अखिलाकी बाईं हथेलीकी हड्डी टूट गई थी। रातको डाक्टर सियावर आए, उन्होंने पट्टी बाँधी। उसी रात बैलगाड़ीसे दोनों घायलोंको सीवान रवाना कर दिया। अगले दो दिन (२१-२२ जून) किसान खेत जोतते-बोते रहे। बसन्तपुरके छोटे-बड़े दोनो दारोगा आये, लेकिन अशर्फी साहुने उनकी खूब पूजा कर दी थी। जमीदारकी फिर हिम्मत नहीं हुई, कि किसानोंसे छेड़-छाड़ शुरू करे।

दो सालकी सजा—तीसरे दिन भी खेतोंमें हल चल रहे थे। ९ बजे बड़े थानेदार गणेशनारायण आए। उन्होंने दिखलानेकेलिए अशर्फी साहुके कुछ आदमियोंसे पूछ-ताछ की। उनके कुछ आदमियोंको मोटरपर बैठाया और मुझे भी यह कह साथ कर लिया, कि इन लोगोंने बहुत जुल्म किया है। साढ़े दस बजे हम सीवान थानेमें पहुँचे। वहाँके एक मुसलमान थानेदारने मेरेलिए खाना बनवाया। उनके घरमें मैंने नहाकर खाना खाया। मुझे यह नहीं मालूम था, कि मैं गिरफ्तार करके यहाँ लाया गया हूँ। एक बजे मैं एक अपने दोस्तसे मिलने गया, तो देखा, छोटे थानेदार मेरे साथ हैं। डेढ़ बजे मि० ब्राइसनकी अदालतमें मुझे खड़ा कर दिया गया। अब क्या सन्देह रह गया। गैरकानूनी मजमा बनाकर दूसरेकी जमीन दखल करनेका अपराध (धारा-११७) केलिए मुकदमा चलाया गया। मैंने किसी गवाहपर जिरह नहीं की। और किसानोंको खेतकी जुताई-बुआईमें मदद देनेके कसूरको स्वीकार किया। साढ़े तीन बजे सजा सुनाई गई—६ मास सख्त कैद, तीस रुपया जुर्माना या तीन मासकी सख्त कैद। छूटनेपर सालभरकेलिए हजार रुपयेकी दो जमानतें। ६ बजे सीवान स्टेशनपर पहुँचे और रातको भटनीकी गाड़ीपर सवारकर दो सिपाही मुझे ले चले। पिछली बार हथकड़ी देनेसे जो बदनामी हुई थी, उसके कारण पुलिसने मेरे हाथमें हथकड़ी नहीं डाली। छपरा-पटनाके रास्ते से जानेसे लोगोंमें उत्तेजना फैलती, इसलिए सरकारने (युक्तप्रान्त—भटनी, मऊ, बनारस, मुगलसराय) के रास्ते मुझे सीधे हजारीबाग भेजनेका इंतिजाम किया। मैंने ५० सालकी उम्र तक आजमगढ़

जिलेमें न जानेकी प्रतिज्ञा की थी। मैं रेलसे उतरा नहीं, न मैंने बाहर झाँककर देखा ही, तो भी २३ जूनको मऊ (आजमगढ़)के रास्ते जाना पड़ा। सबेरे बनारस छावनी-में उतरे। यदि मालूम हुआ होता, कि इस गाड़ीसे जानेपर गयामें कई घंटे पड़ा रहने पड़ेगा, तो हम ६ बजे सबेरेकी गाड़ीको बनारसमें न पकड़ते। दोनों सिपाही भले-मानुस थे। वह गंगास्नान करना चाहते थे, लेकिन नहीं कर सके। जलपानके वक्त वह कुछ ले आना चाहते थे। मैंने कह दिया कि अदालतके कमरेमें घुसते ही मेरी भूख-हड़ताल शुरू हो गई है, मैं नही खाऊँगा। वह कह रहे थे—आप नही खाएँगे तो हम कैसे खाएँगे। मैंने बहुत कह सुनकर उन्हें राज़ी किया। सोन-ईस्टबेंकपर हम लोग उतर गए, और दो घंटेसे अधिककी प्रतीक्षा करनेपर तूफान-एक्सप्रेस मिला। ५ बजे शामको हजारीबागरोड (सरिया) पहुँचे।

दूसरी बार हजारीबाग जेल—एक टैक्सीपर हम लोग बैठे। टैक्सीवाला थोड़ी दूर जाकर लौट आया, वह बदमाशी करने लगा। सिपाहियोंकेलिए मैं कैदी नहीं, गोया एक अफ़सर था। मैं टैक्सीवालेको थानेपर ले गया, वहाँ उसका नाम-ग्राम लिखा गया। फिर दूसरी बससे हम लोग हजारीबाग़ रवाना हुए। १० बजे रातको जेल पहुँचे। वहाँ पहिले ही खबर आ चुकी थी। रातको आफिसमें ही चारपाई बिछा दी गई, खाना तो मुझे खाना नहीं था। इस बार मुझे १७ दिन तक भूख-हड़ताल करनी पड़ी थी, उस वक़्तकी स्वास्थ्य-अवस्था इस प्रकार थी :

दिन	वजन	नब्ज	हृदयगति	तापमान	विशेष
१	..	..	..		
२	..	..	..	..	..
३	१७४	..	..	..	..
४	१७२	..	..	..	भूख मर गई
५	१६८	..	..	..	..
६	१६६	..	..	..	थोड़ी कमज़ोरी, रुधिर-दवाव कम
७	१६५	..	..	..	..
८	१६४	..	..	..	..
९	..	..	..	..	कंठमें दर्द
	..	६६	१७	..	
१०	१६१	..		..	..
११	१६०॥।	..	..	..	कमजोरी, झुनझुनी, छातीमें दर्द, खुजली
			..	..	निरुत्साह, निद्रालुता

१२	१६०॥	६४	२०	६६°.२	दम घुटना, दाहिनी छातीमें दर्द, उन्निद्रता, मुंह कड़वा
१३	१६०	६४	२२	६६°.२	सिर-दर्द, निद्रालुता, गम्भीर निद्रा नहीं, पेशाबमें एसीटोन, कमजोरी, सिरमें भुनभुनी, दमघुटना
१४	१५६	६८	१८	६६°.८	सिरमें अधिक भुनभुनी, छातीमें दर्द, खुजली, एसीटोन, पेटमें बेकली, उन्निद्रता
१५	१५८	६२	१८	६६°.४	दमघुटना, छाती दर्द, सिरमें भुनभुनी, एसीटोन
१६	१५७	६२	२१	६६	
१७	१५६	६७	१८	..	८ बजे उपवास तोड़ा

अगले दिन (२५ जून) सवेरे भीतर एक नम्बरके वार्ड (हाते) में साथियोंके पास गया। नागार्जुन, जलील, मजहर सब यहीं थे। सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब आये, उपवास तोड़ देनेकेलिए बहुत लेक्चर देते रहे। शायद उनको नहीं मालूम था, कि मैं उनसे अच्छा लेक्चर दे सकता हूँ। चौदह वर्ष बाद मुझे हजारीबाग जेलमें आनेका मौका मिला। उस बार भी दो सालकी सजा लेकर आया था, और इसकी बार भी दो सालकी ही—मैं जमानत नहीं देने जा रहा था। उस बार मैंने अपने जेलका सारा समय गम्भीर अध्ययनमें बिताया था। यहीं मैंने "बाईसवीं सदी" और १६ और पुस्तक लिखी, जिनमें बहुत सी प्रेसमें जानेसे पहिले ही लुप्त हो गईं। अगले दिन (२६ जून) फिर सुपरिन्टेन्डेन्टने अपना सरगम सुनाया। डाक्टरोंकी इस हिदायतको मैं माननेकेलिए तैयार था, कि पेटके भीतर ज्यादासे ज्यादा पानी जाना चाहिए, ताकि अंतड़ियाँ खराब न हों। पाँचवें दिन (२७ जून) मैंने सोडा और पानीके सिवा किसी तरहकी दवाईको लेनेसे इनकार कर दिया। फिर जबरदस्ती नाकसे दूध देनेकी तैयारी होने लगी। इसलिए छठें दिन (२८ जून) मैंने प्रधान मन्त्रीको तार दिया, कि जबर्दस्ती खिलानेको रोकें, क्योंकि मुझे असह्य पीड़ा होती है, मैं शांतिसे मरना चाहता हूँ। किताबोंका पढ़ना तो १२वें दिन तक जारी रहा और मैं आठ-आठ दस-दस घंटे पढ़ता रहता था। ७वें दिन तक बैठने, खड़े होनेमें अवलम्बकी जरूरत नहीं थी। हाँ, मैं ज्यादा चल नहीं सकता था। आठवें दिन (३० जून) पर्यानन्द जी और अनिमित्र साल-साल भरकी सजा लेकर आ गए। उस दिन कंठमें कुछ दर्द रहा। मैं अस्पतालमें था। अगले दिन इन दोनों साथियोंने भी उपवास शुरू कर दिया।

मुझे मालूम हो गया था, कि दवाके बहाने डाक्टर कोई शक्तिवर्धक चीज दे देते हैं, इसलिए मैं सिर्फ शुद्ध पानी लेता था, जिसमें सोडा अपने हाथसे डालता था।

११वें दिन मैंने डायरीमें लिखा था—"वजन १६०॥, पौंड कमजोरी मालूम हो रही है, उत्साह कम। निद्रालुता अधिक। दोपहरको भी सोए। बदनमें कहीं दर्द नहीं। खुजली अधिक। मालूम होता है, गवर्नमेंटने तै किया है—माँगोंकी उपेक्षा करो, हालत अवतर हो तो छोड़ दो....। रातको ९ बजे तक पढ़ते रहे। अबकी बार बलका ह्रास बहुत धीरे-धीरे हो रहा है। *पिछली बार आठ दिनसे पढ़ना बन्द रहा।* अबकी बार आज भी पढ़नेमें दस-दस घंटा लगानेमें दिक़्क़त नहीं। बदन थोड़ा सिहरता है।" पन्द्रहवें दिन (७ जूलाई) में २२ पौंड कम हो गया। साँस लेनेमें दम घुटता सा मालूम होता था। छातीमें दर्द अधिक, सिरमें झुनझुनी थी और पेशावमें एसीटोन अधिक। उस दिन १० बजे मिस्टर अंगर (इंस्पेक्टर-जनरल) आए। मैंने कहा—*हम दोनों पुराने दोस्त है, विशेष कहने-सुननेकी जरूरत नहीं। सुपरिन्टेन्डेन्ट* साहबने कहा, कि उपवास तोड़ दें, तो सरकार आपकी बात सुनेगी। मैंने कहा—यदि मैं बच्चा होता, तो बगलवाले (लड़कोंके) जेलमें भेजा गया होता। ८ जुलाईसे कार्यानन्दजी और अनिलको जबर्दस्ती दूध पिलाया जाने लगा। जबर्दस्ती मुझे नहीं पिलाया गया, इसकेलिए मुझे कांग्रेसी सरकारका कृतज्ञ होना चाहिए। १६वे दिन भी मैं बराँडेमें दो घंटा कुर्सीपर बैठा रहा। उपवासका १७वाँ दिन था। सवेरे ही सुपरिन्टेन्डेन्ट साहबने आकर खबर दी, कि सरकारने आपको जेलसे छोड़ दिया है। मैंने कहा—अच्छी बात, ले चलिए मुझे बाहर, देखें कबतक सरकार इस तरह खेल खेलती रहती है।

३८० घंटेके उपवासके बाद सुपरिन्टेन्डेन्टके बँगलेपर उस दिन अनारके रससे उपवास तोड़ा। दोपहरके बाद वह हजारीबागके अस्पतालमें पहुँचा आए और मैं चार दिन वहीं रहा। १२ जुलाईको मुझे साधारण भोजन मिला। पहिली बार उपवासके बाद ज्यादा भूख लगी थी, लेकिन अबकी भूख नहीं मालूम होती थी। १४ जुलाईको पटना पहुँचा। किसान सभाके आफ़िसमें मालूम हुआ कि बिहारके हर जिलेमें किसानोंने अपने खेतोंको हाथसे न जाने देनेका निश्चय कर लिया है, सिर्फ़ गया जिलेमें ५०से अधिक ग्रामोंमें सत्याग्रह छिड़ा हुआ है।

१६ जुलाईको—मैं चाहता था कि फिर पाँच-सात दिन डाक्टर सियावरशरण के यहाँ जाकर रहूँ, लेकिन इसी वक्त बम्बईसे खबर आई, कि वार्तिकालंकारको वहाँका भारतीय विद्याभवन छपवाना चाहता है। अभी मेरा स्वास्थ्य इतना

१२	१६०॥	६४	२०	६६°.२	दम घुटना, दाहिनी छातीमें दर्द, उनिद्रता, मुँह कड़वा
१३	१६०	६४	२२	६६°.२	शिर-दर्द, निद्रानुता, गम्भीर निद्रा नहीं, पेशावमें एसीटोन, कमजोरी, शिरमें झुनझुनी, दमघुटना
१४	१५६	६८	१८	६६°.८	शिरमें अधिक झुनझुनी, छातीमें दर्द, खुजली, एसीटोन, पेटमें बेकली, उन्निद्रता
१५	१५८	६२	१८	६६°.४	दमघुटना, छाती दर्द, शिरमें झुनझुनी, एसीटोन
१६	१५७	६२	२१	६६	..
१७	१५६	६७	१८	..	८ बजे उपवास तोड़ा

अगले दिन (२५ जून) सवेरे भीतर एक नम्बरके वार्ड (हाते) में साथियोंके पास गया। नागार्जुन, जलील, मजहर सब वहीं थे। सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब आये, उपवास तोड़ देनेकेलिए बहुत लेक्चर देते रहे। शायद उनको नहीं मालूम था, कि मैं उनसे अच्छा लेक्चर दे सकता हूँ। चौदह वर्ष बाद मुझे हजारीबाग जेलमें आनेका मौका मिला। उस बार भी दो सालकी सजा लेकर आया था, और अबकी बार भी दो सालकी ही—मैं जमानत नहीं देने जा रहा था। उस बार मैंने अपने जेलका सारा समय गम्भीर अध्ययनमें बिताया था। यहीं मैंने "बाईसवीं सदी" और १६ और पुस्तक लिखी, जिनमें बहुत सी प्रेसमें जानेसे पहिले ही लुप्त हो गईं। अगले दिन (२६ जून) फिर सुपरिन्टेन्डेन्टने अपना सरमन सुनाया। डाक्टरोंकी इस हिदायतको मैं माननेकेलिए तैयार था, कि पेटके भीतर ज्यादासे ज्यादा पानी जाना चाहिए, ताकि अंतड़ियाँ खराब न हों। पाँचवें दिन (२७ जून) मैंने सोडा और पानीके सिवा किसी तरहकी दवाईको लेनेसे इनकार कर दिया। फिर जबरदस्ती नाकसे दूध देनेकी तैयारी होने लगी। इसलिए छठें दिन (२८ जून) मैंने प्रधान मन्त्रीको तार दिया, कि जबर्दस्ती खिलानेको रोकें, क्योंकि मुझे असह्य पीड़ा होती है, मैं शान्तिसे मरना चाहता हूँ। किताबोंका पढ़ना तो १२वें दिन तक जारी रहा और मैं आठ-आठ दस-दस घंटे पढ़ता रहता था। ७वें दिन तक बैठने, खड़े होनेमें अवलम्बकी जरूरत नहीं थी। हाँ, मैं ज्यादा चल नहीं सकता था। आठवें दिन (३० जून) यदुनन्दन जी और अनिल मित्र साल-साल भरकी सजा लेकर आ गए। उस दिन कंठमें कुछ दर्द रहा। मैं अस्पतालमें था। अगले दिन इन दोनों साथियोंने भी उपवास शुरू कर दिया।

मुझे मालूम हो गया था, कि दवाके बहाने डाक्टर कोई शक्तिवर्धक चीज दे देते हैं, इसलिए मैं सिर्फ शुद्ध पानी लेता था, जिसमें सोडा अपने हाथसे डालता था।

११वें दिन मैंने डायरीमें लिखा था—"वजन १६०॥, पौंड कमजोरी मालूम हो रही है, उत्साह कम। निद्रालुता अधिक। दोपहरको भी सोए। बदनमें कहीं दर्द नहीं। खुजली अधिक। मालूम होता है, गवर्नमेंटने तै किया है—माँगोंकी उपेक्षा करो, हालत अवतर हो तो छोड़ दो....। रातको ९ बजे तक पढ़ते रहे। अबकी बार बलका ह्रास बहुत धीरे-धीरे हो रहा है। पिछली बार आठ दिनसे पढ़ना बन्द रहा। अबकी बार आज भी पढ़नेमें दस-दस घंटा लगानेमें दिक़्क़त नहीं। बदन थोड़ा सिह-रता है।" पन्द्रहवें दिन (७ जुलाई) में २२ पौंड कम हो गया। साँस लेनेमें दम घुटता सा मालूम होता था। छातीमें दर्द अधिक, सिरमें झुनझुनी थी और पेशाबमें एसीटोन अधिक। उस दिन १० बजे मिस्टर अंगर (इंस्पेक्टर-जनरल) आए। मैंने कहा—हम दोनों पुराने दोस्त है, विशेष कहने-सुननेकी जरूरत नहीं। सुपरिन्टेन्डेन्ट साहबने कहा, कि उपवास तोड़ दें, तो सरकार आपकी बात सुनेगी। मैंने कहा—यदि मैं बच्चा होता, तो बगलवाले (लड़कोंके) जेलमें भेजा गया होता। ८ जुलाईसे कार्यानन्दजी और अनिलको जबर्दस्ती दूध पिलाया जाने लगा। जबर्दस्ती मुझे नहीं पिलाया गया, इसकेलिए मुझे काग्रेसी सरकारका कृतज्ञ होना चाहिए। १६वें दिन भी मैं बरांडेमें दो घंटा कुर्सीपर बैठा रहा। उपवासका १७वाँ दिन था। सवेरे ही सुपरिन्टेन्डेन्ट साहबने आकर खबर दी, कि सरकारने आपको जेलसे छोड़ दिया है। मैंने कहा—अच्छी बात, ले चलिए मुझे बाहर, देखें कबतक सरकार इस तरह खेल खेलती रहती है।

३८० घंटेके उपवासके बाद सुपरिन्टेन्डेन्टके बँगलेपर उस दिन अनारके रससे उपवास तोड़ा। दोपहरके बाद वह हजारीबागके अस्पतालमें पहुँचा आए और मैं चार दिन वहीं रहा। १२ जुलाईको मुझे साधारण भोजन मिला। पहिली बार उपवासके बाद ज्यादा भूख लगी थी, लेकिन अबकी भूख नहीं मालूम होती थी। १४ जुलाईको पटना पहुँचा। किसान सभाके आफ़िसमें मालूम हुआ कि बिहारके हर जिलेमें किसानोंने अपने खेतोंको हाथमें न जाने देनेका निश्चय कर लिया है, सिर्फ गया जिलेमें ५०से अधिक ग्रामोंमें सत्याग्रह छिड़ा हुआ है।

१८जुलाईको—मैं चाहता था कि फिर पाँच-सात दिन डाक्टर सियावरशरण के यहाँ जाकर रहूँ, लेकिन इसी वक्त वम्बईसे खबर आई, कि वार्तिकालंकारको वहाँका भारतीय-विद्याभवन छपवाना चाहता है। अभी मेरा स्वास्थ्य इतना

अच्छा नहीं था, कि गाँवोंमें घूमूँ फिरूँ; इसलिए सोचा कि इस समयको इसी काममें लगा दिया जाय। बनारस-प्रयाग होते २१की रातको बम्बई पहुँचा। किसी परिचितका पता नहीं लगा सका, इसलिए मैं एक होटलमें ठहर गया। अगले दिन पता लगाकर अँधेरी गया। पंडित जयचन्द्र विद्यालंकार मिले, उन्होंने ही प्रकाशनकेलिए बातचीत शुरू की थी। बीचमें तीन दिन बुखार आ गया। नवनवालोंने ढाई रुपया प्रतिपृष्ठ पारिश्रमिक देनेकेलिए लिखवाया था। अब वह मोल-तोल करने लगे। मैंने कहा—मैं मुफ्त भले ही दे सकता हूँ, लेकिन मोलभाव करनेकेलिए नहीं आया हूँ। प्रकाशनका इंतिजाम नहीं हो सका, और मैं ३० जुलाईको बम्बईसे रवाना हो गया। प्रयाग, सारनाथ होते २को बनारस गया। रायकृष्णदासजी छातीसे लगाकर मिले—पतित का स्वागत। अगले दिन (३ अगस्त) को मैं छपरा पहुँच गया।

६ अगस्तको प्रान्तीय किसान कौंसिलकी बैठक पटनामें हुई। मैं भी वहाँ गया था। मेरे पहिली बार जेलमें जानेके बाद पंडित बाँकेबिहारी मिश्रने अध्यापकी छोड़कर किसानोंमें काम करना शुरू किया था। वह बड़ी लगनसे काममें जुट गए थे। छितौलीके किसानोंके झगड़ेके फैसलेके लिए जो कमेटी बनी थी, उसमें वह किसानोंके प्रतिनिधि थे। मालूम हुआ कि पंचायतने दो सौ बीघेसे अधिक खेत किसानोंको दिया। छितौली और यमुना भगतके सम्बन्धमें दो लेख "जनता" केलिए लिखे।

१५ अगस्तको अमलोरी (सीवान) गाँवमें किसानोंकी एक सभा थी। यहाँके जमींदार विद्यासिंहके जुल्म और मायाके मारे आस-पासके दस गाँवोंमें किसीके पास खेत नहीं रह गया था। उनकी इतनी तरी हुई थी, कि राह चलते मुसाफिरको भी जुर्माना लिए बिना छुट्टी नहीं देते। रुपएका ५ सेर रखसोंसे घी ही नहीं लिया जाता, बल्कि किसानोंसे रुपया लेकर हाथी कीना गया था। हरी-बेगारी और दूसरे कितने ही नाजायज कर सतयुगकी तरह आज भी चल रहे थे। अमवारी और छितौलीके सत्याग्रहोंने बहुत जगहके दबे हुए किसानोंको उभार दिया था। यहाँकी सभामें ८ हजारसे अधिक किसान एकत्र हुए थे। विद्यासिंह के अत्याचारोंके विरुद्ध प्रस्ताव पास किया गया। सभामें गड़बड़ी डालनेकेलिए एक निर्लज्ज औरतको भेजा गया था, किन्तु वह अकेली क्या कर सकती थी। सभा बहुत अच्छी तरह हुई। सभा खतम होनेके बाद हम लोग स्टेशनकी ओर जा रहे थे, गाँवके सामनेसे जगासा आगे निकलते ही एक ढेला आकर मेरी बगलमें गिरा। घूम कर देखा (तो एक नौजवान दिखाई पड़ा, पीछे पता लगा कि वह विद्यासिंहका साला है) पकड़ा गया और एकाध थप्पड़ लगाकर छोड़ दिया गया। इस स्टेशनपर पर्चे

गये। वहाँ विद्यासिंहके बहुतसे आदमी लाठी लेकर आये, लेकिन किसान भी अपनी लाठी लिए खड़े थे। कहनेपर भी वह तब तक जानेकेलिए तैयार नहीं हुए, जब तक कि हमारी गाड़ी वहाँसे रवाना नहीं हुई। मैं मारकाट पसन्द नहीं करता था, लेकिन हिंसक जमींदारोंको कौन रोक सकता था। फिर किसानोंको लाठी रख देनेकेलिए कहना अहिंसा नहीं कायरताका प्रचार करना था। मैं ऐसी कायरताको पसन्द नहीं करता। जमींदारके आदमी फिर अपने गाँवके किसानोंपर टूट पड़े और उन्हें खूब पीटा। गरीबोंका हित करनेकेलिए गए हुए काँग्रेसी मंत्री चुप रहे। विद्यासिंह बड़े धर्मात्मा थे, उन्होंने एक सिद्ध—कच्चा बाबा—केलिए बँगला बनवा दिया था, घोड़ा ले दिया था।—इससे इतना धर्म होगा कि १२ गाँवोंके लोगोंपर अत्याचार करनेसे जो पाप हो रहा था वह सब धुल जायगा। पाठकोंको शायद ख्याल होगा, कि मैं इन अत्याचारियोंको हजार वर्षोंकेलिए अमर कर रहा हूँ। मुझे विश्वास नहीं है कि यह पुस्तक हजारों वर्ष तक रहेगी, यदि रही तो भविष्यके हमारे उत्तराधिकारियोंकेलिए इससे बहुत सी बातें मालूम होंगी। रही अत्याचारियोंके अमर होनेकी बात, सो तो उन्हें कोई जानेगा भी नहीं। उनके अपने वंशज भी अपने पूर्वजोंका नाम लेनेमें शरम महसूस करेंगे।

१६ अगस्तको मैं छितौली गया। वर्षा हो रही थी, तो भी दो हजार किसान जमा हुए थे। लोगोंमें बहुत उत्साह था। अशर्फीसाहु अब भी पंचायतके फ़ैसलेको माननेकेलिए तैयार नहीं, और दीवानी मुकदमा लड़ना चाहते थे।

कुरबानके ऊपर सरकारने मुकदमा चलाया था, मैं उसमें गवाही देनेकेलिए गया। मैं सोचता था—कुरबानका क्या कसूर; लाठी उसने नहीं चलाई, उसके मालिकने चलवाई, फिर उसे जेलकी यातना दिलवानेसे क्या फ़ायदा। २९ अगस्तको मुकदमेकी तारीख थी। मैंने उस दिन अदालतमें जाकर दरख्वास्त देदी, कि कुरबानको छोड़ दिया जाय; मैं नहीं चाहता कि उसपर मुकदमा चलाया जाय। लोगोंको आश्चर्य तो हुआ, मुझको इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं मालूम हुई। आखिरमें कुरबानको छोड़ देना पड़ा।

३

एक और नये जीवनका आरंभ (१९३९-४०)

पहिली सितम्बरको रेडियोंसे पता लगा, कि जर्मनीने पोलैंडके ऊपर आक्रमण कर दिया। ३ सितम्बरको ग्यारह बजे दोपहरको इंगलैंडने भी जर्मनीके विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हो गया। अब मुझे ज्यादा दिनों तक जेलसे बाहर रहनेकी उम्मेद नहीं थी, इसलिये कोई स्थायी प्रोग्राम भी सामने नहीं रखा जा सकता था। १६, १७ सितम्बरको प्रान्तीय किसान कौंसिलकी पटनामें बैठक हुई। दो सौ कार्यकर्त्ता एकत्रित हुए थे। हम लोगोंने आगेके प्रोग्रामकेलिए कुछ निश्चय किया, यह ख्याल करते हुए कि कांग्रेस इस साम्राज्यवादी युद्धसे फायदा उठायेगी। १७ को ही रेडियोसे पता लगा कि आज सवेरे ६ बजे लालसेनाने उक्रइन और बेलोरसिया की अपनी खोई धरतीको लेनेकेलिए आगे कदम बढ़ाया। दूसरे दिन यह भी पता लगा, कि लालसेना ६० मील आगे बढ़ गई और तीसरे दिन उसने अपनी सारी धरती वापिस कर ली।

अक्तूबरके दूसरे हफ्तेमें वर्धामें कांग्रेसकमेटी और कार्यकारिणीकी बैठक थी। वहाँ हिन्दुस्तानके कम्यूनिस्ट भी इकट्ठा होनेवाले थे। कम्युनिस्टपार्टी गैरकानूनी थी, लेकिन कांग्रेसी सरकारोंके जमानेमें कड़ाई कम हो गई थी। मैं भी उसमें सम्मिलित होनेकेलिए वर्धा पहुँचा। सुनील मुकर्जी और मैं दोनों ही पटनासे एक साथ गये। गोपीचन्दकी धर्मशालामें ठहरे। एक भोजनालयमें जब हम भोजन करनेकेलिए जाने लगे, तो आदमीने कहा—यह ढेड़ (चमार) का होटल है। मैंने कहा, हम भी तुम्हारी बिरादरीके हैं, और वहाँ जाकर भोजन किया। कांग्रेसका दक्षिण-पक्ष अंग्रेजोंके साथ समझौता करनेकेलिए तुला था और वामपक्ष जनसंघर्ष चाहता था। आखिर अंग्रेज साम्राज्यवादियोंने वह थोड़ी बातें भी नहीं स्वीकार की, जिनको पाकर दक्षिणपक्ष सुलहके लिए तैयार था। १९३८ में सिक्कमसे लौटनेपर कलकत्तेमें श्री सरदेव साहाके प्रयत्नसे मुजफ्फरअहमद, बंकिम मुकर्जी, भवानीसेन, सोमनाथ लाहिड़ी, रणेनसेन, अब्दुल हलीम जैसे भारतके प्रमुख कम्युनिस्टोंसे मुझे मिलनेका मौका मिला। बरसोंसे जिस पार्टीको मैं अच्छा समझता था, और जिसके बारेमें बहुतसी किताबें पढ़ी थीं, उसे वर्धामें अपनी आँखोंके सामने देखा। लोगोंकी संख्या ३० से अधिक नहीं थी। उनमें पंजाबी, मराठी, मद्रासी, बंगाली, युक्तप्रान्तीय सभी

प्रमुख कम्युनिस्ट एकत्रित थे। हमारे प्रान्त (बिहार) में पार्टी कायम नहीं हुई थी, लेकिन हम दोनों पार्टीके थे। हिन्दुस्तान और बाहर भी व्यक्तिगत तौरसे कुछ कम्यूनिस्टोंसे मैं मिला था, लेकिन वहाँ अब्दुल मोमिन आदि प्रमुख कम्युनिस्ट नेताओंसे व्यक्तिके तौरपर मिलाया था, और यहाँ मिल रहा था पार्टीके तौरपर। मैंने उन्हें देखा। मैं गुण-दोषको आदर्शके तौरपर नहीं, व्यवहारके तौरपर देखता हूँ। मुझे यहाँ एकत्रित हुए कम्युनिस्टोंको देखकर बहुत प्रसन्नता और उत्साह प्राप्त हुआ। न वहाँ प्रान्त-भेद था, न धर्म-भेद। वह सभी सगे भाईकी तरह थे, बिना संकोचके अपने भावोंको एक दूसरेके सामने रख सकते थे। रातरात भर राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओंपर विचार होता रहा। वह पहिला दिन था। हो सकता है, नई चीजका दर्शन बहुत मधुर होता है; लेकिन मैंने पीछे भी उसे वैसा ही पाया। जीवनके बहुत लम्बे समयको मैंने साधु, महात्मा तथा विद्वानोंमें बिताया था, जो कि जबर्दस्त व्यक्तिवादी होते हैं। अपनी वैयक्तिक रुचि और पक्षपातकेलिए वह सारे समाज और भविष्यको भाड़में झोंकनेकेलिए तैयार हो जाते हैं। उनके संसर्गका मुझपर क्या प्रभाव पड़ा, इसे मैं ठीकसे खुद नहीं कह सकता; लेकिन एक बात निश्चित है—मुझे व्यक्तिके अलग-थलग जीवनकी अपेक्षा समष्टिका सामूहिक जीवन सदा ही अधिक पसन्द रहा। राजनीतिक कामोंमें पड़नेके बाद तो मुझे और पता लगने लगा कि एक चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। क्रान्तिके संचालनकेलिए जबर्दस्त सुसंगठित सेना होनी चाहिए। मैंने कम्युनिस्ट पार्टीको उसी रूपमें पाया। मुझे स्तालिनके ये वाक्य बहुत सच्चे मालूम होने लगे— "इससे बढ़कर कोई सम्मान नहीं हो सकता कि आदमी इस सेना (पार्टी) का सदस्य हो। इससे बढ़कर कोई पदवी नहीं हो सकती, कि कोई पार्टीका आदमी बनाया जाय, (नेत् निचेवो व्हीशे, काक् चेस्त प्रिनाद्लेज्हात् क एतोइ आर्मिइ। नेत् निचेवो व्हीशे, काक् ज्वानिये च्लेन पार्तिइ)। यहाँ वह जीवन था, जिसको देखकर आदमी अपने पार्टीकेलिए, अपने पार्टी-बन्धुकेलिए खुशी-खुशी जान दे सकता है। यहाँ वह ऐसे संगठनको देखता है, जिससे वह विश्वास कर सकता है कि जिस आदर्शकेलिए मैं अपने जीवनको दे रहा हूँ, उसके पूरा करनेकेलिए सदा तरुण रहनेवाली एक सेना मौजूद है।

वर्धामें लौटते हुए १६ को बनारस पहुँचा। उस वक्त वहाँ हिन्दी साहित्यसम्मेलनका अधिवेशन हो रहा था। हिन्दी-हिन्दुस्तानीका झगड़ा खड़ा था। लोग हिन्दुस्तानीका विरोध कर रहे थे, मैं भी विरोधी था, लेकिन हिन्दू संस्कृति और हिन्दू नामके

धर्मपर नहीं, बल्कि दो विस्तृत और सुविकसित साहित्योंको एक नकली भाषाके द्वारा एक करनेका प्रयत्न मुझे बिल्कुल लड़कपन मालूम होता था। मैं पहिले लिख चुका हूँ कि हिन्दुस्तानीके पक्षपाती यदि एक बार पन्त और इकबालकी कविताओंको साथ-साथ रखकर जरा उन्हें समझनेकी तकलीफ़ करें, तो मालूम होगा कि दोनोंके समझनेकेलिए इस अधकचरी हिन्दुस्तानीसे कोई काम न बनेगा। मैं समझता हूँ, भाषाओंका सवाल दाढ़ी-चोटियोंके मिलानेसे नहीं हल होगा, उसे जड़से मिलाकर ही, हम हल कर सकते हैं। और जड़ है हमारी मातृभाषाएँ, गवारूँ, असाहित्यक कहकर जिनकी अवहेलना की जाती है। हिन्दी उर्दूवाले एक दूसरेसे बातचीत कर सकें, साधारण भावोंको समझा सकें, इसकेलिए मैं जरूर चाहता था कि हिन्दी पढ़नेवाले विद्यार्थियोंको अपने ही अक्षरोंमें दो-चार पाठ उर्दूके भी दे दिये जायँ, वही बात उर्दूकेलिए भी की जाय। मैंने भी वहाँ ४,५ मिनट कहा। मेरे कितने ही साहित्यक मित्रोंने मुझे कुर्त्ते-धोतीमें देखा।

१८ अक्तूबरको छपरा पहुँचा। वहाँ लोलाका पत्र मिला। मैंने लड़केका नाम "अग्नि" (रूसी—ओगोन) लिखकर भेजा था। लोलाने पत्र में अफसोस किया कि नाम ईगर रखा जा चुका है, लेकिन मैं इस नामको आगेकेलिए सुरक्षित रख रही हूँ। यह भी पता लगा कि ईगर ५ सितम्बरको (१९३८)को लेनिनग्रादमें पैदा हुआ, वह अठमासा शिशु था। पहिले बहुत कमजोर लेकिन ११ महीनेका फ़ोटो जो मेरे पास आया था, उसमें बहुत हट्टा-कट्टा था। लोलाने हरेक माताकी तरह अपने बच्चेके गुणोंकी तारीफ़के पुल बाँधे थे—बहुत सुन्दर है, बहुत स्वस्थ है, बहुत गम्भीर है, रोता नहीं है, इत्यादि। मैंने एक बार इसपर कुछ मज़ाक किया था, तो उसने लिखा कि अपनी आँखसे देखते तब मालूम होता।

१. पार्टी मेम्बर—कई बातोंका ख्यालकर बिहारमें अभी कम्युनिस्ट पार्टी नहीं कायम हुई थी। इसका एक प्रधान कारण यह था, कि पार्टी-केन्द्र जयप्रकाश बाबूसे बिगाड़ नहीं करना चाहता था, उसकी नीति थी, कि सभी वामपक्षी समाजवादियोंकी एकता कायम रहे। लेकिन जैसे-जैसे पार्टी-मेम्बरों और उनका प्रभाव अधिक बढ़ता गया, वैसे-वैसे कांग्रेस-समाजवादी नेताओंको भय मालूम होने लगा—अन्तमें बिहारमें भी पार्टीकी स्थापनाका निश्चय करना पड़ा। १६ अक्तूबर वह स्मरणीय दिवस है, जब कि मुंगेरमें बिहारकी कम्युनिस्ट पार्टीकी स्थापना हुई। मैं एक और साथीके साथ वहाँ पहुँचा। दूसरे जिलोंके भी कितने ही साथी आए थे। सब मिलाकर १६,१७ तरुण थे। कामरेड भरद्वाज पार्टी-केन्द्रसे इस कामके लिए आये थे। उन्होंने दो दिन

(१६,२० अक्तूबर) पार्टीकी कार्यव्यवस्था और नीतिके बारेमें समझाया। वर्धामें भी मैंने अच्छी वक्तृताऐं सुनी। लेकिन यहाँ उन्हें और समीपताके साथ सुननेका मौका मिला। सभी तरुणोंमें उत्साह था। अनुशासन-रहित भीड़का सेनापति होनेकी जगह अनुशासनबद्ध सेनाका एक साधारण सैनिक होना ज्यादा अच्छा है, क्योंकि वहाँ अधिक सफलताकी सम्भावना है। खुफ़िया-पुलिस पूरी तौरसे सजग थी। २० तारीखको हम लोग मुंगेरसे अपनी अपनी जगहोंको लौटे। २४वीं अक्तूबरको पता लगा, कि ३० तारीखको कांग्रेस मंत्रिमण्डल इस्तीफ़ा देने जा रहा है, क्योंकि युद्धके कारण केन्द्रीय सरकार और गवर्नर मन्त्रिमंडलसे पूछे विना ही जो चाहते हैं, कर डालते हैं। कांग्रेस इस अपमानजनक स्थितिमें नहीं रहना चाहती।

कम्युनिस्टोंकेलिए किसी वक्त भी वारन्ट निकल सकता था। यद्यपि सरकारको यह प्रमाण देना सम्भव नहीं था, कि अमुक गैरकानूनी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टीका मेम्बर है। लेकिन उसके पास बहुत बड़ा हथियार "भारत रक्षा कानून" था, वह विना मुकदमाके ही जिसे चाहती उसे अनिश्चित काल तक केलिए जेलमें नजरबन्द कर सकती थी। साथियोंकी राय हुई कि मैं कुछ दिनोंकेलिए अन्तर्धान हो जाऊँ।

२. **अन्तर्धानके दो मास**—चौबीसो घंटे मेरे पीछे खुफिया पुलिस लगी रहती थी। कांग्रेस सरकारके वक्त भी खुफिया-विभाग केन्द्रीय सरकारकी मातहत था। उस वक्त भी सरकारी गुप्तचर मेरे साथ घूमा करते थे, अब तो कुछ कहना ही नहीं। नवम्बरके प्रथम सप्ताहमें मैं छपरामें था। स्टेशनसे सीधे जानेपर तो खुफिया पीछे लग जाती। गोरखपुर जानेवाली ट्रेन रातको छपरा कचहरी स्टेशनपर खड़ी थी। एक साथीने तहसील देवरियाका टिकट ला दिया और मैं रातके वक्त भेष बदलकर प्लेटफार्मके दूसरी ओरसे गाड़ीपर बैठ गया। देवरियामें एक अदृष्ट मित्रके पास गया। वहाँ दो हफ़्तेके करीब रहा। मैं छिपके रह रहा था, लेकिन तब भी धीरे-धीरे कितने आदमियोंको पता लगा और मेरे पास पहुँचने लगे। अब मैं बहुत दिनों तक वहाँ नहीं रह सकता था।

मलाँवमें—कुछ शताब्दियों पूर्व हमारे प्रथम पूर्वज (गयाधर) मलाँवसे चलकर चकर पानपुर आए। और कुछ पीढ़ियों बाद उनमेंसे एक (इच्छा-पांडे) कनैलामें बस गये। मलाँवके बारेमें जब-तब मैं कुछ सुनता रहता था। इतिहास-प्रेमके कारण मेरी इच्छा होती थी कि किसी दिन मलाँव चलकर देखूँ। मैं एक मित्रको लेकर

लिए रवाना हुआ। गोरखपुर तक रेलसे गया, फिर वहाँसे इक्का और मोटरसे जाकर मलाँवके सामने उतरा। एक छोटी सी धार पार करनेके पहिले सामानको पासके गाँवमें रख दिया। मैं इस वक्त सिर्फ एक बार मलाँवको देखकर तुरन्त लौट आना चाहता था, इसी ख्यालसे सामान अपने साथ नहीं ले गया। परेजा (सारन)के मेरे एक परिचित मलाँवमें बहुत दिनों तक पोस्टमास्टर रहे। वह पंडित शिवपूजन पाँडेके यहाँ रहा करते थे। मेरे बारेमें बहुत पहिले मलाँवके बन्धुओंको कुछ पता था। मैं वहाँ शैलेशकुमारके घरपर गया। यह मलाँवके एक बहुत संपन्न जमींदार हैं, लेकिन मैं जमींदार नहीं बन्धुके नाते वहाँ गया था। घरपर मालिक कोई नहीं था, लेकिन नाम मालूम होते ही नौकर-चाकरोंने बड़े सम्मानसे बैठकखानेमें बैठाया। शैलेश और उनके भाई किसी दूसरे गाँवमें गये थे, उनके पास आदमी भेज दिया गया। भोजनका वक्त था। मैंने वहीं भोजन ला देने के लिए कहा। शैलेशकी दादी—जिनके बारे में तब तक मुझे नहीं मालूम था कि मेरी भाभी लगेंगी—ने आग्रह किया, कि हमारे बन्धु होकर बाहर खाना कैसे खायेंगे। शायद उन्हें पता नहीं था कि मैं जाति, धर्म सब छोड़ चुका हूँ, हाँ, अपने पूर्वजोंके रक्तसे इन्कारी नहीं हूँ। खैर, घरमें जाकर भोजन किया। थोड़ी देर बाद शैलेश भी आ गये। अब तुरन्त लौटनेका सवाल नहीं था। मेरा सामान भी मँगवा लिया गया।

गाँव भरके लोगोंको मालूम होने लगा कि उनके कुलका अपने खान-पान सम्बन्धी एक आदमी आया हुआ है, जिसकी काफी प्रसिद्धि है। मैंने सोचा, इस समयका पूरा फायदा उठाना चाहिए और मलाँवके इतिहासकी सामग्री जमा करने लगा। कोठेपर रहनेका इन्तिजाम था। मलाँवने अपने पूर्वजोंके "धर्मको बहुत बातोंमें क़ायम रखा है, बहुत कम ऐसे पथभ्रष्ट हैं, जो मछली मांस नहीं खाते और शैलेशके यहाँ तो रोज ही मछली, मांस बना करता था। यह जाड़ोंके दिन थे। इस वक़्त साइबेरिया तककी चिड़ियाँ मलाँवके तालोंमें आती थीं, और रोज उनका शिकार होता था। खानेमें मुझे यदि शिकायत हो सकती थी, तो सिर्फ घी और मसालेकी; जिससे कि सुपच मांस दुष्पच बन जाता है; किन्तु यह तो सारे हिन्दुस्तानका रोग है। मेरा खाना अब कोठे ही पर आता था; मेजपर खाते वक्त देखा कि शैलेश और दूसरे भी शामिल हो जाते हैं। मैं मना कैसे करता? वह जानते थे लोगोंके बारेमें, यह देखते थे कि मेरे पास न चुटिया है न जनेऊ, तब भी यदि उन्हें उज्र नहीं था, तो मेरा कुछ कहना असभ्यता होती। उनकी बड़ी दादी क्या सोचती होंगी, इसे मैं नहीं कह सकता। शायद उन्हें मेरे बारेमें सारी

बातें मालूम न थीं। यह भी हो सकता है कि बन्धुस्नेहका पल्ला भारी हो। हाँ, मैंने जब उनसे मलाँवके रीतिरिवाजके बारेमें पूछा, तो वह बड़े स्नेहसे बतलाने लगीं कि किस तरह मलकबीर बाबाकेलिए हर पुत्रके जन्मके उपलक्ष्यमें एक छौना (सुअर-का बच्चा) चढ़ाना पड़ता, ब्याह-शादीमें कौन-कौनसे रिवाज बरते जाते हैं। वह उस वक्त ६० वर्षसे ऊपरकी होनेपर भी थोड़ासा घूंघट बढ़ाये रखती थी। शैलेशने कहा भी कि यहाँ घूंघटका क्या काम है। घूंघट कुछ कम हुआ, शायद वह बिल्कुल ही खतम हो जाता, यदि मालूम हो गया होता कि मैं उनका छोटासा देवर हूँ। मैंने मलाँवके इन चंद दिनोंके निवासमें बन्धुत्वका पूरा स्नेह पाया।

बचपनमें मैंने अहीरनृत्य देखा था। लेकिन उसके महत्त्वको तब तक नहीं समझ सका था, जब तक कि लेनिनग्रादमें वहाँके श्रेष्ठ कलाकारोंके नृत्यको मैंने नहीं देखा। उसे देखनेके बाद एकाएक बाल्यस्मृति जाग उठी और मेरा दिल बोल उठा—हमारे यहाँ भी एक श्रेष्ठ नृत्य है। भारत आनेपर छपरामें मैंने इस नृत्यके देखनेकी कोशिश की, लेकिन मालूम हुआ कि हमारे लोगोंने इसको "सभ्यता" का कलंक समझा और पिछले पच्चीस सालोंमें वह वहाँसे खतम हो चुका है। किसी चतुर मूर्तिकारकी अद्-भुत मूर्तिको तोड़े जाते देखकर जिस तरह एक कलाप्रेमीके दिलमें दुख होता है, उससे कम मेरे दिलमें नहीं हुआ। सारनाथमें मैंने इतिजाम किया था और चाहता था कि बनारसके कुछ शिक्षित भद्र पुरुष भी उसे देखें। लेकिन साम्प्रदायिक मारकाटने उसे होने नहीं दिया। यह नृत्य अधिकतर सिर्फ अहीर जातिमें था, मैंने बचपनमें देखा था, कि किस तरह नर-नारी दोनों उसमें भाग लेते हैं। कनैलामें जगमोहन मेरा रिश्तेमें भाई लगता है। जगमोहनकी शादी होने वाली थी, दरवाजेपर चमार नगाड़ा बजा रहा था और गाँवके कितने ही तरुण अहीर—शायद भर तरुण भी—नाच रहे थे। जगमोहनकी माँ किसी कामसे दरवाजेसे बाहर निकली। देवरोंने ललकारा कि यह बुढ़िया क्या नाचेगी—अभी वह बुढ़िया नहीं स्वस्थ प्रौढ़ा थी। वह देवरोंकी ललकारोंको कैसे चुपचाप सह लेती, अखाड़ेमें कूदकर उसने देवरोंको ललकारा—जिसकी हिम्मत हो वह आकर मेरे साथ नाचे। आये दो एक देवर। लेकिन वह अँगुली, आँख और पैर को आरामसे हल्के-हल्के हिलानेका नाच नहीं था, वह था अहीरोंका वीरनृत्य, जिसमें शरीरके एक एक अंगपर बल पड़ता है। एक एक अंगकी चर्बी मसली जाती है और आध घंटेमें ही पसीना छूटने लगता है। चाचीके सामने कई आये लेकिन सब आकर हारकर बैठ रहे। उसने गर्वपूर्ण दृष्टिपातके साथ अखाड़ा छोड़ा। मैंने ३० वर्ष पहिलेकी उस स्मृतिसे लेनिनग्रादके नृत्यकी तुलना की थी।

लिए रवाना हुआ। गोरखपुर तक रेलसे गया, फिर वहाँसे इक्का और मोटरसे जाकर मलाँवके सामने उतरा। एक छोटी सी धार पार करनेके पहिले सामानको पासके गाँवमें रख दिया। मैं इस वक्त सिर्फ एक बार मलाँवको देखकर तुरन्त लौट आना चाहता था, इसी ख्यालसे सामान अपने साथ नहीं ले गया। बरेजा (सारन)के मेरे एक परिचित मलाँवमें बहुत दिनों तक पोस्टमास्टर रहे। वह पंडित शिवपूजन पाँडेके यहाँ रहा करते थे। मेरे बारेमें बहुत पहिले मलाँवके बन्धुओंको कुछ पता था। मैं वहाँ शैलेशकुमारके घरपर गया। यह मलाँवके एक बहुत सपन्न जमींदार हैं, लेकिन मैं जमींदार नहीं बन्धुके नाते वहाँ गया था। घरपर मालिक कोई नहीं था, लेकिन नाम मालूम होते ही नौकर-चाकरोंने बड़े सम्मानसे बैठकखानेमें बैठाया। शैलेश और उनके भाई किसी दूसरे गाँवमें गये थे, उनके पास आदमी भेज दिया गया। भोजनका वक्त था। मैंने वहीं भोजन ला देने के लिए कहा। शैलेशकी दादी—जिनके बारे में तब तक मुझे नहीं मालूम था कि मेरी भाभी लगेंगी—ने आग्रह किया, कि हमारे बन्धु होकर बाहर खाना कैसे खायेंगे। शायद उन्हें पता नहीं था कि मैं जाति, धर्म सब छोड़ चुका हूँ, हाँ, अपने पूर्वजोंके रक्तसे इन्कारी नहीं हूँ। खैर, घरमें जाकर भोजन किया। थोड़ी देर बाद शैलेश भी आ गये। अब तुरन्त लौटनेका सवाल नहीं था। मेरा सामान भी मँगवा लिया गया।

गाँव भरके लोगोंको मालूम होने लगा कि उनके कुलका अपने रक्त-माँसका सम्बन्धी एक आदमी आया हुआ है, जिसकी काफी प्रसिद्धि है। मैंने सोचा, इस समयका पूरा फायदा उठाना चाहिए और मलाँवके इतिहासकी सामग्री जमा करने लगा। कोठेपर रहनेका इन्तिजाम था। मलाँवने अपने पूर्वजोंके "धर्मको बहुत बातोंमें क़ायम रखा है, बहुत कम ऐसे पथभ्रष्ट हैं, जो मछली मांस नहीं खाते और शैलेशके यहाँ तो रोज ही मछली, मांस बना करता था। यह जाड़ेके दिन थे। इस वक़्त साइबेरिया तककी चिड़ियाँ मलाँवके तालोंमें आती थीं, और रोज उनका शिकार होता था। खानेमें मुझे यदि शिकायत हो सकती थी, तो सिर्फ घी और मसालेकी; जिससे कि सुपच मांस दुष्पच बन जाता है; किन्तु यह तो सारे हिन्दुस्तानका रोग है। मेरा खाना अब कोठे ही पर आता था; मेजपर खाते वक्त देखा कि शैलेश और दूसरे भी शामिल हो जाते हैं। मैं मना कैसे करता? वह जानते थे सोलाके बारेमें, वह देखते थे कि मेरे पास न चुटिया है न जनेऊ, तब भी यदि उन्हें उज्र नहीं था, तो मेरा कुछ कहना अभद्रता होती। उनकी बूढ़ी दादी क्या सोचती होंगी, इसे मैं नहीं कह सकता। शायद उन्हें मेरे बारेमें सारी

बातें मालूम न थीं। यह भी हो सकता है कि बन्धुस्नेहका पल्ला भारी हो। हाँ, मैंने जब उनसे मलाँवके रीतिरिवाजके बारेमें पूछा, तो वह बड़े स्नेहसे बतलाने लगीं कि किस तरह मलकबीर बाबाकेलिए हर पुत्रके जन्मके उपलक्ष्यमें एक छौना (सुअर-का बच्चा) चढ़ाना पड़ता, ब्याह-शादीमें कौन-कौनसे रिवाज बरते जाते हैं। वह उस वक्त ६० वर्षसे ऊपरकी होनेपर भी थोड़ासा घूंघट बढ़ाये रखती थीं। शैलेशने कहा भी कि यहाँ घूंघटका क्या काम है। घूंघट कुछ कम हुआ, शायद वह बिल्कुल ही खतम हो जाता, यदि मालूम हो गया होता कि मैं उनका छोटासा देवर हूँ। मैंने मलाँवके इन चंद दिनोंके निवासमें बन्धुत्वका पूरा स्नेह पाया।

बचपनमें मैंने अहीरनृत्य देखा था। लेकिन उसके महत्त्वको तब तक नहीं समझ सका था, जब तक कि लेनिनग्रादमें वहाँके श्रेष्ठ कलाकारोंके नृत्यको मैंने नहीं देखा। उसे देखनेके बाद एकाएक बाल्यस्मृति जाग उठी और मेरा दिल बोल उठा—हमारे यहाँ भी एक श्रेष्ठ नृत्य है। भारत आनेपर छपरामें मैंने इस नृत्यके देखनेकी कोशिश की, लेकिन मालूम हुआ कि हमारे लोगोंने इसको "सभ्यता" का कलंक समझा और पिछले पच्चीस सालोंमें वह वहाँसे खतम हो चुका है। किसी चतुर मूर्तिकारकी अद्भुत मूर्तिको तोड़े जाते देखकर जिस तरह एक कलाप्रेमीके दिलमें दुख होता है, उससे कम मेरे दिलमें नहीं हुआ। सारनाथमें मैंने इंतिजाम किया था और चाहता था कि बनारसके कुछ शिक्षित भद्र पुरुष भी उसे देखें। लेकिन साम्प्रदायिक मारकाटने उसे होने नहीं दिया। यह नृत्य अधिकतर सिर्फ अहीर जातिमें था, मैंने बचपनमें देखा था, कि किस तरह नर-नारी दोनों उसमें भाग लेते हैं। कनैलामें जगमोहन मेरा रिश्तेमें भाई लगता है। जगमोहनकी शादी होने वाली थी, दरवाजेपर चमार नगाड़ा बजा रहा था और गाँवके कितने ही तरुण अहीर—शायद भर तरुण भी—नाच रहे थे। जगमोहनकी माँ किसी कामसे दरवाजेसे बाहर निकली। देवरोंने ललकारा कि यह बुढ़िया क्या नाचेगी—अभी वह बुढ़िया नहीं स्वस्थ प्रौढ़ा थी। वह देवरोंकी ललकारोंको कैसे चुपचाप सह लेती, अखाड़ेमें कूदकर उसने देवरोंको ललकारा—जिसकी हिम्मत हो वह आकर मेरे साथ नाचे। आये दो एक देवर। लेकिन वह अँगुली, आँख और पैर को आरामसे हल्के-हल्के हिलानेका नाच नहीं था, वह था अहीरोंका वीरनृत्य, जिसमें शरीरके एक एक अंगपर बल पड़ता है। एक एक अंगकी चर्बी मसली जाती है और आध घंटेमें ही पसीना छूटने लगता है। नाचीके सामने कई आये लेकिन सब आकर हारकर बैठ रहे। उसने गर्वपूर्ण दृष्टिपातके साथ अखाड़ा छोड़ा। मैंने ३० वर्ष पहिलेकी उस स्मृतिसे लेनिनग्रादके नृत्यकी तुलना की थी।

लेकिन स्मृतिपर पूरी तौरसे विश्वास नहीं किया जा सकता। मैंने शैलेशसे अहीर-नृत्य देखनेकी इच्छा प्रकट की। अभी नृत्य यहाँसे बिल्कुल लुप्त नहीं हुआ था, लेकिन स्त्रियोंने उसमें भाग लेना छोड़ दिया था। इस पापके दोषी थे, ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ, बनिए, जो स्त्री-पुरुषके साथ नाचनेको अभद्र और अपमानकी दृष्टिसे देखते थे। जो कला १६वीं सदी तक सुरक्षित चली आई थी, जिस कलाको २०वीं सदीमें दुनियाके सामने अभिमानके साथ पेश किया जा सकता था, जो कला २१वीं सदीमें भारतके सभी नर-नारियोंको प्रिय कला, प्रिय व्यायाम होगी, उसे हमारी अधकचरी सभ्यताने २०वीं सदीमें गला घोंटकर खतम कर देना चाहा। शैलेशने पहिले एक गाँवके ही एक नौजवान भरको बुलाया। माघ-पूसका जाड़ा पड़ रहा था, उस पर भी आधीरात बीत रही थी। तरुण कोई उतना सिद्धहस्त नर्तक नहीं था, लेकिन जब उसने नाचना शुरू किया, तो घंटे भर ही में सारे शरीरमें पसीना आने लगा। मैंने सोचा, मेरी बाल-स्मृतिने धोखा नहीं दिया। शैलेशने कहा—मैं पेलमेनकी प्रक्रियाके अनुसार व्यायाम करता हूँ, लेकिन उसमें भी कमरके पासकी चर्बीके गलानेका ऐसा अच्छा तरीका नहीं है, जैसा कि इस नृत्यमें।

कई दिनके बाद शैलेश अहीर-नृत्यकेलिए कुछ जवानोंको एकत्र करनेमें सफल हुए। उसे देखकर मैंने पूरी तौरसे समझ लिया कि मेरी स्मृति गलत नहीं है।

मलाँव राप्ती (अचिरवती) नदीके किनारे उसी प्रदेशमें है, जहाँ बुद्धके समय मल्लोंका प्रजातन्त्र था। उस समय भी वहाँ मल्लग्राम (मलाँव) रहा होगा। मल्लोंकी तरह ही यहाँके लोग भी सदा लड़ते-भिड़ते रहनेवाले आदमी थे। महाभारतमें इन्हें (सांकृत्यायनोंको) ब्रह्मक्षत्र कहा गया है। मलाँव में ही नहीं, कनैलामें भी लड़ने-भिड़नेकी प्रवृत्ति देखी जाती है। बुद्धके वक्त "मल्लगाम" कहाँ रहा होगा, इसके बारेमें नहीं कहा जा सकता। अब भी आस-पासमें उसके तीन ध्वंसावशेष हैं, इन्हींमेंसे कहीं रहा होगा, लेकिन इन ध्वंसावशेषोंकी कभी खुदाई नहीं हुई।

हफ्ते या अधिक दिन मैं मलाँवमें बीते। मेरे वहाँसे रवाना होनेके पहिले ही शैलेशके चचा श्रीदीपनारायण पांडेय भी आ गये। मलाँवसे मुझे जौनपुर जिलेमें किसी वार्षिक अधिवेशनमें जाना था। मैंने पहिले ही उसे स्वीकार कर लिया था, इसलिए अब इनकार करना मुश्किल था। कम्यूनिस्टोंकी ज्यादा गिरफ्तारी नहीं हो रही थी, इसलिये भी प्रकट होनेमें हानि नहीं मालूम हो रही थी।

गाँवका नाम मुझे याद नहीं, लेकिन वह स्टेशनसे कुछ दूर था। मैं वहाँ अकेले ही पैदल चला गया। शायद प्रबन्धक और दूसरोंको भी बड़े नामवाले सभापतिको इस तरह आए देखकर कुछ बुरा लगा। बुरा लगना ही चाहिए, क्योंकि उत्सव प्रदर्शनके लिए ही किये जाते हैं।

यहाँसे मैं जौनपुर गया और किसीतरह छिपकर रातको इलाहाबाद पहुँच गया। मैं वहाँ दो-तीन जगहोंमें बिल्कुल गुप्त रहा। इस समयको मैंने "सोवियत्‌संघ-साम्यवादी-पार्टी-इतिहास" का हिन्दी अनुवाद करनेमें लगाया। अनुवाद बहुत जल्दी-जल्दी हुआ, उसे मैं दुहरा नहीं सका, और इसका जो भाग प्रकाशकोंने छपवाया, उसमें कम्पोजीटरोंकी गलतियोंको भी अधिकसे अधिक रहने दिया, इस तरह सारा काम चौपट हो गया।

३. किसान सम्मेलनका सभापति—पहिली जनवरीको मैं मढ़ौरामें था। अभी मढ़ौराके मजदूरोंकी पंचायतने झगड़ेका कोई फैसला नहीं किया था।

४ जनवरीको साथी पूरनचन्द्र जोशी और भारद्वाज छपरा आये। उस वक्त स्वामी सहजानन्द जी छपरा हीमें थे। जोशी और भारद्वाजने वर्त्तमान परिस्थितिपर स्वामीजीसे बातचीत शुरू की। वैसे स्वामीजी सदा हीसे वेदान्त, वैराग्य अतएव व्यक्तिवादके फेरमें रहे, किन्तु, जब उनका जनताके कष्टमय जीवनसे सम्पर्क होता है, तो वह आसमानसे धरतीपर उतर आते हैं और सारी शक्ति लगाकर पीड़ित किसानोंकेलिए काम करते हैं, किन्तु जैसे ही उनकी वृत्ति बाहरसे हटकर अन्त करणकी ओर लगती है, तो भूल जाते हैं और एक व्यक्तिवादीके रूपमें प्रकट होते हैं। धूप-छाँहकी तरह उनका जीवन इन दोनों रूपोंमें बराबर प्रगट होता रहता है। यह होते हुए भी उनकी निर्भयता, निरलसता और ईमानदारीके बारेमें कौन संदेह कर सकता है? जोशी-भारद्वाजने दो दिन तक उनके साथ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितिपर विचार किया। वह किसी सभाकेलिए नहीं आये थे, और न लोगोंसे मिलना-जुलना ही चाहते थे। यद्यपि मैंने गोरखनाथ त्रिवेदीसे कह दिया था, कि आपके घरमें कौनसे ये दो व्यक्ति आए हुए हैं। किन्तु मुझे संदेह है, उन्होंने उनके व्यक्तित्वको समझ पाया। भारतीय कम्युनिस्टपार्टीके प्रधानमंत्री जोशी और भारतीय कम्युनिस्टोंके चार प्रधान नेताओंमें एक भारद्वाज यहाँ सामने मौजूद थे, लेकिन उनके चेहरेके चारों ओर कोई प्रभामंडल नहीं था, कि जिससे लोग उन्हें पहिचानते। जनता यद्यपि प्रभामंडलोंके फेरमें पड़ जाती है, लेकिन जनताकी लड़ाईको वही बढ़ा सकते हैं, जो प्रभामंडलके बिना हैं, और युद्धकी खाइयोंमें जनताके साथ कंधेसे कंधा मिलाकर लड़ सकते हैं।

वसंतपुर थानेमें बाला एक छोटा सा गाँव है। वहाँ भी जमींदारोंने किसानोंके खेतको निकालना चाहा, जिसमें वह कामयाब नहीं हुए; फिर उन्होंने गुडोंको जमाकर तलवार-भालासे प्रहार किये, जिनमें तीन किसान मारे गये। ९ जनवरीको मैं बाला गया। मैंने वहाँ देखा कि तीन-तीन आदमियोंके मरनेपर भी न वे भयभीत थे, न उनका उत्साह कम हुआ था। वह समझने लगे थे कि रक्तबीजकी तरह हमारा कोई उच्छेद नहीं कर सकता। उन्होंने अपनी सांघिक शक्तिकी थोड़ी-थोड़ी झलक देखी थी, और उससे आत्मविश्वास बढ़ा था। शामको एक बड़ी सभा हुई थी, जिसमें आस-पासके कई गाँवोंके किसान आए हुए थे। १४ जनवरीको काँग्रेस सोशिलिस्टपार्टीकी पटनामें बैठक थी। उस वक्त सभापति मैं ही बनाया गया था, और हमारे कुछ दोस्तोंने फिनलैंडके साथ सोवियत् युद्धको बुरा कहा था। २१ जनवरीको फिर दूसरी बैठक हुई, उस वक्त भी कितने ही लोग सोवियत्की निंदा उसी तरह कर रहे थे, जिस तरह इंगलैंडके टोरी और उनके अखबार। मुझे आश्चर्य हो रहा था, कि यह किस तरहके सोशिलिस्ट (समाजवादी) हैं, जो इतना भी नहीं समझते कि सोवियतकी निन्दा करना अंग्रेज टोरियों और फिनिश् किसान मजूरों के जानी दुश्मन मैनरहाइमके हाथमें खेलना है। खैर, पार्टीने सोवियत्की नीतिके समर्थनका प्रस्ताव पास किया।

२५ जनवरीको चाकरपुर (मुजफ्फपुर) में सुलोचना-पुस्तकालयके उद्घाटनकेलिये मुझे बुलाया गया था। दो हजार लोग सभामें आये। मेरे व्याख्यानका नोट लेनेकेलिए सरकारी शीघ्रलेखक और डिपुटी-मजिस्ट्रेट पहुँचे थे। दूसरे दिन (२६ जनवरी) स्वतन्त्रता-दिवस सोनपुरमें बड़े धूम-धामसे मनाया गया। वहाँ भी शीघ्रलेखक सरकारी अफ़सर मौजूद थे। २८को पानापुर-दियराके किसानोंमें व्याख्यान दिया। २९को बाढके छात्र सम्मेलनके सभापतिके तौरपर भाषण किया। यहाँ भी शीघ्रलेखक मौजूद थे। बाढमें दो मानपत्र मिले, जिन्हें कि मैंने वहीं दे दिया। भाषण और उत्साह देखकर चार किसान आपसमें राय दे रहे थे—काँग्रेस-फाँग्रेस कुछ नहीं, असल काम करनेवाले किसानसभा और आर्यसमाज है—लाठी लिए प्रबन्ध करनेवाले विद्यार्थियोंको उन्होंने आर्य समाजी समझा था। ३०,३१ जनवरीको मढ़ौरा मजदूरोंके झगड़ेके फैसलेकेलिए पंचायत बैठी। छपराके कलक्टर मिस्टर कॅम्न सभापति थे। मैं और कम्पनीके एक प्रतिनिधि उसके सदस्य थे। पहिले दिन कम्पनीके प्रतिनिधिने मंजूर किया, कि यह १२ नए मकान बना देंगे और पुराने मकानोंमें भी सुधार करेंगे। दूसरे दिनकी बैठकमें ४ आना नहीं साढ़े ६ आना रोज कमसे कम मजूरी

स्वीकार की और यह भी कि अधिक नफा होनेपर मजूरोंको बोनस दिया जाय। दूसरे मजूरोंकी मजूरीमें भी वृद्धि की गई। पर्व-त्यौहारके दिनोंमें छुट्टियाँ मंजूर की गईं। रजिस्ट्री करा लेनेपर मजूर-सभाको भी मान लेनेकी बात तय हुई। मजूरोंके दवाई दरपनके इंतिजाम करनेकी भी कुछ बातें मानी गईं। मढौराकी मिठाई-मिलके मालिकोंने भी बहुत सी बातें मानी, और कमसे कम साढ़े पाँच आना वेतन स्वीकार किया। मुझे इस तरहके समझौतेमें भाग लेनेका पहला तजरबा था। मुझे दूसरे दिन मालूम हो गया था, कि चीनी मिलवाले मजदूर हमारे समझौतेसे सहमत नहीं है, इसलिए मिठाई मिलवालोंके समझौतेकी शर्तोंके माननेके पहिले मैंने यह जरूरी समझा कि पहिले मजूरोंको बुलाकर उनके सामने समझौतेकी शर्तें रख दी जायँ। चीनी मिलवालोंसे स्वीकृति लेनेमें कुछ देर हुई। यह एक बड़ा बोझ था जो कि साल भरसे लटका चला आता था। यद्यपि बोझ हल्का हो गया, लेकिन मैंने देखा कि मजूरोंका संगठन मजबूत नहीं, और जब तक संगठन मजबूत नहीं होता, तब तक विजयका फल स्थायी नहीं रह सकता। संगठन करनेका मुझे समय मिलेगा, इसकी बहुत कम आशा रह गई थी। ४ फरवरीको मैं रहीमपुर (खगड़िया) मुंगेर किसान सम्मेलनमें गया। वहाँसे जाकर बेगूसरायमें रातको रहा। वहाँ बड़े जोरकी अफवाह उड़ रही थी, कि राहुलजीको गिरफ़्तार करनेकेलिए १५ फ़ौजी पुलिस आई है, लेकिन अशान्तिके डरसे उसने गिरफ़्तार नहीं किया।

मैं अबकी बार प्रान्तीय किसान सभाका सभापति चुना गया था, उसकेलिए एक भाषण लिखना था। एकान्तका ख्याल करके मैं राजगिर चला गया। १९१९में मैंने जिस राजगिरको देखा था, उससे अब बहुत अन्तर हो गया था। यहाँ कई घर बन गये थे, और लोग भी ज्यादा आते थे। वैसे राजगिर तो एक अच्छा खासा सेनोटोरियम बननेके लायक है। १०,१५ लाख रुपया लगाकर यहाँ दो हजार कमरे बनवाये जा सकते हैं। नलोंके जरियेसे गरम चश्मोंका पानी स्नानागारोंमें पहुँचाया जा सकता है। फिर स्वास्थ्य या ऋतु-परिवर्तनकेलिए आनेवाले आदमी, आरामसे रह सकते हैं, लेकिन वह दिन अभी दूर है। वहाँसे मैं सहसराम (१३ मार्च) गया। तालाबके भीतर पत्थरकी वह विशाल इमारत है, जिसमें शेरशाह सो रहा है। अकबरने जिस उदार राजनीति और विशाल व्यवस्थाका अपने शासनमें उपयोग किया, उसका सूत्रपात शेरशाहने किया था। कहते हैं, शेरशाहके सारे शरीरको नहीं सिर्फ एक अँगुलीको समाधिस्थ किया गया है। शहरके बाहर चन्दन शहीद की पहाड़ीपर गये। यहाँ ही एक प्राकृतिक गुफाके भीतर चट्टानपर अशोकका शिला-

लेख खुदा है। वहाँसे हम दरिगाँव गये। गाँवके जमींदार रंगबहादुरसिंह सामन्तयुगके सामन्तोंकी तरह किसानोंपर शासन करते थे। ग़रीब किसान त्राहि-त्राहि कर रहे थे। यहाँ भी मेरे व्याख्यानका नोट लेनेकेलिए शीघ्रलेखक और डिप्टी-साहब पहुँचे। डिप्टी साहब को बड़ी तकलीफ हुई, क्योंकि उन्हें धानके खेतोंमें दौड़ना पड़ा। १४ फरवरीको पटनामें कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टीकी बैठक हुई। कम्यूनिस्टोंको बिहारमें बढ़ते देख नेता बहुत घबराए थे। और पार्टीसे कम्यूनिस्टोंको निकाल बाहर करनेकेलिए तुले हुए थे। उन्होंने मंजर रिजवीको सफ़ाई देनेका भी मौक़ा नहीं दिया, और पार्टीसे निकाल दिया। मुझे अभी निकालनेसे हिचकिचा रहे थे।

अगले दिन (१५ फर्वरी) प्रान्तीय कांग्रेसके पदाधिकारियोंका चुनाव था। मैंने आश्चर्यसे सुना, कि मैं भी रामगढ़ कांग्रेसके लिए प्रतिनिधि अतएव प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीका सदस्य चुना गया हूँ। मैं छपरामें साथियोंके कहनेपर प्रतिनिधि बननेका उम्मीदवार खड़ा हुआ था। लेकिन उसके साथ यह शर्त कर दी थी, कि यदि कोई प्रतिद्वन्दी खड़ा होगा तो मैं अपना नाम वापिस ले लूँगा। प्रतिद्वन्दी खड़े हुए और मैंने अपना नाम लौटा लिया। लेकिन आज सुना कि मैं प्रतिनिधि चुना गया हूँ। पता लगा, कांग्रेस-नेता डाक्टर महमूद को प्रतिनिधि बनाना चाहते थे। उनके विरुद्ध पंडित माणिकचन्द खड़े हो गए थे और उन्होंने इस शर्तपर अपने नामको हटाना स्वीकार किया, कि मुझे एक स्थानसे निर्विरोध जाने दिया जाय। इस प्रकार प्रार्थनापत्र हस्ताक्षर तक भी न होनेके बावजूद मैं प्रतिनिधि चुन लिया गया। प्रान्तीय-कांग्रेस कमेटीकी राजनीति बहुत नीचे उतर आई थी। वहाँ कायस्थ और भूमिहार-गुट्टबन्दी चल रही थी। बेईमानी, ईमानदारी चाहे जैसे भी हो, अपनी अपनी गुट्टके ज्यादा प्रतिनिधियोंको भेजनेकी कोशिश थी। श्रीकृष्ण बाबूका पलड़ा भारी रहा और मथुरा बाबू, कृष्णवल्लभ सहाय, बन्दा बाबू जैसे कर्मठ कांग्रेसी भी कार्य-कारिणीमें नहीं आए—यह हार राजेन्द्रबाबूकी थी।

छपरामें मैं जब रहता, तो अक्सर शामके वक़्त कचहरी, स्टेशनपर एक मुसलमान चायखानेमें चाय पीने जाता था। यद्यपि मेरी मनशा नहीं थी, लेकिन यह एक प्रदर्शन सा बन गया, क्योंकि कचहरीके अधिकांश वकील मुख्तार शहरके इसी भागमें रहते हैं, और शामको टहलनेकेलिए इस प्लेटफार्मको छोड़ कोई जगह नहीं है। कभी-कभी कोई दूसरे दोस्त भी शामिल हो जाते, खासकर बाबू वन्धूविहारी वकील। बाकी लोगोंमें कुछ समझते थे, कि इस आदमीको धरम हया नहीं है,

अर्थात् छिप कर यदि मैं मुसलमानकी चाय पीता, तो मैं अच्छा आदमी कहा जाता; लेकिन कुछ मेरी निर्भीकताकी तारीफ़ भी करते। एक दिन मैं वहाँ चाय पी रहा था। कोई मुसाफिर वहाँ खाने खानेकेलिए आया। उसने पूछा कि किस चीजका मांस है। होटलवालेने कहा बकरेका। बकरेका मास ज्यादा महँगा होता है, बेचारे गरीब किसानके पास उतने पैसे कहाँ? उसने कहा—"बड़का (गोमांस) नही है"। होटल-वालेने कहा—"नही भैया, हमारे यहाँ सब तरहके बाबू चाय पीने आते हैं, दो पैसा कम ही नफ़ा कमायेंगे, काहेको यहाँ बड़का पकायें।" मैंने सोचा हिन्दू कितने बेकूफ है, यदि वह मुसलमानोंके यहाँ खाना खाते रहते, तो बिना दबाव हीके मुसलमानोंके दिलमें उनकी भावनाओंका ख्याल आता। लेकिन वह तो चले हैं लाठीके बलपर गोरक्षा कराने। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध था, मुझे कोई ख्याल नही था। बकरीदके दिन यदि छपरा रहता, तो अशरफके चचा अलीसाहबके यहाँ उसका तबर्रुक जरूर तनावल फ़रमाना पड़ता।

२४-२५ फर्वरीको मोतीहारीमें प्रन्तीय किसान सम्मेलन था। मैं सभापति था। स्वामी सहजानन्द जी, जयप्रकाश, नरेन्द्रदेव, और डाक्टर अहमदके भाषण हुए। यू० पी० में तो पहिले ही से कांग्रेस सोशलिस्ट कम्यूनिस्टो के साथ झगड़ रहे थे, बिहार बचा हुआ था। कम्यूनिस्ट थोड़े थे, लेकिन उनकी समझदारी, ईमानदारी और कड़े अनुशासनमे रहनेकी बातको वह जानते थे। वह यह भी जानते थे कि समाजवादी क्रान्ति चाहनेवाले इन्हीकी तरफ़ झुकेंगे। नेतृत्व खतरेमें समझकर वह प्रान्तभरसे आए किसान कार्यकर्ताओंको समझानेमें लगे थे। छपरा पासका जिला है, वहाँसे ५०,६० किसान कार्य-कर्त्ता आए हुए थे। अपने कार्य-कर्ताओंमें बैठना उनकी बातोंको सुनना और उनका बनकर रहना मुझे ज्यादा पसन्द था। मुझे देर तक वही बैठे देखकर कांग्रेस सोशलिस्ट नेताओंके पेटमें पानी नहीं पचा। उन्होंने समझा कि मैं उन्हे कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टीके खिलाफ भड़का रहा हूँ। मैंने वहाँ किसी पार्टीका नाम भी नहीं लिया था। मुझे जब भनक मालूम हुई, तो उनकेलिए मैदान खाली कर दिया, फिर नेताओंने जाकर जो मग़ज़पच्ची की, उससे फ़ायदेकी जगह नुक़सान ही ज्यादा हुआ। तरुण बहुत असन्तुष्ट थे, वह समझ नही सकते थे कि कांग्रेस सोशलिस्ट एक ओर तो कम्यूनिस्टोंसे मेल करनेकी बात भी करनेकेलिए तैयार नहीं है, और दूसरी ओर गान्धीवादका पल्ला पकड़कर हिन्दुस्तानमें किसान-मजूर-राज कायम करना चाहते है।

२७ फर्वरीको मैं अमरपुर (जिला भागलपुर) के किसान-सम्मेलनमे गया।

१५ हजारकी जनता थी। जनता में जोश था और उससे भी अधिक प्रसन्नता मुझे इस बातसे हुई, कि तरुण कार्यकर्त्ता बहुत काफी है। बीचमें खानेकी चीजोंको इकट्ठा रख दस-दस बारह-बारह आदमियोंका साथ खाना शारीरिक स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भले ही अच्छा न हो, लेकिन मानसिक स्वास्थ्यका यह जबर्दस्त परिचायक था। ग्रामीण किसान भी उसे देखकर नाराज नही प्रसन्न होते थे। वह समझते थे, कि कम्युनिस्टोंमें न हिन्दू-मुसलमानका फरक है, न छूत-अछूतका। भागलपुरमें अगले दिन सभा रही। यद्यपि उसी दिन दोपहरको हम पहुँचे थे, लेकिन मैदान में ३ हजारसे अधिक लोग जमा थे। कलकत्तामें बंगाल कांग्रेस कर्मियोंका सम्मेलन था, मुझे उनका सभापति होनेकेलिए कहा गया, लेकिन मैंने तो उन्नाव किसान सम्मेलनका सभापति होना स्वीकार कर लिया था, इसलिए वहांकेलिए अस्वीकृति लिख भेजी।

२ मार्चको पचरुखी (छपरा) की चीनी मिल के मजदूरोंकी तकलीफोंको देखने गया। यह गान्धीभक्त साराभाई (अहमदाबाद वालों) की मिल थी, किन्तु यहांके मजूरोंको उतना भी सुभीता नहीं था, जितना कि मढ़ौराके अंग्रेज मिलके मजदूरोंको। मजूरोंको ढाई आना और तीन आना मजूरी मिलती। मढ़ौरामें पंचायत करते वक्त मिलवालोंने कहा था, कि हिन्दुस्तानी मिलोंमें ज्यादासे ज्यादा जितनी मजदूरी दी जाती है, उतना ही हमें भी देनेको कहिए, लेकिन मैंने इसे मंजूर नहीं किया। मैं समझता था, कि बिड़ला और साराभाईकी मिलोंमें मजदूरोंका खून और भी चूसा जाता है। मजूरोंके हाल-चाल जानकर छोटीसी सभामें व्याख्यान दे मैं वहांसे प्रयाग होते उन्नावकेलिए रवाना हुआ। पौने दो बजे उन्नाव पहुँच गया था। लेकिन कार्यकर्ताओंने व्यर्थ ही वहाँ पौने तीन घंटे रोक रखा। सभा वहाँसे १७ मील दूर शफ़ीपुरमें थी। ६ बजे जबतक हम वहाँ पहुँचे तबतक बहुतसे लोग उकताकर चले गए थे। तो भी मैंने व्याख्यान दिया। सरकारी शीघ्रलेखक मौजूद था और संयोगसे वह तरुण बछवल (आजमगढ) का रहनेवाला था। दो दिन रहनेके बाद ७ मार्चको मैं प्रयाग आ गया।

मैं इस साल के लिये अखिल भारतीय किसान सम्मेलन और सभाका सभापति चुना गया था। आन्ध्र-देशके पलासा गाँवमें सम्मेलन होनेवाला था। मैंने सोचा, प्रयागमें रहकर भाषण तैयार कर लूं। वहाँ डाक्टर अहमदके यहाँ ठहरा। मुझपर पुलिसकी बड़ी कड़ी निगाह थी, इसलिए अपने पुराने अ-राजनीतिक दोस्तोंके पास ठहरकर उन्हें तकलीफ़में डालना नहीं चाहता था और अहमद और हाजरा तो अपने साथी थे। उनके यहाँ भी दूर १०वें १५वें पुलिस तमाशा कर जाती थी। अहमद और

हाजराका आदर्श और त्याग बहुत ऊँचा था। वह हर तरह से आराममें पले थे, और आरामकी जिन्दगी बितानेके सारे सामान रहते भी उन्होंने इस काँटेवाले रास्तेको अपनाया, इसके बारेमें मैं दूसरी जगह[1] लिख चुका हूँ। एक विचार एक आदर्शवाले साथियोंके साथ रहकर आदमी नरकका भी दुख भूल जाता है, उसकी मृत्युकी घड़ियाँ भी सुखकी घड़ियोंमें परिणत हो जाती हैं। भाषणके तैयार करनेमें कामरेड अहमदने भी बड़ी मदद की। उसी दिन श्री सज्जाद ज़हीर अपनी नववधू रज़ियाके साथ आये। नववधूने संकोचकी बात तो अलग, पहिले ही बाण-वर्षा शुरू कर दी—"मैंने सुना है, कि आप उर्दूके विरोधी हैं।" मैंने कहा—"आपने कहाँ सुना है?" उन्होंने बतलाया कि पटनामें लोगोंने बतलाया। मैंने कहा—मैं उर्दूका विरोधी नहीं हूँ। मैं तो जिसकी जो मातृभाषा है, उसको अपनी मातृभाषाको पढ़ने-लिखने, पूरी उन्नति करनेका पक्षपाती हूँ। हाँ, मैं इसका विरोधी जरूर हूँ कि लोग हिन्दुस्तानीके नामसे एक तीसरी भाषा के गढ़नेका प्रयत्न करते हैं। मैं तो यह भी कहता हूँ कि उर्दूवालोंको स्वेच्छापूर्वक कुछ हिन्दी भी सीखना चाहिये। रज़िया कुछ शान्त हुई। मुझे यह खुशी हुई कि सज्जाद ज़हीरने एक समझदार और शिक्षित साथीको बीबीके रूपमें प्राप्त किया।

११ तारीखको ३ घरोंमें तलाशी ली गई और साथ ही हर्षदेव मालवीय पकड़ लिये गये। यह भी पता लगा कि सज्जादके नाम भी वारंट निकला है। यह इस बातकी सूचना थी, कि मुझे भी अब तैयार रहना चाहिए। अगले दिन मैंने भाषण करीब-करीब समाप्त कर दिया। १५ तारीखको अपने प्रयागके दोस्तोंसे मिलने गया। डाक्टर बदरीनाथप्रसादने पूछा—"फिर कबतक मुलाकात होगी?" मैंने कहा—"लड़ाई बाद"। शामको लौटकर अहमदके साथ बातचीत कर रहा था। अँधेरा हो चला था। उसी वक्त पाँच-सात सादे कपड़ेवालोंके साथ थानेदार साहब पहुँच गये और मुझे गिरफ्तारीकी सूचना दे मकानकी तलाशी लेने लगे। साढ़े ७ बजे करनलगंज थानेमें ले गये। वहाँ काग़ज़पत्र दिखलाया गया। मैं भारतरक्षा कानून, दफा २६ उपनियम १ के ६वें वाक्यके अनुसार गिरफ्तार किया गया था। ९ बजे बाद मुझे मलाका जेलमें पहुँचा दिया गया।

---

[1] देखो "नये भारतके नये नेता।"

(३)

जेलमें २९ मास (१९४०—जुलाई १९४२)

१—हजारीबाग जेल (१९४० ई०)

मेरा वारंट भारत-सरकारने बिहार भेजा था। यदि मैं बिहारमें रहा होता, तो चार दिन पहिले ही गिरफ़्तार हो गया होता। खैर, अब कम्यूनिस्टोंपर सीधा प्रहार हो रहा था और बड़े-बड़े कम्यूनिस्टोंको पकड़कर जेलमें बन्द करनेका काम भारत-सरकारने अपने हाथमें लिया था। प्रान्तीय सरकार नहीं, भारत सरकारका क़ैदी होना कुछ गौरवकी बात थी। कहाँ चोरीमें कैद होकर आना, और कहाँ अब शाही क़ैदी—इसे जरूर सम्मानकी चीज मानना था। जेलमें हुर्देव और मैं दो ही राजनीतिक बन्दी थे। अभी तक मुझे बिहारके जेलोंका ही अनुभव था। अब अपने जन्म-प्रान्तके जेलका भी अनुभव प्राप्त करना था, लेकिन मैं मलाका जेलमें १२ दिनसे ज्यादा नहीं रह सका। बिहारमें छोटेसे बड़े जेलोंमें—सभी कोठरियोंके फ़र्श पक्के हैं, किन्तु यहाँ कच्चा फ़र्श था। मकान भी मालूम होता था, अकबर बादशाहके क़िलेके ही जमानेका था। जिन सेलों (तनहाई कोठरियों) में दिनमें भी अँधेरा रहे, वहाँ मच्छर क्यों न बसेरा करें। रातको मच्छरोंने खूब काटा। अगले दिन तौला गया। वजन १८८ पौंड अर्थात् दो सौ पौंडमें १२ ही कम था। दफ़्तरमें बापका नाम और अँगूठेका निशान लगानेके लिए कहा गया। मैंने साफ़ इनकार कर दिया। जेलर साहब बहुत भलेमानुस थे। उनको इस बातका अफ़सोस था, कि मुझे तीसरे दर्जेका क़ैदी बनाया गया है। लेकिन बाप और नाना दोनोंकी हैसियत देखनेसे तो मुझे तीसरे दर्जेसे भी नीचे रखना चाहिए था। मैंने स्वयं भी कोई सम्पत्ति नहीं जमा की थी, आखिर जेलोंमें पहिला दूसरा दर्जा सम्पत्ति देखकर आदमीको दिया जाता है। यह मैं मानता हूँ कि सम्पत्तिवाले सारे जोंक, डाकू और कामचोर है, लेकिन सरकार तो इन बातको नहीं मानती—डाकुओंके राज्यमें डकैती शाही पेशा मानी जाती है। जेलर साहबने कहा, आप इसकेलिए सरकारमें दरख्वास्त दें। मैंने कहा—"मैं इसी श्रेणीमें ही रहूँ, तो अच्छा। हाँ, पढ़ने-लिखनेका सुभीता जरूर होना चाहिये। यदि मुझे कहना-सुनना होगा, तो सिर्फ़ उसीकेलिए। खानेकेलिए हमें जौ-चनेकी काली रोटी मिलती थी,

जिसमें तिनके भी काफ़ी रहते थे। दालमें कराई और तिनका भरा होता था और सागके नामपर घास उबाली जाती थी। मैंने देखा, युक्तप्रान्त इस बातमें बिहारसे बहुत पिछड़ा हुआ है, हमने तो वहाँ १९२१-२२में ही ऐसा खाना देखा था। हाँ, कांग्रेस मिनिस्टरीने यहाँके जेलोंमें बीड़ी और तम्बाकू देनेका हुक्म दे दिया था, वह अब भी मिल रहा था—लेकिन बीड़ीकी जगह लपेटी पत्तियाँ, और सुरती (तम्बाकू)की जगह डंठल। हम दो थे, इसलिए आपसमें भिन्न-भिन्न विषयोंपर वार्त्तालाप करते थे, और जो किताबें मिल जाती थीं, उन्हें पढते भी थे। मैंने हिन्दू-मुसलिम समस्यापर २५ मार्च (१९४०)की डायरीमें लिखा था—"यदि बहुमतकी राय (हैं) तो बहुमतवाले मुसलिम प्रान्तोंको अलग मुसलिमिस्तानके रूपमें स्वतन्त्र होनेकी क्यों न इजाज़त दी जावे। भाषामें ९० फीसदी, जिस भाषाको बोलते हैं, उसीको शिक्षा और व्यवहार का माध्यम बनाना चाहिए।"

२७के साढ़े ४ बजे शामको पता लगा कि मुझे हजारीबाग जेल ले जानेकेलिए बिहारसे पुलीस आई है। पर्दानशीन बहुओंको नइहर, सासुर ले जानेकेलिए आदमियोंके आनेकी बात सुनकर वैसे ही ख्याल होता होगा, जैसा कि इस वक़्त मुझे आ रहा था। घंटे भरमें मुझे तैयार हो जानेकेलिए कहा गया, लेकिन वहाँ तैयारी क्या करनी थी। मैंने हर्षदेवसे विदाई ली, रेलवे पुलीसकी लारीपर बैठा, बड़े स्टेशनपर गया और साढ़े ६ बजे पंजाब-मेलसे रवाना हो गया। पुलीसमें दो साधारण सिपाही और एक जमादार या सहायक थानेदार था। किसान-सत्याग्रहों और भूख-हड़तालोंके कारण भला कैसे हो सकता था, कि बिहारका कोई पुलिस-सिपाही मुझे न जानता हो। सिपाही चूँकि स्वयं किसानोंके बेटे होते हैं, इसलिए पेटके कारण चाहे उनको कुछ भी करना पड़े, किन्तु उनकी सहानुभूति सदा हमारे साथ रहती। उनके घरवाले भी ज़मीदारोंसे सताये हुए थे, हमारे आन्दोलनसे उनको भी हिम्मत मिली थी। किसानों-मजदूरोंका आन्दोलन सचमुच ही शासक-वर्गके लिए बड़े खतरेकी चीज़ है। आखिर किसान-मजूर-बच्चोंके भुजबलपर ही उन्होंने दुनियाको गुलाम कर रखा है, किसान-संघर्ष जितना ही बढ़ेगा उतना ही शासक-वर्गको अपने हाथ-पैरों—सिपाहियों—से शंकित होना पड़ेगा। हमारे साथ जानेवाले तीनों पुलिसमैन भद्र, भलेमानुस थे। मुझे ड्योढ़ा दर्जेमें ले गये, लेकिन रातको सोनेका मौक़ा दो-तीन घंटेसे ज्यादा नहीं मिला। सवा आठ घंटेके सफ़रके बाद पौने तीन बजे हमारी गाड़ी हजारीबाग़-रोड पहुँची। वहाँ पहिले ही से मोटर लिये पुलीसके आदमी तैयार थे। कितना अन्तर था? पिछली यात्रामें कितनी

मुश्किलके बाद हमें जेलकेलिए मोटर मिली थी और आज सब चीज घड़ीकी सुईकी तरह चल रही थी। सबेरे ५ बजे हम जेलपर पहुँचे। फाटकके भीतर घुसते वक्त अँधेरा था। फिर मुझे एक नम्बरके वार्डको उसी बैरकमें रखा गया। अली अशरफ़ भी नजरबन्द थे। वह भी कम्यूनिस्ट थे। लेकिन हम दोनोंको एक जगह नहीं रखा गया। मंजर और अनिल तो सजा पाये हुए क़ैदी थे, इसलिए उन्हें तो अलग रखना ही था।

५ अप्रैलको लोलाकी चिट्ठी आई। उसने उसे ६ जनवरीको लिखा था। डाक्टर श्चेरबात्स्कीका पत्र कुछ और देरमें मिला। उन्होंने लिखा था,—"क्या हमें फिर देखनेकेलिए तुम यहाँ आनेकी सोचते हो?" लोलाकी चिट्ठीमें मालूम हुआ—"आचार्य श्चेरबात्स्की चाहते हैं कि तुम यहाँ आ जाओ और तुम्हारी मददसे तिब्बती भाषाका एक व्याकरण और तिब्बती-रूसी-कोष लिखा जाय। मेरी सारी इच्छायें तुम्हारे साथ हैं। मैं तुम्हें अपने ईगरको दिखाना चाहती हूँ। क्या तुम्हारा लेनिनग्राद आना सम्भव है? ईगर स्वस्थ है, इस सालकी सर्दियोंमें वह बीमार नहीं पड़ा। वह बड़ा हो गया है, बिना सहायताके दौड़ने लगा है, और बोलता है। अब उसके ६ दाँत हैं। उसका पहिला शब्द था "पापा" (पिता) मेरे लिखनेकी मेजपर तुम्हारा फ़ोटो है। ईगर जानता है, कि यह मेरा पापा है।"

अपनी ४ मार्चकी चिट्ठीमें उसने लिखा था, "आजकल वह बड़ा अजब सा और दिलचस्प लड़का है। नर्सने उसे मुर्गी और चूज़ोंकी तसवीर दिखलाकर कहा था, कि यह 'मामा' है, और यह बच्चे हैं। शामको (घरआनेपर) मैंने यह कहते हुए पुकारा—'मामाके पास आ, मामा कहाँ है'। वह तसवीर उठा लाया और उसमें मुर्गीको दिखलाकर कहने लगा 'यह मामा है'। जब तुम ईगरको देखोगे और वह अपने छोटे-छोटे हाथोंसे तुम्हारी गरदनको लपेटेगा, तब तुम समझोगे, कि पुत्र पानेका कितना महान् आनन्द होता है, फिर तुम नहीं कहोगे, कि मैं उसकी तारीफ़के पुल बाँधती हूँ।

"ईगर बहुत गम्भीर स्वभावका है, लेकिन किसी किसी वक्त वह खुशीमें पागल हो जाता है, फिर उसे रोकना मुश्किल होता है। तब उसके साथ बर्ताव करना कठिन मालूम होता है। कभी-कभी सबेरे मुझे कामपर नहीं जाने देता। वह मेरे लहँगे (स्कर्ट)के किनारेको पकड़कर रोने लगता है। शामको तब तक मेरी गोदमें बैठा रहता है, जब तक मैं उसे चारपाईपर सुला नहीं देती हूँ। पिछले दो मासोंमें मैं कोई सिनेमा या नाटक देखने नहीं गई। ईगर बहुत थोड़ा बोलता है। वह सिर्फ़ ...' 'मामा' 'नर्स' 'बाबा' (दादी) दे, स्रोन, एक दो' बस इतना ही बोलता है।

उसे संगीतका बड़ा शौक है। रेडियोकी आवाज कानमें पड़ते ही वह चिल्लाना छोड़कर सुनने लगता है।"

हमारे वार्डपर बड़ी कड़ाई थी। पहिले पहरेवाला अस्पताल, आफिस या गोदाममें चला जाता था, लेकिन अब उसे सिपाहीके साथ जाना पड़ता। मेरे और अशरफ़ दोनोंके वार्डोंपर एक सिपाही खास तौरसे रख दिया गया था। हम दोनोंको बिल्कुल अलग इसीलिए रखा गया था, कि एक दूसरेसे सम्पर्क न होने पाये, लेकिन सम्मिलित सिपाही इस कामको अच्छी तरह कर सकता था। सिपाही मुझे अच्छी तरह जानते थे। वह किसानोंके बेटे थे। वह मेरेलिए किसी कामको करनेमें अहोभाग्य समझते थे।

यहाँ न पढ़नेकेलिए पुस्तकें थीं, न बात करनेकेलिए कोई आदमी। सारा समय बेकार जाते देखकर मैंने सोचा, अपनी जीवन-यात्रा ही लिख डालूँ। १६ अप्रैलको मैंने उसे लिखना शुरू कर दिया और १४ जून तक बीचमें दो-चार दिन छोड़ बराबर लिखता रहा। १९२६-२७ तक तो कोई अड़चन नहीं पड़ी, लेकिन आगे मैं डायरियाँ लिखता गया था, इसलिए लिखनेमें मन नहीं लगा। कुछ ही दिनों बाद लिखना छोड़ना पड़ा।

अब कम्यूनिस्ट ज्यादा आनेवाले थे। सबको अलग-अलग वार्डमें रखना सम्भव नहीं था, इसलिये ३ मईको अशरफ भी मेरे पास आ गये अब बोलने-चालनेका आराम हो गया।

१२ मईको खबर मिली, कि चेम्बरलेनकी जगह चर्चिल इंग्लैंडके महामंत्री हुए। १५ मईको पढ़ा, एमरी भारतमन्त्री बने। मैंने कहा—"खूब मिली जोड़ी, एक अन्धा एक कोढ़ी"। अब भारतके बारेमें वे क्या करेंगे, इसे समझनेके लिए ज्यादा मत्थापच्चीकी जरूरत नहीं थी।

धीरे-धीरे विनोद, विश्वनाथ माथुर, सुनील आदि दूसरे कितने तरुण आगये। हमारी जमात बढ़ी, और जमातके जीवनका हमें आनन्द मालूम होने लगा। गर्मी बहुत थी। रातको घरके भीतर सोनेमें बड़ी तकलीफ़ होती, यद्यपि हम लोगोंको मसहरी मिली थी, इसलिए मच्छरोंका भय नहीं था। बहुत लिखा-पढ़ीके बाद ४ जूनसे बाहर आसमानके नीचे सोनेकी इजाज़त मिली। हम लोगोंके खाना पकाने और दूसरे कामोंकेलिए साधारण क़ैदी थे। हम रोज़-रोज़ तो उन्हें अपना खाना नहीं खिला सकते थे, लेकिन हर हफ़्ते एक दावत हो जाती। दावतमें मालपुआ, पुलाव या गोश्त और कितनी दूसरी चीजें बनती और उस दिन राजनीतिक बन्दी

और वार्डके साधारण बन्दी सभी एक साथ बैठकर खाना खाते। भंगियोंके साथ खाना खानेमें कुछ एतराज होता, किंतु हम लोगोंमेंसे कुछ उनके साथ बैठ जाते थे।

१४ जूनको सुनीलने बंगालमें पुलीस किस तरह राजनीतिक तरुणोंकी यातना करती थी इसकी बात सुनाई। सुननेसे ही रोंगटे खड़े हो जाते। उँगलियोंमें सुई चुभाई जाती। तीस-तीस वोल्ट ताक़तकी बिजली बदनमें लगा दी जाती। हाथोंपर चारपाईके पावे रखकर आदमी उसपर बैठ जाते। लात-घूसा-थप्पड़का तो कोई ठिकाना नहीं और गालियाँ गन्दीसे गन्दी। आश्चर्य होता था, कि क्या यह किसी सभ्य राजकी बात हो रही है।

इधर सुपरिन्टेन्डेन्टके बर्तावसे तंग आकर हमने उनका बायकाट कर दिया था। जब वह आते तो कोई उनसे न बोलता न चारपाई से उठता। सुपरिन्टेन्डेन्टने डिप्टी-कमिश्नरसे शिकायत की। हम लोगोंने भी उनके अभद्र बर्तावके बारेमें लिख-कर भेज दिया। जाँच करनेकेलिए डिप्टी-कमिश्नर आये। उन्होंने मुझे पहचान लिया। जब वह आई० सी० एस्०केलिए लन्दन गये हुए थे, तब मैं वहीं था। और उन्होंने गावर-स्ट्रीटमें मुलाक़ातका स्मरण दिलाया। मुझे आश्चर्य हुआ कि आठ ही वर्षमें उनके सारे बाल सफ़ेद कैसे हो गए। खैर, जाँचसे हमें क्या आशा हो सकती थी? जो हमें दुश्मन समझता हो, वही न्यायाधीश बन जाय, तो न्यायकी क्या आशा हो सकती है?

२४ जूनको पता लगा, कि फ्रांसने हिटलरके सामने हथियार रख दिया। यद्यपि हम ब्रिटिश-साम्राज्यवादके सख्त विरोधी थे, लेकिन जर्मनीकी अन्तिम विजयको कभी वांछनीय नहीं समझते थे।

मैंने १९२३-२५के हजारीबाग़ जेलको देखा था। उस वक़्त जेलमें चीज़ोंकी लूट मची हुई थी। अब भी वही देख रहा था। बड़े जमादार थे फ़ौजके आदमी सीधेसादे, लेकिन समय पड़नेपर कड़े भी। एक दिन देखा कि सारे कटहल टूटकर चले गये। मैंने कहा—"जमादार साहेब! कुछ फलोंको रखा होता"। जवाब मिला—"क्या रखता, सब तो तोड़कर बँगलेपर चले जाते हैं, और कहाँ-कहाँ सौगात भेजी जाती है। मैंने सोचा था कि एक दिन क़ैदियोंको खूब तरकारी खिला दें।" आम, कटहल, साग, भाजी, मांस, दूध, दही सभी चीज़ोंकेलिए यही बात थी? नीचेसे ऊपर तक सारा जेल-विभाग एकही रंगमें रँगा हुआ था। मैंने 'जीवनयात्रा'के कामको तो एक हद तक पहुँचाकर छोड़ दिया। साथी आ गये थे, इसलिए कभी बैडमिंटन भी खेलता, कैरममें माथुर और रतनकी तरह जादूकी अँगुली तो नहीं रखता था,

लेकिन मध्यम दर्जेका खिलाडी था। शामके खानेके बाद ताशमें भी शामिल हो जाता, लेकिन ब्रिजसे सख्त घृणा थी। वैसे जितने ज्यादासे ज्यादा ताशके खेल हो सकते थे, मैं उनको सीखता था।

सोवियत्ने फिनलैंडकी तरफ़ अपनेको मजबूत कर लिया था। बाल्तिक-तटके तीनों राज्य—एस्तोनियाँ, लत्विया, लिथुवानियाँ—सोवियत् संघमें शामिल हो चुके थे। पोलैंड और रूमानियाँके दबाये हुए अपने हिस्सेको भी सोवियत्ने लौटा लिया था। इस तरह पच्छिममें सोवियत्ने अपनी स्थितिको काफी मजबूत कर लिया था। लेकिन जापान अपनेको तीसमार खाँ समझता था। ११ जूलाईके अखबारमें पढ़ा, कि मंचूरियाकी सीमापर जापानियोंने सोवियत्से छेड़-छाड़ शुरू की। अगले दिन खबर मिली, कि निर्बलकी बहू समझकर जापान बाह्य-मंगोलियाके भीतर घुस गया। नोमन्हानमें मंगोलोंने तीर नहीं मोटर और टैंककी मददसे जापानका मुकाबिला किया। जापान बुरी तरह पिटा और उसे सुलह करनेकेलिए नाक रगड़नी पड़ी।

१९ जूलाईको पता लगा, कि इंग्लैंडपर हवाई हमलेकी प्रचंडताके कारण धनी लोग अपने बच्चोंको देशसे बाहर भेज रहे हैं। एक मजदूर सदस्यने पार्लामेंटमें कहा—"सरकारको रोकना चाहिए, जिसमें कि धनी लोग अपने बच्चोंको बाहर न भेजें।" उसका यह कहना ग़लत था—इंग्लैंड धनियोंकेलिए है, मजूर भी धनियोंके लिए हैं, यही भगवानकी व्यवस्था है। उसके खिलाफ जाना अच्छा नहीं!

मैं अब सोच रहा था, हिन्दीमें एक ऐसी पुस्तक लिखूँ, जिससे साम्यवादके समझनेमें आसानी हो। उसके समझनेकेलिए साइंस, दर्शन, समाजशास्त्र, अर्थ-शास्त्र आदि बहुतसे विषयोंका कामचलाऊ ज्ञान होना चाहिए। मैंने इसकेलिए पुस्तकोंका पढना और नोट लेना शुरू किया।

२७ जुलाईको बिहार-गवर्नरके परामर्शमन्त्री मिस्टर रसल जेल देखनेकेलिए आये। मैं महीनों पहिले ही बैरक छोड़कर सेल (तनहाई कोठरी)में चला आया था। यहाँ एकान्तमें पढ़ने-लिखनेका ज्यादा सुभीता था। और साथियोंसे मिलकर वह मेरे पास भी आये और पूछा कि कुछ कहना है। मैंने कहा—"साथियोंने माँगें पेश की होंगी।" उन्होंने कहा—"हाँ बहुतसी।" मैंने कह दिया—"उनसे अधिक मैं खास तौरसे कुछ नहीं कहना चाहता।"

जेलमें काफ़ी समय था। इसलिए मैं चाहता था, कि तिब्बतसे लाये फोटो-चित्रों-की सहायतासे कुछ पुस्तकोंका सम्पादन करूँ। मैंने इसकेलिए बिहार रिसर्च सोसा-

जैसा कि मैंने पहिले कहा, हमारे कैम्पमें सबसे अधिक संख्या पंजाबी भाइयोंकी थी। हम लोगोंका दिन बहुत अच्छी तरह कटता था। जाते ही मुझे साथियोंने भारतीयपर लेक्चर देनेकेलिए कहा। महीने भरसे अधिक मैं रोज़ डेढ़ घंटे भारतीय दर्शनपर लेक्चर देता रहा। जहाँ श्रोताओंके ज्ञानका एक ही तल न हो और जहाँ सबकी दिलचस्पी उस विषयमें न हो, वहाँ दर्शन जैसे रूखे विषयपर लेक्चर देना आसान काम नहीं है। लेकिन मैंने किसी तरह अपने कामको निभाया और श्रोताओंकी संख्याको देखकर मालूम हुआ, कि मैं असफल नहीं रहा। इन लेक्चरोंने मुझे "दर्शन-दिग्दर्शन" लिखनेमें बड़ी सहायता की।

संघर्षका सूत्रपात—विहारने अपने सभी राजवंदियोंको दूसरे दर्जेका बनाके भेजा था और युक्तप्रान्तकी सरकारने सबको पहिले दर्जेका। पंजाबने बहुत थोड़ेसे ऐसेम्बली मेम्बरों और दूसरे लोगोंको पहिले दर्जेमें भेजा था, नहीं तो सभी बाकी दूसरे दर्जेके थे। पहिले दर्जेके राजवन्दी जिस कैम्पमें रहते थे, उसे पहला नंबर कैम्प कहते थे। हम लोगोंके देवली छोड़नेसे थोड़ा पहिले एक तीसरा नंबर कैम्प भी खुल गया था। पहिले कैम्पमें कुछ लोग पढ़-लिख रहे थे, सुपरिन्टेन्डेन्ट वहाँ गया, लोग खड़े नहीं हुए, इसपर साहब आगबगूला हो गया। वैसे पहिलेसे भी राजवंदियोंको अस्पताल, खानेकी चीज इत्यादिकी तकलीफें थी, और झगड़ेकी पूरी संभावना थी। लेकिन अब तो मेजर साहब भी व्यक्तिगत तौरसे रुष्ट हो गए। मेजर ने १७ ता० को हुकम टाँग दिया, कि मीटिंग नहीं करनी होगी, कवायद बंद करना होगा। २५ जनवरीको अजमेरका चीफ़ कमिश्नर आया—हम लोगोंका सबसे बड़ा अफसर वही था। लाइफ-ब्वाय साबुनके बारेमें हमने कहा कि हमें चाहे भातामें कम दो, किन्तु नहानेकेलिए कोई अच्छा साबुन दिया जाय। उसने जवाब दिया, हम भी यही साबुन लगाते हैं बिहार से हुकम आया कि हमारे कपड़ोंको लौटा दो और यहाँ हमें अभी कपड़ा ही नहीं मिला था। कपड़ोंको लौटाकर हम नंगे रहते!! अस्पतालके जुल्म और बेपरवाहीका तो कोई ठिकाना ही नहीं। मुझे अक्सर बुखार आ जाया करता था और महीनेमें दो-तीन बार अस्पताल जाना पड़ता। २७ मार्चको गया तो डाक्टरने कहा—इंजेक्शन देंगे। और दूधका इंजेक्शन दिया जाने लगा। ५ अप्रैलको बुखार बहुत तेज हुआ। डाक्टरको खबर दी गई, लेकिन किसको पर्वाह? सूर्यास्तके समय बुखार १०३ डिग्रीसे ज्यादा हो गया। सिपाहीने कितनी ही बार खबर दी, किन्तु डाक्टर नहीं आए। अब बेहोशी आने लगी। डाक्टरको खबर देना भी मुश्किल काम था, क्योंकि सिपाहियोंको हमसे बात करनेकी सख्त मनाही थी,

दो-चार सिपाहियोंके कैद हो जानेपर वह और डर गये थे। साढ़े ६ बजे बन्तासिंह हाजरी लेने आए, तो उन्हें साथियोंने खूब फटकारा। बन्तासिंहने जाकर डाक्टरको भेजा। बड़ा डाक्टर तब भी नहीं आया, छोटा डाक्टर खुद बीमार था, किन्तु वह उठकर आया। दूसरे दिन (६ अप्रैल) मुझे अस्पताल ले गये। अस्पतालमें पहिले हीसे आदमी भरे हुए थे। उस दिन मैं वहाँ रहा। ७ अप्रैलको बड़ा डाक्टर सवेरे आया और उसने मुझे अस्पतालसे जानेका हुकुम सुनाया। मैंने दोपहरको ही जाना चाहा, किन्तु साथ जानेवाला कोई सिपाही नही मिला। डेढ़ बजेसे ज्वर चढ़ने लगा, शरीरमें ठंडक और सिहरन होने लगी। बुखार ४ बजे तक १०४ डिग्री पहुँचा। कम्पाउडरको कहनेपर वह आनेको तैयार नही हुआ और कोई लाल-सा पानी भेज दिया। शिर फटा जा रहा था, उसने एक पुड़िया भेज दी। यह था एक सभ्य सरकारका अस्पताली प्रबन्ध। मध्यकालीन बर्बरतासे यहाँ क्या कमी थी? दिखलानेकेलिए अस्पताल और डाक्टर जरूर थे, और खुफ़ियाके आदमियोंको कम्पाउंडर-बनाकर रख दिया गया था। रोगियोंको भोजन देते वक्त पूरा ख्याल रखा जाता, कि दूसरे दर्जेवाले बंदियोंको ६ आने और पहिले दर्जेवालों को १२ आनेसे अधिकका खाना न दिया जाय। ८ बजे कम्पाउंडर आया। ज्वर तेज था। आँखें मुँदी जा रही थी, शिर फटा जा रहा था। अब अस्पताल-वालोंको होश आया। डाक्टरने आकर कहा, इसका मुझे पता नहीं था। हाँ, ज्वर गिरानेका उपाय किया जाने लगा। पहिले ठंडेपानीकी पट्टियाँ शिरपर रखी गईं, फिर शिर भी भिगोया गया। बाल्टीमें पाइप डालकर पानी उडेला जाने लगा। बहुत देर बाद बर्फकी थैली आई। तब तक अँधेरा हो चला था, और शायद ज्वर भी उतरने लगा था। उस दिन इतना जोरका बुखार आ चुका था, किंतु एक ही दिन अस्पतालमें रखकर डाक्टरने जानेकी छुट्टी देदी। यह हालत थी, हमारी जानोंकी सरकारको जब कोई पर्वाह नहीं थी, तो इन खुफियावालोंको क्या होनी? अस्पतालका कैसा प्रबन्ध था, यह इस उदाहरणसे मालूम हो जायगा।

अधिकारियोंको मालूम हो गया था, कि हम ज्यादा दिनों तक इन अत्याचारोंको बर्दाश्त नही कर सकेंगे। हमने अपनी माँगें भी लिख भेजी थी। १४ अप्रैलको पता लगा कि मेजर हमारी माँगोंके-बारेमें बातचीत करनेकेलिए दिल्ली गया हुआ है। यह भी अफ़वाह उड़ रही थी, कि हम लोग अपने प्रान्तोंमें भेज दिए जायेंगे, और इस कैम्पमें इतालियन युद्ध बंदी आएँगे। देवली ऐसी गरम और मलेरियासे भरी जगह में अंग्रेज शत्रुबन्दियोंको कैसे ला सकते थे? यदि लाते तो

अंग्रेजबन्दियोंके साथ क्या इतालीमें वैसा ही बर्ताव नहीं किया जाता? लेकिन प्रान्त भेजने आदिकी सब बात गलत निकली, जब कि १७ अप्रैलको टीगे, रणदिवे, और बाटलीवालाको कैम्पसे निकालकर किसी अज्ञात जगहमें भेज दिया गया। २६ अप्रैलको राजेन्द्रसिंह और बाबा भगवानसिंह की हालत बड़ी खराब हो गई। राजेन्द्रसिंहको १०५ डिग्री ज्वर था, पाखानेसे खून आने लगा था, २० कै हुई। वह बेहोश हो गये और हालत अबतर थी। १२ बजे डाक्टरको खबर दी गई। बुलानेकी कितनी कोशिश की गई, लेकिन वह तीन बजेसे पहिले नहीं आया—राजबन्दियोंकी जानकी उसे पर्वाह नहीं थी। वैसे तो दुनियामें सबसे नीच हृदय ये अंग्रेजी सरकारके खुफिया-अफसर कैम्प के प्रबन्धक थे, लेकिन बड़ा डाक्टर तो बिल्कुल ही पत्थर था। हम लोग कितने दिनों तक बर्दाश्त करते। जेलवालोंको भी मालूम हो गया था। उन्होंने धमकी देनी शुरू की—जो भूख हड़ताल की, तो मुकदमा चलाया जायगा। कैसी बच्चोंकी सी बात थी। बिना मुकदमेके ही हम लोग अनिश्चित कालकेलिए बन्द थे—यदि उसमें दो एक साल निश्चित हो जाते, तो कौनसी आफत आ जाती? हमारे जेलकी सीमा कहाँ थी, कि सजा देकर उसे दो कदम और आगे बढ़ाया जाता। हाँ, सजा होनेपर एक फायदा जरूर होता, कि हमें देवलीसे निकालकर किसी दूसरी जगह रखना पड़ता। इस वक्त देवलीका टेम्परेचर ११६ डिग्री रहता था।

२७ अप्रैलको हमारी माँगोंके बारेमें जाँच करनेकेलिए चीफ-कमिश्नर (अजमेर) आया। दोनों कैम्पोंके प्रतिनिधि बुलाए गये। उसने कहा कि आपकी माँगोंके बारेमें सरकार विचार कर रही है, भूखहड़ताल न करें। जूनेके बारेमें पूछनेपर बतलाया, इसे तो मदरास हाईकोर्टके जज भी गैरजरूरी समझते हैं।

यद्यपि हमारी बैरकोंकी छतवाली टीनके ऊपर खपड़ैल भी पड़ी थी। लेकिन देवलीमें ११६ और १२० डिग्री गर्मी थी। सवेरेके दो-तीन घंटे छोड़कर सारे दिन और कुछ रात तक भट्टेसे निकलती हवाकी तरह की लू चलती थी। २७ अप्रैलको इसकी रोक-थाम केलिए पैसे-पैसेवाले एक एक पंखे दिए गये, जिनमें कुछ तो उसी दिन खराब हो गये। कैम्पके किनारेवाले मचानोंके सन्तरी ६ बजेके बाद सारी रात जोरसे बोला करते थे—"नम्बर तिरी आलिअहेल—जिसका मतलब था "नम्बर थिरी आल् इज वेल। "सब अच्छा है" की जगह "सब नरक है" कहना देवली-कैम्पकी वस्तुस्थितिको बतलाता था, इसमें संदेह नहीं। मैंने डायरीमें लिखा था—"कमरेके भीतर तो रात-दिन दोजखकी आग धक-धक कर रही है।" घरके भीतर तो सवेरे भी साँस निक-

लती थी। अगले दिन मैंने स्वप्न देखा—चूनेका भट्टा तपाकर खाली कर दिया गया, और हम उसीके भीतर बैठे हैं। फिर देखा कि मैं सेवारवाली नदीमें तैर रहा हूँ।

३० अप्रैलको कैम्पके तख्तेपर नोटिस टँग गया, कि हमें दो की जगह चार कुर्ते, चार पाजामे या धोतियाँ, दो कच्छे, दो बनियान और एक जोड़ा देशी जूता सालमें मिला करेगा। ओढ़नेकेलिए दो-दो चादरें भी मिलेंगी और माँगें तो करीब-करीब पूरी हो गईं। लेकिन भोजन तथा पहिला दूसरा दर्जा हटाकर सिर्फ एक दर्जा रखनेकी माँग के बारेमें कुछ नहीं हुआ। हम लोगोंने मिलकर तै किया कि अगले सप्ताह भूख-हड़ताल की जाय।

जेलके राजनीतिक बन्दी काँग्रेस-सरकार या गोरी सरकार दोनोंसे राजबन्दियोंमें वर्गभेद—पहिला, दूसरा, तीसरा दर्जा—उठा देनेकी माँग बराबर करते रहे। और कितनी ही माँगें मंजूर हुईं, लेकिन वर्गभेद उठानेकी बात सरकारने कभी नहीं माना। मैंने किमान राजबन्दियोंमें वर्गभेद हटानेकी माँग पेश की थी, लेकिन काँग्रेसी सरकार उसमें टससे मस नहीं हुई। ऊपरसे कहा जाता, यह खर्चेका सवाल है, या साधारण या गरीब घरोंसे आए बन्दियोंको खाने-पीनेके इतने आरामके साथ रखना उन्हें जेल आनेकेलिए निमन्त्रण देना है। लेकिन कोई भी मानवपुत्र अपनी स्वतन्त्रताको इतनी सस्ती कब बेच सकता है? असल बात यह है, कि सरकारें स्वयं वर्गभेदपर आधारित हैं, वह अपने राजके किसी कोनेमें भी खान-पानकी समानता स्थापित होने देना नहीं चाहती। ६ मईको नोटिस लगा कि दूसरे दर्जेके बन्दियोंको ६ आनेकी जगह ९ आना खानेको मिला करेगा। अभी भी हमारी कितनी ही शिकायतें थीं, लेकिन हमने कुछ दिनों तक भूख हड़तालको स्थगित रखा। १३ तारीखको पता लगा, कि मेजर हमारी माँगोंके बारेमें बातचीत करनेकेलिए चीफ-कमिश्नरके पास आबू गया है। १६ मईको मालूम हुआ कि रविवार छोड़कर बाकी दिन दोनों कैम्पोंके राजबन्दी सबेरे एक घंटे (६ से ७ बजे) और शामको डेढ़ घंटे (साढ़ेपाँच बजेसे ७ बजे) तक मिल सकते हैं।

२८ मईको अस्पतालमें युक्तप्रान्तके राजबन्दी वेनीमाधवरायके साथ एक दूसरा राजबन्दी अस्पताल गया। अस्पतालमें नर्सका काम करनेवाले आदमीने वेनीमाधवके साथी को अपमानित किया। उसने भी इसका जवाब दिया, इसकेलिए उसे एकान्त-वासकी सजा मिली। हमारे साथियोंने इसका विरोध किया। फिर पता लगा कि अधिकारी उसे पागल बनाकर अलग रखना चाहते हैं। अस्पतालके बीमार साथियोंने जब विरोध किया, तो पचास-साठ सैनिकोंको लेकर मेकार्डी वहाँ पहुँचा।

वह उस तरुणको जबर्दस्ती ले जाना चाहता था। इसपर अस्पतालके बीमार साथी रायको घेरकर बैठ गये। जबर्दस्ती की जाती, तो जरूर एकाधकी जान जाती। खैर, मेकार्टी वहाँसे हट गया। सिविलसर्जनको अजमेर तार दिया गया, वह आया। वह रायको अजमेर ले गया। राजेन्द्रकी नब्ज देखी। सुनील और एक दूसरा साथी सख्त बीमार थे, लेकिन उसने उनको देखा तक नहीं। हमारी कैम्प-कमेटीने उससे बातचीत करनी चाही, किन्तु उसने बात भी नहीं की। अन्तमें ३० मईकी साढ़े ६ बजे रात हमने ४० घंटेकी मियाद देकर अधिकारियोंको अल्टीमेटम दे दिया—यदि बड़ा डाक्टर नहीं हटाया गया और खतरनाक बीमारीवालोंको अजमेर अस्पताल नहीं भेजा गया, तो हम लोग भूख हड़ताल करेंगे। ३१ मईको पता लगा, कि बड़े डाक्टरको बदल देनेकेलिए तारसे हुकुम आया है, यह भी मालूम हुआ, कि मेजर सिविलसर्जनको लेकर रोगियोंको देखने आ रहा है। पहिली जूनको ८ बजे रातको हमारे कैम्पके नेता घाटे और धनवंतरि को बन्तासिंह बुला ले गये। सिविलसर्जन आया हुआ था। सिविलसर्जनने कहा कि सुनील, राजेन्द्रसिंह आदि खतरनाक बीमारीवालोंको कल यहाँसे अजमेर ले जाया जायगा, इसकेलिए अस्पताली मोटर भी आगई है, बड़ा डाक्टर जारहा है, भारत सरकारको तार दे दिया गया, कि किसी दूसरे डाक्टरको भेजें। जब तक वह नहीं आता, तब तक प्रतिसप्ताह मैं (सिविलसर्जन) मरीजोंको देखने यहाँ आऊँगा। यह भी पता लगा कि साथी बेनीमाधव रायको पागल नहीं करार दिया गया, वह अजमेरसे लौट आए है। उन्होंने यह भी कहा कि हम इस शर्तपर बेनीमाधव रायको दिखला सकते हैं, कि आप लोग अपनी भूख-हड़तालको छोड़ दें। रातको हमने मिलकर आपसमें विचार किया, और तै किया कि हमारी दोनों माँगें मान ली गई हैं, इसलिए भूख-हड़ताल करनेकी जरूरत नहीं, लेकिन कम्यूनिस्ट पार्टीके बाहरवाले राजबन्दियोंने कुछ माँगें और भी जोड़ दीं, और भूखहड़ताल जारी रखी, किन्तु कुछ दिनों बाद उनको भी मनसे उसे छोड़ देना पड़ा। कम्यूनिस्ट पार्टीवाले एक अनुशासनबद्ध सेनाकी तरह संगठित थे। कोई निर्णय करना होता, तो सब मिलकर उसपर पूरा विचार करते, गर्म-गर्म बहस होती, लेकिन जब एक मर्तबे कोई निर्णय हो जाता,

भूखा नहीं था। जिसको कैम्प अधिकारियोंसे बात करनेका काम दे दिया जाता, वही उनसे बात करता। लेकिन दूसरी पार्टियोंके बारेमें यही बात नहीं थी, वहाँ हरेक आदमी नेता बनना चाहता था।

सामाजिक जीवन—जैसा कि मैंने पहिले कहा, रसोई-पानीका इन्तिजाम करनेकेलिए हर हफ़्ते हमारी रसोई-कमीटी चुनी जाती थी। खाना-खानेकी चीजें ठेकेदारसे खरीदना, पैसोंका हिसाब रखना, खाना बनवाके खिलाना, आदि काम कमीटीके जिम्मे था। उस वक़्त देवलीमें दूध रुपयेका ८ सेर और माँस ४ सेर बिकता था। आटा आदि भी हजारीबागसे सस्ता था, किन्तु साग-तरकारी मँहगी और दुर्लभ थी, उसे अजमेरसे मँगाना पड़ता था। हमने अपने कैम्पमें सरसोंका साग बो रखा था, और उससे काफ़ी साग रोज निकल आता था। दूसरी जो चीजें अपने पैसेसे मँगानी होती थी, उनकेलिए हफ़्तेमें एक दिन आर्डर देना पड़ता था, और ठेकेदारका आदमी सोमवारके सोमवार दे जाता था। हजारीबागमें हमें कपड़ा धुलानेकी बड़ी तकलीफ थी, लेकिन यहाँ बाहरका धोबी कपड़े ले जाता था और उसमें कुछ दिक्कत नहीं होती थी। हजारीबागमें हमें रोज १२ सिगरेट मिलते थे। मैंने वहाँ थोड़ा-थोड़ा सिगरेट पीना सीखा था। यहाँ आकर देखा कि अध्यक्षारने एक फ़र्शी और शेरगुलने एक पठानी हुक्का रखा है। मैं हुक्का-क्लबका भी मेम्बर बन गया था, किन्तु मेरी सर-गरमी ज्यादा दिन तक नहीं रही। मैंने अपने दोस्तोंसे बनारस, कलकत्ता और कहाँ-कहाँसे अच्छे तम्बाकू मँगाए थे; लेकिन, तीन चार महीने बाद हुक्केसे भी तबियत ऊब गई, और मैंने उसे छोड़ दिया। आरम्भिक ५,६ महीनोंमें उस बड़ी जमातके भीतर लिखनेकेलिए एकाग्रता नहीं मिलती थी, इसलिए गप-शप, हँसी-मजाक़, नाटक-प्रहसनमें बहुतसा समय जाता था। हमारे साथी बराबर रोज ३,४ घण्टा क्लास लेते थे, जिसमें राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय, साम्यवाद तथा पार्टी-सबन्धी विषयोंपर व्याख्यान होते थे। गर्मियोंके बाद लोग पढ़नेमें बहुत समय देने लगे।

कमेटियोंके बारेमें कितने ही कार्टून भी निकले। कार्टूनोंकेलिए विचार मैं देता, और खींचता था कोई और। रसोईघरकी दीवारपर जब कार्टून लग जाता, तो लोग उसे बड़े चावसे देखते थे। एक कमेटीमें बाबा शेरसिंह और ठाकुर बरियामसिंह जैसे तीन-तीन मनवाले मोटे-मोटे साथी आ गए, और उन्हींमें दुबले-पतले अशरफ भी थे। कार्टूनमें दो मोटों तोंदवाले बैठा दिए गये, और उनके सामने थालमें खूब भरके खाना रख दिया गया। अशरफको तीन

सर्पका बच्चा बना कर नंगा ही सामने बैठा दिया गया। भाव यह दिखलाया गया था, कि बच्चे बेचारेको रोटीका टुकड़ा भी नहीं मिल रहा है, वह रो रहा है और दो भोजनभट्ट अपने काममें लगे हुए हैं। बाबा शेरसिंह मौजी जीव थे। उन्होंने १९१४-१५ वाले लाहौर राजविद्रोहमें आजन्म कालापानीकी सजा पाई थी, और जिन्दगीका बहुत हिस्सा उन्होंने कालापानी और दूसरी जगहोंमें काटा था। वह कार्टून देखकर बहुत हँसे। ठाकुर बरियामसिंहको वह मीठा-कड़वा लगा, लेकिन वह मेरे घनिष्ट मित्र थे। वह मुझसे शिकायत करने लगे। मैंने कहा—ठाकुर साहब, आप अभी नौजवान हैं, वजन कम कीजिये और कनस्तरका घी छोड़िए। ठाकुर साहबके पास हर महीने दो महीनेमें एक पीपा कनस्तर घी घरसे चला आता था। उन्होंने कहा—अच्छा मैं घी छोड़ देता हूँ। मैंने कैम्पभरमें सूचना दे दी, कि ठाकुर बरियामसिंहने घी छोड़ दिया। ठाकुर साहबने बचे घीको भी शायद पकवान बनाकर खिला दिया। लेकिन ठाकुर साहबकी प्रतिज्ञा ज्यादा दिनतक नहीं चली। कहने लगे—लड़कपनसे घी खा आया हूँ, उसके बिना खाना फीका-फीका लगता है।

जब हम लोगोंके भोजनकेलिए ६ आनेकी जगह ९ आना मिलने लगा, तब सलाह होने लगी कि रसोईकेलिए कितने पैसे दिये जायें और कितने दूध-दाधके लिए। पंजाबी के यहाँ दूध-दाधका ही पलड़ा हमेशा भारी होता है। निश्चय हुआ कि पाँच आना दूध-दाधकेलिए दिया जाय, और तीन आना रसोईखानेकेलिए। हमने बहुतेरा जोर लगाया कि रसोईखानेमें एक-दो आने और बढ़ा दिये जायें, लेकिन वहाँ कौन सुननेवाला था? था भी ठीक, हमारे पंजाबी साथी लोटेसे दूधपीनेवाले नहीं थे, वह बाल्टियोंमें दूध पिया करते थे। पाँच आनेमें सिर्फ ढाईसेर दूध मिलता था, उससे उनका क्या बनता? मैं कहा करता—पंजाबीके सामने बाल्टीमें चूना घोलकर भी रख दिया जाय, तो वह एक बार मुँह लगाए बिना नहीं रहेगा। अपनी बात यह थी, कि मुझे पाँच आना भी खर्च करना मुश्किल होता। खाली दूध एक प्याला भी पीना मेरेलिए मुश्किल है। घीसे भी मैं भरसक बचना चाहता, हाँ मांसमें मेरी दिलचस्पी जरूर रहती, और वह तो रसोईखानेमें रोज मिलता ही था।

सब लोगोंने मिलकर अपनी अपनी क्लब खोली थी। हरनामसिंह "चमार", मैं और मक्खनसिंह तर्रासिक्काने फल-क्लब बनाई। हम लोग खानेकेलिए मौसमी फल मँगाया करते। तर्रासिक्का अक्सर बीमार हो जाया करता, और उसे अस्पताल जाना पड़ता। मैंने उसका नाम बीमार रख दिया था—पंजाबी उच्चारण बमार। धीरे-धीरे सारे कैम्पके लोगोंने उसे "बमार" कहना शुरू किया। पहिले तो उसे बुरा

नही लगा, लेकिन पीछे जब सब जगह लोग "बमार-बमार" कहने लगे, तो उसे बुरा लगने लगा। उसने मुझसे कहा—अब मुझे बमार न कहा करें। मैंने कहा—एवमस्तु। मैंने दूसरे साथियोंको भी कहा कि अब अपने लोग तरसिक्काको "बमार" न कहें, लेकिन वहाँ कौन माननेवाला था? वह कहने लगे—आप भले ही "बमार" न कहें, लेकिन हम लोग तो "बमार" कहेंगे। सबसे बड़ी क्लब थी, पंडित रामकिशन, सुनील, माथुर, अशरफ़ आदि की। पीछे मैंने इस क्लबका नाम रख दिया था "कामचोर क्लब", जिस नामसे उसकी बड़ी ख्याति हुई। पंडित रामकिशन और शेहरगुल एक कोनेकी कोठरीमें रहते। वहाँ हम लोग दूध जमाकर रखते थे। दरवाजा खोलकर भेड़ना तो हम हिन्दुस्तानियोंकी आदत नही है। ३ दिन तक बिल्ला आकर दूध पी जाता था। अब उन्होंने दूध रखना बन्द कर दिया। एक दिन मैंने रात को देखा कि बिल्ला कोठरीके दरवाजेपर चक्कर लगा रहा है। मैंने साथियोंसे कहा—पंडित रामकिशनने पहरा देनेकेलिए एक बिल्ला रखा है। यार लोगोंने भी कहना शुरू किया—"पडतने पहरा देनेकेलिए बिल्ला पाला है।" पंडित रामकिशनकी क्लबमें चाय खूब चलती थी। लोग चाय पी-पीकर अपने बर्तनोंको वहीं छोड़ देते, फिर जब ४ बजे चाय पीनेका वक़्त आता, तो बर्तनोंके धोनेकी फिकर पड़ती। उसमें ज्यादा आदमी ऐसे थे, जो हाथके कामको पसन्द नही करते थे। फिर "कामचोरक्लब" नाम मुँहसे निकलते ही क्लब क्यों न सारे कैम्पमें मशहूर हो जाती? बाबा करमसिंह धूत, कामरेड किशोरी प्रसन्नसिंह, और दयानन्दका भाकी एक क्लब थी, जिसका नाम मैंने "छोलावताऊँ-क्लब" रख दिया था। इस क्लबमें शामका भिगोया कच्चा छोला (चना) नियमसे रोज़ सबेरे खाया जाता, बताऊँ (बैंगन) जोड़ मिलानेकेलिए जोड दिया गया था, इस प्रकार इसका नाम था—"छोलावताऊँ क्लब"। इसपर दयानन्द घीका पीपा (कनस्तर) दिखलाते फिरते, कि हमारे यहाँ घी भी खाया जाता है। मैंने कहा—"हाँ, इनके यहाँ घी भी खाया जाता है। एक चम्मचमें तीन आदमी खाते हैं, उसपर भी पीपेमें घी बढ़ता जाता है।" लोगोने पूछा—"घी बढता कैसे जाता है?" मैंने कहा—"इनके पीपेमें घीका चश्मा फूट निकला है"। साथियोंने हल्ला किया—"छोलावताऊँ क्लबमें पीपेके भीतर घीका चश्मा फूट निकला है।"

बाबा करमसिंह धूत जवानीमें ही मजदूरी करनेकेलिए अमेरिका चले गये थे, वहाँ बहुत सालों तक रहे। फिर सोवियत् रूस गये, और वहाँ भी कितने साल बिताए। हिन्दुस्तान आनेपर उन्हें कई साल तक जेलके भीतर रखा गया, अब फिर वह जेलके

भीतर थे। उनकी खाट मेरी बगलमें थी। हम दोनों पड़ोसी थे। उनकी उमर ७० वर्ष के करीब थी, केश, दाढ़ी सब सनकी तरह सफेद, लेकिन इस अवस्थामें भी वह ४ बजे रात ही को उठकर खूब दंड-कसरत करते। दूसरोंको भी दंड-कसरत करने केलिए बहुत समझाया करते। व्यायामका उनके शरीरपर साफ शुभप्रभाव दिखाई पड़ता था, लेकिन हम लोग उतनी मेहनतके आदी नहीं थे। माथुर और रघुपाल-सिंह आदिने कबूल तो कर लिया, लेकिन बाबा घड़ीकी सुईकी तरह ४ बजे उठ जाते और जवानोंको कसरत करनेकेलिए उठाते थे। हफ्ते-दस दिन तक तो किसी तरह कसरत होती रही, फिर लोग बहाना करने लगे और बाबा अकेलेके अकेले रह गये। बाबा धूत बहुत साफ-सुथरे रहते थे। धोबी कपड़े फाड़ देगा, इसके ख्यालसे वह कपड़े भी खुद धो लिया करते। मुल्तान-जेलमें जब वह राजबन्दी थे, उस वक्त उन्होंने एक बहुत ही सुन्दर रंगीन खेस (पलंगकी चादर) बनवाई थी। आठ नौ वर्ष पहिले वह खेस बनी थी, और आज भी देखनेपर मालूम होता था, कि कल ही बनकर आई है। ऐसी सुन्दर खेसको रोज-रोज बिछाना तो कोई पसन्द नहीं करता। बाबा चीजोंको बहुत जुगाकर रखा करते थे। मैंने कहा—"बाबा! बहुतसे लोगोंकी नजर इस खेसपर गड़ी हुई है।" बाबाने उसे बिस्तरेके नीचेसे निकालकर बक्स में बंद कर दिया। अब एक षड्यंत्र रचा गया। मैंने हलवा बनवाया, "कल-कलबकी" ओरसे एक दर्जन आदमियोंकी दावत हुई। दावत खानेवालोंमें कुछको रहस्य मालूम था, और कुछ को नहीं। मैंने मेहमानोंको कह दिया था—भाई आज चंगे-चंगे लीड़े (कपड़े) पहनके आना। नैनासिंहने खूब बड़ासा सफेद पगड़ बांधा था। योगिन्दर सिंहने रेशमी साफा बांधा था। "चमक", मैं और "कमार" तो खैर अपने कलबके आदमी थे। चमककी कोठरी ही हमारा कलबघर था। कोठरीमें गद्दा बिछाया गया। बाबा धूतकी खेसको बक्सके भीतरसे निकाला गया, और उसे गद्देपर बिछा दिया गया। ऊपरसे एक और चद्दर बिछा दी गई। मेहमान हलवा खाने लगे, बाबा धूत पहिले तो मानते नहीं थे, लेकिन और किसी तरह से मान गए। वह भी हलुवा खा रहे थे। इसी समय समयसे पहिले ही किसीने चद्दरको खेस परसे हटा दिया, बाबा धूतने देख लिया। उनकी त्यौरी बदल गई, और उतने ही में दक्षयज्ञ-विध्वंस-लीला हो गई, नैनासिंह अलग भागे, जोगिन्दरसिंह अलग। बाबा मुकार बहुत नाराज हुए, लेकिन हम दोनों तो सबको अलग-अलग मनानेवाले थे। बाबाने दो-तीन दिन गंभीर मुद्रा धारण की, फिर दिल तो उनका नरम था ही, नरम पड़ गये। यद्यपि षड्यंत्रका सरगना मैं था, लेकिन मैं बहुत मासूम

बनकर बाबाको समझाया—"बाबा! मेरा भी थोड़ा कसूर है, लेकिन उतना क़सूर नहीं है जितना कि आप समझते हैं। देखा नहीं, नैनासिंह कितना बड़ा पगड़ बाँधके आया था, और जोगिन्द्रसिंहको क्या कभी कैम्पमें रेशमका साफ़ा बाँधे देखा गया था ?" चमकने मेरे हाथ-पैर जोड़ दिए थे, इसलिए मैंने उसका नाम नहीं लिया। बाबाने समझ लिया कि नैनासिंह और जोगेन्द्रसिंह इस षड्यन्त्रके बानी थे।

माथुर और अशरफ कामचोरक्लबसे अलग हो गए थे। उन्होंने तै किया था, कि दोनों वक्त दूध पी लिया करेंगे। दोनों ही बहुत पढ़नेवाले थे। बेचारे दूधको लाकर जँगलेपर रख देते, कि ज़रा ठंडा हो जाय तो पियेंगे, लेकिन पढ़नेमें इतने लग जाते, कि दूध ख्यालसे उतर जाता, फिर ठंडा हो जानेपर उसे पिये कौन ? इसलिए वह आठ-आठ घंटे वैसा ही पड़ा रहता। मैंने दोस्तोंको दिखलाकर कहा—हमारे कमरेमें दूधका सिरका बनता है। लोग माथुर-अशरफसे कहने लगे—"भाई, सिरका तैयार हो जाय, तो हमें भी थोड़ा देना।" कैम्पमें दूधसे सिरका बनानेवालोंकी भी चर्चा काफी होने लगी।

चन्द्रमासिंह बिहारका एक वीर तरुण है, आतंकवादी होते वक्त उसने अपनी वीरताका अद्भुत परिचय दिया था, और फाँसीसे बाल-बाल बचा था। चन्द्रमाकी शादी अभी-अभी हाजीपुरके पास हुई थी, थोड़े ही दिनों बाद उन्हें पकड़कर हजारीबाग भेज दिया गया। जेलमें बिनोदका क्षेत्र बहुत परिमित होता है। ढूँढ़-ढाँढ़कर लोगोंने चन्द्रमाकी बीबीसे भाभीका नाता लगाया। नाम किसीको मालूम नहीं था। मैंने मुनियाँ कह दिया, और वह उसी नामसे मशहूर हो गई। हाजीपुर में नारंगी, केला, बहुत अच्छे और बहुत ज्यादा पैदा होते हैं। जब सब लोग एक ओरसे मुनियाँ कहने लगे, तो चन्द्रमा विरोध क्यों न करते ? मुनियाँके बाद हाजीपुर और हाजीपुरके बाद नारंगी कहनेसे ही चन्द्रमा भाई नाराज होने लगे—दूसरे बेवकूफोंकी तरह दिलसे नहीं, कुछ ऊपर ही ऊपरसे। एक बार चन्द्रमाका मंत्रिमंडल रसोईखानेके प्रबंधके लिए चुना गया। मंत्रिमंडलके कुछ लोग काममें ढिलाई कर रहे थे, चंद्रमाके ऊपर काम शायद ज्यादा पड़ा था, इसलिए वह नाराज़ हो गए थे। कार्टून बनाकर दीवार पर चिपका दिया गया। मंत्रिमंडलके और आदमियोंको किस तरह बनाया गया था, यह मुझे याद नहीं। चन्द्रमाको एक बैलगाड़ीपर बैठाया गया था, जिसके ऊपर कुम्हड़ा, लौकी आदि तरकारियाँ रखी हुई थीं। चन्द्रमा मानो गुस्सेमें रसोईघर छोड़कर चले जा रहे थे। उनके सामने एक नारंगी का वृक्ष था, जिस पर दो नारंगियाँ लटक रही थीं। चन्द्रमा बेचारेको बहुत

बुरा लगा, लेकिन सारे कैम्पने जा-जाकर कार्टूनको देखा। और जब खबर पहिले नम्बर वाले कैम्पमें पहुँची तो वहाँसे भी उसके देखनेकी माँग आई। हाजीपुर और नारंगी सारे कैम्पमें मशहूर हो गए।

खेलके मैदानमें जहाँ हम लोग शाम सवेरे घूमने और खेल खेलने जाते थे, दोनों कैम्पोंके साथी इकट्ठा होते। वहाँ कभी-कभी कवि-सम्मेलन भी होता। यह नारंगीवाले कार्टूनसे पहिलेकी बात है। उस दिन कविता-पाठ होनेवाला था। जब हम उधर जाने लगे, उसी वक़्त हमारी फलक्जवाला केला आ गया। मैंने केला ले लिया। रास्तेमें खाने लगा, तो चन्द्रमा भाईने माँगा। उनको भी एक या दो केले दे दिए। शायद खानेका वक़्त नहीं रह गया था, उन्होंने केलेको जेबमें रख लिया। नरेन्द्र अपनी कविता पढ़ रहे थे, उसमें कोई उपमा दी, या ऐसे ही "हाजीपुरकी नारंगी" कह दिया। चन्द्रमाने सोचा कि यहाँ चुप रहना बड़ी कायरता होगी, और जेबसे केला निकालकर दिखाते हुए बोले—"हाजीपुरमें केला भी होता है"। अभी तक सभी पहिले कैम्पवाले लोगोंको नारंगी और हाजीपुरका रहस्य नहीं मालूम था। सबको भारी जिज्ञासा हो उठी, और हमारे कैम्पवालोंने उनकी जिज्ञासाको पूरा करनेमें पूरी सहायता की। चन्द्रमा भाईको लोगोंने समझाया—और उन्होंने खुद देखा कि अभी तो नारंगीवाला सलाम थोड़े ही लोग करते थे, लेकिन अब तो सारे कैम्पमें लोग उसीकी चर्चा कर रहे हैं। न जाने किसीने समझाया, या चन्द्रमाने खुद ही समझ मान बैठे—राहुलजीने जानबूझकर मुझे यह केला उस दिन दिया था, कि जिसमें मैं उत्तेजित होकर भरी सभामें केला लेकर बोल उठूँ। यह बात बिल्कुल गलत थी। मैं इतना ज़रूर जानता था कि नरेन्द्र कविता पढ़ेंगे, और उसमें नारंगीका भी नाम आ सकता है। लेकिन उस दिन उस वक़्त केला संयोगसे आ गया था। मैंने चन्द्रमाके आग्रह करने पर केला दिया था। खाना न खाना उनका काम था। हम लोगोंमें मजाक होता था, लेकिन स्नेह और मर्यादाके साथ, इसलिए कटुता आने नहीं पाती थी।

हजारीबाग आनेपर एक दिन और अच्छा मजाक रहा। चन्द्रशेखरका नया-नया ब्याह हुआ था। उनके जैसे क्रान्तिकारी तरुणोंके लिए मेल दूसरी ससुराल होती है। शकुन्तला (चन्द्रशेखरकी बीबी) उस वक़्त हिन्दू युनिवर्सिटीमें शायद बी० ए० में पढ़ रही थी। तरुणोंको चिट्ठियों द्वारा अपना प्रेम प्रकट करनेका अधिकार है, लेकिन उस वक़्त रजियाकी तरह शकुन्तलाको भी एम० ए० पास पतिका कम्युनिस्ट पार्टीका कण्टकाकीर्ण रास्ता अपनाना पसन्द नहीं था। उसके पिता पुराने कांग्रेसी थे, और

न जाने कितनी वार जेल गए आए थे, लेकिन गाँधीजीके रास्तेके अनुसार। कभी ६ महीना वरस दिनकेलिए जेल हो आना उतना बुरा नहीं था, लेकिन कम्यूनिस्टोंके-लिए तो कोई ठिकाना नहीं था, कि कब कौनसी सजा हो जाय। उसने भी रजियाकी तरह मनसूबा बाँधा था, कि मुझमें और कम्यूनिस्ट पार्टीमें से एकको चुनना होगा। चन्द्रशेखर मुस्करा देते थे और शायद कह देते, कि कम्यूनिस्टपार्टी तुम्हारी सौत नहीं है, मेरी माँ है। पीछे तो शकुन्तला भी पार्टीकी बेटी हो गई। खैर, एक दिन चन्द्रशेखरने एक लम्बा पत्र रातकी चाँदनी और कौन-कौनसी उपमाएँ देकर काव्यमय लिखा था। यार लोगों ने लंबे खतको लिखते देख लिया था। चन्द्रशेखर खतको अपने हाथसे आफिसमें दे आए। किसीने यह कहकर उसे आफ़िससे झटक लिया कि चन्द्रशेखर इसमें कुछ जोड़ना चाहते है। रातको नाटक हुआ और उसके अन्तमें, माथुरने घोषित किया, कि मैं एक मेस्मरेजिम्का खेल दिखाऊँगा, और आत्माको बुलवाकर कितनी अजीवसी वाते पूछूँगा। हम लोग वड़ी उत्सुकतासे प्रतीक्षा करने लगे। उसने ओझा-सोखाके मंतर पढ़कर हाथ फेरते हुए एक साथी-को "बेहोश किया"। फिर परदेकी आड़में आत्माने चन्द्रशेखरके सारे पत्रको पढ़ डाला। चन्द्रशेखरको वड़ा आश्चर्य हुआ, लेकिन लोगोंका खूब मनोरंजन रहा। चन्द्रशेखरने भी उसमे भाग लिया।

सोवियत्के ऊपर हिटलरका आक्रमण—हफ्तों पहिले हीसे अखबारोंमें अफ-वाह छपने लगी कि हिटलर सोवियत्के ऊपर आक्रमण करना चाहता है। यद्यपि हम समझते थे, कि नात्सीवाद और साम्यवादकी आपसमें मौलिक शत्रुता है और झगड़ा होना असम्भव नहीं है, लेकिन आरम्भमें विश्वास नहीं होता था, कि इंगलैण्ड और उसकी पीठपर अमेरिकाकी शक्तिको तोडे बिना हिटलर ऐसा करेगा। २० जूनके आनेवाले रेडियोकी वात सुनी कि रुमानियाने सोवियत्से कोई शहर वापिस माँगा है। उस दिन मैंने लिखा था—"यदि खवर सही है, तो इसमें जर्मनीका इशारा हो सकता है।" अखवारोंने यह भी लिखा कि दो दिन के भीतर सारी जर्मनसेना का सचालन होनेवाला है। इसपर लिखा था—"यह संचालन सोवियत्के सिवा और किसकेलिए हो सकता है? तो क्या जर्मनीने एक ही साथ इंगलैण्ड और सोवि-यत् दोनोंसे भिड़नेका तय कर लिया। चीटीके परसे निकल रहे है।" २१ जूनकी खवरोंमें पढ़ा कि जर्मनीने फिनलैण्डमें अपनी सेनाएँ भेजी, और सोवियत्के पश्चिमी सरहदपर जर्मन सेनाएँ डटी हैं। ५ जगहोंपर दोनों सेनाओंमें मुठभेड़ भी हो गई—मुठभेड़की खबर जरूर गलत है। २२ जून रविवारकी रातको आकर सन्तासिहने

रेडियोकी खबर सुनाई। आज ३ बजे जर्मन-सेनाओंने सोवियत्‌पर हमला कर दिया। मैंने उसी वक्त समझ लिया कि फ़ासिस्तवादका साम्यवादपर हमला हो गया। मुझे यह निर्णय करनेमें देर नहीं लगी कि दुनियाके साम्यवादियों और मजूर-किसानोंका कर्तव्य है—साम्यवादकी रक्षाकेलिए हथियार लेकर फ़ासिस्तोंसे लड़ना। अब युद्ध दो पूँजीवादी देशोंके बीच नहीं रहा। दुनियाके छठे अंशसे साम्यवादके खतम होने-का मतलब है, सदियोंकेलिए किसान-मजूर-राजके स्वप्नको छोड़ देना। यह बहुत जबर्दस्त घटना थी। सब लोग इसपर गम्भीरतासे विचार करने लगे। मैंने पार्टी-साथियोंसे उसी रात कहा, कि अब युद्धके बारेमें हमारे पुराने भाव नहीं रह सकते, हिटलर अब हमारे दुश्मनका दुश्मन नहीं है। बल्कि हमारा दुश्मन है। तीन-चार पार्टीसाथियोंसे ही यह बात हुई, लेकिन मैंने देखा कि उनका रुख मुझसे बिल्कुल उल्टा है। वह समझते हैं, कि लाल-सेना उधर हिटलरसे भी लड़ती रहेगी और इधर हम भी अंग्रेजोंके खिलाफ अपनी लड़ाईको पहिले ही रूपमें जारी रखेंगे। अगले दो-एक दिन और यह चर्चा कुछ मित्रोंसे की, लेकिन कोई सुननेकेलिए तैयार नहीं था। मैंने फिर उसकी चर्चा करनी छोड़ दी। अब जैसे-जैसे हिटलर की सेना आगे बढ़ती, वैसे ही वैसे मेरे हृदयमें विकलता बढ़ रही थी, रातको बड़ी देर तक नींद नहीं आती थी। उस वक्त मेरी यही आकांक्षा रहती कि, दिनरातका अधिक भाग नींद ही में बीत जाता। मेरी बुद्धि कभी यह नहीं कहती थी, कि हिटलर सोवियत्‌को जीत सकेगा। मैंने सोवियत्-सेनाके बारेमें पढ़ा था, सोवियत् सैनिकोंको देखा था, और साथ ही सोवियत्‌की उस साधारण जनताको देखा था, जो जीतेजी अपने स्वर्गको नाज़ियोंके हाथमें जाने नहीं देगी। पहिलेपहल जब साम्यक्रान्तिकी खबर मुझे मिली थी और आगेके युद्धोंके बारेमें थोड़ा-बहुत सुना था, उस वक्त दूसरे लोगोंकी तरह मैं भी समझने लगा था, कि बोलशेविकोंकी जीतमें अपने पौरुषकी अपेक्षा संयोगने ज्यादा मदद की थी। लेकिन जब अक्तूबर क्रान्ति, १४ राज्योंके एक साथ बाल-सोवियत् पर आक्रमण और सफेद जनरलोंद्वारा दुनियाके पूँजीपतियोंका सोवियत् पर हमला—इन सबके बारेमें विस्तृत अध्ययन किया, तो मालूम हुआ, कि सोवियत्‌राष्ट्र संयोगसे नहीं जनताके पौरुष, पार्टीके संगठन, सूझ, आत्मत्याग, और हिम्मतके बलपर कायम हुआ है; इसलिए पूरी तौरसे कभी मुझे निराश होना पड़ा हो, ऐसा समय मुझे याद नहीं। लेकिन नाज़ियोंके बढ़नेकी खबरें मुझे व्याकुल जरूर कर देती थीं। जिस वक्त लेनिनग्रादपर जबर्दस्त हवाई हमले हो रहे थे, उस वक्त मैं निराकार लोगोंको नहीं देख रहा था। वहां मुझे लोगों और घर दिखाई पड़ते थे, और उसी तरहकी लाखों

माताएँ और शिशु आँखोंके सामने आते थे। २६ जूनको लोलाका २३ अप्रैल और डाक्टर श्चेवात्स्कीका २२ अप्रैलका लिखा पत्र मिला। युद्धसे दो मासपूर्व यह पत्र लिखे गए थे। मेरे हृदयमें आग धधक रही थी, मैं सोच रहा था, लेनिनग्रादकी बमवर्षाके बारेमें। २८ जूनको पढ़ा—लेनिनग्राद जल रहा है। ७ जुलाईकी डायरीमे लिखा था—"मेरी चिन्ता दूर नही होती, रातको भी नीद खुलनेपर जल्दी आँखें फिर नहीं झपती।"

५ जनवरी (१९४१) के पत्रमें लोलाने लिखा था, "ईगर बहुत ही होशियार, उत्साही और सुन्दर बच्चा है, लेकिन जैसा कि मैंने पहिले लिखा था, वह बहुत कम बोलता है। पिछले दिनोमें उसके शब्दकोषमें थोड़े शब्दोंकी वृद्धि हुई है—बिल्ली, कुत्ता, पुस्तक, रोटी, मक्खन, दियासलाई और कुछ और। तुम इसे समझ सकते हो कि अभी उसकी भाषामें प्रवाह नही है। वह बहुत हठी-जिद्दी बच्चा है, शायद उसकेलिए मैं भी जिम्मेवार हूँ। सबेरे साढे सात बजे मै घर छोड़ती हूँ, और शामको ८ बजे लौटती हूँ। ठीक १० बजे रातको उसे सुला दिया जाता है, इसलिए वह सिर्फ दो घंटा मेरे साथ रहता है। दिन भर वह अपनी नर्सके साथ रहता है। नर्स बड़ी भली-मानुष स्त्री है। वह अच्छी तरह देख-भाल करती है। मैं उस वक्त बहुत खुश होती हूँ, जब घर लौटती हूँ और जब ईगर अपने छोटे-छोटे हाथोंको मेरे गलेमें डालकर चिल्लाता है, "मा-मा मा-मा" फिर वह मेरे स्लीपरको लाकर देता है। उस वक्तसे हम अलग नही होते। अपनी जाँघपर बैठाए हीं मै भोजन और चाय करती हूँ। मैं यह नही कह सकती कि यह सुविधा की बात है। लेकिन मेरा बेटा अलग होना नहीं चाहता, और मुझे उसकी इच्छाओंको माननेकेलिए बाध्य होना पड़ता है। मैं उसके साथके बर्ताव और शिक्षाकी देखभालकेलिए कड़ाई नहीं कर सकती। इन दिनों वह और ज्यादा बिगड गया है। वह अकेले सोना नही चाहता, और कहता है—जब तक तू नही सोएगी, तब तक मै नही सोऊँगा। लेकिन जैसे ही मेरा शिर तकियापर पड़ता है, मैं सो जाती हूँ, और घरका काम-धाम वैसा ही पड़ा रहता है, इसलिए मै १० बजे उसके सारे खिलौनोंको दे देती हूँ। ईगर देरसे करीब १२ बजे सोता है। यह बहुत बुरा है। इन सब बातोंसे तुम समझ सकते हो, कि तुम्हारा यहाँ होना कितना जरूरी है। तुम्हें अपने छोटेसे बच्चेको सँभालनेका काम अपने हाथोंमे लेना चाहिए।"

इन पंक्तियोंको पढ़ते समय फिर मुझे खयाल आता था, लेनिनग्रादके ऊपर घोर बमवर्षाका।

२४ मईके पत्रमे लोलाने लिखा था—"राहुल मेरे प्यारे ! आज मैं अपनेको

रेडियोकी खबर सुनाई। आज ३ बजे जर्मन-सेनाओंने सोवियत्‌पर हमला कर दिया। मैंने उसी वक्त समझ लिया कि फ़ासिस्तवादका साम्यवादपर हमला हो गया। मुझे यह निर्णय करनेमें देर नहीं लगी कि दुनियाके साम्यवादियों और मजूर-किसानोंका कर्तव्य है—साम्यवादकी रक्षाकेलिए हथियार लेकर फ़ासिस्तोंसे लड़ना। अब युद्ध दो पूँजीवादी देशोंके बीच नहीं रहा। दुनियाके छठे अंशसे साम्यवादके खतम होनेका मतलब है, सदियोंकेलिए किसान-मजूर-राजके स्वप्नको छोड़ देना। यह बहुत जबर्दस्त घटना थी। सब लोग इसपर गम्भीरतासे विचार करने लगे। मैंने पार्टी-साथियोंसे उसी रात कहा, कि अब युद्धके बारेमें हमारे पुराने भाव नहीं रह सकते, हिटलर अब हमारे दुश्मनका दुश्मन नहीं है। बल्कि हमारा दुश्मन है। तीन-चार पार्टीसाथियोंसे ही यह बात हुई, लेकिन मैंने देखा कि उनका रुख मुझसे बिल्कुल उलटा है। वह समझते हैं, कि लाल-सेना उधर हिटलरसे भी लड़ती रहेगी और इधर हम भी अंग्रेजोंके खिलाफ अपनी लड़ाईको पहिले ही रूपमें जारी रखेंगे। अगले दो-एक दिन और यह चर्चा कुछ मित्रोंसे की, लेकिन कोई सुननेकेलिए तैयार नहीं था। मैंने फिर उसकी चर्चा करनी छोड़ दी। अब जैसे-जैसे हिटलर की सेना आगे बढ़ती, वैसे ही वैसे मेरे हृदयमें विकलता बढ़ रही थी, रातको बड़ी देर तक नींद नहीं आती थी। उस वक्त मेरी यही आकांक्षा रहती कि, दिनरातका अधिक भाग नींद ही में बीत जाता। मेरी बुद्धि कभी यह नहीं कहती थी, कि हिटलर सोवियत्‌को जीत सकेगा। मैंने सोवियत्-सेनाके बारेमें पढ़ा था, सोवियत् सैनिकोंको देखा था, और साथ ही सोवियत्‌की उस साधारण जनताको देखा था, जो जीतेजी अपने स्वर्गको नाजियोंके हाथमें जाने नहीं देगी। पहिलेपहल जब लालक्रान्तिकी खबर मुझे मिली थी और आगेके युद्धोंके बारेमें थोड़ा-बहुत सुना था, उस वक्त दूसरे लोगोंकी तरह मैं भी समझने लगा था, कि बोलशेविकोंकी जीतमें अपने पौरुषकी अपेक्षा संयोगने ज्यादा मदद की थी। लेकिन जब अक्तूबर क्रान्ति, १४ राज्योंके एक साथ लाल-सोवियत् पर आक्रमण और सफ़ेद जनरलोंद्वारा दुनियाके पूँजीपतियोंका सोवियत् पर हमला—इन सबके बारेमें विस्तृत अध्ययन किया, तो मालूम हुआ, कि सोवियत्‌राष्ट्र संयोगसे नहीं जनताके पौरुष, पार्टीके संगठन, सूझ, आत्मत्याग, और हिम्मतके बलपर कायम हुआ है; इसलिए पूरी तौरसे कभी मुझे निराश होना पड़ा हो, ऐसा समय मुझे याद नहीं। लेकिन नाजियोंके बढ़नेकी खबरें मुझे व्याकुल जरूर कर देती थीं। जिस वक्त लेनिनग्रादपर जबर्दस्त हवाई हमले हो रहे थे, उस वक्त मैं निराकार तौरसे नहीं देख रहा था। वहाँ मुझे लोला और ईगर दिखाई पड़ते थे, और उसी तरहकी लाखों

गाताएँ और शिशु आँखोंके सामने आते थे। २६ जूनको लोलाका २३ अप्रैल और डाक्टर श्चेर्वात्स्कीका २२ अप्रैलका लिखा पत्र मिला। युद्धसे दो मासपूर्व यह पत्र लिखे गए थे। मेरे हृदयमें आग धधक रही थी, मैं सोच रहा था, लेनिनग्रादकी बमवर्षाके बारेमें। २८ जूनको पढ़ा—लेनिनग्राद जल रहा है। ७ जुलाईकी डायरीमें लिखा था—"मेरी चिन्ता दूर नही होती, रातको भी नींद खुलनेपर जल्दी आँखे फिर नही झपती।"

५ जनवरी (१९४१) के पत्रमें लोलाने लिखा था, "ईगर बहुत ही होशियार, उत्साही और सुन्दर बच्चा है, लेकिन जैसा कि मैंने पहिले लिखा था, वह बहुत कम बोलता है। पिछले दिनोंमें उसके शब्दकोषमें थोड़े शब्दोंकी वृद्धि हुई है—बिल्लो, कुत्ता, पुस्तक, रोटी, मक्खन, दियासलाई और कुछ और। तुम इसे समझ सकते हो कि अभी उसकी भाषामें प्रवाह नही है। वह बहुत हठी-जिद्दी बच्चा है, शायद उसके-लिए मैं भी जिम्मेवार हूँ। सवेरे साढ़े सात बजे मैं घर छोड़ती हूँ, और शामके ८ बजे लौटती हूँ। *ठीक १० बजे रातको उसे सुला दिया जाता है, इसलिए वह सिर्फ़ दो* घंटा मेरे साथ रहता है। दिन भर वह अपनी नर्सके साथ रहता है। नर्स बड़ी भली-मानुष स्त्री है। वह अच्छी तरह देख-भाल करती है। मैं उस वक़्त बहुत खुश होती हूँ, जब घर लौटती हूँ और जब ईगर अपने छोटे-छोटे हाथोंको मेरे गलेमें डालकर चिल्लाता है, "मा-मा मा-मा" फिर वह मेरे स्लीपरको लाकर देता है। उस वक़्तसे हम अलग नहीं होते। अपनी जाँघपर बैठाए ही मैं भोजन और चाय करती हूँ। मैं यह नही कह सकती कि यह सुविधा की बात है। लेकिन मेरा बेटा अलग होना नहीं चाहता, और मुझे उसकी इच्छाओंको माननेकेलिए बाध्य होना पड़ता है। मैं उसके साथके वर्ताव और शिक्षाकी देखभालकेलिए कड़ाई नही कर सकती। इन दिनों वह और ज्यादा बिगड़ गया है। वह अकेले सोना नही चाहता, और कहता है—जब तक तू नही सोएगी, तब तक मैं नही सोऊँगा। लेकिन जैसे ही मेरा सिर तकियापर पड़ता है, मैं सो जाती हूँ, और घरका काम-धाम वैसा ही पड़ा रहता है, इसलिए मैं १० बजे उसके सारे खिलौनोंको दे देती हूँ। ईगर देरसे क़रीब १२ बजे सोता है। यह बहुत बुरा है। इन सब बातोंसे तुम समझ सकते हो, कि तुम्हारा यहाँ होना कितना जरूरी है। तुम्हें अपने छोटेसे बच्चेको सँभालनेका काम अपने हाथोंमें लेना चाहिए।"

इन पंक्तियोंको पढ़ते समय फिर मुझे खयाल आता था, लेनिनग्रादके ऊपर घोर बमवर्षाका।

२४ मईके पत्रमें लोलाने लिखा था—"राहुल मेरे प्यारे! आज मैं अपनेको

खुशकिस्मत औरत समझती हूँ। ६ बजे सवेरे मुझे तुम्हारा तार मिला। मेरे नन्हेसे बच्चेका फ़ोटो तुम्हें मिला? तुम उसे कैसा पसन्द करते हो? तुम्हारे साथ कुछ सादृश्य है? क्या वह हिन्दू जैसा मालूम होता है। ईगर बहुत चतुर, बहुत मनस्वी बच्चा है। उसकी स्मृति तेज है। उसका स्वभाव बहुत कोमल और मधुर है। इस वक्त मेरा पेटका दर्द बहुत तेज हो गया है। गरम बोतल रखकर जब मैं लेट जाती हूँ, तो ईगर दौड़कर मेरे पास आ जाता है। वह मेरे गलेसे लिपट जाता है, वह मुझे चूमता है। फिर दर्दकी बात मालूम होनेपर उदास हो जाता है। लेकिन ईगर बड़ा हठी है। नर्स उसे 'बिगड़ू' कहती है। एक क्षणकेलिए भी अकेला नहीं छोड़ा जा सकता। इस जाड़ेमें जो कोई भी चीज उसके हाथ लगी, उसे उसने तोड़े बिना नहीं छोड़ा। वह मेरे चूर्णको गिरा देता है, गंधको उड़ेल देता है। कल उसने काफ़ीके बरतनको तोड़ दिया। काफी और मुरब्बेको गिरा दिया। फिर बरतनको पैरसे चूर्ण कर दिया। यह साफ़ है, कि इस तोड़ने-फोड़नेमें उसे अदभुत आनंद आता है।.. पिछले हफ्ते जब मैं घर लौटी, तो देखा कि ईगरको भोजनवाली मेजके साथ बाँध दिया गया है। उस दिन उसने एक प्लेट तोड़ डाली थी, और बिल्ली भी चारपाईसे बाँध दी गई थी, क्योंकि उसने व्यंजन खा लिया, तथा एक प्याला तोड़ दिया था। पहिले मुझे नर्सपर क्रोध आया, लेकिन पीछे मैंने उसकी शिक्षाको स्वीकार किया। पिछले हफ्ते मैं और ईगर दत्तके पास गए। महाशय दत्तने ईगरको बहुत पसन्द किया। वह कहते थे, "ईगर पूरा हिन्दू (हिन्दुस्तानी) है"। यह उस वक्त (२ अगस्त) मैं पढ़ रहा था, जब कि जर्मन मास्को और लेनिनग्रादके पास पहुँचकर आक्रमण कर रहे थे, कियेफ़पर भारी खतरा था। ७ अगस्तको मैंने लिखा था— "भारी परीक्षाका समय है। या तो संसारपर अपनी विजयकी धाक जमाकर लालसेना साम्यवादको सफल बनायेगी, नहीं तो मानवता फिर कुछ समयकेलिए अँधेरे खड्डमें गिरेगी।" चिन्ता, उत्सुकताकी यही अवस्था तब तक जारी रही, जब तक कि नवम्बरके आखिरी हफ्तेमें पासा पलटते दिखाई नहीं दिया। रस्तोफ़को लाल-सेनाने फिरसे छीन लिया। दिसम्बरके दूसरे हफ्तेमें मास्कोके मोर्चेसे जर्मन सेनाको पीछे हटना पड़ा।

लिखना-पढ़ना—गर्मीभर तो मलेरिया और गर्मीके कारण पढ़ाई बहुत कम हो सकती थी, लिखाई होना तो सम्भव ही नहीं था। फिर "चमरू" ने अपनी कोठरी मेरे हवाले कर दी। मैं सिर्फ़ सोनेकेलिए अपनी चारपाईपर जाता था, नहीं तो उसी कोठरीमें बैठकर लिखता रहता। देवलीमें राजबन्दियोंकी संख्या दो सौसे अधिक थी,

जिनमें अधिक तादाद सुशिक्षितोंकी थी। साइंस, दर्शन, समाज-शास्त्र आदि विषयोंपर जितनी पुस्तकें मिल सकी, मैं उन्हे पढ़ता और नोट लेता गया। कुछ पुस्तकें अजमेरकी पब्लिक लाइब्रेरीसे भी आईं, और कुछ मैंने बाहरसे खरीदकर मँगवाईं। पढ़पढ़कर मैं नोट लेता गया, और बढ़ते-बढ़ते यह नोट क़रीब दो हज़ार पृष्ठके हो गए। मैं साइंस-सम्मत भौतिकवाद या मार्क्सवादपर हिन्दीमें एक पुस्तक लिखना चाहता था। अंग्रेज़ीमें हज़ारों पुस्तकें हैं, लेकिन केवल हिन्दी जाननेवालोंकेलिए मार्क्सवादके मौलिक सिद्धान्तको समझनेके वास्ते पुस्तकोंका बहुत अभाव है, यह बहुत खटकता था। हजारीबागमें ९ महीने और देवलीमें ७ महीने—१६ महीनेके अध्ययनके बाद ३० जुलाई (१९४१) को मैंने पुस्तक लिखनी आरम्भ की। पहिले मैं यही ख्याल करके लिख रहा था कि एक ही पुस्तक होगी। नाम भी "वैज्ञानिक भौतिकवाद" रखा था। लेकिन, आगे बढ़नेपर मालूम हुआ, कि दो हज़ार पृष्ठोंकी एक पुस्तक लिखना अच्छा नहीं। विषय अलग-अलग होनेसे उन्हें अलग-अलग पुस्तकका नाम दिया जा सकता है। २७ अगस्तको (२९ दिनमें) "विश्वकी रूपरेखा" समाप्त हुई। ८ सितम्बरको मैंने "मानवसमाज" (उस वक्त वैज्ञानिक भौतिकवादका द्वितीय खंड) आरम्भ किया और १४ अक्तूबरको वह भी समाप्त हो गया। १६ अक्तूबरको "दर्शन-दिग्दर्शन" में हाथ लगाया, और २६ अक्तूबर तक सिर्फ यवन (यूनानी) और युरोपीय दर्शन को ही समाप्त कर पाया था कि भूख-हड़तालका चौथा दिन होनेपर उसे रोक देना पड़ा। भूख-हड़तालके बाद नवम्बरभर तो धर्मकीर्तिकी स्ववृत्ति (प्रमाणवार्तिक) के खंडित अंशको तिब्बती अनुवादसे संस्कृतमें करता रहा, फिर २० नवम्बरसे १० दिसम्बर तक "दर्शनदिग्दर्शन" के भारतीय दर्शनवाले भागके कई अध्याय लिखे। इस प्रकार मैंने देवली-निवासके आखिरी ५ महीनोंका लिखनेमें बहुत सदुपयोग किया। बीच-बीचमें मुझे अपने साथियोंके सामूहिक जीवनमें भाग लेना पड़ता, और मैं उसमें किसीसे पीछे नहीं रहता था। रसोईखानेके मंत्रिमंडलमें भी रहा, लेकिन पीछे साथियोंने मुझे उससे मुक्त कर दिया। पहिले कैम्पमें डाक्टर अशरफ़, डाक्टर अहमद तथा कितने ही और तरुण साथी थे, जिनकी कलममें ताक़त थी। मैंने उनसे कई बार कुछ लिखने, कुछ ग्रन्थोंके अनुवाद करनेके लिए कहा, लेकिन कुछ नहीं हुआ। हम लोगोंके पास एकान्त कोठरियाँ नहीं थीं। एक-एक कमरेमें दस-दस बारह-बारह आदमी रहते थे। फिर समवयस्क और तरुण अधिक संख्यामें थे। क्लासमें जानेकेलिए तो सभी बाध्य थे, इसलिए उस वक़्त कोई खेल-कूदकी बात नहीं कर सकता था, फिर वह अपने मनकी कुछ पुस्तकें पढ़ते थे। फोनोग्राफ भी कभी-कभी बजाया

जाता था। मैंने भी फोनोग्राफ मँगा लिया था, जिससे हमारे कैम्पवालोंका बड़ा मनोरंजन होता था, और कामसे छुट्टी पाकर मैं उसे खुद बजाता था। मेरे दूसरे साथियोंकी यह धारणा बँध गई थी, कि इस वातावरणमें पुस्तकलेखन जैसा कोई गम्भीर कार्य नहीं हो सकता। शुरूमें मैं भी इस धारणाका शिकार रहा, किन्तु मुझे लिखना जरूरी था, इसलिए मैंने अपने मनको समझाया—"मनसाराम! तुम्हारे हँसी-खेल-मजाक सबकेलिए मैं पूरा समय देनेकेलिए तैयार हूँ। लेकिन कमसे कम कुछ लिखनेकी बात तुम जरूर स्वीकार करो।" आम तौरसे मैं २० पृष्ठ (स्कूली कापी) रोज लिख लिया करता था। अतवारको सिर्फ १० पृष्ठ लिखता था। जहाँ निश्चित पृष्ठ खतम हुए, कि मैंने कलम रखी। फिर दोस्तोंसे मिलना बाजा बजाना या दूसरा काम शुरू होता। मैंने यह कोशिश नहीं की कि एक-एक दिनमें चालीस-चालीस पचास-पचास पृष्ठ लिखूँ, इसलिए मनसाराम भी मुझे बातका पक्का समझते थे।

भूखहड़ताल (२३ अक्टूबर-७ नवम्बर)—हमने एक बार कुछ घण्टों की भूखहड़ताल की थी, और बड़े डाक्टर के बदल जाने से वह छोड़ दी गई। हमारी माँगें भारत-सरकार के पास पहुँची थीं। कपड़े और खानेके बारेमें कुछ सुभीता भी हो गया, लेकिन अभी भी हमारी बहुत सी तकलीफें वैसी ही थी। इसलिए संघर्ष करने बिना कोई चारा नहीं था। बंगाल के खुफियावाले तो यहाँ नहीं थे, लेकिन पंजाब-की खुफिया बंगालसे पीछे नहीं थी। एक दिन (१६-जनवरी) साथी मक्खनसिंह अफरीकन लाहौर-किलेकी यातनाओंका वर्णन कर रहा था। उसे सुनकर बदनमें आग लग गई। उसे वहाँ किलेके भीतर ले गए। पहिले मीठी-मीठी बोली बोली गई। खानेके लिए बढ़ियासे बढ़िया इन्तिजाम था। अफसरने संतरीको गाली देते हुए कहा—"बदमाश! एक इज्जतदार बाबूके साथ तू ऐसा व्यवहार करता है"। लेकिन, जब उससे कोई काम बनते नहीं दिखाई पड़ा, तो अफसरने खुद माँ-बहिनकी गंदी-गंदी गालियाँ निकालनी शुरू कीं। धमकाया गया, कि यदि बात नहीं बतलाओगे तो तुम्हारी बहिन को यहाँ सामने लाकर....। (एकके साथ ऐसा किया भी गया था। अभागी औरत अपने प्रिय जनकी जान बचानेके लिए वहाँ गई थी)। फिर घुटनों और दूसरी जगहों पर—जहाँ पीड़ा ज्यादा होती है—चोट पहुँचाई जाती, बदनके रोम और बालों को एकएक करके नोचा जाता, कई कई रात तक सोने नहीं दिया जाता। हमारे साथीको हफ्ते भर लेटने नहीं दिया गया। जैसे ही आदमी सोने लगता, वैसे ही ठोकर मार कर जगा दिया जाता—यह बड़ी असह्य यातना थी। और एक बात तो ऐसी की गई, जिसे लिखने में भी शरम आती है। २०की

सदीमें इन वातोंका सुनना भी आश्चर्यकी चीज है। हम देवलीमें उसी पंजावी पुलिस अफसरोंके हाथमें थे।

२१ जुलाईको केन्द्रीय एसेम्बलीके मेम्बर श्री एन्० एम्० जोशी हमारी तकलीफोंकी जांच करनेके लिए देवली कैम्पके भीतर आए। सरकार अच्छी तरह जानती थी, कि यह क्रांतिकारी वाक्शूर नहीं, कार्यशूर हैं, इनको जान पर खेलते देर नहीं लगेगी, इसलिए उसने मंजूर किया, कि जोशी साहब जाकर उनकी तकलीफें मालूम करें। हमने अपनी तकलीफें बतलाईं। उन्होंने कैम्पको घूमकर देखा, मेरे बारेमें किसीने खासतौरसे कहा था। मुझसे पूछने पर मैंने कहा—मुझे भी वही तकलीफें हैं, साथ ही मैं चाहता हूँ कि लिखने और अनुसन्धानके कार्यको जारी रखूं, लेकिन मेरे अराजनीतिक कामकेलिए भी सरकार कोई सुविधा देनेकेलिए तैयार नहीं। उसके बाद इतना हुआ कि हफ्तेमें एक दिन मुझे तिब्बतसे लाए तालपत्रोंको वृहत्प्रदर्शक शीशेसे पढ़नेकेलिए आफिसमें आनेकी इजाजत मिली। मैं जब वहाँ गया, तो देखा कि मेरा जोरदार वृहद्प्रदर्शक शीशा गायब है। चीजोंकी सूची बनानेका तो कोई कायदा नहीं था, इसलिए आफिस वाले जिस चीजको चाहते, उड़ा लेते थे।

भारतमें जब (१९२९) कम्यूनिस्ट पार्टीका संगठन नहीं हुआ था, उस समय कम्यूनिस्ट विचारवाले लोगोंने बंगाल, मद्रास, बंबई, पंजाब, युक्तप्रांतमें काम शुरू किया था। पार्टी-संगठनके बाद सभी प्रांत एक हो गए थे, लेकिन पंजाबके पुराने कम्यूनिस्ट किरती (कमेरा) पार्टीके नामसे अभी अपना अलग संगठन कायम किए हुए थे। इसमें १९१४ के बड़े-बड़े आत्मत्यागी बावा सोहन सिंह भकना, बावा केहर सिंह, बावा शेर सिंह जैसे वृद्ध थे, जिन्होंने अपनी सारी जवानी देशकेलिए नौछावर कर दी, और आज सत्तर-सत्तर वर्ष की उम्रमें भी उनमें जवानों जैसा जोश था। बावा सोहन सिहकी कमर झुक गई थी, लेकिन अब भी वह १८ वर्षके तरुणकी तरह उत्साहसे क्लासोंमें जाते, नई बातोंको बड़े उत्साहसे सीखते थे। इससे पहले भी पार्टीने किरती वाले साथियोंके मिलानेकी कोशिश की थी, किन्तु उसमें सफलता नहीं हुई। लेकिन अब सरकारने भारतभरके प्रमुख-प्रमुख कम्यूनिस्टोंको एक जगह कर दिया था, इसलिए उनका काम सुगम हो गया था। ७ महीनेके प्रयत्नके बाद हमें सफलता मिली, किरती दल कम्यूनिस्ट पार्टीमें मिल गया। २२ अगस्तको इसके उपलक्षमें एक भोज दिया गया, और लोगोंने बड़ी खुशी मनाई। तीनों कैम्पों—अब तक तीसरा कैम्प भी आबाद हो गया था—

के साथी खेलके मैदानमें जमा हुए। वहाँ भी आनन्द मनाया गया। व्याख्यान हुए। ६ फुट्टे बाबा केहर सिंहने अपनी सीधी सादी भाषामें अपने उद्गारोंको प्रकट किया—जिस वक्त मैंने देशकी आजादीके लिए पहिले-पहल झंडा उठाया था, उस वक्त कम्यूनिस्ट पार्टी नहीं थी, रही होती, तो हम असफल न हुए होते। अब हमारी पार्टी मौजूद है। अब हमें इसके लिए जीना इसके हुक्मपर मरना है। पार्टी हुक्म दे, बूढ़े होनेपर भी हम जवानोंसे पीछे नहीं रहेंगे।

२३ सितम्बरको पंडित उदयनारायण तिवारीकी चिट्ठी आई, जिससे मालूम हुआ कि डाक्टर अवध उपाध्यायका देहान्त हो गया। अफसोसकेलिए क्या कहना? देशको उनसे बड़ी आशाएँ थीं, लेकिन जिसके लिए उन्होंने तैयारी की, उस कामको वह पूरा नहीं कर सके। जानेवालोंके लिए अफसोसकी जरूरत नहीं, अफसोस हमें अपने लिए होता है।

१० अक्तूबरको भूखहड़तालका अल्टीमेटम सरकारके पास भेज दिया गया। हमने १० महीनेतक इंतिजार किया, लेकिन सरकार कानमें तेल डाले बैठी रही। हमने उसमें लिखा था कि २२ तारीख तक हमारी माँगोंका यदि संतोषजनक उत्तर नहीं आया, तो हम उसकेलिए कोई रास्ता पकड़नेके लिए मजबूर होंगे। अगले दिन सुपरिन्टेन्डेन्टने बुलाकर कहा कि इतना समय पर्याप्त नहीं है। हमारे साथियोंने कहा, सरकारको कितना भी समय दिया जाय, वह पर्याप्त नहीं होगा। हम चाहते थे कि दूसरी पार्टीवाले भी मिलकर संघर्ष जारी करें, मगर वह इसकेलिए तैयार नहीं हुए। आखिरमें हम १५६ आदमियोंने जानपर खेलनेका निश्चय किया। पहिले सोचा गया था कि सभी पार्टी-मेम्बरोंको हड़ताल अनिवार्य न की जाय, लेकिन कोई पीछे रहनेकेलिए तैयार न था, इसलिए हरेक पार्टी-मेम्बरको हड़तालमें शामिल होनेकी आज्ञा दी गई। हमारे २ दिन बाद १२ अक्तूबरको दूसरी पार्टियोंने भी अल्टीमेटम दे दिया।

१६ अक्तूबरको सुपरिन्टेन्डेन्टने नोटिस चिपका दी, कि जोशीकी रिपोर्ट १६ तारीखको सरकारके पास पहुँची, सरकार उसपर विचार कर रही है, उसे प्रान्तीय सरकारोंसे भी पूछना है इसलिए और समय देना चाहिए, जल्दी करनेकी जरूरत नहीं। ऐन मौकेपर प्रहार करना सरकार खूब जानती है। २० अक्तूबरको दिल्लीका "स्टेट्समैन" दफ्तरमें पहुँचते ही तुरन्त हमारे पास भेजा गया, उसमें जयप्रकाशबाबूका पूरा पत्र छपा था। जयप्रकाशबाबूकी पत्नी उनसे मुलाकात करने गई थीं। उस वक्त उन्होंने एक लम्बा खत किताबकी आड़से पत्नीके हाथमें देता

चाहा, लेकिन खुफ़ियावाले अफ़सरने पकड़ लिया। हमें इस बातका पता नहीं था। पीछे तो यह भी मालूम हुआ, कि उन्होंने उस चिट्ठीको कैम्पके भीतर आने-वाले किसी दर्जी या दूसरे आदमीके हाथमें दिया था, जिसे लेकर उसने सी० आई०डी०को दिया। सी० आई० डी०ने फिर उसे लौटानेकेलिए कह दिया। दो-चार दिन बाद आदमीने अपनी मजबूरीको प्रकट करते हुए उसे लौटा दिया। इसमें कितनी बात सच है, कितनी झूठी, इसे मैं नही कह सकता। कुछ भी हो एक बड़ा पत्र सी० आई० डी०ने पकड़ा और वह हमारी भूखहड़ताल शुरू होनेसे दो दिन पहिले "स्टेट्समैन"में छपा। इसमें राजबन्दियोंमेंसे एक प्रमुख व्यक्तिने स्वीकार किया था, कि हमारी तकलीफ़ें इतनी नही हैं, कि भूखहड़ताल की जाय; सरकारने कई बातोंके सुभीते दे दिये हैं, इत्यादि-इत्यादि। यह बहुत घातक हथियार था। सरकारने समझा कि इस चिट्ठीको छापकर हम भूख-हड़तालियोंके मनसूबे खतम कर देंगे, और देशको समझा देंगी, कि राजबन्दियोंकी माँगें उचित नही हैं, वह नाहक़ सरकारको तंग करना चाहते हैं। तुरन्त हम लोगोंने आपसमें विचार किया। हमारे कैम्पके लोगोंने कहा—हमें अपने संकल्पपर दृढ़ रहना चाहिए। मैंने कहा—ज़रूर इस पत्रने हम लोगोंका भारी अनिष्ट किया, लेकिन सरकार जो चाहती है, वह नहीं होगा। जनताकी सहानुभति हमारे साथ रहेगी, हाँ, हमें अब दो-एक प्राणोंको देकर इस पत्रके प्रभावको धोना पड़ेगा। यह पत्र ऐसे ढंगसे लिखा गया था, जिसको कोई क्रान्तिकारी नही लिख सकता था। कम्यूनिस्ट तो शत्रु थे, लेकिन खुद अपनी पार्टीके भी कितने ही रहस्योंको उस पत्रमे खोल करके लिखा गया था।

साथी जयप्रकाश और दूसरे लोगोंने एक दिन पहिले (२२ अक्तूबर) भूख-हड़ताल शुरू कर दी। हम लोगोंने अपने निश्चित दिनपर भूख-हड़ताल शुरू की। सरकारने डाक्टरोंका काफ़ी इन्तिज़ाम किया था। पहिले ही दिन आगराके डाक्टर फूलचन्द शर्मा आ गये थे। मैं तो पहिले दो भूख-हड़तालोंको कर चुका था, इसलिए पन्द्रह-बीस दिनोंकेलिए कोई बात नहीं थी, लेकिन हममें बहुतसे शरीरमें दुर्बल थे। किशोरी भाई ऐसे ही थे, अशरफ भी बहुत कमजोर थे, फिर बाबा सोहनसिंह जैसे बूढ़े भी थे। बाबा बसाखासिंहको हमने हाथ-गोड़ जोड़कर मनवाया था, कि वह भूख-हड़तालमें शामिल नही होंगे। उनमें बुढ़ापेकी ही कमजोरी नही थी, बल्कि वह तपेदिकके भी मरीज़ थे। बाबाने दस-बारह दिन किसी तरह अपनेको रोका। फिर रुकना उनकेलिए मुश्किल हो गया। जब उन्होंने अपनी आँखोंके सामने नौजवानोंको सूखते देखा, तो वह सारी बातें भूल गये। लेकिन साथ ही उन्होंने चाहा

कि उनके नये निश्चयसे साथियोको कष्ट न हो, इसकेलिए चुपके ही चुपके उन्होंने एक भीषण क़दम उठाया। बावा बसाखासिंह एक सन्त पुरुष थे, भगवानके भी भक्त थे, लेकिन साथ ही कमेरोंकेलिए जान देनेमें भी वह वैसे ही तत्पर रहते, देवलीके सेवक क़ैदी तो इस सन्तसे और भी प्रभावित थे। बावाने रसोइयेको बुलाकर कहा—मैं एक बात कहूँ बच्चा! क्या तू मानेगा।—"जरूर बावा आपकी बात भला मैं कैसे टाल सकता हूँ?"

"जरूर मानेगा?"

"जरूर बाबाजी।"

"ज़रूर?"

"जरूर।"

तीन बार कहलाकर बावाने उससे कहा—"मेरे खानेकी चीजें रोज ले लिया करना, और उन्हें चुपकेसे सन्दूकमें बन्द कर देना। खबरदार, किसीसे कहना मत।"

बेचारे उस साधारण क़ैदीकेलिए बाबाका वाक्य ब्रह्मवाक्य था, वह उसके खिलाफ़ कैसे जा सकता था? बाबाकी भूख-हड़ताल चार-पाँच दिन चलती रही। उनके शरीरने एक दिन धोखा दिया, और वह गिर पड़े। संयोगसे भूख-हड़ताल खतम हो गई, मगर बाबाके संकल्पकी बात सुनकर साथियोंका दिल धक्से हो गया। उन्होंने बाबासे खिन्न मन हो उलाहना देते हुए कहा—"बाबा! आपने बड़ा निष्ठुर निश्चय कर डाला था।" बाबाने कहा—"क्या करता, मैं अपने हृदयकी व्यथाको बर्दाश्त नहीं कर सका।"

हाँ, तो २३ अक्तूबरको भूख-हड़ताल शुरू हुई, सिर्फ़ पानी-सोडा या नमकके साथ लेनेकी पार्टीने इजाज़त दी थी। मुझे तो उस दिन भूख नहीं लगी। नये भूख-हड़तालियोंको दो-एक दिन भूख लगती है। मैंने खाना छोड़ बाक़ी सब काम पहिले जैसा ही किया। कुछ साथियोंके शिरमें दर्द था। घाटे सारे कैम्पमें सबसे अधिक कमजोर और वजनमें कम थे। उन्हें कलेजेकी बीमारी थी। घाटे भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टीके पितामोंमें थे। हमें इस बातका बहुत दुःख था, कि हम पहिले उन्हींको खोने जा रहे हैं। सुनील, अय्यङ्गार जैसे बीड़ी-तम्बाकूके आदी लोगोंको तम्बाकू बीड़ी पीनेकी भी मनाही हो गई थी। उन्होंने उसका ख्याल नहीं किया। दूसरे दिन (२४ अक्तूबर) घाटेकी हालत खराब हो गई, और उन्हें डाक्टर-अस्पताल ले गये। चन्द्रमाको तेज बुखार था, इसलिए मजबूर-करके उन्हें अस्पताल भिजवाया गया। तीसरे दिन मुझे बहुत हल्की-सी कमजोरी मालूम हो रही थी। किशोरी और मन-

रफकी हालत बहुत खराब रही। चौथे दिन (२६ अक्तूबर) २२ पृष्ठ लिखकर युरोपीय दर्शन मैंने समाप्त कर दिया, और उसके साथ ही आगे लिखना छोड़ दिया। उस दिन चार आदमी अस्पतालमें ले जाये गये। मुझे कमजोरी थी, किन्तु और कोई तकलीफ़ नहीं थी। उस दिन चीफ़-कमिश्नर आया था। उसने हमारे प्रतिनिधियोंको बुलाया, लेकिन उन्होंने जानेसे इनकार कर दिया। ५वें दिन तक १७ आदमी हमारे कैम्पके अस्पतालमें जा चुके थे। आज-कलसे कुछ अधिक कमजोरी मालूम हो रही थी।

पाँचवें या चौथे दिनकी बात है, अभी-अभी पह फट रहा था। लोग कमजोर तो थे ही। सवेरे-सवेरे वह अपनी चारपाइयोंपर लेटे या बैठे थे। इसी वक़्त "बमार"को न जाने क्या सूझी, उसने ग्रामोफ़ोनपर तवा लगा दिया, और तवा भी ऐसा लगाया जो बड़े गला-फाड़ स्वरमें गा रहा था "पानीका तू बुलबुला तेरा कौन टेकाणा"। सब ओरसे लोगोंने "हाऊ-हाऊ" किया, "बमार"ने झटसे तवा उतारकर रख दिया। मैं बाहर चारपाईपर लेटा था। बाबा शेरसिंहने अपनी चारपाईपरसे पूछा—"कौन है यह बाजा बजानेवाला"। मैंने कहा—"बाबाजी! साडा (हमारा) बमार" है। लोगोंने फिर मजाक़ करना शुरू किया—"बमार"ने तो अभीसे "तेरा कौन ठेकाना" गाना शुरू कर दिया।

छठें दिन कलसे कुछ और कमजोरी बढ़ी। कमिश्नर पहिले नम्बरके कैम्पमें गया, और बोला—आप लोगोंने जल्दी की, सरकारको समय नहीं दिया। सरकार जोशीकी सिफ़ारिशपर विचार कर रही है। आपकी कमसे कम माँगें क्या हैं? सरकारी गैरसरकारी तीन मेम्बरोंकी कमेटी बना दी जाय, तो उनकी बात मानेंगे? जोशीकी सिफारिशोंको मानेंगे? हमारे साथियोंने कहा—हमारी कमसे कम माँग चली गई, सरकार अपनी बात पेश करे, तो हम विचार करेंगे, कमेटी बनाना फिजूल है। हम लोग उसके ऊपर विश्वास करके हड़ताल नहीं तोड़ेंगे। जोशीकी सभी सिफ़ारिशें हमें मंजूर न होंगी। सातवें दिन मेरा वजन १५७ पौंड रह गया था। जेल आते वक़्त वह १८२से अधिक था।

हमारे कैम्पके २० आदमी असपतालमें थे। किशोरी और अय्यङ्गार शरीरमें बहुत कमजोर थे, लेकिन उनकी हिम्मत गजबकी थी, अब भी वह डटे हुए थे। आठवें दिन वैसे ही स्वास्थ्यवाले आदमी रह गये थे, जो अब डट सकते थे। मुझे भूख-हड़तालोंका तजर्बा था और दूसरे भी कितने ऐसे साथी थे। मैंने देखा, कि नमक डालकर पानी पीनेसे पेट साफ होता है, मैंने यह नुसखा दूसरोंको भी बतलाया।

और वह बहुत काम आया। नमक या सोडा डालकर खूब पानी पीना, जिसमें कि अँतड़ियाँ सूखने न पायें और पेटको साफ़ रखने, इन दो बातोंका ध्यान रखनेसे शरीर बराबरकेलिए रोगी नहीं बनता। मर जाना बुरा नहीं है, लेकिन सदाकेलिए चिर-रोगी या अपाहिज होना बहुत बुरा है। ३१ अक्तूबरके अखबारमें पढ़ा कि भारत सरकारके होम-मेम्बरने एसम्बली अधिवेशनमें दहाड़ते हुए कहा—यह राज-नीतिक हड़ताल है, सरकार इसे नहीं मानेगी; हाँ, जिसमें कोई मरे नहीं, हम इसकी कोशिश करेंगे। हम सरकारके सामने घुटने टेककर दयाकी भिक्षा नहीं माँग रहे थे। हम मनुष्यके तौरपर जीते रहनेका अधिकार चाहते थे। दसवें दिन (१ नवम्बर) मुँहका स्वाद खराब था, और जल्दी खड़े हो जानेपर चक्कर आने लगता था। आज ४ दिनपर नमककी जुलाब ली। शामको पेटमें जरा-जरा दर्द हो रहा था। आज हमारे कैम्पके ३ आदमियोंको अस्पताल ले गये, लेकिन पार्टी-मेम्बर सभी डटे हुए थे। ग्यारहवें दिन मैंने "विश्वकी रूपरेखा"के ६० पृष्ठोंको फिरसे दुहराया। आज दो आदमियोंको पकड़कर जबर्दस्ती नाकसे दूध पिलाया गया। बारहवें दिन (३नवम्बर) हमारे सारे कैम्पको जबर्दस्ती नाकके रास्ते दूध पिलाया गया, लेकिन इसमें पूरी कुश्ती होती थी। दस-दस बारह-बारह आदमी आकर लिपट जाते, फिर कई मिन्टोंकी धक्कमधुक्कीके बाद चारपाईपर लिटाते थे। दोपहर तक तो भाड़के मजदूरोंको लाकर उनसे पकड़नेका काम लिया गया, लेकिन पौने चार बजेसे गढ़वाली सिपाहियोंको इस कामकेलिए इस्तेमाल किया गया। पिछली दो हड़तालोंमें मुझे नाकसे दूध नहीं पिलाया गया था, लेकिन अबकी बार यहाँ जबर्दस्ती पिलाया गया। पेटमें गुड़गुड़ होने लगी। १३वें दिन १५ छटाँक दूध पेटके भीतर डाला गया। लोग अपनी ताक़तभर प्रतिरोध करते थे, लेकिन यहाँ एक-एकपर बारह-बारह लिपट पड़ते थे। १४वें दिनकी पकड़ा-पकड़ीमें मेरे एक जगह घाव लग गई। लेकिन आज कुश्ती काफ़ी रही। सबसे बलिष्ठ जवानको पकड़कर मैंने जमीनपर चित्त कर दिया। फिर चींटेकी तरह सब लिपट पड़े। आज चारपाईपर लिटानेमें उन्हें काफ़ी देर लगी। १६वें दिन (६ नवम्बर) सिपाहियोंको पकड़नेकेलिए नहीं ठेकेदारके मजदूर आठ आना रोजपर लाये गये। पेटमें दूध जानेके कारण लोगोंके शरीरमें ताक़त कुछ ज्यादा थी, इसलिए कुश्ती देर तक होती, आज पहिली बारके दूध पिलाने-होमें १ बज गये। शामको पता लगा कि जोशी साहेब आये हुए हैं। उन्होंने तीनों कैम्पोंकी कमेटियोंसे अलग-अलग बात की, और कहा—आप लोग हड़ताल छोड़ दीजिए, हम लोगोंने इस कामको अपने हाथमें ले लिया है। हमें विश्वास है कि

गवर्नमेंट कुछ करेगी। उनकी बातसे मालूम हो गया कि सरकार हमें अपने प्रान्तोंमें भेजकर छुट्टी ले लेना चाहती है। वह जानती है, प्रान्तोंकी नादिरशाही सरकारें हमारी माँगोंको हरगिज़ नहीं मंजूर करेंगी। प्रान्तोंमें लौटाने और एकसे वर्गीकरण-का विरोध सबसे ज्यादा पंजाब-सरकार कर रही थीं।

१९वें दिन (७ नवम्बर) भी मैं "विश्वकी रूपरेखा"को दुहराता रहा। आज हमारे तीनों कैम्पोंके प्रतिनिधियोंसे बात करके जोशीने विश्वास दिलाया, कि सर-कार हमारी दूसरी माँगोंमेंसे काफ़ीको जरूर पूरा कर देगी। एक वर्गीकरण मुश्किल है, और उससे भी मुश्किल है प्रान्तोंमें भेजना। भारत सरकार प्रान्तोंमें भेजनेके खिलाफ़ नहीं, किन्तु पंजाब-सरकार इसका सख्त विरोध कर रही है; तो भी बात जारी है। हमारे साथियोंने इस बातको आकर हम लोगोंको बतलाया। तीनों कैम्पोंकी कार्य-कारिणी कमेटीने विचार किया, और उसने हड़ताल तोड़नेके पक्षमें राय दी। शाम-को तीन बजे तीनों कैम्पोंके साथी खेलवाले मैदानमें इकट्ठा हुए। डाँगे, रणदिवे, बाटलीवाला कई महीनेसे कैंम्पसे हटाकर दूसरी जगह भेज दिये गये थे। पहिले उन्हें अजमेर जेलमें रखा गया, इसी बीचमें दूर एक कोनेमें नया बँगला बनवाया गया, और उन्हें वहाँ लाकर रखा गया। आज उन्हें भी मैदानमें लाया गया। हड़-ताल छोड़ें या न छोड़ें, इसके पक्ष-विपक्षमें साथियोंने भाषण दिये। अन्तमें उन-तालीसके विरुद्ध एक सौ बीसने कार्यकारिणीके प्रस्तावको स्वीकृत किया। दूसरी पार्टीवालोंने बीसके विरुद्ध चालीसके बहुमतसे हड़ताल जारी रखनेका फ़ैसला किया। ११ बजे रातको दूध आया, और हमारे १६० (?) साथियोंने दूध पीकर भूख-हड़ताल छोड़ दी।

अगले दिन (८ नवम्बर) गैर-पार्टीवालोंमेंसे १६को भूख-हड़तालसे हटे हुए देखा गया। ४०से कुछ ऊपर आदमी अब भी डटे हुए थे। उस दिन शामको मूँगकी पतली दाल मिली, और रातको सागूदाना। हमारी देखभालकेलिए जो डाक्टर आये थे, वह सभी अच्छे थे। उनमेंसे सबसे भद्र डाक्टरको एक गैरपार्टी राजबन्दीने जूतेसे मारा, आज भी एक सज्जनने जूता उठा लिया। यह बहुत बुरा था, क्रान्तिकारियोंके प्रति ये डाक्टर क्या भावना लेकर जायेंगे? हड़ताल तोड़नेके दूसरे दिन मालूम हो गया कि डाँगे और रणदिवेने भी सोवियत्‌पर हिटलरके आक्रमण होते ही मेरी ही तरह समझा था, और अब तो बाक़ायदा उसपर विचार-विनिमय होने लगा। धीरे-धीरे हमारे सभी साथी इस विचारसे सहमत हो गये कि अब फ़ासिस्तोंकी हार-केलिए सारी शक्ति लगाना हमारा कर्त्तव्य है। पहिली दिसम्बरको अन्तर्राष्ट्रीय

परिस्थितियोंपर विचार करके मैंने लिखा था—अमेरिका और जापानमें किसी वक्त युद्ध छिड़ सकता है। ८ दिसम्बरको रेडियोकी ख़बरसे मालूम हुआ, कि आज सूर्योदयके समय जापानने अमेरिका और इंग्लैंडके खिलाफ़ युद्ध घोषित कर दिया। यह भी मालूम हुआ कि सिंगापुर, फिलिपाइन, और होनोलुलूपर जापानने हवाई हमले किये हैं। पर्लहार्बरपर उसने आक्रमण करके ओकलाहामा नामक २६ हज़ार टनके अमेरिकन युद्धपोतको ध्वस्त कर दिया। अब युद्धकी आग सारी दुनियामें फैल गई। पिछला युद्ध भी इतना बड़ा नहीं था। सोवियत्‌केलिए इससे अच्छा अवसर क्या मिलता? कहाँ सारे पूंजीवादी देश एक होकर चौबीस सालसे उसके ऊपर आक्रमण करनेकी तैयारी कर रहे थे, और कहाँ उनके स्वार्थोंने उन्हें दो टुकड़ेमें बाँट दिया। बाल्डविन और चेम्बरलेनने इताली, जापान और जर्मनीके फ़ासिस्तोंको पीठ ठोक, सहायता पहुँचाकर बोलशेविकोंके खिलाफ लड़नेकेलिए तैयार किया था। उनकी सारी कूटनीति बेकार गई। अब लालसेनाको अकेले ही फ़ासिस्तोंसे लड़ना नहीं, अब इंग्लैंड और अमेरिकाको भी सोवियत्‌का साथ देना पड़ रहा है। जापानने सोवियत्‌के खिलाफ़ युद्धघोषणा नहीं की। तोक्यो, याकोहामा आदि शहरोंके ध्वस्त होनेका डर था—सोवियत् हवाई जहाज घंटे भरमें जापानी शहरोंपर बम बर्साकर लौट भी आ सकते थे। ९ दिसम्बरको पता लगा, कि कल ५ घंटेकी लड़ाईके बाद थाई (स्याम)की सेनाने जापानकी शर्तोंको मानकर रास्ता दे दिया। अब जापान भारतकी ओर बढ़ रहा था। १० दिसम्बरको मालूम हुआ, कि अंग्रेजोंके दो युद्ध-महापोत (प्रिंस-आफ-वेल्स, और रिपल्स) सिंगापुरके पास डुबो दिये गये। बुरी खबर थी।

अब बराबर अफ़वाहें उड़ रही थी, कि हम लोग जल्दी ही अपने प्रान्तोंमें लौटाये जायेंगे। फिर इतने साथी कब इकट्ठा होंगे, इसलिए मैं अधिकतर समय दोस्तोंसे बातचीत करनेमें बिताता था। दूसरे सप्ताह याचक हरनामसिंह कर्मठपना गनिमंडल रसोईखानेका प्रबन्धक था। किसीने याचकजीसे कहा—"गोश्तमें शलगमका पत्ता डालकर पकानेसे बहुत अच्छा होता है।" अबतक सरसोंके पत्तेको डालकर गोश्त बना करता था, नई चीज़ थी, उनको क्या पता था, कि शलगमका पत्ता गोश्तके स्वादको खराब कर देगा। "याचक" भी नरम-नरम पत्ते तोड़ रहे थे, मन्नदाजीने कहा—"एकाध पत्ते पौदेकेलिए भी छोड़ दीजिएगा, नहीं तो वह सूख जायगा।" एकाध पत्तेका मतलब है दो-चार, सो भी बीचका नया मुलायम। जिसका अर्थ हुआ, बड़े-बड़े पत्ते डाल दो। याचकजीने खूब पत्ता तोड़ा। यह गोश्तमें डालकर पकाया

जाने लगा। बाबा कसैलने सोचा—"कौली (कटोरी)से कम गोश्त देनेपर साथी गाली देने लगते हैं, इसलिए कौली भर-भरके गोश्त परोसना चाहिए।" गोश्त करीब-क़रीब पक चुका था। उस वक़्त बाबा कसैलने दो बाल्टी पानी उड़ेल दिया। अब गोश्तके स्वादको क्या पूछना? मिला था कौली भर, लेकिन कोई आधी कौली भी खानेको तैयार न था। और जब मन्त्रदाताकी बात और दूसरे रहस्य खुले, तो कई दिनों तक खूब मजाक़ होता रहा। कितने लोगोंने प्रस्ताव किया, कि अगले हफ़्ते भी बाबा कसैलका मन्त्रिमंडल रहे।

१४ दिसम्बरको यह सुनकर साथियोंको बड़ा आनन्द हुआ, कि जर्मन फ़ासिस्तों-को मास्कोके मोर्चेपर सख्त हार हुई, और वह पीछे हट रहे हैं। १८ दिसम्बरको पता लगा कि भारतीय पार्टीकी नीति युद्धके सम्बन्धमें बदल गई। अब हरेक जन-स्वातन्त्र्य चाहनेवाले आदमीका कर्तव्य है—फासिस्तोंको जल्दीसे जल्दी हरानेमें पूरी ताकत लगाना।

२२ दिसम्बरसे देवली कैम्पसे राजबन्दी हटाये जाने लगे—बम्बईवाले साथी यहाँसे अपने प्रान्तकेलिए रवाना हुए। २८ दिसम्बरको बिहारके हम १२ आदमी भी साथियोंसे बिदाई ले कैम्पसे बाहर निकले। एक साल २ दिन तक (२६ दिसम्बर १९४०—२७ दिसम्बर १९४१) हमें देवली-कैम्पमें रहना पड़ा। गढ़वाली सैनिक और एक सी० आई० डी०का आदमी हमारे साथ चल रहा था। डब्बा कोटामें रिजर्व था। दिल्लीमें दूसरा डब्बा मिला। ३० दिसम्बरको १२ बजे बाद हम हजारीबाग रोड पहुँचे, और उसी दिन शामको सवा चार बजे हजारीबाग जेलमें। सरदार अर्जुनसिंह अब भी जेलर थे, और सुपरिन्टेन्डेन्ट थे मेजर नाथ।

३

फिर हजारीबाग-जेलमें (१९४१-४२)

२ दिनके बाद (२ जनवरी १९४२ को) मैं फिर अपनी एकान्त कोठरीमें चला आया। १७, १८ दिन तक मैंने दोस्तोंसे मिलने, पुस्तकोंके पढ़ने आदिमें बिताये। ७ जनवरीको जाड़ेके दिनोंमें लालसेनाके प्रत्याक्रमणपर विचार करते हुए मैंने अपनी डायरीमें लिखा था—"(१) लालसेनाके पीछे हटनेमें निर्बलता नहीं, सैनिकनीति भी कारण थी; (२) आज शीघ्रतासे आगे न बढ़नेपर यह भाव काम कर रहा है, कि भूमि दखल करनेकी जगह जर्मन सेनाको अधिकसे अधिक तबाह किया जाय।"

कम्यूनिस्तोंकी नीति बदलनेपर कांग्रेसी अखबार कम्यूनिस्तोंको खूब गालियाँ दे रहे थे। "लेकिन, इतना करनेपर भी परिस्थितिके अनुसार अपने रास्तेको ठीक करके महान आदर्शके पीछे चलनेवाले मार्क्सवादियोंके प्रभावको कम करनेका यह रास्ता नहीं है। साधारण जन (किसान, मजदूर) कम्यूनिस्तोंकेलिए दी जानेवाली इन गालियोंसे भड़कनेवाले नहीं हैं। 'रूसके साथी हैं', इसे वह गाली नहीं समझ सकते; जब तक कि यह उन्हें समझा न दिया जाय, कि 'रूस खराब शैतान है, वह मजदूर-किसान-हितका शत्रु है'। यदि रूस अच्छा है, तो उसके साथी कैसे बुरे हो सकते हैं?" (१६ जनवरी)

२० जनवरीको भारत सरकारके गृहविभागके अतिरिक्त—सेक्रेटरी टोटन-हमकी दस्तखतसे एक नोटिस आया, जिसमें लिखा था—"तुम—राहुल सांकृत्यायन—को भारतरक्षा क़ानून (२६ ख) के अनुसार केन्द्रीय सरकारके हुकुमसे इसलिए नजर-बन्द किया गया है, कि तुम भारतीय कम्यूनिस्त पार्टीके मेम्बर हो; जो कम्यूनिस्त पार्टी अपने उद्घोषित प्रोग्राम—हिंसात्मक क्रान्तिद्वारा शक्तिपर अधिकार करना—को पूरा करनेकेलिए युद्ध-संचालनमें सक्रिय बाधा दे रही है।" आगे उसमें यह भी लिखा था कि तुम्हारे इलजामको फिरसे देखा जा रहा है, अगर उसके बारेमें तुम कुछ कहना चाहते हो, तो लिखकर दे सकते हो। मैंने अपने २३ जनवरीके पत्रमें उत्तर देते हुए लिखा, कि हम अब इस युद्धको अपना तथा जनताका युद्ध समझते हैं, इसलिए क्रियात्मक रूपसे इसमें भाग लेना जरूरी समझते हैं।

१७ जनवरीसे मैंने "दर्शन-दिग्दर्शन"के अगले भागको लिखना शुरू किया और ११ मार्चको पुस्तक समाप्त कर दी। बीचमें कोषवृद्धिके आपरेशनकेलिए २६ जनवरीसे ६ फ़रवरी तक हजारीबाग सदर-अस्पतालमें रहना पड़ा। मेजर गुप्त एक सिद्धहस्त सर्जन थे, उन्होंने बड़ी निपुणतासे आपरेशन किया। पिछली बार भूख-हड़तालके बाद जब मैं सदर-अस्पताल आया था, तो उस वक़्त जो रोमन-कैथलिक साधुनियाँ रोगि-परिचर्याका काम वहाँ कर रही थीं, वह अब भी मौजूद थी। कोनिया (युगोस्लाविया)की सहृदय भिक्षुणी अब भी यहीं थी। युगोस्लावियापर हिटलरने जो आक्रमण किया, उसपर वह खिन्न थी। वह जानती थी कि मेरा बच्चा और बीबी लेनिनग्रादमें हैं, इसलिए हम दोनोंमें परस्पर सम-वेदना थी। उसका रोमन-कैथलिक ईसाई धर्मपर बहुत विश्वास था। मुझे चुप-चाप लेटे रहना पड़ता था। उसने मुझे रोमन-कैथलिकोंका बाइबिल-इतिहास दिया। कहानियाँ तो दिलचस्प मालूम होती थीं, किन्तु बच्चोंकी-सी। ६ जनवरी-

को हम लोग जेलमें चले आये।

२५ फ़र्वरीको श्री कार्य्यानन्द शर्मा तथा कुछ और साथी जेलसे छूटे। सिंगापुरको जापानने ले लिया था। १० मार्चको रंगूनको भी अंग्रेज़ोंने खाली कर दिया। अब जापानी फ़ासिस्त हिन्दुस्तानकी सीमाके पास पहुँच रहे थे। हम लोग इस वक़्त जेलके भीतर फड़फड़ा रहे थे, क्योंकि हम समझते थे, कि इस समय हमारा काम बाहर है। लेकिन अंग्रेज़-शासक युद्ध जीतनेका उतना ख़्याल नहीं रखते थे, जितना कि भविष्यके अपने स्वार्थकी रक्षाका। हम कबतक छूटेंगे, इसका कोई निश्चय नहीं था, इसलिए समयका उपयोग करना ज़रूरी था। १२ मार्चको मैंने "वैज्ञानिक भौतिकवाद"को लिखना शुरू किया और २४ तारीख़को उसे ख़तम कर दिया।

क्रिप्स-वार्तालाप—२३ तारीख़को पता लगा, कि सर स्ट्रेफ़ोर्ड क्रिप्स दिल्ली पहुँच गये। यद्यपि एमरी और चर्चिलकी भारतके बारेमें क्या नीति है, इसे हम अच्छी तरह समझते थे, लेकिन युद्ध एक स्वतन्त्र शक्ति है, वह असम्भवको सम्भव बना देता है। दिल्लीकी ख़बरोंको हम लोग बड़ी उत्सुकतासे देख रहे थे। इसी बीच ६ अप्रैलको कोलम्बो और ७को विशाखपटनम्, कोकनाडापर जापानियोंके हवाई हमले हुए।

८ अप्रैलकी ख़बरोंसे पता लगा, कि क्रिप्स वर्तालाप भंग हो गया, लेकिन अगले दिन फिर आशाजनक ख़बरें आईं। ११ अप्रैलके पत्रोंसे मालूम हुआ कि वार्तालाप टूट गया। बड़ी निराशा हुई, क्योंकि हम लोग समझते थे, कि जापानसे लड़नेकेलिए भारतका सारा धन-बल, जन-बल लगाना चाहिए और वह तभी लग सकता है, जब कि हमारी अपनी सरकार हो। हमारे नेताओंने यह नहीं समझ पाया, कि युद्ध स्वयं एक स्वतन्त्र शक्ति है, वह निहत्थोंको हथियार देती है, दबेहुओंको उठने, और बँधे हुओंको मुक्त होनेका अवसर देती है। वह यह नहीं समझ पाये कि एक बार युद्धके भीतर घुस जानेपर हमें पूरी सैनिक तैयारीसे कोई नहीं-रोक सकता। उन्होंने युद्धकी परिस्थितिकी अपेक्षा काग़ज़के टुकड़ोंपर अधिक विश्वास किया, और चाहने लगे कि अंग्रेज़ शासक उन्हें पकी-पकायी थाली परोसकर सामने रख दें। चर्चिल-एमरीने अपनी ख़ुशीसे क्रिप्सको नहीं भेजा था। जैसे ही लम्बी-लम्बी बातें करके मित्र-देशोंकी जनताकी आँखोंमें धूल झोंकनेमें समर्थ हुए, वैसे ही उन्होंने पैंतरा बदल दिया। यूगोस्लाविया, इताली, यूनानके पीछेके युद्ध-इतिहासने बतला दिया, कि विलायती टोरियोंका सारा छलबल वहाँ बेकार था, जब

कि उन देशोंके बहादुरोंने फ़ासिस्तोंके विरुद्ध सारी ताकत लगाकर लड़ना शुरू किया। खैर, हमारे देशने एक बड़ा अवसर खो दिया। अंग्रेज-शासकोंने हिन्दुस्तानके फ़ासिस्त-विरोधी भावोंको दबानेमें बड़ा काम किया। भारतीय देशभक्तोंकी निराशाने उन्हें जापानियोंकी ओर ताकनेकेलिए मजबूर किया। क्रिप्स तो मेकडानलकी ही तरह झूठा और बेईमान निकला।

मेरी बहुत दिनोंसे इच्छा थी, कि भारतके ऐतिहासिक सामग्रीको इस्तेमाल करते हुए कुछ ऐसे उपन्यास और कहानियाँ लिखी जायें, जिससे हमारी प्रगतिशीलता-को मदद मिले। मैंने अबतक ("बाईसवीं सदी"को लेकर) दो उपन्यास लिखे थे। त्रिपिटकको पढ़ते हुए मैंने देखा था, कि उस वक़्तके भारतमें सिर्फ राजाओंकी निरंकुशता ही नहीं थी, बल्कि पूर्व और पच्छिमके भारतमें कितने ही प्रजातन्त्र थे। वैशालीके लिच्छिवियोंका प्रजातन्त्र इतना बलशाली था, कि मगध और कोसलके राजाओंको भी उसकी ओर अदबसे देखना पड़ता था। मैंने उस समयकी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक अवस्थाओंके साथ-साथ जनतन्त्रताके रूपको एक उपन्यासके रूपमें चित्रण करना चाहा, जिसका परिणाम हुआ "सिंह सेनापति"। इसे मैंने ७ मईको लिखना शुरू किया था, और २६ मईको खतम किया।

यूरोपसे लौटते वक़्त (जनवरी १९३३) मैंने दो पुस्तकोंके लिखनेका इरादा किया था, जिसमें एकको ("साम्यवाद ही क्यों") १९३४ हीमें लिख डाला, लेकिन दूसरी किताबमें मैं दिखलाना चाहता था, कि भारतीय संस्कृति और सभ्यताकी दुहाई देनेवाले झूठ-मूठ ही प्राचीनताके नामपर हमारे रास्तेमें रोड़ा अटकाते हैं। वस्तुतः भारतीय संस्कृति-सभ्यता कभी अचल नहीं रही, उसके हरेक अंगमें परि-परिवर्तन होता रहा। "मानव समाज" लिखते वक़्त मैंने यह भी अनुभव किया, कि बहुतसे पाठकोंको इसका ऐतिहासिक विश्लेषण समझनेमें आसान न होगा। यदि इन सिद्धान्तोंको जातीय इतिहास-प्रवाहको दरसानेवाली कहानियोंमें अंकित किया जाय, तो पाठकोंकेलिए समझना आसान हो जायगा। कुछ ऐसे ही विचारोंसे प्रेरित हो श्री भगवत शरण उपाध्यायने कितनी ही कहानियाँ लिखी थीं, जिनके-लिए मैं उन्हें साधुवाद भी दे चुका था, और यदि सारे कालको लेकर उन्होंने एक पुस्तक लिख डाली होती, तो शायद मैं इस काममें हाथ भी न लगाता। खैर, इसी ख्यालको लेकर मैंने १ जूनको "वोल्गासे गंगा" की पहिली कहानी "निशा" लिखी। और अंतिम २० वीं कहानी "सुमेर" २१ जूनको खतम हुई।

जब तक जेलसे निकले नहीं, तब तक कुछ लिखते-पढ़ते रहना चाहिए। २६

जूनसे मैंने "जपनियाँ राछ्छ" और दूसरे ७ नाटकोंको छपराकी भाषा (मल्लिका) में लिखा। मैं १९२१ हीसे अपने व्याख्यानोंकेलिए छपरामें वहाँ हीकी भाषाको इस्तेमाल करता आया था। मैं इन मातृभाषाओंकी क्षमता और समृद्ध शब्द-भण्डारको अपनी आँखोंसे देखता था। सोवियत्‌में जानेके बाद वहाँकी मातृभाषाओंकी उपयोगिताको देखकर अच्छी तरह समझने लगा, कि जनताके हिन्दुस्तानमें इन भाषाओंको बहुत काम करना है। इसी ख्यालसे १९३९ में छपरासे वहाँकी भाषामें एक अखबार निकालना चाहा था, और उसी ख्यालको लेकर इन आठ नाटकोंको लिखा। इनमें चार "जपनियाँ राछ्छ" "देस-रच्छक," "जरमनवाँके हार निहिचय" "ई हमार लड़ाई" फ़ासिस्त-विरोधी भावोंको फैलानेकेलिए लिखे गए थे। "ढुनमुन नेता" में भिन्न-भिन्न राजनीतिक विचार-धाराओंका विश्लेषण किया गया था "नइकी दुनियाँ" "और जोंक" में साम्यवादी विचारों और साम्यवादकी आवश्यकताको और "मेहरारुनके दुरदसा" में स्त्रियोंकी हीनावस्थाको दिखलाया गया था।

कांग्रेस कमेटीने अपने इलाहाबादके प्रस्ताव और बादकी कार्यकरिणीके प्रस्तावमें जो रुख लिया था, वह मुझे गलत मालूम हुआ। १९ जूलाईको इसके बारेमें मैंने अपनी डायरीमें लिखा था—"इस (१५ जूलाईके) प्रस्ताव और गाँधीजीके वक्तव्यसे मालूम होता है, कि यदि अंग्रेज-शासकोंकी अकल ठीक न हुई, तो गाँधीजी सिर्फ धमकी नहीं दे रहे हैं। यह गाँधी और कांग्रेसके जीवन-मरणका प्रश्न है। यदि इस लड़ाईभर वह चुप रहना चाहते हैं, तो उन्हें खतम समझिये। जिस प्रकारका आर्थिक संकट जनतापर है, उससे जनआन्दोलन विकटरूप धारण कर सकता है। जब अंग्रेजोंकी हारपर हारकी खबरें सुनकर लोग निराशावादी हो चुके हैं, तब सारे नेताओंको पकड़कर जेलोंमें भर देनेसे काम नहीं चलेगा। सबसे कमी यहाँ (कांग्रेसी विचारधारामें) यही है, कि वह मुस्लिम-लीगको केवल अंग्रेजोंके बलपर कूदनेवाली संस्था समझनेकी गलती करती है और यह नहीं समझती कि उसकी पीठपर मुस्लिम जनता कितनी है। और इसी गलत ख्यालके कारण वह मुस्लिम लीगसे समझौता करनेकेलिए तैयार नहीं है।"

९ जून और बादमें मैंने "पाकिस्तान और जातियोंकी समस्या" पर एक लेख लिखा। जिसमें भारतको एक बहुजातिक राष्ट्रके तौरपर मानकर समस्याओंको देखनेकेलिए जोर दिया।

आखिर २३ जूलाई आई, और मुझे सबेरे ही हजारीबाग जेलसे छोड़ दिया गया।

४

बाहरकी दुनियामें (१९४२-४३ ई०)

सुनील, कार्यानन्द और दूसरे साथी प्रान्तीय पार्टी आफिसमें मौजूद थे, जब कि मैं २४ जुलाईको पटना पहुँचा। पहिले देखना था कि, बाहरकी अवस्था क्या है। २६ जुलाईको सोनपुर पहुँचा, स्वागत हुआ, एक छोटी सी सभामें व्याख्यान देना पड़ा। २७ जुलाईको छपरामें भी गया। शामको टाउनहालके हातेमें सभा हुई। भाषण दिया, भाषणका जब अन्त हो रहा था, तो उस वक्त कुछ आदमियोंने हल्ला मचाना शुरू किया। यह भी देखा, कि कुछ कांग्रेसी नेता भी कम्युनिस्तोंके विरोधमें खास तौरसे हिस्सा ले रहे हैं। कालेजके विद्यार्थियोंके साथ अगले दिन तीन घंटे बिताये। उसने बतला दिया कि नई पीढ़ीमें नई विचारधारा बहुत तेजीसे प्रविष्ट हो रही है। गोपाल कालेजके मैदानमें व्याख्यान और वार्तालापसे (२९ जुलाई) इस धारणाकी और पुष्टि हुई। अजीज साहबके यहाँ भोजन हुआ। उनका स्नेह उसी तरह ताजा था। ३१ को पटनामें प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीकी बैठक थी। मुझे भी उसके सदस्यके तौर पर शामिल होना था। ३० जुलाईको जब हम दीघाघाटसे पटना जहाज द्वारा जा रहे थे, तो कुछ पुराने परिचित कांग्रेसी भी साथ चल रहे थे। एक भाई कह रहे थे कि इतना बड़ा युद्ध छेड़नेकी कांग्रेसवाले बात कर रहे हैं, लेकिन देश तो उसके लिए तैयार नहीं है। यद्यपि कांग्रेसने अभी इस तरहका कोई प्रस्ताव नहीं पास किया था, लेकिन यह ख्याल बहुत फैला हुआ था, कि अबके संघर्षमें रेलकी पटरियाँ उखाड़ी जायेंगी, तार काटे जायेंगे, कचहरियोंको दखल किया जायेगा आदि। हमारे साथी भी कह रहे थे, कि इतने बड़े कामकेलिए जिस जबर्दस्त संगठन और अनुशासनकी जरूरत है, उसके लिए लोगोंको तैयार नहीं किया गया है। मैंने पूछा—"यदि तैयार किया जाता, तो यह ठीक होता? उन्होंने कहा—शायद, लेकिन आपकी क्या राय है?"

मैंने कहा—"यह ठीक नहीं है। ऐसा करके हम दुनियाकी उन सारी शक्तियोंकी सहानुभूतिको खो बैठेंगे, जो कि हमें स्वतन्त्र देखना चाहती हैं। इस वक्त रेल, तार काटनेका यह छोड़ और कोई मतलब नहीं हो सकता, कि जापानियोंको हिन्दुस्तानके भीतर घुसनेमें मदद मिले। जिन्होंने कोरिया और चीनमें जापानके खूनी शासनका इतिहास नहीं पढ़ा है, वही आशा रख सकते हैं कि जापान हिन्दुस्तानको आजादी देगा।

हमारे साथ हाजीपुरके पासके किसी गाँवका एक नौजवान भी चल रहा था। वह पटनाकी बिजली कम्पनीमें नौकर था। उसने पूछा—"अब तक तो हम लोग पैसा-कौड़ी घरमें रखते थे अब चोरी-डकैती बहुत बढ़ गई है, हमें रुपयों को बंक में रखना चाहिए या नहीं?मैंने कहा—"बंक में वह ज्यादा सुरक्षित रहेंगे।"

उसने कभी सत्याग्रहमें भाग न लिया था, न राष्ट्रीय आन्दोलनसे उसकी सहानुभूति थी। जब रेल-तार काटनेकी बात हो रही थी, तब वह बहुत खुश हो रहा था, और कहने लगा—"यह तो अच्छा होगा, नहीं तो अंग्रेज यहाँसे जाएँगे कैसे?"

मैंने कहा—"रेल-तार कट जाएँगे, तो पटनासे आपका गाँव बहुत दूर हो जायगा, फिर महीनेमें दो बार नहीं, ६ महीनेमें एक बार भी घर जाना मुश्किल होगा।"

बेचारा यह सुनकर घबड़ाया। मैंने कहा—"घबड़ानेकेलिए नहीं कह रहा हूँ, और न यही कह रहा हूँ कि देशकी आज़ादीकेलिए आदमीको चरम त्यागकेलिए तैयार नहीं रहना चाहिए। सवाल यह है कि अगर एक सरकारको लुंज करते हैं, तो उसकी जगह दूसरी सरकारका इतिज़ाम आपको करना चाहिए। यह कहनेसे काम नहीं चलेगा, कि हम लोग अपना काम करे जाते है, फिर सँभालनेवाला सँभालेगा। सँभालनेवाला सँभालेगा नहीं, बल्कि यदि शासनयन्त्र आपके पास नहीं है, तो इसका परिणाम होगा लूटपाट और आपसमें मारकाट।"

इसके बाद मैंने यह भी कहा, कि इस वक़्त युद्धके समय ऐसा करके हम दुनियाकी सहानभूति खो बैठेंगे और अंग्रेज-टोरियोंको खुलकर दमन करनेका मौका देंगे।

३१ जूलाईको सदाकत-आश्रममें प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीकी बैठक थी। सभी जिलोंके लोग सम्मिलित हुए थे। राजेन्द्र बाबू अभी वर्धासे आए थे। उन्होंने अपने व्याख्यानमें कहा, कि मैंने आपको किसी प्रस्ताव या निर्णयकेलिए तकलीफ़ नहीं दी, बल्कि जिस अन्तिम युद्धमें हमें अब कूदना है, उसके बारेमें मैं आपको बतलाना चाहता हूँ। इसके बाद उन्होंने एक घंटाके करीब व्याख्यान दिया। जिसका संक्षेप था कांग्रेस सर्वस्वकी बाजी लगाने जा रही है। अपने ५२ सालकी उम्रमें कांग्रेसने कभी ऐसा कदम नहीं उठाया। सत्याग्रह जो होगा, उसमें हर मौक़े हर तरीके इस्तेमाल किए जा सकते है। अहिंसाको छोड़कर और कोई भी बन्धन नहीं रहेगा। उस वक़्त पथ-प्रदर्शनकेलिए न कांग्रेस रह जायगी, न कांग्रेसनेता। फिर सबको अपने आप अपना नेता बनना होगा; हिन्दू, मुस्लिम समझौता पीछे, स्वराज पहिले।

जिलामें आए लोगोंने बतलाया कि देश इतने बड़े संघर्षकेलिए तैयार नहीं है।

कि कल भी विद्यार्थियोंने दमनके विरुद्ध जुलूस निकाला था, आज भी उनका एक बड़ा जुलूस निकला। मालूम हुआ, ५ आदमी अबतक इस जिलेमें गिरफ्तार हो चुके हैं। कई देशभक्तोंने मुझसे पूछा, तो मैंने कहा "जापानको प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष जिस तरीकेसे फायदा हो, वह काम हम नहीं करेंगे। साथ ही नौकरशाहीके हाथके हथियार नहीं बनेंगे। (लोगोंमें) बहुत जोश है। अव्यवस्था जरूर होगी। और नौकरशाही (इसे) चाहेगी।" (१० अगस्त)

११ अगस्तको पटना पहुँचा। यहाँ भी उत्तेजना बहुत थी। विद्यार्थियोंके जुलूस निकल रहे थे। अहमदाबाद, बम्बई, पूना आदिमें गोली चली, इन खबरोंने आगमें घीका काम दिया। दोपहर बाद जुलूस निकला। कम्यूनिस्ट छात्रोंने समझानेकी कोशिश की, और अब तक वह सफल हुये थे, किन्तु गोलियोंकी खबरोंने तरुणोंको बहुत उत्तेजित कर दिया था। इसलिये वह अब कुछ कर डालना चाहते थे। एक बड़ा जुलूस निकल कर सेक्रेटेरियटकी ओर गया। वहाँ दस हजारकी भीड़ जमा हो गई। गोली चली। तीन आदमी वहीं मर गए और कितने ही घायल हुये। शामके वक्त एक छात्र आया। देखा, उसका कमीज खूनसे भरा हुआ है। उसने बतलाया कि घायलोंको रिक्शामें रखते वक्त मेरे कपड़ोंमें खून लग गया। आधी रात को ७ (?) लाशोंका जुलूस निकाला गया। कौन था, जो इन तरुणोंकी मृत्यु पर आँसू न बहाता। बीच-बीचमें रोशनी थी, लाशें फूलसे सजी हुई थीं और अपार जनता पीछे-पीछे जा रही थी। सबकी आँखोंमें रोष था, सबके हृदयमें क्षोभ था। इस दृश्यने लोगोंके धैर्यको तोड़ दिया। १२ तारीखको पूरी हड़ताल रही, यह कहनेसे पटनाका वर्णन काफी नहीं हो सकता। उस दिन पटना-शहरमें अंग्रेजी राज नहीं रह गया था। रिक्शे और इक्के नहीं चलते थे। छात्र भी अब नेतृत्व नहीं करते थे। नेतृत्व रिक्शा, इक्का चलानेवाले तथा दूसरे ऐसे ही आदमियोंके हाथमें चला गया था, जिनको राजनीतिमें इतना ही मालूम था, कि अंग्रेज हमारे दुश्मन हैं। चन्द्रशेखर और दूसरे कम्यूनिस्ट छात्रोंको समझानेकी कोशिश कर रहे थे, लेकिन वह उन्हें अंग्रेजोंका दलाल कहते थे। मैं भी एकाध होस्टलोंमें गया था, लेकिन कोई फल नहीं हुआ। दोपहर बाद जुलूस निकला, किन्तु इसमें कोई नेतृत्व नहीं था। एक विशाल सभा हुई, कांग्रेसके कुछ नेताओंने "क्रान्ति" में कूदनेकेलिए लोगोंको उत्साहित किया। सुननेवालोंने कहा—लेक्चर सुननेकी जरूरत नहीं, चलो काम करें। फिर शहरके तार काटे जाने लगे। हमारे रहनेके मकानके पासमें एक तारका खम्भा था, एक आदमी उसपर चढ़ गया, और उसने

चीनीकी टोपियोंको कूँच डाला। मैं और पं० यदुनन्दन शर्मा किसान सभा कार्यालयकी छतपर बैठे यह सब दृश्य देख रहे थे। डाकखानोंको जलाया जा रहा था, लेटरबक्स तोड़े जा रहे थे। दूकानदार भी बहुत खुश थे। कैदियोंकी भरी लारियोंको लोगोंने पकड़कर उन्हें छोड़ दिया। राजेन्द्रबाबूकी बात ठीक हो रही थी। वहाँ हरेक आदमी अपना नेता था। मैं देख रहा था, लोगोंमें वस्तुतः क्रान्तिने एक ऐसा भाव पैदा कर दिया था, जिसमें स्वार्थका नाम न था। हमारे मकानके सामने सड़कपर ईंटें रख दी गई थीं, जिसमें फौजी लारियाँ उधरसे न चल सकें, यह बिल्कुल बच्चोंकी सी बात थी। फ़ौजी लारियोंको गड्ढे और खड्ड भी नहीं रोक सकते। रातको अँधेरा था, चलनेवालोंका पैर जरूर टूटता, लेकिन रातके एक बजे तक मैंने देखा, एक आदमी स्वेच्छासे लोगोंसे कह रहा था—किरपा करके इधरसे आइए। "किरपा" शब्दने खास तौरसे मेरे ध्यानको आकृष्ट किया। क्योंकि अभी तक हमारे अशिक्षित जनोंमें इस तरहके शब्दका प्रयोग नहीं होता था। क्रान्ति तो नहीं आई, क्योंकि उसके लानेकी कोशिश नहीं की गई, लेकिन इसमें शक नहीं, कि क्रान्तिका वातावरण वहाँ जरूर था। नगरकी जनशक्तिने पुराने शासनको खतम कर दिया था—सिर्फ़ खतमभर कर दिया था, लेकिन खाली जगह पड़ी हुई थी। जिन विद्यार्थियोंने नगरके कमेरोंको उत्तेजित करके यहाँ तक पहुँचाया था, यह खुद इनको कोई रास्ता बता नहीं रहे थे। दूसरे दिन (१३ अगस्त) एक भद्र पुरुष बड़े उत्साहके साथ कह रहे थे—अब क्रान्ति बढ़ेगी। विद्यार्थी गाँवोंकी ओर जाएँगे, और वहाँ भी आग लगेगी। गान्धीजी सब कुछ जानते थे।

एक बंगाली भद्रपुरुष कह रहे थे, यह तो कोरी अराजकता है। स्वराज्य आखिर राज्य होता है, अराज्य नहीं, आप आगसे बचानेकी कोशिश कीजिए। कोशिश तो हो रही थी, लेकिन सरकारी दमनकी खबरें अखबारोंमें छपकर जब सारे शहरमें फैल गईं, उत्तेजना और बढ़ी। १२ अगस्तको सबेरेके वक्ततक पटनामें सड़क-तार नहीं कटे थे, लेकिन उसी वक्त अखबारोंमें दूसरे शहरोंमें सड़क-तार-कटनेकी बातें छपीं। मैंने कहा—अब पटनामें भी यही होने जा रहा है। लोगोंने इन खबरोंसे सीखा और उसी दिन पटनामें भी रेलतार कट गए।

शाम तक जोश ठंडा हो चला। इक्के, रिक्शेवाले बेचारे रोज कमाते हैं, और रोज खाते हैं। दो दिन वह क्रान्तिकी लड़ाईमें शामिल रहे, लेकिन खानेका कोई ठिकाना नहीं था। मैंने उस दिन डायरीमें लिखा था "आज शामको बाढ़ (जोश) नीचेकी ओर जा रही है। गाँवोंमें जमींदार महाजन और बनियोंके लूटनेका प्रस्ताव

चलेगा।...इसको देखकर अफसोस होता है। जो अधिकार मेले इन लोगोंके हाथमें आया था, उससे वह बहुत कुछ कर सकते थे।'

१२ की रातको अगर आन्दोलन वाले चाहते, तो लोगोंसे दस-बीस लाख रुपया, हजारों मन अनाज जमा कर सकते थे, और उससे रिक्शे, इक्के वालों तथा दूसरे कमेरोंको खाना देकर उन्हें और कितने ही दिनों तक हड़तालपर कायम रख सकते थे—यह ठीक था कि टैङ्क और मशीनगनके आनेपर उनका डटा रहना संभव नहीं था। साथ ही उस रात यदि चाहते, तो कागजवाले हजारोंमन कागज देते, प्रेस मुफ्त उनकी घोषणाओं और पासोंको छापते। कुछ दिनों बाद उन्हें चाहे असफलता भी मिलती, लेकिन एक व्यवस्थित सरकार कायम करके उसके व्यवस्थापत्रोंको छापकर इतिहास-केलिए वह एक चिन्ह छोड़ जाते। लेकिन हमारे नेताओंने तो समझा था, कि हरेक आदमी अपना अपना नेता बने, बस यही क्रान्ति है। जो घटनाएँ मेरे सामने गुजर रही थीं, उन्हें देखकर मुझे एक खयालसे और भी दुख होता था, कि क्रान्तिके साथ मजाक किया जा रहा है। जनताके हृदयमें बद्ध अपार शक्तिको खोल दिया गया था, लेकिन आतिशबाजीमें खर्च होनेवाली बारूदकी तरह, मैं समझता था, इसका दुष्परिणाम यह होगा कि इस वक्तकी असफलतासे गंभीर क्रान्तिके वक्त जनता उतना दिल खोलकर भाग नहीं ले सकेगी।

१४ तारीखको जोश और भी ठंडा हो गया। विद्यार्थी दो दिनों तक रहकर देख चुके थे, कि अब उनको कोई नहीं पूछता। जैसे उनमेंसे हरेकने अपना नेता बनना चाहा था, वैसे ही उनसे भी भारी संख्या मैदानमें आगई थी, जिनमें हरेक अपना नेता बनना चाहता था। बहुतसे छात्र तो कल ही पटना छोड़कर चले गए थे, आज कालेजोंको एक महीनेकी छुट्टी दे दी गई, और १० बजे तक होस्टलोंको छोड़ देनेका हुकुम दे दिया गया था। मैं एक होस्टलमें गया। वहाँ कुछ विद्यार्थी बहुत परेशान थे कि अपने सामानको कहाँ रखें। सुपरिन्टेन्डेन्टने एक कमरा खुलवा दिया और कहा कि अपने सामानपर नाम लिखकर इसमें रख दो। आज तीसरे दिन रिक्शा, इक्कावाले बिना कहे ही अपने काममें लग गए थे, वह छात्रोंको गाली दे रहे थे। सेना पहुँच गई थी, और वह लोगोंसे रास्ता साफ करवा रही थी। कितने ही लोग तो खुद ही अपने सामनेकी सड़कको साफ कर चुके थे। रास्तेमें यदि कोई बाबू मिल जाता, तो उसे भी सेना सड़क साफ करनेमें लगा देती। एकाध अंग्रेजोंको भी पकड़कर उनसे यह काम करवाया था। उसी शामको फौजी-कानूनकी घोषणा हुई।

स्वामीनन्द जी बम्बईमें कांग्रेस कमेटीकी बैठकमें गए थे। आज वह लौटे।

स्वामी सहजानन्द भी आए। उन्होंने अपना सामान फतुहामें छोड़ दिया था। १५ अगस्त को जीवेन्द्र ब्रह्मचारी उसे लेने गए। बतला रहे थे—एक जगह पाँच आदमी सड़कपर खड़े थे, कोई भी सवारी उधरसे गुजरती तो आदमी पीछे चार चार आना कर वसूल कर रहे थे। गाँवके कुछ आदमियोंने समझा था, कि अब यहाँ हमारा राज्य है, यहाँसे चलनेवालोंको टैक्स देना चाहिए। उस दिन सड़कोंपर लाउड-स्पीकरसे यह कहती हुई मोटरें घूम रही थीं, कि दो बजे तक रास्ता साफ़ कर दो, नहीं तो कड़ी सजा होगी; विरोधियोंको गोली मारी जायगी। रेलें बन्द हो गईं, और लोग अब नावोंसे आने-जाने लगे। १६ अगस्तको बाँकीपुर और पटनामें खूब गिरफ्तारियाँ हुईं। सड़कोंपर आना जाना साधारण हो गया था। सिकरेटरियट और कुछ दूसरी जगहोंमें जानेकी मनाही थी। गोरी पलटनका जगह-जगह पहरा था, और कोई आदमी पासके बिना जा नहीं सकता था।

१७ अगस्तको देखा कि बहुतसे लोग शहर छोड़कर बाहर भाग रहे हैं। कोई घोड़ागाड़ीपर अपना सामान लिए जा रहा है, कितने परिवार नावोंसे भाग रहे हैं। पटना बड़ी तेजीसे खाली हो रहा था।

जब पटना या दूसरे शहरोंमें झगड़ा खतम हो गया, तब भी बिहारके गाँवोंमें कितने ही दिनों तक आग जलती रही। २१ अगस्तको मैंने लिखा था—"सेना इस वक्त विद्रोहको दबानेमें लगी हुई है। गांधीवाद अराजकताको छोड़ व्यवस्थित संघर्षका रूप थोड़े ही ले सकता है। और अराजकता पीछे बदमाशों और गुण्डोंके हाथमें चली जाती है। वैयक्तिक लाभकेलिए लोग लूटमार करने लगते हैं। सोनपुरमें ऐसा हुआ, बिहटामें ऐसा हुआ। नेता लोग तो जल्दी पकड़े जानेकेलिये उतावले हो गए। दमन करते वक्त ब्रिटिश नौकरशाही यह ख्याल नहीं कर रही है कि उसके शिरपर जापान बैठा हुआ है और भारतीय जनताको लेकर उसे जापानसे मुकाबिला करना है।

पहिले लोगोंने रेलके मालगोदामों और ट्रेनोंको खूब लूटा। चीनी, आटे, कपड़े की गाँठें, दियासलाईके डब्बे और दूसरी चीजें बैलगाड़ियोंपर लादकर अपने घरोंमें ले गए। अब पलटन देहातमें भी घूमने लगी थी, इसलिए लूटे सामानको लोग जहाँ तहाँ फेंकने लगे। गाँवोंके पोखरे और कुओंमें चीनीपाट दी गई और अब वह सड़कर बहुत बदबू पैदा कर रही थी। जिनके पास गंगा थी, उन्होंने चीजोंको गंगामें डाल दिया।

पालीगंज (पटना) थानेकी बात एक साथीने आकर बतलाई। एक स्वराजी नेता

भीड़ जमाकर थाना जलाने गए थे। थानेदारने कहा—जलाएँगे क्यों ? अब थानेमें आपका ही हुकुम चलेगा। नेता फूलकर कुप्पा हो गए। उन्होंने थानेके कागजपत्रपर अपना हस्ताक्षर किया, अपनी मुहर लगाई। पिस्तौल माँगने लगे, तो दारोगाने कहा कि मरम्मत होने गई है। वहाँ हफ्तेभर "स्वराज्य" रहा। फिर गोरी पलटनने पहुँचकर मारना घर जलाना शुरू किया।

अमवारी और जयजोरीके किसान इस बाढ़में नहीं बहे। लोगोंने बहुतेरा कहा, लेकिन उन्होंने जवाब दिया—राहुल बाबाका हुकुम ले आएँ, स्वामीजीका पत्र ले आएँ, तब हम इस लड़ाईमें भाग लेंगे। आसपासके साथियोंने उन्हें मालूम हो गया था, कि इस वक्त हमें ऐसा संघर्ष नहीं छेड़ना है, जिसमें किसानों-मजूरोंके जबर्दस्त दुश्मन जापानको किसी तरहकी मदद मिले। लोग आँदरका पुल तोड़ने गए, साथी जीव्वाद और मजहरूलने बहुत समझाया, लेकिन पुल तोड़ दिया गया। एक विद्यार्थी शुकदेवसिंहने इस वक्त लोगोंके समझानेमें बहुत तत्परता दिखाई थी, इसके कारण नेता बहुत नाराज हुये, उन्होंने शुकदेवको पकड़ लिया, और झट ही फैसला हो गया कि उसे प्राण दंड दे दिया जाय। लेकिन प्राण-दंडको तुरन्त कार्यरूपमें परिणत नहीं किया गया। ४ दिन तक शुकदेवको उन्होंने अपनी जेलमें रखा, इसी बीच उत्साह ठंडा होने लगा और शुकदेवके प्राण बच गए।

सीवान शहरकी सभामें गोली चली, लेकिन तोड़-फोड़ वहाँ नहीं हुई। बसन्तपुर, गुठनी, दरौली, रघुनाथपुर आदि कई थानोंपर विद्रोहियोंका अधिकार हो गया था, और वहाँके थानेदार तथा सिपाही सीवान चले आए थे। थानोंकी जगह कोई दूसरी व्यवस्था हुई नहीं थी, इसलिए लूट मार मची हुई थी। गुठनी थानेके लोग आकर थानेदारसे प्रार्थना कर रहे थे, कि आप लौट चलें।

इनारा (आजमगढ़) के पासके एक दोस्त अभी अभी १४ सितम्बरको अपने गाँवसे लौटे थे। वह कह रहे थे—सेना तो लोगोंको भयभीत करके ही रह जाती है, किन्तु पुलिस आँख मूँदकर लूट रही है। पलटनको लिवा लानेका काम भी

समझा कि सिपाही आ रहे हैं। दौड़कर गाँवमें आ उसने और लोगोंको खबर दी। सारा गाँव भाग खड़ा हुआ। चूल्हेकी हाँड़ी चूल्हेपर रह गई, परसी थाली वैसी ही रह गई, लोग जो कुछ उठा सकते थे, उसे हाथमें लेकर भागे। उस दिन गाँवोंकी बहू और बेटियाँ एक समान दिखाई देती थीं। मैंने पूछा—घूँघट ? जवाब मिला—घूँघट करके भागती कैसे ? बेचारी नववधुओंने घरसे बाहरके स्थानोंको कभी देखा न था, अब आँखें खुली थीं, लेकिन किसी स्थानको पहचानती नहीं थीं, इसलिए उन्हें अँगुली पकड़कर ले जानेकी जरूरत थी। मेरे ब्राह्मण मित्रने दर्दभरी मुस्कुराहटके साथ कहा—एक घड़ीमें पीढ़ियोंकी मर्य्यादाएँ मिट गईं, जिन बहुओंके मुँहको किसीने नहीं देखा था, वह खुले मुँह हमारे सामने भाग रही थीं।

पुलीसकी इस वक्त खूब बन आई थी। वह रुपया बनानेमें लगी हुई थी। कम्यूनिस्ट जहाँ भी थे, वहाँ लोगोंको इस कामसे अलग रहनेकेलिए कहते थे, लेकिन साथ ही वह यह भी कहते थे, कि अंग्रेज शासकोंने जान-बूझकर इस झगड़ेको पैदा कराया। क्रिप्सकी बातचीतके बेकार होनेपर मित्रदेशोंकी जनताने फिर दबाना शुरू किया था, कि हिन्दुस्तानके साथ समझौता किया जाय। अंग्रेज-शासक यही दिखलाना चाहते थे, कि हिन्दुस्तानी हमारे नहीं जापानके मित्र हैं—जापानकी मित्रताको साबित करनेकेलिए इससे बड़ा सबूत क्या चाहिए, कि हिन्दुस्तानी हाथोंने उन रेलों और तारोंको काटा, जिनके सहारे जापानसे लड़नेकेलिए फ़ौजें भेजी जातीं।

साथी कार्यानन्द लखीसरायमें भीड़को मना कर रहे थे, पुलीस उन्हें पकड़ ले गई, और कई दिनों बाद छोड़ा। सुबोध (मुजफ़्फ़रपुर) अपनेको खतरेमें डालकर अकेला लोगोंको समझा रहा था। उसने समझानेके ही लिए तोड़-फोड़की ओरसे छपी एक नोटिसको अपने पास रखा था। पुलीस उसके विचारोंको जानती थी। सुबोधको पकड़कर ३ (?) वर्षकेलिए जेलमें ठोक दिया। सोनपुरके साथी वेदान्तीने लोगोंके समझानेमें बड़ी हिम्मतका परिचय दिया। भीड़ रजिस्टरी फूँकने गई थी। वहाँ वेदान्ती कह रहे थे—"भाइयो ! यह अपने ही कागज-पत्र हैं; इन्हें फूँकनेमें क्या मतलब"। उनपर भी मुकदमा चलाया गया, और सिर्फ़ भीड़में रहनेके कारण ५ सालकी सजा दी गई—पीछे अपीलसे वह छोड़ दिये गये। गयामें इसी तरह हबीब और भोलाको जेलमें डाल दिया गया। बिहारमें सैकड़ों कम्यूनिस्ट इस तरह जेलोंमें बन्द कर दिये गये।

२९ अगस्तको मैं बिहार-सरकारके चीफ़ सेक्रेटरी गाडबोलेसे मिला और उन्हें

सारी परिस्थिति बतलाई। वह अपनेको बेबस बतलाते थे।

२२ सितम्बरको छपराके कलक्टर मिस्टर के० पी० सिंहसे मैं इन्हीं बातोंको बतलाने गया था, लेकिन उन्होंने हुकुम दिया—कल आइए। हिन्दुस्तानी आई० सी० एस० सभी इसी तरह के होते हैं, यह मैं नहीं कहता। क्योंकि कइयोंको मुझे नजदीकसे देखनेका मौका मिला है। लेकिन यह जरूर कहूँगा, कि यह अपने गोरे साथियोंसे भी अधिक अभिमानी होते हैं। "क्षुद्र नदी भरि चलि उतराई" यह चौपाई उनके ऊपर पूरी तौरसे घटित होती है। २२-२५ सितम्बरको मैं छपरासे प्रयाग तक गया। रास्तेमें बहुतसे स्टेशनोंको जला देखा। बलियासे पार होते वक्त पता लगा, कि पुलीसने यहाँ कितना जुल्म कर रखा है।

प्रयागमें (२७ सितम्बर) "हिन्दीगोष्ठी"के सामने मातृभाषाएँ ही शिक्षाका माध्यम होनी चाहिएँ।" पर व्याख्यान दिया। मैं इसके बारेमें अपने विचारोंको पत्रोंमें प्रकाशित कराता रहा हूँ, इसलिए कोई नई चीज नहीं थी, तो भी मैंने देखा कि अभी हमारे साहित्यिक इस सच्चाईको माननेकेलिए तैयार नहीं हैं। वह समझते हैं कि इससे हिन्दीको हानि होगी। मैंने उनकी शंकाओंका जवाब देते हुए कहा कि हिन्दीको नुकसान होनेका डर नहीं; क्योंकि पटना, बनारस या आगरावालोंको प्रयागवालोंके साथ साहित्यिक संपर्क रखनेकेलिए एक भाषाकी आवश्यकता होगी, जो हिन्दी ही होगी। हमारे प्रजातन्त्रोंके संघकेलिए भी एक सम्मिलित भाषाकी जरूरत है, वह हिन्दी होगी। लेकिन साथ ही हमें अपनी जनताको शीघ्र साक्षर और शिक्षित बनाना है, यह काम मातृ-भाषाएँ ही कर सकती हैं।

३० सितंबरको एक बर्मी तरुणसे मुलाकात हुई। वह आजकल प्रयाग आए हुए थे। कह रहे थे—"जिस वक्त जापानी बर्मामें घुस आये, उस वक्त तक भी सरकारने कम्यूनिस्टोंको जेलमें ही बन्द रखा, यह जानते हुए भी, कि ये जापानके सख्त दुश्मन हैं, और जापानियोंके हाथमें जानेपर इनकेलिये गोली खानेके सिवा दूसरा रास्ता नहीं है।" वह बतला रहे थे, कि एक विशेषज्ञ कर्नल अंग्रेज बड़े विश्वासके साथ विश्वविद्यालयकी किसी बैठकमें कह रहे थे—"जापानी दो सप्ताहसे ज्यादा नहीं टिक सकते। उनका फेफड़ा बहुत कमजोर होता है, इसलिए वह ज्यादा ऊपर नहीं उड़ सकते। उनकी आँखें कमजोर होती हैं, इसलिए जापानी हवाई जहाज रातको हमला नहीं कर सकते।" सरकारी अफसरोंकी वीरताकी यह हालत थी, कि जापानी पल्टनको १०० मील दूर ही देखकर वह अपना स्थान छोड़ देते थे। यदि कुछ अफसर आखिर तक अपनी जगहोंपर डटे रहते, तो इतनी लूटपाट न होती, मगर उन्होंने

जनताको कभी अपनाया नहीं था, हमेशा उसका दमन किया था; इसलिए उनको डर था, कि ऐसी अवस्थामें लोग उन्हें चबा जायेंगे; इसी कारणसे सरकारी अफसर सबसे पहले भागते थे। जापानियोंका यहाँ कहीं पता नहीं था, वह दो हफ्ता बाद डेल्टा के चारों जिलोंमें पहुँचे थे, लेकिन अफसर पहिले ही वहाँसे रफूचक्कर हो गये थे।

२ अक्तूबरको मैं सारनाथ गया। कई वर्ष बाद अबकी जाना हुआ। चीनी मन्दिर तैयार हो गया था। किन्तु यह देखकर आश्चर्य हुआ, कि इतने वर्षों रहनेपर भी वहाँके चीनी साधूने हिन्दी नहीं सीखी। बर्मी धर्मशालामें बर्मासे भागकर आये १८ स्त्री-बच्चे ठहरे हुए थे। स्त्रियाँ बतला रही थीं, कि किस तरह सेनाने उनके ऊपर बलात्कार किया। यह सभी स्त्रियाँ भारतीयोंकी पत्नियाँ या भारतीय बापोंकी लड़कियाँ थी। १७-१८ सालकी उड़िया माँ-बापकी एक लडकी भी उनमें थी। उसके घरमें २५० गाएँ, ५० भैंसें, हजारों मन धान और खेत थे। उसका बाप वहीं मर गया। माँ, बेटी, भाई जान लेकर भगे। सब रास्ते में मर गए और वह अकेली यहाँ तक पहुँची!

युद्धका पासा पलटा—१९४२की गर्मियोंमें हिटलरी सेना फिर बड़ी तेजीसे सोवियत्‌के भीतर बढने लगी। वह स्तालिनग्राद और काकेशश तकमें घुस गई। भारी खतरा था। खबरोंको सुनकर दिल विकल हो उठता था। २९ अगस्तके पत्रोंमें पढ़ा, कि लालसेनाने स्तालिनग्राद पहुँची जर्मन फौजोंपर हमला कर दिया है। लेकिन अब भी जर्मन डटे हुए थे। उनके आगे न बढनेने इस बातको तो साबित कर दिया, कि मास्को और लेनिनग्रादकी तरह यहाँ भी सोवियत्‌ने अपनी एक आखिरी मोर्चाबन्दी कर रखी है, जिससे आगे वह जर्मन-सेनाको बढ़ने नहीं देगी। पहिली फ़र्वरी (१९४३)को पढ़ा कि जर्मन सेनापति फ़ील्ड मार्शल पाउलुसने हथियार रख दिया, और ११ जर्मन तथा ५ इतालियन जेनरलोंके साथ क़ैदी बना लिया गया। जैसा कि मैंने पहिले लिखा है, सोवियत्‌की अजेयताके प्रति मुझे कभी अविश्वास नहीं हुआ था, लेकिन विश्वास करनेकेलिये ठोस आधारकी जरूरत थी। पहिला ठोस आधार उस वक्त मिला, जब कि देखा जर्मन-सेनाएँ मास्को और लेनिनग्रादके पास पहुँचकर रुक गईं, उससे बड़ा आधार तब मिला, जब जर्मनोंको करारी हार खाकर मास्कोसे पीछे हटना पड़ा। १९४१के जाड़ोंकी सफलताओंने भी लालसेनाकी शक्तिको बतलाया, लेकिन उसमें जाड़ेने कितनी मदद की थी, इसके बारेमें नहीं कहा जा सकता था। १९४२की गर्मियोंमें जर्मन-सेना वोरोनेजकी ओर बढ़ी, लेकिन

उसपर इतनी मारपीट पड़ी, कि उसे सिकुड़ जाना पड़ा, यह तीसरा आधार मिला। विश्वासकेलिए सबसे बड़ा आधार स्तालिनग्रादमें लालसेनाकी विजय हुई। उसने बतला दिया कि लालसेनाने अपने दावँ-पेंच और सैनिक सूझ पहिलेहीसे तैयार कर रखे हैं।

कलकत्तामें (१३-२२ अक्तूबर १६४२)—११ अक्तूबरको अब भी रेलकी ट्रेनें बहुत कम चल रही थीं और गिने-चुने टिकट मिलते थे। इन्तिज़ाम इतना रद्दी था, कि लोगोंको दिन-दिन भर पड़ा रहना पड़ता था और चौगुने-पचगुने दामपर टिकट मिलते। इंद्रदीप, अशरफ़, और मुझे कलकत्ता जाना था। बड़ी लाइनसे पहुँचनेकी हमें उम्मेद नहीं थी, इसलिए हमने पटनासे मुज़फ़्फ़रपुरका टिकट लिया। मुज़फ़्फ़रपुरमें मेरे दोनो साथी कलकत्ताके टिकटका इन्तिज़ाम करने गये और मै पूर्व निश्चयानुसार समस्तीपुर चला गया। सस्ते और पुष्टिकारक भोजन देनेमें हिन्दुस्तानमें मुसल्मान-होटल सबसे अच्छे हैं, यह मेरी धारणा है। १ प्याला चाय और एक सीख कबाब-केलिए जब होटलवाला भाई चार पैसा माँगने लगा, तो मेरे आश्चर्यका कोई ठिकाना नहीं रहा। मै समझता हूँ, इस वक़्त (सितम्बर १६४४) जब कि मैं इन पंक्तियोंको लिख रहा हूँ, एक प्याला चाय और एक सीख कबाबका वही दाम नहीं होगा; तो भी है कोई हिन्दू-होटल, जो इतना सस्ता खाना दे। हाँ, वह नाक-भौं सिकोड़ कर यह कह सकते हैं, कि मुसल्मानोंके यहाँ सफ़ाई नहीं है, उनके यहाँ जूठ-मीठका कोई विचार नहीं। हिन्दू-घरोंमें जहाँ रसोईके पास ही आँगनके एक कोनेमें नाबदान गड़ा करता है, वहाँ जरूर बहुत सफ़ाई है! अपने गुरुओंका थूक और जूठ खानेवाले यदि जूठ-मीठकी बात करें, तो यही कहना होगा, कि लज्जा, तेरा सत्यानाश हो। शामको साथी आ गये। यह जानकर खुशी हुई कि हवड़ा तकका टिकट मिल गया।

१२ अक्तूबरको हम लोग रेलसे रवाना हुए। उस दिन ईदका दिन था। गाँवोंमें झुंडके झुंड नर-नारी बालक-बालिकायें अच्छा कपड़ा पहने ईदगाहकी ओर जा रहे थे। वहाँ मिठाईकी दूकानें भी लग गई थीं। अच्छा खासा मेलासा मालूम होता था। हमारी गाड़ीमें कुछ लोग ध्वंसकी प्रशंसा कर रहे थे, और उसके साथ-साथ उन्होंने यह भी कह डाला, कि नेपाल-सरकारने हुकुम दे दिया है, कि अंग्रेजी राजमें जो भी आये, मनचाही जमीन और आधे दामपर अन्न दिया जाय। हमारे ही डब्बेमें तीन-चार तराईके नेपाली थे, उन्होंने कहा—यह सब गलत है, जो भागकर गये हैं, वह अपने सम्बन्धियोंके पास गये हैं, और खुद भी धनी हैं। प्रशंसकोंको क्या पता था, कि नेपाल-राजमें ज़रा भी उग्र राजनीतिक विचार रखनेपर गोली मारके दो-दो दिन

तक लारों टाँग रखी जाती है। गंगापार हो हमने बड़ी लाइनकी गाड़ी पकड़ी, लेकिन वह भाभामें जाकर रुक गई। हजारों मुसाफिर पड़े हुए थे, उनमें कुछ गाड़ीमें सोये और कुछ बाहर। दूसरे दिन (१३ अक्तूबर) गाड़ी छूटी। जसीडीह (वैद्यनाथ)में गाड़ी थोड़ी देरकेलिए ठहरी। भीड़ बहुत थी, इसलिए खुद जाकर पानी लानेकी जगह अशरफ़ने पानी लानेकेलिए लोटा एक आदमीको दे दिया। वह उसे लेकर चम्पत हो गया। अशरफ़ पानीका इन्तिज़ार कर रहे थे। गाड़ी चली। मैंने कहा—"बोलो होशियार अशरफ़की जय", शायद लोटा भी किसी दूसरेका था।

गाड़ीके एक मुसाफिर कह रहे थे, जो एक बार कलकत्तासे भागकर आये थे, अब फिर लौटे जा रहे थे। मैंने कहा—'पहिले तो ख़ाली हल्लेपर भागे थे, और अब तो बम भी गिर सकता है। उन्होंने जवाब दिया—देशमें जाकर भूखे मरना पड़ता है, कलकत्ता में कोई रोजगार तो मिल जायेगा। हमारी गाड़ीमें रगूनसे भागे हुए एक सज्जन थे, वह रंगूनके बारेमें बतला रहे थे—जब रगून पर बम गिरा, आदमी तो बहुत नहीं मरे, लेकिन फिर किसकी हिम्मत थी, कि वहाँ ठहरे। लोग सब कुछ छोड़कर भागे। हजारों गायें, भैंसें भूखी ऐसे ही सड़कोंमें घूमा करती थीं। कलकत्तापर भी किसी वक्त बम गिर सकता है। हमने घूमते वक़्त एक जगह बहुतसी भैंसें, गायें देखीं। मैंने इन्द्रदीपसे कहा—"याद रखना इस जगहको। यदि यहाँ बम गिरा तो रेलकी आशा मत करना। हम पाँच-छ जने आये हैं, भैंसे तो बेमालिककी हो जायँगी, फिर पाँच-छ तगड़ी-तगड़ी भैंसें ले चलेंगे। थक जायेंगे तो पीठपर चढ लेंगे। दूध खानेको मिलेगा, रास्तेमें घास अभी बहुत है।" हमारे रहते कलकत्तामें बम नहीं गिरा।

कलकत्तामें पूरनचन्द्र जोशीकी क्लास थी। बिहार-उड़ीसा, बंगाल-आसामके मुख्य-मुख्य कम्यूनिस्त अपनी राजनीतिक शिक्षाकेलिए वहाँ आये थे। जोशी चार-चार पाँच-पाँच घंटे तक वर्तमान राजनीतिक गुत्थियोंको समझाते थे। वह वक्ता नहीं हैं, किन्तु समझने और समझानेमें गजबकी बुद्धि रखते हैं। हम जानते हैं, कि सर्वज्ञता झूठा शब्द है। वैसे तो हरेक ज्ञान बराबर बढता रहता है, लेकिन राजनीतिमें तो और जल्दी-जल्दी परिस्थितियोंके बदलते रहनेके कारण ज्ञानको नया रूप देनेकी जरूरत पड़ती है। इनके बारेमें जोशीका ज्ञान बहुत व्यापक और गम्भीर है।

कलकत्तामें रहते वक़्त हमें कभी-कभी टिमटिमाती हलकीसी रोशनीमें चलना पड़ता था—हवाई हमलेकेलिए सतर्क रहना जरूरी था। अलीपुरमें मुझे साथी महादेव साहा व्याख्यान देनेकेलिए ले गये। भोजन एक मध्यमवर्गीय गंगोली-परिवारमें हुआ। बैठक नये ढंगसे सजी थी, उसकी दीवारपर मृत पिताके चरणोंकी

छाप लटक रही थी—आधुनिकता और प्राचीनताका अजीब सम्मिश्रण था। भोजन हमें चौकेमें करना पड़ा। कई तरहकी मछलियाँ, बंगाली मिठाइयाँ परोसी गईं। उनसे यह तो मालूम हुआ, कि बंगाली भोजन मधुर भी होता है, और पुष्ट भी। घरके भांजे पार्टी मेम्बर थे। उनके नामके साथ मिश्रा लगा देखकर मैंने पूछा, तो मालूम हुआ कि दो ही चार पीढ़ी पहिले वह सरयूपारी थे, लेकिन अब ब्याह करके पक्के बंगाली हो गये हैं।

मुंगेरके गाँवमें—२४ अक्तूबरसे पहिली नवम्बर तक लखीसरायके पासके बहुतसे गाँवोंमें जाना पड़ा। साथी कार्यानन्दने इधर किसानोंमें बहुत काम किया था। और उसके कारण यहाँ जागृति भी ज्यादा थी। २५ तारीखको पहिले हम उनके गाँव सहूरमें गये। यह क्यूलसे तीन मीलपर जमालपुरवाली रेलवे लाइनके किनारे है। यहाँकी ग्राम-पंचायत बहुत सजीव है, स्वयंसेवक भी जागरूक हैं। १५० घरोंकेलिए सिर्फ ३५० एकड़ खेत है, जिसमें ज्यादातर धानकी खेती होती है। गाँवमें एक मिडिल इंगलिश स्कूल है। गाँवमें स्वयंसेवकोंका एक अच्छा संगठन है। पहिले खेत चरा लिये जाया करते थे, लेकिन अब स्वयंसेवकोंकी मुस्तैदीसे चराना रुक गया है। पुरुषोंकी सभामें दो हजार आदमी आये थे। स्त्रियोंकी अलग सभा हुई थी, जिसमें मैं और सरदेशाई बोले। एक गाँवसे दूसरे गाँवमें जानेकेलिए इधर उतनी सड़कें नहीं हैं। २६ अक्तूबरको नन्दनावाँ जाना था। सहूर और नन्दनावाँ दोनों ही बहुत पुराने नाम मालूम होते हैं। नन्दनावाँ तो नन्दनग्राम है। यहाँका पान और चिउरा दोनों ही मशहूर हैं। गाँवमें बुद्ध और ताराकी दो मूर्तियाँ देखीं, जिनके ऊपर खुदे अक्षरोंके देखनेसे वह १०वीं-११वीं सदीकी मालूम होती थीं। साथी श्रीनन्दन बड़े ही उत्साही तरुण हैं। उनकी माता मर गईं, तो एक दिनके श्राद्धमें हजार-पाँच की रकम फूँक देनेकी जगह उन्होंने यही पसन्द किया कि गाँवकेलिए पुस्तकालय बना दिया जाय। मुझे ही नींव देनी पड़ी। एक सभा हुई, जिसमें, मैं, सरदेशाई बोले। सरदेशाई प्रसिद्ध इतिहासवेत्ताके भतीजे हैं। उनकी शिक्षा-दीक्षा अपने घरकी देखरेखमें हुई थी। वह धानकी क्यारियोंमें पैदल दौड़नेकेलिए नहीं पैदा हुए थे, न सर तेजबहादुर सप्रूके प्राइवेट सेक्रेटरी होनेने उन्हें इसकेलिए तैयार किया था। लेकिन आज वह हमारे प्राचीन देशको नवीन करना चाहते थे। नवीन करनेका काम हिन्दुस्तानके कमेरे ही कर सकते हैं, इसीलिए वह भी गली-गलीकी धूल फाँकते फिर रहे थे। नन्दनावाँमें कितने ही मुसल्मान घर हैं, और हिन्दुओं मुसल्मानोंका सम्बन्ध बहुत अच्छा है।

२८को हम एकाढ़ा पहुँचे। एकाढ़ा (एकाढका) भी पुराना नाम है। मगधमे ऐसे पुराने नाम बहुत मिलते है। हम लोग एकाढ़ा जानेकेलिए सरारी स्टेशनसे चेवाड़ा तक इक्केपर गये। चेवाड़ा हजार घरोंका एक अच्छा बड़ा मुसल्मान गाँव है (इधर दस तरहके १२ मुसल्मान गाँव हैं)। यह किसी वक्त अच्छा बाजार था, लेकिन स्टेशनसे दूर होनेके कारण श्री नहीं रही। २ मील पैदल जानेपर एकाढ़ा पहुँचे। नाममे ही मुझे प्राचीनताकी गन्ध आने लगी थी, लेकिन वहाँ पहुँचनेपर इसके और भी प्रमाण मिले। एक बौद्ध देवीकी मूर्तिपर "ये धर्मा" लिखा हुआ था। दूसरी शिरोहीन मूर्त्ति बुद्धकी थी, जिसपर दाताका नाम भी खुदा था, लेकिन वह घिस गया था। यहाँ विष्णु और सूर्यकी भी कई मूर्त्तियाँ थी। लोग बतला रहे थे, कि यहाँकी बहुतसी मूर्त्तियाँ लोग उठा ले गये। गाँवमें वत्सगोत्री (महाकवि बाणके गोत्रवाले) बाभनों (भूमिहारों)के ही घर अधिक है। यहाँ भी दो हजारकी सभामें व्याख्यान देना पड़ा, और रातको बहुत देरतक लोग राजनीतिक परिस्थितिके सम्बन्धमें बात करते रहे। अगले दिन तेऊस और बरबिघामें बीता। तेऊस गाँव जमीदारोंका है। डेढ सौ वर्ष पहिले इनके पूर्वज निखती (रघुनाथपुर, सारन)से यहाँ आये। पचीस-पचास हजार आमदनीवाले यहाँ कई जमीदार-परिवार है। थोड़ी ही दूरपर अमावाँ राजासाहेबका गाँव था। कम्यूनिस्ट और जमीदारोंसे क्या वास्ता? और मैं तो खास तौरसे किसान-संघर्षके कारण और ज्यादा बदनाम था। लेकिन लंकामें भी विभीषण पैदा हो जाते है—स्वार्थकेलिए नही, लोकहितकेलिए। गाँवके एक तरुणके आग्रहपर यहाँ आना पड़ा। भोजन और थोडा विश्राम करनेके बाद हम फिर बरबिघाकी सभामे व्याख्यान देने चले गये। श्रुतबन्धु शास्त्रीका घर यहाँ पास हीके गाँवमे है। वह भी मौजूद थे। पटनासे व्याख्यानकी रिपोर्ट लिखनेकेलिए सी० आई० डी०के इंसपेक्टर आये हुए थे। डेढ़ हजारकी सभामें व्याख्यान हुआ।

३० अक्तूबरको हम वहाँसे मेहूस पहुँचे। यह मगध देश है, मगध जितना पुराना है, उतने ही पुराने यहाँके बहुतेरे ग्राम है। प्राचीन कालकी बहुतसी निशानियाँ यहाँ मिलती है। मेहूसमें महेश्वरी देवीका मन्दिर है। अष्टभुजाकी मूर्त्तियाँ हैं, सभी अंगभंग हैं, और पालवंशके अन्तिम कालकी मालूम होती हैं। बाहर बरगदके नीचे विष्णु और सूर्यकी खंडित मूर्त्तियाँ है, गाँवके बीचमें एक टीला है, जिसपर खंडित मुकुटहारधर (वज्रयानी) बुद्धकी मूर्त्ति है, जिसे भोजराजके नामसे लोग पूजते है। गाँवसे दक्षिण पीपलके नीचे एक बड़ी मूर्त्ति थी, जिसे दो साल पहिले किसी उम्तहा (उन्मत्त)ने तोड डाला। यहाँ १२$\frac{3}{4}$ इंच लम्बी ९ इंच चौडी २$\frac{1}{4}$ इंच मोटी ईंटें

मिलती हैं, जिससे जान पड़ता है कि बाणके समयमें भी यह गाँव मौजूद था। गाँवमें एक शाकद्वीपीय ब्राह्मणके घरमें कुछ संस्कृतकी पुस्तकें थीं, लेकिन दो सौ वर्षसे पुरानी कोई नहीं। ग्रामकी पुस्तकालयका वार्षिकोत्सव था, जिसके साथ ही राजनीतिक व्याख्यान भी हुआ। अँधेरा होनेसे थोड़ा पहिले दो मीलपर माफी गाँवमें भी लोग बड़े आग्रहसे ले गये। वहाँपर भी पुस्तकालयमें मेरा व्याख्यान हुआ। जान पड़ता है, मगधके इस अंचलमें पुस्तकालयोंकी ओर लोगोंका ध्यान बहुत गया है। यदि मगही भाषामें अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखी जातीं, तो गाँववालोंका बड़ा कल्याण होता। हिन्दीका आनन्द बहुत थोड़े ही लोग ले सकते हैं, तो भी इनका शौक सराहनीय है।

दूसरे दिन (३१ अक्तूबर) चढ़नेकेलिए घोड़ा मिला और ६ मील चलकर हम शेखपुरा पहुँचे। गाँवका नाम आधुनिक मालूम होता है, लेकिन पहाड़के किनारे यह लम्बा बसा हुआ कसबा कोई पुरानी जगह मालूम होती है। एक सज्जनने पंच-मार्क (मौर्य तथा प्राग्मौर्य कालवाला) सिक्का दिखलाया। वह कह रहे थे कि यहाँ और भी कितनी ही पुरानी चीजें मिलती हैं। लेकिन मुझे तो डी० एस० हाई स्कूलमें व्याख्यान देकर आज ही लखीसरायके युवक पुस्तकालयमें शामिल होना था।

पहिली नवम्बरको हम कितनी ही दूर बैलगाड़ीसे जाकर नदी पार हो काकन गाँवमें पहुँचे। मननपुर स्टेशन यहाँसे ७, ८ मील है। यों जैन-परम्पराएँ ऐतिहासिक स्थानोंके बतलानेमें कभी-कभी अविश्वसनीय होती हैं, लेकिन काकनको जो उन्होंने काकंदी नाम दिया है, वह बिल्कुल ठीक है। काकंदी बुद्ध और पाणिनिके समयमें भी एक बड़ी नगरी थी। काकन्दी-माकन्दी जोड़ेसे नाम मालूम होते हैं, लेकिन माकन्दी बुलन्द शहर जिलेमें कहींपर थी, जब कि काकन्दी यहाँ मगधकी दक्षिणी सीमापर अवस्थित थी। गाँव आज पुरानी बस्तीके ऊपर बसा हुआ है और गलियोंमें बागानोंमें कुषाण (ई० पहिली शताब्दी)-कालीन ईंटें मिल जाती हैं, जो १६ इंच लम्बी १० इंच चौड़ी और २½ इंच मोटी होती हैं। खंडित मूर्तियाँ भी हैं, लेकिन यहाँकी बहुतसी मूर्तियाँ लोग उठा ले गये। यहाँ एक जैन मन्दिर है, जिसके दर्शन-

होगा ? यहीं एक ग्रामीण कवि प्रेमदाससे भेंट हुई । प्रेमदासने सभामें जापानी अत्याचारपर एक अच्छी कविता सुनाई थी, जिसे उन्होंने उसी दिन तैयार किया था ।

काकन्दीसे लौटकर हम बमूल (किमिकाला ?) नदी पार हो उसीके किनारे बसे रेयोड़ा गाँवमें गये । यह काकनसे ३ मीलपर होगा । गाँव बहुत पुराना नहीं मालूम होता । एक खपड़ैलके नीचे अष्टभुजा देवीकी मूर्ति रखी हुई थी, उसके शरीरमें बहुत कपड़े लपेटे हुए थे । मूर्ति कुछ विशेषसी मालूम हुई । मैंने कपड़ेको हटाया, तो देखा ८वीं शताब्दीके अक्षरोंमें लेख लिखा था, और वहाँ साफ़ "काकन्दी ग्राम" आया था । गाँवमें पुरानी ईंटें या दूसरी चीजें नही मिलती, इसलिए यह मूर्ति जरूर काकन्दसे उठाकर यहाँ लाई गई । वहाँसे मननपुर स्टेशनपर गाडी पकड़ी और उसी दिन पटना पहुँच गया ।

कलकत्तामें ही मालूम हो चुका था, कि सोवियत् सुहृद्संघने हिन्दुस्तानसे एक शिष्ट मण्डल सोवियत्-भूमिमें भेजनेका निश्चय किया है, जिसमें मेरा भी नाम था । लेकिन यात्रा खर्चीली होनेवाली थी, जिसकेलिए मैं तैयार नहीं था । पटना आनेपर पता लगा कि पासपोर्ट ले लेनेकेलिए तार आया हुआ है, लेकिन अभी मैंने दरख्वास्त नहीं दी । अब मुझे बम्बई जाना था । बम्बई जानेसे पहिले मैं दिल्ली जाना चाहता था, जिसमें कि लोलाके बारेमें वहाँ कुछ पता लगा सकूँ ।

छपरा होते प्रयाग पहुँचा । "निराला" जी को वैसे भी दो एक बार देखा था, और उनकी कुछ कृतियाँ भी पढ़ी थी । १२ नवम्बरको वह मेरे स्थानपर आए । और "बादल" "पत्थर कूटती" तथा "कुकुरमुत्ता" की कविताएँ सुनाईं । "निराला" हमारी पीढ़ीके असाधारण प्रतिभाशाली कवि हैं । लेकिन मैं देखता था, हमारा समाज इस अद्भुत प्रतिभासे उतना फायदा नहीं उठा रहा है । "निराला" को भी दिन-प्रतिदिनकी असुविधाएँ जरूर असह्य होती होंगी, लेकिन उनके मनकी बनावट ऐसी है, कि एक तरह का भाव देर तक उनके सामने नही रह सकता । शायद कोई पाठक कहे, "निराला" को यदि कष्ट या चिन्ता है, तो यह उनका कसूर है । गोया आप बेसूरका दण्ड चाहते हैं । लेकिन यह दण्ड तो निरालाको नहीं मिलेगा, इसकी हानि तो हमारे साहित्यको भोगनी पड़ेगी । भले ही "निराला" व्यवहार-शून्य हों, भले ही अपनी मौजमें वह कभी-कभी अपनी सुधबुध खो देते हों, लेकिन "निराला" की देन हमारे साहित्यके लिए है, यदि उनको हम अधिक निश्चित अधिक सन्तुष्ट रख सकें, तो हमारे साहित्यको और फायदा होगा । निरालाके साथ आजके

मिलती हैं, जिससे जान पड़ता है कि बाणके समयमें भी यह गाँव मौजूद था। गाँवमें एक शाकद्वीपीय ब्राह्मणके घरमें कुछ संस्कृतकी पुस्तकें थीं, लेकिन दो सौ वर्षसे पुरानी कोई नहीं। ग्रामकी पुस्तकालयका वार्षिकोत्सव था, जिसके साथ ही राजनीतिक व्याख्यान भी हुआ। अँधेरा होनेसे थोड़ा पहिले दो मीलपर माफो गाँवमें भी लोग बड़े आग्रहसे ले गये। यहाँपर भी पुस्तकालयमें मेरा व्याख्यान हुआ। जान पड़ता है, मगधके इस अंचलमें पुस्तकालयोंकी ओर लोगोंका ध्यान बहुत गया है। यदि मगही भाषामें अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखी जातीं, तो गाँववालोंका बड़ा कल्याण होता। हिन्दीका आनन्द बहुत थोड़े ही लोग ले सकते हैं, तो भी इनका शौक सराहनीय है।

दूसरे दिन (३१ अक्तूबर) चढ़नेकेलिए घोड़ा मिला और ६ मील चलकर हम शेखपुरा पहुँचे। गाँवका नाम आधुनिक मालूम होता है, लेकिन पहाड़के किनारे यह लम्बा बसा हुआ कसबा कोई पुरानी जगह मालूम होती है। एक सज्जनने पंच-मार्क (मौर्य तथा प्राग्मौर्य कालवाला) सिक्का दिखलाया। वह कह रहे थे कि यहाँ और भी कितनी ही पुरानी चीजें मिलती हैं। लेकिन मुझे तो डी० एम० हाई स्कूलमें व्याख्यान देकर आज ही लालीसरायके युवक पुस्तकालयमें शामिल होना था।

पहिली नवम्बरको हम कितनी ही दूर बैलगाड़ीसे जाकर नदी पार हो काकन गाँवमें पहुँचे। मननपुर स्टेशन यहाँसे ७, ८ मील है। वैसे जैन-परम्पराएँ ऐतिहासिक स्थानोंके बतलानेमें कभी-कभी अविश्वसनीय होती हैं, लेकिन काकनको जो उन्होंने काकंदी नाम दिया है, वह बिल्कुल ठीक है। काकंदी बुद्ध और पाणिनिके कालमें भी एक बड़ी नगरी थी। काकन्दी-माकन्दी जोड़ेसे नाम मालूम होते हैं, लेकिन माकन्दी बुलन्द शहर जिलेमें कहींपर थी, जब कि काकन्दी यहाँ मगधकी दक्षिणी सीमापर अवस्थित थी। गाँव सारा पुरानी बस्तीके ऊपर बसा हुआ है और गलियोंमें बालानीसे कुषाण (ई० पहिली शताब्दी)-कालीन ईंटें मिल जाती हैं, जो १६ इंच लम्बी १० इंच चौड़ी और २½ इंच मोटी होती हैं। खंडित मूर्तियाँ भी हैं, लेकिन यहाँकी बहुतसी मूर्तियाँ लोग उठा ले गये। यहाँ एक जैन मन्दिर है, जिसके दर्शन-केलिए जब-तब जैन गृहस्थ आया करते हैं। प्राचीन काकन्दी कितनी समृद्ध रही होगी, इसके बारेमें तो नहीं कह सकते, लेकिन जमींदार वर्तमान किसानोंका कैसा शोषण कर रहे हैं, यह इसीसे मालूम होगा कि उन्हें प्रति बीघा (⅝ एकड़) १२ मन धान, ढाई मन दाल और दो रुपया नकद देना पड़ता है। मैं यदि यहाँ गया न होता, तो शायद इस बातपर विश्वास न होता। इतना देकर किसानोंके बचता ही क्या

होगा ? यहीं एक ग्रामीण कवि प्रेमदाससे भेंट हुई । प्रेमदासने सभामें जापानी अत्याचारपर एक अच्छी कविता सुनाई थी, जिसे उन्होंने उसी दिन तैयार किया था।

कानन्दीसे लौटकर हम बघूल (किमिकाला ?) नदी पार हो उसीके किनारे बसे रेयोड़ा गाँवमें गये। यह काकनसे ३ मीलपर होगा । गाँव बहुत पुराना नहीं मालूम होता । एक खपड़ैलके नीचे अष्टभुजा देवीकी मूर्त्ति रखी हुई थी, उसके शरीरमें बहुत कपड़े लपेटे हुए थे। मूर्त्ति कुछ विशेषसी मालूम हुई । मैंने कपड़े-को हटाया, तो देखा ८वीं शताब्दीके अक्षरोंमें लेख लिखा था, और वहाँ साफ़ "काकन्दी ग्राम" आया था । गाँवमें पुरानी ईंटे या दूसरी चीजें नहीं मिलती, इसलिए यह मूर्त्ति जरूर काकन्दसे उठाकर यहाँ लाई गई । वहाँसे मननपुर स्टेशनपर गाड़ी पकड़ी और उसी दिन पटना पहुँच गया।

कलकत्तामें ही मालूम हो चुका था, कि सोवियत् सुहृद्संघने हिन्दुस्तानसे एक शिष्ट मण्डल सोवियत्-भूमिमें भेजनेका निश्चय किया है, जिसमें मेरा भी नाम था। लेकिन यात्रा खर्चीली होनेवाली थी, जिसकेलिए मैं तैयार नहीं था। पटना आनेपर पता लगा कि पासपोर्ट ले लेनेकेलिए तार आया हुआ है, लेकिन अभी मैंने दरख्वास्त नहीं दी। अब मुझे बम्बई जाना था । बम्बई जानेसे पहिले मैं दिल्ली जाना चाहता था, जिसमें कि लोलाके बारेमें वहाँ कुछ पता लगा सकूँ।

छपरा होते प्रयाग पहुँचा । "निराला" जी को वैसे भी दो एक बार देखा था, और उनकी कुछ कृतियाँ भी पढ़ी थीं। १२ नवम्बरको वह मेरे स्थानपर आए। और "बादल" "पत्थर कूटती" तथा "कुकुरमुत्ता" की कविताएँ सुनाईं । "निराला" हमारी पीढ़ीके असाधारण प्रतिभाशाली कवि हैं । लेकिन मैं देखता था, हमारा समाज इस अद्भुत प्रतिभासे उतना फायदा नहीं उठा रहा है । "निराला" को भी दिन-प्रतिदिनकी असुविधाएँ जरूर असह्य होती होंगी, लेकिन उनके मनकी बनावट ऐसी है, कि एक तरह का भाव देर तक उनके सामने नहीं रह सकता । शायद कोई पाठक कहे, "निराला" को यदि कष्ट या चिन्ता है, तो यह उनका कसूर है। गोया आप कसूरका दण्ड चाहते हैं। लेकिन यह दण्ड तो निरालाको नहीं मिलेगा, इसकी हानि तो हमारे साहित्यको भोगनी पड़ेगी। भले ही "निराला" व्यवहार-शून्य हों, भले ही अपनी मौजमें वह कभी-कभी अपनी सुध-बुध खो देते हों, लेकिन "निराला" की देन हमारे साहित्यके लिए है, यदि उनको हम अधिक निश्चित अधिक सन्तुष्ट रख सकें, तो हमारे साहित्यको और फायदा होगा । निरालाके साथ आजके

समाजने जो उपेक्षा की है, उसकेलिए अगली पीढ़ियोंको पछताना पड़ेगा। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि "निराला" यदि निश्चिन्त, संतुष्ट, प्रसन्न रखे जा सकते, तो वह और भी ऊँचे दर्जेका साहित्य हमारेलिए प्रदान करते।

दिल्लीमें (१३-१४ नवम्बर)—प्रयागसे चलते वक्त महबूब अहमद साहब इलाहाबादसे दिल्लीके यात्री मिल गए। रास्ता बहुत अच्छा कटा। महबूब साहबके साथ ही कूचानाहरखाँमें सामान रखा। फिर घूमने निकले। साथी यज्ञदत्तका पता नहीं लगा। नई दिल्लीमें भिक्षु शासनश्री मिले, वहीं चला गया। बहुतसे लोगोंकी तरह मुझे भी भ्रम था कि "सोवियत् यूनियन न्यूज" सोवियत्का मासिकपत्र है। मैंने यह भी समझा कि इसका संपादक कोई रूसी होगा, फिर उससे मास्को, लेनिनग्रादके दोस्तोंका पता लगेगा। टेलीफोनसे पूछनेपर उसने संपादकका पता देनेसे इनकार कर दिया। जिस प्रेसमें पत्र छपता था, वहाँ पता लगानेपर जान पड़ा कि संपादकने अपना पता नहीं दिया है और वह कभी-कभी प्रेस ही में आ जाते हैं। आखिर इतना रहस्य रखनेकी जरूरत क्या थी? खैर, बहुत ढूँढ़-ढाँढ़ करनेपर मालूम हुआ कि पत्र अंग्रेजी सरकार का है और रूसी नाम रखनेवाले एक पोल द्वारा संपादित होता है, जो कि १४,१५ सालसे अंग्रेजी सरकारके नौकर हैं। तासके प्रतिनिधि उस वक्त दिल्लीमें नहीं थे, उनसे मुलाकात नहीं हो सकी। उनकी बीबी मिलीं। पहिले तो शंकित-हृदयसी बात करती थी, लेकिन जब मैंने अपनी पत्नी और दो एक मित्रोंका नाम बतलाया, तो खुलकर मिलीं। यह भी मालूम हुआ कि, वह मेरी पत्नीको जानती हैं। लेकिन उनसे कोई विशेष बात नहीं मालूम हो सकी। एक दिन घूमते-घामते सड़कके पास एक मकानपर लाल झंडा देखा, वहाँ जानेसे साथी यज्ञदत्त भी मिले और देहलीके साथी मनोहरलाल भी। यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई, कि दिल्लीमें पार्टी अच्छा काम कर रही है।

आगरामें—कई वर्षों बाद १५ नवम्बरको आगरा जानेका मौका मिला। किसी समय आगरामें मेरे बहुतसे परिचित थे, लेकिन यह बीसों वर्ष पहिलेकी बात है। रामदत्त शास्त्री वहीं गोकुलपुरामें थे। मैं उनके पास चला गया। मुसाफिर विद्यालयके विद्यार्थी दोस्त तो आगरेमें कहाँ मिलते? डाक्टर लक्ष्मीदत्तसे मिलने मैं सासनरे गया। २३,२४ वर्ष बाद उन्हें देखनेका मौका मिला। पहिले तो बैठकमें बहुत देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। शायद उन्हें मालूम नहीं हुआ, कि कौन मिलने आया है। बड़े प्रेमसे मिले। मैंने देखा, कि वह प्रौढ़ शरीर अब शिथिल बूढ़ा हो गया है। स्मृतियाँ अब भी ताजी थीं। उनके छोटे भाई सत्यदत्त पत्थर नहीं

थे। पुराने दोस्तों और घरके बारेमें बातें होती रहीं। उन्होंने रहनेकेलिए बहुत आग्रह किया, किन्तु मेरे पास समय कम और मिलना-जुलना ज्यादा था। पुरानी स्मृतियाँ बहुत मधुर होती हैं। लेकिन बुढ़ापा अच्छी चीज नहीं है। शरीर ही नहीं, वह मनको भी बूढ़ा कर देता है, और आदमी ४० वर्ष पुरानी दुनियाका बनकर रहना चाहता है। डाक्टर साहबके यहाँ गाय-भैंसें काफ़ी थीं। इसका मतलब है कि घरमें काफ़ी दूध होता था, साथ ही द्वारमें चारों ओर गोबर ही गोबर दिखलाई पड़ता था। हिन्दू घरकेलिए चारों ओर बिखरा गोबर उससे उड़ती तेज़ गन्ध और खुरसे कुटा हुआ आँगन बड़े सौभाग्यकी चीज समझी जाती है, इसके बारेमें डाक्टर साहबके साइंसका विरोध था या नहीं, इसे म नहीं कह सकता। विरोधी भी हो, तो साइंससे धर्मका पल्ला भारी होता है।

अगले दिन किला देखने गया। अपने विद्यार्थीकालमें किलेको देखा भी हो, तो उसका स्मरण नहीं। जहाँगीरीमहल देखा, जिसमें जहाँगीरकी बेगम जोधाबाई रहा करती थीं। दीवान-खास और दीवान-आम देखे। बादशाहों और बेगमोंके रहनेके इन महलोंको देखनेसे एक बातका पता लगा कि हवादार बड़े-बड़े कमरोंके बनानेका उन्हें शौक़ नहीं था। आजकलके आदमीको ऐसे कमरोंमें रखा जाय, तो वह इन्हें आरामदेह नहीं कहेगा। हो सकता है उस वक़्त संगमर्मरके पत्थर, हीरा-मोती और सोना-चाँदी चारों ओर बिखरा देखनेसे लोगोंको ज्यादा आनन्द मालूम होता हो। ताजमहल भी देख आए, आजकल उसकी मरम्मत हो रही थी।

बम्बईमें (१८ नवम्बर–२ मार्च १९४३)—आजकल रेलकी यात्रा एक पूरी मुहिम थी। ख़ैर, हमें जगह तो मिल गई। गाड़ीमें फ़ौजी सिपाही ज्यादा थे, और वह विनय तो जानते ही न थे। ऐसे ही ट्रेनें कम हो गई थीं, और फ़ौजी सिपाही जिस गाड़ीमें बैठते उनकी पूरी कोशिश बिस्तरा बिछाकर लेटनेकी रहती। सिपाहियोंकेलिए अलग भी ट्रेनें खुली थीं, उनकेलिए डब्बे भी रिज़र्व होते थे, तो भी वह दूसरे डब्बोंमें बिस्तर जमाए बैठे रहते थे, और मुश्किलसे ही कोई साधारण मुसाफिर उसके अन्दर घुस पाता। आजकल शायद ही किसी देशमें सैनिकोंका ऐसा भाव साधारण जनताके बारेमें देखा जाता हो। लेकिन इसकेलिए दोषी है, अंग्रेजी सरकार। वह भारतीय सिपाहियोंको देशभक्ति नहीं राजभक्तिका पाठ पढ़ाना चाहती है। देशभक्ति है भी उसकेलिए खतरेकी चीज।

१८ नवम्बरको मैं बम्बई पहुँच गया। बम्बई आया था, इस ख्यालसे कि मार्क्स-वादके सम्बन्धमें कुछ पुस्तकें लिखूँ। बम्बई न जाने क्यों मुझे पसन्द नहीं आती।

कुछ ही दिनोंके रहनेके बाद मालूम हुआ कि उनकी आबोहवा मेरे अनुकूल नहीं है। पेटकी तो हर वक्त शिकायत रहती थी और ज्वरने भी कई बार आवृत्ति की। पहिले मैं कुछ दिनों तक माटुंगामें रहा, फिर पार्टी कार्यालय हीमें रहने लगा। सोवियत् युद्ध मैदानकी खबरें अच्छी अच्छी आ रही थीं। लालसेना आगे बढ़ रही थी। जर्मन पीछे हट रहे थे। यहीं पत्रोंमें पढ़ा कि डाक्टर श्चेर्बत्स्की अब नहीं रहे। वह इतने वृद्ध थे, कि उनका महाप्रयाण असंभव नहीं था। लेकिन मैं तो उनसे एक बार और मिलनेकी आशा रखता था, उन्होंने कितनी योजनाएँ बनाई थीं, और आशा रखते थे, कि हम दोनों मिलकर किसी बड़े अनुसंधानका कार्य करेंगे। उनका एक पत्र था—

(LENINGRAD, WASS. OSTNOW)
7TH LINE 7

My dearest Rahula,

The last letter received from you was dated April 27. it was answered by me in the midst (?) of July. After that date nothing was received but nevertheless, we have written twice. One of these days I have seen your son, a beautiful child, he speaks a little, but understand every thing and we hope that he will speak everything splendidly very soon......We are very much troubled because no further news from you are coming. We hope that you have not forgotten us, letters must come and we expect them.

With my compts. and best regards
Th. Stcherbatsky
(लेनिनग्राद..

मेरे अति प्रिय राहुल ! तुम्हारा पिछला पत्र २७ का था। जिसका उत्तर मैंने जुलाईके मध्यमें दे दिया था। उस तारीखके बाद तुम्हारी कोई खबर नहीं आई, तो भी हमने दो बार लिखा। इन दिनों एक बार मैंने तुम्हारे पुत्रको देखा। सुंदर शिशु है, वह थोड़ा बोलता है, लेकिन हरेक बात समझता है। हम आशा करते हैं, कि वह जल्दी ही अच्छी तरह सब कुछ बोलेगा। [illegible]

दर्ष पूरा होगा। माँ उसका फोटो खिंचवाएगी, और तुम्हारे पास उसी पते—हजारीबाग—पर भेजेगी। हम लोगोंको बहुत चिंता हो रही है। तुम्हारी कोई खबर नहीं आ रही है। मैं अपनी गर्मीकी यात्रासे लौटा हूँ। यह बहुत दिलचस्प यात्रा रही, यद्यपि यह बहुत दूरकी यात्रा न थी। युद्धके जमानेमें यह सम्भव भी नहीं था। हम आशा करते हैं कि, तुम हमें भूले नहीं हो। पत्रोंको जरूर आना चाहिए, हम उनकी प्रतीक्षा करते हैं। मेरा धन्यवाद और बहुत सम्मान

थ० श्चरबात्स्की)

उनका सबसे अंतिम पत्र था, जो कि २३ जून १९४१ के आसपास देवलीमें मिला था—

Leningrad,
Wass Ostnow,
7th line 2, flat 31
22-IV-31

Dearest Rahula,

We have at last received your letters from October and from 16 September, both arrived on the 19 April. The letters sent by you to my address did not arrive at all, it is nevertheless possible that some of them can still arrive, we will then inform you. But you are still in Jail. But are you still informed how long will your arrest last? How is your health? In the two letters that have reached us there is not a word about your health. There must be some answer regarding your future. Is it not possible that you (? know) nothing on your future. Have you asked, have you insisted on being informed on your destiny?

As regard me personally I am not very bad. The winter is very cold, ice is not yet melted on the river before my windows. My activity in science is very slow. I cannot during all this winter work very much, I hope it will go better. I hope for the coming spring, perhaps I

will work again.

Your Igor is very active, he speaks very well, but so for only in Russian. It is impossible now to find a teacher for him. I hope it will be possible during summer. Igor is very fond of book, he is ready to spent whole day to look through pictures.

Yours most affectionately
Stcherbatsky.

(लेनिनग्राद
वास्ल्य ग्रोस्त्रोव
७वीं गली२, घर ३१
२२ अप्रैल ४१

अतिप्रिय राहुल,

अन्तमें हमें पहिली अक्तूबर और १६ सितम्बरवाले तुम्हारे पत्र मिले। दोनों ही १६ अप्रैलको आए। मेरे पतेपर भेजे तुम्हारे पत्र बिल्कुल ही नहीं आए, तो भी संभव है, कि उनमेंसे कोई अब भी आवे, तब हम तुम्हें सूचित करेंगे। लेकिन तुम अब भी जेलमें हो? क्या तुम्हें सूचना दी गई है, कि तुम कब तक पकड़े रखे जाओगे। तुम्हारा स्वास्थ्य कैसा है? यह दोनों पत्र जो हमारे पास आए हैं, उनमें तुम्हारे स्वास्थ्यके बारेमें एक भी शब्द नहीं। आगे क्या होने जा रहा है, इसका कोई जवाब जरूर मिलना चाहिए। क्या यह वस्तुतः संभव है, कि आगेके बारेमें तुम्हें कुछ भी सूचित नहीं किया गया। तुमने पूछा—तुमने इसकेलिए जोर दिया कि आगेके बारेमें तुम्हें सूचित किया जाय।

मेरे बारेमें जहाँ तक व्यक्तिका सम्बन्ध है, मेरा (स्वास्थ्य) बहुत बुरा नहीं है। हेमन्त बहुत ठंडा, मेरे जंगलोंके सामने नदीका बर्फ अभी गला नहीं। मेरे वैज्ञानिक कार्यकी गति बहुत मन्द है। इस सारे जाड़ेमें मैं बहुत काम नहीं कर सका। मैं आशा करता हूँ कि आगे बेहतर होगा। मैं वसन्तके आनेकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। तब शायद मैं फिर काम करूँगा।

तुम्हारा ईगर बहुत चपल है, वह खूब अच्छी तरह बोलता है, लेकिन अभी रूसी शब्दों ही में। उसकेलिए एक शिक्षक पाना असम्भव है। मैं आशा करता हूँ कि गर्मियोंमें यह संभव होगा। ईगर पुस्तकोंसे बहुत प्रेम करता है। वह सारा दिन

वीरोंको देखनेमें सारा दिन खर्च करनेको तैयार हैं। तुम्हारा बहुत ही स्नेहालु—श्चेर्वात्स्की)

डाक्टर श्चेर्वात्स्की मेरे ऊपर कितना स्नेह रखते थे, यह कुछ-कुछ उनके इन पत्रोंसे मालूम होगा। विद्याके नाते भी हमारा घनिष्ट सम्बन्ध था,—जब हमने एक दूसरेको देखा नहीं था, तब भी वह मेरे अदृष्ट मित्र थे। तिब्बतकी खोजोंके बारेमें सूचना पानेकेलिए वह उत्सुक रहा करते थे। लोलाके सम्बन्धके बाद वह मुझे बिल्कुल आत्मीय समझते थे, वह लोलाके विद्यागुरु थे। लोलाने एक बार लिखा था, कि डाक्टर कह रहे हैं कि जब ईगर बड़ा होगा, तो मैं उसे दर्शन पढ़ाऊँगा। भारतीय दर्शन और संस्कृत भाषाका इतना बड़ा विद्वान् आज तक यूरोपमें नहीं हुआ। उनके "बौद्धन्याय" (Buddhist Logic 2 Vols)को पंडित सुखलालजीने पढ़ाकर सुना, तो वह इतने प्रभावित हुये कि कह उठे—इसे तो काशीकी न्यायाचार्य परीक्षामें अनुवाद करके रखना चाहिए। आधे दर्जनके क़रीब उन्होंने भारतीय दर्शन—विशेष कर बौद्ध-दर्शन—पर फ्रेंच, अंग्रेजी और रूसीमें ग्रन्थ लिखे हैं। जब मैं पहिली बार लंकामें था, तो बर्लिनके प्रोफेसर ल्युडर्स वहाँ हमारे विहारमें आए थे। उन्होंने बतलाया था, कि यूरोपमें पूर्वीय दर्शनके सबसे बड़े पंडित डाक्टर श्चेरबात्स्की हैं। नजदीकके समागमके बाद मैं उनके अगाध पांडित्यको और भी ज्यादा जान सका। वह पश्चिमी दर्शनके भी पंडित थे, इसीलिए दर्शनपर अधिकारके साथ लिख सकते थे। कितने ही यूरोपीय विद्वान् हैं, जो अपने भाषा-ज्ञानके बलपर भारतीय दर्शनके सम्बन्धमें पुस्तकें लिखते हैं। न उन्हें पश्चिमी दर्शनका ही पता है, न पूर्वी दर्शन हीका। वह इस कमीको अपनी ऊटपटाँग कल्पनाओं और अप्रासंगिक टिप्पणियोंसे पूरा करते हैं। आचार्य श्चेरबात्स्कीने धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुका बहुत सुन्दर अनुवाद किया है। वह योगाचार-दर्शनकी एक पुस्तकमें लगे हुए थे, किन्तु उनकी सबसे बड़ी इच्छा थी, कि धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिकका अंग्रेजीमें एक सुन्दर अनुवाद करें। धर्मकीर्तिको वह भारतका कान्ट कहते थे। वस्तुतः कान्ट हीकी तरह धर्मकीर्ति भी भारतके सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक हैं—हाँ, अपने यथार्थवादमें धर्मकीर्ति ज्यादा नजदीक हैं हेगेल् और मार्क्सके। उनसे अच्छा धर्मकीर्तिका अनुवादक नहीं मिल सकता। वह पश्चिमी यूरोपके विद्वानोंकी भाँति संस्कृतके उथले ज्ञानको पसन्द नहीं करते थे। उनके विद्यार्थियोंको भी मैंने देखा कि वह संस्कृत भाषाको ज्यादा गम्भीरतासे पढ़ते हैं, शायद इसमें रूसी भाषाका संस्कृतके साथ निकटतम संबंध भी कारण हो।

अब भी शायद मुझे लेनिनग्रादके उस घरमें जाना हो, जिसमें आचार्यके साथ

कितने ही घंटे कितने ही दिन बिताए थे, लेकिन अब वह प्रसन्नवदना मूर्ति वह गंभीर प्रतिभा कहाँ दिखलाई पड़ेगी !!

बम्बईमें मैंने कई पुस्तकोंका अनुवाद किया, मगर मुझे लेनिन की पुस्तक "गाँवके गरीबोंसे" का अनुवाद ही सबसे ज्यादा पसन्द आया। लेनिनने इसे इतनी सरल भाषामें लिखा है, कि आश्चर्य होता है कि उतने गंभीर ग्रन्थोंको लिखनेवाली लेखनी इतनी सरल पुस्तक कैसे लिख सकी ? दो एक किसान-मजदूर नेताओंकी जीवनी मैंने इधर लिखी थी, लेकिन मुझे अभी इस तरहकी किसी पुस्तकके लिखनेका ख्याल नहीं आया था। अभी अलग-अलग जीवनियोंके लिखनेका ही ख्याल था—"सोच रहे हैं भारतीय कम्यूनिस्ट-नेताओंमेंसे कुछकी जीवनी लिखें" (१ दिसम्बर १९४१)। १८ दिसम्बरको एक साहित्यिक दोस्तकी चिट्ठी मिली। उन्होंने लिखा था—"आपके या मार्क्सवादी विचारोंके अधिक निकट होनेपर भी मैं भारतीय कम्युनिस्टोंकी रीति-नीति और व्यक्तित्वका विशेष कायल नहीं हूँ। आशा है, आप इस स्पष्ट सम्मतिसे बुरा नहीं मानेंगे।" मैंने बुरा नहीं माना, अपनी डायरीमें उनके बारेमें सिर्फ इतना ही नोट किया—"है न निर्मल नभमनोविहारी तारकगण।"

मुझे यह ख्याल आया कि कम्यूनिस्ट नेताओंकी जीवनियोंपर एक पुस्तक लिखूँ, जिसपर उनकी रीति-नीति और व्यक्तित्वके न कायल लोग भी कुछ सोचनेके लिए मजबूर हों। यहीं से "नये भारतके नये नेता" के लिखनेका संकल्प हुआ। मालूम मेरे उक्त दोस्त अब भी अपने उन्हीं विचारोंपर दृढ़ हैं। यदि हैं, तो यही कहूँगा, कि राजनीति और समाजनीतिसे मजाक करना बहुत आसान काम है।

दिसंबरके अंतिम सप्ताहमें जापानियोंने कलकत्तापर बम-वर्षा की। भाई महादेव-साह कलकत्तासे बम्बई आने वाले थे, मगर टिकट नहीं मिल रहा था, इसलिए रह गए।

बहुत दिन बाद २६ दिसम्बरको मेरे धर्मवर्धनका पत्र नगर (कुल्लू) से आया। उन्होंने लिखा था, कि मैं दो साल तक लंकामें घूमता रहा, अमेरिका जानेका निमन्त्रण आया था, लेकिन युद्धके कारण न जा सका।

बंबई हिन्दुस्तानके फिल्मोंकी राजधानी है। सबसे ज्यादा हिन्दी फिल्म यहीं बनते हैं। मैंने यहाँ जब तब कई फिल्म देखे, लेकिन ज्यादातर तो खलते। बहुत कम फिल्म मुझे पसन्द आए। पहिली जनवरीको "कबीर" फिल्म देखने गया, उसके बारेमें मैंने डायरीमें लिखा था—"इतिहास और भूगोलके ऊपर किस बेदर्दीसे छुरी चलाई गई है। नीचेको पाजामा पहिनाया गया। आज भी बनारसकी तरफ जुलाहोंमें

बहुत कम ही पाजामा पहनते हैं। रामानन्दको घंटा डुलाने वाला मुछंदर बनाया गया। कबीरके समय कहाँसे लाकर काशिराजको बस, दिया। बनारससे पूछनेकी क्या जरूरत? भारतीय थैलीशाहोंकी राजधानी—बंबई—सबका काम दे सकती है। गाने-नाचनेको दिखाकर जब पैसोंके बटोरनेमें बाधा नहीं, तो मौज है और बातोंको। तुकारामके अभंगको राम-रहीम, कृष्ण-करीम कहकर गवाया। गोया कबीर-पंथियोंकी खजड़ी वाली भजन बुरी थी?"

पहिली फर्वरीसे ही सोवियत् युद्धक्षेत्रमें लालसेनाके विजयकी खबरें स्तालिनग्रादमें जर्मन फील्डमार्शलके गिरफ्तार होनेके साथ शुरू हुईं। उसके बाद तो फिर पासा ही पलट गया। ९ को खबर आई कि कुर्स्कको लाल सेनाने ले लिया। १० को पता लगा, कि जर्मनोंने रस्तोफको खाली कर दिया। जर्मन अब उलटे पैर लौटे जा रहे थे।

१० को मालूम हुआ कि गाँधीजीने लिनलिथगोको चिट्ठी लिखकर कहा है कि अगस्त और बादमें जो उपद्रव देशमें हुए, कांग्रेस उनकी जिम्मेवार नहीं, और कांग्रेसके ऊपर उनका इलजाम लगाना झूठा है। पिछले ६ महीनोंसे कम्युनिस्ट भी यही बातें करते थे।

दुनिया जीवन-मरणके एक भीषण संघर्षसे गुजर रही थी, लेकिन इंगलैंडके थैलीशाहोंको सबसे ज्यादा इसी बातकी फिकर थी, कि युद्धके बाद हमारे स्वार्थ कैसे सुरक्षित रहें यह विचार करते हुए मैंने अपनी पहिली फर्वरीकी डायरीमें लिखा था—"इंगलैंड और अमेरिकाके थैलीशाह शासक युद्धपश्चात्की क्रान्तियोंकी फिक्रमें ज्यादा है। कासाब्लङ्कामें रुजवेल्ट, चर्चिल कोई बड़ी जंगी कारवाई करनेकेलिए नहीं, बल्कि अपनी जनतासे अपनी अकर्मण्यता छिपानेकेलिए इकट्ठा हुए थे। कामरेड स्तालिन ऐसे कच्चे गुइयाँ नहीं हैं, जो उनके काममें सहायता देते। जीरो फ्रेंच साम्राज्य और फ्रेंच वर्ग-शासनको भी रखना चाहता है, इसलिए उसे क्यों दे-गालसे मिलनेकेलिए मजबूर किया जाय, आखिर देगालके साथ मजूर-वर्ग भी तो हैं। ब्रिटिश नौकरशाह भी भारतमें कमकरोंकी आगे आनेवाली तनी भृकुटीको देख रहे हैं। बंगालमें जगपरिवर्तकोंकी पहुँच हर स्तरमें है। मजूर साथ होंगे, देखना है, किसानोंमें जिन्नाके चेले और फजलुल हक कितनी फूट डाल सकते हैं। बुद्धिजीवी काफ़ी साथ रहेंगे, मलबारमें जगपरिवर्तकोंका बहुत प्रभाव है, मगर वह छोटा-सा प्रान्त है। तमिल-प्रान्तमें (उनका) मजूरोंमें ज्यादा जोर, मगर किसानों तथा बुद्धिजीवियोंमें (क्या है) इसे हम नहीं कह सकते। आन्ध्रमें मजबूत, और निर्णायक शक्ति (उनकी)

बंगाल जैसी है। बिहारमें फूट, बुद्धिजीवियोंमें सुस्ती किन्तु किसानोंमें अधिक जागृति (है)। यू० प्रा० में (वह) बढ़ेंगे, खासकर बुद्धिजीवियोंमें, मजूरोंमें किसानोंमें लौटे सिपाहियों द्वारा भी। पंजाबमें वर्त्तमान और अगली सरकार भी उनके विरुद्ध रहेगी और नागरिक स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी, मगर वहाँके कुछ शिक्षित तथा सभी यंत्र-निपुण (सैनिक)—जो फ़ौजोंसे आकर भूखे मरेंगे—जग परिवर्तनमें काफी सहायक होंगे। सिक्खोंमें खूब जोर बढ़ेगा, हिन्दुओंमें उन्हीं सैनिकोंसे आशा (है)। मुसलमानोंमें भी वही सैनिक (जगपरिवर्तक) होंगे और सारे प्रतिगामी एक ओर (होंगे)। सब मिलकर पंजाबमें भी भविष्य बेहतर होगा। मध्यप्रान्तमें मुर्दा सा..। सिन्धमें (फैसला) नागरिक स्वतंत्रता और लाल-सेनाके प्रभावसे कितना लाभ उठा सकते हैं, इसपर निर्भर है। बम्बई और महाराष्ट्रमें मजूरोंसे बाहर उनका काम न बढ़ रहा है, न उसका कोई प्रोग्राम है। अंग्रेजोंके अनिश्चय ([illegible]) से यह काम नहीं हो सकता। बुद्धिजीवी पक्के क्रान्तिकारी नहीं होते, मगर उनपर प्रभाव डालने या पछाड़नेसे हमारा प्रचार हर तबकेमें बढ़ना है। इसकी तरफ महाराष्ट्र-जगपरिवर्तकों का ध्यान तक नहीं है। गुजरातमें कुछ हो सकता है, मगर काम करने वाले हाथ कम हैं, गान्धीजीका प्रभाव मजूरों तकसे भी उठा नहीं, इसलिए वह कमजोर रहेंगे। कर्नाटक अभी, मध्यप्रान्तकी कोटिमें है। आसाममें सुरमा वेली (उपत्यका) आगे रहेगी। और फिर भारतमें अंग्रेज नौकरशाही सबसे प्रतिगामी और शक्तिशाली है, वह भारतीय (पूँजीपतियों) से जरूर समझौता करेगी और परिवर्तक शक्तियोंको नष्ट करनेकी भारी (कोशिश करेगी) मगर (पूँजीशाहोंकी) इंगलैंडमें हालत अच्छी नहीं रहेगी। मजूर-नेता कम्युनिस्टोंके साथ एकता करके मजूरोंकी एकताको मजबूत नहीं होने देंगे। किन्तु, तब भी इंगलैंडमें कम्युनिस्टोंके प्रचारमें पार्लमेंटकी सफलता सबसे ज्यादा सहायक होगी। युद्धके बाद सेना, सिविल-गार्ड, याल्ट-फैक्टरियोंसे निकाले गये भूखे मरते स्त्री-पुरुष। इनके सामने टोरी—मजूर नेताओंकी नाउल (बेकार होगी)। सिद्धान्तोंसे पेट नहीं भरा जा सकता। जोर (इस्तेमाल करनेपर) गृहयुद्ध (होगा)। पार्लमेंटद्वारा योरपपर प्रभाव (पड़ना निश्चित है)। योरप-अमेरिकाके थैलीशाह सामने जर्मनीको हिटलरोंकी प्रसव-भूमि बनाए रखना चाहते हैं, जिसमें सोवियत्‌को खानेके लिए भी फँसाए रखा जाय। मगर सोवियत् इनसे कहीं ज्यादा होशियार है। वह जर्मनीमें युंकर तथा थ्रूस् आदिकी जोंकोंको नहीं रहने देगी, चाहे पश्चिम रुजवेल्ट कुछ भी करना चाहें, अर्थात् जर्मनीमें मजूरकिसान राज्य—सोवियत्—(चाहे न भी हो), किन्तु

(होगा वह) सोवियत् समर्थक । इंगलेंड अपने स्वार्थ-द्वंद और गृहयुद्धके डरसे लाल-सेनापर हल्ला नहीं बोल सकता । राइनके पूरब और योरपसे प्रतिगामी शक्तियोंका खातमा होगा । इसका भी प्रभाव फ्रान्स और इंगलेंडपर (पड़ेगा) । अमेरिकाको भरोसा है, कि लालसेना अतलांतिक पारकर आक्रमण करके साम्यवाद नहीं कायम करेगी । फिर वह क्यों चर्चिलकी आगमें कूदेगा ? ब्रिटिश थैलीशाहीकी साख विश्वके बाजारमें खतम, जिससे कि इंगलेंडमें वह कमजोर, जिससे उसके भारतीय प्रतिनिधि कमजोर; जिससे भारत ही नहीं, बल्कि अफगानिस्तान तथा ईरानमें भी परिवर्त्तक शक्तियों-को बल प्राप्त (होगा) । चीन भी, सोवियत्‌के साथ रहेगा, क्योंकि चर्चिल-एमरी हाँग-काँग तथा दूसरी जगहोंपर लुप्त यूनियन-जैक गाडनेका (मनसूबा) रखते हैं । और जापान ?—जापानमें परिवर्त्तक शक्तियोंका बढ़ना अवश्यंभावी, राज्य शक्ति-पर अधिकार तक संभव (है) । थैलीशाहोकी सारी जातिसे बदला लेनेकी नीति, अपनेलिए बाजारका सुभीता करने, राष्ट्रीय बिखराव तथा अपमानका मनसूबा वहाँकी भारी जनताको सोवियत्-पक्षपाती बना देगा । सोवियत् अपनी पश्चिमी सीमाकी भाँति पूर्वी सीमाको भी सुरक्षित करेगी । उसे फिर दूसरा युद्ध अपनी सीमा-ओंपर नहीं लड़ना है, यह बात तय है । कोरियामें जनप्रजातन्त्र बनेगा । मन्चूरिया चीनके भीतर किन्तु एक परिवर्त्तक भूखण्ड होगा । जावा आदिमें पूर्व-व्यवस्था कायम होगी, मगर उसमें (भारी) विरोध उठ खड़े होंगे—इगलेंडकी तरह् हालैंडकी भीतरी दिक्कतें, निवासियोंकी स्वातन्त्र्य-प्राकांक्षा तथा हारको निश्चित देख जापानियोंको वहाँके लोगोंको अधिकाधिक अधिकार देकर यूरोपियन पूंजीशाहोके खिलाफ मनोभाव तथा शक्ति तैयार करनेका प्रयत्न (करना होगा) । इस प्रकार प्रशान्त महासागरके इस छोरपर प्रशान्ति नहीं रही । हाँ, फिलीपीन स्वतन्त्र होगा । अब इस चित्रपटके भीतर देखो भारतको । भारतके फ़ौलादी ढाँचे ढीले, यद्यपि ऐंठ पहिलीसी है ।"

लड़ाईसे लौटे भूखे नौजवान कुछ करनेकेलिए उतावले, गाँधीवाद—भारतीय पूंजीवादका अंग्रेज पूंजीपतियोंसे गठबन्धन, परिवर्त्तक विचारोंका अधिक प्रसार, परिवर्तनके पक्षमें मजूरोंकी जबर्दस्त शक्ति, किसानों और रियासतोंके अनवरत संघर्ष, मार्क्सवादलका सर्वत्र भारी प्रभाव । "अब बताओ" कौन अधिक बलवान रहेगा ? परिवर्त्तक शक्तियाँ या भारतीय पूंजीपति अंग्रेज नौकरशाह—गुड़ियाराजा ।

फर्वरीके अन्तमें मुझे फिर बुखार आ गया, और अब बम्बई छोड़नेका ही निश्चय हुआ और ३ मार्चको मैं बम्बईसे रवाना हुआ ।

युक्तप्रान्त और बिहारमें (मार्च-अप्रैल)—उस दिन पंजाब-मेलमें बड़ी भीड़

थी, लेकिन जिस डिब्बेमें मैं बैठा, उसमें कुछ सैनिक भी बैठे थे, जिसका मतलब था, दूसरोंकेलिए दरवाजा बन्द। ४ मार्चको मैं आगरा पहुँचा। बुखार दो-तीन दिन और रहा। ८ तारीखको नागार्जुन भी सिन्धसे पहुँच गए, और तबसे तीन महीने तक हम दोनों साथ ही रहे। अबकी बार मैं प्रान्तीय किसान सम्मेलनका सभापतित्व करनेके-लिए इधर आया था। सम्मेलन १४,१५ मार्चको होनेवाला था, लेकिन बुखारके कारण मैं कुछ पहिले ही चला आया। आगरामें एक हफ्ता रहनेके बाद फीरोजाबाद चला गया। आगरा छावनीमें गाड़ीमें बड़ी भीड़ थी, आगरामें आकर तो वह और ठसा-ठस भर गई। खैर, जंगलेके पास बैठे हुए थे, इसलिए चारोंओर पके गेहूँकी सुनहली बालियोंको देखकर प्रसन्नता हो रही थी। लेकिन फसल सभी जगह अच्छी नहीं थी। सभी जगह खाद-पानी अच्छा हो, तभी न फसल अच्छी हो। पानी तो है, मगर जमीनके नीचेसे निकाला कैसे जाय? बैल और चरसेसे किसान लुटिया-लुटिया भर पानी निकालते हैं, यह तो प्यासेको सीकसे पानी पिलाना है। यमुनाके आसपासकी समतल मिट्टी वाली जमीन पहाड़ोंके खोहेवाली जैसी मालूम होती है। सैकड़ों पीढ़ियोंसे इसे हम एक स्वाभाविक दृश्य समझते आए हैं, कभी इस बातपर ख्याल भी नहीं किया, कि कितनी मिट्टी इस तरह हर साल बहकर समुद्रमें जा रही है। पानीको तो खैर बादल कुछ लौटा भी लाते हैं, किन्तु समुद्रके पेटमें गई मिट्टी तो एक तोला भी लौटके नहीं आती। भूतत्त्व-शास्त्री बतलाते हैं, कि आरंभिक आग्नेय चट्टानोंसे घिस-घिसकर हजारों वर्षोंमें एक अंगुल मोटी मिट्टी बनी। प्रकृतिकी यह कितनी मँहगी देन है, लेकिन इसकी रक्षाका हमने कोई इंतिजाम नहीं किया। सोवियत्में अब इसकी ओर बहुत ध्यान दिया जाने लगा है, वहाँ सीमेन्टके नाले और बाँध बनाए जा रहे हैं, जिसमें कमसे कम मिट्टी समुद्रमें जाने पाए; हमारे यहाँ तो न जाने कब इसके लिए कोई प्रयत्न किया जायगा।

फीरोजाबादमें उस दिन साथी बनवारीके घरपर खाना खाने गए। यह एक मध्यमवर्गीय पुराना खानदान है। सदियोंसे इनके यहाँ पर्दा होता आया है, लेकिन उनकी पत्नी और बड़ी लड़की दोनोंने पर्दा छोड़ दिया। खानदानमें बड़ी मलकनी अभी है। खुद बूढ़ी माँ तक ने ऐसेका बायकाट कर दिया है। छोटी लड़की कह रही थी कि दादी बर्तनमें हाथ नहीं लगाने देती, कहती है—तुम लोग मजहबको नहीं मानते, दोजखमें जाओगे। मैंने उससे कहा—रोनी सूरत बनाकर गिड़गिड़ाते हुए दादीके पैर पकड़-कर कहना कि दादी तू तो अंगूरोंके बागमें जायगी। लेकिन दोजख और बहिश्तके बीचमें एक छोटी पतली दीवार है, मैं कुछ भी होऊँ, लेकिन हूँ तो तेरी ही पोती;

कभी-कभी एकाध गुच्छा तोड़कर हमारी ओर भी फेंक देना। बच्ची कहने लगी—ऐसा कहनेपर मारने दौड़ेंगी। दादी बेचारीको बड़ा दुःख है। २६, २७ साल पहिले मैं एकसे अधिक बार फ़ीरोज़ाबाद आया था। एक बार आर्यसमाजके वार्षिकोत्सवके अवसरपर भी व्याख्यान देने आया था। आर्यसमाजके जबर्दस्त वक्ता प्रयागदत्त अवस्थी भी पहुँचे थे। उन्हें जब मालूम हुआ कि मैं पूरबका ब्राह्मण-पुत्र हूँ, तो बड़ी गम्भीरतासे समझाने लगे—देखो, इस धर्महल्लेमें खाना मत खाया करो, यहाँ ढेड़-चमार सब घुस आते हैं; अपना भोजन आप बनाया करो। लेकिन पंडितजीके उपदेशोंकेलिए मेरे कानमें जगह न थी; यदि वह मेरा आजका खाना देखते, तो न जाने क्या कहते। हाँ, फ़ीरोज़ाबाद तबसे बहुत बढ़ गया है। अब इसकी आबादी ४० हज़ार है, और चूड़ी बनानेके ६० कारख़ाने। फ़ीरोज़ाबाद सारे हिन्दुस्तानको चूड़ी देता है। युद्धके समय, जब कि विदेशी चूड़ियाँ आनी बन्द हो गईं, यह अकेले सारे भारतकी नारियोंकी सौभाग्यरक्षा कर रहा है। लेकिन उसके रास्तेमें बहुत-सी रुकावटें हैं—कोयला न मिलनेसे २५ कारख़ाने बन्द हो गये हैं। मज़दूरोंका संगठन मज़बूत है।

वछगाँवमें (१३-१५ मार्च)—किसान-सम्मेलन वछगाँवमें होनेवाला था, इसलिए १३ तारीख़को हम बैलगाड़ीसे वछगाँवकेलिए रवाना हुए। १० मीलका रास्ता है, किंतु बैलगाड़ीको अपनी चालसे चलना था, तो भी हमारा रास्ता अच्छी तरहसे कटा। अलीगढ़ और प्रतापगढ़के दो साथी साथमें किसानोंके गीत गाते चल रहे थे, जिसमेंसे एकके पद्य बनारसी और अवधीमें थे, और दूसरेके ब्रजभाषामें। पक्की सड़ककी दोनों तरफ खेत थे, जिनमें चने पके हुए थे। लोग होले उखाड़-उखाड़कर ला रहे थे, सतयुगसे यही धर्म चला आया है, इसलिए लोगोंने शायद ही मालिकसे पूछनेकी ज़रूरत समझी हो। कच्चे होले खाते हम अपना रास्ता नाप रहे थे। हमारे गाड़ीवानको गणेशपालका बारहमासा बहुत पसन्द आया, उस बारह-मासेमें बहुत सीधी-सादी ब्रजभाषामें किसानोंकी बारह मासकी विपदा गाई हुई थी। गाड़ीवान लिखना-पढ़ना नहीं जानता था, लेकिन उसने गणेशपालसे बार-बार विनती की, कि इस बारहमासेको लिखकर हमें दे दें। रास्तेमें हमें बहुतसी लकड़ी-भरी गाड़ियाँ मिलीं। लोग बतला रहे थे, कि यह चूड़ीके कारख़ानोंकेलिए जा रही हैं, गीली होनेपर भी तीस सेरका एक रुपया मिल जाता है। फ़ीरोज़ाबादके दस-दस बीस-बीस कोस तकके दरख़्त बड़ी बेदर्दीसे काटे जा रहे थे। बाग़ एक साल में तैयार नहीं होते, और यहाँ उनके ऊपर एक ओर से कुल्हाड़ा चलाया जा रहा था।

दोपहरको हम बछगाँव पहुँचे। बछगाँव एक साधारणसा गाँव है, लेकिन "वत्सग्राम" नाम पुराना मालूम होता है। भरद्वाज वंशज वत्स इसी कुरुपंचालके रहनेवाले थे, लेकिन आजसे तेतीस-चौंतीस सौ वर्ष पहिले वह इसी ग्राममें रहते थे, यह कहनेकेलिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। हाँ, गाँवके बाहरके देवस्थानमें एक शुंगकालीन खंडित मूर्ति देखी, जिससे इतना तो पता लगता है कि आजसे २१-२२ सौ वर्ष पहिले यह एक महत्त्वपूर्ण स्थान था।

सम्मेलनके रास्तेमें पुलीसवालोंने जहाँ तक हो सका, बाधा डाली। फ़ीरोजाबादमें तो जुलूस निकालनेके खिलाफ़ हुकुम निकाल दिया गया था, लेकिन श्री मुरलीलाल गोस्वामी और दूसरे साथियोंने सम्मेलनको सफल बनानेकेलिए खूब मेहनत की थी। पुलीसवालोंने इतना ही नहीं कहा था कि जो सम्मेलनमें जायगा, वह पकड़ा जायगा, बल्कि उन्होंने वहाँ सड़कके किनारे अपना खेमा भी डाल दिया था। लेकिन तब भी सम्मेलनमें तीन हज़ारसे अधिक किसान आये। एक हज़ार औरतोंका आना बतला रहा था, कि साथी हाजरा और उनकी सहायिका सुश्री शुक्लाकी की हुई मेहनत अकारथ नहीं गई। हाजरा नवाबोंके खानदानमें इसलिए नहीं पैदा हुई थीं, कि धूपमें पैदल एक गाँवसे दूसरे गाँवमें दौड़ती फिरें, लेकिन उन्होंने खुद इस रास्तेको स्वीकार किया था। हाजरा एक ब्राह्मण परिवारमें ठहरी थीं। मैंने देखा, जिस वक्त वह बूढ़ी अम्मासे बिदाई ले रही थीं, तो बुढ़ियाकी आँखोंमें आँसू थे। उसने उसी तरह हाजराको बिदा किया, जैसे माँ अपनी बेटीको बिदा करती है। उसको यह भी नहीं ख्याल आया, कि यह मुसल्मानकी लड़की है। हफ्ते भरमें हाजरा अम्माके घरकी बेटी बन गई थीं। सभामें कितने ही किसान कवि और गायक आये थे। बनारस जिलेके धर्मराज और रामकेर भी पहुँचे थे। मैं रामकेरकी कविताकी प्रशंसा सुन चुका था, डफ बजाते हुए जब रामकेरने सुनाया "सुखी रहो या रंज रहो, तू अपने घरे हम अपने घरे" तो सारी जनता मुग्ध हो गई। मैं डर रहा था, कि पांचाली (भाषा)-क्षेत्रमें बनारसके गाँवकी भाषा लोग नहीं समझेंगे, लेकिन रामकेरने अपने ठेठ देहाती गीतोंको सुनाकर उन्हें मुग्ध कर दिया, और मेरी धारणा गलत साबित हुई। यहीं मुझे अनुभव हुआ कि युक्तप्रान्त और बिहारकी स्थानीय मातृभाषाओंमें भी शब्दकोष और मुहावरोंकी इतनी समानता है, कि लोग उसे अच्छी तरह समझ लेते हैं। सम्मेलन सफल रहा। स्त्रियोंका भी एक सम्मेलन हुआ, जिसकी स्वागताध्यक्षा गोस्वामीजी की बीवी हुईं।

२५ मार्चके आधी रातको कुछ लोग गाड़ियोंपर और कुछ पैदल भग गये।

प्रतापगढ़ी भाईने एक बिरहा गाया "जेके लागे हैं, अनेकों ठगहार"। कुछ नौ-जवानोंने इस कड़ीको उड़ा लिया और उसमें जोड़-जोड़कर वह रात भर रास्तेमें बिरहा गाते फ़ीरोज़ाबाद पहुँच गये। फ़ीरोज़ाबादमें मैंने देखा, हाजरा और मुन्नी शुक्ला—एक मुसल्मान और दूसरी जौनपुरके ब्राह्मणी—एक थालीमें खा रही है। कम्यूनिस्त अपने खाने-पीनेको छिपाते नहीं। इसपर टिप्पणियाँ ज़रूर होती होंगी, पर उनको इसकी पर्वाह नहीं है। वह जिस भविष्यका सपना देख रहे हैं, उसमें यह एक मामूली बात है। मुन्नीकेलिए यह ज़रूर आश्चर्यकी बात थी, क्योंकि छ ही महीने पहिले उन्होंने घरसे बाहर पैर रखा था।

उस दिन (१६ मार्च) शामको हमारा खाना डाक्टर अशरफके साढ़के यहाँ हुआ। कुल्सुम्—अशरफकी बीवी—भी आजकल यहीं थीं। ५, ६ वर्षके साहेब-जादेसे रास्तेमें भेंट हुई थी, वह किसी लड़केके साथ स्कूलसे आ रहे थे। मैंने पूछा—"कहाँ गये थे?" लजानेकी कोई बात नहीं थी, उन्होंने बड़े इतमीनानसे जवाब दिया—"स्कूलसे आ रहा हूँ।" मैंने पूछा—"पढ़ने गये थे?" जवाब और भी इतमीनानके साथ मिला—"बच्चोंको देखने गया था।" गोया हज़रत बच्चे नहीं थे और स्कूलमें सोलह-सोलह वर्षके पढ़नेवाले सब बच्चे थे। आखिर जन्म-जात वक्ता अशरफके साहेबज़ादे हैं न? भोजन तो खैर अच्छा बना ही था, लेकिन सबसे आनन्दकी चीज़ थी, स्त्रियोंके गीतकी चर्चा। हाजराने भी कितने ही गीतें जमा किये हैं, कुल्सुम्को कौमारावस्थाकी याद की हुई कुछ गीत मालूम थे। वह मथुरा जिलेके गाँवकी रहनेवाली है और सो भी हिन्दूकी लड़की। उनके सारे गीत हिन्दुओंके थे, विवाह और कन्याकी विदाईसे सम्बन्ध रखनेवाली कितने ही मार्मिक गीत कुल्सुम्ने सुनाये। उन्होंने इस ओर मेरी बहुत दिलचस्पी देखकर कहा, एक बार आइए, जब मैं अपने नैहरमें रहूँ, फिर खूब अच्छे-अच्छे गीत सुन-वाऊँगी। हाँ, यहाँ एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बातको मैं छोड़ गया। कुल्सुम्के भाई धर्नसिंह और प्रतापसिंह हिन्दू राजपूत हैं, और पति डाक्टर अशरफ़ मुसल्मान राजपूत। हिन्दुस्तानमें पन्द्रह-बीस लाख ऐसे राजपूत हैं, जिनमें धर्मकी प्रधानता नहीं जातिकी प्रधानता है। चाहे कोई मुसल्मान धर्म माने, चाहे कोई हिन्दू, ब्याह-शादी वह आपसमें करते हैं। कुल्सुम्की शादी इसी तरहसे हुई है। मैंने सोचा, इन लोगोंने सैकड़ों वर्ष पहिले हीसे भविष्यके हिन्दुस्तानकेलिए रास्ता दिखला दिया है।

प्रयाग, बनारस होते हम छपरा पहुँचे। पता पहिले ही लग गया था कि

पं० गोरखनाथ त्रिवेदीके घरमें चोरी हो गई। हज़ारोंके जेवर और कपड़े चोरी गये। मेरे २, ३ बड़े-बड़े बक्सोंके भारी वज़नको देख चोरोंने समझा कि इनमें रुपये भरे हैं, और वह उन्हें भी उठा ले गये। खेतमें जाकर खोला तो देखा, उनमें किताबें हैं। कुछ कपड़े भी थे, जिन्हें वह ले गये, बाक़ीको वहीं छोड़ गये। मुझे बड़ी खुशी हुई, जब देखा मेरे असली धनको उन्होंने नहीं छुआ—वहाँ कई खास डायरियाँ थीं।

२५ मार्चको पटनामें अन्न कष्टके सम्बन्धमें नागरिकोंकी सभा थी। मुस्लिम लीग, हिन्दू सभा, जमींदार और कम्यूनिस्ट सभी इसमें शामिल थे। ५ महीना पहिले पटनाको जिस वक़्त मैंने छोड़ा था, उस वक़्त कम्यूनिस्टोंने अभी-अभी इस काममें हाथ लगाया था। उस वक़्त वह अकेले थे, लेकिन आज सभी उनका साथ दे रहे थे। रुपयेका तीन सेर चावल, दो सेर गेहूँ बिक रहा था, और वह भी मिलना मुश्किल था। दस आना बारह आना सेर सत्तू था, जब कि छ-सात आना सेर चीनी मिल रही थी। चार-पाँच साल पहिले यदि कहा जाता, कि दो सेर चीनी में एक सेर सत्तू मिलेगा, तो लोग विश्वास नहीं करते। लेकिन अब लड़ाईने असम्भव-को सम्भव कर दिया है। छपराके गाँवोंमें घूमनेपर लोग यही पूछ रहे थे, कि लड़ाई कब खतम होगी। ढाई सेरके चावलके खरीदनेकी किसमें हिम्मत थी? दो रुपये का धोती जोड़ा अब दस रुपयेमें बिक रहा था। चारों ओर त्राहि-त्राहि मची थी।

५ अप्रैलको मैं मसरख (छपरा)में था। लोग बतला रहे थे, महाराज-गंजमें कल दो सेरका चावल बिका। आजकल अनाजकी डकैतियाँ बहुत बढ़ गई थीं। ७ अप्रैलको सीवानमें कोई सज्जन बतला रहे थे, कि बसन्तपुर(?)के पास कुछ आदमी उधार अनाज माँगने गये। उन्होंने नहीं दिया, इसपर डाकुओंने उनके खलिहानमें आग लगा दी, और डेढ़ हज़ार मन अनाज राख हो गया। यह बड़ी ही हृदयद्रावक बात थी—अनाजको जलाना, लूटना नहीं! किसी समय मनुष्यके मुँहके आहार अनाज तथा पशुके मुँहके आहार तृणमें आग लगाना भारी पाप समझा जाता था। मुझे बचपनकी बात याद आ गई। कनैलामें हमारे घरमें काफ़ी धान होता था, और जाड़ोंमें पुआलका भारी गंज लगा रहता था। आग तापते वक़्त हम लड़के जब उसमेंसे दो-चार तिनके आगमें डाल देते, तो आजी (दादी) चिल्लाकर कह उठती "गऊके मुँहका आहार जला रहे हो! बड़ा पाप होता है।" और सच-मुच हम लड़के भी कुछ सहम जाते थे।

८ अप्रैलको हम लोग जेसौरी गये। खलिहानका काम हो रहा था। चावल

था। दोपहरको कुछ बूँदें भी गिरीं। खलिहानका अनाज जब तक घरमें नहीं आ जाता, तब तक किसान डरते रहते हैं। देखा, एक्कोंका किराया ज्यादा नहीं बढ़ा है। दूध और नमकका दाम पहिले ही जैसा रहा, किन्तु बैलोंका दाम कई गुना बढ गया। किसान कह रहे थे, कि हमारे बैलोंको सरकार पल्टनकेलिए खरीद रही है। कोई-कोई तो कहते थे कि बैलको तोलकर ४० रुपया मन दाम दे दिया जाता है। कुछ भी हो आजकल पलटनके खानेकेलिए गाय-बैल ज्यादा मारे जा रहे हैं, इसमें सन्देह नहीं और खेतीकेलिए यह एक बड़ी समस्या हो रही है। फ़रीदपुरमें हक साहेबके "आशियाना"में गये। २२ वर्ष पहिले मैं यहाँ बाबू मथुराप्रसादके साथ आया था। वह दिन याद है, जब बेगम हकने यहाँ हम लोगोंको चाय पिलाई, और बाबू मथुराप्रसादने वैष्णव समझकर मुझे समझाना चाहा, कि चाय पीनेमें कोई हर्ज नहीं है, किन्तु मैं उससे पहिले ही कुर्गमें एक थालीमें मुसल्मानके साथ खा चुका था। १९२६में हक साहेबके पास जब आया था, तो पुस्तकोंके ढेरमें बैठे उन्होंने कहा था—"आओ बैठो, यहाँ पढ़ो, और अध्यात्मविद्याका अभ्यास करो।"

दोपहरको यहीं मजहरके यहाँ भोजन करके हम जैजोरी गये। उस दिन वहाँ और अगले दिन अमवारीमें किसानोंकी सभा हुई। आजकी परिस्थितिपर मैंने कुछ कहा। जैजोरीमें ही सुन लिया था, कि अदमापुरके (घाघरावाले) बाँधको राहुल बाबाने बँधवा दिया। मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। अमवारीमें जब अदमापुरके बाँध बँधवानेकेलिए राहुल बाबाका गीत रामायनके साथ झाल ढोलक लेकर गाते सुना, तो मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा। इतना ही नहीं, माँझीका रेलका पुल भूकम्पके वक्त टूट गया था, उसकी मरम्मतका भी श्रेय अंग्रेज कम्पनी या सरकारको नहीं, राहुल बाबाको दिया जा रहा था। किस तरह पँवारे बना करते हैं, यहाँ इसका एक अच्छा उदाहरण था। अदमापुरके बाँध बँधवानेमें सत्यताका अंश इतना ही था, कि ४ वर्ष पहिले मैंने घाघराके बाँधकेलिए जनताका एक जबर्दस्त प्रदर्शन छपरामें करवाया था, जिसमें १२, १३ थानोंके किसान आये थे, अमवारीके भी किसान पहुँचे थे। पीछे सरकारने जब उस बाँधको बँधवा दिया, और जिन खेतोंमें ४ वर्षसे पानी आ जानेके कारण एक अच्छत भी नहीं होता था, उसमें खूब धान होने लगा; तो किसानोंकी सहज बुद्धि और स्नेहपूर्ण हृदयने अदमापुरके बाँधके साथ मेरा नाम जोड़ दिया। अमवारीके किसान अब अच्छी अवस्थामें थे। चन्द्रेश्वर बाबू और उनके परिवारका इन किसानोंके प्रति अब अच्छा बर्ताव था। सत्याग्रहके वक्त गुप्तेश्वर बाबू लठियलोंको मेरे ऊपर प्रहार करनेकेलिए उकसा रहे थे, और आज

उन्होंने बड़े आग्रहसे अपने ही दरवाजेपर सभा करवाई, प्रान्तीय किसान-सम्मेलनकेलिए चन्दा दिया और दूसरोंको भी देनेकेलिए कहा। व्याख्यानके बाद जलपान कराया और बहुत दूर तक पहुँचाने आये। भाषणमें मैंने कहा था, जिस स्वप्नको हम देख रहे हैं, उसमें किसीको कष्ट-चिन्ता न रह जायेगी।

५. चौंतीस साल बाद

चौंतीस साल क्या होता है, इसका साक्षात्कार मुझे अबसे पहिले कभी नहीं हुआ था। गिननेको कई घटनायें थीं, जिन्हें चौंतीस क्या उससे भी अधिक सालोंमें गिन लिया करता था; मगर चौंतीस सालका ठीक-ठीक रूप मुझे तभी मालूम हुआ, जब मैंने अपने जन्मग्राम पन्दहामें—जो मेरे नानाका ग्राम है—उन चेहरोंको देखा, जिन्हें मैंने यौवनके वसंतमें देखा था। और आज ? मेरी तीन मामियोंमेंसे एक सूरजवली मामाकी बहूको ले लीजिये। १९०९ ई०में उन्हें मैंने २०-२२ सालकी तरुण सुन्दरीके रूपमें छोड़ा था और आज उनके चेहरेपर गंगा-यमुनाके असंख्य नाले खिंचे हुए थे। ऊपरसे एक आँख भी जाती रही। आज उस सुन्दर चेहरेका कहीं पता नहीं। पन्दहाके आजके निवासियोंमें मेरे परिचित चेहरोंकी संख्या एक दर्जनसे अधिक नहीं थी, और उन सबकी हालत भी आम-फोमी थी।

सारे परिचित चेहरे यद्यपि अधिकतर सदाकेलिए विलुप्त हो चुके थे, तथापि उनकी जगह मैंने बहुतसे तरुण चेहरे देखे और उनमेंसे कितनोंसे परिचय प्राप्त किया। इन नव-परिचित चेहरोंका साक्षात् होनेसे जो आनन्द हुआ, उसीने इस बातकी न्याय्यताको समझा दिया, कि नयोंके आनेकेलिए पुरानोंका स्थान खाली करना जरूरी है।

सत्ताईस साल हो गये, जबसे मैं अपने आजमगढ़ जिलेमें नहीं गया था। पचास साल पूरे होनेके साथ ९ अप्रैल १९४३के बाद, मैं आजमगढ़ जिलेमें जानेकेलिए स्वतंत्र था। यद्यपि इस समयकी प्रतीक्षा मेरे बन्धुओंकी तरह मैं भी कर रहा था, किन्तु दूसरे कामोंको देखते हुए मैं समझ रहा था, कि शायद इस वर्ष आनेका मौका न मिल सकेगा, लेकिन समय मिल गया।

१२ अप्रैलकी रातको एक बजे सीवान (छपरा)से नागार्जुन और मैं रेलद्वारा आजमगढ़केलिये रवाना हुए। मऊमें एक बजे दिनको अपनी भूमिपर भी पैर रखते वक्त एक तरहका आनन्द मालूम होता था। मालूम हो रहा था, किसी महायात्रासे मैं घर लौट

वंचित था और, आज वह मुझे मिल रही है। दूसरी ट्रेनके जिस डिब्बेमें हम बैठे, उसमें कितने ही बलिष्ठ ग्रामीण भद्रजन बैठे थे। उनके लम्बे चौड़े स्वस्थ शरीरको देखकर मुझे अभिमान हो रहा था। वे उसी भाषाको बड़ी ज़िन्दादिलीके साथ बोल रहे थे, जिसे मैंने भी माँके दूधके साथ सीखा था। मुझे इसका अफ़सोस हो रहा था, कि मैं उसे अब नहीं बोल सकता। आज़मगढ़ ज़िले के सात दिनके निवासमें अपने बन्धु-मित्रोंसे उनकी भाषामें बोलनेका प्रयास मैंने करके देखा, लेकिन मेरे मुँहसे छपराकी बोली निकल आती थी।

आज़मगढ़के तरुण साहित्यिक श्री परमेश्वरीलाल गुप्त स्टेशनपर मौजूद थे, इसलिए शहरमें धर्मशाला ढूँढनेकी ज़रूरत नहीं पड़ी। मैं इस यात्रामें एक तीर्थयात्रीके तौरपर गया था और शैशवके स्मरणीय स्थानोंके साथ फिरसे परिचय तथा साक्षात्कार की लालसा रखता था; इसलिए मैं सार्वजनिक रूपसे किसी समागम या अभिनन्दनमें शामिल नहीं होना चाहता था। गुप्तजीने मेरे भावोंका ख्याल किया, यह प्रसन्नताकी बात थी।

आज़मगढ़ शहरसे यद्यपि मेरा जन्मग्राम पन्दहा, सात मीलसे ज्यादा नहीं है, तो भी मगर मैं शहरमें बहुत कम गया हूँ। वहाँके तहसीली स्कूलको देखा था। अबकी गया तो देखा, वह दूसरी जगह चला गया है। मकान नया है, किन्तु पुराने मकानकी श्रीहीनता क़ायम रखनेकी पूरी कोशिश की गई है। शिबली-मंज़िल आज़मगढ़की एक खास चीज़ है। इस्लामिक संस्कृतिके मर्मज्ञ, अरबी-फ़ारसीके महाविद्वान् अल्लामा शिबली एक महान प्रतिभाके धनी थे। उन्होंने अपनी लेखनी, तथा अध्ययन-अध्यापन द्वारा देशकी भारी सांस्कृतिक सेवा की है। यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई, कि उनके कामको और भी विस्तृत रूपमें जारी रखकर मौलाना सुलेमान नदवीने अपने गुरुकी इस जीवित यादगारको क़ायम रखा है। शिबली-मंज़िलमें कितने ही विद्वान बड़े त्याग और तन्मयताके साथ इस्लामिक अनुसन्धान और ग्रन्थ-प्रणयनमें लगे रहते हैं। शिबली मंज़िलका दार्-उल-मुस्रान्फ़ि उर्दू-साहित्यको बहुत समृद्ध कर रहा है।

१३ अप्रैलको सवेरे आठ बजे हम दोनों एक्केसे रानीकीसरायकेलिए रवाना हुए। शहरसे बाहर निकलते-निकलते पुलिसवालोंने हमारे एक्केवालेकी जो गत बनाई, वह एक नया अनुभव था—आज पुलिस सर्वशक्तिमान् थी।

पाँच-छ सालकी उम्रमें जब मैंने पढ़नेकेलिए रानीकीसरायमें कदम रखा था,

तो मैं बहुत डर-डरकर चल पाता था। कन्दहा गाँवके लड़कोंकेलिए रानीकी सराय एक संभ्रान्त नगरी थी। यहाँकी हर एक बातसे रोब टपकता था। जब रानीकीसरायके लड़के पकड़ना कहते, तब मैं समझता कि धरना नहीं पकड़ना ही नागरिक शब्द है। जब रानीकीसरायके पुरुषोंकी धोतीका एक भाग आधी जाँघ तक सीमित रहता, दूसरेको घुट्ठी तक दौड़ते देखता, तो मुझे मालूम होता, यह है नागरिक वेश। आगे चलकर रानीकीसरायकी नागरिकताका वह रोब नहीं रहा, तो भी रानीकीसरायके मदरसेके छ सालोंका मेरे निर्माणमें भारी भाग है।

सड़कसे चलते एक बार मैं बस्तीके आरपार हो गया, लेकिन किसी चेहरेको पहचान न सका। एक व्यक्ति कुछ देर खड़े होकर मेरी ओर देख रहे थे, किन्तु रामनिरंजन पंडित रानीकीसरायमें होंगे, इसका मुझे ख्याल नहीं था। हम दोनों स्टेशनकी ओर मुड़े। मेरे सुपरिचित पोखरे रानी-सागरके दक्खिनी भीटेपर हिन्दी मिडिल और प्राइमरी स्कूल मिले। छुट्टी थी, इसलिए वहाँ सुनसान था।

फिर हम तालाबके उत्तरी भीटेकी ओर गये। महावीरजीका वही मन्दिर अब भी वहाँ मौजूद था, और साथ ही महावीरजीकी सेना-बानरोंकी संख्या कम नहीं थी। वह कुआँ भी मौजूद था, और उसका जल आज भी उसी तरह बदबू दे रहा था, जैसा बालपनमें वह हर साल एक महीनेकेलिए हो जाया करता था। वहाँ मौजूद दोनों साधुओंसे कुछ पूछ-ताछ शुरू की। गेरुआधारी फक्कड़बाबा (बलदेवदास) मेरी ओर खास तौरसे देखने लगे और दो-चार ही बातें कर पाया हूँगा, कि उन्होंने झट पूछ दिया—आप राहुलजी तो नहीं हैं। फक्कड़ बाबा भी उस वक्त रानीकी-सरायके स्कूलमें पढ़ते थे, किंतु मैं दो दर्जा नीचे पढ़ता था। अब अपने परिचितोंका पता पाना आसान था, लेकिन मेरे अधिकांश परिचित जीवन-लीला खतम कर चुके थे। महावीरजीके मन्दिरके पास बरगदकी जड़में एक खंडित मूर्ति रक्खी थी—गुप्तकालीन मूर्ति छिपी नहीं रह सकती।

फक्कड़बाबाके साथ अब हम उस स्थानपर आये, जहाँ किसी वक्त हमारा पुराना मदरसा था। बीचमें सारा (दालान) तीन तरफ बरामदा, एक तरफ दो कोठरियों—मदरसेका वह नकशा अब भी मेरे स्मृति-पटपर अंकित है। हर सालमें होनेवाली सफेदीसे उज्ज्वल उसकी भीतें अभी भी मुझे दिखलाई पड़ती हैं। चारों ओरकी चहारदीवारीसे घिरे हातेमें लगे गेंदेके फूलोंकी सुगन्ध मानो अब भी मेरी नाकमें

आ रही थी। लेकिन मैंने उस स्थानको जिस स्थितिमें देखा, उससे चित्त खिन्न हो गया। अब वहाँ उस मदरसेका कोई चिह्न नहीं रह गया था। वहाँ थे अड्डूसे और कुछ दूसरे कटीले पौधे। लोग इस स्थानको खुले पाखानेके तौरपर इस्तेमाल करते थे। हाँ, हमारी परिचित इमलियोंमें एकाध अभी भी मौजूद थीं।

बाजारमें द्वारिकाप्रसाद, रामनिरंजन पंडित और कुछ और मित्र मिले। उनका स्नेह-भरा स्वागत प्राप्त हुआ।

रानीकीसरायसे पन्दहा मील भरसे ज्यादा दूर नहीं है। धूपमें हम जाना नहीं चाहते थे, किन्तु हमारे आनेकी खबर पन्दहा पहिले ही पहुँच चुकी थी। रामदीन मामाके पुत्र कैलाश प्रस्थान करनेसे पूर्व ही आ भी गये।

मदरसा आनेके हमारे दो रास्ते थे, जिन्हें मैं बचपनकी सुनी कहानीके छ महीने और बरस दिनके रास्तेसे तुलना किया करता था; यद्यपि दोनोंमें कौन छ महीने और कौन बरस दिनका था, इसका निर्णय मैं कभी नहीं कर पाया। मेरेलिए दोनों कठिन रास्ते थे। एकपर एक ठूँठा पीपल था और ठुँठआ बाबाका प्रताप इतना जगा था, कि फल और तरकारी बेचनेवाले स्त्री-पुरुष भी वहाँ विना कुछ चढाये आगे नहीं बढ़ते थे। दूसरे रास्तेपर, बस्तीसे दूर नीमके पेड़ोंसे ढँका बालदत्त रायका पोखरा था; जिससे दोपहरके वक्त भी सही-सलामत पार हो जाना मुश्किल था—वहाँ एक नहीं, हजारों भूत जेठकी दुपहरीमें नाचा करते थे। इन दोनों स्थानोंके बाबों-के चरणोंमें नानीको गिड़गिड़ाकर नातीकेलिए दुआ माँगते देख मुझे विश्वास हो गया था, कि ये स्थान भारी खतरेसे भरे हुए हैं। मैं उर्दूका विद्यार्थी था, मगर बाबोंका डर इतना भारी था कि "भूत पिशाच निकट नहिं आवे। महावीर जब नाम सुनावे" की महिमा सुनकर मैंने सारा हनुमान-चालीसा याद कर डाला था।

हम बालदत्तके पोखरेके रास्तेसे गये। पासकी परती और जंगल अब खेत बन गये थे। वर्षोंसे भूतोंने पोखरेपर नृत्य-महोत्सव रचाना बन्द कर दिया—लोगोंके दिलसे उनका डर जाता रहा। ठुँठवा बाबाकी हालत तो और भी खराब थी। कच्ची सड़कके किनारे एक पतली डाली और चन्द पत्तियोंवाले उस लम्बे पीपलको दूर तक वृक्ष-वनस्पति-विहीन प्रान्तरमें खड़े देखकर रातको किसी भी अकेले बटोहीके दिलमें भयका संचार होना लाजिमी था। लेकिन वर्षों हो गये, कच्ची सड़क पक्की हो गई, उसके किनारे ऊँचे वृक्षोंकी पाँत खड़ी हो गई और पीपल उस वृक्ष-पंक्तिमें गुम हो गया, जिससे ठुँठवा बाबाके प्रभावको भारी धक्का लगा। और अब तो वह वृक्ष भी कट चुका है। ठुँठवा बाबा नई पीढीकेलिए अपने अस्तित्वको खो चुके हैं।

तो मैं बहुत डर-डरकर चल पाता था। पन्दहा गाँवके लड़कोंकेलिए रानीकी सराय एक सभ्रान्त नगरी थी। यहाँकी हर एक बातसे रोब टपकता था। जब रानीकीसरायके लड़के पकड़ना कहते, तब मैं समझता कि धरना नहीं पकड़ना ही नागरिक शब्द है। जब रानीकीसरायके पुरुषोंको धोतीका एक भाग आधी जाँघ तक सीमित रख, दूसरेको घुट्ठी तक छोड़ते देखता, तो मुझे मालूम होता, यह है नागरिक वेश। आगे चलकर रानीकीसरायकी नागरिकताका वह रोब नहीं रहा, तो भी रानीकीसरायके मदरसेके छ सालोंका मेरे निर्माणमें भारी भाग है।

सड़कसे चलते एक बार मैं बस्तीके आरपार हो गया, लेकिन किसी चेहरेको पहचान न सका। एक व्यक्ति कुछ देर खड़े होकर मेरी ओर देख रहे थे, किन्तु रामनिरंजन पंडित रानीकीसरायमें होंगे, इसका मुझे ख्याल नहीं था। हम दोनों स्टेशनकी ओर मुड़े। मेरे सुपरिचित पोखरे रानी-सागरके दक्खिनी भीटेपर हिन्दी मिडिल और प्राइमरी स्कूल मिले। छुट्टी थी, इसलिए वहाँ सुन-सान था।

फिर हम तालाबके उत्तरी भीटेकी ओर गये। महावीरजीका वही मन्दिर अब भी वहाँ मौजूद था, और साथ ही महावीरजीकी सेना-वानरोंकी संख्या कम नहीं थी। वह कुआँ भी मौजूद था, और उसका जल आज भी उसी तरह बदबू दे रहा था, जैसा बालपनमें वह हर साल एक महीनेकेलिए हो जाया करता था। वहाँ मौजूद दोनों साधुओंसे कुछ पूछ-ताछ शुरू की। गेरुआधारी फक्कड़बाबा (बलदेवदास) मेरी ओर खास तौरसे देखने लगे और दो-चार ही बातें कर पाया हूँगा, कि उन्होंने झट पूछ दिया—आप राहुलजी तो नहीं हैं। फक्कड़ बाबा भी उस वक्त रानीकी-सरायके स्कूलमें पढ़ते थे, किंतु मैं दो दर्जा नीचे पढ़ता था। अब अपने परि-चितोंका पता पाना आसान था, लेकिन मेरे अधिकांश परिचित जीवन-दीप भर चुके थे। महावीरजीके मन्दिरके पास बरगदकी जड़में एक खंडित मूर्ति रक्खी थी—गुप्तकालीन मूर्ति छिपी नहीं रह सकती।

फक्कड़बाबाके साथ अब हम उस स्थानपर आये, जहाँ किसी वक्त हमारा पुराना मदरसा था। बीचमें दाला (दालान) तीन तरफ बराण्डा, एक तरफ दो कोठरियाँ—मदरसेका वह नक्शा अब भी मेरे स्मृति-पटपर अंकित है। हर जाड़ेमें होनेवाली सफ़ेदीसे उज्वल उसकी भीतें अभी भी मुझे दिखलाई पड़ती हैं। चारों ओरकी चहारदीवारीमें घिरे हातेमें लगे गेंदेके फूलोंकी सुगन्ध मानो अब भी मेरी नाकमें

आ रही थी। लेकिन मैंने उस स्थानको जिस स्थितिमें देखा, उससे चित्त खिन्न हो गया। अब वहाँ उस मदरसेका कोई चिह्न नहीं रह गया था। वहाँ थे अडूसे और कुछ दूसरे कटीले पौधे। लोग इस स्थानको खुले पाखानेके तौरपर इस्तेमाल करते थे। हाँ, हमारी परिचित इमलियोंमें एकाध अभी भी मौजूद थी।

बाजारमें द्वारिकाप्रसाद, रामनिरंजन पंडित और कुछ और मित्र मिले। उनका स्नेह-भरा स्वागत प्राप्त हुआ।

रानीकीसरायसे पन्दहा मील भरसे ज्यादा दूर नहीं है। धूपमें हम जाना नहीं चाहते थे, किन्तु हमारे आनेकी खबर पन्दहा पहिले ही पहुँच चुकी थी। रामदीन मामाके पुत्र कैलाश प्रस्थान करनेसे पूर्व ही आ भी गये।

मदरसा आनेके हमारे दो रास्ते थे, जिन्हें मैं बचपनकी सुनी कहानीके छ महीने और बरस दिनके रास्तेसे तुलना किया करता था; यद्यपि दोनोंमें कौन छ महीने और कौन बरस दिनका था, इसका निर्णय मैं कभी नहीं कर पाया। मेरेलिए दोनों कठिन रास्ते थे। एकपर एक ठूंठा पीपल था और ठुंठवा बाबाका प्रताप इतना जगा था, कि फल और तरकारी बेचनेवाले स्त्री-पुरुष भी वहाँ बिना कुछ चढ़ाये आगे नहीं बढ़ते थे। दूसरे रास्तेपर, बस्तीसे दूर नीमके पेड़ोंसे ढँका बालदत्त रायका पोखरा था; जिससे दोपहरके वक्त भी सही-सलामत पार हो जाना मुश्किल था—वहाँ एक नहीं, हजारों भूत जेठकी दुपहरीमें नाचा करते थे। इन दोनों स्थानोंके बाबों-के चरणोंमें नानीको गिड़गिड़ाकर नातीकेलिए दुआ माँगते देख मुझे विश्वास हो गया था, कि ये स्थान भारी खतरेसे भरे हुए हैं। मैं उर्दूका विद्यार्थी था, मगर बाबोंका डर इतना भारी था कि "भूत पिशाच निकट नहिं आवे। महावीर जब नाम सुनावे" की महिमा सुनकर मैंने सारा हनुमान-चालीसा याद कर डाला था।

हम बालदत्तके पोखरेके रास्तेसे गये। पासकी परती और जंगल अब खेत बन गये थे। वर्षोंसे भूतोंने पोखरेपर नृत्य-महोत्सव रचाना बन्द कर दिया—लोगोंके दिलसे उनका डर जाता रहा। ठुंठवा बाबाकी हालत तो और भी खराब थी। कच्ची सड़कके किनारे एक पतली डाली और चन्द पत्तियोंवाले उस लम्बे पीपलको दूर तक वृक्ष-वनस्पति-विहीन प्रान्तरमें खड़े देखकर रातको किसी भी अकेले बटोहीके दिलमें भयका संचार होना लाजिमी था। लेकिन वर्षों हो गये, कच्ची सड़क पक्की हो गई, उसके किनारे ऊँचे वृक्षोंकी पाँत खड़ी हो गई और पीपल उस वृक्ष-पंक्तिमें गुम हो गया, जिससे ठुंठवा बाबाके प्रभावको भारी धक्का लगा। और अब तो वह वृक्ष भी कट चुका है। ठुंठवा बाबा नई पीढ़ीकेलिए अपने अस्तित्वको खो चुके हैं।

पन्दहामें घुसनेपर पहिले वृद्ध परिचित मिले सोहर नाना। अश्रु-गदगद कण्ठसे 'कुलवन्तीके पुत्र—केदार' कहना और फिर गलेसे लिपट जाना मेरे धैर्यपर जबरदस्त प्रहार करनेकेलिए काफ़ी था।

नेत्रोंको सूखा रखने और स्वरको ठीक करनेकेलिए भारी प्रयत्न करना पड़ा। मेरे सामनेसे शैशवके प्रियजनोंकी मूर्तियाँ पार होने लगीं। मेरे नाना तीन भाई थे। उनकी अपनी सन्तान एक मात्र मेरी माँ थी, किन्तु बाक़ी दो बड़े छोटे भाइयोंके पाँच और दो लड़के थे। सातों मामोंमें अब सिर्फ़ जवाहर मामा रह गये थे। मेरे शैशवमें वे कलकत्तामें पुलिसके सिपाही थे और जब एकाध महीनेकी छुट्टीपर आते, तो ताज़ी गिरीवाले नारियल लाते। अब वे पेंशन पाते थे और नेत्रोंसे वंचित थे। उनका चेहरा अपने पिताके तीनों भाइयों-जैसा था। विश्वामित्र, वशिष्ठ जैसी सफ़ेद दाढ़ी नहीं, बल्कि नानोंसे मिलनेवाले उस चेहरे और उनके रुद्ध-कंठस्वरने मेरे नेत्रोंको आखिर गीला करके ही छोड़ा। रानीकीसरायमें थोड़ीसी खिन्नता आई थी और मैं धैर्यकी परीक्षा पास कर गया था, किन्तु पन्दहाने मुझे पराजित कर दिया। कुलवन्तीके पुत्र, रामशरण पाठकके नाती केदारनाथको देखनेकेलिए गाँवके लोग आने लगे। मेरी तीनों मामियाँ—जो सभी विधवायें और पुत्र-पौत्रवाली थीं—अपने भानजेको देखने आईं। उस वक़्त उनके अश्रु-प्रक्षालित मुखोंको देखकर मुझे उस प्यारी मामी—रामदीन मामाकी पहिली स्त्री—की याद बारबार आती थी। उनका स्नेह मेरेलिए शैशवकी बहुमूल्य स्मृतियोंमेंसे है।

पन्दहाके गली-कूचों, उसके ताल-तलैयोंको तेरह बरस तक रातदिन देखता रहा, और उसके बाद भी तीन बरस तक मैं उनके सम्पर्कमें रहा। गाँवकी पुरानी चीज़ोंको देखने निकला। सबसे अचरजकी बात मुझे यह मालूम हो रही थी, कि पुराने कुओं, गड़हियों, तलैयोंके बीचके अन्तर घटकर सिर्फ़ एक तिहाई रह गये थे। क्या धरती सचमुच ही छोटी हो गई, अथवा उस दूरीके बड़ी होनेका कारण मेरा छोटा शरीर था? गाँवमें शायद ही कोई घर अपनी पुरानी दीवारपर था, दरवाजोंकी दिशा और आँगनोंके विस्तारमें भी परिवर्तन था। मैं वह आँगन और उसके बगलवाले घरको देखने गया, जिसमें मेरी माँने अपने ज्येष्ठ पुत्रको आजसे सत्तावन साल पहिले जन्म दिया था, मगर आज उस घरका पता नहीं। आँगन, कई घरों, बाहरके द्वार, कुल्हाड़ तथा बैठकेके घरोंकी जगह चहार-दीवारीसे घिरा एक खुला सहन था। हाँ, उस ओसारेका थोड़ा-सा भाग अब भी नई खपड़ैलसे ढँका था, जिसने मेरे अक्षरारम्भका काम दिया था। नानाका

कुंआ अब भी मौजूद था, और यह सुनकर प्रसन्नता हुई कि अब भी उसका पानी वैसा ही मीठा है।

बड़ी रात तक गाँव के वृद्ध और तरुण बातें पूछते रहे। चौंतीस बरसपर लौटे रामशरण पाठकके नाती अथवा हिन्दीके लेखक राहुल सांकृत्यायनकी खबर पाकर आसपासके गाँवके लोग भी आते रहे।

१४ अप्रैलको मुझे पन्दहाके और स्मरणीय स्थानों और देवताओंको देखनेका मौक़ा मिला। मुँह-हाथ धोनेकेलिए हम गाँवसे उत्तरकी ओर गये। देखा, बनवारी माईके पासकी झाड़ी साफ़ हो चुकी है और उसपर जवाहर मामाके लगाये महुए खड़े हैं। बनवारी माईके स्थानको देखनेसे मालूम होता था कि सालमें भूल-भटक-कर ही अब कोई पूजा-कड़ाही चढ़ाता है। वहाँ एक खंडित मूर्ति रहा करती थी। लोगोंने बतलाया, कुछ समय पहिले माई अन्तर्धान हो गई। गाँवोंके इन पुराने देवस्थानोंमें कितनी ही बार खंडित किन्तु कलापूर्ण प्राचीन मूर्तियाँ देखी जाती हैं, बनवारी माईकी मूर्ति भी कोई इसी तरहकी मूर्ति रही होगी और उसे किसी कला या पैसेके प्रेमीने अन्तर्धान करा दिया होगा, इसमें सन्देह नहीं।

रातको रामनवमी थी, मगर बचपनमें 'रामनवमी'से ज्यादा उसका दूसरा नाम—बड़का बसियौड़ा—मुझे सुननेमें आता था। आज शायद पन्दहा छोड़नेके बाद पहिली ही बार मुझे 'बसियौड़ा' नाम सुननेको मिला। मेरी मामी (कैलाशकी माँ) खास तौरसे जलपान बनाने जा रही थीं, लेकिन 'बसियौड़ा'का नाम सुनकर दूसरे भोजनको मैं क्यों पसन्द करने लगा? साबित उड़दकी दाल (बिना हल्दीकी), तेलकी बेढ़हिन (दाल भरा परौठा), गुलगुला और लाल भात बालपनके परिचित खाद्य थे; आज भी उसे खानेमें बड़ा आनन्द आ रहा था। दिन भर गाँव और आसपासके गाँवोंके लोग आते रहे, जिसमें रानीकीसरायके सहपाठी जगेसर (झिनमिट) और बाँकीपुरके बाबू सरयूसिंह भी थे। मैंने सरयू बाबूको सोलह-सत्रह वर्षकी अवस्थामें देखा था। अब उनके केश सफ़ेद हो चुके थे, वह कई पौत्रोंके बाबा थे।

शामके वक्त गाँव और उसके टोलोंकी फिर खाक छानी। देवताओंका महत्व अवश्य इन चौंतीस वर्षोंमें कम हो गया है। जिस महामाईके स्थानपर नव-दम्पतीका पूजाकेलिए जाना अनिवार्य था, आज उसके आसपास तक पाखानेका क्षेत्र बन चुका है और वृक्षकी जड़में पाँच-सात सिन्दूरके दाग़ मालूम होता था, सतयुगके लगे हुए हैं। पहिले व्याह, पुत्र-जन्मादि समयोंपर गिन-गिनकर ग्राम-देवताओंको छौने (सुअरके बच्चे) चढ़ाये जाते थे। हमारे ममेरे भाइयों—दीपचन्द और कैलाश—

ने हिसाब लगाया, तो मालूम हुआ कि एक दर्जनसे ऊपर छौने उनके घरके नाम बाकी पड़े हुए हैं। हनुमतवीर और अनारवीरसे लोग वैसे ही ढीठ हो गये हैं, जैसे अपने आजके बड़े-बूढ़ोंसे। लेकिन जवाहर मामा कह रहे थे—मैं अपनी जिन्दगीभर निबाहे जा रहा हूँ। उन्होंने यह भी सुनाया कि कैसे अपने सेवकोंकी उपेक्षासे क्रुद्ध हो अनारवीर बाबाने कुछ ही साल पहिले गाड़ीमें जुते बैलोंको पीछेसे दबाकर टाँग दिया, बैलोंको फाँसी-सी लगने लगी। खैर, किसी तरह रस्सी काटकर उनकी जान बचाई गई। आश्चर्य तो यह है कि यह सब देखकर भी नई पीढ़ी देवताओंका आदर-पूजन करनेकेलिए तैयार नहीं।

पन्दहाकी सीमापर बसई एक छोटीसी बस्ती है। बादशाही जमानेमें यहाँके सैयद-लोगोंका वैभव-सूर्य बहुत चढ़ा हुआ था। वे सीधे लखनऊ अपनी मालगुजारी भेजा करते थे। आज उनके घरोंका पता नहीं। कई सैयद लड़के मेरे साथ रानीकी-सराय पढ़ने जाया करते थे। कितनी ही बार उनके साथ मैं उनके घरोंमें गया था। ईंटोंके गिरे-पड़े घर थे, तब भी उनमेंसे कितने खड़े थे। उनके आँगनोंमें चारपाईपर बैठी वैभवशाली वंशकी संतानें—सैयदानियाँ—मेरा भी उसी तरह स्नेहपूर्वक स्वागत करती थीं; जिस तरह अपने लड़कोंका। आज उनके वंशका कोई बसईमें बच नहीं रहा था। घरोंकी ईंटें तक दिखलाई नहीं पड़ रही थीं। पिछवाड़ेके उन अनारों और शरीफोंका भी कोई पता नहीं, जो बचपनमें मेरेलिए खास आकर्षण रखते थे। पुराने सैयदोंकी ईंट-चूनेकी क़ब्रोंपर श्रद्धाकी दृष्टि डालते हुए, हम कोइरी लोगोंके घरकी ओर गये। अब साग-भाजीके न उतने खेत हैं, न उतने घर। मेरे बाल-सहपाठी हीराके घरमें कोई नहीं रह गया। बसईमें कितने ही घर जुलाहोंके हैं, लेकिन कपड़ा बुननेकी जगह वे सनकी सुतरी बट रहे थे—कितने ही कपड़ा बुनना भी भूल गये।

लौटते वक्त मेरे बाल-सहपाठी राजदेव पाठक मिले। उनके सारे केश सन जैसे सफ़ेद थे। उन्होंने बालकोंके खेल—चिक्की डाँड़ी—का निमन्त्रण दिया। एक बार मनमें आया—काश, हम फिर बारह-तेरह सालके हो जाते। लेकिन तब आगेकी दोनों पीढ़ियाँ कहाँ होतीं? सतमीके घरका भी कोई चिह्न नहीं रहा। सतमीके चार बच्चे किस तरह मलेरियामें गल-गलकर दरिद्रताकी भेंट चढ़े, यह मैं अपनी एक कहानीमें लिख चुका हूँ। सतमीका सबसे छोटा लड़का गन्नू अब भी वहीं जिन्दा है।

पन्दहा जानेसे पहिले बहुत थोड़े ही नाम और सूरतें मुझे परिचितसी मालूम

होती थीं, लेकिन वहांकी नई-पुरानी मूर्तियों, भूमि और वातावरणमें घूमते, साँस लेते ही स्मृतियाँ फिर जागृत होने लगी, और सत्रह-अट्ठारह वर्षसे ऊपरकी उम्रके जिन्हें मैं देख चुका था, उन्हें पहचाननेमें दिक़्क़त नहीं हुई।

१६ अप्रैलको हम निज़ामाबाद गये। यहीके स्कूलसे मैंने १९०९में उर्दू-मिडिल पास किया था। पुराने मिडिल-स्कूलकी जगह नया, उसी नींवपर उसी शकलकी अपर प्राइमरी स्कूलकी इमारत है। मिडिल-स्कूल आजकल क़स्बेसे पश्चिम चला गया है। दोनों ही स्कूलोंके अध्यापकोंमें मेरा कोई परिचित नहीं निकला। टौंसका घाट और उसके पासके छोटे शिवालय और नानकशाही संगतमें कोई परिवर्तन नहीं मालूम हुआ। हाँ, घाटपर भी एक-दो पानकी दूकानें नई चीज थी। पता लग गया था कि मेरे पुराने अध्यापक पंडित सीताराम श्रोत्रिय अपने घरपर ही हैं। उनका घर क़स्बेके भीतरकी संगतके पास है। यह संगत भी पहिली अवस्थामें है। हाँ, एक यह फर्क़ जरूर मालूम पड़ता है कि बाहरी छतके भीतर भी कदम रखते ही लोगोंका सिर जबरदस्ती ढँकवाया जाता है। पंडित सीताराम श्रोत्रिय 'हरिऔध'जीके शिष्य थे, स्कूल और साहित्य दोनोंमे। मुझे देखकर वे प्रसन्न हुए। नागार्जुनजीने अपनी कविता—जातिगौरव गंगदत्त—सुनाई, इसके बाद श्रोत्रियजीने भी अपनी कुछ कवितायें सुनाईं।

निज़ामाबादमें हम उन कुम्हारोंके घरोंमें भी गये, जो खिलजी-शासनके ज़मानेमें देवगिरिसे आकर यहाँ बस गये थे। उनके बनाये मिट्टीके बर्तन दुनियामें प्रसिद्ध हैं। स्थानीय कुम्हारोंसे इनका नाता-रिश्ता है, मगर वे अपनी कलाको दूसरे कुम्हार-कुलमें स्थान नहीं देना चाहते, इसीलिए अपनी लड़कियों तकको अपनी कला नहीं सिखलाते। लड़ाईसे पहिले उनके बनाये लाखों रुपयोंके बर्तन—चायका सेट, गुलदस्ता आदि—देश-विदेश जाया करते थे, किन्तु आज अवस्था अच्छी नहीं है। अब इन मिनकारी वाले कुम्हार घरोंकी संख्या एक दर्जनसे ज्यादा नही रह गई है।

लौटते वक़्त पन्दहाके सीवानेपरके उन खेतोंको भी हमने देखा, जहाँ चन्द साल पहिले घोड़रोज (नीलगाय)के शिकारकेलिए हिन्दू-मुसलमानोंमें देवासुर-संग्राम छिड़ गया था। संग्रामके बाद अब शान्ति है। हिन्दू हाय-हाय कर रहे थे—दस पाँच साल पहिले जहाँ दो ही चार घोड़रोज देखे जाते थे, वहाँ आज उनकी संख्या पचासों तक पहुँच गई है और वह खेतीको भारी नुकसान पहुँचा रहे हैं। मैंने कहा —घोड़रोज बकरी और हिरनकी जातिके होते है, इनके कान, आँख, पूछ वैसी ही होती है, वैसे ही लेड़ी करते हैं। उन्होंने मुझे यह भी सूचित किया कि बकरियोंकी

तरह वे एकसे ज्यादा बच्चे देते हैं। इतना होनेपर भी लोग इन्हें गाय बनाकर इनके लिए धर्म-युद्ध करनेकेलिए तैयार हैं!

× × ×

१३ अप्रैलको ही, जब कि मैं रानीकीसराय पहुँचा था, किसीने मेरे पितृग्राम कनैला-में खबर दे दी। आजमगढ़केलिए मेरे पास सिर्फ सात दिन थे और इतने कम समयमें कनैलाको मैं अपने प्रोग्राममें नहीं रखना चाहता था। मेरे ममेरे भाइयों—दीपचन्द और कैलाश—ने बारबार कनैला सूचना देनेका आग्रह किया, लेकिन मेरे अस्वीकार करनेपर वे चुप रह गये। दूसरे दिन—१४ अप्रैल—दोपहरको देखा, मेरे छोटे भाई श्यामलाल साइकिलपर पन्दहा पहुँच गये। मुझे कुछ आश्चर्य हुआ—किसने खबर दी? जान पड़ता है चौंतीस सालके बाद लौटे आदमीकी खबर लोगोंकेलिए भारी आकर्षण रखती है; इसीलिए मेरे आनेकी खबर रानीकीसरायके साधारण आदमियोंमें फैल गई। रानीकीसरायमें कनैलाके चुड़िहारेकी रिश्तेदारी थी। वहींसे कोई आदमी कनैला गया और उसी दिन मेरे आने की सूचना दस मील दूर पहुँच गई। भाईने अपनी घर और गाँवकी ओरसे चलनेकेलिए बहुत जोर दिया, मगर मैंने उसे अगली यात्राकेलिए रख छोड़नेकी बात कहकर इन्कार कर दिया। श्यामलाल उसी दिन लौट गये।

१६की शामको दिन रहते ही कनैलाके लोगोंकी टोलियाँ आने लगीं। पाँच-छ करके वे दस बजे रात तक आते रहे। उनकी संख्या तीससे अधिक पहुँच गई, और उनमें कई जातियोंके प्रतिनिधि थे। गाँवके बूढ़े चचा रघुनाथ और दादा (आजा) गुरुदेव पांडेको भी दस-ग्यारह मीलकी मंजिल मारकर आया देख मेरा निश्चय कुछ विचलित होने लगा। कनैलाके सबसे ज्यादा धानेमें असमर्थ रामदत्त चचा थे, मगर वे मुझे देखनेकेलिए कितने उत्सुक थे, इसकी खबर एकाध बार पहिले भी मिल चुकी थी। अपने बहुतसे बूढ़ोंके दर्शनसे मैं वंचित हो चुका था। मेरे संस्कृतके प्रथम गुरु तथा फूफा महादेव पंडित (बछवल)ने कई बार देखनेका सन्देश भेजा था, मगर मैं नहीं आ सका और दो-तीन साल पहिले उनका देहान्त हो चुका। मेरे जन्मके समयके सम्मिलित परिवारकी दादी सिर्फ ग्यारह दिन पहिले मरी थी और उस दिन मेरे वंशज उनका श्राद्ध करके आये थे। मैं कुछ और बूढ़ोंके दर्शनसे अपनेको वंचित नहीं करना चाहता था, इसलिए हमारे गाँवके नाती तथा मेरे समवयस्क चौधरी बाबा रघुनाथने जब कनैला चलनेको कहा, तो मैंने स्वीकृत दे दी।

गर्मीके दोपहरको यात्रामें पड़ना सौभाग्यकी बात नहीं, अतएव हमने

भिनसारे ही चलना तय किया था। सबेरे हाथीके कसकर आनेमें कुछ देर होने लगी, तो हम पैदल ही चल पड़े। हाथीने डेढ मील बढ़ जानेपर हमें पकड़ पाया। पहिले रघुनाथ बाबाके साथ मैं और नागार्जुन भी हाथीपर बैठे, मगर हम दोनो ही ऐसे 'हलके' शरीरके थे, नागार्जुनजीको यह समझते देर नही लगी कि हाथीपर चलनेकी अपेक्षा पैदल चलना उनकेलिए कही आरामका रहेगा। उस दिन दोपहर तक आकाशमें मेघ छाये थे। रघुनाथ बाबा मेरे पुण्य-प्रतापकी दुहाई दे रहे थे। कनैलासे दो मील पहिले डीहा पहुँचनेपर बूँदें ज्यादा पड़ने लगीं, लेकिन वहाँ हमें मुँह-हाथ धोना और जल-पान करना भी था।

डीहाके अपर प्राइमरी स्कूलमें आज (१७ अप्रैल) छुट्टी थी, इसीलिए वहाँके प्रधानाध्यापक मेरे सहपाठी पंडित श्यामनारायण पाण्डेय मौजूद न थे। पिछले सालोंमें शिक्षाका अधिक प्रचार हुआ है, यह जगह-जगह नये क़ायम हुए मिडिल तथा दूसरी तरहके स्कूलोंसे पता चलता था। रानीकीसरायमें जब मैं पढ़ने गया था, तब वहाँ एक छोटासा लोअर प्राइमरी स्कूल था, लेकिन अब वहाँ मिडिल स्कूल था। डीहामें मदरसा पहिले भी था, मगर अब तीन अध्यापक पढाते थे। मै तो बराबर नानाके साथ पन्दहामें रहता था, इसीलिए मेरी पढ़ाई-लिखाई रानीकीसराय और निजामाबादमें ही हुई। मगर कनैलाके लड़कोंको डीहाका स्कूल ही नजदीक पड़ता था। अब तो कनैलामें भी अपर प्राइमरी स्कूल हो गया था। कनैला से दो ही ढाई मील दूरपर धर-वारामें मिडिल स्कूल था। तीस-बत्तीस साल पहिले मिडिल पास लड़के विरले ही मिलते थे, किन्तु अब वे हर गाँवमें और अधिक संख्यामें मिलते थे। पन्दहामें कुवेर नानाके लडकेको मैट्रिक तक पढकर खेतीमें जुटा देख मुझे कुछ सन्तोष ज़रूर हुआ, मगर खेतीके काममें विद्याका उपयोग न हो तो सारी पढ़ाई व्यर्थ है। शिक्षित व्यक्ति साइन्सके किसी तरीक़ेको खेतीमें बरतते नहीं देखे जाते। गाँवमें शिक्षाके प्रचारका अगर कोई ज्यादा असर हुआ, तो यही कि मुकदमेबाजी बढ गई थी। जमीन-जायदादकेलिए जाल-फ़रेब ज्यादा होने लगा था। इससे विद्याका यश उज्वल नहीं हुआ।

कनैला गाँवके पश्चिमकी कुटीका—जहाँ प्राइमरी स्कूल है—पुराना मकान गिर चुका था और वहाँ कई घर तथा बड़े-बड़े वृक्ष दीख पड़े। लम्बे वर्षोंको वृक्षोंके जरिये आसानीसे नापा जा सकता है।

अभी गाँवके हम बाहर ही थे कि लड़कोंकी पलटन अपने जन्मजात नेताओंके साथ हमारा स्वागत करनेकेलिए पहुँच गई—इसे स्वागत करना और तमाशा

बुद्धने उत्तर दिया—"बन्धुओंकी छाया शीतल होती है, यह शाक्योंकी भूमिका बरगद है।"

भोजन तैयार था। श्यामलाल हम दोनोंको खाना खिलाने अपने घरमें ले गये। सत्ताईस साल पहिलेवाले घरके सामने यह महल-सा लगता था। उसके जैसे तीन आँगन इसके भीतरी आँगनमें ही समा जाते। आँगन पूरब-पश्चिम लम्बा है, जिससे सूरजकी धूप काफ़ी देर तक मिलती रहती है। नावदानको दक्षिण तरफ़ खोलते देख गाँवके बड़े-बूढ़ोंने भय प्रकट किया था, किन्तु उसके लायक़ जमीन उसी ओर थी। श्यामलालने साहस दिखलाया और नावदानको उधर ही खोल दिया। यह देखकर प्रसन्नता हुई कि मेरे सहोदर भी रूढ़िपर प्रहार करनेकी कुछ हिम्मत रखते हैं।

भोजन समाप्त हुआ। हम उठना चाहते थे कि कपड़ेसे ढँकी एक मूर्तिने मेरे पैरोंपर गिरकर रोना आरम्भ करना चाहा। मैं तुरन्त चलनेको उठ खड़ा हुआ। खैर, रोना वहीं रुक गया। रोनेवाली कौन थी, कह नहीं सकता; न मुझे बतलाया गया। मेरे नामसे शैशवमें घरवालोंने जो ब्याह किया था, उसे तो घरके साथ ही तीन दशाब्दियों पहिले ही मैं छोड़ चुका था। आँगनमें काफ़ी स्त्रियाँ जमा थी, जिनमें यमुना भाजीको छोड़कर मैं किसीको भी न पहचानता था।

आसपासके गाँवोंमें भी खबर पहुँच गई थी और तीन बजे तक कितने ही लोग वहाँ जमा हो गये। जमावड़ेने सभाका रूप लिया और मुझे कुछ बोलनेकेलिए कहा गया। मैंने गाँवकी समृद्धिपर हर्ष प्रकट किया और आजकी परिस्थितिमें अन्न, वस्त्र तथा रक्षाका प्रबन्ध करनेकेलिए कहा।

आज रातको मुझे संस्कृतके प्रथम गुरु फूफाके घर बछवल रहना था। मेरे बालमित्र यागेश दत्त पन्दहा पहुँचे थे। उनके आग्रहको ठुकरा नहीं सकता था। भरौलि दोनो टोलोंको देखकर मैं आगे बढ़ा, तब नागार्जुनजीने डीहके स्थानको देखकर खबर दी कि वहाँ कुछ टूटी-फूटी मूर्तियाँ हैं। बचपनमें मैंने भी इन मूर्तियोंको देखा होगा, मगर उस वक़्त उनकी ओर ध्यान दौड़ानेकेलिए मेरे पास कान नहीं थे। वहाँ जाकर देखा, तो तान्त्रिक बौद्ध-धर्म (वैज्रयान)के एक घोर देवता (वज्रभैरव)की छोटी-सी, किन्तु सुन्दर मूर्तिके दो खंड पड़े थे—आगकी ज्वालाओं तरह लहराती केश-शिखाओं और गोल-गोल आँखोंवाला मुण्ड एक ओर पड़ा था और कटिसे नीचे दोनों पैर दूसरी ओर। नव-दस सौ वर्ष पहिले कनैलामें भी उन देवताओंकी पूजा होती थी, जिन्हें तिब्बतके अनेक मन्दिरोंमें मैंने देखा है। आज कनैला-वालों—विशेषकर वहाँके पुराने निवासियों राजभरों—को यह पता नहीं, कि उनके

पूर्वज हजार वर्ष पहिले उन देवताओंको पूजते थे, जो हिमालयके उस पार अब भी जीवित हैं। कनैलाके पुराने खेतोंके नीचे पुरानी आबादीके ध्वंस छिपे हुए हैं। ईसवी सन्की प्रथम शताब्दीकी ईंटें वहाँ मिलती हैं। जान पड़ता है, खिलजी-शासन-कालमें यहाँ कोई राज्याधिकारी रहता था, जिसके कोटका एक भाग अब भी डीह बाबाके पास मौजूद है। शायद उसी समय ये देवता क़तल किये गये थे।

सत्ताईस बरस पहिले भर लोग सुअर पाला करते थे, मगर अब सारे जिलेमें और आसपासके दूसरे जिलोंमे भी उन्होंने सुअर पालना बिलकुल छोड़ दिया है। इससे समाजमें उनका स्थान पहिलेसे कुछ ऊँचा हुआ है, इसका तो मुझे पता नहीं, हाँ, जीविकाके एक साधनसे वे वंचित जरूर हो गये। सुअरी एक-एक बारमें बीस-बीस बच्चे देती है और सालमें तीन बार। पुष्ट भोजन और पैसेकी आमदनीका यह एक अच्छा जरिया था। सबसे ज्यादा दिक़्क़त तो गाँवके देवताओंको पड़ रही है। वर्षोंसे उन्होंने छौनोंकी एक फट्ठी भी दाँत-तले दबानेकेलिए नहीं पाई है।

बछवल कनैलासे दो-ढाई मीलसे ज्यादा दूर नहीं है। बीचमें मंगई (मार्गवती) नामकी छोटी नदी पड़ती है। गर्मीमें वह ज्यादातर सूख जाती है, इसलिए लोग जगह-जगह बाँध बाँधकर पानीको रोक लेते हैं। इससे तो उसका नाम पोखरई होना ज्यादा सार्थक था। मंगई सीधे गंगामें गिरती है। बरसातमें इसमे इतना पानी रहता है कि छोटी-मोटी नावें सिसवा (शिशपा) ग्राम और उसके आगे तक चली जाती होंगी। उस कालमें नदियाँ ही अधिकतर व्यापार-मार्गका काम करती थीं।

हम लोग सिसवामें बँधे बाँधपरसे मंगई पार हुए। यहींसे कनैलाकी बाक़ी जन-मंडली पीछे लौटी। नदी पार सिसवा या शिशपा ग्रामका मीलों तक फैला ध्वंसावशेष है। हर जगह पाई जानेवाली ईंटें बतलाती हैं, कि शिशपा ग्राम एक समृद्ध बस्ती रही होगी। शिशपा ग्राम नामका कोई निगम काशी जनपदमें था, इसका पुस्तकोंमें तो पता नहीं, लेकिन ईंटें और विस्तृत ध्वंसावशेषकी गवाहीसे इन्कार नहीं किया जा सकता। आजकलके ग्रामीण पंडित सिसवाको शिशुपालकी राजधानी बतलाते हैं। शिशुपाल चेदि (पूर्वी बुन्देलखंड)का राजा था, इस समस्याको हल करनेकी तकलीफ वे क्यों करने लगे? बल्कि उन्होंने सिन्धुराज 'जयद्रथ'की भी एक जगह ढूँढ निकाली है। जयद्रथके स्थानपर पाँच-छ बड़ी-बड़ी खंडित मूर्तियाँ हैं, इसका पता मुझे बादमें लगा और मैं उन्हें देख नहीं सका। हाँ, यागेशने सिसवामें मिले मुझे दो ताँबेके पैसे दिये। अक्षर घिस गये थे, लेकिन एक ओरकी शक्ल किसी शक राजाकी मालूम होती थी। दूसरे दिन आजमगढ़ पहुँचनेपर मालूम हुआ, कि दोनों

बुद्धने उत्तर दिया—"बन्धुओंकी छाया शीतल होती है, यह शाक्योंकी भूमिका बरगद है।"

भोजन तैयार था। श्यामलाल हम दोनोंको खाना खिलाने अपने घरमें ले गये। सत्ताईस साल पहिलेवाले घरके सामने यह महल-सा लगता था। उसके जैसे तीन आँगन इसके भीतरी आँगनमें ही समा जाते। आँगन पूरब-पच्छिम लम्बा है, जिससे सूरजकी धूप काफ़ी देर तक मिलती रहती है। नावदानको दक्षिण तरफ़ खोलते देख गाँवके बड़े-बूढ़ोंने भय प्रकट किया था, किन्तु उसके लायक़ जमीन उसी ओर थी। श्यामलालने साहस दिखलाया और नावदानको उधर ही खोल दिया। यह देखकर प्रसन्नता हुई कि मेरे सहोदर भी रूढ़िपर प्रहार करनेकी कुछ हिम्मत रखते हैं।

भोजन समाप्त हुआ। हम उठना चाहते थे कि कपड़ेमें ढँकी एक मूर्तिने मेरे पैरोंपर गिरकर रोना आरम्भ करना चाहा। मैं तुरन्त चलनेको उठ खड़ा हुआ। खैर, रोना वहीं रुक गया। रोनेवाली कौन थी, कह नहीं सकता; न मुझे बतलाया गया। मेरे नामसे शैशवमें घरवालोंने जो ब्याह किया था, उसे तो घरके साथ ही तीन दशाब्दियों पहिले ही मैं छोड़ चुका था। आँगनमें काफ़ी स्त्रियाँ जमा थीं, जिनमें यमुना आजीको छोड़कर मैं किसीको भी न पहचानता था।

आसपासके गाँवोंमें भी खबर पहुँच गई थी और तीन बजे तक कितने ही लोग वहाँ जमा हो गये। जमावड़ेने सभाका रूप लिया और मुझे कुछ बोलनेकेलिए कहा गया। मैंने गाँवकी समृद्धिपर हर्ष प्रकट किया और आजकी परिस्थितिमें अन्न, वस्त्र तथा रक्षाका प्रबन्ध करनेकेलिए कहा।

आज रातको मुझे संस्कृतके प्रथम गुरु फूफाके घर बछवल रहना था। मेरे बालमित्र यागेश दस पन्दहा पहुँचे थे। उनके आग्रहको ठुकरा नहीं सकता था। भरोंके दोनों टोलोंको देखकर मैं आगे बढ़ा, तब नागार्जुनजीने डीहके स्थानको देखकर खबर दी कि वहाँ कुछ टूटी-फूटी मूर्तियाँ हैं। बचपनमें मैंने भी इन मूर्तियोंको देखा होगा, मगर उस वक्त उनकी आप बीती सुननेकेलिए मेरे पास कान नहीं थे। वहाँ जाकर देखा, तो तान्त्रिक बौद्ध-धर्म (वैज्रयान)के एक घोर देवता (वज्रभैरव)की छोटी-सी, किन्तु सुन्दर मूर्तिके दो खंड पड़े थे—आगकी ज्वालाकी तरह लहराती केश-शिखाओं और गोल-गोल आँखोंवाला मुण्ड एक ओर पड़ा था और कटिसे नीचे दोनों पैर दूसरी ओर। नव-दस सौ वर्ष पहिले कनैलामें भी उन देवताओंकी पूजा होती थी, जिन्हें तिब्बतके अनेक मन्दिरोंमें मैंने देखा है। आज कनैला-वालों—विशेषकर वहाँके पुराने निवासियों राजभरों—को यह पता नहीं, कि उनके

पूर्वज हजार वर्ष पहिले उन देवताओंको पूजते थे, जो हिमालयके उस पार अब भी जीवित हैं। कनैलाके पुराने खेतोंके नीचे पुरानी आबादीके ध्वंस छिपे हुए हैं। ईसवी सन्‌की प्रथम शताब्दीकी ईंटें वहाँ मिलती हैं। जान पड़ता है, खिलजी-शासन-कालमें यहाँ कोई राज्याधिकारी रहता था, जिसके कोटका एक भाग अब भी डीह बाबाके पास मौजूद है। शायद उसी समय ये देवता कतल किये गये थे।

सत्ताईस बरस पहिले भर लोग सुअर पाला करते थे, मगर अब सारे जिलेमें और आसपासके दूसरे जिलोंमें भी उन्होंने सुअर पालना बिलकुल छोड़ दिया है। इससे समाजमें उनका स्थान पहिलेसे कुछ ऊँचा हुआ है, इसका तो मुझे पता नहीं, हाँ, जीविकाके एक साधनसे वे वंचित जरूर हो गये। सुअरी एक-एक बारमें बीस-बीस बच्चे देती है और सालमें तीन बार। पुष्ट भोजन और पैसेकी आमदनीका यह एक अच्छा जरिया था। सबसे ज्यादा दिक्कत तो गाँवके देवताओंको पड़ रही है। वर्षोंसे उन्होंने छौनोंकी एक फट्ठी भी दाँत-तले दबानेकेलिए नहीं पाई है।

बछवल कनैलासे दो-ढाई मीलसे ज्यादा दूर नहीं है। बीचमें मंगई (मार्गवती) नामकी छोटी नदी पड़ती है। गर्मीमें वह ज्यादातर सूख जाती है, इसलिए लोग जगह-जगह बाँध बाँधकर पानीको रोक लेते हैं। इससे तो उसका नाम पोखरई होना ज्यादा सार्थक था। मंगई सीधे गंगामें गिरती है। बरसातमें इसमें इतना पानी रहता है कि छोटी-मोटी नावें सिसवा (शिशपा) ग्राम और उसके आगे तक चली जाती होंगी। उस कालमें नदियाँ ही अधिकतर व्यापार-मार्गका काम करती थीं।

हम लोग सिसवामें बँधे बाँधपरसे मंगई पार हुए। यहींसे कनैलाकी बाकी जन-मंडली पीछे लौटी। नदी पार सिसवा या शिशपा ग्रामका मीलों तक फैला ध्वंसावशेष है। हर जगह पाई जानेवाली ईंटें बतलाती हैं, कि शिशपा ग्राम एक समृद्ध बस्ती रही होगी। शिशपा ग्राम नामका कोई निगम काशी जनपदमें था, इसका पुस्तकोंमें तो पता नहीं, लेकिन ईंटें और विस्तृत ध्वंसावशेषकी गवाहीसे इन्कार नहीं किया जा सकता। आजकलके ग्रामीण पंडित सिसवाको शिशुपालकी राजधानी बतलाते हैं। शिशुपाल चेदि (पूर्वी बुन्देलखंड)का राजा था, इस समस्याको हल करनेकी तकलीफ़ वे क्यों करने लगे? बल्कि उन्होंने सिन्धुराज 'जयद्रथ'की भी एक जगह ढूंढ़ निकाली है। जयद्रथके स्थानपर पाँच-छ बड़ी-बड़ी खंडित मूर्तियाँ हैं, इसका पता मुझे बादमें लगा और मैं उन्हें देख नहीं सका। हाँ, यागेशने सिसवामें मिले मुझे दो ताँबेके पैसे दिये। अक्षर घिस गये थे, लेकिन एक ओरकी शकल किसी शक राजाकी मालूम होती थी। दूसरे दिन आजमगढ़ पहुँचनेपर मालूम हुआ, कि दोनों

सिक्के कुषाण राजा कनिष्कके हैं। उनमेंसे एककी पीठपर वायु देवता और दूसरेकी पीठपर मिथ्र देवताकी मूर्तियाँ थीं। श्री परमेश्वरीलाल गुप्तको पुराने सिक्कोंको एकत्र करने और पहचाननेका बहुत शौक है। उन्होंने आजमगढ़ जिलेमें मिले सेरों कुषाण सिक्के जमा किये हैं। दो हज़ार बरस पहिले कनिष्कका कोई उच्च राज-कर्मचारी शिशपा ग्राममें रहता था। उस वक़्त सिसवाके आजके ऊजड़ टीलोंपर व्यापारियों और शिल्पियोंके कितने ही अच्छे भले घर थे, देश-विदेशके पण्य-द्रव्योंसे सजी दूकानोंवाली वीथियाँ थीं; जगह-जगह ऐसे कितने ही देवालय थे, जिनके देवता अब विस्मृत हो चुके हैं। मंगईका व्यापार-मार्ग यही जलीय राजमार्ग इस सारी समृद्धिका कारण था। उस मार्गका स्थान नये मार्गोंने लिया और शिंशपा ग्राम धीरे-धीरे सिसवाके निर्जन टीलेमें बदल गया। सिसवाके गर्भमें उसके इतिहास-को बतानेवाली बहुतसी सामग्री छिपी पड़ी है, जो किसी वक़्त ज़रूर अपना मुँह खोलेगी। मैंने चन्द मिनटोंमें ध्वंसको पार करते हुए जो कुछ भी समझ पाया, उसे, यहाँ संक्षेपमें लिखा है।

हम शामको बछवल पहुँचे। यागेश वर्षों मेरे तरुणाईके अभियानोंमें साथ रहे हैं। वे राष्ट्रीय कर्मी हैं। यद्यपि वे मेरी बुआकी देवरानीके लड़के हैं, लेकिन बाल्यसे ही बछवलमें उन्हींके साथ मेरा सबसे अधिक प्रेम रहा। तीस साल पहिले एक बार हम दोनोंने कुर्ता पहने रोटी खाई थी, जिसे देखकर उनकी माँ रोई थीं। आज अपने पुत्रको मेरे और नागार्जुन जैसे 'सर्वभक्षी'के साथ बैठकर दाल-भात खाते देखकर उनकी स्वर्गीय आत्मा कितनी तड़फड़ा रही होगी! हाँ, उनको यह देखकर धैर्य ज़रूर होगा कि कनैलाके सरपंच दयामलाल भी साथ ही बैठे खा रहे हैं।

दूसरे दिन कुछ रात रहते ही नागार्जुन और मैं हाथीपर रवाना हुए। चँड़ेसरमें एक्का ले दस बजे (१८ अप्रैल) तक आजमगढ़ पहुँच गये। कानोंकान सुनकर कितने ही लोग मिलने आये। आजमगढ़के कवि "शैदा" और "चन्द्र"ने अपनी कई रचनायें सुनाईं, 'यात्री' (नागार्जुन)ने भी अपनी कृतियोंको सुनाकर गोष्ठीका मनो-रंजन किया। १९ अप्रैलको ठीक सात दिन रहनेके बाद, दस बजे सबेरे ट्रेन पकड़ी और दो बजे तक हम आजमगढ़ जिलेके बाहर चले आये।

५

उत्तराखंडमें (मई—जून १९४३)

गर्मी आगई थी। मैं कुछ लिखने-पढ़नेकी सोच रहा था। ख्याल आया, चलें हरद्वार, शायद वहाँ लिखने-पढ़नेका काम चल सके। प्रयागमें ६ दिन रहकर मैं और नागार्जुन हरद्वारकेलिए रवाना हुए। लखनऊसे सीधी गाड़ी पकड़ी। हरदोई जिले तक तो अब भी जहाँ तहाँ ऊसर जमीन मिल रही थी, किन्तु रुहेलखण्डकी सीमाके भीतर घुसते ही चारों ओर उर्वर भूमि थी। जगह-जगह गाँव और हरे-हरे बाग थे। पंचाल राज, दिवोदास, और सुदासका वह वैभव इसी उर्वर भूमिके कारण था। इस उर्वर भूमिने वशिष्ठ, विश्वामित्र, भरद्वाजसे ऋग्वेदकी सुन्दर ऋचाएँ कहलवाई। सारी उर्वरताके रहते आज पचालपुत्रोंके शरीर सूखे हुए हैं, उनके तनपर कपड़ा नहीं है। साढे तीन हजार वर्ष पहिले गणके राजको हटाकर पंचालोंने शासनकी बागडोर राजाके हाथमें दे दी, और स्वयं प्रजा बन गए। आज गिरते-गिरते वह इस अवस्थामें पहुँच गए हैं, लेकिन चक्र परिवर्त्तन जरूर होगा, कोई दूसरा नहीं करेगा, इन्हीं आजके पचालोंको करना होगा। किसी समय पंचाल उत्तरी भारतका अग्रणी जनपद था, किन्तु आज वह सुषुप्त है।

बरेलीमें गाड़ी बहुत देर तक ठहरी, और मुरादाबादमें तो उसने हद कर दिया। पौन घंटा रुकनेके बाद रेलवेवालोंने हल्ला किया, उतरो-उतरो डब्बे कटेंगे। हमारा डब्बा भी कटनेवाला था। डब्बा बदलते बदलते गाड़ी चल दी। खैर, हम दूसरे डब्बेमें बैठ गए, न जाने क्या समझकर गाड़ी फिर लौट आई, और स्टेशनपर उसने धरना दे दिया। पार्सल ट्रेन पर चढ़ कर हम लोग खूब पछताए। खैर, एक फ़ायदा हुआ। वैसे हम रातको जाते, लेकिन अब दिनमें यात्रा करनी पड़ी। मुरादाबाद और बिजनौरकी भूमि बड़ी ही शस्यश्यामला है। ऊखकी खेती यहाँ बहुत होती है। इधर तीन सेर आटा बिक रहा था, तब भी लोग त्राहि-त्राहि कर रहे थे। हम लुकसर पहुँचे। हरद्वारकी गाड़ी तैयार मिली, और १२ बजे हम वहाँ पहुँच गए। पंडे तो वहाँ बहुत थे, लेकिन पंडोंसे हमें काम न था, तो भी कहीं ठहरना था। जहाँ धर्मशालामें पूछने गए, वहीं जवाब नहीमें मिला। जब हम धर्मको मानतेही नहीं थे, तो आखिर हमें अधिकार क्या था किसी धर्मशालामें ठहरनेका। कई धर्मशालाओंका दरवाजा खटखटानेके बाद हम लोगोंको गंगामाईने शरण दी।

सोचा, किसी पंडेका ही पल्ला पकड़ना चाहिए। हरिश्चन्द्र पंडाके पास गए, उनसे कहा—भैया, हम धरम-वरम करने नहीं आए है, हम सैर करने के लिए आए हैं; हमें कोई ठहरनेकी जगह दिलवाओ। पंडाने भाषा या भेससे समझा, कि इनकी मदद करनेमें कोई हर्ज नहीं। सूरज मलकी धर्मशालामें हमें सात जनममें भी जगह नहीं मिलती, ऐसे ही यमराज वहाँ दरवाजेपर बैठे हुए थे; लेकिन हरिश्चन्द्र पंडाने मदद की, और हम दोनोंकेलिए कोनेमें एक अँधेरी कोठरी मिल गई।

अप्रैलका अन्त था, काफ़ी गर्मी पड़ रही थी; किंतु वस्तुतः गंगा यहाँ गंगा थी; जिसके शीतल निर्मल जलकी महिमा ऋषियोंने हजारों वर्षोंसे गाई है, और आगे भी गाई जाएगी। नहानेमें आनन्द आता था। हमने जाकर स्नान किया। हाथ हाथभरके रोहित मत्स्य यहाँ स्वच्छन्द विचर रहे थे। भगवानने इन्हें आदमीके खानेकेलिए बनाया है, लेकिन यहाँ कोई उन्हे पूछता न था। आज हमने तीर्थोपवास किया, और सिर्फ फलाहारका आश्रय लिया। सेठोंने धर्मशालापर तो काफ़ी खर्च किया है, कई कमरे खूब साफ़-सुथरे हैं, यद्यपि यह उन्हींको मिलते हैं जो उनके "लायक" हैं। लेकिन हिन्दूधर्ममें पाखानेकेलिए एक भी पैसा खर्च करना पाप समझा जाता है—इसकी प्रतिध्वनि हर जगह मिलती थी। पाखाना खूब गंदा था और पेशाबकेलिए तो सारा आँगन खुला हुआ था। हमारे राजभक्त कहेंगे कि हिन्दुस्तानियोंको यह समझानेमें हजारों वर्ष लगेंगे। मैं ऐसा नहीं समझता, सोवियत मध्यएसियामें मैंने देखा है, लोग कितनी जल्दी इन सामाजिक नियमोंको समझ लेते हैं। शामके वक्त हम घूमने निकले। पहिलेसे हरद्वार बहुत बढ़ गया है। हरिकी पौड़ीपर बिड़लाका घंटाघर खड़ा है। पहिले वह कुछ और भी संदेश देता, लेकिन आज यह भारतीय पूँजीवादका महान् कीर्तिस्तंभ है। बिड़लाघाटको देखा और कई सेठोंके दूसरे मकानोंको भी। सेठोंके सामने अब राजा झूठे हैं। उनके खर्च और बढ़ गए हैं, लेकिन आमदनी उतनीकी उतनी ही है, और सेठोंकेलिए आमदनीकी कोई सीमा नहीं। भारतीय पूँजीवादने अब अपने यौवनमें क़दम रखा है। इसका परिचय हमारे तीर्थोंमें और मिलता है। मैंने एक सेठकी इमारतपर लोगोंके बहुत तरहके लेख लिखे हुए देखे। मेरा भी मन ललचा गया, लेकिन अपना नाम लिखनेकेलिए नहीं। मैंने पेंसिलसे लिख दिया—

"तामीरें हैं खैरातें हैं औ तीरथ-हज भी होते हैं।
यों खूनके धब्बे दामनसे ये दौलतवाले धोते हैं॥"

हरद्वारमें अब पैर रखनेकेलिए इतनी भीड़ थी, तो वहाँ बैठकर कुछ लिखना

पढ़ना कैसे हो सकता था ? सोचा, चलो ऋषिकेश देख आएँ, ऋषियोंकी भूमि है, शायद वहीं कहीं ठौर-ठिकाना लग जाये। १३ आना लारीको देकर चले। हरद्वार बढता ही चला जा रहा है, मीलों तक सड़कके किनारे घर और बगीचे बनते गए हैं। बहुतसा जंगल कट गया है, और वहाँ खेती होती है। ३४ वर्ष पहिले जब मैं इस रास्ते गया था, तो हरद्वार एक छोटी सी जगह थी, यहाँ जंगल ही जंगल ज्यादा थे।

और ऋषिकेश ? अब वह महलोंका नगर है। कहाँ उस समयके दो-चार क्षेत्र कुछ छोटी कुटियाँ और कहाँ ये प्रासाद ! उस वक्त भी कालीकमलीवालेका क्षेत्र और पंजाबक्षेत्र मौजूद थे, लेकिन वह बहुत छोटे-छोटे थे। अब तो इन दोनों क्षेत्रोंने आधे नगरको घेर रखा है। बाक़ायदा दूकाने बन गई है। यहाँसे मोटर-लारी देवप्रयाग और टेहरीको जाती हैं। पाठशालाएँ भी कई हैं। हम लोग लछमनझूलाकी ओर बढ़े। जगह जगह साधुओंके प्रासाद कुटियाके नामसे खड़े हैं। धर्मकी बड़ी बड़ी दूकानें भी हैं, जहाँ पुस्तकोंके विज्ञापन, साइनबोर्ड और दूसरी तरह ग्राहकोंको आकृष्ट किया जाता है। कौन ऋषिकेशका सबसे बड़ा धर्म-सेठ है, इसको कहना मुश्किल है। यदि शिवानन्दको कहे, तो ब्रह्मलीन जयदयाल गोयन्दका नाराज हो जाएँगे। भैया तुलसीके पत्ते सभी बराबर हैं "कोउ बड़ छोट कहत अपराधू"।

दोपहरको लछमनझूला पार किया। झूला भी पहिलेवाला नहीं है। इधर भी खूब पक्के मकान बन गए हैं। २४,२५ साल पहिले मैंने बाबा रामउदार दास फलहारीका नाम सुना था, मेरा भी नाम वही था, किसीने चित्रकूट या कहीं और रहते वक्त मुझे बताया था। उस वक्त लछमनझूलाकी यह दूकान शुरू ही हुई थी। अब तो खैर मूलपुरुष नहीं रह गए, किन्तु "यावत् चन्द्र दिवाकरौ" रहनेवाली कीर्ति उनकी मौजूद है, दर्जनों मन्दिर, धर्म-शालाएँ और "कुटिया" बन गई है। खूब सदावर्त्त चलते हैं। सन्तलोग श्रद्धालु सेठोंकी दूध-भिक्षाको ग्रहणकर निर्द्वन्द्व हो भगवद्भजन करते हैं। शायद ही कोई अभागा हो, जो शरदचाँदनीकी तरह छिटके इन हजारों सौधोंको देख, उनकेलिए करोड़ों रुपये खर्च करनेवाले धर्मात्मा सेठोंकी दानशीलताको जानकर गदगद न होगा। लेकिन हमारेलिए गदगद होनेमें एक और भी बाधा थी। गर्मी बहुत तेज थी, और पैदल चलकर आनेसे शरीर भी कुछ थक गया था। लेकिन वहाँ कही ठंडी जगहपर लेटनेका ठौर-ठिकाना नहीं लग रहा था—न कोई महन्त मदद करने आया न सेठ। आखिरमें यहाँ भी हमारा उबार करनेवाले मजूर ही मिले। कुछ मजूर मकान बनानेका काम कर रहे थे। उन्होंने हमें शरण दी, लेटनेकेलिए चटाई

दी। प्यास बहुत लगी हुई थी, नीचे उतरकर गंगासे पानी भरकर लानेकेलिए उनसे नही कह सकते थे। उन्होंने बर्तन दिया, और नागार्जुनजी पानी भर लाए। २,३ घंटेके विश्रामके बाद धूप कम हुई, फिर हम गंगाके बाएँ किनारे से स्वर्गाश्रमकी ओर चले। रास्तेमें जहाँ तहाँ बहुत सी कुटियाँ थीं, कितने ही आमके वृक्ष भी लगे थे। लेकिन कितनी ही कुटियाँ परित्यक्त भी थीं। क्या धर्मभूमि भारतमें तपस्वियोंकी कमी हो गई या टीनसे छाई इन कुटियोमें रहनेकेलिए हमारे तपस्वी तैयार नही— इसमें संदेह नही, यह गर्मीका मौसम था। हम अनुभव कर रहे थे, यहाँ कितनी ज्वाला लहक रही है। स्वर्गाश्रम है तो स्वर्ग हो जैसा, लेकिन यह स्वर्ग कैसा, जहाँ अप्सराएँ नही ? हाँ, शायद गर्मीकी वजहसे अभी बहुतसे स्थान खाली पड़े थे। वर्षा और शरदमें इनकी शोभा और बढ़ती होगी। आधुनिक शिक्षाने जब वर्तमान शताब्दी के आरम्भमें हमारे देशमें कदम रखा, तो लोग धर्मकी ओरसे कुछ उदासीन हो गए, लेकिन जब हमारे विश्वविद्यालयोंके स्नातकोंने काषायवस्त्र धारण कर लिया तो श्रद्धा दसगुने बलसे लौट आई। मैंने देखा कितनी ही तरुण शिक्षिताएँ बड़ी श्रद्धाके साथ इन कुटियोंकी परिक्रमा कर रही थीं।

नावसे गंगापार करके हम फिर इस ओर चले आए। फिर बन्दरोंके झुण्ड और कोढ़ियोंकी भीड़के भीतरसे होते हुए ऋषीकेश लौट आए। भारतके किसी भी तीर्थ-स्थानमें इतने कोढ़ी नही मिलेंगे, जितने कि ऋषिकेशमें। ऋषिकेश आज अयोध्याका कान काट रहा है। उसी तरह हजारों साधू, उसी तरह साधुनियाँ, उसी तरह भक्ति-भाव। लेकिन इतने कोढ़ियोंको अपनी गोदमें रखनेका साहस अयोध्याको भी नहीं हुआ।

हम उस दिन ऋषिकेशमें सिर्फ जगह देखने गए थे। मालूम हुआ, जगह वहाँ मिल सकती है, और हरद्वारकी अपेक्षा अधिक उदारताके साथ। लेकिन इधर दो तीन दिनसे मेरे शिरमें चक्कर आने लगा था। यह गर्मी हीके कारण था, इसलिए सोचा, हरद्वार, ऋषिकेश या ज्वालापुर महाविद्यालयमें रहनेसे काम नहीं चलेगा। अब कोई ठंडी जगह पकड़नी चाहिए। आनन्दजी हरद्वारमें आने-वाले थे, उनको मैं खबर भी दे चुका था, इसलिए उनकेलिए कोई संदेश छोड़ जाना जरूरी था। इस साल हिन्दी साहित्यसम्मेलन हरद्वारमें होनेवाला था। पहिले मेरी बड़ी इच्छा थी कि सम्मेलनको देखकर आगे बढ़ूँ, लेकिन शिरदर्दने मजबूर कर दिया। सम्मेलन स्वागतकारिणी सभाके कार्यालयमें गया। वहाँ पंडित किशोरीदास वाज-पेयी विराजमान थे। मैंने पूछा—"आनन्दजी कब आ रहे हैं।" उन्होंने कहा—

"अभी मुझे कोई खबर नहीं है।" मैंने कहा—"आनन्दजी आएँ तो उनको कह देंगे कि आपके दोस्त आए थे, गर्मी बर्दाश्त न करनेके कारण पहाड़पर चले गए है।" उन्होंने पूछा—"आपका नाम?" मुझे झूठ बोलनेकी कोई जरूरत नहीं थी, मैंने कहा—"केदारनाथ पांडे, आजमगढ़ जिलेका रहनेवाला हूँ।" वाजपेयीजी सन्तुष्ट हो गए। यदि याद रहेगा, तो उन्होंने आनन्दजीसे केदारनाथ पांडेका संदेश दिया होगा।

उत्तर काशीकी ओर—३० तारीखको भोजन करके हमने ऋषिकेशकी लारी पकड़ी, और पंजाब-सिन्ध क्षेत्रमें जाकर उतरे। श्रद्धालुओंने इतने कमरे बनवा दिए है, कि उनमेंसे काफी खाली पड़े रहते हैं। प्रबन्धक भद्रजन थे, हमें एक हवादार कमरा रहनेकेलिए मिल गया। चारपाई, चिराग, पानीकेलिए मिट्टीका घड़ा भी, सबका इंतिजाम। क्षेत्रवाले खाना भी देनेको तैयार थे, लेकिन हमे उसकी जरूरत नहीं थी। शामको जब कुछ ठंडा हुआ, तो हम गंगाकी तरफ़ घूमने गए। वहाँसे लौटकर कुटियोंकी ओर मुड़े। एक नाथपंथी धर्मशाला देखी। मुझे कुछ स्वाभाविक जिज्ञासा थी, नाथसाहित्यके बारेमें। वहाँ गया तो महात्माओंने ज्ञान देना शुरू किया—पोथी-पत्रामें क्या रखा हुआ है, नाथोंकी बानी गुरुमुखसे ग्रहण की जाती है। मेरे ऊपर सौ घड़े पानी पड़ गए। वहाँ भला साहित्यकेलिए क्या आशा हो सकती थी? और कहनेपर एक छपी हुई भजनोंकी रद्दीसी पुस्तक मिली, जिसमे चौरासी सिद्धोंके नाम गिनाए गए थे। मुझे कुछ आश्चर्य हुआ, जब मैंने देखा कि आधेसे कुछ अधिक नाम ठीक चौरासी सिद्धोंके ही हैं। मैंने नाथपथकी ऐसी पुस्तक नहीं देखी थी, जिसमें सिद्धोंके इतने ठीक नाम उतरते हो। यहीं पदुमनाथ मिल गए, ज्यादा पढ़े-लिखे नहीं लेकिन आदमी बहुत स्पष्टवक्ता। उन्होंने बतलाया कि भीष्मनाथ नामके एक पंडित साधु आज कल नाहन रियासतमें हैं। उन्होंने बहुतसे "शबद" जमा किए हैं, मगर वे छपे नहीं हैं। मैंने ऋषिकेशकी प्रशंसामें दो चार शब्द कहे और श्रीअयोध्यापुरीसे उसकी तुलना की। इसपर पदुमनाथ उबल पड़े और कहा—'यह सबसे बढ़कर.. घर हैं।' मैंने कहा—"क्या कह रहे हो नाथजी?" पदुमनाथने कहा—"साधू सवेरेसे दोपहर तक क्षेत्रोंसे रोटियाँ जमा करते हैं, फिर खाकर सो जाते हैं, शामको फिर शहरका चक्कर मारते हैं।" अगर बात ठीक भी हो, तो इसमें साधुओंका क्या दोष? प्राचीन ऋषियोंके आश्रमोंमें भी इतने जबर्दस्त ब्रह्मचर्य पालनका विधान नहीं था। किसी जानकारने कह दिया है—

"विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशनाः,"

तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहंगताः ।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवाः,
तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत्सागरम् ॥"

लेकिन इस घोर कलियुगमें बड़े जोर-शोरसे सागरमें विन्ध्य तैराए जा रहे हैं। मैं यह नहीं कहता कि इस ब्रह्मचर्यका कोई सुफल नहीं। आखिर जितनी हिन्दू विधवाएँ आज ब्रह्मचर्य पालनकेलिए मजबूर की गई हैं, उन सबको मुक्त कर दिया जाता तो भारतकी जनसंख्या और कितनी बढ जाती। कितने ही शिक्षित संख्या-नियन्त्रण-पर जोर दे रहे हैं; विधवा-विवाह निषेधने इस कामको कितने ही अंशमें पूरा किया है। साधुओंके ब्रह्मचर्यने क्या किया है, इसके बारेमें राय देना जरा मुश्किल है। लन्दनमें एक बार एक हिन्दू तरुण साधुओंकी निन्दा कर रहे थे—यह निकम्मे हैं, मुफ्तके खाते हैं, आदि, आदि। मैंने पूछा "आपने स्टडबुल् (महासाँड़) देखा है या नहीं?" उन्होंने कहा—"देखा है"। मैंने कहा—"अभी हमारा देश इसमें बहुत पिछड़ा हुआ है। यूरोपवाले स्टड्बुल्की बड़ी क़दर करते हैं, इसीलिए उनके यहाँ गायोंकी नसल दिनपर दिन तरक्की करती है। आपने किसी स्टड्बुल्को कभी गाड़ी खींचते या हल चलाते देखा है?"

"नहीं देखा?"

"तो आपकी परिभाषाके अनुसार ये निकम्मे और मुफ्तके खानेवाले हुए?"

वह झुँझलाकर बोले—"तो आप कहना चाहते हैं, कि साधु नसलको बेहतर बनानेकेलिए हैं? उनमें कितनोंकी तो अपनी ही नसल दुरुस्त नहीं होती, वह क्या बेहतर नसल बनाएँगे।"

मैंने कहा—"आप उत्तेजित न होइए। यदि दो-चार 'स्टड्बुल्' खराब हों, तो आप सारे स्टड्बुलोंको क़तल करनेका हुक्म तो नहीं देंगे? मैं आप ही से पूछता हूँ, क्या आपने किसीके अँधेरे घरमें साधुके प्रतापसे चिराग जलते नहीं देखा?"

"आपका मतलब है निःसन्तान घरमें सन्तान होनेसे?"

मैंने कहा—"हाँ,"

शायद उनका नाम ओमप्रकाश था। उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—"दूसरेके यहाँकी बात क्यों कहूँ, मेरे अपने चचा ही के यहाँ ऐसा हुआ।"

मैंने कहा—"आप अपने चचाकी सम्पत्तिसे वंचित हुए, लेकिन इसका गोष सारी संस्थाके ऊपर उतारना क्या ठीक है?"

सिर्फ ऋषिकेश, अयोध्या या बनारसके साधुओं पर इस तरह का दोष देना फ़जूल

हैं। हिन्दू, ईसाई, बौद्ध सभीके घर वही मिट्टीका चूल्हा है। असलमें ब्रह्मचर्य और भक्तिभाव दो अलग-अलग चीजें मानी जातीं, तो बेहतर होता, किन्तु इसकेलिए अभी हमारे धर्मात्मा लोग तैयार नहीं। इसीलिए मानव प्रकृतिको दूसरे रास्ते अख्तियार करने पड़ते हैं, जिनमें बाज बहुत अभद्र हैं, इसमें सन्देह नहीं। हमारे एक मित्रने एक बार सुझाव पेश किया था, कि साधुओं और साधुनियोंके बकायदा मठ बनें। साधुनियोंके वंध्यात्वको स्वाभाविक या कृत्रिम रूपसे निश्चित कर दिया जाये, और भजनानन्दियोंके बारेमें किसी तरहकी दुर्भावना न उठाई जाय। मालूम नहीं हमारे दोस्त का यह सुझाव मंजूर होगा या नहीं।

पहिली मईको १० बजे हमने टेहरीकी मोटर पकड़ी। मोटर पहिले हीसे खूब भरी थी। उसने मुनिकी रेतीमें जाकर १५ बोरे नमक और लादे। हमें तो डर लगने लगा, कि पहाड़ी रास्तेमें कहीं टें न बोल दे। रियासती अफ़सरका ही काम था, फिर मुसाफिरोंकी पर्वाह करनेकी क्या जरूरत ? तीन घण्टे तक लारी वहीं खड़ी रही, फिर जाकर चली। ऋषिकेशके बगलका पहाड़ टपना था। रास्ता कड़ी चढ़ाईका था। पहाड़ी दृश्य और लारीके इंजनकी घोर घनघनाहटका आनन्द लेते टेढे मेढे हम ऊपर चढने लगे। प्रायः १० मील चलनेपर नरेन्द्रनगर आया। उस वक़्त सारे गढवालपर टेहरीवाला राजवंश शासन करता था। गोरखोंका राज आया। फिर अंग्रेजोंने मदद देनेके मेहनतानेमें अंग्रेजी गढवाल ले लिया, और रियासती गढ़वाल टेहरी राजवंशके हाथमें रह गया। इसकी आबादी साढे चार लाख और भू-कर पाँच-छ लाख है।

नरेन्द्रनगरको पिछले राजा नरेन्द्रशाहने अपने नामसे बसाया। उससे पहिलेके राजा प्रतापनगर बसा चुके थे। न यहाँ उद्योग-धंधा न कोई दूसरा बड़ा कारबार? ऊपरसे हर राजाको अपने नामसे नगर बसाने और लाखों रुपया लगाकर महल बनानेका शौक। मय दानव जैसे मुफ़्तमें आकर नगरोंको बसानेवाले तो थे नहीं, आखिर यह सारा धन प्रजाकी गाढ़ी कमाईसे ही जमा होता था, इसलिए सारी आफत प्रजापर पड़नी ही थी। टेहरी नगरको भी इसका फल कुछ भुगतना पड़ा, क्योंकि वहाँके ही निवासियोंको अधिकतर इन नगरोंमें जाना था। फिर टेहरीके सैकड़ों घर यदि खंडहर बन रहे हैं, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। नरेन्द्रनगरमें राजप्रासाद और सरकारी मकानोंके अतिरिक्त कुछ दूकानें भी हैं। दो घंटे तक लारी वहाँ ठहरी रही, फिर वह आगे चली। सड़क काफ़ी चौड़ी नहीं है, और रास्ता पहाड़ी घूम-घुमाओआ। कई जगह लारीको खड्डमें जानेका भय था। उतराई चढाई करते-करते हमने चम्पा

डाँड़ा पार किया । ऊँचाई ४ हजार फ़ीटसे ऊपर ही होगी। नरेन्द्रनगरसे चलनेपर पहाड़ोंमें जंगल दिखाई पड़े। आगे जंगलको अंधाधुन्धा काट कर खेत बनानेकी कोशिश की गई है। कहीं कहीं गेहूँ अब भी खड़े थे। बीच बीचमें दूकानें भी मिलीं, और कालिम्पोङ्की तरह तो नहीं, लेकिन कहनेपर चाय भी मिल जाती थी। शामको हमारी लारी गंगाकी उपत्यकामें आई। इस विस्तृत उपत्यकामें सभी जगह गाँव और खेत दिखाई पड़े। टेहरीसे बाहर नदीके इस पार ही लारी खड़ी हो गई, भार-वाहकसे सामान उठवाकर हम लोग नगरकी ओर चले। एक सिक्ख धर्मशालामें ठहरनेकेलिए कोठरी मिल गई।

टेहरीमें—हम टेहरीमें ज्यादा रहना नहीं चाहते थे, किन्तु बोभी (भारवाहक) का मिलना उतना आसान नहीं था, इसलिए यहीं ठहर जाना पड़ा। खानेकेलिए कोई तकलीफ नहीं थी, बहुतसे हिन्दू रसोईखाने यहाँ मौजूद थे, जिनमें मछली-माँस मिल जाता था। अगले दिन टेहरी नगर देखने गए। शिल्प-उद्योग-विहीन नगरकी अवस्था जैसी होनी चाहिए, वैसी ही इसकी थी। राजाओंने अपने अपने नाम से नगर बसाकर और सत्यानाश किया है, यह पागलपनके सिवा और कुछ नहीं है। शायद वह समझ रहे हों, कि इस तरह वह अपने नामको अमर कर रहे हैं। मान लो आजसे एक लाख वर्ष बाद प्रतापनगर और नरेन्द्रनगर रह ही जायें, और इधर दो ही एक पीढ़ी बाद हिन्दुस्तानके सारे राजवंशोंपर महामारी आ जाये, तो किसको पता होगा कि ये प्रताप और नरेन्द्र कौन थे ? टेहरी बड़ी सुन्दर जगहमें दो नदियोंके संगमपर बसी हुई है। यहाँ एक इन्टर कालेज है। रियासतमें कई जगह स्कूल भी हैं, लेकिन ब्रिटिश भारत-की तरह यहाँके भी शिक्षित दफ़्तरोंकी कुर्सियाँ ही तोड़ सकते हैं। दफ़्तरोंमें इतनी कुर्सियाँ नहीं हैं, इसका परिणाम है बेकारी। हम पुराने मन्दिरोंको देखने गये। सत्येश्वर महादेवके पास एक बरगदके नीचे खंडित चतुर्भुज मूर्ति है, जो मुसलिम कालके पहिलेकी जान पड़ती है। उस वक्त टेहरी यदि राजधानी रही होगी, तो किसी दूसरे राजवंशकी। टेहरीमें भी चावलोंका भाव २ सेर और आटेका ३ सेर था। गरीब कैसे इतने मँहगे अनाजको खरीद सकते हैं। इन पहाड़ी नदियोंसे आसानीसे नहर निकाली जा सकती है, बिजली पैदा की जा सकती है। यहाँ फलोंके बाग लग सकते हैं। लेकिन यह शासक तो सिर्फ विलासिताको ही आधुनिक युगसे लेते हैं। इनको पूरा विश्वास है, कि अंग्रेजोंका शासन तब तक चलता रहेगा जब तक गंगा जमुनामें जल है। फिर बाहरसे कौन हमें निकालने आवेगा, और भीतर यदि किसीने चीं-चपड़ किया, तो हमारी जेलें पड़ी हुई हैं—लोगोंको उनमें ठूँस-ठूँसकर मार डालेंगे।

उन्होंने जार और कैसर जैसे मुकुटधारियोंके मुकुटको धूलमें लोटते देखकर कोई शिक्षा नहीं ग्रहण की। उनकी अकल इससे भी कुछ ठिकाने नहीं आई, कि इंगलैंड का एक बादशाह आज दरदर मारा फिर रहा है। प्रजा उनकेलिए कीड़े मकोड़े हैं, और यह भगवानकी ओरसे उनके ऊपर शासन करनेकेलिए भेजे गए हैं। हाँ, मोटरका रास्ता जरूर कुछ बन गया है, और सड़क बनानेमें कितने ही लोगोंको काम भी मिल जाता है, लेकिन उसके साथ ही हजारों बोझिया, जो पहिले सामान ढोया करते थे, अब बेकार हो गए हैं। तीन दिन इंतिजार करनेके बाद यहाँसे ४४ मील उत्तर-काशीकेलिए आठ रुपयेपर एक बोझी मिला। दो दिनके रास्तेकेलिए आठ रुपया बहुत ज्यादा है, लेकिन हम टेहरीमें बैठकर इंतिजार नहीं करना चाहते थे।"

४ मईको ६ बजे सवेरे ही रवाना हुए। रास्ता बहुत दूर तक सीधा रहा। आजकल गूजरलोग अपनी गाय-भैंस लिए ऊपरकी ओर जारहे थे, शायद २१,२२ सौ वर्ष पहिलेसे—जब कि वह हिन्दुस्तानमें आए—आजतक उन्होंने अपना पेशा पशुपालन ही रखा। सभी गूजर पशुपालक होते, तो पंजाबमें गुजरात और गुजराँवाला न बसा पाते, और न सौराष्ट्र तथा अपरातको अपना नाम देकर गुजरात बना पाते। जब नीचे जंगल काफ़ी था, तब उन्हें अपने पशुओंको लेकर नीचे ऊँचे पहाड़ों के लाँघनेकी जरूरत नहीं थी, किन्तु अब नीचे जंगल कहाँ? इसलिए मईके शुरू हीमें इन्हें मैदान छोड़ हिमालयका रास्ता लेना पड़ता है। मध्यएसियासे आकर रहते उनका कोई और भी धर्म रहा होगा, हिन्दुस्तानमें आकर इन्होंने हिन्दू या बौद्ध धर्म स्वीकार किया होगा, और आज मुसलमान हैं। इनके पूर्वजोंने मध्यएसिया छोड़कर अच्छा किया या बुरा, इसके बारेमें हम क्या राय दे सकते हैं? आखिर उन्होंने अपनी जन्मभूमिमें हूणोंसे जीवनकेलिए संकट देखा, तभी तो वह उसे छोड़नेकेलिए मजबूर हुए। हाँ, गूजरोंकी प्राचीन मातृभूमिमें आज सोवियतका पंचायती राज है, अब वहाँके पशुपालक भी अपने साथ रेडियो लिए घूमते हैं। उनका जीवन चिन्ता और भयका जीवन नहीं है, सुख और समृद्धिका जीवन है। दिलमें तो आया कि हफ्ता दो हफ्ता इन खानाबदोश गूजरोंके साथ बिताया जाय। इससे हम नुकसानमें नहीं रहते। अब भी उनके पास कुछ पुराने गीत होंगे, पुराने राग और नृत्य होंगे, पुराना विश्वास होगा; किन्तु हमारे पास न वैसा भेस था, न भेस बनानेकेलिए काफी समय।

ये लोग पंजाबी बोलते हैं। रंग और पहाड़ियोंसे बहुत साफ़ तो नहीं होता, लेकिन गूजरियाँ बहुत स्वस्थ और ऊँचे कदकी होती हैं। एक गूजरीको बुखार आ गया था। भल्याणाकी चढ़ाई आई, बेचारी चलनेमें असमर्थ होकर एक जगह बैठी थी। मैंने

पूछा, क्या मैं कोई मदद कर सकता हूँ। उसने इतना ही कहा कि आगे हमारे आदमी मिलेंगे, उनसे मेरे बारेमें कह देना। आदमी हमें मिले। वह घोड़ा लेकर अपनी बीमार तरुणीको लाने जा रहे थे, मैंने उनसे संदेश कह दिया। ११वीं १२वीं सदी तक पश्चिमी तिब्बत—गूगे—की राजसीमा भल्याणाकी इस चढ़ाई तक थी।

५ घंटेमें १२ मील चलकर ११ बजे हम भल्याणा पहुँचे। यहाँ धर्मशाला और दूकानें हैं। बोझीने अपने और हमारेलिए भोजन बनाया। भोजन करके हमने ४-५ घंटे विश्राम किया। ४ बजे फिर रवाना हुए। सब जगह खेत ही खेत थे। लोग आकाशकी ओर मुँह लगाए बैठे थे, और अपार पानी गंगामें होकर फजूल ही नीचे बहा चला जा रहा था। रियासत यदि एक इंजिनियर और कुछ लोहा-सीमेंट-लकड़ीकी मदद करती, तो यहाँ नहर बन गई होती। फिर सारा पर्वतगात्र फलदार वृक्षों और लहलहाते खेतोंसे ढँका दिखाई पड़ता।

शामको सूर्यास्तबाद हम मगुण पहुँचे। यहाँ एक धर्मशाला है, जिसमें भीड़ भी थी, और गंदगी भी, इसलिए हमने सीताराम मंदिरका आश्रय लिया। थोड़ी देर बाद प्रयाग (बलिया) के एक पेन्शनर जज साहब सपत्नीक वहाँ पहुँचे। उनको भी ठहरनेकेलिए कष्ट हो रहा था। पत्नीने जब सुना कि मैं छपराका रहने वाला हूँ, तो उन्होंने बतलाया कि मेरी लड़की छपरामें ब्याही है। खैर, हम एक दूसरेकी भाषा तो बोल ही सकते थे। धर्मशालामें पिस्सुओं और खटमलोंसे लोहा लेना पड़ता, यहाँ निश्चिन्त थे। सामने भागीरथी कल-कल करती बह रही थी। सीताराम मंदिरको कभी किसी वैष्णवने स्थापित किया था, किन्तु उसके पीछे सँभालनेवाला कोई साधु नहीं रहा। अब एक गृहस्थ धूपबत्ती कर देता है। शायद जब हमारे ऐसे अश्रद्धालु भी दो-एक आना दे सकते हैं, तो दूसरे भी कोई दाता अवश्य मिल जाते होंगे।

अगले दिन (५मई) ६ बजे ही हम रवाना हुए। १५ मीलपर धरासू मिला। अभी सवेरा था, इसलिए हम यहाँ नहीं ठहरे और दो मील और चलकर डूँडा पहुँचे। धरासूसे इधर खूब जंगल है, चीड़के बड़े बड़े वृक्षोंसे सारा पर्वत ढँका हुआ है। यहीं वहीं गाँव और खेत भी हैं। यहीं भोजन और मध्याह्न विश्राम हुआ। चार बजे फिर चले, ढाई घंटे बाद मातरी पहुँचे। अभी दिन था, लेकिन देखा, आसमानमें बादल घिरा हुआ है, पानी बरसनेका डर है, इसलिए मातरी हीमें ठहर गए। एक अकेली दूकान थी। दूकानदारने रहनेकी जगह और बर्तन-भाँड़ा भी दे दिया। हमारे बोझीने भोजन बनाना शुरू किया। रास्ता चलनेवालोंकेलिए अच्छा है, कि

एकाध घंटा दिन रहते ही ठहर जायँ। आटा तीन सेर और चावल ढाई सेरका था अर्थात् नीचेसे यहाँ अन्नका भाव अच्छा था। लेकिन यदि नीचेके यात्री ज्यादा आ गये, तो अनाजका भाव चढेगा। लौटते वक्त मैंने देखा, अबकी साल यात्री खूब आ रहे हैं। शहरवालोंको पता तो नही लग गया, कि उत्तराखंडमें खाने-पीनेकी चीजें सस्ती और सुलभ हैं।

उत्तरकाशीमें (६-२४ मई)—सवेरे ही हम फिर चले। बीच बीचमें एकाध दूकानें और पड़ी। रास्ता समतल था—५ ही मीलका रास्ता था। ८ बजे हम उत्तरकाशी पहुँच गए। बिड़लाधर्मशालाका नाम सुनकर हम वहाँ गए। मुंशी साहब अभी सोए पड़े थे। कुछ देर इंतिजार करनेके बाद उन्हें जगाना पड़ा। उन्होंने शकल सूरत देखी। हमारी शकल सूरतमें कोई विशेषता न थी। कहनेपर उन्होंने ऊपरका कमरा खोल दिया। जँगलेके शीशे टूटे हुए थे, लेकिन जालीदार किवाड़ सुरक्षित थे। जब टूटे शीशोंकी ओरसे मक्खियाँ आ सकती हैं, तो किवाड़की जालीकी उनको क्या पर्वाह! दूसरा कमरा देनेकेलिए कहनेपर मुंशीने बड़े रूखेपनसे कहा—बस यही है। बाजारमें गए तो दोको छोड सारी दूकानें बन्द थी। नागार्जुन आटा-दाल-लकड़ी लिवा लाए। बोझीने खाना बनाया। खानेके बाद वह मजूरी लेकर चला गया। हम लोग कुछ थके थे, सो गए।

सोचा था, चलो चाहे मक्खीवाली ही कोठरी हो, किन्तु जगह तो मिली। यहाँ बैठ कर कुछ दिनों लिखना-पढ़ना होगा; लेकिन जान पड़ता है, सेठोंकी सहायता हमारे भाग्यमें बदी नही है। मुंशीने आकर कहा—गोस्वामी गणेशदत्त या बिड़ला सेठकी चिट्ठीके बिना तीन दिन से अधिक कोई यहाँ ठहर नही सकता। उसने इन शब्दोंको बड़े रूखेपनसे कहा। मैंने पूछा—वह आज्ञा कहाँ है? उसने कहा—"मैं जो कहता हूँ"। तीन दिन रहनेका नियम उचित था, इससे इनकार नही किया जा सकता। अगर एक एक यात्री तीन तीन हफ्ते तक कोठरी दखल करके बैठ जाए तो बाकी यात्री क्या करेंगे? मैंने उससे कहा—"जब तक और यात्री नही आते तब तककेलिए हमें रहने दो। इस बीचमें किसी दूसरी जगह इंतजाम करेंगे।" उसने 'नहीं' किया। यह अड़चन तो सामने आई ही, साथ ही एक दूसरी अड़चन भी थी—अपने हाथसे खाना बनाना। यदि दोनों शाम हमें अपने हाथसे खाना बनाना और बर्तन मलना पड़ता, तो दिनके प्रकाशका अधिक भाग उसीमें चला जाता—प्रकाश आजकल मँहगी चीज है, क्योंकि मिट्टी का तेल मिलना सुलभ नही है। हम दोनों चले कोई ठौर ढूँढ़ने। किसी पंडेके यहाँ जगह मिल जाती, लेकिन भीड़-

मड़नागका डर था। काली कमलीवालेकी धर्मशालामें गए। वहाँके प्रबंधक सन्यासी बड़े शिष्ट थे। लेकिन हमने देखा कि यहाँ बहुत भीड़ है, अतः ऐसी जगह रहना उचित नहीं समझा। पंजाब-सिन्ध क्षेत्रमें पहुँचे। वहाँ दो कोठरियाँ नई बनी हुई थीं, नईका मतलब था कि उनमें अभी खटमलों-पिस्सुओंने बसेरा नहीं लिया था। क्षेत्र-प्रबंधकने बड़ी खुशीसे एक कोठरी हमें दे दी और कह दिया कि एक पंजाबी माईने इस कोठरीको बनवाया है, वह साधुओंके सत्संगके लिये आया करती है। यदि वह आई, तो कोठरीको छोड़ देना होगा। मैंने कहा "एवमस्तु"।

गंगा यहाँसे बिल्कुल नजदीक थीं। खानेकी बात चलने पर प्रबंधकने कहा कि एक शाम तो हमारे यहाँ सैकड़ों साधुओंको भोजन दिया जाता है, दूसरे यात्री भी खा जाते हैं। हमने कहा—"हम बस इतनी ही मेहरबानी चाहते हैं, कि हमारे लिये आप भोजन बनवा दिया करें। हम कोई विशेष भोजन नहीं चाहते। हम अपने लिये भी वही सामान दे देंगे, जो रसोईमें दूसरोंकेलिए बना करता है।" प्रबन्धकने हमारा बहुत सन्तोषजनक इन्तिजाम कर दिया। अब रहनेकेलिए निश्चिन्त हो गये। उसी दिन हमारा सामान उठकर चला आया।

उत्तरकाशी यह पचास-साठ ही वर्षोंका दिया नाम है, नहीं तो सरकारी कागजोंमें आज भी इसे *बाड़ाहाट (बाड़ाबाजार)* कहा जाता है। हिमालयके तीर्थोंमें जब सेठ-साहूकार, राजा-बाबू पहुँचने लगे और उनसे काफ़ी आमदनी होने लगी, तो लोगोंने नये-नये प्रयाग और काशी बनाने शुरू किये, उत्तरकाशी भी इसी तरहकी नकली काशी है। इसका यह अर्थ नहीं, कि बाड़ाहाट पहिले महत्त्वका स्थान नहीं था। यह बड़े ही ऐतिहासिक महत्त्वकी जगह है। यहाँका पाँचवीं, छठी शताब्दीका त्रिशूल सारे हिन्दुस्तानमें अपने ढंगकी अद्वितीय चीज है। ११वीं शताब्दीकी अष्टधातुकी मुद्धमूर्ति भारतीय मूर्तिकलाका एक सुन्दर नमूना है। उत्तरकाशी छठीं शताब्दीमें ही यह एक महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया था। लेकिन ऐतिहासिक महत्त्वसे धार्मिक दूकानदारी तो नहीं चल सकती, इसलिए बाड़ाहाटको उत्तरकाशी बनना पड़ा। शक्तिका पता मुझे मालूम था, क्योंकि उसपर गुप्ताक्षरमें उत्कीर्ण लेखको मेरे पास *"गंगापुरातत्त्वांक"* में छापनेकेलिए भेजा गया था। लेकिन मैं वहाँके बारेमें

रहनेवाले थे, इसलिए सम्भव था, कि उनसे कुछ और पता लगता। जब हम वहाँसे चलने लगे, तो एक दाढ़ीवाले गुजराती ब्रह्मचारी आ गये। चन्द्रशेखर पंडितसे हमारी संस्कृतमें बातचीत चल रही थी। ब्रह्मचारीको जब यह मालूम हुआ कि हम बौद्ध हैं, तो उनका चेहरा बिल्कुल फ़क हो गया। शायद वह समझने लगे कि तब तो भगवान शंकराचार्यका सब किया-कराया मिट्टीमें मिलने जा रहा है—संस्कृतज्ञ ब्राह्मण भी यदि बुद्धके चेले बनने लगे, तो वेदान्तको क्या आशा हो सकती है? उनमें शिष्टाचार छू नहीं गया था। शास्त्रीने बम्बई विश्वविद्यालयका बी० ए०, एल-एल० बी० कहकर उनका परिचय दिया था। लेकिन हम आक्सफोर्ड, केम्ब्रिजके भी कितने ही गधे देख चुके थे, इसलिए आश्चर्य करनेकी जरूरत नहीं थी।

अगले दिन (७ मई) पुलिसका सिपाही आया, पूछा—कितने दिन रहोगे? हमने कहा—कुछ दिन रहेंगे, हमारी डाक आनेवाली है, ("दर्शनदिग्दर्शन"का प्रूफ आनेवाला था)। उसने कहा—पुलिसचौकीमें जाके नाम लिखाना, दस्तखत करना पड़ेगा। ४ बजे पुलिसचौकीमें गये। हुलिया और पिताका नाम गाँव आदि सब लिखा गया। इज्जत करनेका मतलब था, तुरन्त उत्तरकाशी छोड़ना। मालूम हुआ, कि इसकी नकल टेहरी भेजी जाती है। उन्होंने पढ़ा होगा—केदारनाथ पांडे ....पं० वैजनाथ....उनको क्या मालूम था, कि रियासतमें खतरनाक आदमी घुस आये हैं। चप्पल टूटनेवाला था, इसलिए नागार्जुनजीकेलिए जूतेकी जरूरत थी। ग्यान्शूमें मोचीके पास गये। उसके पास चमड़ा नहीं था। उत्तरकाशीमें दूकानें तो बहुत थी, लेकिन अभी कितनी ही खुली नहीं थी—यात्रियोंका मेला शुरू नहीं हुआ था। दूकानोंपर आलू भी मिलना मुश्किल था।

हम यहाँ रहकर "दर्शनदिग्दर्शन"का प्रूफ देखना चाहते थे, एक उपन्यास लिखना चाहते थे। नागार्जुनजी तिब्बती भाषा पढ़ना चाहते थे, क्योंकि वह तिब्बतकी तैयारी करके गये थे। उपन्यास तो ४०, ५० पेज लिखकर फाड़ दिया, वह मुझे पसन्द नहीं आया। शामको (८ मई) पूरबके छोरकी ओर टहलने गये। रास्तेपर एक दुर्गाका मन्दिर है। जिसके बाहर कितनी ही खंडित मूर्त्तियाँ पड़ी हैं। जूता लेना जरूरी था। पता लगा कि नदी पार बोड़ा गाँवमें जूता बनानेवालोंके घर हैं। पुलसे पार हो बूढ़े केदारके रास्तेमें तीन मील तक गये। वहाँ भी जूता बनानेवाला कोई नहीं मिला। रास्तेमें तेजपातके सूखे पत्ते पड़े हुए देखे। यहाँ उनके वृक्षोंका जंगल खड़ा है और यहाँवाले उसका कोई उपयोग नहीं जानते। इधर पहाड़ोंमें सबसे ज्यादा काम स्त्रियाँ करती हैं—खाना पकाना ही नहीं, खेतीका काम भी यही

करती हैं, शायद हल नहीं चलातीं, बाक़ी खेतमें कूड़ा फेंकना, बोवाई-निराई करना सब उन्हींका काम है। पुरुष तो बैठे-ठाले दिखाई पड़ते हैं। हाँ, उनका एक रोजगार है, वह गंगाजल लेकर युक्तप्रान्त, बिहार और दूर-दूर तक चले जाते हैं। इस इलाक़ेके सारे राजपूत ब्राह्मण बनकर गंगाजल बेंचते फिरते हैं—गंगाजल भी बहुत कम होता है, अधिकतर तो कूपजल, नदीजल ही होता है, जहाँ जल खतम हुआ, फिर गंगाजली भर ली जाती है। गंगोत्रीके आसपासके लोगोंको इससे खासी आमदनी हो जाती है। यहाँ ब्याह करनेकेलिए स्त्रियाँ खरीदी जाती हैं और आमदनीके अनुसार दाम भी हजार-पाँच सौ तक जाता है। पहिले बचपनकी शादी ज्यादा होती थी, लेकिन सरकारने इसके खिलाफ़ क़ानून बना दिया, अब १४से कमकी लड़की और १८से कम लड़केकी शादी नहीं हो सकती। कानून तो कहता है, कि १००से अधिक दाम लड़कीका नहीं लेना चाहिए, लेकिन किसीको अपनी लड़की व्याहनेकेलिए मजबूर नहीं किया जा सकता, और चुपकेसे कितना रुपया दिया गया, इसका किसको पता? दामका चौथा अंश रियासत लेती है। हाँ, सौसे अधिक रुपया नहीं लिखाया जाता। जब पटरी नहीं खाती, तो औरतको छोड़ देते हैं। झालामें रहनेवाले एक साधू बतला रहे थे, वहाँ एक-एक घरमें तीन-तीन चार-चार परित्यक्ता स्त्रियाँ बैठी हुई हैं।

उत्तरकाशीमें एक मिडिल इंगलिश स्कूल है। यहाँ कुछ कताई-बुनाईके सिखलानेका भी इन्तिजाम है। मास्टर मोतीलालने ऊनकी कताई-बुनाई दिखाई। आजकलकेलिए तो कोई हरज नहीं, क्योंकि मिलके बने ऊनी कपड़े बहुत महँगे हैं, लेकिन लड़ाई खतम हो जानेपर जब मिलके सस्ते कपड़ोंकी बाढ़ आ जायेगी, तो इन महँगे कपड़ोंको कौन पूछेगा? टेहरी रियासत क्या यहाँ बिजली पैदा करके घर-घरमें मशीनके कपड़े नहीं बुनवा सकती? इस विभागका उपयोग चन्द वर्षोंके ही लिए है। आज ही स्वामी रामतीर्थके शिष्य स्वामी आनन्दसे भेंट हुई, बड़े मिलनसार और उदार-हृदय-व्यक्ति हैं।

हमारे निवासस्थानके बगल हीमें सिद्ध गम्भीरनाथ (गोरखपुर और गया)के शिष्य साधू प्रज्ञानाथ रहते थे। यह उत्तरकाशीके विद्वान् साधुओंमें हैं। मैं एक तो उनकी ओर नाथपन्थी होनेसे आकृष्ट हुआ, दूसरे सुना था कि वह मानसरोवर हो आये हैं, हमें भी थोलिङ् तक जाना था। उनके बतलानेसे मालूम हुआ, भैरोघाटीसे १० दिनमें थोलिङ् पहुँचा जा सकता है। नाथ-परम्परा जहाँ तक सम्बन्ध है, वह समझते हैं कि ८४ सिद्ध भी शंकराचार्यके चेले थे। कुछ विद्यार्थियोंको वह कोई

वेदान्त ग्रन्थ पढा रहे थे। कुछ देर तक हम ध्यानसे सुनते रहे थे, कि कौन भाषा बोल रहे हैं, गद्य है या पद्य? यदि मुँह गोल करके बगाली उच्चारण होता, तो भी समझमें आ जाता। लेकिन वहाँ देख रहे थे कि हरेक शब्दके बोलनेमें नाकका पूरा इस्तेमाल किया जा रहा है, अनुस्वारोंकी गिनती नही है। ८४ सिद्धोंके बारेमें जब मैंने तिब्बती ग्रन्थोंकी कुछ बात कही, तो उन्होने कहा—वह सब झूठा है। ८४ सिद्ध पक्के आस्तिक और अद्वैतवादी थे—जिनकी कृतियोंकी बात तो अलग, नामोंको भी जो नहीं बतला सकता, उसकेलिए ऐसा दावा करना बड़े साहसकी बात है। लेकिन उन्हें समझाये कौन, वह १०वीं १२वीं सदीमें विचरनेवाले जीव हैं। वैसे साधू प्रज्ञानायका स्वभाव अधिक मधुर और मिलनसार है। साधू प्रज्ञानायके ही गुरुभाई साधू शान्तिनाथ हैं। उनकी विद्वत्ता बहुत ही गम्भीर है। सिद्ध गम्भीरनाथ अपने समयके सबसे बड़े सिद्ध योगी समझे जाते थे। उनके चमत्कारोंका यदि शतांश भी सच है, तो भारतको सुखी और स्वतन्त्र बना देना उनकी कानी उँगलीका काम था, फिर उन्होने क्यों ऐसा नही किया? भगवानके काममें दखल देना नही चाहते थे, या खून चूसनेवाले शोषक वर्गने पूजा-प्रार्थना करके उन्हें वैसा करनेसे रोक दिया। एक और सिद्धा माता आनन्दमयी बंगालमें पैदा हुई है। उत्तरकाशीमें भी उनका एक काली मन्दिर है। उनकी अद्भुत शक्तियोंके बारेमें भी कितनी ही पोथियाँ लिखी गई हैं। कनखलके स्वामी कृपालुदेवकी जीवनी "सन्तदर्शन"का एक सचित्र मोटा पोथा छपा हुआ है। उसमें भी स्वामीजीके अलौकिक क्रियाओंके सैकडों उदाहरण हैं। रामकृष्ण परमहंस, महर्षि रमन, योगिराज अरविन्द आदि बडी-बड़ी मछलियोंके बारेमें तो कहना ही क्या है? उनकी सिद्धाइयोंका तो कोई ओर-छोर नही है। उनके चमत्कारोंपर जो बड़े-बड़े पोथे लिखे गये हैं, उनको देखकर किसी वक्त मुझे कुफ्त होती थी; लेकिन पीछे मैंने समझा कि शोषक वर्गकी यह सब उपजें हैं। जब तक शोषक वर्ग नष्ट नहीं होता, तब तक ये कूड़े-करकट नष्ट नही होंगे। मनकी एकाग्रतासे मेस्मरिजम जैसी कुछ ताकतें पैदा हो जाती हैं, और इन्हींको लेकर बातका बतगड़ खड़ा कर दिया जाता है। मुझे तो एक बार ख्याल आया कि एक सिद्धाकी जीवनी लिखूँ, जिसमें आधुनिक और प्राचीन सारी सिद्धाइयोंको उस सिद्धाके साथ जोड़ दूँ। पुस्तकको खूब श्रद्धा भक्तिसे लिखा जाय और आनन्दमयीकी जीवनियोंकी तरह उसमें भिन्न-भिन्न मुद्राओंकी कितनी ही तस्वीरें लगवा दें। फिर इस पुस्तकको श्रद्धालुओंके सामने पेश किया जाय, देखें, उनकी श्रद्धामें यह सब खुराफातें कितनी समाती हैं? मैंने इसकेलिए कुछ पुस्तकें भी जमा कीं, लेकिन लिखनेका अवसर नहीं मिला।

साधु शान्तिनाथने अपने गुरु गम्भीरनाथके साथ रहकर खूब योगाभ्यास किया। फिर योगमें रोगका प्रचंड भय आया। डाक्टरोंने कहा कि यदि अब भी अपनेको नहीं सँभालते, तो स्वास्थ्य चौपट हो जायेगा और दिमाग भी खराब हो जायेगा। उन्होंने दर्शनका अध्ययन शुरू किया, और भारतीय दर्शनका गम्भीर अध्ययन किया, पाश्चात्य दर्शनको भी पढ़ा। अन्तमें वह इस परिणामपर पहुँचे, कि यह सारी दार्शनिकोंकी उड़ानें झूठे तर्कोंपर अवलम्बित थोथी कल्पनाएँ हैं। उन्होंने इसपर पुस्तकें लिखीं। उनकी पुस्तक "धार्मिक दर्शनकी समालोचनात्मक परीक्षा" (The critical Examination of the Philosophy of Religions, 2 vols), उनके गम्भीर अध्ययनका परिणाम है। साधु प्रज्ञानाथ अपने गुरुभाईको नास्तिक ही नहीं समझते, बल्कि यह पूछनेपर कि आपने उनकी किसी पुस्तकको पढ़ा है, उन्होंने बड़ी अवहेलना दिखाई। साधु प्रज्ञानाथने वेदान्तपर दो-तीन पुस्तकें काफी परिश्रमसे लिखी हैं, लेकिन तर्क है वही हजार वर्ष पुराने। वह आशा रखते हैं कि उनकी यह कृति चिरस्थायी होगी। मैंने कहा, आप इसे खूब अच्छे कागजपर लिखवाकर जमीनमें गाड़ दीजिए, शायद हजार दो हजार वर्षों बाद लोगोंके हाथमें लगे, तो इसकी कदर होगी।

हमारे वासेकी दूसरी ओर एक वैष्णवकी छोटीसी ठाकुरवाड़ी थी। उसकी महथिनी ५० सालकी एक प्रौढ़ा वैरागिन थी। नानीने इस मन्दिरकी स्थापना की थी, फिर बेटी अपनी बेटीके साथ आई। यह छपरा जिलेमें गुठनी थानेकी रहनेवाली थी। नतिनी जब बहुत छोटी थी, तभी यहाँ आ गई, अतः छपराकी बोली नहीं बोल सकती। पासके किसी गाँवमें ब्याह हुआ था, लेकिन पतिने छोड़ दिया और अब यही ठाकुरवाड़ीकी महंथिन है—मन्दिरकी जमीन और हातेको छोड़कर वहाँ कोई जायदाद नहीं है, बेचारी किसी तरह माँग-जाँचकर गुजारा करती है।

१६ मईको हम लोग विश्वनाथके मन्दिरमें गये। उत्तरकाशी है, तो विश्वनाथको भी होना चाहिए, लेकिन यह विश्वनाथ बिल्कुल नये हैं। हाँ, मन्दिरके सामने जो पीतलका ८, १० हाथ ऊँचा त्रिशूल (शक्ति) है, वह भारतकी अति पुरातन ऐतिहासिक वस्तुओंमें है। इस त्रिशूलकी पूजा होती है। फर्शसे थोड़ा ऊपर त्रिशूलकी जड़में ३ पंक्तियाँ संस्कृतमें लिखी हैं। लिपि वही है, जो कि मोखरि हरिवर्मा (छठी सदी)के हड़हावाले लेखमें है, जिस लिपिसे कि तिब्बतके अक्षर निकले हैं। ११वीं सदीमें बाड़ाहाट तिब्बती राजाओंके हाथमें था, यह अभी हम बतलाने जा रहे हैं। त्रिशूलमें दो जगह कुछ शंखलिपिमें भी लिखा हुआ है। शंखलिपि अभी तक पढ़ी

नही गई। सैदपुर-भितरीके गुप्तस्तम्भ (आजकल यह स्तम्भ राजकीय संस्कृत कालिज बनारसके हातेमें गड़ा है)परभी इस लिपिमें लेख हैं, मुल्तानगंज (भागलपुर)से कुछ दूरके एक पहाड़मे भी मैंने इस लिपिको देखा, जावा द्वीपमें भी इस लिपिके लेख मिले है।

हम पुराने मन्दिरोंकी तलाशमें परशुराम मन्दिर देखते हुये उजालीकी ओर जा रहे थे। उसी समय आनन्द स्वामी मिले, उन्होंने बतलाया—"यहाँ पीतलकी एक बुद्धमूर्ति है। डाक्टर पन्नालाल यहाँ आये थे। उन्होंने इसे बहुत पुराना बतलाया। उसके नीचे लेख भी हैं, लेकिन लिपि ऐसी है कि कोई पढ़ नही सकता।" वह मुझे वहाँ लिवा लाये। परशुराम मन्दिरके दक्खिनकी ओर एक छोटी-सी कोठरी है, जिसको दत्तात्रेयका मन्दिर कहते हैं। इस गुमनाम जगहमें भारतीय मूर्तिकलाका एक सुन्दर नमूना, पच्छिमी तिब्बत और भारतके सम्बन्धकी एक ऐतिहासिक शृंखलाके रूपमें यह बुद्धकी मूर्ति विद्यमान हैं। पहिलेका मन्दिर गोल था, इसपर पुडरीकार (छत्रमुकुट) भी था। छतरी लकड़ीकी थी। मन्दिरके चारों ओर देवदारके खम्भोंपर परिक्रमा बनी हुई थी। मन्दिर गिर गया, और २० वर्ष पहिले स्वामी पूर्णानन्द (कैलाश)ने यह नया मन्दिर बनवाया। ५, ६ पीढियोंसे पुरी-नामा गृहस्थ पुजारी यहाँ पूजा करते हैं। मन्दिरमें १५, २० रुपये आमदनीकी जागीरी जमीन हैं, राजकी ओरसे १०० रुपया सालाना भोगरागकेलिए मिलता है। मूर्त्तिको दत्तात्रेयकी मूर्त्ति कहते है। मूर्तिके प्रभामंडलके भागको सोना समझकर कोई काट ले गया। उस कटे स्थानको देखकर लोगोंने कल्पना की, कि पहिले इसमें दत्तात्रेयके तीन मुंड थे, जिनमेसे दोको बौद्धोंने काट दिया। वाम पार्श्वका प्रभामंडल कन्धेसे थोड़ा ऊपर तक बचा है, लेकिन नीचेका बिल्कुल खतम है। मूर्त्ति ३०" (४५ अंगुल) ऊँची ठोस पीतलकी है। आँखोंकी पुतलियोंकी जगहपर सदा चमकनेवाली रौप्य और ओठोंपर ताम्र धातु लगी हुई हैं। आसन-पीठ १३ अंगुल ऊँचा हैं अर्थात् आसन लिये हुए सारी मूर्त्ति ५८ अंगुल या ३ फ़ुट २ इंचके क़रीब ऊँची है। मूर्त्तिको घिस-घिसकर साफ किया जाता है, इसलिए मुखको क्षति पहुँची है। चीवर उभयांस (दोनो कन्धोंको ढाँकनेवाला है)। पाद पीठमें सामनेकी ओर तिब्बती अक्षरोंमें लिखा हुआ है—"ल्ह-ब्चन-पो-न-ग-र-ज़ि-थुवस-प" (देवभट्टारक नागराजके मुनि)। आनन्द स्वामीको मेरे लिपि-सम्बन्धी 'अगाध ज्ञान'पर बड़ा आश्चर्य हुआ। आख़िर डाक्टर पन्नालाल जैसे मर्मज्ञ भी जिस अक्षरको नहीं पढ़ सके, उसे देखनेके साथ मैंने अप्रयास पढ़ दिया, तो आश्चर्य क्यों न हो! मैंने

ओर जा रहे थे। यह छोटा-छोटा व्यापार करते हैं। उस दिन किसीके परिवारमें एक भिक्षुणी मर गई थी और लोग चाय-सत्तू-भोजका इन्तिजाम कर रहे थे। मैंने उनसे योलिङ्के बारेमें कुछ बातें पूछीं। मैं ल्हासाकी तिब्बती बोल रहा था, यह समझने लगे, कि मैं ल्हासाकी ओरका हूँ—चेहरेको बारीकीसे देखनेकी उन्होंने जरूरत नहीं समझी।

मनेरीमें हमने भोजन और विश्राम किया। इधरके पहाड़ी वैसे तो प्याज खूब खाते हैं, लेकिन यात्राके दिनोंमें दूकानमें प्याज मिलना मुश्किल है—यह सेठ लोगोंकी कृपा है! प्याजके बिना भला कोई तरकारी अच्छी बन सकती है? मनेरीमें गंगामाईकी कृपा हुई। कोई आदमी एक बोझा प्याज लादे लिये जा रहा था। हमने थोड़ीसी प्याज खरीदी। उस दिन हम सैंजोमें रहे। किसी गाँववालेने एक दूकान खोल दी है। देर हो रही थी, इसलिए हम लोगोंने यहीं रहना पसन्द किया। उज्जैन और बनारसकी भी जमात यहीं ठहरी। योझीने प्याज डालकर खूब अच्छी तरकारी बनाई। सुगन्धि चारों ओर फैलने लगी। श्रीमती नागरने भी इस देवाहारका अर्धभोजन तो किया; पर पूरे भोजनकेलिए बद्री बाबू ही सामने आये। अगले दिन (२७ मई) हम लोग थोड़ा पहिले चल पड़े। चढ़ाईका रास्ता था, लेकिन बहुत कठिन नहीं। मल्लाचट्टी प्रायः आधी दूरपर पड़ी। यहींसे बूढ़े केदारनाथका रास्ता अलग होता है। हम लोग भटवारी पहुँच गये। यहाँ डाकबंगला, धर्मशाला और कितनी ही दूकानें हैं। धर्मशालेमें हम लोगोंने भोजन और विश्राम किया।

३ बजे फिर रवाना हुए। दिन अस्त हो रहा था, तब ऋषिकुंडपर पहुँचे। ३४ वर्ष पहिले जब मैं यहाँ आया था, तब पत्थरके इतने अच्छे कुंड न थे, और न नहानेका इतना अच्छा इन्तिजाम। अब तो ऋषिका मन्दिर भी बन गया था, और पंडा कह रहा था कि इसी ऋषिकी तपस्यासे यह गर्म कुंड पैदा हुआ। लेकिन मुझे तो अपने बोझीकी बात ज्यादा युक्तियुक्त मालूम हुई। उसने कहा—एक बार महादेव पार्वती कैलाश जा रहे थे। रास्तेमें महादेवजीको लघुशंका लग गई और उसीसे यह गर्म कुंड बन गया। मुझे मालूम होता था कि पुजारी भी ऋषिकी तपस्यावाली बात नीचेवालोंको ठगनेकेलिए कहता था, नहीं तो सच्ची परम्पराका पता उसे भी जरूर था। उज्जैन-मंडलीके सत्यात्माजी (हठयोगी) हमारे साथ थे। शंकरजीके प्रभाव-तीर्थमें स्नान करते हुए मैंने सत्यात्माजीसे कहा—एक बार शंकरजी पार्वतीजीके साथ काशीसे गर्मीके दिनोंमें चले थे। भाँग-बूटीकी आदत छूटी नहीं थी, लेकिन इस नई जगहमें बूँदा-बाँदीके बेकन पहुँचे। लघुशंका लगनी ही थी, यही

वह जगह है जहाँ सदाशिवने प्रस्राव किया। सत्यात्माजी माननेकेलिए तैयार नहीं थे, और उधर पुजारी घास नोचकर संकल्प करवानेकेलिए सिरपर सवार था। हमने कहा—संकल्प रहने दीजिए, आपको ऐसे ही पैसा मिल जायेगा। स्नान करते कुछ देर हुई और हम लोग अँधेरा होते-होते गंगनाणी पहुँचे—कुंडसे यह बहुत दूर नहीं है। उज्जैनवाली जमात बहुत देरमें आई। श्रीमती नागरकेलिए पैदल चलना बहुत मुश्किल हो रहा था। लालटेन लेकर लोग उन्हें देखने गये। रातको हम यहीं रहे। गंगनाणी काफी ठंडी जगह है, उपत्यका भी यहाँ बहुत सँकरी है।

२८ मईको हम फिर आगे चले। अब देवदारके वृक्ष आने लगे थे। कुछ मील जानेपर एक धर्मशाला (ल्वारनाग) दिखलाई पडी। किसी धर्मात्माने धर्मशाला बनवा दी थी, जिसमें कोई गाय-बैलवाला आदमी रहता था। पता लगानेपर मालूम हुआ कि वह ६ आना सेर दूध और ८ आना सेर आटा दे सकता है। हमने कहा, चलो खीर ही बन जाये। खीर बनने लगी। मक्खियाँ बहुत थीं, लेकिन मक्खियों-के खानेवाले गिरगिट (साँड़े) भी कम नहीं थे। आदमीके लेट जानेपर तो वह देहपर पैंतराबाजी करने लगते थे। वह काटते नहीं, न उनमें विष होता है, लेकिन नीचेवाले उनसे डरते जरूर हैं। खीर-रोटी खा विश्राम कर हम फिर चले। ४ मील तक मामूली रास्ता था, फिर सूखी चट्टीकी चढ़ाई शुरू हुई। यहाँ गंगाके किनारे इतनी सीधी पहाड़ी दीवार खड़ी हो गई है, कि रास्तेको घुमाकर ले जाना पड़ा है। चढ़ाई दो-तीन मीलकी होगी, लेकिन नए आदमीका मन भर जाता है। आस-पास बहुत खेत हैं। अखरोटके कितने ही दरख्त हैं। सेब, आड़ू जैसे फल यहाँ बहुत अच्छी तरह पैदा हो सकते हैं, लेकिन किसीका उस ओर ध्यान नहीं। सुखीकी सर्दी में मारछा, मँडुवा, चीना, और फाफड़ा ही सनातनसे बोया जाता रहा, लेकिन अबकी साल कुछ गेहूँ भी बोया गया था। फ़सल अच्छी दिखाई पड़ रही थी। यदि ठीक उतर गई तो गेहूँ भी यहाँ होने लगेगा। आलू दस पैसे सेर था, और बहुत अच्छा आलू। काली कमलीवालेकी एक अच्छी धर्मशाला और दो दूकानें थीं। हम लोगोंके रहनेकेलिए एक कोठरी मिली। रातको यहीं विश्राम किया।

२९ मईको हमें पहिले मीलभर चढ़ाई चढ़नी पड़ी। रास्ता सुखी गाँवके पाससे था। फिर उतराई आई। यहाँसे नीचेकी ओर देखनेपर सामने गंगाकी विस्तृत उपत्यका थी, जिसके आस-पासके पहाड़ देवदारोंसे ढँके हुए थे। ४ मीलके करीब झालागाँव था, गाँव रास्तेसे हटकर कुछ नीचे है। हम लोगोंने एकाध जगह छाछ-पानीकी

कोशिश की, लेकिन नहीं मिला। उतरते-उतरते गंगाकी अँगनाईमें आए। फिर बागोरी पहुँचे। यह तिब्बती बोलनेवाले सीमान्ती लोगोंका गाँव है। तिब्बतवाले इन्हें रोङ्पा कहते हैं, और दूसरे पहाड़ी जाड कहते हैं। वस्तुतः यह हिन्दू-तिब्बती जाति है। इनके मुखपर तिब्बती मंगोलमुद्रा है, मातृभाषा भी तिब्बती है, लेकिन इन्होंने संस्कृतके साथ काफ़ी हिन्दू रवाज भी स्वीकार किया है। अब भी यह बौद्धधर्मको मानते हैं, लामाकी पूजा करते हैं; लेकिन क्षत्रिय बननेका बहुत शौक है, और इसकी कुंजी ब्राह्मणोंके हाथमें है, यह भी यह जानते हैं। बागोरी इनका स्थायी ग्राम नहीं, यह असली रहनेवाले नेलङ्के हैं। वहीं इनके खेत और अच्छे अच्छे घर हैं, लेकिन जाड़ोंमें बर्फ़ पड़नेसे पहले घरोंमें ताला लगाकर नीचे चले आते हैं। बागोरीमें दो ही चार दिन मुकाम रखते हैं। फिर उत्तरकाशीसे नीचे डूँडामें जाड़ा बिताते हैं। डूँडामें इनके मकानोंको हमने खाली देखा था। मईके आरम्भ हीमें बागोरी आ जाते हैं, और दो महीना रहकर नेलङ् चले जाते हैं, इस प्रकार इनके तीन गाँव हैं।

बागोरीमें हमने मामूली तौरसे बातचीत की, और फिर हर्शिलमें ब्रह्मचारी-जीके मन्दिरमें चले गए। हर्शिल भी अब हरिप्रयाग बननेकी तैयारीमें है। राजाराम ब्रह्मचारीने एक अच्छा मन्दिर और धर्मशाला बनवा दी है, इसमें सदावर्त भी बटने लगी है। ब्रह्मचारी कुछ साल पहिले मर गए। उनके एक ही गूँगा लड़का है। ब्रह्मचारीने अपने लड़केकी तीन शादियाँ कीं, जिनमें एक भानदे इधरके पहाड़ोंकी "हीरगोंका" की नायिका बन गई। स्वामी कृष्णाश्रम यही दिगम्बर त्यागमूर्ति हैं, जिनसे महामना मालवीयजीने हिन्दू विश्वविद्यालयके विश्वनाथ-मन्दिरका शिला-न्यास करवाया था। वह पहिले पुरुष थे, जो ग्यारह्-बारह हज़ार फ़ीट ऊँचाईकी गर्मीमें आकर दिगंबर रहने लगे। इस सर्दीमें नंगा रहना मामूली बात नहीं। पहिले जाड़ेमें वह हर्शिल चले आते थे। कहते हैं कि यह राजाराम ब्रह्मचारीकी सबसे सुन्दरी बहू भानदे (भानुदेवी) को गीता पढ़ाते थे; लेकिन वह तो मौन रहते थे, फिर गीता कैसे पढ़ाते? खैर, पहाड़ियोंने अपनी भाषामें जो गीत बनाया है, उसमें गीता पढ़ानेकी बात है। गीतके कुछ अंश इस प्रकार हैं—

"चपलीको पेरा, तें ममा बुरा मानों राजारामको डेरा।
म्हारा बुणी साहरे भान दे! तें भले सीणमो गीताको पाठ भान दे भगानी।
चीणे तू बंगला, मैं ने मानो छोड़ी हर्शिलको जंगला, हे भान दे।
गूँगानीरी गोली, ते मा मोलो भानदे! अमींमाके गीना॥"

भानदेको कृष्णाश्रमका ज्ञान इतना लगा, कि वह उनके साथ ही गई। कृष्णाश्रमने ससुरको तीन सौ रुपये दे दिए और झगड़ा पाक हो गया। अब वह भगवत्स्वरूप ब्रह्मचारीके नामसे अपने गुरुकी सेवामें रहती हैं। गंगोत्रीमें कृष्णाश्रमका एक बड़ा बंगला है। पंडा लोग बहुत विरोध करते हैं, लेकिन श्रद्धालु सेठ स्वामीके चरणोंमें शीश नवाने जरूर जाते, और खूब पूजा चढाते हैं।

हमें वैसे ठहरना तो था हरसिलमें क्योंकि नेलङ्वालोंके साथ थोलिङ्की ओर जानेकी सलाह थी, लेकिन बोझी गंगोत्री तकका था, इसलिए सोचा चलो गंगोत्रीसे भी हो आएँ। हरसिलमें एक वैदिक पाठशाला थी। पंडित हरेश्वरजी नौटियाल अध्यापक थे। उनसे चलते चलते ही परिचय हो गया, और हमने बहुतसा सामान यहीं छोड़ दिया। उस दिन ढाई मील चलकर धरालीमें रहे। धराली पचास-साठ घरोंका एक अच्छा गाँव हैं। यहाँ पँवार राजपूत रहते हैं। कई धर्मशालाएँ हैं और गंगाकी धार बहुत चौड़ी है।

दूसरे दिन बूँदा-बाँदी होने लगी, और सर्दी बहुत बढ़ गई। हम लोगोंको तो सर्दीके मारे कोठरीसे बाहर निकलना मुश्किल मालूम हो रहा था, लेकिन देखा कि एक बंगाली साधु चार अंगुलकी कौपीन लगाए एक पैरपर गंगाके भीतर खड़े जप कर रहे हैं। गिरनेसे रोकनेकेलिए कमरके नीचे एक डंडा लगा रखा था। वह डेढ़ घंटे तक इसी तरह उसमें खड़े रहे। यह कम तपस्या नहीं थी। लेकिन देख रहे थे कि तपस्याका आकर्षण अब कुछ कम होता जा रहा है। श्रद्धाका सुनहरा युग उस समय था, जब कृष्णाश्रम इधर आए थे, और उनकी माँग काशी तक हुई थी। अब एक दर्जनके करीब ऐसे तपस्वी हो गए है, इसलिए महिमा कम होनी ही थी। मेरे कुछ दोस्त इसपर अफसोस कर रहे थे। मैंने तो कहा कि उत्तराखण्डमें १००दिगंबरोंकी जरूरत है, तब जाकर श्रद्धाका बाँध टूटेगा। योग और समाधिके बारेमें भी यही राय है। छ छ घण्टे समाधि लगानेवाले एक लाख माईके लाल पैदा हो जायँ, तो सारे चमत्कार-आकर्षण खतम हो जाएंगे, और लोग ज्यादा बुद्धिसे काम लेंगे। वर्षाके कारण अगले दिन (३० मई) २ बजेसे पहिले हम धराली नहीं छोड़ सके। देवदारोंकी छायामें चलनेमें बड़ा आनन्द आ रहा था। गंगा के पार पंडोंका गाँव मुखवा दिखाई पड़ रहा था। १९वीं शताब्दीकी अंतिम दशाब्दीमें गढ़वाल नेपालके हाथमें चला गया। नेपालियों (गोरखों) ने गंगोत्रीमें गंगाजीका एक मन्दिर बनवाया और मानसा गाँवके गंगारामके पुत्र कीदू और केदारदत्तको पूजाका काम सौंपा। उसी वक्तसे गंगोत्री महातीर्थकी स्थापना हुई। आज यदि आप किसी पंडेसे पूछें, तो सतयुगसे इधरकी बात ही नहीं

दो सन्त पर एक मन्तिनी हैं। साधुओंके पाखंडके भीतर उनको रहना पड़ा था, इसलिए उनके प्रति एक विरक्ति आगई थी। वह पुराने कांग्रेसकार्यकर्ता थे, और मुझे अच्छी तरह जानते थे, इसलिए हम लोगोंमें एक तरहकी आत्मीयता स्थापित हो गई। गंगा-माईमें स्नान करनेकी बात पूछी। मैंने कहा जरूर स्नान करो और उन्होंने उस ठंडी धारमें पाँच-सात डुबकी लगाई। ऋषिकेशमें भी गंगाका पानी ठंडा रहता है, जाड़ोंमें भी उन्हें एक लँगोटी लगाए खड़ा रहना पड़ता था, इसलिए उन्हींकी हिम्मत थी, जो इतनी डुबकियाँ लगा पाए। भगतलोग दिगम्बरोंके उपनिवेशकी ओर दर्शन करनेकेलिए जा रहे थे, लेकिन हमने जाना पसन्द नहीं किया। परिचितोंमेंसे कोई कृष्णाश्रम और आनन्दका भी दर्शन कर आया था। दोपहर बाद जब हम लौट रहे थे, तो गौरीकुंडके पुलके पास एक नंगे काले विशाल दिगम्बर जटाधारीको चट्टानके सहारे खड़ा देखा, खैर उत्तराखंडके एक तपस्वीका दर्शन हमें भी हो गया। पीछे नागार्जुन जी बतला रहे थे, कि यह महात्मा कैलाशके रास्तेमें थोलिङ् तक पहुँचे थे। सत्रह-सत्रह हजार फ़ीट ऊँचे डाँडेको नङ्गे पार करना साहसका काम जरूर है, हो सकता है कि कुछ ठहर ठहरकर जाते, तो बर्दाश्त भी हो जाता, एक-व-एक जानेपर शरीरने इन्कार कर दिया, और महात्माको बुखार आने लगा। वह मौन भी रहते थे, लेकिन मौन तोड़कर नागार्जुनसे उन्होंने बात की और कहा कि अब मैं कैलाश नहीं जाऊँगा। वह वहाँसे लौट आए। ११ हजार फ़ीटपर अभ्यास करनेसे आदमी बारहो महीना बिना कपड़े नंगे रह कर सर्दी बर्दाश्त कर सकता है, इस बातको इन तपस्वियोंने सिद्ध कर दिया। जाड़ोंमें वहाँ कोई भगत नहीं आता। रहनेकेलिए कुटिया बनी हुई हैं। पासमें लकड़ियोंका जंगल है। मालूम नहीं उन वक्त ये लोग आग तापते हैं या नहीं। काले दिगम्बरकी तोंद देखनेसे यह भी पता लगा, कि इस तपस्यासे शरीर कृश नहीं हो सकता, यदि खानेको खूब घी-शक्कर-आटा मिले।

हर्षिलमें (१–७ जून)—३१ मईके दोपहरको हम गंगोत्रीसे लौट पड़े। घोड़ोंको हमने सवेरे ही छोड़ दिया था। नागार्जुन और मेरे अतिरिक्त मेरी जमातमें योगानन्द और जगाधरीके पासकी एक संन्यासिनी थीं। उसी दिन हम साढ़े आठ बजे धराली चले आए। बड़ी दौड़ लगाई थी, इसलिए यहाँ पहुँचनेपर शरीर चूर-चूर हो रहा था।

अगले दिन (१ जून) बड़े सवेरे चल दिए और घंटाभरमें हर्षिल चले आए। अब थोलिङ् जानेकी धुन सवार थी। पच्छिमी तिब्बतके एक कोने (छपरङ्ग)-में १६२५ में भी जगाया गया था। ११वीं शताब्दीमें यहाँके बौद्ध विहारोंमें संस्कृत

के सैकड़ों गम्भीर ग्रन्थोंके अनुवाद हुए थे, इसलिए मुझे कुछ सन्देह जरूर था, कि वहाँ संस्कृतके ग्रन्थ भी होंगे। पीछे नागार्जुनजीने थोलिङ्से लौटकर कहा, कि उनका भी इसपर विश्वास है, लेकिन वे ग्रन्थ तिब्बती सरकारकी मुहर लगकर बन्द चीजोंके भीतर हैं। उत्तरकाशीकी बुद्ध प्रतिमा और उसपर नागराजके लेखको देखकर मेरी और भी इच्छा हुई, कि कमसे कम थोलिङ् चले चलें। लेकिन मैं एक माससे ज्यादा दे नहीं सकता था, यह भी दिक्कत थी। उस दिन नंबरदार दिलीपसिंहसे भेंट की। उन्होंने कहा, कि नेलङ् वाले ऊपर ७,८ दिन बाद जायेंगे।

पंडित हरेश्वरजीसे हमारा उसी दिन अच्छा परिचय हो गया था, और वह हर तरहसे कोशिश करते थे, कि हम लोगोंको किसी तरहकी तकलीफ न हो। उनके विद्यार्थी हमारे लिए भी खाना बना देते थे।

पंडित हरेश्वरजीने बतलाया कि यहाँसे मुखवाके रास्तेपर पहाड़पर किसी राजाकी राजधानी थी, उसकी टूटी फूटी दीवारें और दूसरी चीजें अब भी दिखाई पड़ती हैं। हम लोग खाना खाके पहिली जूनको इस पुरानी राजधानी कछोराकी ओर रवाना हुए। चढाई चढ़नी पडी और शायद एक मीलसे ज्यादा। ऊपर वस्तीके चिह्न साफ दिखाई देते थे। कोई कोई गढ़े हुए पत्थर भी मिले। परित्यक्त खेत तो बहुतसे थे। पहाड़ीके ऊपर पुराने किलेका ध्वंसावशेष आजकल सभी जगह वीरान पडा है। जिस जगहपर गढे हुए पत्थर दिखलाई पड़ते हैं, वहाँ खुदाई करनेसे शायद कुछ पुरानी चीजें भी मिलें। पंडितजीने इस स्थानकी पुरानी कथा सुनाई। पहिले गुमगुमासे मुखीकी चढ़ाई तक एक राजा राज करता था, जिसकी राजधानी कछोरामें थी। उसका भाई सीमामें रहता था। दोनों भाइयोंमें झगड़ा हो गया। छोटा भाई भागकर भोट चला गया और वहाँसे भोट राजाने उसकी मददकेलिए सेना भेजी। उसी वक्त कछोरा बर्बाद हुआ। कोई कोई कहते हैं कि कछोरा नहीं, सीमा राजधानी थी। और भोट सैनिकोंने अनजाने अपने मित्रके निवास कछोरामें आग लगा दी। ३ जूनको हम कछोरा गए। बड़े कछोरासे पहिले छोटा कछोरा मिला। यहाँ पहिले बहुतसे खेत थे, जिन्हें सरकारने "रक्षित वनखण्ड" बना दिया और अब पुराने खेतोंमें देवदारूके दरख्त लग गए। छोटे कछोरासे आगे थोड़ी सी चढ़ाई आई। आध मील जानेपर फिर खेतोंकी विस्तृत भूमि आ गई। कुछ खेत अभी भी हैं। कछोरा राजमें पहिले आठ बड़े बड़े गाँव थे, जिनमें गरतांक, रतोटिया, भन्डार, कोटा (गुमगुमा) यह चारों अब ध्वस्त हो गए हैं, सीमा, कछोरा, पुराली और सुखीं अब भी किसी न किसी हालतमें वर्तमान हैं। कछोराके ध्वंसके इतिहासके बारेमें और भी मालूम

हुआ : "दो भाई थे। राज दोनोंमें बँट गया। परंपराके अनुसार बड़े भाईको ज्येष्ठांश मिलना चाहिए था, लेकिन छोटेने न देनेकेलिए झगड़ा कर लिया। जब अपनेसे काम नहीं बना, तो छोटा भोट जाकर वहाँसे सेना ले आया। पहिले छोटे भाईकी राजधानी सीमा आई। भूलसे भोट सैनिकोंने सीमाको जला दिया। कछोरा जानेपर वहाँ देवीके मन्दिरमें साठ शत्रु सैनिक बन्द मिले। उन्होंने देवीमन्दिर मार्कंडेयमें आग लगा दी। राजा घायल होकर मर गया। उसके वंशज भागकर रमौली चले गए।" नीचे मैंने किसी पुराने मन्दिरके पत्थरके चौखट देखे। पत्थरोंमें लोहा डालनेकेलिए छेद भी बना था। पहिले इधर नहर भी आती थी, जिससे कि ये सारे खेत आबाद थे। पुरानी बस्तीके अवशेष ये कुछ गड़े पत्थर और दो एक खूबानियोंके वृक्ष हैं। वहाँसे एक मील और चढ़ाई चढ़नेके बाद हम एक जगह पहुँचे। यहाँ चट्टानमें गणेशकी द्विभुज मूर्ति उत्कीर्ण थी। उसके एक हाथमें परशु था, पासमें किसी मन्दिरके शिखरका आमलक था, जिसमें इकतीस आमलक रेखाएँ थीं। इसे कहीं दूसरी जगहसे लाया गया बतलाते थे। पासकी चट्टानपर १६ अक्षरोंका एक लेख खुदा हुआ था। दूसरी पंक्तिमें सिर्फ़ एक अक्षर था। अक्षर स्पष्ट नहीं थे। लेकिन "क, य, ज," बतला रहे थे, कि यह १०वीं सदीके आसपासमें लिखा गया था। मैंने लेखको अपनी डायरीमें नोट कर लिया। यहाँ स्ट्राबरी खानेको मिली—स्ट्राबरीको यहाँके लोग फलोंग कहते हैं।

पंडित हरेश्वरजीने बतलाया कि भटवारीसे आध मील ऊपर भी कोई राजा रहता था, जहाँ कुछ पत्थरकी मूर्तियाँ अब भी मौजूद हैं। इसी तरह सुखीके ऊपर भी एक राजा रहता था। उनका कहना था, नेलङसे उत्तरकाशी तक ५ राजा थे। हरसिलको होसिङ (होमलिन) नामके एक अंग्रेजने बसाया। उसीने पहिले-पहिल यहाँसे देवदारकी लकड़ी नदीके द्वारा नीचे भेजी, लोगोंको ख्याल भी नहीं था, कि इन लकड़ियोंका कोई दाम भी हो सकता है। होमलिनका बँगला अब भी मौजूद है। देवदारकी लकड़ीका यह एक दोतल्ला मकान है। कमरे बड़े-बड़े हैं, जिसमें शयनगृह, पाठगृह, भोजनगृह, बैठकखाना और स्नानागार भी हैं। जाड़ेमें मकानको गर्म रखनेका भी इन्तिजाम था। लकड़ियोंमें कुछ काष्ठकार्य भी देखनेमें आया। दरवाजे खूब बड़े-बड़े हैं। बाहर साहबने एक सेबका बाग लगावा था, जिसके अब दो-एक ही वृक्ष रह गये हैं। होमलिनने चाहा कि वह अपनी सन्तति यहाँ छोड़ जाय, इसीलिए उसने मुखबाके एक बाजगीकी लड़कीसे शादी की। लेकिन सन्तान साहेब बने बिना नहीं रह सकी। उन्होंने हरसिलको बेच दिया।

चालीस-पचास सालसे इस बँगलेमें कोई नही रहता, अब यह राजकी सम्पत्ति है। थोड़ेसे खर्चसे इसे मरम्मत करके अच्छा बनाया जा सकता है। होसलिनने यहाँसे पहिले-पहिल लकडियाँ भेजी थी। आज बड़े पैमानेपर देवदारकी लकड़ियाँ गंगामे तैरती हरद्वार पहुँचती है। उसने सेवके बाग़ लगाये थे और आज भी राजोद्यान तथा ब्रह्मचारीके बाग़में सेब, नासपाती, बिही, खूबानी आदिके वृक्ष लगे हुए हैं। नये सेबके तैयार होनेमे तो अभी कई महीनोंकी देर थी, किन्तु ब्रह्मचारीजीकी दूकानसे मुझे पिछले सालके सेब खानेको मिल गये। होसलिनने ही पहिले इस इलाक़ेमें आलूकी खेती शुरू की, आज इधरके सभी गाँवोंमें आलूकी खेती खूब होती है।

पंडित हरेश्वरजी नैटियालके विद्यार्थी रुद्री और यजुर्वेदका स्वर-सहित अध्ययन करते थे। ३३ साल पहिले मैंने भी बनारसमें इन्हीकी तरह हाथ ऊपर-नीचे करते रुद्री और यजुर्वेद संहिताको पढा था, लेकिन उस वक़्त अर्थ समझनेकी क्षमता नहीं रखता था। मैंने रुद्रीको उठाकर देखा। मालूम हुआ, उसको रुद्री कहना ही गलत है। वस्तुतः वह इन्द्री है, क्योंकि उसमें इन्द्रके मन्त्र ही सबसे अधिक है। जान पड़ता है, इन्द्र आदि देवताओंके मन्त्रोका कोई एक संग्रह था, जिसका पहिले कोई दूसरा ही नाम रहा होगा, पीछे शैवोंने इसे दख़ल कर लिया और नाम बदलकर रुद्राष्टाध्यायी कर दिया।

इधर जंगलोंमें जिम्बू बहुत होता है। जिम्बूको यहाँके लोग लादू कहते हैं। शायद पलान्डु (प्याज) भी इसी लादू (पलादू) से बना है। लादू है जंगली प्याज, लेकिन इधर इसे देवताओंका प्रिय मसाला माना जाता है। यहाँके लक्ष्मीनारायणके मन्दिरमें रोज इसको डालकर भगवानकेलिए दाल-तरकारी तैयार की जाती थी। गंगोत्रीकी गंगामाई भी उसे बहुत पसन्द करती है। पंडा लोग यात्रियोंको उसे प्रसादके तौरपर देते है। एक सेठ-सेठानीको—जो शायद अग्रवाल थे—भी पंडाने लादू दिया था। उन्होंने तरकारीमें छोड़ा। सेठानीको पसन्द नहीं आया। वह शिकायत कर रही थी। मैंने कहा—"राम-राम ! आप क्या कर रही है, आप यहाँ देवताओंका प्रसाद लेने आई हैं, या शाप। यह कैलाशकी बूटी है, प्याज नही है। यदि इसकी गन्ध आपको अच्छी नहीं लगती, तो अपना दुर्भाग्य समझिए। हो सकता है, किसीको अगरबत्तीका धूम भी बुरा लगे।" उनके साथका पंडा बहुत खुश हुआ। उसने मेरा समर्थन करते हुए कहा—"आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं—हम लोग प्याजका भोग देवता को नहीं लगा सकते, लेकिन लादूका भोग हमेशासे लगता आया है।" सेठानी कहने लगी—"मुझे तो इसकी गन्ध प्याज जैसी मालूम होती है।" पंडा और मैं

दोनों सहमत थे, कि यह नानाका कसूर है। नौटियालजीकी श्रद्धा और मेरे प्रति सम्मानको देखकर सेठसेठानी यह तो जानते ही थे, कि यह आदमी शास्त्रवेद जानता है। मैंने बड़ी गम्भीरताके साथ फ़तवा दिया—"आपको यदि इस यात्राका पुण्य लेना है, तो लादूके प्रति, अतएव देवताओंके आहारके प्रति, जो अपमान किया है उसका मार्जन करें, उसे दोनों वक़्त भोजनमें डालकर खायें। छौंक-बघार और मसालेके तौरपर इस्तेमाल करें।" सेठानी भयभीत तो हो गई थी, पर मालूम नहीं, उन्होंने देवताओंको प्रसन्न किया, या नाराज कर ही लौट गईं।

गंगोत्रीसे वहाँ बाबू और श्रीमती नागर भी लौट आई थीं। वह लोग भी यहाँ दो-एक रात ठहरे। बाबूको तो प्याज पसन्द थी, मैंने श्रीमती नागरको भी लादू माहात्म्य सुनाया, लेकिन मेरे व्यंगोंसे बहुत परिचित थीं, इसलिए उनपर जादू नहीं चल सका।

पचीसतीस साल पहिले ऋषीकेश तपोवन था। अब वह अयोध्याकी तरह एक शहरके रूपमें परिणत हो गया है और साधुओंमें वही जीवन दिखाई देता है, जो अयोध्यामें। उत्तरकाशीमें साधुओंकी जमात बढ़ती जा रही है। कई अच्छे-अच्छे मकान बन गये हैं। लड़ाईके कारण नहीं हो सका, नहीं तो वहाँसे टेहरी तक मोटर-का रास्ता बन गया होता, लेकिन लड़ाईके बाद उसे कौन रोक सकता है। उत्तरकाशी भी ऋषीकेशके क़दमोंपर चल रही है। अब दूकान गंगोत्रीमें भी बढ़ रही है और वह भी उस दिनका सपना देख रही है, जब कि वहाँ भी कमसे कम गर्मियोंकेलिए ऋषीकेश बस जायगा।

तिब्बतके रास्तेमें—अब हम लोग आगे जानेकी कोशिशमें थे। नागार्जुनजी तो अनिश्चित कालकेलिए तिब्बती भाषाके अध्ययनार्थ जा रहे थे, किन्तु मैं तीन, चार हफ़्तेसे ज्यादा नहीं दे सकता था। मेरा इरादा था थोलिङ जाकर लौट आनेका। सोचा गया, यहींसे घोड़ा और आदमी लिया जाय तो काम ठीक समयपर समाप्त हो सकेगा। मेरे एक पैरमें कुछ चोट आ गई थी, इसलिए भी चलनेमें दिक़्क़त थी। ढूंढ़ते-ढांढ़ते नेलङका छिवडग नामक तरुण मिल गया। बहुत ही धार्मिक स्वभाव-का नौजवान था। मेरे बारेमें कितनी ही बातें लोगोंमें फैल गई थीं। मैं फर-फर तिब्बती बोलता ही था, ल्हासा कई बार हो आया था, मेरी लिखी तिब्बती भाषाकी

चचाकी घोड़ी ले कर ली। उत्तरकाशीमें मैंने १०० रुपयेका एक नोट भुनाया था, कुछ फुटकर पैसे भी थे। लेकिन थोलिङ जानेकेलिए और पैसोंकी जरूरत थी। मैंने जब अपना सौ रुपयेका नोट भुनानेकेलिए भेजा, तो पता चला, यह नही भुन सकता, क्योंकि किसी बैङ्ककी मुहर थी। नीचे होता, तो इसे अच्छा समझा जाता; लेकिन यहाँ ऐसा दागी नोट लेनेकेलिए कोई तैयार नही था! सारा गुड़ गोबर होना चाहता था। उसी दिन (७ जून) जयपुरके एक बडे सेठ आ गये। वैसे होता, तो कुछ दिक्कत भी होती, लेकिन किसीने उनके सामने मेरी महिमा गा दी थी, और रातको वह खुद "मैं आ सकता हूँ" कहकर मेरे पास आये। परिचय हो गया। नोटकी दिक्कत मैंने कही। उन्होंने पाँच-पाँच रुपयेके बीस नोट दे दिये, चलो गंगामैयाने यह समस्या भी हल कर दी।

८ जूनको सत्तू खाकर हम तीनों आठ बजे रवाना हुए। मै घोड़ीपर था। धराली और साङला (झाङ्ला या जाङ्ला नहीं) के आगे कोपड्में भेड़वालोंके पड़ावमें देवदारके नीचे ठहरे। यही चाय-सत्तू हुआ। कुछ देर विश्राम करके १ बजे फिर चले। आगे गंगोत्रीका रास्ता छोड़कर बायेका रास्ता पकड़ा। पुराने झूलेके थोड़ा पहिले हीसे देवदारकी अत्यन्त रमणीय स्थली आई—शायद हिमालयमें यह अति-सुन्दर देवदार वन है। मन कहता था, कि यहीं एकाध महीने ठहरा जाय। देवदारके घने हरित पत्रोंकी छायाके भीतर सूर्यकी किरणें घुस नही सकती थीं, नीचे सूखे सूचीपत्रोंका गद्दा बिछा हुआ था, चारों ओरसे देवदारकी भीनी-भीनी सुगन्ध आ रही थी। सड़कके किनारे एक जगह थोडासा खुलासा स्थान था। यहाँ नेलङका एक परिवार पड़ा हुआ था। उनकी गायें और चँवरियाँ जंगलमें चर रही थीं। घरकी तरुण लड़की बहुमूत्र रोगसे अत्यन्त पीड़ित थी। उन्होने दवा माँगी, लेकिन हमारे पास दवा न थी। मैंने दही-भात खिलानेकेलिए कहा। आगे कुछ दूर और पर्वत-पृष्ठकी समतल भूमि मिली, फिर उतराई और चढ़ाईका रास्ता आया, जो कहीं-कही अत्यन्त कठिन था। रास्ता बनानेकेलिए सारा श्रम और धन नेलङ्वाले खर्च करते हैं, टेहरी दरबार कुछ नही देता—अभी इस भूमिकेलिए तिब्बत और टेहरी दर्बारमें तनातनी भी है। दोपहर बाद होसे ऐसा रास्ता आ गया था, कि मै घोड़ीपर नही चढ सकता था। गरदङ्के काष्ठपुलसे थोड़ा पहिले ही हमें रातकेलिए ठहरना पड़ा। चारों ओर टूटी चट्टानें पड़ी थी, और गंगा बड़े जोरसे गर्जन करती हुई वह रही थीं। हवा तेज थी, इसलिए सर्दी भी काफ़ी थी। आसपास जंगली चयुआ बहुत था। हमने बथुआका चर्बी-आलू-चावल-साद्दू डालकर थुकपा पकाया। चाय

बनी। घोड़ीके घासकेलिए ज्यादा तरद्दुद करनी पड़ी।

९ जूनको सवेरे ६ बजे फिर रवाना हुए। नेलङ्वालोंके बनाये लकड़ीके पुलको पार किया। रास्ता बहुत कड़ा था। वस्तुतः इस रास्तेके बनानेमें आदमीने बहुत कम हाथ लगाया है। एकाध जगह खूबानीके वृक्ष दिखाई पड़े, जो बतला रहे थे, कि यहाँ कभी आदमी बसते थे। पुल पार होते ही हमें पदुम वृक्ष (सरो, सुरपा या बलसाम्) मिलने लगे। धीरे-धीरे देवदार छोटे और विरले होते-होते खतम हो गये; फिर पदुम वृक्ष ही नेलङ्से कुछ मील पहिले तक मिलते गये। आज कई जगह ऐसे खतरनाक रास्ते मिले, जहाँ नीचेकी ओर खिसकती सूखी मिट्टी और कंकड़ियों-परसे हमें पार होना पड़ा। एक जगह शिवदत्तको घोड़ीकी पीठसे सारा सामान उतार-कर पार करना पड़ा। घोड़ीको भी लगाम पकड़ कर ले जाना पड़ा। इधरकी घोड़ियाँ भी छिपकलीकी औलाद हैं, नहीं तो इस रास्तेको पार करना कुछ आसान नहीं है। एक जगह एक साधू लौटते मिले। बेचारे रास्ता भूलकर गंगोत्री न जा इधर चले आये थे। जहाँ दो रास्ते होते हैं, वहाँ हिन्दीमें एक मोटा साइनबोर्ड लगाना चाहिए था। किंतु यहाँ एक छोटीसी तख्ती एक वृक्षपर ऐसी जगह लगा रखी थी, जिसपर बहुत कम आदमियोंका ध्यान जा सकता था। गरदङ्—शायद इसीको नीटियाल गरतोक कहते थे—के सामनेवाले एक पहाड़को दिखला कर शिवदत्त बतला रहे थे, कि पहिले वहाँ दुर्ग था, बस्ती भी थी, वहाँ अब भी खूबानीके वृक्ष पाये जाते हैं। नेलङ्वालोंकी भेड़ें जहाँ-तहाँ आती मिलीं। ६ मील चलकर हमने सत्तू खाया। फिर चले। नेलङ् पहुँचनेसे मील भर पहिले ही जंगल खतम हो गया। अब तिब्बत-की तरह नंगे पहाड़ और नंगी अँगनाई दिखाई पड़ रही थी। नेलङ् खतम होनेके पहिले मेलिङ और चोरघाट गंगाका संगम था। शिवदत्त बतला रहे थे, कि इधरसे जाकर आदमी बुशहर (कनौर)में पहुँच सकता है। रास्तेमें एक जगह नालेमें भी बर्फ मौजूद थी, हम उसे पार हुए और ३ बजे नेलङ् पहुँच गये।

नेलङ् ६०, ७० घरका एक बड़ा गाँव है। मकानोंकी छतें लकड़ीकी हैं, और दीवारमें भी बहुत अधिक लकड़ी लगी गई है। अभी गाँवमें सन्नाटा था। घर पीछे एक-एक आदमी आकर जौके खेतोंको बोकर चले गये थे, लेकिन फाफड़के बोनेमें देर थी। घरोंमें ताले बन्द थे। भटवारीके जितने ही पहाड़ी भेड़-बकरियोंपर अनाज लादकर नमक बदलने आये थे, लेकिन अभी नमक लानेवाले भोटियोंका कहीं पता नहीं था। एक मकानके सायबानमें हम लोगोंने डेरा डाला। हवा खूब चल रही

थी, इसलिए सर्दी भी काफी रही, लेकिन जब आदमीको दो-तीन हफ्तें अभ्यस्त हो जाता है, तो सरदी उतनी कडी नहीं मालूम होती।

१० जूनकी घोड़ी ले तीनों मूर्ति थोलिङ् चले। करीब एक मील चलनेपर गंगा दो चट्टानोंके बीचमें वह रही थी। हम सुन चुके थे, कि यहाँ एक विकराल दैत्य रहता है, जो हर साल न जाने कितने प्राणोंकी बलि लेता है। पुलके देखते ही इस बातकी सच्चाईपर पूरा विश्वास हो गया। पुल क्या था, दो गोल-गोल लट्ठे रखे थे। वह एक तरफ़ एक हाथ चौड़ा था, और दूसरी ओर एक बित्ता रह गया था। लट्ठोंके ऊपर छोटी-छोटी टहनियाँ बिछाई हुई थी, जिनके ऊपर पत्थरके टुकड़े रखे थे। चलनेपर लट्ठे हिलते थे, उनसे ज्यादा टहनियाँ हिलतीं, उनसे भी ज्यादा पत्थर काँप रहे थे और नीचे प्रलय कोलाहलके साथ गंगाका खौलता पानी वह रहा था, जिसके चार ही पाँच हाथ आगे बड़ी-बडी चट्टाने थीं। इसमें गिरनेवालेकी मौत ठीक योगियोंकी मौत होती, ज़रा भी सोचने-समझनेका मौक़ा नहीं मिलता, और शरीरके पचासों टुकड़े हो जाते। यह नज़ारा सामने था, जब हम पुल पार करने जा रहे थे।

शिवदत्त तो सामान पीठपर लादे बकरोंकी तरह खट-खट करते पार हो गया। मैंने अपने हृदयके भावोंकी ज़रा भी छाप चेहरेपर आने न दी, और उस पार पहुँच गया—हाथ-पैर तुड़वाकर अपाहिज बन कर जीनेकी यहाँ सम्भावना ही नहीं थी, फिर ऐसी मृत्युसे डरनेकी क्या ज़रूरत? ऊपरसे मैं यह भी जानता था, कि यह दैत्य हजार आदमियोंमेंसे एककी बलि लेता है, मैं खुशीसे ९९९वाली नाम-सूचीसे अपना नाम क्यों कटाता? लेकिन, नागार्जुनजीकेलिए बड़ी समस्या थी। हिम्मत छोड़ देना भी बुरा था, आखिर दुनिया क्या कहती? लेकिन जब हिलते लट्ठोंको देखते, टहनी और पत्थरोंको काँपते देखते, नीचे मृत्युको अट्टहास करते देखते, तो शरीरका सारा खून जमने लगता। मैंने उन्हें मन्तर बता दिया, कि नीचेकी ओर मृत्युके मुख-विवरको मत देखो। लेकिन अट्टहास उनके ध्यानको अपनी ओर आकर्षित किये बिना नही रहता। खैर, सोच-साचकर उन्होंने कदम आगे बढ़ाया। मालूम होता था, एक-एक पैर अस्सी-अस्सी मनके है। ऐसी जगहोंपर जहाँ सबसे खतरेकी गति है, वहाँ तो सरपट मारते पार होनेकी ज़रूरत होती है। इस पार आये, तो मैंने कहा—"जय अपराजिता माईकी।" अपराजिताने अपने सिन्दूरकी रक्षा अपने ही की।

खैर, हम तीनों तो उधर पहुँच गये, सामान भी पहुँच गया, लेकिन घोड़ी उस पुलको कैसे पार कर सकती थी? शिवदत्तने घोड़ीको तब भी लानेकी कोशिश की,

खबर दी—घोड़ी निकल आई। अब घोड़ी लेकर थोलिङ जानेका कौन नाम लेता? घोड़ी छोड़ते तो हमारे पास सामान इतना था, कि शिवदत्त उसे उठाकर चल नहीं सकता था। दूसरा रास्ता यह था, कि मैं हफ्ते-दो हफ्ते नेलङ्में ठहरूँ, लोग आवें, नया पुल बने, फिर थोलिङ्केलिए चलें। मेरे पास इतना समय नहीं था, जुलाईमें मुझे लौटना था। मैंने लौटनेका निश्चय किया। नागार्जुनजीसे कहा—"तुम भी चलो दार्जिलिंगमें तिब्बती पढना"। लेकिन उनका संकल्प बहुत दृढ़ था, और वह उसे छोड़ना नहीं चाहते थे। पाथेय और उपहार उनके साथ छोड़ १२ जूनको शिवदत्त और घोड़ीको लेकर मैं लौट पड़ा।

मसूरीकी ओर—लौटते वक्त हमारे कदम बड़ी तेजीसे बढ़े। भैरवघाटीके पुराने पुलके पास उसी रमणीयतम देवदार वनमें नेलङ्वालोंके पास चाय पी। कोपङ्में शेरसिंह मिले। कहनेपर उन्होंने विश्वास दिलाया, कि हम अच्छी तरह नागार्जुनजीको थोलिङ् पहुँचा देंगे। साढे १२ घंटेमें २५ मील चलकर उसी दिन शामको हम हरसिल पहुँच गये। शिवदत्त मंसूरी तक हमारे साथ चलनेकेलिए तैयार हो गये, इसलिए दूसरे दिन (१३ जून) आकर हम गंगनाणीमें ठहरे। अब वर्षाके दिन थे, इसलिए रास्तेमें भी भीगनेकी नौबत आती, लेकिन आनन्द स्वामीने एक बरसाती दे दी थी, उसने बहुत मदद की। नेलङ्से हम तीसरे ही दिन उत्तरकाशी पहुँच गये होते, लेकिन गगांरी पहुँचते-पहुँचते वर्षा तेज हो गई, और हमें वहीं रह जाना पड़ा। १५ जूनको सबेरे ही हम उत्तरकाशी पहुँच गए। आनन्द स्वामीसे मिले। "दर्शन-दिग्दर्शन"के प्रूफके दो पुलिन्दे आये थे। मैं प्रूफोंके देखनेमें लग गया। मसूरी तककेलिए स्वामी गणेशानन्द साथी मिल गये।

मुझे प्रूफ देखकर यहींसे लौटा देना था, इसलिए १६ जूनको ढाई बजे तक मुझे उत्तरकाशीमें रहना पड़ा। स्वामी गणेशानन्दसे सलाह हुई, कि वह डूँडामें पहुँचकर ठहर जायें। शिवदत्त और मैं भी डाकखानेसे छुट्टी पाकर चले। बरसातके कारण पर्वत रोम-रोमसे पुलकित हो गये थे—चारों तरफ़ हरी-हरी घास दिखाई पड़ती थी। डूँडामें नेलङ्वाले लोगोंके घरोंके बाहर बड़े-बड़े पत्तेवाले धतूर उगे थे। गोबर और लेंड़ीकी इतनी खाद जमा हो गई थी, कि जिससे पचासों एकड़ खेत पाटे जा सकते थे। डूँडामें नेलङ्वालोंने हाल हीमें अपनी बस्ती क़ायम की है, और दो-तीन घरोंको छोड़कर बाकी मामूली झोंपड़ियाँ हैं। रातको हम लोग डूँडामें ठहरे। शिवदत्तने रोटी-भाजी बनाई, तीनों मूर्त्तियोंने डटकर भोजन किया।

स्वामी गणेशानन्द छिपे रुस्तम निकले। उन्होंने आनन्द स्वामीसे मेरी तारीफ़

तो बहुत सुन रखी होगी, लेकिन अब उनका गुण प्रकट होने लगा। वह उन जगहोंका भी चक्कर लगा आये थे, जहाँ जानेका मैंने कभी स्वप्न देखा था, और वह स्वप्न अभीतक पूरा नहीं हुआ। वह यारकन्द और चीनी तुर्किस्तान हो आये थे। ल्हासा और मानसरोवरको भी उन्होंने देखा था। जावामें भी वह रहे, और फ्रेंच हिन्दी-चीनके सैगोंदूको भी देख आये थे। गढ़वाल और शिमलाके पहाड़ तो सदा उनके पैरोंके नीचे रहते हैं। मेरे सामने एक ऐसा आदमी था, जिससे मैं ईर्ष्या कर सकता था। यह जरूर था कि उनमें अन्तर्दृष्टि नहीं थी, और न क़लमकी ताक़त ही, इसलिए हजारों वर्षोंसे जैसे हमारे फक्कड़-साधु फाकेमस्त, चीन आदि दुर्गम देशोंमें घूमते अपना चिह्न भी नहीं छोड़ पाये, उन्हीं आदमियोंकी भाँति स्वामी गणेशानन्द भी नाम रहे।

१७ जूनको हम ६ ही बजे रवाना हुए। धरासूमें गुड़ खाकर चाय पी। खानेकेलिए हम एक मील और आगे एक दूकानमें ठहरे। भोजन हुआ, और चार बजे रवाना हुए। नाला पार करके हमने टेहरीका रास्ता छोड़ा। सुना था, भल्याणासे मसूरीका रास्ता अच्छा है, लेकिन हमने बरस दिनका नहीं, छ महीनेका रास्ता पकड़ा—वह रास्ता जिससे पहाड़ी लोग आते-जाते हैं। दाहिनी ओर कुछ खेत थे, उन्हीं में से हमारा रास्ता था। गर्मी थी, इसलिए स्वामी गणेशानन्दने कुछ सामान तो शिवदत्तको दे दिया था, और कुछको सिरपर रख लिया था। उनके बदनपर एक लँगोटी रह गई थी, जिसमें पेट खूब बाहरकी ओर निकला हुआ था। कुछ औरतें खेतमें काम कर रही थीं। वह स्वामीको देखकर खूब हँसीं, लेकिन स्वामी 'कुत्ते भूँकते रहते हैं, हाथी चला जाता है'-की कहावतको चरितार्थ कर रहे थे। आगे हम पहाड़पर धीरे-धीरे ऊपरकी ओर चढ़ने लगे। चारों ओर चीड़के वृक्ष थे। एक जगहसे देखा, गगुणकी चट्टी दूर नीचे दीख रही है। चढ़ाई बहुत मुश्किल नहीं थी, लेकिन आगे जानेमें बहुत बड़ी उतराई आई। उतराई उतरनेके बाद ही वैसी ही चढ़ाई शुरू हुई। अब मैं पहाड़ी यात्रासे अभ्यस्त हो गया था, इसलिए किसीसे पीछे रहनेवाला नहीं था। शामको ८ बजे लालूरी पहुँचे। यह दस-बारह घरोंका गाँव है। हम गाँव के नम्बरदार एक गौड़-सारस्वत ब्राह्मणके दरवाजेपर ठहरे। उत्तरकाशीमें खुबानी कच्ची थी, हर्सिलमें और कच्ची थी, लौटकर जब तक उत्तरकाशी आये, तब तक खुबानीकी फ़सल ख़तम हो गई थी। लालूरनीमें हमें खुबानी खानेको मिली। यहाँपर ब्राह्मण बनकर "गंगाजल" बेंचनेवाले कितने ही राजपूत मिले। यह बातोंके शुरूमें देख गये

थे, और अब घर लौट रहे थे। मालूम हुआ, कि "गंगाजल"का व्यापार कुछ व्यवस्थित रूप धारण कर चुका है। हरद्वारके लाला करमसिंह इन्हें दो रुपये सैकड़े (मासिक) सूदपर रुपया क़र्ज़ देते हैं। लौटते वक़्त लोग सूद-मूर लौटा देते हैं।

१८ जूनको तड़के ही हम फिर रवाना हुए। कल नालेसे जो खड़ी चढ़ाई शुरू हुई थी, उसका तिहाई ही हम पार कर सके थे। आज फिर चीड़के जंगलमेंसे हम ऊपर चढ़ रहे थे। मोरयाण (मराड)के डाँड़े तक तीन मीलकी घनघोर चढ़ाई मिली। चीड़ ख़तम होनेके बाद बर्फ़ानी वृक्षों (बान आदि) का जंगल आया। डाँड़ेपर भल्याणासे आनेवाला रास्ता भी आ मिला। उतराईमें कुछ ही दूरपर पानीका चश्मा आया। उतराई कल जैसी सख्त नहीं थी। गड़ैतकी चट्टीमें एक दूकान और एक टीनकी गन्दीसी टूटी-फूटी धर्मशाला है, दोपहरके भोजनकेलिए हम यहीं ठहर गये। भोजनके बाद फिर चले। गर्मी बहुत लग रही थी, ख़ैरियत यही थी, कि रास्ता नीचेको था। थानाभवन (भवन) आया। कितनी ही दूर तक पथरीला रास्ता था। एक जगह मावा लेकर खाया। शामको फिर हम चीड़के बीचसे चलने लगे। गर्मी भी नहीं थी। फेड़ी गाँव पहुँचते-पहुँचते अँधेरा हो गया। टिकनेका ठाँव ढूँढ़ा, जब वह न मिला तो भनसारीकेलिए चल पड़े। अँधेरी रात थी। कुछ दूर चलनेके बाद रास्ता न सूझनेके कारण गिर-पड़ जानेका भय लगा, इसलिए चीड़के जंगलमें हम लोग लेट रहे। हो सकता है, वहाँ रीछ रहते हों, या कोई और जानवर, लेकिन हमको इसका कोई पता नहीं था। १९के तड़के ही फिर रवाना हुए। भनसारी मील ही भरपर थी। यहाँ आये होते, तो बहुत आराम-की टिकान मिली होती। बुलन्दशहरके लालाजीकी दूकान थी। लालाजी स्वामीजीके परिचित थे। उनका लड़का बहुत बीमार था। पिताके आग्रहपर स्वामीजी वहीं रह गए, लेकिन बिना खिलाए लालाजी हमको जाने देना नहीं चाहते थे। मैंने कहा घरमें जो तैयार है, वह खिला दीजिए। रातके परावठे बचे हुए थे, उसे खाकर चाय पी, फिर मैं और शिवदत्त चल पड़े। एक मील और हल्की चढ़ाई चढ़नेके बाद टेहरी राजका चुंगीखाना आया। यहाँ सेवका बगीचा भी लगा हुआ था। चुंगीवालेने आसानीसे छुट्टी दे दी। एक मील और चलनेपर सुआखोलीका डाँड़ा (जोत) मिला। यहाँ बहुत सी मिठाईकी दूकानें थीं। सामने ३४ मील नीचे देहरादून शहर दिखाई दे रहा था। मसूरी सिर्फ़ ६ मील थी, और रास्ता बहुत अच्छी सड़क। बादलकी छायामें चले और १० बजे म्यूनिसपैल्टीके चुंगीघरपर पहुँच गए। बोझीका एक आना महसूल दिया, फिर हम लनढौर बाज़ारमें चले आए। शिवदत्तका परिचित

किसना राम्‌बकी यहाँ दूकान थी। सामान रखकर हम घूमने गए। होटलोंमें रहने की जगह नहीं थी और मेरा यहाँ कोई दूसरा परिचित नहीं था। किसना राम् बहुत ही भद्रपुरुष हैं। उनकी एक बहुत छोटी सी दूकान थी। उन्होंने कहा—आपको तकलीफ़ तो होगी, लेकिन मेरी इच्छा है, कि आप इसी घरमें रहें। यहाँ तकलीफ होनेका क्या सवाल था? बावन हाँड़ीका भात जो खाए हुए थे।

उस दिन मसूरीकी बाजारोंमें चक्कर काटते रहे। मुझे तो यहाँ गरम मालूम होता था, और कहता था, कि यहाँ कौनसी ठंडक पानेकेलिए लोग आते हैं। लेकिन मुझे यह भी ख्याल करना चाहिए था, कि सात दिन पहिले नेलङ्में ११,६०० फ़ीटपर था, और मसूरी है ६६०० फ़ीट। हिमालयका मैं अनन्य-प्रेमी हूँ, लेकिन हिमालयके इन आधुनिक नगरोंसे मैं बड़ी घृणा करता हूँ। यहाँ मुझे अपना दम घुटता सा मालूम होता है। आज ही अखबारमें पढ़ा, कि लार्ड वेवल हिन्दुस्तानके वायसराय बने—एक ही झोलीके चट्टे-बट्टे यह छोड़ और क्या हो सकता है।

जौनसारमें—२० जूनको शिवदत्त मुझे मोटरके अड्डेतक पहुँचाने आया। यह बहुत ही मेहनती, सच्चा और भलामानुस था। मेरे साथ उसे यह अनुभव नहीं हुआ कि वह किसीकी नौकरी करता है, इसलिए उसका स्नेह भी बहुत ज्यादा था। मैंने नागार्जुनजीकेलिए चिट्ठी लिखकर दी, और उससे कहा, कि तुम अपने साथ उन्हें थोलिङ् ले जाना। वह खुद भी थोलिङ् जानेकेलिए उत्सुक था—चिट्ठी तो नागार्जुनजीको मिल गई, लेकिन उनके नेलिङ् छोड़नेतक शिवदत्त वहाँ नहीं पहुँच सका था। मैं एक रुपया दे देहरादूनकी लारीपर बैठा। आजकल यात्री नीचेसे ऊपरकी ओर जाते हैं, इसलिए लारियाँ ज्यादातर खाली ही नीचे उतरती हैं। सवा नौ बजे लारी रवाना हुई, और घूम-घुमौवा सड़कोंको फाँदती एक घंटे बाद वह देहरादून पहुँच गई—७ हज़ार फ़ीटसे अब २१सौ फ़ीटपर चले आए थे, इसलिए गर्मीके बारेमें क्या पूछना? होटलकी तलाश कर रहे थे, कि पहाड़ीजी मिल गए। उनसे मालूम हुआ, मेरे नाम उनमें कोई तार आया है, यह तार लोलाका ही हो सकता था। पार्टी-आफिस गए, तो मालूम हुआ, कि आनन्दजी किसी सेठ साहबके यहाँ ठहरे हैं। वहाँ जानेपर मुझे भी लाचार मेहमानका मेहमान बनना पड़ा। आजकल देहरादून में लीचियोंकी खूब बहार थी और जब तक मैं देहरादूनमें रहा, अधिकतर लीचीके फलाहारपर गुजारा रहा। सन्त निहालसिंहका मकान वहाँसे ज्यादा दूर नहीं था। उनसे पहिलेसे ही परिचय था, इसलिए दो-तीन बार वहाँ जाना पड़ा। सन्तजीका सारा जीवन साहित्य-सेवी रहा है। उनकी कलममें जितनी ताकत है, उतनी ही

वह हिम्मत भी रखते हैं। दुनियाँके वह कोने-कोनेमें घूमे हैं, और अपनी कलमके बलपर तथा बड़े सम्मानके साथ। देहरादूनमें उन्होंने अपना मकान बनवा लिया है, लेकिन वैयक्तिक गृहके ख्यालसे नहीं। उनकी कोई सन्तान नहीं है, वह चाहते हैं, कि इसे राष्ट्रकेलिए एक उपयोगी संस्थाके रूपमें बदल दिया जाय। श्रीमती सेंट निहालसिंह—जो अमेरिकन महिला है—बड़े स्निग्ध स्वभावकी है। ६ मास पहिले जब मैंने उन्हें देखा था, तो दम्पतीके चेहरेपर बुढ़ापेका इतना असर नहीं था, लेकिन अब वहाँ गोधूली साफ़ दिखाई दे रही थी।

आनन्दजी, सुशील और मैं तीन आदमी पहिलेसे ही थे। अब बद्रीपुरके तरुण सत्येन्द्रजीसे परिचय हो गया। सलाह हुई, कालसी देख आया जाय। कालसीमें अशोकका शिलालेख है, उसको देखनेकेलिए मेरे मुँहमें पानी क्यों न भर आता? २३ जूनको चारों जने मोटरपर बैठे, और दोपहरतक चूहड़पुर पहुँच गए। कुल २५ मीलका फासला है। चूहड़पुर अच्छा बाज़ार है, नाजकी बड़ी मंडी है। सहारनपुरसे एक सीधी सडक यहाँ आती है। अशोकके वक्त पटनासे तक्षशिला जानेका प्रधान राजपथ सहारनपुर होकर जाता था। सहारनपुरसे कालसी तकका यह रास्ता अशोकके समयमें भी मौजूद होगा। चूहड़पुरने कालसीको मार दिया, बाईस-तेईस सौ वर्षो तक हिमालयके पादतलमें जो एक प्रसिद्ध व्यापार-केन्द्र था, अब वह अंतिम दम तोड चुका है, और इसमें चूहड़पुरका खास हाथ है। चूहड़पुर मैदानमें बसा हुआ है। फैलनेकेलिए काफी जगह पड़ी है, देहरादून और सहारनपुरके लिये यहाँसे पक्की सड़कें गई हैं, जिनपर रात-दिन लारियाँ दौड़ा करती हैं, साथ ही हिमालयका चरण भी यहाँसे दूर नहीं है, फिर उसके सामने कालसीकी क्या चलती? सत्येन्द्रजीके परिचित आनन्दकुमार एक उत्साही तरुण हैं, उनके ही यहाँ हम ठहरे। चूहड़पुरके आस-पास ३ ईसाई गाँव हैं, जो ज्यादातर खेती करते हैं। ५० वर्ष पहिले इन्हें बिजनौर, बुलन्दशहर आदि जिलोंसे लाकर बसाया गया। १८५७के गदरके बाद यह सारा इलाका एन्फेल्ड नामक एक फौजी अफ़सरको दे दिया गया, पीछे उसने अपनी जमींदारी नाहन (सिरमौर) के राजाके हाथ में बेंच दी। चूहड़पुरमें चायके बगीचे हैं। यहाँ आस-पास दूर तक चायकी खेती अच्छी होती है। चायके बाद धानकी खेती ज्यादा होती है। पास हीमें यमुनाकी नहर बहती है।

कालसी में—दो बजे दो ताँगा करके हम लोग कालसीकेलिए रवाना हुए। आनन्दकुमारजी भी हमारे साथ थे, इसलिए अब हमारी ५ आदमियोंकी मंडली थी। चकरौतावाली सड़क ही कालसीकी भी सड़क है। यमुनाके इस पार भी एकाध जगह

पहाड़ियाँ हैं। हमने लोहेके पुलसे यमुना पार किया। साढ़े ६ मील जानेपर कालसीका डाकबँगला आया। सड़कसे एक फर्लाङ्ग उतरकर यमुनाकी तटीमें एक घरके भीतर वह शिला है, जिसपर २२०० वर्ष पहिले राजा अशोकने अपने धर्मलेख खुदवाए थे। चौकीदारने आकर ताला खोल दिया, हम भीतर गए। शिलाके दक्खिन और पश्चिम पार्श्वमें लेख खुदे हुये हैं। पूर्व पार्श्वमें हाथीका एक बहुत सूक्ष्म रेखा चित्र है, जिसपर गजतम लिखा हुआ है। उस समय अभी बुद्धकी मूर्तियाँ नहीं बनती थीं, इसलिए गजतमसे बुद्धको सूचित किया जाता था। घरके भीतर कुछ गुप्तकालीन अलंकृत पाषाण हैं। अशोकने ऐसे ही स्थानोंपर अपने लेखोंको खुदवाया था, जहाँ ज्यादासे ज्यादा आदमी उन्हें देख सकें। यह भी कोई ऐसा ही स्थान था। पहाड़ोंसे उतरकर यमुना यहीं मैदानमें आती है, फिर शिमला स्थापित होनेसे पहिले कनौर (बुसहर) वाले इसी रास्ते नीचे आया करते थे। अब भी जाड़ोंमें कनौरवाले बकरियों और ऊनी कपड़ोंको बेचनेकेलिए इधर पहुँचते हैं। इसलिए एक ओर यह स्थान हिमालयके एक भागका व्यापारकेन्द्र था, तो दूसरी ओर संस्कृतिका भी प्रसारणकेन्द्र था।

आकर हम अपने ताँगोंपर बैठे, और डेढ़ मील चलकर कालसी पहुँच गए। यह पहाड़के नीचे नहीं, बल्कि पहाड़की कटि या पिंडुलीमें बसी है। पासमें अमलावा नामकी एक छोटी-सी नदी बहती है। कालसीके आस-पास आमके बहुतसे बाग हैं। ऊपर नीचे समतल स्थान तो इतने हैं कि यहाँ पचास हजारकी आबादी का एक अच्छा नगर बस सकता है। खैर, नगर बसानेकी बात करनेवाला तो आज यहाँ पागल समझा जायगा। दोमहले तिमहले कितने ही मकान यहाँ खाली पड़े हैं, जिनमें डेढ़-दो-सौ परिवार आराममें रह सकते हैं। मीरा बहनने मुझसे अपने आश्रमके बारेमें बात की, तो मैंने उनसे कहा, कि कालसीमें रहनेपर आसपासके गरीबोंकी सेवा भी हो सकती है और साथ ही मकान बनानेकेलिए एक पैसा भी खर्च नहीं करना पड़ेगा। मैंने कितने ही पुराने नगरोंके ध्वंस देखे हैं, लेकिन सैकड़ों वर्षोंसे रास्तेमें पड़ी हड्डियोंके देखनेसे वह प्रभाव नहीं पड़ता, जो कि ताजा मुर्दा देखनेसे। कालसी ताजा मुर्दा है—उसके प्राचीन इतिहासको देखनेसे ऐसा कहनेमें दिलको दुख होता है, तो भी आज जो उसकी अवस्था है, उसे देखकर यह छोड़ और क्या कहा जा सकता है। अब यहाँ आठ-दस घर मुसलमान (पठान, शेख) और और बीस-बाइस घर बनिए हैं। उनके अतिरिक्त कुछ जौनसारियोंके भी झोपड़े हैं। जाड़ोंमें तीन-चार महीनेकेलिए चकौताका तहसीलदार यहाँ चला आता है, इसलिए शायद इतने घर

कुछ दिनों और चले जायें; लेकिन, न यहाँ आस-पास खेत हैं, न कोई दूकान है, न कोई शिल्प-व्यवसाय, फिर कालसीको क्या आशा हो सकती है ? दो-दो तीन-तीन नगर-पथोंकी पाँतियाँ खतम हो चुकी हैं, उनके घर गिरकर ढूह बन गए हैं। सिर्फ एक सड़क बची हुई है। उसके किनारे भी कुछ घर जमीनके बराबर हो गए हैं, कुछकी दो-दो हाथकी दीवारें खड़ी हैं, कुछपर छत नहीं है, कुछकी छतमें कितने ही भरोखे कट गए हैं, और कुछ घर वर्षोंसे बिना दिया-बत्तीके सुनसान खड़े हैं। जिस दिन हम गए, उस दिन एक घरसे बारात जानेवाली थी। मोटरें भी थीं, बाजे भी थे, लोग भड़कीले कपड़े पहने हुए थे। बनियाइनें भी इन्द्रधनुषके नाना रंगोंके कपड़े पहने गीत गा रहीं थी। मैं आश्चर्यसे देख रहा था, इस श्मशानमें क्या हो रहा है। जो बनिए अपने घरोंकी मरम्मत कर सकते हैं, सालमें दो एक बार शादी-त्यौहारकेलिए आ जाते हैं, उन्होंने अपना घर दूसरे शहरोंमे भी बना लिया है। शायद दो-तीन घर ऐसे भी हैं, जिनको जमीदारीसे आमदनी है, और वह कालसीको छोड़ना नहीं चाहते।

चकरौतासे नीचे यमुना और टौंसके बीच देहरादून जिलेका यह इलाका जौनसारके नामसे पुकारा जाता है। चकरौतासे आगे बावरका इलाका है। जौनसार और बावर मिलकर सारा क्षेत्रफल २५११४ वर्गमील है। १८८७ में इसकी आबादी २३२८८ थी, १४ वर्ष बाद १६०१ में, बढ़कर ६११०० और १६३१ में ८०००० रह गई। बासक बिवसक, बुथियार, चाल्टा, यहाँकी अछूत जातियाँ हैं। सबसे अधिक संख्या इन्हींकी है। इसके बाद चौहान-तोमर-नेगी रावत जैसी राजपूत जातियाँ हैं, कुछ ब्राह्मण भी हैं। चकरौता और दूसरी जगहोंपर कितने ही बाहरी बनिया दूकानदार भी बस गए हैं। जौनसारी और बावरी लोगोंमें अब भी बहुत कुछ बहुपतिविवाह—सभी भाइयोंकी एक पत्नी—होते हैं। अभी भी इन लोगोंमें बहुत सीधा-साधापन है। इस शताब्दीके आरम्भ तक तो यदि किसीके यहाँ कोई मेहमान चला जाता था, तो खाने-पीनेकी और चीजोंकी तरह घरकी अविवाहिता तरुणीको प्रदान करके अतिथि-सत्कार किया जाता था। यह पुराने युगका रिवाज था[1]। भोले भाले जौनसारी इसे शुद्ध भावनासे करते थे, लेकिन नीचेवाले लोग इसे वेश्यावृत्तिमें परिणत करने लगे। जौनसारियोंको जब यह पता लगा, तो उन्होंने इसे बुरा माना, और धीरे धीरे यह प्रथा बहुत कुछ खतम हो गई। खेती छोड़ यहाँके

[1] The Mothers 3 vols., 1926. Westermark—The History of Human Marriage

लोगोंकेलिए जीवनका कोई दूसरा सहारा नहीं है। चकरौतामें गोरोंकी छावनी बननेके बाद इस इलाकेमें रतिज बीमारियाँ बहुत बढ़ गईं। व्यापार तथा सूद-ब्याजसे बनिये लोगोंको बहुत लूटने लगे हैं। चव्वालीस वर्षोंमें जनसंख्याका तिगुना हो जाना भी उनकी दरिद्रताका कारण हुआ। पिछड़ा प्रदेश कहकर सरकारने इस इलाकेमें सुधार-कानून नहीं लागू होने दिया, लेकिन जौनसारियोंमें कांग्रेसकी आवाज हल्कीसी पहुँची जरूर है। यह वह इलाका है, जहाँकी नदियोंसे अपार बिजली पैदा की जा सकती है। जहाँके पहाड़ोंपर सेब, नासपाती आदि फलोंसे हर साल करोड़ों रुपएकी आमदनी हो सकती है। जहाँ ऊनी कपड़ों और मोजोंके कारखाने बन सकते हैं। ढूँढ़नेपर जहाँ कितनी ही धातुओंकी खानें निकल सकती हैं। अर्थात् आधुनिक साइन्स और मनुष्यके बाहुबलको पूरी तौरसे इस्तेमाल किया जाय, तो यह बहुत समृद्ध प्रदेश बन सकता है, लेकिन वर्तमान व्यवस्थामें इसकी क्या आशा हो सकती है?

कालसीमें हमने अपना सामान आर्यसमाजमें रखा—जब नगरी सूनी है, तो आर्यसमाज क्या हरा-भरा होगा? शामके वक्त हम टहलते हुए अमलावाके किनारे थोड़ा ऊपर गए। आमोंके बागमें रखवालेसे पके आम लिए, और नदीके किनारे बैठकर खूब खाया। फिर बस्तीके नीचेकी ओर गए। यहाँ आटा पीसनेकी दर्जनों पनचक्कियाँ हैं; लेकिन दो तीनको छोड़कर सब उजड़ी पड़ी हैं। जितने खानेवाले हों उसीके अनुसार तो आटा पीसा जाएगा। शामको खानेकी समस्या आई। लेकिन यहाँ न हलवाईकी दूकान न आटे-चावलकी ही दूकान थी; पैसा रहते भी खाना मिलना सम्भव नहीं था। आनन्दजीको तो शामको खाना नहीं था। मैंने भी कहा, मुझे जरूरत नहीं; लेकिन सुशील, आनन्दकुमार, और सत्येन्द्रको तो कुछ खाना था। खासकर आनन्दकुमार यह पसन्द नहीं करते थे, कि कालसीमें मैं भूखा ही रहूँ। कुछ उत्साही तरुणोंने जौनसारियोंकेलिए एक अनाथाश्रम खोल रखा है। इसके संस्थापक पंडित धर्मदेव विद्यालंकार आजकल जेलमें थे, लेकिन चिकित्सालयके वैद्यजी मौजूद थे। उन्हें भी खिलानेकी चिन्ता पड़ी। खैर, किसी तरह उन लोगोंने बारातवाले भोजमें हमें भी शामिल करा दिया। मैं वहाँ खाने नहीं गया; लेकिन वहाँसे पूरी-तरकारी मेरेलिए चली आई। संयोग कहिए, नहीं तो यदि बारातकी तैयारी न होती, तो कालसीमें भूखा ही रहना पड़ता। इसका यह मतलब नहीं, कि कालसीसे मुझे विरक्ति हो गई। कालसीसे मुझे प्रेम है, जैसे स्थानमें यह बसी है, उसको देखकर मुझे विश्वास है, कि कालसी फिर कभी जीवित होगी।

अगले दिन (२४ जून) हमें चकरौताकी लारी पकड़नी थी। लारी आनेसे पूर्व

देर थी। जलपानकेलिए मैंने साथियोंसे ग्राम ढूँढ़नेको कहा। ढूँढ़ते फिरते हमें एक टीनसाज़ शेख मिला। उजड़ी बस्तीमें टीनसाज़ीसे क्या काम चलेगा, इसलिए साथमें उसने ग्राम बेचनेका रोज़गार भी कर लिया था। वहाँसे हमने कुछ सौ ग्राम खरीदे और बाल्टीमें भिगोकर खूब चूसा।

लारी ग्राई, हम उसपर चढ़कर रवाना हुए। सहिया (सैंया) में दोपहरको पहुँचे। ग्रानन्दकुमारजीके बहनोईकी यहाँपर दूकान और लेन-देनका कारबार था। यहीं भोजनकर थोड़ा विश्राम किया। फिर मैं और ग्रानन्दकुमार लारीसे चकरौताको रवाना हुए, और बाकी तीन मूर्तियोंने पैदलका रास्ता पकड़ा। उन लोगोंको रास्तेमें रातको रह जाना पड़ा, लेकिन हम लोग शामको वहाँ पहुँचकर आर्यसमाजमें ठहरे—ग्रानन्दकुमारका परिवार ग्रार्यसमाजी था। ग्रार्यसमाज मंदिरकी ग्रवस्था देखनेसे मालूम होता था, कि ग्रनुयायियोंमें उतना उत्साह नहीं। चकरौताकी बस्ती पहाड़की रीढ़पर बसी हुई है। पहाड़ोंकी रीढ़ ग्रक्सर काफ़ी चौड़ी हुग्रा करती है, लेकिन यह दुबली गायकी रीढ़ जैसी है, और बस्ती मच्छरकी टाँगकी तरह इधर-उधर फैली हुई है। गोरी पलटनकी छावनी होनेसे सारा रोज़गार उसीपर निर्भर करता है। ग्राब-हवा ग्रच्छी है। देवबन (९३३१ फ़ीट) और लाखामंडल भी जाना था, लेकिन किसीको उत्साह नहीं था। २५ जूनको ग्रानन्दजी, सुशील और सत्येन्द्रके साथ पैदल रवाना हुए, और मैं तथा ग्रानन्दकुमार खुली लारीपर। सूर्यास्तसे पहिले हम चूहड़पुर पहुँचे गए। ग्रानन्दजीके दलको उस दिन कालसीमें ही रह जाना पड़ा। ग्रगले दिन (२६ जून) यमुना-स्नान और डटकर ग्राम्रयज्ञ हुग्रा। दोपहर तक पीछे छूटी मूर्तियाँ भी ग्रा गईं। शामको हम गौतमकुण्ड देखने गए। कभी यहाँ जंगल रहा होगा, लेकिन ग्रब कट चुका है। कुण्ड बहुत ग्रच्छा यद्यपि उतना साफ़ नहीं है। यहाँ सालमें किसी वक्त भारी मेला लगता है। जैसा कि पहिले लिख चुका हूँ, यह यमुनाके इस पारका इलाका नाहनके राजाकी जमींदारी है, और यमुनाके उसपार तो नाहन रियासत ही है। १८५७ से पहिले जौनसार और बावरका इलाका भी नाहनके राजमें था, लेकिन "ग्रर्ध तजहिं बुध सर्वस जाए" की कहावतको मानकर राजाने यह हिस्सा ग्रंग्रेजोंको दे दिया। शामको आर्यसमाजमें व्याख्यान दिया। प्रबन्धकोंने खुद इसके सम्बन्धमें बोलनेकेलिए कहा। श्रोताग्रोंमें कितनी ही स्त्रियाँ थीं।

बासमतीकी भूमिमें—२७ तारीखको दोपहरसे पहिले ही हम देहरादून लौट ग्राए थे। सत्येन्द्रजीका ग्राग्रह था, कि हम उनके घर बद्रीपुरमें चलें। देहरादूनका बासमती चावल बहुत मशहूर है—शायद दुनियामें कहीभी इतना ग्रच्छा चावल नहीं

लोगोंकेलिए जीवनका कोई दूसरा सहारा नहीं है। चकरौतामें गोरोंकी छावनी बननेके बाद इस इलाकेमें रतिज बीमारियाँ बहुत बढ़ गईं। व्यापार तथा सूद-व्याजसे बनिये लोगोंको बहुत लूटने लगे हैं। चव्वालीस वर्षोंमें जनसंख्याका तिगुना हो जाना भी उनकी दरिद्रताका कारण हुआ। पिछड़ा प्रदेश कहकर सरकारने इस इलाकेमें सुधार-कानून नहीं लागू होने दिया, लेकिन जौनसारियोंमें कांग्रेसकी आवाज हल्कीसी पहुँची जरूर है। यह वह इलाका है, जहाँकी नदियोंसे अपार बिजली पैदा की जा सकती है। जहाँके पहाड़ोंपर सेब, नासपाती आदि फलोंसे हर साल करोड़ों रुपएकी आमदनी हो सकती है। जहाँ ऊनी कपड़ों और मोजोंके कारखाने बन सकते हैं। ढूँढ़नेपर जहाँ कितनी ही धातुओंकी खानें निकल सकती हैं। अर्थात् आधुनिक साइन्स और मनुष्य के बाहुबलको पूरी तौरसे इस्तेमाल किया जाय, तो यह बहुत समृद्ध प्रदेश बन सकता है, लेकिन वर्त्तमान व्यवस्थामें इसकी क्या आशा हो सकती है?

कालसीमें हमने अपना सामान आर्यसमाजमें रखा—जब नगरी सूनी है, तो आर्यसमाज क्या हरा-भरा होगा? शामके वक्त हम टहलते हुए अमलावाके किनारे थोड़ा ऊपर गए। आमोंके बाग़में रखवालेसे पके आम लिए, और नदीके किनारे बैठकर खूब खाया। फिर बस्तीसे नीचेकी ओर गए। यहाँ आटा पीसनेकी दर्जनों पनचक्कियाँ हैं, लेकिन दो तीनको छोड़कर सब उजड़ी पड़ी हैं। जितने खानेवाले हों उसीके अनुसार तो आटा पीसा जाएगा। शामको खानेकी समस्या आई। लेकिन यहाँ न हलवाईकी दूकान न आटे-चावलकी ही दूकान थी; पैसा रहते भी खाना मिलना सम्भव नहीं था। आनन्दजीको तो शामको खाना नहीं था। मैंने भी कहा, मुझे जरूरत नहीं; लेकिन सुशील, आनन्दकुमार, और सत्येन्द्रको तो कुछ खाना था। ख़ासकर आनन्दकुमार यह पसन्द नहीं करते थे, कि कालसीमें मैं भूखा ही रहूँ। कुछ उत्साही तरुणोंने जौनसारियोंकेलिए एक अशोकआश्रम खोल रखा है। इसके संस्थापक पंडित धर्मदेव विद्यालंकार आजकल जेलमें थे, लेकिन चिकित्सा-लयके वैद्यजी मौजूद थे। उन्हें भी खिलानेकी चिन्ता पड़ी। खैर, किसी तरह उन लोगोंने बारातवाले भोजमें हमें भी शामिल करा दिया। मैं वहाँ खाने नहीं गया; लेकिन वहाँसे पूरी-तरकारी मेरेलिए चली आई। संयोग कहिए, नहीं तो यदि बारात-की तैयारी न होती, तो कालसीमें भूखों ही रहना पड़ता। इसका यह मतलब नहीं, कि कालसीसे मुझे विरक्ति हो गई। कालसीसे मुझे प्रेम है, जैसे स्थानमें वह बसी है, उसको देखकर मुझे विश्वास है, कि कालसी फिर कभी जीवित होगी।

अगले दिन (२४ जून) हमें चकरौताकी लारी पकड़नी थी। लारी आनेमें कुछ

देर थी। जलपानकेलिए मैंने साथियोंसे ग्राम ढूँढनेको कहा। ढूँढते फिरते हमें एक टीनसाज़ शेख मिला। उजड़ी बस्तीमें टीनसाज़ीसे क्या काम चलेगा, इसलिए साथमें उसने ग्राम बेचनेका रोज़गार भी कर लिया था। वहाँसे हमने कुछ सौ ग्राम खरीदे और बाल्टीमें भिगोकर खूब चूसा।

लारी आई, हम उसपर चढ़कर रवाना हुए। सहिया(सैंया) में दोपहरको पहुँचे। आनन्दकुमारजीके बहनोईकी यहाँपर दूकान और लेन-देनका कारबार था। यहीं भोजनकर थोड़ा विश्राम किया। फिर मैं और आनन्दकुमार लारीसे चकरौताको रवाना हुए, और बाकी तीन मूर्तियोंने पैदलका रास्ता पकड़ा। उन लोगोंको रास्तेमें रातको रह जाना पड़ा, लेकिन हम लोग शामको वहाँ पहुँचकर आर्यसमाजमें ठहरे—आनन्द-कुमारका परिवार आर्यसमाजी था। आर्यसमाज मंदिरकी अवस्था देखनेसे मालूम होता था, कि अनुयायियोंमें उतना उत्साह नहीं। चकरौताकी बस्ती पहाड़की रीढ़पर बसी हुई है। पहाड़ोंकी रीढ़ अक्सर काफ़ी चौड़ी हुआ करती है, लेकिन यह दुबली गायकी रीढ़ जैसी है, और बस्ती मच्छरकी टाँगकी तरह इधर-उधर फैली हुई है। गोरी पलटनकी छावनी होनेसे सारा रोज़गार उसीपर निर्भर करता है। आब-हवा अच्छी है। देवबन (९३३१ फ़ीट) और लाखामंडल भी जाना था, लेकिन किसीको उत्साह नहीं था। २५ जूनको आनन्दजी, सुशील और सत्येन्द्रके साथ पैदल रवाना हुए, और मैं तथा आनन्दकुमार खुली लारीपर। सूर्यास्तसे पहिले हम चूहड़पुर पहुँचे गए। आनन्दजीके दलको उस दिन कालसीमें ही रह जाना पड़ा। अगले दिन (२६ जून) यमुना-स्नान और डटकर आम्रयज्ञ हुआ। दोपहर तक पीछे छूटी मूर्तियाँ भी आ गईं। शामको हम गौतमकुण्ड देखने गए। कभी यहाँ जंगल रहा होगा, लेकिन अब कट चुका है। कुण्ड बहुत अच्छा यद्यपि उतना साफ़ नहीं है। यहाँ सालमें किसी वक्त भारी मेला लगता है। जैसा कि पहिले लिख चुका हूँ, यह यमुनाके इस पारका इलाका नाहनके राजाकी जमींदारी है, और यमुनाके उसपार तो नाहन रियासत ही है। १८५७ से पहिले जौनसार और बावरका इलाका भी नाहनके राजमें था, लेकिन "अर्ध तजहिं बुध सर्वस जाए" की कहावतको मानकर राजाने यह हिस्सा अंग्रेजोंको दे दिया। शामको आर्यसमाजमें व्याख्यान दिया। प्रबन्धकोंने खुद इसके सम्बन्धमें बोलनेकेलिए कहा। श्रोताओंमें कितनी हीं स्त्रियाँ थी।

बासमतीकी भूमिमें—२७ तारीखको दोपहरसे पहिले ही हम देहरादून लौट आए थे। सत्येन्द्रजीका आग्रह था, कि हम उनके घर बद्रीपुरमें चलें। देहरादूनका बासमती चावल बहुत मशहूर है—शायद दुनियाँमें वहीमी इतना अच्छा चावल नहीं

होता, लेकिन उसके खेत देहरादूनमें नहीं हैं। तपोवनके खेतोंका वासमती बहुत अच्छा समझा जाता है, और चंद्रपुर भी अपनी वासमतीकेलिए मशहूर है। वासमतीके बाद का चावल रामजवान कालसीके नीचे भी खूब होता है। वैसे बाहरके लोग चावलकी इन बारिकियोंके पीछे नहीं जाते। सत्येन्द्रजीके साथ तांगेपर हम लोग चंद्रपुर गए। तांगेमें उनकी स्नातिका बहन भी जा रही थी। चंद्रपुर ४० एकड़ खेतों और १०० घरोंका गांव है, लेकिन कुछ परिवार यहाँ काफ़ी सुखी और सम्भ्रांत हैं। सत्येन्द्रजीकी जाति कर्णवाल—अहलूवालिया (कलवार) के वैश्य हैं। गांवके जमीदार हैं, जीविका अधिकतर वासमतीकी खेती और हालमें कुछ लीचीके बगीचोंसे होती है। गांवके ५० घर चमार तो सहस्राब्दियोंसे नरक भोगनेके लिए बने हैं। नहरके किनारे पुरबिया मजूरोंकी कितनी ही झोंपड़ियाँ हैं। पुरबिया से मतलब—पूर्वी अवधसे आए मजूरोंका है। जान पड़ता है, उत्तरी भारत पूर्वी यू० पी० और बिहार मजूरोंकी खान हैं। फ़ीजी, मारिशश, ट्रिनीडाड, बर्मा, सिंगापुर, रंगूनसे लेकर कलकत्ता, बम्बई, लहौर, करांचीतक यहांके लोग हाड़ जांगर बेचते फिरते हैं। देहरादूनमें स्थानीय मजूर दुर्लभ और महँगे हैं, इसलिए पुरबियोंने घर-वारके साथ अपनी झोपड़ियाँ यहाँ डाल दी हैं।

सत्येन्द्रजीके तीन चचा हैं। तीनोंकी खेती-बारी एक साथ, लेकिन मकान और खाना अलग-अलग है। शायद पच्छिमी सभ्यताने उन्हें इस तरहकी व्यवस्थाका ... बनाया। ३ चूल्हा करनेमें कितनी लकड़ी, कितना परिश्रम बढ़ जाता है, लेकिन इसके लिए रसोई करनेवालियोंमें व्यवस्था स्थापित करनी पड़ेगी, शायद वह मुश्किल होगी। सत्येन्द्रजीका घर गांवमें था, लेकिन वह गांवका घर नहीं था। खूब पक्के, सीमेंट, ईंट, कांच लोहेके अच्छे साफ़ सुथरे मकान थे। बिजली लगा देनेपर वह सोवियत पंचायती गांवके घर मालूम होते। घरके नर-नारी सभी शिक्षित और संस्कृत थे। शिक्षा हो, संस्कृति हो, पैसा हो, और फिर नरनारी शरीरसे परिश्रम करें। सत्येन्द्र-जीके वाणप्रस्थी चाचा आर्यसमाजी होते हुए भी बहुत सुधरे विचारके हैं, और समझता हूं, कि घरकी शिक्षा-संस्कृतिमें भी उनका ज्यादा हाथ रहा। मैं नहीं समझता वह शिक्षा+संस्कृति+धन=कामचोरी इस सूत्रको मानते होंगे। लेकिन ... वहांका वातावरण कुछ ऐसा ही मालूम हुआ। हर बातमें शहरकी अंधाधुंध नकल ... ताजे ग्रामीण जीवनकी सुगन्धि वहाँ नहीं दिखाई देती थी। स्त्रियां पढ़ी-लिखी थीं और यह प्रशंसाकी बात है कि खाना भी उन्होंने अपने हाथसे बनाया था—उस दिन उनके चचाके घरमें एक महाभोज हुआ था। आँगन पक्का खुला, हवादार ...

जिसके एक कोनेमें खट्टे अंगूरकी लता फैली हुई थी। उस परिवारके जीवनको देखकर मुझे खुशी न हुई हो, यह बात नहीं; लेकिन कामचोरपनसे मुझे नफ़रत है। उससे बचनेकेलिए मैं अपना नुसखा पेश करता, तो लोग इसे पागलपन कहते। पुरुषोंके सफ़ेद कुरते और सफ़ेद धोतियाँ फावड़ा चलानेकेलिए नहीं थीं, वह अभिनवतम फ़ैशनकी साड़ियाँ घुटने भर कीचड़में घुसकर बासमतीकी पौद रोपनेकेलिए नहीं थी, और मेरी चलती तो मैं उनसे यही कराता।

अगले दिन (२८ जून) सबेरे हम टहलनेकेलिए निकले। दक्खिन ओर डेढ़ मीलपर गढ़वालकी पुरानी राजधानी नवादा है। हम वहाँ तक नहीं पहुँच सके, पचास्सर तक गए, फिर वहाँसे घूमकर माजरी गाँवमें गये। यहाँ एक नानक पंथी मठ है। मठको ट्रस्टके हाथमें दे दिया गया है, तो भी महन्त मनमाने खर्च के-लिए मठकी जमीनको बर्बाद कर रहा है। लेकिन ट्रस्टियोंके कानोंपर जूँ तक नहीं रेंगती—हाँ, वह जमीनको सीधे नहीं बेंचता, बल्कि बहुत कम शरहपर दायमी पट्टा लिख देता है। गाँवकी ओर लौटते वक्त हमने बासमतीके खेतोंको देखा। यह धानकी क्यारियोंकी तरह नहीं है, बल्कि रब्बी की तरह रोपनेके वक्त उनकी मेड़ें ऊँची कर दी जाती हैं। खेतोंकी जमीन अच्छी है, और अच्छे खेतोंमें बीस मन प्रति एकड़ तक बासमती हो जाती है, जिसका दाम आजकल ४०० रुपए होगा। लेकिन इससे अच्छी आमदनी तो गन्नेसे हो सकती है, यानी एकड़में हजार रुपए।

२८ को ही हम देहरादून चले आए। अगला दिन हमने देहरादूनके भिन्न-भिन्न स्कूलों और दूसरी संस्थाओंके देखनेमें लगाया। दूनके पब्लिक स्कूलमें वही लड़के पढ़ सकते हैं, जिनके माँ-बाप दो सौ रुपया महीना खर्च कर सकते हैं। कर्नल ब्राउन स्कूलमें डेढ़ सौ रुपयेसे काम चल सकता है, ये स्कूल पक्का साहेब बनानेकी टकसालें हैं। साहेब बनाना घाटेका सौदा नहीं है, क्योंकि बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियाँ उनके-लिए सुलभ हो सकती हैं। डी० ए० बी० कालेज और महादेवी कन्या कालेज आर्य-समाजकी शिक्षासंस्थाएँ हैं, जिनमें कालेज तक पढ़ाई होती है। सैनिक स्कूलके देखनेकी इच्छा तो मुझे नहीं थी, लेकिन फ़ारेस्ट रिसर्च इन्स्टीटयूट (जंगल अनुसन्धान प्रतिष्ठान)को देखना जरूर चाहता था, मगर वह आजकल बन्द था। आर्यसमाजमें हिन्दी-प्रेमियोंने भाषण देनेकेलिए निमन्त्रित किया था। मैंने उनसे इस बातकी अपील की, कि हिन्दी अभी आसमानी भाषा है, इसका धरतीके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया। बहुतसे आदमी इसे आठ-आठ दस-दस वर्ष लगाकर पढ़कर उसपर अधिकार प्राप्त करते हैं, और "हिन्दी हमारी मातृभाषा है" कहकर औरों भी गिराते हैं। मैं

भी पोथे लिखता हूँ, लेकिन मैं यह कसम खानेकेलिए तैयार नहीं हूँ, कि हिन्दी मेरी मातृभाषा है। लेकिन् अमातृभाषावाले लेखकोंकी भाषामें कृत्रिमता बहुत होती है। दुर्भाग्यवश हिन्दीके अधिकांश लेखक इसी कोटिके हैं। लेकिन हिन्दीकी जड़ आकाशमें नहीं पातालमें भी है, और वह है, चकरौता तहसील (जौनसार बावर)को छोड़ देहरादूनका बाकी प्रदेश, बुलन्दशहरकी गुलावठी तहसील, मेरठ-मुजफ्फ़रनगर-सहारनपुरके तीनों जिले—अर्थात् कुरु-देश। हिन्दी इसी कुरु-देशकी मातृभाषा है। बहुत कम कुरुदेशी हिन्दीके लेखक हुए हैं, जो हैं भी, वह अमातृभाषावाले लेखकोंकी नक़ल करते हैं, और कोशिश नहीं करते कि कुरुके किसानों, मजूरों, कारीगरोंकी सजीव भाषासे लेकर हिन्दीको कुछ दें। मेरा विचार है, जब तक हिन्दीकी जड़ कुरुभूमिकी मिट्टीसे जुड़ नहीं जाती, तब तक हिन्दीकी कृत्रिमता दूर नहीं होगी।

मैं नहीं समझता, मेरी बातोंको कितने श्रोताओंने पसन्द किया होगा। "वोल्गासे गंगा"की कितनी ही कहानियोंको पढ़कर आर्यसमाजियोंमें काफी लोग मुझे बुरा-भला कहने लगे थे।

६

फिर क़लमका चक्कर (१६४३ ई०)

पहिली जुलाईको आनन्दजी, सुशील और मैं देहरादूनसे हरिद्वार आये। स्टेशनपर गुरुकुलकांगड़ीके एक विद्यार्थी तथा पंडित भगवान वल्लभ रामकिंकर पांडे मौजूद थे। लोग पांडेजीके नामकी बड़ी शिकायत करते हैं। तारीफ़ यह कि इसमें मराठियों और गुजरातियोंकी तरह पिताका नाम मिलाया नहीं गया है, अगर मोटे टाइपमें नामको लिखकर साटा जाय, तो पांडेजीका शरीर भी उसकेलिए काफी नहीं होगा। भगवान पांडे या वल्लभ पांडे काफी था, भगवान वल्लभ पांडे भर भी ग़नीमत थी। और रामकिंकर वस्तुतः उनका कविताका उपनाम है, जिसे पांडेके बाद रखा जाता तो भी बोलनेवालोंकेलिए कुछ साँस लेनेकी फ़ुर्सत मिलती। लेकिन एक साथ भगवान वल्लभ रामकिंकर पांडे कहना मुश्किल है, याद रखना तो उससे भी मुश्किल। पांडेजी संस्कृतके पंडित हैं, और हिन्दीके कवि भी। उनका स्वभाव बहुत अच्छा है, और विचार भी दक़ियानूसी नहीं हैं। हम लोगोंको गुरुकुल कांगड़ीमें जाना था, लेकिन पांडेजीकी नगरी कनखल रास्तेमें पड़ती थी। बिना जलपान कराये

वह कैसे जाने देते ? पहिले हम उनके घर गये, इसके बाद गुरुकुल काँगड़ीमें प्रोफ़ेसर केशवदेवके यहाँ ठहरे। गुरुकुलके वार्षिकोत्सवके समय आनेका बहुत आग्रह हुआ था, लेकिन उस समय मैं नही आ सका था, अब अपने आप पहुँच गया था। यद्यपि यह संस्था प्राचीन वैदिकयुगको फिरसे लानेकेलिए स्थापित की गई है, लेकिन गुज़रा जमाना फिर लौटके नही आता, इस बातको यहाँके अधिकांश अध्यापक तथा प्रायः सभी तरुण मानते है, लेकिन गुरुकुलके संचालक बूढे अभी इस सच्चाईको समझनेके लिए तैयार नहीं। १७ वर्ष पहिले जब मैंने इस संस्थाको काँगड़ी गाँवकी भूमिमें देखा था, तबसे अब बहुत परिवर्त्तन है। विद्यार्थी कुर्त्ता-पाजामा ही नही पहनते हैं, बल्कि नई बातोके सुनने और सीखनेको भी तैयार रहते है। मैंने "तिब्बत-यात्रा", "सोवियत भूमि" आदि विषयोपर कई व्याख्यान दिये। एक दिन ज्वालापुर महा-विद्यालय भी गया। लेकिन आचार्य हरदत्त शास्त्री उस वक़्त वहाँ नही थे। दूसरे भाइयोंने बड़े स्नेहसे अपनी संस्थाको दिखलाया। यहाँ ज्यादातर प्राचीन ढंगसे संस्कृतकी पढ़ाई होती है। काँगड़ी गुरुकुलमें अंग्रेज़ी तथा आधुनिक साइन्सकेलिए भी काफ़ी समय दिया जाता है। संस्कृतकी पढ़ाईका—चाहे प्राचीन ढगसे हो या आधुनिक ढंगसे—एक ही महत्त्व है, कि हम अपनी जातिके ऐतिहासिक विकासको समझें, यदि यह नहीं हुआ, तो वह सिर्फ़ तोतारटन्त है, और यदि उसका धर्म तथा साम्प्रदायिकताको मजबूत करनेमें उपयोग किया गया, तो यह व्यभिचार है।

काँगड़ीके अध्यापकोंके हातेमें मैं ठहरा था। वहाँ शायद १४ या १५ प्रोफ़ेसर रहते थे, जिनमें अधिकांश पंजाबी थे। जिस तरह बगालियोंको सबसे पहिले मछली-की फ़िकर होती है, उसी तरह पंजाबियोंको दूधकी। दूध शुद्ध मिलना चाहिए और कटोरी लुटिया भर नही, बाल्टी भर। इसका यह परिणाम हुआ है कि वहाँ प्राय हरेक घरमें अच्छी जातिकी भैंसें या गाएँ रखी गई है। इसको कोई बुरा नहीं कह सकता। आख़िर सारे स्वास्थ्य शरीरके स्वास्थ्यपर निर्भर हैं। पंजाबी पत्नी कितनी प्रिय होती है, इसकेलिए मैं राय देनेका अधिकारी नही हूँ, लेकिन पंजाबी गृहस्थिनोंके यहाँ मेहमान बनना बड़े ही सौभाग्यकी बात है—हाँ, भोजनमात्राकी नापको अपने हाथमें रखना होगा। प्रोफ़ेसरोंकी स्त्रियोंमें भी कुछ तो ग्रैजुएट थीं, और शिक्षित तो सभी थीं। लेकिन उनकेलिए क्या काम था ? दोनों शाम रोटी पकाकर खिलाना और हर साल एककी संख्या बढ़ाते बच्चोंको सँभालना—बच्चोंको सँभालना इतना आसान काम नहीं है। चाँटा-थप्पड़ तो हरेक माँ जानती है, और विश्वविद्यालयकी ग्रेजुएट माताएँ इसमें शायद और आगे हैं, लेकिन पिटते हुए भी

२६ को खबर उड़ी, कि मुसोलनीने जगह खाली की, और बोदोगलियो इटलीका प्रधान-मंत्री बना। फ़ासिस्ट दुर्गमें दरार पड़ी। लाल सेना भी आगे बढ़ती जा रही थी, और अब सिर्फ़ जाड़ेमें लाल सेनाके बढ़नेका सवाल नहीं था। "प्रमाणवार्तिक स्ववृत्तिटीका" ६ सालसे कम्पोज हुई पड़ी थी। "स्ववृत्ति"के लुप्त अंशको भी मैंने तिब्बती अनुवादसे संस्कृतमें कर दिया था, लेकिन अभी तक उसका प्रकाशक कोई ठीक नहीं हो सका था। बिहार रिसर्च सोसाइटीकी ओरसे छपनेवाली थी, वह नहीं हो सका। भारतीय विद्याभवन (बंबई) से बातचीत हुई थी, वहाँ भी ठीक नहीं हुआ। कलकत्ता विश्वविद्यालयसे छपनेकी बात तय हुई थी, लेकिन कागजके झगड़ेके मारे वह भी खटाईमें रह गया। अंत में किताबमहलके मालिक श्री श्रीनिवास अग्रवालने प्रकाशनकी जिम्मेवारी ले ली, और अब मैं उससे निश्चिन्त हो गया।

बंबईमें (५ अगस्त—६ सितम्बर)—अब मुझे पासपोर्ट लेनेकी फ़िकर थी। ५ अगस्तको बम्बईकेलिए रवाना हुआ। एक डब्बेमें कुछ ज्यादा जगह थी, उसमें बैठते वक़्त मैंने अपने दोस्तोंसे पूछा—यह डब्बा कट तो नहीं जायगा? उन्होंने कहा—नहीं, लेकिन जबलपुरमें वह डब्बा कट गया। बगलके डब्बेमें घुसा, वहाँ बड़ी भीड़ थी। कुछ देर खड़ा रहा। आसपासके आदमी आराके रहनेवाले थे। मैंने भी छपराकी बोलीमें बात करनी शुरू की। बोलीका चमत्कार दिखाई पड़ा। मुझे बैठनेकेलिए जगह मिल गई, और पीछे तो सोनेकेलिए भी स्थान मिल गया। यह सब भाई बम्बई जारहे थे। नौकरी करनेकेलिए नहीं, बल्कि जूता बनानेकेलिए। मालूम हुआ, बंबईमें हजारसे ऊपर आराके चमार भाई रहते हैं। खाने-पीनेमें भेद-भाव न देखकर और घनिष्ठता बढ़ी। यात्रा और बड़े आनन्दसे कटी। वह महँगी-की बात कह रहे थे। अनाज पिछले सालसे और महँगा हो चला था, और कागजके रुपएको हाथमें आते देर लगती, पर खर्च होते पता नहीं चलता था। वह पछता रहे थे, कि हमने धरतीको पहिले क्यों नहीं पकड़ा। पुरखोंने ग़लती की, उस समय धरती इतनी दुर्लभ नहीं थी। जिनके पास धरती है, आज वह खाने-पीनेसे निश्चिन्त हैं, हमारे पास भी धरती होती तो क्यों यह हालत होती। उनको क्या मालूम था, कि पुरखोंको धरती मिलनेमें और मुश्किल थी, धरती मिल जाती, तो दो पैसेमें हल-वाही कौन करता?

५ बजे शामको गाड़ी विक्टोरिया टर्मिनस (बोरी बन्दर) पहुँची। मैं पार्टी आफ़िसमें पहुँचा। बंबईमें दो काम करना था—पासपोर्ट लेनेकेलिए कोशिश करना और "नये भारतके नये नेता" केलिए कुछ और जीवनियोंका संग्रह करना। जीवनी-

का काम तो उसी दिनसे शुरू हो गया। मैंने इस पुस्तकमें जितनी जीवनियाँ लिखीं उनकेलिए चरितनायकसे पूछकर उनके बाल्यसे अब तककी जीवन-घटनाओंकेलिए नोट लिए, शिक्षा-दीक्षा और वातावरणका पता लगाया। बारह-तेरह जीवनियाँ इन नोटोंके सहारे मैं तैयार कर चुका था।

पासपोर्टकी दरख्वास्तपर किसी जे० पी०की दस्तखत करानी थी। साथी मीरजकरने मददकी, और डाक्टर मालिनी सुखतनकरने दस्तखत कर दिया। आफिसमें जानेपर पता लगा कि इसपर पुलीस कमिश्नरकी भी दस्तखत होनी चाहिए। हम उनके पास पहुँचे। मालूम हुआ, अभी बिहार सरकारसे पूछ-पाछकर वह हस्ताक्षर करेंगे। ५, ६ दिन इसमें गए। १९ को बतलाया गया कि मेरी दरख्वास्त पासपोर्ट आफ़िसमें भेज दी गई। पासपोर्ट इतनी जल्दी मिलनेवाला नहीं है, यह मैं अच्छी तरह जानता था। अभी उसे बबई गवर्नमेंट देखेगी, फिर वह भारत सरकारके पास भेजेगी, और कितनी पूछ-ताँछ होगी। खैर, मैंने अपना काम खतम कर दिया था।

अबकी बार अनाज ही की महँगाई नहीं देखी, बल्कि रेजकियोंका भी बाजारमें मिलना मुश्किल था। पैसे-इकन्नी-दुअन्नीकी जगह डाकखानेके टिकट रखने पड़ते थे। जिसके पास पैसे आ जाते, वह एक दो रुपएकी रेजको बराबर पास रखनेकी कोशिश करता था, न जाने किस वक्त कोई चीज खरीदनी पड़े। रेजकी पहिले ही कम थी और जब करोड़ों आदमी कुछ न कुछ रेजकीको अपने पास रख छोड़ना चाहते थे, तो उनका और भी अकाल क्यों न पड़े?

"वार्तिकालंकार" (प्रमाणवार्तिक-भाष्य) को मैं ७ साल पहले तिब्बतसे लिख लाया था। अभी तक उसके छपनेका प्रबन्ध नहीं हो सका था। मुनि जिनविजय जीने भारतीय विद्याभवनसे प्रकाशित करनेकी इच्छा प्रकट की, और मुझे इसमें निश्चिन्तता हुई, यद्यपि झूठी ही। मैंने एक दर्जनसे ज्यादा जीवनियोंके यहाँ नोट लिए, और ७ सितंबरको वहाँसे प्रस्थान कर दिया।

प्रयाग (८ सितम्बर—३ अक्तूबर)—८ सितम्बरको सवेरे मध्य प्रदेशमें गाड़ी गुजर रही थी, वर्षाके दिन थे, चारों ओर हरियाली हरियाली दिखाई देती थी। गाड़ियोंमें सिपाही भरे हुए थे। साधारण लोगोंमें सबसे ज्यादा चर्चा थी, कपड़ेकी महँगाई, अनाज की महँगाई, रेजकीका न मिलना आदि आदि। सब यही चाह रहे थे, कि युद्ध जल्दी समाप्त हो। प्रयागमें मैंने प्रूफ़ देखनेके अतिरिक्त "नये भारतके नए नेता" के लिए जीवनियाँ भी लिखनी शुरू कीं। अभी और भी जीवनियाँ लेनी थीं। २६ सितम्बरको कानपुरमें कविसम्मेलनका सभापति होकर जाना पड़ा।

बंगालमें जिस तरह लाखों आदमी कीड़े-मकोड़ेकी मौत मर रहे थे, उसे गुनकर सारे भारतका हृदय विह्वल हो चुका था। कई कवियोंने बहुत करुणापूर्ण कविताएं सुनाईं। साढ़े ११ बजे रातको कवि-सम्मेलनसे छुट्टी ली। साथी युसुफकी जीवनीकेलिए नोट लेने थे। ५ बजे रात तक मैं उनसे पूँछ-पूँछकर नोट लेता गया। यू० पी० के मजूरोंका सबसे बड़ा नेता युसुफ बिलकुल स्वनिर्मित पुरुष है। मजूर रहते उसने मजूरोंके दुःखोंको अनुभव किया। पठन और चिन्तनमें उसकी आँखें खुलीं, और युसुफने वह रास्ता पकड़ा जिसपर वह आज भी चल रहा है। संतसिंह आज युसुफ है, लेकिन धर्मकेलिए नहीं। जब पुलिस वारन्ट लिए उसके पीछे पीछे फिरती थी, उसी वक़्त उसने यह नाम बदला था।

स्टेशनपर एक डेढ़ घंटा बैठे, फिर गाड़ीसे दोपहरको प्रयाग पहुँचे। रातभर सो नहीं सके थे, इसलिए (२७ सितंबर) बाकी दिन सोते रहे। शामको विश्व-विद्यालयकी हिन्दी-परिषदमें "प्रगतिशीलता" पर व्याख्यान दिया। कुछ पुराने ढंगके साहित्यिक भी वहाँ आए थे। बहुतसे समझदार और ईमानदार पुरुष भी न जाननेके कारण गलतीमें पड़ जाते हैं। मैंने बतलाया कि प्रगतिशीलताका यह मतलब नहीं है कि सूर, तुलसी, कालिदास और बाण दकियानूसी विचारवाले समझे जायें। वह सामन्तीयुगमें पैदा हुए थे। उनकी कवितासे सामन्तसमाजकी पुष्टि हुई थी, इसलिए उनकी कविताएँ गंगामें बहा देनी चाहिएं। महान् कवि चाहे किसी समाज और युगमें पैदा हुए हों, वह हमेशा हमारेलिए महान् रहेंगे। जब तक उनकी कवितामें यह शक्ति है, हमारे हृदयमें वह कोमलता है, जिससे हर्षके समय मुख उत्फुल्ल हो जाता है, विषादके समय आँखें गीली हो जाती हैं, तब तक इन महाकवियोंके लिए कोई खतरा नहीं। पुराने कवियोंको त्याज्य कहनेकी बात प्रगतिशील नहीं, पागल करेगा। मैंने यह भी कहा, कि शायद इसे आप मेरा वैयक्तिक विचार समझते हों, लेकिन यह बात नहीं है। एंगेल्सने स्वयं प्रोफेसर डूहरिंगके इस मतका बड़े जोरसे खण्डन किया था, कि गोयथे आदि महान कवियोंकी कृतियोंको पाठ्यक्रमसे निकाल देनी चाहिए। एक साहित्यसेवीने मेरे भाषणके बाद कहा, कि यदि प्रगतिशील लेखकोंका हमारे अतीतके काव्य-निर्माणके प्रति यही भाव है, तो इससे हमें कोई विरोध नहीं है, दुनियाँ बदलनेकेलिए उनके साहित्यिक प्रयत्नके हम विरोधी नहीं।

अल्मोड़ा, पंजाब, कश्मीर की यात्रा (४-३० अक्तूबर)—अपने "नये भारतके नये नेता" के लिए मुझे अभी और कितनी ही जीवनियोंकी जरूरत थी। भारद्वाज ...में थे, पन्तजी अल्मोड़ामें, और कितने ही बरिलनामा पंजाबमें। ४ अक्तूबर-

को मैं अल्मोड़ाकेलिए रवाना हुआ। रास्तेमें एक दिनकेलिए लखनऊमें ठहरा। फिर छोटी लाइनकी गाड़ी पकड़ी। भोजीपुरामें ७ के सवेरेको पहुँचा, वहाँसे दूसरी गाड़ीमें बैठ काठगोदाम पहुँचा। काठगोदाम हिमालयके चरणमें है। यहाँ से नैनीताल और अल्मोड़ाको लारियाँ जाती हैं। भुवाली और रानीखेत अल्मोड़ाके रास्तेमें पड़ते है। मैं सीधे अल्मोड़ा गया। ७ बजे अल्मोड़ा पहुँचा। समुद्रतलसे ३७०० फ़ीट ऊपरकी जगह और अक्तूबरका प्रथम सप्ताह बीत रहा था, इसलिए गर्मीका नाम नहीं था। उस दिन शामको देखा कि सारे अल्मोड़ाके नरनारी उदयशंकर कलाकेन्द्रकी ओर जा रहे हैं। आज वहाँ रामलीला होनेवाली थी। मैं अभी-अभी आकर एक होटलमें उतरा था, इसलिए वहाँ जानेकी इच्छा नहीं हुई। पं० सुमित्रानन्दन पन्त, उदयशंकर-केन्द्रमें ही ठहरे थे। दूसरे दिन (८ अक्तूबर) में उनके पास गया। स्थान बहुत रमणीय है। यह देखकर अफसोस हुआ, कि उदयशंकर कला केन्द्रको जैसी सहायता मिलनी चाहिए, वैसी नहीं मिल रही है। लक्ष्मी समुद्रके किनारे बसी है, और उदयशंकरने अपना कलाकेन्द्र यहाँ हिमालयके एक कोनेमें स्थापित किया है, यह भी उसमें बाधा है, किन्तु इससे भी ज्यादा बाधा लक्ष्मीवाहनोंकी मूर्खता है। मैंने सुना कि किसी राजा साहबको दिखलानेकेलिए कला प्रदर्शनका आयोजन किया गया था। केरलके कथाकाली (मूकनृत्य) के एक महान कलाकारका प्रदर्शनके समय ही देहान्त हो गया, और उसे बन्द करना पड़ा। राजा साहबने इस शोकपूर्ण घटनाका जिक्र भी नहीं किया, और उलाहना दिया, कि आपने हमें नृत्य नहीं दिखलाया। ऐसे राजाओंसे क्या आशा हो सकती है? शायद उदयशंकर भी अनुभव करने लगे, कि सेठों और राजाओंके बलपर उनकी कलाका प्रसार नहीं हो सकेगा, इसलिए वह जनताकी ओर अधिकाधिक झुकते जा रहे हैं। जब उन्हें पता लगा कि मैं आया हूँ, तो दोनों भाई वहाँ पहुँचे। कलाका मुझे कोई परिचय नहीं है, लेकिन रसगुल्लेका परिचय न होनेपर भी आदमी उसका स्वाद ले सकता है, बल्कि मैं तो कहूँगा कि रसगुल्लेकी तारीफ तभी है, जब उसके बनानेकी बारीकियोंको न जानते भी आदमी उसमें अच्छा स्वाद अनुभव करे। मैंने पन्तकी जीवनीके नोट लिए। श्री बोशी सेन और उनकी पत्नी (अमेरिकन) अल्मोड़ा हीमें रहती हैं। ६ साल पहिले उन्होंने आनेकेलिए निमन्त्रण दिया था, लेकिन मैं उस समय नहीं आ सका। पास समय था, इसलिए मैं ढूँढ़ते ढाँढ़ते उनके पास पहुँचा। सेन महाशय प्राणीशास्त्रके अनुसन्धानमें लगे हुए हैं। इधर अपनी "विश्वकी रूपरेखा" लिखनेकेलिए मुझे साइन्सके कितने ही ग्रन्थोंको पढ़ना पड़ा था, लेकिन साइन्सकी

जब तक प्रयोगशालाकी सहायतासे न पढा जाय, तब तक न भली भाँति ज्ञान होता है, और न पूरा आनन्द मिलता है। उस दिन उनकी विवेकानन्द-प्रयोगशालाके नये मकानका उद्घाटन हुआ था। मैं वहाँ पहुँचा। सेन-दम्पती बड़े स्नेहसे मिले। उन्होंने प्रयोगशाला दिखलाई। यह जानकर उन्हें अफसोस हुआ, कि मैं कल ही यहाँसे जानेवाला हूँ।

रातको टहलते हुए मैं भीजाड़ मुहल्ले में पहुँचा। पूरनचन्द्र जोशी का जन्म यहीं हुआ था। जोशीके पिता पंडित हरनन्दन जोशीके चचाके पोते पंडित भोलादत्त पहिले स्टेशनमास्टर थे, अब उन्होंने एक दूकान कर ली थी। उन्हें जब मालूम हुआ कि मैं पूरनका दोस्त हूँ, और उस घरको देखना चाहता हूँ, जिसमें कि पूरन पैदा हुए थे, तो उन्होंने मुझे आत्मीय-सा समझा। अल्मोड़ाकी ओर अभी साम्यवाद का संदेश नहीं पहुँचा है। यह आश्चर्यकी बात है कि जिसने भारतके स्तालिनको पैदा किया, वहाँ लोग साम्यवादके बारेमें इतना कम जानते हैं। मैंने केरल और आंध्रके छोटे-छोटे गाँवोंको देखा, जहाँकि नर नारी जोशीको जानते ही नहीं हैं, बल्कि उसके उँगली हिलाने पर प्राण देनको तैयार हैं। अल्मोड़ा अपने सपूतको जरूर जानेगा। पंडित भोलादत्त जोशीको राजनीतिसे कोई सम्पर्क नहीं। अखबार भी शायद ही पढते हों। हाँ, इसकी भनक उनके कानों तक जरूर पहुँच चुकी थी, कि जोशी अब बड़ा आदमी हो गया है। कितना बड़ा आदमी, इसका उन्हें पता नहीं। वह नहीं जानते कि हिन्दुस्तानके सबसे सुसंगठित, सबसे अधिक अनुशासनबद्ध क्रान्ति सेनाका वह प्रधान सेनापति है। उन्होंने बार-बार कहा, पूरनको इधर आनेकेलिए कहिए। मैंने कहा—उसके ऊपर कामका बहुत बोझ है, मुझे सन्देह है, कि यह छुट्टी निकाल सकेगा। किन्तु मैं यह जरूर चाहूँगा कि वह अपनी पत्नीके साथ एक बार भीजाड़की इस छोटी-कोठरीको जरूर देख जाय, जिसमें मालतीने ३६ वर्ष पहिले उसे जन्म दिया था। उन्होंने अभी नहीं सुना था, कि जोशीका ब्याह हो गया है। वह बहूके बारेमें पूछने लगे। मैंने कहा—कल्पना बंगालिन है, और उसने पिस्तौल तथा बम चलानेका जबर्दस्त अभ्यास किया था—मुर्दोंपर नहीं, जिन्दोंपर। फांसीसे बाल-बाल बची, और जन्म कालापानीकी सजा पाई। यह है तुम्हारे भाईकी बहू—लेकिन बूढ़ी नहीं है। शायद वह भी तुम्हारे घरको देखना चाहेगी। फिर वह मुझे उस पुराने घरको दिखलाने ले गए। तीसरे तल्लेपर अब भी वह बड़ा रसोईघर है, जिसमें बहुत-सी क्यारियाँ खिंची हुई हैं। और भी कितनी ही छोटी-छोटी कोठरियाँ देखीं। पुराने ढंगका है, इसलिए छतें नीची और दरवाजे छोटे हैं। मुझे विनम्र सिरसे उनके भीतर

जाना पड़ता था। मकान सौ वर्षसे क्या कम पुराना होगा ? परिवारके लोग नौकरी-पेशा हैं, इसलिए ज्यादातर बाहर-बाहर रहते हैं, और मकानका बहुतसा हिस्सा खाली पड़ा रहता है। ९ अक्तूबरको १२ बजे मैं भुवाली चला आया। रास्तेमें रानीखेतमें उतरकर सिर्फ़ चाय पी। भुवालीमें तपेदिकके बीमारोंकेलिए एक अच्छा सेनिटोरियम है। यह गर्मीके सैलानियोंका मौसम तो नहीं था, लेकिन सेनिटोरियमके कारण भेंट-मुलाकात करनेवाले यहाँ ज्यादा आया करते हैं। मैं अपना सामान लेकर होटलमें गया। वह एक दरवेका डेढ रुपया माँगता था, और इसकी गारन्टी नहीं थी, कि वहाँ खटमल नहीं होंगे। मैंने एक धर्मशालामें अपना सामान रखा। घूमते वक्त यशपाल-दम्पती मिल गए। कुछ देर तक उनसे बात हुई। सेनिटोरियमके बारेमें पता लगा, कि मिलनेवाले सवेरे साढ़े आठ बजेसे ग्यारह बजे तक और शामको चार बजेसे छ बजे तक मिल सकते हैं। देवलीके बाद आज भरद्वाजको देखा। शरीर पर काफ़ी माँस चढ़ आया था, और देखनेमें वह स्वस्थ मालूम होते थे। लेकिन तपेदिक बड़ा धोखेबाज रोग है, अभी बहुत सावधानी रखनेकी जरूरत होगी। वह टहलने जाया करते थे। एक दिन ठोकर लगनेसे गिर पड़े, फिर कई दिनतक बुखार आता रहा। दूसरे दिन (१० अक्तूबर) मैंने जीवनीके नोट लिए। पहिली रातको खटमलों और पिस्सुओंने नाकमें दम कर दिया : मैदानमें मच्छर तंग करते हैं और पहाड़ोंमें खटमल-पिस्सू, बड़ी आफ़त हैं। लेकिन यह सब सफ़ाई न रखनेके कारण होता है। और दवा-दारू डालके सफ़ाई करना द्रव्यसाध्य काम है। खैर, दूसरे दिन जमाल किदवई मिले। उन्होंने भी रहनेका आग्रह किया। कृषि-विभागके एक अधिकारी मिले, रातको मैं उनके ही यहाँ रहा।

११तारीखको मैंने फिर लारी पकड़ी। बरेलीसे सहारनपुर वाला रास्ता न पकड़ मैंने काठगोदामवाली छोटी लाईनकी सड़कको ही चुना। बड़ी लाईनमें बड़ी भीड़ भी होती है, इसका भी ख्याल था। काठगोदामसे बदायूँ होते हुए हायरस। दिन होता तो उत्तर-पंचाल और दक्षिण-पंचालके इस भूखण्डको ध्यानसे देखता, लेकिन बरेलीसे पहिले ही रात हो चुकी थी। हाथरसमें थोड़ा ठहरनेके बाद दिल्लीवाला मेल मिला। डेवढ़ेका टिकट था। भीड़के कारण एक डब्बेको छोड़ा। तब तक गाड़ीने सीटी दे दी। दूसरे दर्जे में बैठ गया, यहाँ सोनेकेलिए जगह भी मिली।

दिल्लीमें (१२-१३ अक्तूबर)—अगले दिन (१२ अक्तूबर) दोपहरको गाड़ी दिल्ली पहुँची। पार्टीका पता मालूम था। ताँगा करके वहाँ दरियागंजमें साथी यज्ञदत्त शर्माके घरपर पहुँचा। यज्ञदत्त पहिले एक कालेजमें प्रोफ़ेसर थे, लेकिन

पार्टीका सेक्रेटरी होनेके कारण उनको काफ़ी समय नहीं मिलता था। नौकरी छोड़कर अब वह सारा समय पार्टीके काममें लगाते हैं। उनकी बीबी शिक्षिता तरुणी हैं। जानती हैं, हिन्दूके घरमें जन्म हुआ, उनकेलिए पतिका अनुसरण करनेके सिवा कोई रास्ता नहीं। यज्ञदत्त इस सिद्धांतको नहीं मानते, लेकिन उससे क्या? खैर, इससे एक फ़ायदा तो होता है, पत्नी सोचनेकेलिए मजबूर है: कम्यूनिष्टपार्टीमें क्या बात है, क्या आदर्श है, जिसकेलिए उसके पतिने आरामकी जिन्दगी छोड़कर जेल और भुखमरीका रास्ता पकड़ा है। उस वक्त अभी वह अपने पतिकी बातोंको समझ नहीं पाती थी, लेकिन जब मैं दूसरीबार (१६–२३ फर्वरी) दिल्ली गया तो पत्नीमें बहुत परिवर्तन पाया, अब उनका वह मुरझाया चेहरा नहीं रह गया था। छूत-छात तो नहीं रह गई थी, लेकिन मांस-मछली-अंडेका नाम लेना अभी सह्य नहीं था। लेकिन छोटे बच्चे बिन्दुको मैंने अपना दोस्त बना लिया था। खाना खानेकेलिए पासके मुसलमान होटलमें जाना था। बिन्दु ने कहा, मैं भी चलूंगा। पहिले तो कहा, मैं पैदल चलूंगा और उसने जूता भी नहीं पहिना। लेकिन रास्तेमें पैर जलने लगे। उठाना पड़ा। जिस किसी चीजकी ओर वह हाथ न बढ़ाए, इसलिए मैंने पहिले ही आइसक्रीमकी बत्ती पकड़ा दी। होटलमें गए। मांस और रोटी सामने आई। बिन्दुने कहा—मैं भी खाऊँगा। बेचारा मांसके टुकड़ेको तो नहीं खा सका, क्योंकि अभी आदत नहीं थी, लेकिन मांस-रसमें दो एक नेवाले तर किए। मिर्च ज्यादा थी, इसलिए ज्यादा खानेकी हिम्मत नहीं हुई। था अभी तीन ही सालका, लेकिन सवाल जवाब खूब करता था। मैं यहां गया था, पासपोर्टमें कुछ जल्दी करवानेकेलिए। टोट्नहमने फ़ोनसे जवाब दिया, कि अभी पासपोर्ट हमारे पास नहीं आया। वैदेशिक विभागके सहायक सेक्रेटरी कप्तान हसनने कहा, कि पासपोर्ट आयेगा तो लिख-पढ़के वह बम्बई भेज दिया जायगा। जब तक कोई बड़ा आदमी बीचमें न पड़े, तब तक सरकारी दफ्तरोंपर क्या प्रभाव डाला जा सकता है?

पंजाबके गावोंमें (१४–१७ अक्तूबर)—उसी दिन मैंने फ़्रांटियर मेल पकड़ा, और दूसरे दिन (१५ अक्तूबर) साढ़े ८ बजे अमृतसर पहुँच गया। मुझे बाबा सोहन-सिंह भकना और बाबा वसाखासिंहकी जीवनियोंके नोट लेने थे। बाजार-मुनारियोंमें इधर-उधर ढूंढ़ा, लेकिन देशभगत परिवार सहायक कमेटीका पता नहीं लगा। फिर "स्वतन्तरता" का पता ढूंढ़ते-ढूंढ़ते पुतलीघरके पास डाक्टर गुरुबख्शसिंहके बँगलेपर पहुँचा। न "स्वतन्तर" मिले, और न डाक्टर साहब ही। लेकिन डाक्टर साहबकी पत्नी सन्तकौरने स्वागत किया। आज ही भकना जाना चाहता था, लेकिन तांगा नहीं

मिला। आज गुरुरामदासका जन्म दिन था। दर्बारसाहवमें दीपमालिका जलाई जा रही थी। दर्शकोंकी बड़ी भीड़ थी। आखिर सिक्खोंका यह सबसे पवित्र तीर्थ जो है। आस-पासकी दर्शनीय चीजें घूम-घूमकर देखी। यहाँ कम्यूनिस्तोंका काम अधिकतर किसानोंमें है, विद्यार्थियोंमें भी कुछ है, उन्होंने ताँगावालोंकी मजूर-सभा भी संगठित की है, स्त्रियोंमें कोई काम नहीं हुआ है। पूँजीपति तो परछाहींसे भी चिढ़ते हैं और शिक्षितवर्ग भी उदासीन है।

साथी रामसिंह कालामालासे सलाह हुई और उनके साथ पहिले बाबा बसाखा-सिंहके जन्मग्राम ददेरमें जानेका निश्चय हुआ। १६ को सवेरे ६ बजे ही हम तरन-तारन की गाड़ीमें बैठे। तरनतारन भी सिक्खोंका एक तीर्थ है, अच्छा खासा कसबा और म्युनिसपैलटी है, लेकिन सड़कें और गलियाँ वैसी ही गन्दी है, जैसी कि और शहरों और कसबोंकी। हम लोगोंने डेढ रुपयेमें सिरहालीका ताँगा किया। सिरहालीमें पुलिसका थाना है, और पासमें किलानुमा सराय। पंजाबमें अंग्रेजी शासन उसी तरह चला आरहा है, जैसे ४० वर्ष पहिले था और गाँवोंमें थानेदारका रोब लाटसाहबसे कम नहीं है। ताँगेसे उतरकर हम लोग पैदल चले। सिरहाली बहुत बड़ा गाँव है, और सबसे बड़े मकान हिन्दू साहूकारोंके हैं। "कोमा गाता मारु" वाले बाबा गुरुदत्त सिंहकी यही जन्मभूमि है। गाँवके बाहर निकलकर हम खेतोंके रास्ते चले। यहाँकी भूमि बहुत ही उर्वर है। खेत उतने बड़े-बड़े नहीं है, बाकी सभी चीजें बड़ी-बड़ी हैं—भैंसें भी बड़ी, गाएँ भी बड़ी, औरतें भी बड़ी, मर्द भी बड़े। एक जगह मैंने हलवाहेको दो विशाल बैलोंसे हल जोतते देखा, वह बीच-बीचमें गाना भी गा रहा था, और जब बैल कुछ मीठे पड़ते, तो उन्हें गालियाँ भी देता, बादमें फिर अपनी गीतकी कड़ीको गाने लगता। पंजाबके साथियोंने पंजाबीमें बहुत सी कविताएँ की हैं। मैंने कला-मालासे कहा —"साथी! तुमने ऐसी भी कविताएँ बनाई, जिनके गानेकेलिए यह हलवाहे लालायित हों?" "नहीं बनाई है," यह मैं जानता था। पंजाबी कवि भी शिक्षित वर्गकेलिए कविता बनाना चाहते हैं, उनको यह ख्याल नहीं है कि उनकी कविता के प्रेमी इन गाँवोंमें भी रहते हैं। सिरहालीसे ददेर तीन मील है। एक-डेढ़ घंटेमें हम वहाँ पहुँच गए, बाबा बसाखासिंहने देखते ही आके झप्पी मार ली (कंठसे लगा लिया)। देवलीसे ही मैं बाबाको जानता था। कितना बच्चोंका-सा सरल और स्निग्ध स्वभाव? उन्हें अजातशत्रु कहा जा सकता है, यद्यपि वह जोंकोंको हटाकर मजूरों-किसानोंका राज कायम करना चाहते हैं। शत्रु भी उनका सम्मान करते हैं। उनका सारा जीवन कष्ट और तपस्याका है। वह जहाँ रहते हैं

वहाँ प्रेमकी एक विस्तृत परिधि बन जाती है। अपने जन्मग्राममें बहुत कम संतों की प्रतिष्ठा होती है। तुलसीने भी कह दिया—

"तुलसी तहाँ न जाइए, जहाँ जनमको ठाँव।
गुन औगुन जानै नही, धरै पाछिलो नाँव।"

लेकिन बाबा वसाखा सिंह सन्त हैं, और अपने गाँवमें भी उनकी वैसी ही प्रतिष्ठा है। भगवानके वह बड़े भक्त हैं, और मेरे ऐसे भगवान्‌का शत्रु मिलना मुश्किल है। लेकिन उनको भक्तिमें लोक-सेवाका बड़ा भाग है। कई सालोंसे वह तपेदिक के मरीज हैं। जेलसे भी उन्हें मृतप्राय समझकर छोड़ा गया, लेकिन अब भी जब तक साँस है, तब तक वह अपना एक एक क्षण जनसेवामें लगाना चाहते हैं।

मैंने बाबाकी जीवनीका नोट लिया। समय ज्यादा नहीं था, इसलिए थोड़ा बहुत ग्रामीण जीवन देखा। दूसरे प्रान्तोंसे पंजाबी किसान ज्यादा सुखी है, इसके कई कारण हैं। यहाँ बड़े-बड़े जमींदार नहीं हैं, किसान अपने खेतका खुद मालिक होता है, आबादी भी बहुत घनी नहीं, इसलिए लोगोंके पास काफ़ी खेत होता है। पंजाबी किसान कूपमण्डूक नहीं होता। वह अपनी जीविकाकेलिए सातों समुद्र फाँद जाता है। वैसे युक्त प्रान्त और बिहारके लाखों आदमी समुन्दर फाँद गए हैं, मगर स्वतन्त्र मजदूरके तौरपर नहीं, बल्कि शर्तबन्द कुलीके तौरपर, वह जहाँ गए वहीं बस गए। पंजाबी किसान स्वतंत्र मजूरी करनेकेलिए कनाडा पहुँचा, युक्तराष्ट्र अमेरिका पहुँचा, मैक्सिको, पनामा और अर्जन्तीन तक छा गया। साथ ही उसको अपने गाँवसे प्रेम है, इसलिए घरमें पैसा भेजता है, खुद भी आता है। बाबा वसाखासिंह भी मजूरी करनेकेहीलिए युक्तराष्ट्र अमेरिका पहुँचे थे। वहाँ उन्होंने अपनी खेती कर ली थी, लेकिन जब १९१४ ई० में देशकी आजादीकी पुकार हुई, तो सब छोड़ छाड़कर भारत चले आए। तबसे उनके जीवनका अधिक भाग जेलों, और नजरबन्दियोंमें बीता। उस दिन शामको मैंने पहलवान विसनसिंहको देखा। वह भी स्वतन्त्रताकी लड़ाईमें कालेपानीकी सजा पाए थे। अब उनका शरीर ६० के करीबका होगा, लेकिन मन उसे देखनेसे थकता नहीं था। मैं भी काफ़ी लंबा चौड़ा हूँ, लेकिन मेरे जैसे तीन आदमी विसनसिंहके शरीरसे निकल सकते हैं। भावी भारतमें हमारे यहाँ कैसे मर्द होने चाहिए, विसनसिंह उसका एक नमूना है। उनकी चौड़ी छाती, उभड़े हुए कन्धे शेरकी तरह बड़े बड़े पंजे अब भी बतला रहे थे, कि उस शरीरके भीतर कितना बल रहा है।

१७ को फिर हम उसी रास्ते तरन तारन आए और वहांसे लारीपर ही बैठे अमृतसर पहुँच गए।

बाबा सोहनसिंह भकना भी अमृतसरमें आ गए थे, उनकी जीवनीका नोट तो मैंने वहीं ले लिया, लेकिन वह मुझे अपने घर ले गए बिना नहीं छोड़ना चाहते थे। १८ अक्तूबरको हम दोनों रेलसे स्टेशनपर उतरे, और वहाँसे दो मील चलकर भकना पहुँचे। बाबा सोहनसिंह भी मजूरी करने अमेरिका पहुँचे थे, और एक बड़ी पैतृक सम्पत्तिको धर्मके नामपर फूंक-फाँककर। अमेरिकामें उन्हें मालूम हुआ, कि स्वतन्त्र देशमें पैदा होनेका क्या आनन्द होता है। उन्होंने वहांके हिन्दुस्तानियोंमें आज़ादीकी रूह फूंकी, गदर पार्टी कायम की, जिसके वहीं प्रथम सभापति बनाए गए। आखिरी कुर्बानी करनेकेलिए वह १९१४ में हिन्दुस्तान आए, और फ़ाँसीके तख्तेसे उतर अपने दूसरे साथियोंकी तरह अपने जीवनके अधिक भागको जेलोंमें बिताया। देवलीमें मैं देखता था कि कमर टेढ़ी हो जानेपर भी बाबा कितना मेहनती विद्यार्थी अपनेको साबित कर रहे हैं। बाबाकी चार पीढ़ीसे एक ही एक सन्तान होती आई थी, और अब उनके साथ वंश खतम हो रहा है—लेकिन इसे खतम होना नहीं कहना चाहिए, उन्होंने अपनेको एक विशालवंशमें विलीन कर दिया। गाँवके भीतरका मकान उन्होंने कन्यापाठशालाकेलिए दे दिया है, और रहनेकेलिए अपने खेतपर एक मकान बना लिया है। यह खेत भी वह पार्टीको लिख देनेकी सोच रहे थे। ५,६ घंटा रहनेके बाद फिर मैंने जाकर शामकी गाड़ी पकड़ी, और उसी दिन शामको लाहौर पहुँच गया।

८,९ वर्ष बाद मैं अबकी बार लाहौर आया। लाहौर दिनपर दिन बढ़ता जा रहा है। मेरे विद्यार्थी-जीवनके समय यहाँ अंग्रेज कम्पनियोंकी बड़ी बड़ी कोठियाँ नहीं थीं, लेकिन अब तो चौरंगी जैसी इमारतें दिखाई पड़ती हैं। मैं लाहौर गया था, कुछ जीवनियोंकेलिए। वह काम तो हो गया, फिर दोस्तों से मिलना जुलना था। पंडित विश्वबन्धु शास्त्रीने वैदिककोषके जिस कामको अपने हाथमें लिया था, उसने बहुत विशाल रूप धारण किया है। वैदिक वाङ्मयका उनका अनुसंधान एक चिरस्मरणीय काम रहेगा। एम० ए० में उन्होंने इतने नम्बर पाए थे, जितने पंजाब यूनिवर्सिटीमें उससे पहिले किसीको नहीं मिले थे। शास्त्री पास करनेपर विलायत जाकर पढ़नेकेलिए उन्हें छात्रवृत्ति मिल रही थी। वहाँसे लौटकर एक पक्के साहब बहादुर की तरह आरामका जीवन बिताते, बच्चे-बच्चियोंसे घर भरता, और भविष्यकेलिए अपना सूत्र छोड़ जाते; लेकिन तरुणाईमें ही उन्होंने इन सब चीजोंपर लात मार दिया,

अनुसन्धान और अध्ययनको अपने जीवनका ध्येय बनाया। अनुसन्धानने उनकी दृष्टिको विस्तृत बनाया। उन्होंने अपने विचारोंके सामने प्रतिष्ठाकी पर्वाह नहीं की। वेदमें उनके विचारोंको डिगा देखकर आर्य समाजमें बहुत विरोध किया गया; लेकिन उन्होंने उसकी पर्वाह न की। मुझे यह प्रसन्नता हुई कि मेरे पुराने मित्रोंमें कमसे कम एक तो ऐसे हैं, जिनका विकास अभी तक रुका नहीं है, अर्थात् अभी वह सजीव है। २० अक्तूबरको साथी बी० पी० एल० बेदी मुझे अपनी कुटियामें ले गए। माडल टाउन लाहौरसे काफी दूर है। मध्यमवर्गकी नई बस्ती है। यहाँ लोगोंने नए नए सुन्दर घर बनवा लिए हैं, लेकिन बेदीकी अपनी झोपड़ी—फूसकी दीवार फूसकी छतकी है। जमीन तो भाईकी है, जिसने अपने फकीर अनुज और अनुज-वधूको झोपड़ी खड़ी करदेनेकी इजाजत दे रखी है, इसी झोपड़ीमें बेदी और उनकी पत्नी फ्रेडा नयवर्षके लड़के रंगाके साथ रहते हैं। बेदीकी जीवनी मैं "नए भारतके नए नेता" में लिख चुका हूँ। दोनों आक्सफोर्डके ग्रेजुएट हैं। लेकिन उन्होंने देशभक्तिके कंटकाकीर्ण पथको अपनाया। बेदी भी देवलीमें रहे थे। फ्रेडाको मैं वहाँ नहीं देख सका। फ्रेडा सोलहों आना पंजाबिन बन गई है, कपड़े लत्ते और खाने पीने ही में नहीं; भावों और विचारोंमें भी। उसकी जेठानी आई० सी० एस० की बीवी शुद्ध पंजाबिन है, लेकिन सास जितनी अपनी अंग्रेज बहूको मानती है, उतनी बड़ी बहूको नहीं। जब आमदनी करनेका रास्ता उन्होंने छोड़ दिया, तो खर्च कम करनेका रास्ता भी निकालना ही चाहिए, और दोनोंने अपने जीवनको बहुत सरल कर लिया है। मैंने हँसते हुए फ्रेडासे कहा—लोलाको भी मैं कुछ दिनोंकेलिए तुम्हारे पास छोड़ दूँगा, तुम उसे अपनी चेली बनाना और सब गुर बतला देना। उसने कहा—हाँ, जरूर। बेदी पंजाबीका बहुत सुन्दर वक्ता है। मैंने कहा, पंजाबीमें कुछ लिखो। उसने हाँ कहा है। रंगा आपकी ही तरह बड़ी सुन्दर पंजाबी बोलता है और अपने दर्जेके लड़कोंका सरदार है। उसे ख्याल भी नहीं आता, कि वह पंजाबी छोड़ कुछ और है।

अगले दिन (२१ अक्तूबर) लाहौरके साहित्यिकोंने मेरे स्वागतमें एक चाय-पार्टी दी। पंजाबी, उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजीके लेखक यहाँ जमा हुए थे। मैंने साहित्यके बारेमें कुछ कहा। डाक्टर लक्ष्मण स्वरूपसे भी मुलाकात हुई। अबकी बार मैं उनके यहाँ नहीं जा सका, उलाहना देना उचित था, लेकिन मैं तो अपने राजनीतिक विचारोंके ख्यालसे भी जानेमें संकोच कर रहा था। अभी तक मैंने उनके चेहरे पर बुढ़ापा नहीं देखा था, लेकिन अब उसकी साफ छाप दिखाई पड़ रही थी।

काश्मीर—शेर-कश्मीर शेख अब्दुल्लाकी जीवनी मुझे और लेनी थी, इसलिए

में उसी (२१)रात रावलपिंडीके लिए रवाना हुआ। आजकलकी रेल-यात्रामें यदि खड़े होनेभरकी जगह मिल जाए, तो भी बहुत है। लेकिन मुझे तो बैठनेकी जगह मिल गई थी। रातको रावलपिंडी पहुँच गया। रावलपिंडीसे कश्मीर जानेवाली मोटर-में एक सीटका ५५ रुपया किराया पड़ता है, लेकिन आज कल लोग पहाड़ोंसे नीचे उतर रहे थे। अक्टूबरके अन्तमें कौन पहाड़पर जाता है ? लारीसे जानेपर १० रुपये और कम पड़ते, लेकिन रास्ते में दो दिन और बिताने पड़ते, इसलिए मैं २५ रुपया देकर मोटरमें बैठा। पहिले कितनी दूर तक मैदानी इलाका था, फिर पहाड़ आया। मरी रास्तेसे कुछ हटकरके ही है, लेकिन ड्राइवर सवारीकेलिए वहाँ गया। शिमला मसूरीकी तरह यह भी साहबों और मध्यवित्त लोगोंकी हवाखोरीकी जगह है। सवारी कोई नहीं मिली, खैर, मैंने मरी देख ली। कई गलियाँ (डाँडे) पार करके हम झेलम नदीकी उपत्यकामें आए। कुछ दूर तक सीमाप्रान्तमें भी चलना पड़ा। फिर एक पुल पारकर कश्मीर रियासतमें दाखिल हुए। दोमेलमें चुंगीवालोंने चीजोंकी देख भाल की, मेरे पास कोई चीज ही नहीं थी। आगे सफेदा और बीरीकी पत्तियाँ पीली पड़ कर गिर रही थीं—जाड़ा आ गया था। रावलपिंडीसे श्रीनगर १९८ मील है। ३३ मील रह जानेपर बारामुला आया। यह समुद्रतलसे ५२०० सौ फ़ीट (१ मील) ऊपर है। अब सड़ककी दोनों तरफ सफ़ेदेकी पाँतियाँ थीं। कहीं कहीं सफ़ेदे काटे गए थे, लेकिन साथ ही नए पौधे भी लग गए थे। अब हम कश्मीरकी विस्तृत उपत्यकामें थे। आजकल तो खैर चिनारकी पत्तियाँ भी अंगारे जैसे लाल रंगको लेकर गिर रही थीं, इसलिए हरियालीका सौन्दर्य वहाँ दिखलाई पड़ता, लेकिन दोबारकी गर्मीकी यात्राओंमें भी मैं अनुभव करता रहा, कि यहाँके नंगे पहाड़ोंमें कौन-सा प्राकृतिक सौन्दर्य है, कि उसकी सुषमा वर्णन करते लोग नहीं थकते।

शामको मैं श्रीनगर पहुँच गया। पता ढूँढ़ते-ढाँढते जम्मू कश्मीर राष्ट्रीय कान-फ्रेंसके हेडक्वाटर मुजाहिद-मंजिलमें पहुँचा। फ़ोन करनेसे पता लगा कि शेख साहब शहरही में हैं। मुझे श्रीनगर में कुछ देखना भालना नहीं था। पहिली दो यात्राओं-में मैं उसे काफ़ी देख चुका था। अगले दिन (२३ अक्तूबर) शिकारा (छोटीनाव) से मैं मीरा-कदल गया। शेख साहबसे बातचीत हुई, उन्होंने अगले दिन अपने घरपर आनेकेलिए निमन्त्रित किया। इस वक़्त लोग धड़ाधड़ नीचे जा रहे थे, मकान खाली हो रहे थे। वास-नौकाएँ बहुत सस्तेमें मिल रही थीं, लेकिन जाड़ेको बर्दाश्त करनेकेलिए यहाँ कौन तैयार था ? इस मँहगीके ज़मानेमें भी मीठी-मीठी नाखें (नासपाती) बहुत सस्ती बिक रही थीं।

२४ अक्तूबरको मैं शेख साहबके घरकी ओर चला। उनका गाँव सौरा अब शहरका अंग बन गया है, लेकिन है ६ मील दूर। रास्तेमें नौशेहरा पड़ा, इसे सुल्तान जैनुल आब्दीनने अपनी राजधानी बनाया था। सौरामें दुशाला बनानेवाले कारीगर और किसान मजूर रहते हैं, खेत बहुत कम हैं। शेख अब्दुल्लाको बड़ी कठिनाईके साथ अपनी पढ़ाई जारी रखनी पड़ी। उन्होंने अलीगढ़से एम० एस-सी० किया। छोटी-मोटी सरकारी नौकरी मिली थी, लेकिन जनताकी ग़रीबी और अपमानको देखकर वह अपनेको भूल गए, जनताके हक़केलिए जरा भी जीभ हिलानेपर राजके कोप-भाजन हुए। फिर उनका जीवन राजनीतिक संघर्षका जीवन हो गया। सदियोंसे कायर समझे जानेवाले कश्मीरियोंके भीतर उन्होंने रूह फूँक दी। राज्यने गोलियाँ चलवाईं। लोगोंको जेलोंके भीतर ठूँसा, लेकिन इसका कोई फल नहीं हुआ। शेखने पहिले अपना काम मुसलमानोंमें शुरू किया था, लेकिन संघर्षने बतला दिया, कि सभी धर्मोंके दुःख एकसे हैं। आज वह कश्मीर रियासतके हिन्दू-मुसलमानोंके प्रिय नेता हैं।

अजय घोष बारामूलामें थे, इसलिए २५ अक्तूबरको मुझे भी आकर वहीं ठहरना पड़ा। महमूदकी बीबी डाक्टर रशीदा भी आजकल यहीं थी। मुझे अजयकी जीवनीके नोट लेने थे, बस इतने ही भरकेलिए वहाँ उतरा था। २६ को देखा कि रावलपिंडी जानेवाली लारीका मिलना मुश्किल है, इसलिए अबटाबादवाली लारी पकड़ी। ड्राइवर पठान था, और बहुत अच्छा आदमी था। दोमेलके पुलसे सड़क अलग हुई, और हम मुजफ्फराबाद (२२०० फ़ीट) होते शामको रामकोट (२५७८ फ़ीट) पहुँचे। यहीं सीमाप्रान्त और कश्मीरका सरहद है। अब हम हजारा जिलेमें प्रविष्ट हुए। कुन्हार नदीके किनारे गढ़ीहबीबुल्ला अच्छी बस्ती है। इधर कुछ दूर तक पहाड़ोंमें हमें जंगल नहीं मिला था, लेकिन आगे चढाई आई, पहाड़ चीड़के जंगलसे ढँका था। अब रात हो गई थी। मनसहरामें हमें ठहर जाना पड़ा। होटलमें खाने और ठहरनेका इन्तिज़ाम हो गया। जब दाम सस्ता है, तो मकानकी सजावट और सफाईके देखनेकी जरूरत नहीं।

दूसरे दिन (२७ अक्तूबर) हम सवेरे ही एबटाबाद पहुँच गए। वहाँसे दूसरी लारी मिली, और उतराई ही उतराई उतरते हवेलियाँ पहुँच गए।

यहाँसे रावलपिंडी रेल भी जाती है, लेकिन मैंने लारीसे ही जाना पसन्द किया। अब मैदानी जमीन थी। इधरके इलाक़ोंमें दूसरी जगहोंकी अपेक्षा फलोंका ज्यादा शौक़ है। हरीपुरके बाहर बहुतसे बगीचे थे, और अब तो हमारे अमरूद भी यहाँ पहुँच गए हैं। हसनअब्दाल (पंजा साहेब) पहुँचकर हमने हवाई-जहाज़ पानी

बड़ी सड़क पकड़ी। लारीमें खूब भीड़ थी। जगह जगह फ़ौजें पड़ी हुई थीं, और फौजी कारें तथा लारियाँ इधर उधर दौड़ रही थीं। तक्षशिला वगलमें छूट गई। दोपहर बाद हम रावलपिंडी पहुँच गए, और तीन बजेकी गाड़ी पकड़कर दिन ही दिन-में लाहौर। आज दीवाली थी, लेकिन चिराग बहुत कम घरोंमें जलाया गया था। देशके बड़े-बड़े नेता जब जेलोंमें सड़ रहे थे, तो कोई कैसे दिल खोलकर दिवाली मनाता ?

२९ अक्तूबरकी शामको प्रयागकेलिए रवाना हुआ, और लखनऊमें गाड़ी बदलकर ३१ अक्तूबरके सूर्योदयके पहिले ही प्रयाग पहुँच गया।

'प्रयागमें (३१ अक्तूबर—९ दिसम्बर)—मुझे सबसे पहिले "नए भारतके नए नेता" को खतम करना था। इसके लिए प्रयागमें जम जाना पड़ा। इसे लिखते प्रूफ़ भी देखता रहता था। २०, २१ नवम्बरको कानपुरमें प्रगतिशील लेखक संघमें भी जाना पड़ा। प्रेसका काम भी बहुत झंझटका होता है, दूसरे पेशेवालोंकी तरह प्रेसवाले भी मुश्किल होसे कोई काम वायदेपर करते हैं। "नए भारतके नए नेता" में मैंने ४२ जीवनियाँ दीं, नवम्बरके भीतर ही पुस्तक छप जानेकी उम्मेद थी, लेकिन १० को जब मैं बनारसकेलिए रवाना हुआ, तो दो जीवनियाँ अभी बाकीही थी। बनारसमें ४ दिन रहा। दोस्तोंसे जहाँ तहाँ मिलता रहा। लड़ाईके बारेमें लोग बहुत बातें करते थे। पहिले जब मैं सोवियतकी अपराजेयताके बारेमें कहता, तो लोग अन्य-मनस्क होकर सुनते, लेकिन अब सोवियतकी विजय उनके सामने थी। स्तालिन-ग्रादमें लालसेनाने जर्मन फ़ौजोंको जो जबर्दस्त शिकस्त दी, उसके बाद उसने शत्रुको साँस लेने नहीं दिया। सारा साल लालसेनाकी विजयका साल रहा।

१५ दिसम्बरको ११ बजे दिनकी गाड़ी पकड़ी। पहिले तो जगह अच्छी कुशादा मिली। सारनाथसे भरने लगी, औड़िहारमें और भरी, गाज़ीपुरमें भीड़ हो गई, बलियामें धक्कमधक्का, और छपरामें पहुँचकर यह हालत हुई, कि कचहरी स्टेशन जानेका ख्याल छोड़ दिया, और यही उतरकर रिक्शासे पं० गोरखनाथ त्रिवेदीके घर गया।

कालेज हो जानेसे छपरामें कुछ बौद्धिक परिवर्तन ज़रूर आया है, यह विद्यार्थियों ही के कारण। वैसे सैकड़ों ग्रेजुएट वकील तो पहिलेसे ही छपरामें रहते थे, लेकिन वकालतका पेशा बहुत हृदयहीन पेशा है। आजके समाजमें उसकी बहुत ज़रूरत है, क्योंकि विशाल वैयक्तिक सम्पत्तिकी रक्षाका भार उसे ही सँभालना पड़ता है। लेकिन वस्तुतः वह प्रतिभाओंके कबरीस्तान बननेका ही काम देता है। विद्यार्थियोंको पता

रागा, तो वह आने लगे, और राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय और साहित्य नाना विषयोंपर बात चलती रहती। मैंने अपने "दर्शन दिग्दर्शन" में लिखा है, कि हमारे न्याय-वैशेषिकने बहुत-सी बातें यूनानी दार्शनिकोंसे ली है, इसी विषयको लेकर मैं कालेजके विद्यार्थियोंके सामने बोला। शायद पच्चीस वर्ष पहिले बोलनेपर इसका बहुत विरोध होता, क्योंकि शताब्दीके आरम्भमें भारतमें जो नवजागरण हुआ, उसका एक अर्थ यह भी लिया जाता था कि भारतने सदा दुनियाको सिखाया है, उसने किसीसे कुछ सीखा नहीं है। लेकिन यहाँ विरोधमें क्षीण आवाज उठी, और वह भी इस गलत भावको लेकर कि गोया मैं भारतके सारे दर्शन को यूनानकी देन मानता हूँ। मैं तो इतना ही कहता था, कि भारत और यूनानमें दर्शनके सम्बन्धमें काफी दान-आदान हुआ है।

१८ को पटना चला गया। अगले दिन वहाँ अन्न समस्याके बारेमें एक विराट् सभा हुई, जिसमें ६ हजार आदमी एकत्रित हुए थे। सालभर पहिले जब कम्यूनिस्ट साथियोंने अन्न, कपड़े आदि रोज-रोजकी समस्याओंको लेकर नागरिकोंमें काम करना शुरू किया, तो लोग यही समझते थे, कि कुछ होना-हवाना नहीं है, नाहक ही ये नौजवान अपना समय बर्बाद कर रहे हैं। लेकिन आज नौजवानोंके सभी प्रशंसक थे। लीग, कांग्रेस, हिन्दूसभा सभी विचारोंके लोग एकत्रित हुए थे। उनकी माँग और उनकी आवाज इतनी हल्की नहीं थी, कि सरकार उसकी उपेक्षा करती। लोगोंमें आत्मविश्वास था। एक दिन रामबहादुर बाबूके पास मिलने गया। मैं जब जायसवालजीके यहाँ जाड़ोंमें आया करता था, तो रामबाबूसे रोज ही मुलाकात हो जाया करती थी। बड़े सरल सज्जन आदमी हैं। १० वर्षके भीतर ही कितना परिवर्तन हो गया। बुढ़ापे और प्रमेहने मिलकर उन्हें सौ वर्षका बुड्ढा बना दिया। जिन्दगीसे बेजार थे, बागमें पके आमकी किसी दिन टपकनेकी बारी आती है। उधर ढलनेके साथ आदमीका ध्यान ज्यादातर अपने समवयस्कों या बूढ़ोंकी ओर जाता है, और वह उनमेंसे किसीको आज किसीको कल टपकते देखता है; इसीलिए उसे मानव जीवनके एक ही पहलूका ख्याल होता है, जिसमें सिर्फ निराशा ही निराशा बारहों मास नई-नई दिखाई पड़ती है। लेकिन, मानव-उद्यानमें सिर्फ पीले पड़कर टपकने वाले आम ही नहीं होते, बल्कि बारहों मास नई-नई मंजरियाँ और नई-नई बौरियाँ लगा करती हैं। यदि आदमी उधर ध्यान देता, तो अधिक आशावादी बनता। लेकिन यह तभी हो सकता है, जबकि आदमी अपनेसे पीछे आने वालोंका बाप-दादा बननेका ख्याल छोड़ उनके साथ अभिन्न सौहार्द, सहृदयता स्थापित करे।

दशहरा होते २५को बनारस लौट आया। इस साल ओरियन्टल कान्फ्रेन्स

(प्राच्य परिषद्) यही हिन्दू विश्वविद्यालयमें होनेवाली थी, इसलिए तब तक यहीं ठहरनेका विचार हुआ। भिक्षु जगदीश काश्यपकी कुटिया हिन्दू विश्वविद्यालय हीमें थी, इसलिए रहनेका अच्छा ठौर था। सामने पंडित सुखलालजी रह रहे थे। वहाँ गुजराती जैन भोजनका सुन्दर प्रबन्ध था। किताब लिखने या प्रूफ देखनेका झगड़ा-झंझट नही था, इसलिए कथा-गोष्ठी ही कालक्षेपकेलिए अच्छा साधन थी। मुनि जिनविजयजी आजकल यहीं ठहरे हुए थे। काश्यपजीको चीन जानेका बुलावा आया था, लेकिन वह जानेमें आनाकानी कर रहे थे। कभी कहते कि वहाँ जापानियोंके बम गिर रहे हैं, कभी कोई दूसरा बहाना करते। मैंने बहुत समझाया कि ऐसे मौक़ेसे फ़ायदा उठाओ, लेकिन मुझे विश्वास नही कि महादेव बाबा हिलें-डुलेंगे। सारनाथ आने-जानेकेलिए अपनी योजनाके अनुसार उन्होंने एक रिकशा बनवाया था, जिसमें बैठनेकी जगहको जान-बूझकर एक तिहाई कम करवा दिया था। यह मुटाई कम करनेकेलिए नहीं हो सकता था, शायद कोई दूसरा साथ न बैठ जावे, यही ख्याल काम कर रहा हो, लेकिन बड़े रिकशामें भी बहुत ही कम आदमी उनके साथ बैठनेकेलिए तैयार होंगे। और रिकशाके दोनों किनारोंको इतना ऊँचा कर दिया था कि यदि कोई दुर्घटना हो, तो आदमी कूदकर भाग भी न सके। काश्यपजी दार्शनिक हैं, और दार्शनिककेलिए सब सम्भव है, लेकिन मेरी व्यवहार बुद्धि उसे समझकी बात नहीं समझ रही थी।

एक दिन अस्सीपर में पंडित जयचन्द्र विद्यालंकारकी पत्नी शास्त्रिणी सुमित्रा देवी से मिलने गया। अभी बैठा ही था, कि पुलीस का आदमी आ धमका। उसने नाम-ग्राम पूछना शुरू किया। लेकिन मैं तो नामी चोर था, इसलिए बतलाने में हिचकिचाहट क्या होती। हाँ, यह जरूर मालूम हुआ कि पुलिस इस घरको फँसानेकी वंशीके तौरपर इस्तेमाल कर रही है।

३० दिसम्बरसे प्राच्य परिषद्केलिए विद्वान आने लगे। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी, डाक्टर सुकुमार सेन और कितने ही दूसरे विद्वानोंसे मुलाकात हुई। ३१को सयाजी पुस्तकालयके विशाल हालमें १२वी प्राच्य परिषद् जुटी। सर राधाकृष्णन सुवक्ता हैं, इसमें कौन सन्देह कर सकता है; लेकिन साथ ही हिन्दुओंकी लकीर पीटना भी उनके स्वभावमें है, वह इसी तरहके अनाप-शनाप बोल गये। इसके बाद दरभंगाके महाराजाधिराजने अपनी लिखित वक्तृता पढ़कर परिषद्का उद्घाटन किया। लक्ष्मीवाहन होनेके सिवा उनमें और कौन गुण था, कि विशेषज्ञ विद्वानोंकी इस परिषद्के उद्घाटनका भार उनके ऊपर दिया गया। भारतके वर्णाश्रमधर्मकी

देगा। लेकिन जब बड़े-बड़े प्रस्तावों और लम्बे-लम्बे व्याख्यानोंको सुननेसे जनता उकता जाये, तो दस आदमी भी सभामें गड़बड़ी पैदा कर सकते हैं। अधिवेशनके सभापति डाक्टर रामविलास शर्मा ज्यों ही बोलनेकेलिए उठे, कि आठ-दस आदमियोंने हल्ला शुरू किया। जनता तटस्थ होकर तमाशा देखती रही। प्रस्ताव तो पास हो गये, लेकिन अधिवेशन शान्तिपूर्वक समाप्त नहीं हुआ।

१८ जनवरीको एक ही दिन मेरे चार जगह व्याख्यान रखे। मैंने भी कहा, जितनी मरज़ी हो, जोत लो। सबेरे मुरारके आर्यसमाज मन्दिरमें सम्मिलन हुआ। यहाँ व्याख्यान नहीं, शंकासमाधानके तौरपर घंटे-डेढ़ घंटे तक सत्संग चलता रहा। मैंने बतलाया कि क्यों हमारे समाजमें आमूल परिवर्त्तनकी ज़रूरत है। फिर मुरार हाई स्कूलके विद्यार्थियोंके सामने "सोवियत शिक्षा"पर व्याख्यान दिया। विद्यार्थियोंसे ज्यादा उसे शिक्षकोंने पसन्द किया, क्योंकि शिक्षित वर्गका जीवन आज-की व्यवस्थामें सबसे चिन्तापूर्ण है। खानेके बाद सार्वजनिक सभाभवनमें कितने ही चिन्तनशील व्यक्तियों और सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओंसे वार्त्तालाप होता रहा। शामको ७ बजे हिन्दी साहित्य सभाकी ओरसे "तिब्बतमें भारतीय संस्कृति और साहित्य"पर व्याख्यान दिया। यहाँ बहुत काफ़ी संख्या शिक्षितों और साहित्यिकोंकी थी। मैं उसी रातको दिल्लीकेलिए रवाना होनेवाला था, लेकिन घी-तेलके खानोंने पेटको खराब कर दिया। कई दस्त हुए और आज 'सुमन'के घरपर रुक जाना पड़ा। 'सुमन' हिन्दीके एक उदीयमान तरुण कवि हैं। उनसे हिन्दीको बहुत आशा है।

१९ तारीखकी रातको मैं पेशावर एक्सप्रेससे दिल्लीकेलिए रवाना हुआ।

दिल्लीमें (२०-२३ जनवरी)—सबेरे ७ बजे ही हमारी गाड़ी दिल्ली पहुँच गई। पासपोर्टकेलिए कुछ कोशिश करनी चाही, किन्तु मेरे साथियोंकी भी सलाह हुई कि इससे कोई फ़ायदा नहीं। जहाँ सन्देश पहुँचा न था, वहाँ पहुँचा दिया।

२३ जनवरीको दिल्लीकी पार्टी-कान्फ़ेन्स हुई। दिल्लीमें कम्यूनिस्तोंकी शक्ति पहिली यात्रासे अब कई गुना बढ़ गई थी। पार्टी मेम्बर भी ज्यादा थे, और यज्ञदत्त अब अकेले नहीं थे। फारूकी, बहाल सिंह और दूसरे भी कई साथी दत्तचित्त हो काम कर रहे थे। दिल्लीके नौ-दस हज़ार मुनीमोंका दृढ़ संगठन था—हिन्दू मुसलमान सभी मुनीम पार्टी को अपनी पार्टी समझते थे, सरला ने स्त्रियोंमें खूब जागृति पैदा की थी। मिल-मजदूरोंमें भी पार्टीका काम बहुत आगे बढ़ा था। सबेरेके वक्त झंडा फह-रानेका काम मुझे दिया गया। शामको ७ बजे सभा शुरू हुई, तो वर्षा होने लगी।

(गोपगिरि)का क़िला बहुत पुराना है। ८वीं ९वीं सदीमें भी यहाँ किसी सामंतकी राजधानी थी। किला पहाड़के ऊपर बहुत ही सुरक्षित स्थानपर है। चित्तौड़की तरह यहाँ भी बहुतसे प्राचीन मंदिर हैं, यद्यपि उस समयकी मूर्त्तियाँ तोड़-ताड़कर फेंकी जा चुकी हैं। तेलीका मन्दिर वास्तुकला और मूर्तिकला दोनोंकी दृष्टिसे बहुत सुन्दर है। शायद यह नवीं शताब्दीका है, और चालुक्य वंशी द्वितीय तैलपने बनवाया है, लेकिन तब इसका समय १०वीं सदी होगा। तैलपने भोजके चचा मुंजको पराजित किया था, और उसीने राष्ट्रकूट वंशके अन्तिम राजा द्वितीय कर्कको पराजित करके उस वंशका उच्छेद किया था। यहाँ मूर्त्तियाँ सिर्फ़ दीवारोंमें बच रही हैं, और सभी अंग-भंग हैं। मन्दिरमें अब कोई मूर्त्ति नहीं है। सास-बहूका मन्दिर वास्तुकलाकी दृष्टिसे अच्छा है, लेकिन तैलप मन्दिरके टक्करका नहीं। वहाँसे हम राजा मानसिंहके महलको देखने गये। इसे १५वीं सदीमें ग्वालियरके इस स्वतन्त्र राजाने बनवाया था। अकबर और जहाँगीरके मकानोंको देखनेसे भी मालूम होता है कि उनमें आजके मकानोंकी तरह हवा, रोशनीका इन्तिज़ाम नहीं था। यहाँकी रानियोंकी कोठरियाँ तो काल-कोठरीसी मालूम होती हैं? वैसे वास्तुकला बुरी नहीं। नीचे उतरकर पुराने ग्वालियरमें होते म्यूजियम गये। यह एक पुराने महलमें अवस्थित है, और गर्देजीके अथक परिश्रमका प्रमाण है। संग्रह थोड़ा, लेकिन बहुत अच्छा है। उन्हें क्रमसे रखनेमें बहुत कौशल दिखलाया गया है। रातको ग्वालियर रियासत छात्र-संघका अधिवेशन था। साम्यवादका रियासतके छात्रोंपर प्रभाव है, किसान सभापर प्रभाव है, और मजदूरोंपर भी उसका प्रभाव है। भला, यह कैसे हो सकता था कि साम्यवादके बढ़ते प्रभावको सभी लोग पसन्द करें। प्रबन्धक अच्छी तरह समझ सकते थे कि कुछ विरोधी गड़बड़ करनेको तैयार हैं। अधिवेशन शुरू हुआ, मैंने व्याख्यान दिया, कोई कुछ नहीं बोला। इसके बाद लोगोंने बड़े-बड़े प्रस्ताव पढ़ने और उसपर लम्बी-लम्बी स्पीचें देनी शुरू कीं। श्रोता इसकेलिए तो आये नहीं थे, वह आये थे बाहरके वक्ताओंका व्याख्यान सुनने। संघवालोंको चाहिए था, कि अपने प्रस्तावोंको प्रतिनिधियोंमें पास करा लेते। एकाध प्रस्तावपर लोगोंको समझानेकेलिए एकाध व्याख्यान भी हो जाते, तो कोई हर्ज नहीं था। हिन्दू सभावालोंने "राहुलजी गोभक्षक हैं, यह हिन्दुओंके दुश्मन हैं", इत्यादि-इत्यादि कहकर लोगोंको भड़कानेकी कोशिश की, लेकिन उसका कोई असर नहीं हुआ। राहुलजी यहाँ सभामें बोल रहे थे, तो भी गड़बड़ी करनेकी उनकी हिम्मत नहीं हुई, क्योंकि वह जानते थे, कि श्रोतृमंडलीमें उनका कोई साथ नहीं

देगा। लेकिन जब बड़े-बड़े प्रस्तावों और लम्बे-लम्बे व्याख्यानोंको सुननेसे जनता उकता जाये, तो दस आदमी भी सभामें गड़बड़ी पैदा कर सकते हैं। अधिवेशनके सभापति डाक्टर रामविलास शर्मा ज्यों ही बोलनेकेलिए उठे, कि आठ-दस आदमियोंने हल्ला शुरू किया। जनता तटस्थ होकर तमाशा देखती रही। प्रस्ताव तो पास हो गये, लेकिन अधिवेशन शान्तिपूर्वक समाप्त नहीं हुआ।

१८ जनवरीको एक ही दिन मेरे चार जगह व्याख्यान रखे। मैंने भी कहा, जितनी मरजी हो, जोत लो। सबेरे मुरारके आर्यसमाज मन्दिरमें सम्मिलन हुआ। यहाँ व्याख्यान नहीं, शंकासमाधानके तौरपर घंटे-डेढ़ घंटे तक सत्संग चलता रहा। मैंने बतलाया कि क्यों हमारे समाजमें आमूल परिवर्त्तनकी जरूरत है। फिर मुरार हाई स्कूलके विद्यार्थियोंके सामने "सोवियत शिक्षा"पर व्याख्यान दिया। विद्यार्थियोंसे ज्यादा उसे शिक्षकोंने पसन्द किया, क्योंकि शिक्षित वर्गका जीवन आजकी व्यवस्थामें सबसे चिन्तापूर्ण है। खानेके बाद सार्वजनिक सभाभवनमें कितने ही चिन्तनशील व्यक्तियों और सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओंसे वार्त्तालाप होता रहा। शामको ७ बजे हिन्दी साहित्य सभाकी ओरसे "तिब्बतमें भारतीय संस्कृति और साहित्य"पर व्याख्यान दिया। यहाँ बहुत काफ़ी संख्या शिक्षितों और साहित्यिकोंकी थी। मैं उसी रातको दिल्लीकेलिए रवाना होनेवाला था, लेकिन घी-तेलके खानोंने पेटको खराब कर दिया। कई दस्त हुए और आज 'सुमन'के घरपर रुक जाना पड़ा। 'सुमन' हिन्दीके एक उदीयमान तरुण कवि हैं। उनसे हिन्दीको बहुत आशा है।

१९ तारीखकी रातको मैं पेशावर एक्सप्रेससे दिल्लीकेलिए रवाना हुआ।

दिल्लीमें (२०-२३ जनवरी)—सबेरे ७ बजे ही हमारी गाड़ी दिल्ली पहुँच गई। पासपोर्टकेलिए कुछ कोशिश करनी चाही, किन्तु मेरे साथियोंकी भी सलाह हुई, कि इससे कोई फ़ायदा नहीं। जहाँ सन्देश पहुँचा न था, वहाँ पहुँचा दिया।

२३ जनवरीको दिल्लीकी पार्टी-कान्फ्रेन्स हुई। दिल्लीमें कम्यूनिस्टोंकी शक्ति पहिली यात्रासे अब कई गुना बढ़ गई थी। पार्टी मेम्बर भी ज्यादा थे, और यज्ञदत्त अब अकेले नहीं थे। फारूकी, बहाल सिंह और दूसरे भी कई साथी दत्तचित्त हो काम कर रहे थे। दिल्लीके नौ-दस हजार मुनीमोंका दृढ़ संगठन था—हिन्दू मुसल्मान सभी मुनीम पार्टी को अपनी पार्टी समझते थे, सरलाने स्त्रियोंमें खूब जागृति पैदा की थी। मिल-मजदूरोंमें भी पार्टीका काम बहुत आगे बढ़ा था। सबेरेके वक्त झंडा फहरानेका काम मुझे दिया गया। शामको ७ बजे सभा शुरू हुई, तो वर्षा होने लगी।

लेकिन पाँच-छ हजार श्रोता बराबर डटे रहे। सज्जाद जहीरकी कलमका जौहर तो मैंने देखा था, लेकिन वह इतने अच्छे वक्ता हैं, यह इसी वक्त मालूम हुआ। ६ बजे नाटक शुरू हुआ। साथ भाई यज्ञदत्तकी पत्नीको मैंने ग्रामीण स्त्रीके भेसमें नाटकमें भाग लेते देखा, वह जरूर पहिलेसे बहुत आगे बढ़ गई थीं।

मेरा सबसे छोटाभाई श्रीनाथ दिल्लीमें मिठाईका काम करता है, यह मुझे मालूम था। पिछली बार मैंने उसे ढूँढ़नेकी कोशिश की थी, मगर वह नहीं मिला। वह भी सभामें आया था। थोड़ी देर उससे बातचीत हुई। दूसरे दिन मैंने सबेरेकी गाड़ी पकड़ी।

इन्दौर (२५–२८ जनवरी)—पानी काफ़ी बरस गया था। शाम तक वर्षा या वर्षाके चिह्न मिलते गए। कोटा पहुँचते वक़्त सूर्यास्त नहीं हुआ था। आधी रातको गाड़ी रतलाम पहुँची। डब्बेमें इतनी भीड़ हो गई, कि बाहर निकलना मुश्किल था। इन्दौरवाली गाड़ी खड़ी थी, जाकर उसीमें सो रहा। सबेरे (२५) ८ बजे गाड़ी चली। अब हम प्राचीन अवन्ती और बादकी मालवभूमिमें चल रहे थे। मालव भूमिको सदासे अन्नकी खान समझा जाता रहा है, कथाएँ प्रसिद्ध रहीं कि वहाँ कभी अकाल नहीं पड़ा। भूमि ज्यादा समतल है। काली मिट्टी बतला रही थी, कि वह बहुत उर्वर है। पहाड़ियाँ बहुत कम हैं। इस वक़्त गेहूँ-चनेके खेत लहलहा रहे थे। एक किसान कह रहा था—किसानोंकेलिए अच्छा समय है, दो मानी कपासके १०० रुपए आ जाते हैं। हाँ, उनको अगर कोई कष्ट था तो कपड़े और कारखानेकी दूसरी चीजों का। इन्दौर आनेसे पहिले कपड़ेकी कई मिलें मिलीं।

इन्दौरमें मध्यभारत फासिस्टविरोधी लेखक सम्मेलनका मुझे सभापतित्व करना था। मैं समयसे पहिले आया था। आनेकी सूचना भी मैंने पहिलेसे नहीं दी थी। १२ बजे इन्दौर पहुँचा। ताँगा लेकर ढूँढ़नेके लिए निकला। लाल झंडेके कारण ज्यादा भटकना नहीं पड़ा, फिर मुझे साथी गरमंडलके घरपर ले गए। ग्वालियर और इन्दौर दोनों मराठा रियासतें हैं। इन्दौर महाराष्ट्रके और नज़दीक है, इस-लिए नगरके निवासियोंमें मराठोंकी काफ़ी संख्या है। यहाँके जो कम्यूनिस्ट तरुण हैं, उनमें अधिक संख्या महाराष्ट्रोंकी है, मुझे भी महाराष्ट्र परिवारका अतिथि बनना पड़ा।

अगले दिन (२६ जनवरी) सोवियत सुहृद संघने स्वागतका प्रबन्ध किया। कितने ही सोवियत सुहृद वहाँ एकत्रित हुए थे। इन्दौरमें सार्वजनिक सभायें मनाही थीं, इसलिए व्याख्यान खुले तौर से नहीं हो सकता था। यहाँ मैंने सोवियतके बारेमें कहा। संघके पास सोवियतसे आई बहुमूल्य पुस्तकें, चित्र और मार्डल थे।

एक बड़ेसे चित्रमें एक बड़ा ही भावपूर्ण दृश्य दिखलाया गया था। लालसैनिक पीठपर बन्दूक रखे द्नियेपर् नदीके किनारे पहुँचकर अपने फौलादी टोपको उतार उसमें महा-नदीका जल भरकर पी रहा था। उसके चेहरेपर वैसेही भाव थे, जैसे मातृ-स्तन से महीनोंका वंचित शिशु माँके स्तनको अपार आनन्दके साथ पी रहा हो। सोवियत-जनोंकेलिए अपनी नदियाँ बहुत ही प्रिय और पुनीत हैं। दो वर्ष पहिले द्नियेपर् महानदी जर्मनोंके हाथमें चली गई थी, आज लाल सैनिक माता द्नियेपर्के तट पर पहुँचा, और खूब अघाकर उस पुण्य-जलको पी रहा है। हम भी गंगासे प्रेम करते हैं, लेकिन हमारा प्रेम वैसा लौकिक, साकार नहीं है।

शामको मराठी साहित्य समितिके हालमें सम्मेलन शुरू हुआ। हालमें जितने आदमी आ सकते थे, उतने भरे थे। शामू संन्यासीने स्वागत पढ़ा। मैंने अपना भाषण सुनाया। अगले दिन सवेरे फिर बैठक हुई। कई निबन्ध पढ़े गए और कितने ही प्रस्ताव पास हुए। दो घंटे बाद होल्कर कालेज में विद्यार्थियोंके सामने सोवियत शिक्षापर व्याख्यान दिया। ऐसे व्याख्यान मैं कई वर्षोंसे देता आ रहा हूँ, लेकिन अब लोग दिलचस्पी ही नहीं विश्वासके साथ सुनते हैं, क्योंकि लालसेनाके विजयोंने २५ सालोंके सोवियत-विरोधी गन्दे, झूठे प्रोपेगण्डाको निर्मूल साबित कर दिया है; लोग समझते हैं कि सोवियतमें जरूर कोई ऐसी बात हुई है, जिसने ज़ारकी रूसी सेनाको दुनियाकी सर्वश्रेष्ठ सेनामें परिणत कर दिया। शामको मिल-मजूरोंके सामने व्याख्यान दिया। रातको फिर सम्मेलन शुरू हुआ। आज अधिकतर सांस्कृतिक प्रोग्राम रहा। शामूने भीलोंका एक गाना गाकर उनका नृत्य दिखलाया। यह नृत्य सामूहिक हुआ करते हैं, अकेले नाचनेमें उतना मजा कैसे आ सकता है, और साथ ही वहाँ कोई बाजा भी नहीं था। लेकिन शामूने उसके महत्त्व को समझा है, यह देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। लोगोंने बहुत पसन्द किया और, शामूको कई पारितोषिक मिले। अन्तमें मेरे व्याख्यानके साथ सम्मेलन समाप्त हुआ।

दूसरे दिन (२८ फरवरी) कनाडियन प्रोफेसर विल्मोन्ट मिलने आए। कई सालोंसे वह चीनमें अध्यापन कर रहे थे, और अब छुट्टीपर घर लौट रहे थे। उन्होंने चीनकी भीतरी अवस्थाके बारेमें कई बातें बताई, और कहा कि चाङ् कैशक् की सरकार चीनी कम्यूनिस्तोंको फूटी आँखों भी देखना नही चाहती। रातको जनरल लाइब्रेरीमें तिब्बतपर व्याख्यान दिया।

उज्जैनमें (२९–३० जनवरी)—उज्जैनके साथी दिवाकर अपने यहाँ ले जाने-केलिए बहुत उत्सुक थे, मैंने भी सोचा कि १० सालकी पुरानी स्मृतिको फिर ताजा

कर आऊँ। २६ को हम दोनों उज्जैनकेलिए रवाना हुए। फतेहाबाद स्टेशन इन्दौर जाते भी पड़ा था। यह मालवाका बहुत शीतल स्थान समझा जाता है। कोई खास ऊँचाई तो नहीं है, लेकिन मैदान बहुत विस्तृत है, और शायद यहाँ हवा बराबर चलती रहती है। दोपहरको हम उज्जैन पहुँचे।

प्रोफ़ेसर प्रभाकर माचवे के यहाँ ठहरे। उसी दिन पौने तीन बजे माधव कालेज के छात्रोंके सामने सोवियतपर व्याख्यान दिया। यह देखकर प्रसन्नता हुई कि यहाँ ६-७ हजार हस्तलिखित ग्रन्थोंका अच्छा संग्रह है, जिनमें एक भोजपत्रपर शारदा लिपिमें खण्डित बौद्ध सूत्र भी है, जो सम्भवतः गिलगित या इसी तरहके दूसरे स्थानसे मिला था। शामको मजदूर-राज्यपर एक सार्वजनिक सभामें व्याख्यान देना पड़ा। हजारों आदमियोंकी उपस्थिति बतला रही थी कि २५०० सौ वर्ष की पुरानी महानगरी उज्जयिनी आधुनिक बातोंको सुननेकेलिए तैयार है। रातको डाक्टर नागरके घर पर गए। डाक्टर नागर वहाँ नहीं थे। उनकी पत्नीके हाथका मधुर भोजन गंगोत्री यात्रामें मैं अनेक बार कर चुका था, यह कैसे हो सकता था कि वह भोजन कराए बिना मुझे आने देती। उस यात्राके परिचित चन्द्रोबाबू या दूसरे गंगोत्रीवाले साथी नहीं मिले। सवेरे माडल हाईस्कूलके छात्रोंके सामने एक व्याख्यान दिया। दोपहरको ताँगेपर उज्जयिनीके ध्वंसावशेषोंको देखनेकेलिए निकला। पहिले शहरसे बाहर वेश्या टेकरीकी ओर गया। ताँगे को पहिले ही छोड़ देना पड़ा। फिर पैदल चलकर टेकरीपर चढ़े। शायद यह हिन्दुस्तानका सबसे बड़ा बौद्ध स्तूप है—अनुराधपुर (लंका) के रत्नमाल्य-चैत्यसे भी बड़ा। इसकी पौने तीन इंच मोटी ईंटें बतला रही थीं कि यह मौर्यकाल में बना। बहुत सम्भव है, भारतके बहुतसे नगरोंमें बनवाए अशोक स्तूपों (धर्मराजिका-चैत्यों) मेंसे यह एक है। और शायद उसी उद्यानमें बना है, जहाँ प्रद्योतका राजोद्यान था, जिसे राजाने अपने पुरोहित तथा पीछे बुद्धके तृतीय प्रधान शिष्य महाकात्यायनको दान किया था। अब यह देखनेमें एक पहाड़ी-सा मालूम होता है। ऊपरसे उज्जयिनीके पासकी विस्तृत भूमि दिखाई देती है। लाखोंकी आबादीकी उज्जयिनी अब कुछ हजारका एक कसबा रह गया है। उज्जयिनीने भारतीय संस्कृति और साहित्यकी बड़ी सेवा की है, और शताब्दियों तक यह बौद्धोंका एक महाकेन्द्र रही। ९ वीं-१० वीं शताब्दीमें ही परमार राजाओंने उज्जयिनीसे हटाकर धारामें अपनी राजधानी बनाई और तबसे उस महानगरीका पतन शुरू हुआ, जहाँ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यका दर्बार था, जिसमें कालिदास अपनी मधुर कविताओंका पाठ किया करते थे,

जहाँ महा क्षत्रप नहपान और चष्टन, रुद्रदामा, और रुद्रसिंहने शासन किया, और इसे विद्या तथा कलाका केन्द्र बनाया। शुगों और मौर्योंने जिसकी श्रीवृद्धि की, जो एक बार प्रद्योतके शासनकालमें सारे भारतकी राजधानी बननेकेलिए पाटलीपुत्रसे होड़ लगाए थी। वहीं उज्जयिनी हमारे सामने थी। यद्यपि कपड़ेकी मिलोंकी चिमनियोंसे निकलता धुआँ बतला रहा था, कि उज्जयिनी आधुनिक दुनियामें भी जीनेकी आशा रखती है; किन्तु उज्जयिनी फिर अपने गौरवको तभी प्राप्त करेगी, जब मालव अपना प्रजातंत्र स्थापित करेंगे, मालवी भाषा शिक्षाका माध्यम बनेगी, उज्जयिनी उसकी राजधानी बनेगी और उद्योग-धंधे तथा शिल्पके एक प्रधान-केन्द्रका रूप धारण करेगी; वहाँसे और आगे उँडासाके पास महासरोवर देखने गये। महानगरी उज्जयिनीमें इस तरहके अनेक सर रहे होंगे। ऊँची-नीची भूमि और नाले भी बतला रहे थे, कि वहाँ इस तरहके कितने ही बड़े-बड़े सरोवर रहे होंगे। प्राचीन उज्जयिनी सौधों और अट्टालिकाओंकी ही नगरी नहीं थी, बल्कि वह उद्यानों और उपवनोंकी भी पुरी थी। उँडासाके पास हमने वह गड्ढे भी देखे, जहाँ कुछ दिनों पहिले खुदाईमें कंकाल मिले थे। लौटकर महाकालके पास आये। उज्जयिनीके ध्वंसावशेषोंमें कितनी ऐतिहासिक निधियाँ पड़ी हुई हैं, इसके खोजनेकेलिए अभी उतना प्रयास नहीं हुआ। सड़कोंके निकालने, नालियोंके बनानेमें अप्रयास आबादीके कई स्तर निकल आते हैं, और कहीं-कहीं ग्वालियर सरकारने थोड़ी-बहुत खुदाई भी की है, लेकिन यह बिल्कुल आरंभिक प्रयत्न है। पंडित सूर्यनारायण व्यास अपनी जन्मभूमि और उसके इतिहासके बड़े प्रेमी हैं। लेकिन जब तक वह प्रेम सारी नागरिक जनता ही नहीं, सारी मालव जनतामें नहीं हो जाता, तब तक उज्जयिनी अपने रहस्यको नहीं बतला सकती। उसके पुनरुज्जीवनकेलिए तो पहिले मालव-जनका पुनरुज्जीवन करना होगा। मजूर साथियोंसे कुछ देर तक संलाप होता रहा, फिर साढ़े ७ बजे आर्यसमाजके आँगनमें "दुनियाको भारतकी देन"पर एक व्याख्यान दिया। श्रोता दो हजार रहे होंगे। शायद कितने ही भारतप्रेमी समझे थे, कि मैं सिर्फ़ 'देन ही देन'की बात करूँगा, लेकिन मैंने बतलाया, कि भारत अपनी स्वतन्त्रता और सजीवताके कालमें दुनियाको बहुत देता रहा, साथ ही दूसरोंसे उसने निस्संकोच भावसे लिया भी खूब—यवन लोगोंने अपनी कला, ज्योतिष, दर्शनकी कितनी ही बातें हमें सिखलाईं। शायद कुछ भाइयोंको मेरी स्पष्टवादिता पसन्द न आई होगी।

बम्बईमें (१ फ़र्वरी-५ मार्च)—३१ जनवरीको ११ बजे मैंने नागदासे गाड़ी

पकड़ी। स्टेशनपर वहाँ थोड़ी देर ठहरनेके बाद दिल्लीसे आनेवाली गाड़ी मिली, और मिली भी पैसेन्जरट्रेन, जो कि हर स्टेशनपर ठहरती चलती थी। दोहदमें मैं दिन ही दिनमें पहुँच गया था, यही गुजरात और मालवाकी सीमा है। मालवा छोटा प्रजातन्त्र नहीं होगा। उसकी कपासकी खेती तो अब भी इन्दौर और उज्जैनमें कई कपड़ेकी मिलोंको चला रही है। मालव किसान-मजूर, जनता कई रियासतोंमें बँटी हुई है। औरंगजेबके वक्त (१७०७ ई०) तक मालवा शासकोंके सुभीतेकेलिए अनेकों टुकड़ोंमें बँटा नहीं था, वह अखंड मालव था। आज अखंड भारतकी फ़िकर है, लेकिन अखंड मालवकेलिए भी क्या किसी मुखसे कोई वाक्य निकलता है? खेती बड़ी अच्छी होती है, कपास और कपड़ा भी तैयार होता है, लेकिन मालवजन अपनी परिश्रमकी कमाई आप नहीं खा सकते; उनका खून सामन्तों और सेठोंके महलका गारा बनता है—सामन्तों सेठोंमें अधिकांश अपनेको मालव सन्तान भी कहनेको तैयार नहीं हैं। कब तक मालवामें नंगी मूर्तियाँ और सूखी ठठरियाँ दिखाई पड़ेंगी? कब तक सचमुच ही सस्य श्यामला मालव-माता अपने क्षीरको अपने बच्चोंके मुँहमें देनेसे वंचित रहेगी?

दोहदके बाद अब सीधा गुजरात था। हमारे डब्बेमें मैले-कुचैले कपड़े पहननेकी जगह साफ़ कपड़े पहननेवाले लोग आये, और गाड़ीमें बाजारके भाव और सट्टेबाजीकी बातें सुनाई देने लगी। यह तो नहीं कहा जाता सकता, कि गुजरातमें सिर्फ़ बनिये ही रहते हैं, लेकिन मैं समझता हूँ, हिन्दुस्तानमें कोई ऐसा प्रान्त नहीं है, जहाँ इतनी अधिक जन-संख्या व्यापारपर गुजारा करती है। छोटे व्यापारियोंको बड़े व्यापारियोंके मुँहमें रहकर जीना और मरना है, यह वर्ग साम्यवादसे सबसे अधिक भय खाता है, इसीलिए सबसे अधिक उसका विरोध भी करेगा—कोई आश्चर्य नहीं, जो गान्धीवाद यहाँका राजनीतिक धर्म बना।

रातको ११ बजे गाड़ी बड़ौदा पहुँची। गुजरात-मेलमें मुश्किलसे बैठने भरकी जगह मिली। खैरियत यही हुई, कि अगले स्टेशनोंपर इस ट्रेनकेलिए टिकट नहीं मिलता, इसलिए भीड़ और नहीं बढ़ी। सवेरे ८ बजे बम्बई सेन्ट्रल स्टेशनपर पहुँचे।

पासपोर्टके बारेमें अभी गड़बड़ी ही चल रही थी। मैंने उस दिन (१ फ़र्वरी)-को डायरीमें लिखा था "नौकरशाही पासपोर्टमें गड़बड़ी करनेकेलिए तुली हुई है, कभी कहती है—ईरान सरकार नहीं चाहती। वाह, महाराजा साहेब नहीं चाहते। कभी—इनका पिछला राजनीतिक रिकार्ड खराब है। फिर पासपोर्ट देनेका अभिनय क्यों किया? कभी—यहीं बीबी-बच्चेको क्यों नहीं बुला लेते?"

अगले दिन मैंने लोलाको तार दिया, "पासपोर्ट मिल गया है, लेकिन सोवियत वीसा ज़रूरी है। सोवियत सरकारसे कहकर तेहरान और काबुलके कौन्सलोंको वीसा देनेकी हिदायत करवाओ। न हो तो, ईगरके साथ चली आओ। जवाब तारसे देना।" ऐसे तो मैंने कई तार लोलाको दिये, लेकिन जो तार उसके पास पहुँच सके, उनमेंसे यह एक था। आजकल सेन्सर करनेवालोंके आलस्य और दुर्वृत्तिके कारण तार भी लेनिनग्रादसे डेढ-डेढ़ महीनेमें पहुँचते हैं। लालसेनाने जर्मन फ़ासिस्तोंसे अपनी ही रक्षा नहीं की, बल्कि अंग्रेज़ोंकी भी रक्षा की, लेकिन भारतके अंग्रेज नौकरशाह अब भी सोवियतको हैज़ा और प्लेगकी भूमि समझते हैं और चाहते हैं कि वहाँ कोई जाने-आने न पाये।

मुझे पासपोर्ट मिल गया था, इसलिए सम्भव था कि किसी समय मुझे भारतसे रवाना होना पड़े। मुनि जिनविजयजीने कहा, कि सोवियत जानेसे पहिले वार्त्तिकालंकारकी एक-दो जिल्दोंको सम्पादित कर दें, तो अच्छा'। उन्होंने भारतीय विद्याभवनमें एक एकान्त कमरा भी दे दिया। दूसरे दिन मैं वहाँ चला गया। तिमहलेपर चारों ओरसे हवा आने लायक अच्छा कमरा था। जिस वक़्त बम्बईमें दूसरी जगहोंमें पसीना छूटा करता था, उस वक़्त भी यहाँ हवा आया करती थी। साथ ही लगा हुआ स्नानकोष्ठक था। इसलिए मुझे इधर-उधर जानेकी ज़रूरत नहीं थी। धर्मकीर्त्तिके ग्रन्थ "हेतुबिन्दु"की टीका (अर्चट या धर्माकरदत्तकृत) किसी जैन-भंडारसे प्राप्त हुई थी। इस टीकाकी टीका (दुर्वेक मिश्र) मुझे तिब्बतके डोर-गुम्वामें मिली थी। पंडित सुखलालजीने उसका सम्पादन किया था। लेकिन धर्मकीर्त्तिका मूल ग्रन्थ अभी नहीं मिल सका था, इसलिए उनकी इच्छा हुई कि मैं उसको तिब्बती अनुवादसे संस्कृतमें कर दूँ। पहिले मैंने यह काम किया। धर्मकीर्त्तिके दूसरे ग्रन्थ "सम्बन्धपरीक्षा"की खंडित कारिकाओंको भी तिब्बती अनुवादसे संस्कृतमें कर डाला। वार्त्तिकालंकार प्रायः १८ हज़ार श्लोकोंके बराबर एक विस्तृत ग्रन्थ है, जो तीन जिल्दोंमें छपेगा। तिब्बती अनुवादसे मिलाकर पाठ-भेद देते हुए उसको सम्पादित करना सबसे बड़ा काम था। उसमें लग गया और दो जिल्दोंका काम पूरा करके ही छोड़ा।

१४, १५ फ़र्वरीको स्वामी सत्यस्वरूप और उनके गुरु स्वामी गंगेश्वरानन्दसे साक्षात्कार हुआ। स्वामी सत्यस्वरूपसे तो बनारसमें भी भेंट हो चुकी थी, लेकिन स्वामी गंगेश्वरानन्दसे मिलनेका यह पहिली बार मौक़ा मिला था। उन्होंने स्मरण दिलाया कि २१ साल पहिले गया कांग्रेस (१९२२)के वक़्त मैंने आपका व्याख्यान

सुना था। दोनों ही संस्कृतके पंडित हैं और साथ ही बुद्धिवादी। स्वामी सत्यस्वरूपके विचारोंमें बनारस छोड़नेके बाद और भी तेजीसे विकास हुआ है। साधु शान्तिनाथकी वह बड़ी प्रशंसा कर रहे थे और कहते थे कि उस निर्भीक, निर्लोभ प्रतिष्ठात्यागी महापुरुषकी भी जीवनी आपको लिखनी चाहिए। मैंने शान्तिनाथकी प्रखर बुद्धिका चमत्कार उनके ग्रन्थोंमें देखा है, मैं चाहता हूँ कि उनकी जीवनी लिखूँ, लेकिन अभी मेरे पास इतना समय नहीं था, कि उनकी खोजमें निकलूँ। "वोल्गासे गंगा", "मानवसमाज" आदि मेरी पुस्तकोंको गुरु शिष्यने पढ़ा है। सत्यस्वरूपजी कह रहे थे, साधुओंमें कितने ही इनको पढ़कर बहुत सन्तुष्ट हुए हैं। एक विद्वान संन्यासी तो कह रहे थे—रास्ता तो हमें यही सच्चा और श्रेयस्कर मालूम होता है, लेकिन करें क्या? हमारे भक्त हैं, यही सेठ लोग, और उनके लिए यह मुर्ननकी गोलियाँ हैं!

२० फ़र्वरीको माटुंगा गया। वहाँ एक आधुनिक ढंगके दर्शन पंडितसे मुलाक़ात हुई। वह व्यवहारमें मार्क्सकी नीतिको स्वीकार करते थे, किन्तु दर्शनमें अपनेको और ऊँचे तलपर पाते थे, "असीम"को सीमित करनेकेलिए तैयार नहीं थे। उनके लिए सत्य असीम था। मैंने कहा, सीमासे परे क्या है, इसका हमको ज्ञान नहीं है, फिर अपने अज्ञानके बलपर असीमके बारेमें तरह-तरहकी कल्पनाएँ करना क्या निराधार नहीं है। हमारा ज्ञान जगतके उतने ही अंशको बतलाता है, जहाँ तक कि साइंसकी पहुँच है। साइंसकी पहुँच या सीमाएँ भी बराबर बढ़ती जा रही हैं, इसलिए हमारे ज्ञानकी भी सीमा बढ़ रही है। साइंसकी सीमाओंके विस्तारके साथ हम अपनी दृष्टिका विस्तार करें। लेकिन उतावलेपनमें यदि बुद्धि अँधेरेमें कूदना चाहती है, तो यह दुराग्रह मात्र है। ज्ञानकी सीमा बढ़ानेका एकमात्र साधन है, प्रयोग—साइन्सका व्यवहार। चूँकि प्रयोगकी गति प्रकाश-गति जैसी द्रुत नहीं है, इसलिए बागडोरको कल्पना (बुद्धि)के हाथमें दे देना ग़लत बात है।

२२ फ़र्वरीको लोलाका तार आया। उसने इसे तीन दिन पहिले (१६ फ़र्वरी)को भेजा था। उसने लिखा था—"व-ो-क्-स् द्वारा भेजा पत्र मिल गया, तार दो क्या लेनिनग्राद् आनेकी सम्भावना है" (Letter VOKS received. Telegraph possibility arriving Leningrad.) मैंने उसी दिन तार द्वारा जवाब दिया, कि मैं आना चाहता हूँ, सोवियत वीसा भिजवाओ।

बम्बईमें सुराकबन्दी (राशनिंग) है, हर आदमीको निर्धारित परिमाणमें भोजनसामग्री मिलती है। यह निर्बन्ध सिर्फ़ ग़रीबोंकेलिए है। धनी लोग होटलोंमें जाकर

चाहे जितना खाना खा सकते हैं, बाजारसे खरीदकर चीजें ला सकते हैं। आखिर शासन भी तो विलायती धनियोंका है और धनियोंके फ़ायदेके ही लिए है। फिर शिकायत की क्या जरूरत ?

२४ फ़रवरीके पत्रोंमें पढ़ा, कि चर्चिलने मार्शल तीतोको यूगोस्लावियाका नेता स्वीकार कर लिया। साम्राज्यवादकेलिए यह बड़ी कड़वी घूंट थी, लेकिन, चेम्बर-लेनकेलिए भी हिटलरसे युद्ध ठानना क्या कड़वी घूंट नहीं थी? उसने इस भेड़ियेको खुश करनेकेलिए अपने कितने ही मित्रोंकी बलि दी। कई बार उसके पास जाकर नाक रगड़ी और समझाया कि यदि हम लोग लड़े तो दुनिया बोलशेविक हो जायेगी। लेकिन हिटलरने अपने बोलशेविक दुश्मनोंको लोहेके चना जैसा देखा, और साम्राज्य-वादी भगतोंको नरम हलवा। इसीलिए, वह इनके ऊपर दौड़ा। चर्चिलने भी अब तक यूगोस्लावियाके जागीरदारों और पूंजीपतियोंकी भगोड़ी सरकारको अपना विश्वासपात्र माना था, लेकिन भगोड़ी सरकारके प्रधान सेनापति मिखाइलोविच यूगोस्लावियामें हिटलरी सेनाकी मददसे देशभक्तोंका संहार करनेमें सारी ताक़त लगा रहा था, और मिखाइलोविचके चेतनिक सैनिक हिटलरका झंडा उठाये घूम रहे थे। तीतोने इस बातको कई बार बतलाया, सोवियत रेडियोने इसे कई बार ब्राड-कास्ट किया, लेकिन विलायती पूंजीपति इसे सुननेकेलिए तैयार नहीं थे। मालूम पड़ता था कि उन्हें हिटलरके हरानेकी उतनी फ़िकर नही थी, जितनी कि यूगोस्लाविया-में फिरसे धनिक सरकारकी स्थापनाकी। हिन्दुस्तानमें हम जानते ही हैं कि चर्चिल-एमरी तथा उनकी दासी यहांकी नौकरशाही फ़ासिस्तोंके हरानेकी उतनी फ़िकर नहीं करती, जितनी कि लड़ाईके बाद अपने शासनको अक्षुण्ण रखनेकी, भारतमें अखंड शोषण करनेकी। यदि भारतीय राष्ट्रीय सरकार स्थापित कर सकेंगे और भारतीय सैनिक समझने लगेंगे, कि हम दूसरोंकी आज़ादीकेलिए नहीं, बल्कि अपनी आज़ादीकेलिए लड़ रहे हैं, तो भारतपर अंग्रेजोंका शासन अक्षुण्ण नही रह सकेगा। यदि सब तरहका कच्चा माल रखते हुए लड़ाई जीतनेकेलिए अत्यावश्यक मोटर, टैंक, हवाई जहाज जैसे यन्त्रोंको भारत अपने यहां बनाने लगेगा, तो लड़ाईके बाद यहां अंग्रेजोंका अखंड शोषण नही रह सकेगा। अंग्रेज पूंजीपतियोंका स्वार्थ उन्हें मजबूर करता था, कि तीतो जैसा कम्यूनिस्त और हिटलरकी नाकमें दम करनेवाले, उसके लड़ाके सैनिक यदि मजबूत हो जायेंगे, तो राजा-नवाबोंकी यूगोस्लावियामें नहीं चलने पायेगी—पूंजीवाद वहांसे बिदा हो जायगा। मिखाइलोविच ... मालिक भी समझते थे, कि तीतो अपनी वीरतासे वहांकी जनताके हृदयोंमें

पैदा कर रहा है, उससे उनके वर्गको सख्त खतरा है। यूगोस्लाविया यदि हिटलर-की गुलामी भी स्वीकार कर ले, तो धनिक वर्ग वहाँ बना रहेगा, इसीलिए अपने वर्ग-स्वार्थकेलिए वह हिटलरसे मिल गया। लेकिन चर्चिलका वर्ग-स्वार्थ हिटलरके वर्ग-स्वार्थसे विरुद्ध जाता था; इसलिए चेतनिककी आशा छोड़करके उसने तीतोको माना। यह हो जानेपर भी तीन महीने बाद तक हिन्दुस्तानकी नौकरशाही चेतनिकोंकी "बहादुरी"का फ़िल्म दिखानेमें प्रोत्साहन देती रही। यूरोपमें कमसे कम यूगोस्लावियामें तो विलायती साम्राज्यवादियोंकी चाल नहीं चली, लेकिन इताली, यूनान, पोलैंडमें अभी भी वह अपनी चालें चलते जा रहे हैं।

२७ फ़र्वरीको मालूम हुआ, कि मेरे उपन्यास "सिंहसेनापति"के कुछ वाक्योंको लेकर कितने ही जैन रूढ़िवादी बहुत उछल-कूद रहे हैं। वह अपने गुजराती-हिन्दी पत्रोंमें लेखकके खिलाफ़ कितने ही लेख लिख रहे थे। कौनसी ऐसी बात थी? उपन्यासकी नायक-नायिका नहीं, बल्कि एक परिहासशीला पात्राने जैन साधुओंकी नग्नताको प्राकृतिक प्राणियोंसे उपमा दी, बस इसीपर हमारे दोस्त आगबगूले हो गये। जहाँ तक तीर्थङ्कर महावीरका सम्बन्ध है, उपन्यासके नायकने उनके प्रति बड़े सुन्दर भाव प्रकट किये हैं। लेकिन नायककी बात कौन पूछता है, यहाँ तो कहींसे कुछ लेकर झगड़ा करनेकी प्रवृत्ति है। एकाध जगहसे धमकीकी भी भनक आई। मैंने कहा—कौशाम्बीजीको दिक करके सेठ लोगोंका मन भरक तो नहीं गया है? यदि और गोत्रोच्चार न करवाना है, तो ततैयाके छत्तेमें उँगली न डालें।

बेजवाड़ामें अबकी बार अखिल भारतीय किसान सम्मेलन होनेवाला था। मैं सम्मेलनका भूतपूर्व सभापति था; लेकिन, उस साल (१९४०) सम्मेलनमें जानेसे पहिले ही गिरफ़्तार हो गया था। पिछले सम्मेलनमें भी मैं शरीक नहीं हो सका, इसलिए अबकी बार वहाँ जानेका निश्चय किया। ६ मार्चको सर्दार पृथ्वीसिंह, डाक्टर अधिकारी और दूसरे साथियोंके साथ हम लोग मद्रास एक्सप्रेससे रवाना हुए। दूसरे दिन ८ बजे सवेरे हैदराबाद आया। यहाँ गाड़ीका डब्बा बदलना पड़ा। भारतकी रियासतें यद्यपि अब भी शताब्दियों पहिलेका स्वप्न देख रही हैं, लेकिन नई विचारधाराको रोकनेकी उनमें शक्ति नहीं है, शायद वह अब भी इसे माननेकेलिए तैयार नहीं, और किसी समय इस्तेमाल करनेका इरादा रखकर अपने फ़ौलादी पंजेको सँभाले बैठी हैं। लेकिन, उस वक्त उन्हें मालूम होगा कि वह ऐसी प्रचंड शक्तिसे मुकाबिला करने जा रही हैं जिसके सामने उनका फ़ौलादी पंजा गलकर पानी हो जायेगा। हैदराबादके पार्टी-मेम्बरोंको पता लग गया और उनमेंसे दर्जनों

प्लेटफ़ार्मपर पहुँच गये। वह नारे लगा रहे थे और क्रान्तिकारी गीत गा रहे थे। उनमें मुसलमान ज्यादा थे, हिन्दू मराठे और आन्ध्र भी थे। दो-तीन स्त्रियाँ भी थीं। लोग चकित होकर देख रहे थे।

इस यात्रामें मैंने सरदार पृथ्वीसिंहकी टाइप की हुई जीवनीको पढ़ना शुरू किया और तै किया कि इसपर हिन्दीमें एक पुस्तक लिखूँगा। ७ मार्चको रातके ८ बजे बाद हम बेजवाड़ा पहुँचे। हमारे रहनेका इन्तिज़ाम मोगल राजपुरम्‌में किया गया था। कुछ देर बाद हम अपने निवासस्थानपर पहुँचा दिये गये।

८

१. आंध्रमें (१९४४ ई०)

दूसरे प्रांतोंके अशिक्षित भी तिलंगा नामसे परिचित हैं, किन्तु युक्तप्रांत और बिहारकी ग्रामीण स्त्रियाँ तिलंगा फ़ौजी सिपाहीको कहती हैं। सम्भव है, अठारहवीं सदीमें कम्पनीकी हिन्दुस्तानी फौज तेलगू बोलनेवालोंसे ही शुरू हुई हो, और पीछे कम्पनी बहादुरके सभी सिपाही तिलंगा कहे जाने लगे। अपनी क़लमसे बंगाली या दूसरे नवशिक्षितोंने भले ही कम्पनी बहादुरकी जड़ें मजबूत की हों, मगर हिन्दुस्तानकी पहिली तलवार, जिसने कम्पनीके राज्यकी बुनियाद रक्खी, वह तिलंगेकी ही थी। तिलंगे हिन्दुस्तानपर विदेशी शासनके लादनेमें सहायक हुए, यह निन्दाकी बात जरूर है, लेकिन इसका बहुतसा दोष उनपर नहीं, इतिहासपर है, जिसे यहाँ दिखलानेका अवसर नहीं; परन्तु उनमें सैनिक बल था, इसमें तो शक नहीं।

तिलंगे या तेलगू बोलनेवाले जिस सवालाख वर्ग मील भूखंडमें रहते हैं, उसीको आंध्र देश कहते हैं। आज आन्ध्र देश शासकोंके सुभीतेकेलिए छिन्नभिन्न करके बहुतसे टुकड़ोंमें बाँट दिया गया है। उसका उत्तरी भाग मध्यप्रदेशके चाँदा जिले और बस्तर रियासतमें जहाँ काट लिया गया है, वहाँ पश्चिमी भाग—प्रायः सारे आन्ध्र राष्ट्रका एक तिहाई—हैदराबाद रियासतमें है। हैदराबाद शहर ही नहीं, रियासतका सबसे अधिक भाग तेलंगानामें है। पश्चिम-दक्षिणमें कोलारकी सोनेकी खानोंके साथ-साथ आन्ध्रके कितने ही भागको मैसूर रियासतने दबा लिया है। जो भाग ब्रिटिश भारत—मद्रास प्रान्त—में रह भी गया है, वह भी शासकोंकी ओरसे उपेक्षित रहा है। लेकिन आज तीन करोड़ आन्ध्र अपनी इस दुरवस्थाको बर्दाश्त

करनेकेलिए तैयार नहीं है। युग उनके साथ हैं। आज जनता शासकोंके सुभीतेकेलिए नहीं शासन जनताके सुभीतेकेलिए चाहिए, और वह जनताका शासन होना चाहिए। आन्ध्र-जन जानता है, कि न्यायकी दोहाई देनेसे न्याय नहीं मिला करता, निर्बल कभी न्यायकी आशा नहीं रख सकता; इसीलिए आज आन्ध्र करवट बदल रहा है।

आन्ध्र हमेशासे एक पराक्रमशाली जाति रही है। चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके पुत्र बिन्दुसारको हिन्दूकुश (अफ़ग़ानिस्तान)के पारतक अपनी सीमा फैलानेमें सफलता मिली, मगर कलिंग—पूर्वी आन्ध्र—के विजयकेलिए मौर्योंको तीसरी पीढ़ी तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। अशोकने सारे भारतके सैन्यबलको एकत्रित कर आन्ध्रोंपर आक्रमण किया, लेकिन आन्ध्र मिट्टीके नहीं फ़ौलादके बने हुए थे; वह अपने प्राणोंसे प्यारी स्वतन्त्रताको ऐसे ही छोड़नेवाले न थे। वीरता और आत्मोत्सर्गमें अपराजित होते हुए भी संख्याके सामने उनको पराजित होना पड़ा, लेकिन साथ ही उन्होंने अशोकको खूब सबक़ सिखलाया। कलिंग-विजयके बाद अशोक चंड-अशोक नहीं धर्म-अशोक बने। वीर आन्ध्रोंकी कुर्बानी और उनके रक्तोंसे लाल गोदावरी और कृष्णाकी धाराओंको देखकर अशोकका मानव-हृदय दहल उठा। आन्ध्रोंने अपनी *स्वतन्त्रताका कुछ भाग खोया ज़रूर होगा, मगर अगले मौर्य सम्राटोंके समय वह* फिर मजबूत हो गये, और सौ बरस भी नहीं बीतने पाये, कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दीके मध्यमें वह नर्मदा और ओडीसा तकके दक्षिणी भारतके अधिकारी बन गये। इतना ही नहीं शताब्दीके अन्त तक पहुँचते आन्ध्रोंकी विजय ध्वजा गंगा और जमुनाके कछारों तकमें फहराने लगी। हाँ, उस वक़्त महाराष्ट्र और आन्ध्र एक थे। दोनोंके शासकों—सामन्तों—की भाषा एक थी, और शायद कुछ शासितोंकी भी। महाराष्ट्रमें शासकोंकी भाषाने शासितोंकी भाषाका उन्मूलन कर दिया, लेकिन आन्ध्रोंने पुराने नामके साथ शासितोंकी पुरानी भाषाको ही क़ायम नहीं रखा, बल्कि शासकोंके साथ उनकी भाषाको भी अपनेमें विलीन कर लिया।

ईसाकी दूसरी शताब्दीके अन्तके साथ विशाल आन्ध्रराष्ट्र भी छिन्नभिन्न होने लगा। शकोंद्वारा उन्मूलित कितने ही उत्तरी भारत (उत्तरप्रदेश-बिहार)के राजवंशोंने आन्ध्रमें शरण ली, शायद वह यहाँके राजवंशके प्रतिष्ठित सम्बन्धी भी थे। जिस वक़्त आन्ध्र-साम्राज्यका ध्वंस हो रहा था, उसी वक़्त ईक्ष्वाकु-वंशी चांतमूलने—जो शायद पूर्वी आन्ध्रका सामन्तशासक था—वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। धान्यकटक और श्रीपर्वत (नागार्जुनीकोंडा)के सुन्दर पाषाण-स्तूप और

उनकी अद्भुत मूर्तियाँ चान्तमूलकी बहिन चान्तिसिरी और पुत्र राजा सिरीवीर पुरिसदात (श्रीवीरपुरुषदत्त)की नहीं आन्ध्र शिल्पियोंकी अमर कृतियाँ हैं। विश्वकी इस अद्भुत कलाकेलिए आन्ध्रोका शिर गर्वसे क्यों न उन्नत हो ? लेकिन उन्हीं शिल्पियोंकी सन्तानें आज माचेरलामें पत्थरकी पट्टियाँ काटना और धरनी कोट (धान्यकटक)में ईंट-पत्थर ढोना भर जानती हैं। क्या जनताके साथ उसकी कलाके दिन भी नही लौटेंगे ?

तीसरी सदीके बादसे फिर सारा आन्ध्र एक स्वतन्त्र राष्ट्रके तौरपर संगठित नहीं रह सका। इस सामन्त-युगके पारस्परिक कलहके कारण वह अपनी शक्तिको भिन्न-भिन्न राजवंशोंकेलिए लड़नेमे खपाता रहा, और कभी-कभी दूसरेके बापको बाप कहकर भी सन्तोप कर लेता था—विजयनगर था तो शुद्ध कर्नाटक राजवंश लेकिन आन्ध्र भी उसकेलिए अपनत्वका अभिमान करता था।

वर्तमान शताब्दीमें जब देश-व्यापी चेतना जागृत हुई, तो आन्ध्रकी विशृंखल किन्तु सुप्तप्राय चेतना भी उससे स्पंदित हुए बिना कैसे रह सकती थी ? चेतनाके साथ आन्ध्रोंको भान होने लगा, कि उन्हें किस तरह छिन्नभिन्न कर दिया गया है; तभीसे सभी आन्ध्रोंका एक राष्ट्र बनानेका आन्दोलन आरम्भ हुआ। असहयोग-आन्दोलनकी जब देशोंमें बाढ आई, तो दक्षिणी भारतमें आन्ध्र राष्ट्रीयताका गढ़ बन गया। नौकरशाहीने इसे तोड़नेकेलिए तरह-तरहके हथियार इस्तेमाल किये, जिनमेंसे एक था अब्राह्मण-आन्दोलन। त्यागका सबसे ज्यादा ढिंढोरा पीटनेवाले ब्राह्मण दक्षिण भारतमें जाकर अपने स्वार्थकेलिए कितने पतित हुए, इसका उत्तर भारतीय लोग अनुमान भी नही कर सकते। उनके अनुसार दक्षिणमें ब्राह्मण और शूद्र सिर्फ दो ही जातियाँ हैं और शूद्र भी सत्-शूद्र नहीं। इसलिए ब्राह्मण देवता अपने सिवा किसीके हाथका खाना क्या पानी भी नही पी सकते। राजू-रेड्डी-कम्मा-स्त्री-पुरुष युक्तप्रान्त-बिहारके राजपूत और ब्राह्मणोंसे बिल्कुल मिलते-जुलते हैं; दोनोंका चेहरा-मुहरा, रंग-रूप एकसा है और राजुओंमें कितनों हीका तो उत्तरी राजपूतोंसे शादी-सम्बन्ध भी है; लेकिन दक्षिणके ब्राह्मण देवताओंकेलिए ये सभी शूद्र हैं। उनके हाथका पानी भी नही पिया जा सकता ! विदेशी स्वदेशी सबको ही म्लेच्छ-शूद्र घोषित करनेवाले इन त्यागमूर्तियोंका अपना आचरण कैसा है ? अंग्रेजी पढ़कर विदेशी म्लेच्छोंका बूट साफ़ करनेमें सबसे पहिले यही थे !. फिर उनका कृपापात्र क्यों न बनते ? नौकरियोंमें उनकी भरमार, कचहरियोंमें उनकी भीड, पुच्छलेधारियोंमें उनका आधिक्य। शारीरिक मेहनतसे दूर रहनेवाले इस काम-

पहनकर इन सच्चे देशभक्तोंके खिलाफ़ तरह तरहका प्रचार करने तथा जनताको भड़कानेमें अपनी सारी शक्ति लगाने लगे। किन्तु आन्ध्रके ये तरुण-नेता मजूर-किसान जनताके अपने थे। जनता इनकी बातपर विश्वास करती थी, आखिर, आग-पानीमें सर्वत्र वह इन्हींको अपने साथ देखती थी, अकाल हो चाहे महामारी पुलिस जमींदारका जुलुम हो या विशाखपटनपर जापानी बमवर्षा, सभी जगह हथेलीपर प्राण रख करके कौन लोगोंके पास डँटे रहे, यह वह खूब जानती थी। नौकरशाही किसानोंके उत्साह और शक्तिको बेजवाड़ामें विराट् रूपमें साकार नहीं देखना चाहती थी। उसने सम्मेलनके काममें हर तरहकी रुकावट डालना अपना फ़र्ज समझा। हफ़्तों पहिले और पीछे तीस मील चारों ओरके सभी स्टेशनोंसे बेजवाड़ाका टिकट बन्द कर दिया गया। समझा था कि इस तरह किसान सम्मेलनमें आनेसे रुक जाएँगे। लेकिन अपने सम्मेलनमें किसानोंको आनेसे रोक कौन सकता था। उनके पास गाड़ियाँ थीं, कितने हीके पास तो नावें थी और पैर तो सभी के पास थे! पुलिसके गोइन्दोंने झूठी अफ़वाह फैलानेमें भी अनाकानी नहीं की। कभी कहा—रास्ता बन्द है, कभी कहा—वहाँ तो गोली चलेगी, कहीं यहाँ यह भी कि शहर-को सरकार बन्द कर चुकी है। शहरके स्वास्थ्य-विभागके अध्यक्ष बीमारी फैलनेका बहाना करके सम्मेलन बन्द करनेकी अलग कोशिश कर रहे थे। लेकिन आन्ध्रके किसान और उनके नेता कोई कच्चे गुइयाँ नहीं थे। यहाँ पाँच हज़ार सधे हुए (कम्यूनिस्त) पार्टी-मेम्बर, दस हज़ार स्वयंसेवक-स्वयंसेविका, और एक लाख किसान-सभाके मेम्बर, और गाँवके-गाँव लाल झंडेपर जान देनेवाले लोग थे। नौकरशाही, पाँचवाँ दस्ता और लीडरीकेलिए मरनेवाले कितने ही कांग्रेसी नेता सर पटकते रह गए, मगर किसानोंका सम्मेलन बड़े शानसे हुआ। दो हज़ार स्वयंसेवक तो कई दिन पहिले ही पहुँच चुके थे, फिर चार हज़ार और आये। १३ तारीखकी रातको उनकी संख्या आठ हज़ारके भी ऊपर पहुँच गई, जिनमें पाँच सौ महिला-सेविकाएँ थीं।

१४ तारीखको सवेरे आठ बजे वह स्मरणीय जुलूस निकला, जिसकी तुलना कांग्रेसके अधिवेशनके जुलूसोंसे भी करनी मुश्किल है, क्योंकि वह निर्भर करता है उच्च और मध्यम वर्गके उत्साह और धनपर, और यह था किसानों और कमकरोंका जुलूस। दो मील तक आदमियोंका चलता प्रवाह था, जिसमें हज़ारों लाल झंडियाँ और झंडे फहरा रहे थे। हज़ारों कंठोंसे निकले गगन-भेदी नारे विजयवाड़ाको गुंजित कर रहे थे। दर्शकोंसे अट्टालिकाएँ और छत ही नहीं रास्तेके वृक्ष भी ढँके थे। आन्ध्रके उत्तम जातिके बृहदाकार सुन्दर बैलोंकी गाड़ियोंमें महासभाके[illegible] बैठे थे।

शत्रु शोक मूर्छित हो गये थे और मित्र पुलकित। मुर्दोंमें नई चेतना, नई आशा पैदा हो रही थी।

सम्मेलनमें एक लाखसे ऊपर स्त्री-पुरुष जमा हुए थे। चालीस-चालीस और पचास-पाचस हजारकी जनता तो रातके चार-चार बजे तक बैठी संगीत और अभिनयको देखती रहती। मैंने भी कांग्रेसके कितने ही अधिवेशन देखे हैं, लेकिन स्त्रियोंकी इतनी बड़ी संख्या वहाँ भी कभी नहीं देखी गई। १५००० से भी अधिक स्त्रियाँ और ४ बजेके धूपमें ही आकर बैठ जाती थी। स्वयं-सेविकाओंने पानी पिलानेका बहुत अच्छा इन्तिज़ाम किया था। पानीमें छूत-छातका तो सवाल ही क्या, वहाँ तो एक ही मिट्टीके गिलाससे सभी पानी पी रहे थे। इतनी भारी भीड़में इसे छोड़कर दूसरी व्यवस्था ठीक हो ही नहीं सकती थी।

रातको १० बजेसे संगीत नृत्य और अभिनयका प्रोग्राम शुरू हुआ। हमारे बंगालके साथी ललित-कलामें आगे बढ़े हुए हैं। हम समझ रहे थे कि यहाँ भी वही बाजी मार ले जाएँगे। हमने समझा था, आन्ध्रकी ग्रामीण जनता झंडा उड़ाने, नारा लगाने और लाख-दो-लाखकी संख्यामें एकत्रित हो अपने उत्साह और प्रेमको दिखानेमें भले ही अग्रणी हो, मगर कलाके इस इस क्षेत्रमें बंगालके पास पहुँचनेमें अभी उसे बहुत देर लगेगी। लेकिन आन्ध्रने हमारी धारणाको झूठा कर दिया। दो दिनके कलाप्रदर्शनके बाद कॉ० मुजफ्फर और कॉ० गोपाल हलदरने अपने भावोंको प्रगट करते हुए कहा,— इनके पास वह अतल स्रोत (जनता) है, जो सभी कलाओंकी जननी है; यहाँके कर्मी अपने साथ पहिले किसी कलाको लेकर जनताके पास नहीं पहुँचे, बल्कि वह उन्हींसे कलाको सीखते हैं, जब कि बंगालमें हम मध्यमवर्गकी कलाका संस्कार ले जनताके पास पहुँचते हैं और उसकी कलाको ठीकसे सीख नहीं पाते।

आन्ध्रके साथी जिस वक़्त जनताकी लड़ाइयाँ लड़ने लगे थे, उस वक़्त उन्हें कभी ख्याल भी न आया था, कि जनता राजनीतिक ज्ञान प्राप्त करनेका पात्र ही नहीं है, बल्कि उसका प्रतिदान कहीं ज्यादा है। सतयुगवाले कांग्रेसी नेता वर्षमें एक बार अंग्रेजी लच्छेदार व्याख्यान देकर और सरकारके सामने कुछ माँग-जाँच पेश करके अपनी देशभक्ति पूरी कर डालते थे, जनतासे उन्हें कुछ लेना-देना नहीं था, जनता उन्हें जानती नहीं थी। गान्धीजीने माँग-जाँचका रास्ता छोड़ा और जनशक्तिका आवाहन किया। अब अंग्रेजीके लच्छेदार भाषणसे काम न चल सकता था और न छठे-छमाहे शहरी अधिवेशनोंसे। उन्होंने अपनी माँगोंको जनताकी माँग बनानेकेलिए उसके बीच जाना शुरू किया। जनताने अँगड़ाई

ली। इन्द्रका सिंहासन डोलने लगा। लेकिन गान्धी आन्दोलनने भी जनताका बाहरी स्पर्शभर पाया। स्वराज और आजादीके नारेको जनताने मुग्ध और चकित होकर देखा, उसे निराकार स्वराज्य निराकार भगवान् जैसा ही मालूम हुआ। लेकिन आन्ध्रके तरुण-कम्यूनिस्ट निराकार स्वराज्यकेलिए जनताका आवाहन नहीं कर रहे थे। वह उनकी रोज-बरोजकी लड़ाइयोंको लड़ाकर बतला रहे थे, कि हम साकार स्वराज्य चाहते हैं—कामचोरोंको नहीं कमकरोंको इस धरतीका मालिक होना पड़ेगा, तभी सब आफतोंसे मुक्ति होगी। कई वर्षों तक वह भी किसानोंमें भाषण देते रहे, लड़ाइयोंको लड़ते रहे फिर जनताने उन्हें बतलाया कि व्याख्यान-की भाषाके अलावा एक और भी भाषा है, जिसके इस्तेमालसे थोड़ेमें बहुत सम-झाया जा सकता है और जनताके अन्तस्तल तकको प्लावित किया जा सकता है। यह भाषा है जनताके गीतोंकी, उसके नृत्यों, अभिनयों, प्रहसनोंकी। कोई-कोई गीत तो पहिलेके किसान-मजदूर-संग्राममें ही बने। संगीत अभिनयका सहयोग पाकर हजारगुना शक्तिशाली हो जाता है, इसका पता १९४२ में मिला। शायद किसी शिक्षित तरुणने इस प्रयोगको शुरू नहीं किया। लड़ाई लड़नेवाली जनताके किसी पुत्रने ही देवता-प्रेम या दूसरे पुराने विषयोंकी जगह अपनी नई माँगोंको रखकर कलाका प्रथम प्रयोग किया। शायद तरुण नेताओंमेंसे भी कितने ही गँवारू नाच-गानेको अच्छी दृष्टिसे भी नहीं देखते थे और स्वयं अखाड़ेमें कूदना तो शर्मके लिए लज्जाकी चीज थी। लेकिन, जल्दी ही उनका मोह दूर हो गया। उन्होंने देखा, जन-कलाकी भाषा उनके विचारोंको बहुत आसानीसे हरेकके हृदय तक पहुँचा सकती है। किसान वीर और उसकी कुर्बानीकी बुर्र कथा (वीरकथा) को दो साधारण-सी मिट्टीकी एकमुँही ढोलकोंपर गाकर रात-रात भर मंत्र-मुग्ध हो सुननेके लिए लोगोंको मजबूर किया जा सकता है। अब उन्होंने अपनी बुर्र कथाएँ बनाईं—किसानोंके युद्ध, मजूरोंकी मिहनत, स्तालिनग्राद, जोया आदि आदि, कितनी ही नई बुर्र-कथाएँ बनीं। किसानों और मजूरोंने अपनेमेंसे कवि और गायक दिए, शिक्षितों-ने भी शिष्यता स्वीकार की, चारों ओरसे लोग इन नई बुर्र-कथाओंकी माँग करने लगे। उस दिन जब मैं गुटूरमें था, तो पार्टीसे एक किसानने विवाहकेलिए एक बुर्रकथा-मंडली माँगी थी और १६० रु० दक्षिणा पेश की थी। आज आन्ध्रमें जिला-जिलोंकी ही नहीं तालुके-तालुके (तहसील-तहसील) की अपनी बुर्रकथा-मंडलियाँ हैं।

उस समय आन्ध्रमें ५००० पार्टी मेम्बर थे, जिनमें सारा समय जनताका ही काम [illegible] संख्या १००० तक पहुँच चुकी थी। उनमें ७४ सैकड़ा विवाहित थे।

कम्युनिज़मको घरसे शुरू करना वह जरूरी समझते हैं। उनकी पत्नियाँ, बहिनें और माताएँ पहिले इन तरुणोंको पागल भले ही समझती रही हों, लेकिन अब वह समझने लगीं कि हरेक स्वार्थ-त्याग और आत्मोत्सर्ग पागलपन नहीं है। पिछले सालभर तक स्त्रियोंकेलिए विशेष शिक्षाशाला चलती रही, जहाँ कुछ हफ़्तोंसे ३ महीने तक उनकी शिक्षा होती थी। उनके पति और भाई क्यों विद्रोह हो रहे हैं, यह बात उन्हें इन क्लासोंमें मालूम होने लगी। राजनीतिक शिक्षाके साथ साथ दस्त-कारी, नर्सिंग, प्राथमिक-चिकित्सा आदि कितनी ही बातें उन्हें सिखलाई गईं। जो आग आन्ध्रतरुणोंमें जल रही थी, वह अब आन्ध्रतरुणियोंके हृदयोंमें जलने लगी। तरुणियोंमें कितनी ही ऐसे राजू, रेड्डी, कम्मा परिवारोंकी थीं, जिनके घरमें स्त्रियोंकेलिए पर्दा था, वह पुरुषोंके सामने नहीं आ सकती थीं, बाहर जानेपर बैलगाड़ीको चारों तरफ़-से पर्देसे ढाँका जाता था। सैकड़ों तरुण अपनी तरुण-पत्नियों और बहिनोंको घरसे निकाल लाए, समाजके चौधरी बौखलाए, और राजनीतिक प्रतिद्वन्दी इसे अच्छा अवसर समझ इन तरुण-तरुणियोंके ऊपर हर तरहका दोषारोप करने लगे। मगर जनता हमेशा अपनेलिए मरनेवालोंके साथ रही। जिस वक़्त कम्यूनिस्त तरुणियोंने अपनी बुर्र-कथा मंडली बनायी, उस वक़्त विरोधियोंने और आसमान ऊपर उठाया। बुर्र-कथा नाच नहीं है। उसमें बीच-बीचमें दो-तीन कदम आगे-पीछे चलते गाना भर पड़ता है, मगर विरोधियोंने कहना शुरू किया—देखो ये बेशरम लड़कियोंको नचाते-गवाते फिरते हैं। कान्फ्रेन्सके वक़्त उदया और उसकी दो साथिनोंने ज़ोयाकी मार्मिक बुर्रकथा गाई थी। ४० हज़ार नर-नारी आँसू बहा रहे थे। वैसे आमतौरसे स्त्रियाँ अपना गान और अभिनय सिर्फ़ स्त्रियोंमें ही करती हैं। कुत्ते भूँकते ज़रूर हैं, लेकिन जब जनता उन तरुणियोंके साथ है, तो क्या पर्वाह ?

भागवत कथा और कालक्षेपके पुराने ढंगको लेकर किसीने नए युगकी कथायें सुनाईं। दो नौजवान आन्ध्रमें भीख माँगनेवाले फकीरोंका भेस धरके रंगमंचपर आए। एकके हाथमें था चिमटा और दूसरेके हाथमें खर्र-खर्र करके घूमनेवाला घुमौवा काठका सुग्गा। अल्ला-अल्ला करते बीच-बीचमें दो चार हिन्दी शब्द बाकी तेलगू भाषामें वह ऐसी विचित्र भाव-भंगीके साथ गा रहे थे, कि भाषा न समझने-वाले भी बिना प्रभावित हुए न रहे। हममेंसे कितनोंके तो कान खड़े हो गए—आन्ध्र-के साथियोंने मिट्टीको सोना बनानेकी विद्या सीख ली। जनताके भावोंको प्रकट करने वाले किसी भी गीत और अभिनयको तुच्छ नहीं समझना चाहिए। मेवाड़के बंजारे किसी समय आन्ध्र तक बैलोंपर माल लादे हुए वाणिज्य किया करते थे। रेलोंके

कारण उनका व्यवसाय छिन गया, यह अपने देशको भी लौट न सके और हजारोंकी तादादमें यहीं रह गए। आज भी वह मेवाड़ी हिन्दी बोलते हैं और अपने होली आदि त्योहारोंको मनाते हैं। मजूरीके अलावा उनकी स्त्रियां नाच-गान करके कुछ भीख माँग लिया करती हैं। गर्बाकी तरह ताली बजाते शरीरको अगल-बगलमें झुलाते एक चक्करमें घूमना और अपने देशवाले सुरमें गीत गाना—यह है लम्बाड़ी नृत्य। इन बनजारोंको यहाँ लम्बाड़ी कहा जाता है। लम्बाड़ी स्त्रियोंकी तरह लँहगा, चुनरी पहिने, बालों कानोंमें कौड़ी तथा चाँदीके झुमके लटकाए ७ से १२ साल तककी कुछ लड़कियोंने लम्बाड़ी-नृत्य दिखलाया। गीतोंका सुर लम्बाड़ियोंका था, लेकिन तेलगूमें कही जाने वाली बातें बंगालके अकाल या स्त्रियोंके उद्‌बोधनकी थीं।

खुले मंचपर बिना किसी पर्देके हिटलर, मुसोलिनी, तोजोका एक सुन्दर प्रहसन किया गया। यह प्रहसन सिर्फ हँसानेहीकेलिए नहीं था, बल्कि उसमें बतलाया गया था, कि कैसे रावणकी तरह फ़ासिस्त दुनियाँकी आँखोंमें धूल झोंकते हुए आगे बढ़ते गए और कैसे स्तालिनग्राद और दूसरी जगहोंपर उनकी पराजय शुरू हुई। अबीसीनिया, तूनीसिया, सिसिली आदिके पतनके साथ मुसोलिनीका पतन। फिर मुसोलिनी हिटलरका बाँह पकड़कर रोना, सबको बहुत आकर्षक तौरसे दर्शाया गया था। मल्लाहोंके गान और कितने दूसरे अभिनय इतनी सफलताके साथ दिखाए गए थे, कि भारतके भिन्न-भिन्न प्रान्तोंसे आए प्रतिनिधियोंने आभारपूर्वक स्वीकार किया—आन्ध्रने हमारी आँख खोल दी, हम नहीं समझ पाये थे कि जिसे लोग गँवारू मनोरंजन कहते हैं, उसमें इतनी कला, इतनी मधुरता, मनोरंजन और शक्ति है। अलीगढ़के साथीने ढोला, चबोला, धोबियों, कुम्हारों और दूसरी कमकर जातियोंके बीसियों तरहके गानों और नृत्योंको गिनाकर कहा, अब हम भी जन-जागरणकेलिए जनकलाका उपयोग करेंगे। मैंने पूछा—आपमें से कोई खुद भी नाच-गा सकता है? एक तरुणने कहा—हाँ मैं। मैंने पूछा—नाचनेमें शर्माते तो नहीं? तरुणने उत्तर दिया—अब तक तो शरम लगती थी, लेकिन जान पड़ता है यहाँ कृष्णासैयाने उसे धो दिया।

जब चारों ओरसे कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ उपस्थित की जा रही थीं, तब भी सम्मेलनके कार्यकर्ता पूरे आत्मविश्वासके साथ अपने काममें लगे हुए थे। आत्मविश्वासके कारण थे। उन्होंने हवामें काम नहीं किया था। किसान बड़े उत्साहसे अपने सम्मेलनकी बाट देख रहे थे। उस दिन पन्द्रह सौ बैलगाड़ियोंकी भीड़ पंडालके

आस-पासकी जगहोंमें जमा थी। स्वयं-सेवकोंने सफ़ाई और पानीका पूरा इन्तजाम किया था, बाकी आदमियों और पशुओंके खानेकी चीजें किसान अपने साथ लाए थे। जिस तरह जनकलाको एक नया रूप दिया, उसी तरह किसानोंने धार्मिक यात्राओं-को भी एक नया रूप दिया था। तीर्थयात्रियोंकी प्रभा (शिखर) पर देवताओंके चित्रोंकी जगह मजूर-किसान नेताओंके बड़े-बड़े चित्र लगे थे और उन्हें लाल झंडियोंसे सजाया गया था। सवारीकेलिए गाड़ियोंकी अत्यावश्यकता होनेपर भी गाँववालोंने 'प्रभा' केलिए एक गाड़ी सुरक्षित रखी थी। एक गाँवने सम्मेलनकेलिए तीन हज़ार रुपए दिए थे और उसके दो हज़ार नर-नारी उत्सवमें शामिल हुए थे। गाँवोंमें घरपर लोग रहनेकेलिए तैयार नहीं थे ! एक बुढ़ियाने कहनेपर साफ़ जवाब दिया—मैं जरूर जाऊँगी, क्या जाने फिर ऐसा अवसर मिले या न मिले ! विजयवाड़ासे पचासों मील दूरसे एक मुसलमान परिवार गाड़ीपर आया था। गाँवमें भी इधर मुसलमान लोग एक तरहकी हिन्दी बोलते है। मैंने उस गाड़ीपर एक हरी और एक लाल झंडी देखकर पूछा—यह दो रंगकी झंडियाँ कैसी ? दृढ़, स्वस्थ, और बलिष्ट तरुणने उत्तर दिया—यह हमारी मुस्लिम लीगकी झंडी है और यह हम किसान-मजदूरों की। उसने बतलाया कि हमारे गाँवके सभी मुसलमान किसान सभामें हैं और हमारा महबूब पार्टीमें। मैंने पूछा हिन्दीमें भी आपकेलिए गीत बने हैं या नहीं ? जवाब मिला कामरेड महबूबने हमारी भाषामें नाटक लिखा है, नाटक खेला भी है, हम जानते हैं फासिस्त-राक्षसोंके अत्याचारको, हम जानते हैं सरकारकी निकम्मी नीतिको ! वहाँ तो नहीं किन्तु पीछे गुंटुरमें कामरेड महबूबसे मुलाकात हुई। इधर दक्षिणके मुसलमानोंमें बोली जानेवाली हिन्दी (दकिनी) बड़ी प्यारी भाषा है। व्याकरणभी उसका बहुत सरल है—लिंग वचनके नियमोंमें काफी कमी कर दी गई है। वस्तुतः बाहरके प्रांतोंके लिए इसी तरहकी हिंदी चाहिए। महबूब उर्दूभी अच्छी जानते हैं। लेकिन वह अपने और मुठ्ठी भर साहित्यकोंके लिये नाटक नहीं लिखने जा रहे हैं। वह उधरकी-आंध्र ही नहीं सारे दक्षिणी भारतकी-मुस्लिम जनताके लिये नाटक लिखते हैं। इसीलिये दकिनी भाषाको अपनाए हुए हैं। वह अपने नाटकोंको छपवाना चाहते हैं, मगर इधर उर्दूका वैसा कोई प्रेस नहीं। आन्ध्रके कम्यूनिस्त मुस्लिम लीगको संदेहकी दृष्टिसे नहीं देखते, वह उसे मुसलमानोंकी राष्ट्रीय संस्था समझते हैं और उसे दुर्बल नहीं सबल देखना चाहते हैं। इसीलिये मुसलमान किसान-मजदूरोंको मुस्लिम लीगमें शामिल होनेके लिए प्रेरणा देते हैं। वह अच्छी तरह जानते हैं कि साधारण किसान-मजदूर जनताके शामिल

हो जाने पर मुस्लिम लीग राष्ट्रीय' क्रांतिकेलिये एक बड़ी शक्ति बन जाएगी।

बिहार, युक्तप्रांत, और पंजाबके प्रतिनिधि इन बैलगाड़ियोंके मुहल्लोंको बड़ी शौकसे देखने जाते थे। बालसंघमके बालक दूरसे आये हम प्रतिनिधियोंको देखकर लाल सलामी देते थे और तेलगू भाषामें कोई जोशीले गीत सुनाते थे।

पानी पाखानेके अतिरिक्त इतनी बड़ी भीड़के खानेका इन्तिजाम करना आसान काम नहीं था, लेकिन भोजनशालाके प्रबन्धक एक लाख आदमियोंको खिला देना खेल-सा समझते थे। उनका प्रबन्ध इतना सुन्दर था, कि किसीको खानेकी दिक्कत नहीं होती थी। एकबारके खानेका चार आना टिकट था। एकेक बार चार-चार पांच-पांच हजार आदमियोंको बैठानेका इंतिजाम था, जिसको दो-दो ढाई-ढाई सौके घेरोंमें बांटा गया था। वहां न ब्राह्मणका सवाल था न शूद्रका, न हिन्दूका न मुसलमानका। मनुष्यमात्र एक साथ एक पांतीमें बैठकर भोजन करते थे।

सम्मेलनकी ओरसे कई प्रदर्शनियां खुली थीं। हजारों बैलों, गायों और भैंसों-की एक विस्तृत पशु-प्रदर्शनी थी। सरकारी कृषि-विभागको इसमें सहयोग देना चाहिये था, लेकिन वहां उसका कोई पता नहीं था। मध्यआन्ध्रके इन जिलोंमें अच्छी नसलकी गाय-भैंसोंके पालनेका कितना शौक है, यह इस प्रदर्शनीसे मालूम होता था। आन्ध्रकी सुन्दर नसलोंके साथ-साथ हरियाना और मांटगोमरी (साहीवाल) की नसलके सुन्दर गाय-बैल और हिसारकी भैंसेंभी मौजूद थीं। जिन बैलोंको प्रथम और द्वितीय इनाम मिले थे, उनके दर्शनके लिये दर्शकोंकी भीड़ लगी रहती थी।

३—पुराने आंध्रकी तीर्थयात्रा

धान्यकटक (अमरावती), नागार्जुनीकोंडा, जगय्यापेट्ट, गोली आदि प्राचीन भारतीय कलाके ध्वंसावशेष आंध्रमें ही हैं। हरेक पुरातत्त्वप्रेमी और कला-नुरागीके लिये ये भारतके महान् तीर्थ हैं। मैंने इनके बारेमें पढ़ा था, शिलाओं और मूर्तियोंके फोटोभी देखे थे। १९३३ में यहां जाते जाते रह गया। अबकी बार इस अवसरसे वंचित नहीं रहना चाहता था। सौभाग्यसे मुझे श्री संजीवदेव जैसा पथप्रदर्शक मिल गया। संजीवदेव आंध्रके एक ख्यातनामा कला-समालोचक हैं और मेरी ही तरह उनकोभी घुमक्कड़ी-जीवनका व्यसन रहा है। हिमालय, उत्तरी भारत और बंगालमें वह बरसों घूमते रहे। उनका गांव तुम्मपुड़ी कृष्णा पारकर दो ही सात स्टेशन बाद पड़ता है। यह इलाका जमींदारी नहीं रैय्यतवारीका है, अर्थात्

किसानों और सरकारके बीचमें बड़े-बड़े जमीदारोंका यहाँ अभाव है। तुम्मपुडी-के पाससे कृष्णाकी बड़ी नहर जाती है। खेतोंकी पाँच-छ हाथ मोटी कोयले जैसी काली मिट्टी बतला देती है, कि यहाँकी भूमि बहुत उर्वर है; इसीलिये एक एकड़का दाम तीन तीन हजार रुपये तक जाता है। गाँवके आसपास मीठे नींबूके बहुतसे बाग हैं, ताड़ों और बबूलोंकी तो कोई संख्या हो नहीं है—तुम्मपुडीका अर्थ है बबूलपुरी। शायद बबूलोंके जंगलमें यह गाँव पहले-पहल आबाद हुआ। गाँवकी अधिकांश भूमिके मालिक संजीवदेवके सजातीय कम्मा लोग हैं। उनमेंसे बहुतोंके मकान गाँव नहीं शहर जैसे मालूम होते हैं। संजीवदेवको उनके चचाने गोद लिया था। घरमें सिर्फ बूढी चाची थी, जो वेदान्तिनी होते हुए भी घरमें बहू देखनेकी लालसा लगाये हुए हैं। शायद संजीवदेव अब और उनको अधिक निराश नही करेंगे। गाँवमें एक लड़की कितने ही दिनोसे उनकेलिए ठीक कर रखी गई है, मगर वह उनके कलाप्रिय हृदयके अनुकूल नहीं है। साथ ही संजीवदेव शहरकी परियोंको भी पसन्द नहीं करते। घर पक्का, दुमहला, हवादार है, जिसे सजानेका प्रयत्न नहीं किया गया है। आँगनमें तुलसीका बिरवा एक पक्के ऊँचे थालेपर लहरा रहा था, जो बतला रहा था, कि चाची शुष्क वेदान्तिनी ही नहीं हैं। उन्होंने हमारेलिए आन्ध्रका सुन्दर भोजन तैयार किया, हाँ, मिर्चकेलिए थोड़ी मेहरबानी रखकर। हम पीढ़ोंपर बैठे। हरे केलेके पत्तेमें मेहमानको भोजन कराना यहाँ बहुत अच्छा समझा जाता है। लेकिन भोजन-परसे केलेके पत्तेको रसोई-घरसे चौके तक लाना आसान काम नहीं, इसकेलिए सम्भ्रान्त परिवारोंमें एक गोल पेंदी तथा बिना धारीका थाल होता है, जिसमें पत्तेको आसानीसे सरकाकर सामने रखा जा सकता है। हर बार भातको घीसे भोंचनेका आन्ध्रमें रवाज है। तर्कारी, चटनी, अचार, दही, सांवर सबको पत्तेपर सँभाल लेना उतना मुश्किल नहीं है, लेकिन मिर्च, नमक, इमली और नींबू देकर बना दालका रस—चारु—की बड़ी धारको भातमें सँभालना मेरेलिए सदा बड़ी समस्या रही। दक्षिणके अभ्यस्त लोग ऐसे समय कलाई तकके अपने सारे हाथ-को भात मसलने और चारु मिलानेमें लगा देते हैं, लेकिन चीनी लकड़ियोंसे अभ्यस्त होनेपर भी अभी तो मुझे इसमें असफल ही रहना पड़ा। यहाँके कम्मा पुरुषोंको मैंने देखा, मगर स्त्रियोंको नहीं देखा जा सकता, क्योंकि वह आन्ध्रकी उन तीन कुलीन जातियोंमें हैं, जिनकी स्त्रियाँ पुरुषोंके सामने नहीं आती। कम्मा लोगोंके रूप, रंग और आकारके देखनेसे ही मालूम हो जाता है कि यह उत्तरी भारतकी लड़ाकू जातियोंसे सम्बन्ध रखते हैं।

हो जाने पर मुस्लिम लीग राष्ट्रीय क्रांतिकेलिये एक बड़ी शक्ति बन जाएगी।

बिहार, युक्तप्रांत, और पंजाबके प्रतिनिधि इन बैलगाड़ियोंके मुहल्लोंको बड़ी शौकसे देखने जाते थे। बालसंघमके बालक दूरसे आये हम प्रतिनिधियोंको देखकर लाल सलामी देते थे और तेलगू भाषामें कोई जोशीले गीत सुनाते थे।

पानी पाखानेके अतिरिक्त इतनी बड़ी भीड़के खानेका इन्तिजाम करना आसान काम नहीं था, लेकिन भोजनशालाके प्रबन्धक एक लाख आदमियोंको खिला देना खेल-सा समझते थे। उनका प्रबन्ध इतना सुन्दर था, कि किसीको खानेकी दिक्कत नहीं होती थी। एकबारके खानेका चार आना टिकट था। एकेक बार चार-चार पाँच-पाँच हजार आदमियोंको बैठानेका इंतिजाम था, जिसको दो-दो ढाई-ढाई सौके घेरोंमें बाँटा गया था। वहाँ न ब्राह्मणका सवाल था न शूद्रका, न हिन्दूका न मुसलमानका। मनुष्यमात्र एक साथ एक पाँतीमें बैठकर भोजन करते थे।

सम्मेलनकी ओरसे कई प्रदर्शनियाँ खुली थीं। हजारों बैलों, गायों और भैंसोंकी एक विस्तृत पशु-प्रदर्शनी थी। सरकारी कृषि-विभागको इसमें सहयोग देना चाहिये था, लेकिन वहाँ उसका कोई पता नहीं था। मध्यआन्ध्रके इन जिलोंमें अच्छी नसलकी गाय-भैंसोंके पालनेका कितना शौक है, यह इस प्रदर्शनीसे मालूम होता था। आन्ध्रकी सुन्दर नसलोंके साथ-साथ हरियाना और माटगोमरी (साहीवाल) की नसलके सुन्दर गाय-बैल और हिसारकी भैंसेंभी मौजूद थी। जिन बैलोंको प्रथम और द्वितीय इनाम मिले थे, उनके दर्शनके लिये दर्शकोंकी भीड़ लगी रहती थी।

३–पुराने आंध्रकी तीर्थयात्रा

धान्यकटक (अमरावती), नागार्जुनीकोंडा, जगंय्यापेट्ट, गोली आदि प्राचीन भारतीय कलाके ध्वंसावशेष आंध्रमें ही हैं। हरेक पुरातत्वप्रेमी और कलानुरागीके लिये ये भारतके महान् तीर्थ हैं। मैंने इनके बारेमें पढ़ा था, शिलालेखों और मूर्तिचित्रोंके फोटोभी देखे थे। १९३३ में वहाँ जाते जाते रह गया। अबकी बार इस अवसरसे वंचित नहीं रहना चाहता था। सौभाग्यसे मुझे श्री संजीवदेव जैसा पथप्रदर्शक मिल गया। संजीवदेव आपके एक ख्यातनामा कला-समालोचक हैं और मेरी ही तरह उनकोभी घुमक्कड़ी-जीवनका व्यसन रहा है। हिमालय, उत्तरी भारत और बंगालमें वह वर्षों घूमते रहे। उनका गाँव तुम्मपुड़ी कृष्णा पारकर दो ही तीन स्टेशन बाद पड़ता है। यह इलाका जमींदारी नहीं रैय्यतवारीका है, पर्याप्त

किसानों और सरकारके बीचमें बड़े-बड़े जमीदारोंका यहाँ अभाव है। तुम्मपुडी-के पाससे कृष्णाकी बड़ी नहर जाती है। खेतोंकी पाँच-छ हाथ मोटी कोयले जैसी काली मिट्टी बतला देती है, कि यहाँकी भूमि बहुत उर्वर है; इसीलिये एक एकड़का दाम तीन तीन हजार रुपये तक जाता है। गाँवके आसपास मीठे नीबूके बहुतसे बाग हैं, ताड़ों और बबूलोंकी तो कोई संख्या ही नहीं है—तुम्मपुडीका अर्थ है बबूलपुरी। शायद बबूलोंके जंगलमें यह गाँव पहले-पहल आबाद हुआ। गाँवकी अधिकांश भूमिके मालिक संजीवदेवके सजातीय कम्मा लोग हैं। उनमेंसे बहुतोंके मकान गाँव नहीं शहर जैसे मालूम होते हैं। संजीवदेवको उनके चचाने गोद लिया था। घरमें सिर्फ़ बूढ़ी चाची थीं, जो वेदान्तिनी होते हुए भी घरमें बहू देखनेकी लालसा लगाये हुए हैं। शायद संजीवदेव अब और उनको अधिक निराश नहीं करेंगे। गाँवमें एक लड़की कितने ही दिनोंसे उनकेलिए ठीक कर रखी गई है, मगर वह उनके कलाप्रिय हृदयके अनुकूल नहीं है। साथ ही संजीवदेव शहरकी परियोंको भी पसन्द नहीं करते। घर पक्का, दुमहला, हवादार है, जिसे सजानेका प्रयत्न नहीं किया गया है। आँगनमें तुलसीका बिरवा एक पक्के ऊँचे थालेपर लहरा रहा था, जो बतला रहा था, कि चाची शुष्क वेदान्तिनी ही नहीं हैं। उन्होंने हमारेलिए आन्ध्रका सुन्दर भोजन तैयार किया, हाँ, मिर्चकेलिए थोड़ी मेहरबानी रखकर। हम पीढ़ोंपर बैठे। हरे केलेके पत्तेमें मेहमानको भोजन कराना यहाँ बहुत अच्छा समझा जाता है। लेकिन भोजन-परसे केलेके पत्तेको रसोई-घरसे चौके तक लाना आसान काम नहीं, इसकेलिए संभ्रान्त परिवारोंमें एक गोल पेंदी तथा बिना बारीका थाल होता है, जिससे पत्तेको आसानीसे सरकाकर सामने रखा जा सकता है। हर बार भातको घीसे मीचनेका आन्ध्रमें रवाज है। तर्कारी, चटनी, अचार, दही, सांवर सबको पत्तेपर सँभाल लेना उतना मुश्किल नहीं है, लेकिन मिर्च, नमक, इमली और नीबू देकर बना दालका रस—चारु—की बड़ी धारको भातमें सँभालना मेरेलिए सदा बड़ी समस्या रही। दक्षिणके अभ्यस्त लोग ऐसे समय कलाई तकके अपने सारे हाथ-को भात मसलने और चारु मिलानेमें लगा देते हैं, लेकिन चीनी लकड़ियोंसे अभ्यस्त होनेपर भी अभी तो मुझे इसमें असफल ही रहना पड़ा। यहाँके कम्मा पुरुषोंको मैंने देखा, मगर स्त्रियोंको नहीं देखा जा सकता, क्योंकि वह आन्ध्रकी उन तीन कुलीन जातियोंमें हैं, जिनकी स्त्रियाँ पुरुषोंके सामने नहीं आतीं। कम्मा लोगोंके रूप, रंग और आकारके देखनेसे ही मालूम हो जाता है कि यह उत्तरी भारतकी लड़ाकू जातियोंसे सम्बन्ध रखते हैं।

धान्यकटक—१८ मार्चको हम दोनों रेलसे गुंटूर गये। धान्यकटक (अमरावती) वहाँसे बीस मीलपर हैं, मोटर-बसें बराबर चलती रहती हैं। धान्यकटक बौद्धोंका एक पुनीत स्थान रहा और तांत्रिक बौद्धोंकेलिए तो यह सबसे बड़ा तीर्थ था। इसीके नामपर तिब्बतमें आजकलका सबसे बड़ा मठ (आठ हजार भिक्षुओंवाला) डेपुङ् प्रतिष्ठापित हुआ था। डेपुङ्का शब्दार्थ है धान्य-कटक या धान्य-राशि। तान्त्रिक बौद्धोंके अनुसार बुद्धने तन्त्र-मार्गका प्रथम उपदेश यहींपर किया, अतएव यह उनकेलिए बोधगयासे कम पवित्रता नहीं रखता। इसमें ऐतिहासिक सत्यका अंश भले ही न हो, मगर इससे स्थानकी महत्ता तो जरूर प्रकट होती है। तिब्बतमें धान्य-कटक जानेकी कुछ पथ-प्रदर्शिका पुस्तकें भी लिखी गई हैं, जिनमें अधिकांश सुनी-सुनाई बातें ही दर्ज हैं। लेकिन धान्यकटक मौर्योंके बाद बौद्धोंका एक महान् केंद्र रहा है, इसमें सन्देह नहीं। धान्यकटकका महाचैत्य मूर्तिकलाका सुन्दर नमूना था, यह तो उसके पाषाणफलक अभी भी बतला रहे हैं—यह प्रायः सभी लन्दनके ब्रिटिश-म्यूजियममें रखे हुए हैं। अमरावतीकी कला एक स्वतन्त्र कला-साम्प्रदाय है। लेकिन कला-ही नहीं इस चैत्य (स्तूप)ने बौद्धोंके एक प्रमुख धार्मिक सम्प्रदाय—चैत्यवादी—को भी अपना नाम प्रदान किया था। तिब्बती परम्पराके अनुसार धान्य-कटकके पूर्व और पश्चिमके दो पर्वतोंके पास निवास करनेके कारण दो बौद्ध सम्प्रदायोंके नाम पड़े थे पूर्वशैलीय और अपरशैलीय। धान्यकटकसे पाँच मील पूरब अब भी एक शैल है, लेकिन पश्चिमका शैल तीस मीलसे अधिक दूर है।

धान्यकटक कृष्णा नदीके बाएँ तटपर बसा हुआ है। समुद्रसे यहाँ तक नावोंके आनेमें कोई रुकावट नहीं है, इसलिए अपनी समृद्धिके कालमें धान्यकटक एक अच्छा खासा बन्दरगाह रहा होगा; साथ ही धान्यकटक आन्ध्र-साम्राज्यके पूर्वी भागकी राजधानीके रूपमें तो शायद अशोकके समयसे ही चला आ रहा था, पीछे इक्ष्वाकु-वंशियोंके समय तो यह अपने चरम उत्कर्षपर पहुँच गया था। धान्यकटकके ध्वंसाव-शेष आज भी आठ-दस मील तक चले गये हैं। अमरावतीका छोटासा कसबा और धरनाकोटका गाँव इसी ध्वंसपर बसे हुए हैं। अमरावतीके लगे किन्तु धरनाकोटसे मीलभर पश्चिम महाचैत्यका ध्वंसस्थान है। इसके सुन्दर शिलाफलक बहुत पहिले ही हटाये जा चुके हैं। पीछेकी खुदाईमें जो शिलाखंड मिले, उनमेंसे कुछ अभी भी एक छतसे ढके कटघरेमें रखे हुए हैं। यद्यपि यह उत्कीर्ण-मूर्तियाँ खंडुवी हैं, किन्तु यह भी धान्यकटकके दर्शनशिल्पियोंके हाथकी दाद देती हैं। धरनाकोटमें शेख, सैयद, मुगल, पठान मुसलमानोंके बहुतसे परिवार बसते हैं, जिनकी जीविका खेती और

क्रय-विक्रय है, लेकिन इन्हींमें उन शिल्पियोंकी भी सन्तानें है, जिन्होंने महाचैत्यको अपने हाथोंसे सिरजा। प्राचीन धान्यकटकके विस्तृत ध्वंसावशेषके गर्भमें हमारी कला और इतिहासकी क्या-क्या सामग्री छिपी हुई है, इसे आजकी व्यवस्थामें नहीं जाना जा सकता। यह तभी जाना जा सकता है, जब राष्ट्रका भविष्य सहस्रशीर्ष, सहस्रभुज जनताके हाथमें आयेगा, जब नवीन आन्ध्रमें उत्साह, कलाप्रेम, समय और श्रमकी कमी नही रहेगी!

(१) श्रीपर्वत (नागार्जुनी कोंडा)

१९ तारीखको हमारी जमात चार आदमियोंकी हो गई। गुंटूरसे रेलसे चलकर मध्याह्नको माचेरला पहुँचे। माचेरला पहुँचनेसे मीलों पहिले पथरीली भूमि आ जाती है। यह पत्थर कहीं-कहीं हाथ-दो-हाथ ज़मीनके नीचेसे शुरू होते हैं, कहीं-कहीं धरतीसे समतल, और कहीं-कहीं थोड़ा ऊपर भी उठे हुए। यह सीमेंटके पाषाण हैं। एक सीमेंट कम्पनी रेलोंपर भरकर इन्हें पचासों मील दूर अपनी फ़ैक्टरीमें ले जाती है। आजके आन्ध्रकी झोपड़ियोंकेलिए सीमेंटकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि आज जनता अपनी और सीमेंटशैलोंकी स्वामिनी नहीं है। जब स्वामिनी होगी तो एक छोटीसी फ़ैक्टरीसे काम नहीं चलेगा, उस वक़्त यह सीमेंट-प्रसविनी भूमि एक सीमेंट-उत्पादक नगरमें परिणत हो जायेगी और आजकी निरीहता और दरिद्रताका कहीं पता नहीं रहेगा। माचेरला एक छोटासा बाज़ार है। इमारतमें काम आनेवाले शिलाफलक आज भी यहाँ तैयार होते हैं, श्रीपर्वतके शिल्पियोंके पास अब यही काम रह गया है। श्रीपर्वत या नागार्जुनी कोंडा यहाँसे तेरह मील दूर है। श्रीपर्वतके ध्वंसावशेषकी खुदाई होनेके बाद बैलगाड़ी जाने लायक़ सड़क बना दी गई। सड़क ऊँची-नीची पहाड़ी भूमिसे होकर जाती है। हम लोगोंने दो बैलगाड़ियाँ सवारीकेलिए ली थीं, धूप काफ़ी तेज़ थी, और पानी दूर-दूर बसे रास्तेके चार-पाँच गाँवोंमें ही मिल सकता था। हमें श्रीपर्वतके पासके गाँव "पुल्लारेडीगुलम्"का एक तरुण ब्राह्मण साथी मिल गया था। मैं अभी उसे पार्टी-सहायक भर ही जानता था, मुझे क्या पता था, कि सत्रह सौ बरस पुराने शिलालेखोंको वह भी मेरी ही तरह फरफर बाँचता जायेगा। तरुणने संस्कृत या पाली भाषा नहीं पढ़ी थी, तो भी वह जहाँ-तहाँ शब्दोंका अर्थ समझ लेता था, यह रहस्य हमें दूसरे दिन मालूम हुआ। पलनाडका यह पहाड़ी इलाक़ा बहुत पीछे तक बहादुरोंकी भूमि रहा है। आज भी इसके वीरोंकी बहुतसी बुर्रकथायें लोग रात-रातभर सुनते हैं। कुछ ही साल पहिले

यहाँ लीडरी चाहनेवालोंने एक आन्दोलन फैलाया, जिसमें जनता अपने पुराने जोशके साथ पिल पड़ी। नेता राजनीतिक शिक्षा या संगठन तो करना जानते नहीं थे। विशृंखलित जनताने एक बार जोश दिखलाया फिर पुलिस और मिलिटरी उनपर दौड़ पड़ी, और उनकी वह दुर्गति हुई जिससे मिदनापूर और बलिया याद आते हैं। अभी लोग सशंक रहते हैं, मगर पलनाडकी स्वाभाविक वीरता अभी उस भूमिको छोड़कर गई नहीं है।

गाँवोंमें कहीं-कहीं लम्बाडी (बंजारे) लोगोंकी भी झोंपड़ियाँ हैं। पहिले गाँवमें तो उनकी भाषा मुझे पहिले-पहिल सुननेमें आई थी, इसलिए मैंने उसे परखनेमें अपने चार-पाँच मिनटकी बातचीतको खतम कर दिया। फिर मालूम हुआ, यह मेवाड़के दक्षिणी सीमान्तकी भाषा है। छे-छो लगाकर अगले गाँवमें जब मैंने एक स्त्रीसे एक-दो बातें पूछीं, तो उसका चेहरा खिल उठा। उसने समझा मैं भी लम्बाडी हूँ। शायद बीस बरस पहिले होता, तो मैं भी कुछ दिनों तक लम्बाडी बनता। इनके रहनेकी फूसकी बिलकुल छोटी-छोटी झोंपड़ियाँ हैं। आन्ध्रकी यह बहुत ही ग़रीब जाति है। भाषा, वेष, रीतिरिवाज अभी अपने पूर्वजोंके ही पकड़े हुए हैं, इसलिए वह साधारण नहीं एक भजनबोका दरिद्रतापूर्ण जीवनको बिता रहे हैं। जीवनकी व्यथाको भुलानेकेलिए उनके अपने गीत और नृत्य हैं, जिनमें स्त्री-पुरुष दोनों ही शामिल होते हैं; कभी पैसा मिल जाता है, तो सस्ती मदिराकी भी सहायता ले लेते हैं। वह लम्बाडी स्त्री मुझे भी लम्बाडी समझकर विकसितवदना हो रही थी। उस फटे मैले चीमड़ोंसे ढँके शरीर, कौड़ियोंके झुमकोंवाले केशपाशसे घिरे कृशगौर-मुखपर अकाल-वार्धक्यके साथ झलकती हँसी मेरे मनमें क्या-क्या भाव पैदा कर रही थी! लेकिन मुझे यह सोचकर सन्तोष हुआ, कि आन्ध्रके नये नेता जनताकेलिए हैं, उनके आन्ध्रमें किसी जातिके जीवनमें बाधा नहीं डाली जा सकती।

दस मील पहुँचते-पहुँचते अँधेरा हो गया। अब भूमि ऊबड़-खाबड़ ही नहीं थी, बल्कि यहाँ छोटी-छोटी झाड़ियोंसे ढँकी पहाड़ियाँ भी शुरू हो गई थीं। खूब अँधेरा हो गया था, जब हम पहाड़ीके सबसे ऊँचे स्थानपर पहुँचे और साथियोंने कहा, दुर्गका यह पहिला फाटक है। इसके बाद उतराई शुरू हुई और आगे हमें एक दूसरा फाटक बतलाया गया। फाटकका मतलब था, बड़े-बड़े पत्थरोंकी चिनी दिवारें जो दोनों तरफसे नजदीक आ जाती हैं। पहिले फाटकके होनेमें तो सन्देह नहीं, किन्तु दूसरेके बारेमें वही बात नहीं कही जा सकती थी।

हम रातके नौ बजे पुल्लरेड्डीगूडममें पहुँचे। यह ढेड़ सौ घरोंका छोटासा गाँव

है। गाँवमें दो छोटी-छोटी धर्मशालायें (चोल्टरी या छत्रम्) हैं। एकको गाँवके बनियाने धर्मार्थ बना दिया है। हमने दो कोठरियोंमेंसे एकमें सामान रखा और बाहर बरांडे तथा बादके खुले आँगनमें सोनेका इन्तिज़ाम किया।

श्रीपर्वतकी यह लम्बी-चौड़ी उपत्यका एक बड़ी कढाईकी तरह चारों ओर पहाड़से घिरी हुई है। कढ़ाईकी बारी दो जगह फूट गई है, जहाँपर कि कृष्णा उसके चरणोंको छूती है। कृष्णापार मोग़लाई यानी निज़ामका राज्य है। धान्यकटक यहाँसे नीचे सत्तर मीलके क़रीब है। लेकिन नौका पोदुगल तक ही आ सकती है। आगे चट्टानोंके कारण वह नहीं आ सकती, अर्थात् लंका और दूसरे द्वीपोंके जिन बौद्ध तीर्थ-यात्रियोंने अपने-अपने शिलालेख श्रीपर्वतमें छोड़े हैं, वे अपनी समुद्री नावोंद्वारा पोदुगल तक ही आये होंगे, फिर उन्हें उनतीस मीलकी यात्रा स्थलसे चलकर पूरी करनी पड़ी होगी।

श्रीपर्वत "आश्चर्यवार्तासहस्रों"का उद्गम-स्थान रहा। श्रीपर्वतके तन्त्रमन्त्र-वेत्ताओंके चमत्कारोंकी प्रतिध्वनि संस्कृतके अनेक काव्योंमें गूंज रही है। दूसरी सदीके महान् दार्शनिक नागार्जुनका तो यह बहुत ही प्रिय स्थान रहा, और पीछे तान्त्रिक बौद्धोंका यह सर्वोत्तम पीठ बन गया। नागार्जुनकी कितनी ही दार्शनिक कृतियाँ यहीं लिखी गई होंगी। अपने "सुहृद्" शातवाहन नरपतिको प्रसिद्ध "सुहृल्लेख" उन्होंने शायद यहीं बैठकर लिखा था। सुन्दर शिक्षाओंसे पूर्ण यह पत्र आज भी अपने तिब्बती और चीनीभापा-अनुवादोंमें सुरक्षित है। नागार्जुनने अपनी "विग्रहव्यावर्तनी" और दूसरे निबन्धोंद्वारा जो तर्क और न्यायशास्त्रका प्रारम्भ किया, वही आगे सारे भारतीय न्याय और तर्कशास्त्रके प्रबल प्रवाहका उद्गमस्थान बना। अब श्रीपर्वतका महत्त्व मालूम हो सकता है। पहाड़ों और कृष्णाकी धारासे घिरा श्रीपर्वत एक स्वाभाविक दुर्ग है, किन्तु यह कभी कोई बड़ी राजधानी रहा हो, इसका कोई चिह्न नहीं मिलता। चान्तमूलकी बहन चान्तिसिरी और पुत्र राजा वीरपुरिसदत (वीरपुरुषदत्त) तथा उसके पुत्र राजा एहुवल चान्तमूलने अपार धनराशि खर्च कर श्रीपर्वतके भव्य स्तूपोंको बनवाया। राजधानी धान्यकटकसे सत्तर मील दूर इस दुर्गम-पर्वतमें इन अद्भुत कृतियोंका निर्माण भी इस स्थानके धार्मिक महत्त्वको बतलाता है।

दूसरे दिन हम लोग बहुत सबेरे ही, स्तूपावशेषोंको देखने निकल पड़े। दो-तीन फ़र्लांगपर एक छोटे टीलेके ऊपर एक छोटासा स्तूप और उसके उत्तर तरफ़ भिक्षुओंके रहनेकी कोठरियोंसे घिरा उपोसथागार मिला। इसकी ईंटें १९ इंच लम्बी, ९ इंच चौड़ी और दो इंच मोटी थीं। टेकरीसे थोड़ा और पूरब चलनेपर

समतल भूमिमें श्रीपर्वतके सबसे बड़े स्तूपका ध्वंसावशेष है। इस स्तूपको मने "अश्वमेधयाजी" राजा वीरपुरुषदत्तकी बुआ चान्तिसिरीने बनवाया था। जिन स्तम्भोंपर बड़े सुन्दर अक्षरोंमें कई लम्बे-लम्बे लेख खुदे हुए हैं, जिनमें धान्यकटक ईक्ष्वाकु-वंशके कितने ही व्यक्तियोंके नाम तथा उनकी धार्मिक श्रद्धाका उल्लेख है इन लेखोंसे पता लगता है, कि चान्तमूल (शान्तमूल)की दो बहिनें थीं—बड़ी चान्तसिरिका ब्याह पोगिय-वंशज स्कन्दसिरिके साथ हुआ था। चान्तमूलके पुत्र राजा वीरपुरुषदत्तकी रानी छठसिरि (षष्ठिश्री)के पिताका नाम हम्मसिरि (हर्म्यश्री) था। वीरपुरिसदत्तके पुत्र राजा एहुवल चान्तमूलका नाम भी शिलालेखोंमें आता है। उज्जैनकी रुद्रधर भट्टारिकाका भी दान एक लेखमें है। शायद उस वक्त धान्यकटकके राज्यवंशका उज्जैनके राजवंशसे सम्बन्ध था। स्तूपका शिलाकंचुक अनेक मूर्ति-चित्रोंसे अलंकृत था, जिनका बहुतरा भाग खुदाईमें मिला और आज भी पासके म्युजियममें रखा है। महाचैत्यके पास एक दूसरा चैत्यघर है, जिसकी ईंटें १८ इंच लम्बी, ११ इंच चौड़ी और ३ इंच मोटी हैं। महाचैत्यकी एक तरफ ३६ खम्भोंका विशाल उपोसथागार था।

म्युजियममें तत्कालीन आन्ध्रके प्रस्तर-शिल्पकी जो अद्भुत झाँकी देखनेको मिलती है, उससे आँखें चौंधिया जाती हैं। शिल्पीकेलिए ये श्वेत पाषाण पत्थर नहीं, मानो मक्खन या मोम थे। कितने कोमल हाथोंसे उसने अपनी छिनीको चलाया होगा। शरीरके अंग-प्रत्यंगके सामंजस्यमें कमाल किया गया है—बड़ी मूर्तियोंमें ही नहीं क्षुद्रतम मूर्तियोंमें भी वही कौशल पाया जाता है। निर्जीव पाषाणको कैसी सजीवता प्रदान की गई है! उत्कीर्ण दृश्योंमें कहीं बुद्धके जीवनको संकेतों द्वारा अंकित किया गया है, और कहीं साक्षात् मूर्ति द्वारा। कितने ही जातक-कथाओंके दृश्य भी हैं। एक जगह कुलीन स्त्री-पुरुषोंका नृत्य हो रहा है, साथमें वीणा, ढोल आदि वाद्य बज रहे हैं। स्त्रियोंके कितने ही आभूषण आज भी आन्ध्रमें व्यवहृत होते हैं, लेकिन नाकमें चार-चार आभूषण पहननेवाली स्त्रियोंका उस वक्त अत्यन्त अभाव था। एक जगह एक योद्धा अंकित किया गया है, उसके शिरपर नुकीला टोपा है; लम्बा जामा, कटिबन्ध और पाजामेके साथ उसके मुँहपर लम्बी दाढ़ी भी है।

श्रीपर्वत यद्यपि महायानियों और तान्त्रिक बौद्धोंकेलिए परमपुनीत स्थान रहा, तो भी यहाँके इन दृश्यों और मूर्तियोंमें महायान और तन्त्रयानकी छाया भी नहीं दीख पड़ती।

महाचैत्यसे दक्षिण कुछ फर्लांगपर दो-तीन और बौद्धविहारों और स्तूपोंके

ध्वंसावशेष है। बड़े-बड़े स्तम्भ और मूर्तियाँ जिस तरह टूटी है, उससे जान पड़ता है, कि विहारोंमें आग लगा दी गई थी।

श्रीपर्वतमें शिलालेखोंकी भरमार है, यद्यपि उनमें कुछ नामोंके अतिरिक्त दूसरी बातें एकसी दुहराई गई हैं। इन शिलालेखोंमें जिस भाषाका प्रयोग किया गया है, वह पालीसे अत्यन्त नजदीक है। ईक्ष्वाकु और उनके उत्तराधिकारी पल्लव राजाओंके प्राकृत लेख बतलाते हैं, कि शायद यही भाषा उस समयके शासक-वर्गकी मातृभाषा थी। यह निश्चय है, कि सर्वसाधारणकी भाषा वर्तमान तेलगूका ही प्राचीन रूप रहा होगा। उस समय आन्ध्र-साम्राज्यके पश्चिमी और पूर्वी भागोंमें जनताकी भाषा और शासकोंकी भाषाका द्वन्द चल रहा था। तृतीय शताब्दी तक अभी शासकोंकी भाषा (शिलालेखोंकी आर्यभाषा)का बोलवाला था। यह जानना बड़ा कुतूहल-जनक होगा, कि किस शताब्दीमें महाराष्ट्रमें महाराष्ट्रीने जनताकी अपनी भाषाका स्थान लिया और आन्ध्रकी तेलगूने शासकोंकी भाषाको निर्वासित किया। 'इकड़े' 'तिकड़े' 'कोन्डा' (पर्वत) आदि कितने ही मराठीमें बँच निकले शब्द भी, इन दोनोंके इसी सम्बन्धको बतला रहे हैं।

(२) लम्बाडी—पुल्लारेड्डीगुड़म्‌में कितने ही परिवार लम्बाडियोंके बस गये हैं। पुरुषोंकी पोशाकमें तो अन्तर नहीं है, लेकिन स्त्रियाँ अपनी वेष-भूषाको हर देश और कालमें आसानीसे नहीं छोड़ती। लम्बाडी स्त्रियाँ भी इसका अपवाद नहीं हैं, अब भी वह मेवाड़के बंजारोंकी पोशाक अपनाये हुए हैं, जो आन्ध्र स्त्रियोंकी लम्बी साड़ीके आगे विचित्रसी मालूम होती हैं। अपने लहँगा, चुनरी और लटकते कौड़ियों-चाँदीके झब्बोंवाली चोलीको सिलवानेमें उन्हें काफ़ी मुश्किल होती होगी। हाथोंमें कंकण और हाथीदाँतकी चूड़ियाँ बाजूके ऊपर तक चली जाती हैं। उनकी नाचमें काफ़ी परिश्रम होता है। उन्होंने नाचके वक्त एक गाना गाया था—

"तूँ पाँच पचीस दे, तूरे मोरे भाई, गुगल्गू।
तारी वासड़ीरे मूड़ो छोड़ रे, पाँच पचीस देरे।
तारे बेटाने पूचण देरे, मोरे भाई०।
तारी बेटीने पूचण देरे०।
तारे ग्वाड़िन पूचण देरे०।
त्वारी वाड़ीने पूचण देरे०।
तारे भाईने पूचण देरे०।
तारी भाईरी ग्वाणीने देरे०।

तारे भीयाने पूचन देरे० ।
तारी याड़ीने पूचन देरे० ।
तारी भोजाईने पूचन देरे० ।
तारी बाईने पूचन देरे० ।
तारी भ्याननें पूचन देरे० ॥१॥"
"भीयाने हाथे सोनेरी अँगूठी, खोंसला, खोंसला ।
बापूरे हाथे सोनेरी झारी० ।
मिचुड़ा (विच्छू) खोंसलारे० ।
दादारे हाथमों सोनेरा झारी, मिचुड़ा खोंसला खोंसलारे ।
काकारे हाथे सोनेरा कड़ा, मिचुड़ा० ॥२॥"
"कका वसेरिये, दरजी झीकड़िया ।
नसाव छाँण, लेखो करोरे, दरजी झीकड़िया ॥३॥"

लम्बाडी आज गंगासे बहुत दूर चले गये हैं, लेकिन अब भी गंगा उन्हें भूली नहीं है, कृष्णा गोदावरीके गीतोंकी जगह लंबाडिनें गाती हैं—"भ्यातणुरे पगला, हेठे गंगा वहीजा ।"

लम्बाडी भाषाके कुछ शब्द हैं—

बाप	भ्यान (नानकी बहिन)
याड़ी (माँ)	बाई (मोट बहन)
भीया (भैया)	सासुरो
भोजाई	सासु
साडी (साली)	मामा
नाना	
नानी	ज़म्मीं (धरती)
कावा (चाचा)	खेतर (खेत)
दादा (पितामह)	घऊँ (गेहूँ)
दादी	साड़ (धान)
मासा (मौसी)	चावड़ (चावल)
फूँफी (बूआ)	ग्वाड़नी (भार्या)
फूफा	छुवारा (छोरा)
बापुरघर (बापघर)	छुवारी (लड़की)

याड़िरघर (मायका) डोकरा (बूढ़ा)
अंगार डोकरी (बूढ़ी)
पाणी
नूण
मरचा
माड़ी (मछली)
बोटी (मांस)
कुकुड़ी (मुर्गी)
छेडी (बकरी)
गोरली (भैंस)
गावड़ी (गाय)
वड़द (बैल)
बादड़ (बादल)
राम (आकाश),
भाटा (पत्थर)

दक्षिणमें होली मनानेका रिवाज नहीं है, लेकिन लम्बाडी उसे बड़े शौक़से मनाते हैं। यद्यपि वह आज चावलके देशमें रह रहे हैं, किन्तु रोटी ही आज भी उनका प्रधान भोजन है।

४. नए आन्ध्रके कुछ गाँव

(१) दावलूर—बेजवाड़ाके किसान सम्मेलनमें हमने किसानोंके उत्साहको देखा था। मैं चाहता था उनके एक-आध गाँवोंको देखना। साथियोंसे पूछनेपर दावलूर देखनेकी इच्छा हुई। अभी तक ज्यादातर ईंटों-पत्थरोंसे बात करना था या अंग्रेजी पढ़े-लिखोंसे, लेकिन अब जाना था खेतिहर-मजूरोंके लालगाँवमें। सौभाग्यसे साथी पिच्चैया मिल गए, जो हिन्दी अच्छी तरह जानते हैं। दावलूर तेनाली स्टेशनसे अठारह-उन्नीस मील दूर है, लेकिन मोटर-बस गाँवके पास तक जाती है। हम लोग १० बजेके क़रीब वहाँ पहुँच गए थे।

दावलूर गाँवमें ३००० एकड़ (१ एकड़ बराबर ४८४० वर्ग गज) जमीन है। गाँवके १०० परिवारोंके पास निर्वाह-योग्य जमीन है—इनमें दो ब्राह्मण, १० कम्मा और एक बनियाँ परिवारोंके पास काफ़ी जमीन है, वह कुलक-परिवार हैं। २२० अछूत परिवारोंमें ५० के ही पास एकाध एकड़ खेत है, बाकी किसानोंके यहाँ

मजदूरी करते हैं। पचास कम्मा, तेलगा और मुसलमान परिवारोंकी भी जीविका सिर्फ़ मजूरी है। तीन मुसलमान बढ़ई हल-फाल बनानेका काम करते हैं। पाँच हजाम भी अपने ही व्यवसायसे जीते हैं और उन्हें फ़सलपर हर किसान दो बोरा धान देता है। ३० धोबी-परिवारोंका भी काम चल जाता है। बीस एरुकुल-परिवार टोकरी बनाते हैं, जिसे अनाजके दामपर बेचते हैं। तीस तेलगा-परिवारोंमें कुछ फेरीवाले हैं। तीन चुंडू परिवार गाँवकी चौकीदारी करते हैं। १५ जंगम-परिवार स्त्री-पुरुष दोनों बुर्रकथा कहते माँगते हैं। गाँवके तीन चौथाई परिवारोंकी जीविका सिर्फ़ मजूरीसे चलती है। लेकिन यही तीन सौ खेतिहर मजूर आज सारे गाँवके कर्त्ता-धर्त्ता हैं। जो बारह-तेरह धनी किसान हैं, उनकी भी मजाल नहीं कि गाँवके विरुद्ध जाँय। आज इस गाँवमें मजूर-सभाके ४०० सौ मेम्बर हैं और किसान-सभाके १००, महिलासभाकी १०६ सदस्याएँ और बालसंघके ६०। इनके अतिरिक्त ५२ वालंटियर हैं। कम्युनिस्ट पार्टीके ४० मेम्बरोंमें ३२ अछूतजातिके मजूर हैं। लेकिन दावलूरके इन अछूतोंको सिर्फ पाठकोंके समझनेकी आसानीकेलिए ही हम अछूत लिख रहे हैं, नहीं तो वह अपनेको अछूत नहीं समझते। दूसरे भी उनके साथ वैसा बर्ताव नहीं करते। उनके आत्मसम्मानने कम्युनिस्टोंकी शिक्षा और क्रियात्मक व्यवहारसे स्वाभाविक रूप धारणकर लिया है। यह सच है कि अभी उनकी गरीबी गयी नहीं है, लेकिन पहिलेसे उसमें बहुत अन्तर हुआ है। मजूरी भी बढ़ी है और दावलूरके मजूर कामरेड जिस तरह ईमानदारीसे काम करते हैं, उससे सड़कोंके ठेकेदार और दूसरे उन्हें रखना बहुत पसन्द करते हैं।

दावलूरके मजूरोंमें यह परिवर्तन कैसे आया ? यह अछूत इसाई हो चुके हैं, इसकेलिए गिरजा भी खुला हुआ है और गाँवमें एक पादरी भी रहता है। लेकिन साहब पादरी इन नवदीक्षित इसाइयोंसे वैसे ही दूर रहता रहा, जैसे कि ऊँची जातिका हिन्दू। मजूरी बढ़ाने या आर्थिक व्यवस्था बेहतर करनेकेलिए हिन्दूमालिकों, महाजनों और सरकारसे लड़ना पड़ता, जिसकेलिए पादरी सहायता करनेको तैयार न थे। उनको सबसे आसान बात यही मालूम पड़ती थी, कि अपनी भेड़ोंको मरनेके बाद स्वर्गमें पहुँचा दिया जाय।

गाँवमें इस परिवर्तनका सूत्रपात १९३६ में हुआ। सूर्यनारायण राव (कम्मा) उत्साही कांग्रेस कार्यकर्त्ता और तालुका कांग्रेसके प्रेसिडेन्ट थे। अपने धुनके पक्के थे। समाजकी कुछ भी न परवाह करके उन्होंने अपना विवाह एक विधवासे किया था। कांग्रेसके कामोंके कारण उनका एक पैर सदा जेलमें रहता ही था। यह राजमहेन्द्री

जेलमें थे, वहीं वह कामरेड रामलिंगैयाके सम्पर्कमें आए। रामलिंगैयाने साम्यवादकी घुट्टी पिलाई। सूर्यनारायणने अपने गाँवके मजूरोंमें प्रचार करना शुरू किया। लेकिन मजूर उनकी बात सुननेको तैयार न थे। १६३६ में उन्हें असफलता ही असफलता दिखाई पड़ी। पादरी कहता—ये नास्तिक अनीश्वरवादी हैं, इनकी बात मत मानो। दुर्भाग्यसे सूर्यनारायण ऐसे तरुणोंको अभी यह समझमें नहीं आया कि ईश्वर और धर्मके पीछे लाठी लेकर पड़ना सिर्फ पत्तियोंको नोचना है। सारी विपत्तियोंकी जड़ तो है आर्थिक विषमता और आर्थिक शोषण। सारी शक्ति इस शोषणके विरुद्ध लगानी चाहिए, फिर "नष्टे मूले नैव शाखा न पत्रम्"।

और तरहसे निराश हो सूर्यनारायणने बाइबलपर अधिकार प्राप्त किया और धनियोंके विरोधमें लिखे गए बाइबलके वाक्योंको लोगोंके सामने रखना शुरू किया। साल भरके परिश्रमके बाद मजूरोंमेंसे कुछ उनके साथ सहानुभूति रखने लगे। १६३७ का साल था। मजूरोंने दो नाप धानकी जगह ढाई नाप प्रतिदिनकी मजूरी माँगी। काम लेनेवाले मालिकोंने मजूरी बढ़ानेसे इनकार कर दिया। ५०० मजूर-मजूरिनोंने खेतोंमें काम करना छोड़ दिया। सूर्यनारायण और उनके साथियोंने आस-पासके गाँवोंमें भी जाकर मजूरोंको समझाया और आस-पासके १४ गाँवोंके मजूर-हड़तालमें शामिल हो गए। मालिकोंने दूसरे गाँवोंसे मजूर मँगाकर काम करनेकी कोशिश की, मगर सारा प्रयत्न बेकार गया। फ़सलका काम बिगड़ रहा था, आखिर जोताई, बोआई, कटाई सालके बारहों महीने तक तो चलती नहीं रहती, हफ़्ते दो हफ़्तेमें ही वहाँ सालभरका काम चौपट हो जाता है। तीन दिनोंकी हड़तालके बाद सुलह हुई और दो नापकी जगह ढाई नहीं तीन नापकी मजूरीपर। मजूरसंघपर अब मजूरोंकी पूरी आस्था हो गई। स्वर्गमें क्या मिलेगा, यह संदिग्ध बात थी; लेकिन मजूरीमें प्रतिदिन एक नाप बढ़ जाना उनकी आँखोंके सामने था। फिर वह अपनी शक्तिके संगठनके सबसे बड़े साधन मजूर-संघको क्यों न दिलसे प्यार करें।

पादरीने कम्युनिस्टोंके प्रभावको बढ़ते देख दूसरी धमकी दी और कहा कि यदि मजूर-संघको नहीं छोड़ते, तो हम ब्याह नहीं कराएँगे। उन्होंने समझा कि सबसे बड़े ब्रह्मास्त्रको चला दिया, अब मजूरोंकी अकल जरूर ठिकाने आएगी। लेकिन मजूरोंके पास कौनसी लाख-दो-लाखकी सम्पत्ति रक्खी थी, कि ब्याहके कानूनी न होनेसे दाय-भागमें बखेड़ा खड़ा होगा। उन्होंने कहा—जाने दो, हम गिरजामें ब्याह नहीं कराने जाएँगे, हमारा ब्याह हमारा मजूरसंघ करायेगा। फिर तो मजूरसंघके पंच ही पुरोहित बनने लगे। पंचोंके सामने ही वधू वरके गलेमें माला डाल देती और वर वधूके

गलेमें, सौभाग्य चिह्न--मंगलसूत्र डाल देता। पानभोजपर संघने निमन्त्रण किया और व्याहपर पाँच रुपयेसे अधिक खर्च करनेकी मनाही कर दी। मजूरसंघके संगठनमें आकर जैसे-जैसे वह अपनी शक्तिको बढ़ती देख रहे थे और जैसे ही जैसे कम्युनिस्टोंके प्रभावमें वे ज्यादा आते गए, वैसे ही वैसे उन्होंने अपनी जिम्मेदारी महसूस की। ताड़ी और सिगारकी फ़जूलखर्चीको बन्द किया। "रे, तू" गालीका प्रयोग छोड़ा। उनकी भाषा, परस्पर व्यवहार सभीमें परिवर्तन दिखाई देने लगे।

१९३७ का यही संघर्ष दावलूरके मजूर साथियोंका अन्तिम संघर्ष था, फिर किसीको उनका सामना करनेकी हिम्मत नहीं हुई।

अपनी संगठित शक्तिके बलपर सफल संघर्ष करके दावलूरके मजदूरोंका आत्म-विश्वास बढ़ा। सोवियतकी बातें वह बड़े चावसे सुनते थे। उनको विश्वास होने लगा कि सारे भारतके किसान-मजूर यदि संगठित होकर चाहें, तो यहाँ भी लाल झंडेकी विजय हो सकती है। पार्टी-कामरेड उनकी राजनीतिक वर्गचेतना को बढ़ानेकी पूरी कोशिश करते रहे। रात्रि-पाठशाला खोली गई। इन नए साम्यवादी मजूरोंकेलिए लज्जाकी बात थी कि वह अभी भी अँगूठेका निशान करें। पार्टीका साप्ताहिक पत्र आता तो उसे लोग बैठकर सुनते, जहाँ समझमें नहीं आता वहाँ कोई साथी समझाता। जीविकाकेलिए गाँवमें लोगोंकी मजूरी करनी पड़ती थी। वहाँ काम न रहनेपर सड़क बनानेका काम करते, और कभी-कभी कामकी खोजमें सौ मीलसे भी अधिक चलकर निजामराजमें चले जाते। बड़ी जातके हिन्दुओंके अत्याचारके मारे उन्होंने ईसाईधर्म स्वीकार किया था। रोटीकी लड़ाईकेलिए जब वह मजूर-संघके रूपमें संगठित हुये, तो पादरीने नास्तिक और पतित कहकर उनका विरोध शुरू किया, अब कम्युनिज्म ही उनके लिए सब कुछ था। उनकी रामायण और बाइबल कम्युनिज्मकी पुस्तक-पुस्तिकाएँ थीं। जब दिमागी उड़ान लेते तो सोवियतकी कल्पना करते। खाली वक्तमें थके-माँदे होनेपर जब किसी मनोरंजनकी जरूरत होती, तब पुराने गाने उनके लिये इतने रुचिकर न होते। अब उन्होंने सदियोंसे विकसित होते आये गाँवके संगीत और अभिनयको नया रूप देना शुरू किया। उनके भीतर अपने कवि पैदा हो गये, जिन्होंने अपनी बुर्र-कथाएँ बनाईं। ज्यादा शिक्षित और संस्कृत साथियोंने हाथ बँटाया और उन्होंने बहुतसी सामग्री पैदा की। गाँवसे बाहर काम करनेकेलिए जाते तो ढोल बाजा जरूर साथ जाता, लेकिन वह सिर्फ फ़ुरसतके समयकेलिए। दावलूरके मजूरोंको काम देकर मालिकोंको देख-भाल करनेकी कोई जरूरत नहीं थी। वह काममें जी चुरानेको पाप समझते थे। काम

करनेके वक़्तके कितने ही गाने उन्होंने बना लिए। कहाँ तो उनमें धर्मांधता इतनी थी, कि ईसाई-धर्मविरोधी समझकर साथियोंको मारनेकेलिए तैयार थे और कहाँ दावलूर (दारणग्राम) कम्युनिज़मका गढ़ बन गया।

१९४० में दावलूरमें मजूर कान्फरेन्स हुई, जिसमें पाँच हज़ार मजूर आए थे। साम्यवाद अब उनकी अपनी चीज़ थी। उसे समझानेकेलिए वह स्वयं नए-नए उदाहरण गढ़ते। पूँजीवादके अन्दर क्यों नही जनता पनप सकती और साम्यवादमें क्यों सब तरह रास्ता खुला होता है, इसके बारेमें एक मजूर दूसरे मजूरसे कह रहा था—देखते नही वृक्षके नीचे लगे हुए बाजरेको और वृक्षके दूरके बाजरेको, वृक्षकी छायाकी तरह पूँजीवाद आदमीको पनपने नहीं देता। मार्क्सवादका रास्ता छोड़ मजूरोंकेलिए दूसरा कोई रास्ता नहीं है, इसे समझाते हुए वह आपसमें कह रहे थे—भाई आहार जीवन-मरण है, बाजरेपर बैठा हुआ कौवा ढेला फेंकनेपर भी उसे छोड़ नही सकता, बालसे दाना लेना है, तो कौवेको बाजरा नहीं छोड़ना होगा। एक जगह उनका कुलक मालिक तलवेमें वेसलीन लगाकर वृक्षके नीचे सोया था, उसपर मक्खियाँ-चींटियाँ झुक रही थी। एकने दूसरेसे कहा—यह है पूँजीवादी समाजकी बरक्कत।

शामको तीन हज़ारसे ऊपर आदमी जमा हो गए और मुझे उनके सामने कुछ बोलना पड़ा। रातको संगीत-कलाका प्रदर्शन हुआ। सातसे बारह बरस तककी कई लड़कियोंने कई सुन्दर गान गाए, जिनका विषय था देशानुराग, बंगालका दुष्काल, आहार कमेटी, बंजर ज़मीन जोतना, सुन्दर-सुन्दर भूमिकी महिमा और प्राण देकर भी हम लाल झंडीकी रक्षा करेंगे। फिर कई अभिनय हुए। दो लड़कियोंमें एक अंधाभाई हो गई और दूसरी बहन, दोनों फटे चीथड़ेमें लिपटे हुए थे। बहन भाईको लाठी पकड़ाए रंगमंचपर लाई, फिर दोनोंने अन्नकष्ट और मुनाफ़ाखोरोंके लोभका बहुत ही करुणापूर्ण गाना गाते हुए भीख माँगनेका अभिनय किया। सूर्यनारायणकी बीवीने बेजवाड़ामें उदयाकी बुर्रकयामंडलीमें बहुत सफलतापूर्वक भाग लिया, और यहाँ सूर्यनारायणने स्वयं बहुत सुन्दर तौरसे बुर्रकथा कही। उनके चुटकुलोंसे लोग लोटपोट हो जाते थे। हिटलरैय्या पागल गीत भी बड़ा मनोरंजक था!

पार्टीने दावलूरके मजूरोंमें जो जीवनसंचार किया उसका स्पष्ट प्रभाव उनके हर काममें मिलता है। घंटय्या पार्टीमेम्बर हैं। उनके घरमें स्त्री और चार बच्चे हैं। जीविका मजूरी है; लेकिन हालमें उन्होंने अपना एक ईंटका मकान तैयार कर लिया, जिसमें कुल पचास रुपए लगे, और वह भी अधिकतर एक पुराने घरसे खरीदी लकड़ियोंपर

खर्च हुए। उन्होंने स्वयं ईंट तैयार की, दीवारें चिनी। हाँ, इस काममें दूसरे साथियोंने भी उनकी मदद की। उनके पास दो भैंसें और दो मुर्गियाँ हैं। मकान काफ़ी साफ़ है।

उस दिन सूर्यनारायणके घरमें एक छोटा-मोटा भोज हो गया, जिसमें पचीस-तीस साथी शामिल थे। अछूत ईसाईसे ब्राह्मण तक सभीने साथ दालभात खाया और कम्मा (क्षत्रिय) जूठी पत्तलें उठा रहे थे। जो क्रियात्मक भाईचारा कम्युनिस्ट दिखलाते हैं, उसे ईसाई पादरी भी करनेमें असमर्थ है, और साथ ही इसमें बड़ी जातवालोंका कोई एहसान नहीं।

(२) काटूर—काटूर कृष्णा जिलेमें बेजवाड़ासे बाईस मील पूरब अच्छा खासा गाँव है। मुसलीपटनम्की सड़कपर अठारह मील बससे जाकर हम उतर पड़े और चार मीलकी यात्राको बैलकी गाड़ीसे पूरा किया। काटूरमें चार हजार एकड़ जमीन है, जिसमें धान उड़द और मूँगकी खेती होती है। चप्पल, मिट्टीके बरतन, और कपड़ा बुनना, बढ़ई-सोनारका काम भी कितनोंहीकी जीविकाका साधन है! १५० परिवारोंके ५३०० व्यक्तियोंका अधिकतर गुजारा सिर्फ खेती ही है। ११५० घरोंमें, ५०० घरोंके पास कोई खेत नहीं है। चार सौ घरोंके पास पाँच एकड़से कम ही खेत हैं, और एक परिवारके साधारण खाने पहननेकेलिए पाँच एकड़ खेतकी जरूरत है। इस तरह काटूरके २५० परिवार ही अन्न और वस्त्रके अभावसे सुरक्षित हैं। गाँवके सबसे धनिक किसान (जमींदार नहीं क्योंकि यहाँ रैय्यतवारी बन्दोबस्त है) व्यंकट रामय्याके पास सवा सौ एकड़ खेत है। उनके बाद व्यंकटराय सौ एकड़के धनी हैं। तीस एकड़से ज्यादा खेतवाले आठ कम्मा परिवार हैं। बीससे तीस एकड़ तकके बीस कम्मा परिवार हैं, और दससे बीस एकड़ तकके पचास परिवार हैं तथा पाँचसे दस तकके साठ परिवार। बीस ब्राह्मण परिवारोंमें दसके पास पाँच एकड़से कम खेत हैं, और पाँच खेत-विहीन हैं और जिनकी जीविका पुरोहिताई, स्कूलमास्टरी, या दूसरी नौकरी है।

तीस राजूपरिवारोंमें बीसके पास पाँच एकड़से कम खेत हैं और पाँच परिवारोंका सहारा दूसरोंकेलिए काम करना है।

पाँचसौ कम्मा-परिवारोंमें पचास खेत-विहीन कमकर हैं और एक सौ पचास-के पास पाँच एकड़से कम खेत हैं।

कोमटी (बनिए) पन्द्रह परिवार हैं, [illegible] खेत हैं और दस गाँवके [illegible] भी दुकान [illegible] हैं।

दो सौ मादिका (चमार)-परिवार सभी खेत-विहीन मजूर हैं, जिनमेंसे बीस जूता नाते हैं।

चालीस माला (अछूत)-परिवारोंमें सभीके पास एकड़-आध एकड़ जमीन है, किन्तु ज्यादा सहारा मजूरी है।

तीस कुम्हार-परिवारोंके पास खेत न होनेपर भी बरतन बनाना उनका सहारा है। बीस साली (ततवा या कोरी) परिवारोंमेंसे दो-तीनके पास एक-दो एकड़ जमीन है। बाकीका कपड़ेकी बुनाईसे काम चलता है। बीस मंगली (नाई-ब्राह्मण) परिवारोंमें सबके पास थोड़ा बहुत खेत है, जिसमें एक (लक्ष्मी नरसु वैद्य) के पास तीस एकड़ भूमि है। बाकी अपना पेशा करते हैं। पचीस धोबी-परिवारोंकी जीविका साधन एकमात्र कपड़े धोना है। ६ कौसत (सोनार) परिवारोंके पास एकाध एकड़ जमीन है, उनको मुख्य जीविका सोनारी है। तीन हिन्दू बढई हल-फार बनाते हैं, और उनमेंसे एकके पास तीन एकड़ खेत भी है। दो मुसलमान बढ़ई-परिवारोंकी जीविका किसानोंकेलिए गाड़ी बनाना है। इनके अतिरिक्त हालमें कुछ कम्मातरुणोंने भी कुर्सी-मेज बनाना शुरू किया है। २५ परिकल परिवार खेत नहीं रखते। इनकी स्त्रियाँ देवताके सहारे भविष्य कथन करती हैं और पुरुष भूत झाड़ते हैं। साथ ही स्त्री-पुरुष दोनों हरिश्चन्द्र आदि नाटक खेल-कर लोगोंका मनोरंजन करते जिलेभरमें चक्कर काटते रहते हैं। तीस गोल्ला या यादव परिवारोंमें सबके पास पाँच एकड़से कम खेत हैं। यह भेड़-बकरी भी पालते हैं और मजूरी भी करते हैं। दस गमड़ा या कलाली (पासी) परिवार ताड़ी निकालने-का व्यवसाय करते है और उनके पास दोसे पाँच एकड़ तक खेत भी है। पच्चीस उप्परा (बेलदार) परिवारोमें पन्द्रह परिवार दोसे पाँच एकड़ खेत रखते हैं। मिट्टी खोदना, कुआँ बनाना इनका काम है। पन्द्रह कापू परिवार हैं, पाँच परिवारोंमेंसे सभीके पास पाँच एकड़से कम खेत है, किरायेपर गाड़ी चलाना इनका मुख्य काम है। दस कुप्पू वेलम बेखेतके मजूर हैं। पाँच एरिकुला (बसोर) सभी बेखेतके हैं, टोकरी और टट्टी बनाना उनका काम है। यह सुवर भी पालते है, जो ब्राह्मण, कोमटी और मुसलमान छोड़ सभीके भक्ष्य है। बीस मुसलमान परिवारोंकी जीविका एकमात्र मजूरी है। ६ सेट्टी बलिजी (कुंकुम) परिवार लवंग-मसाला बेचते फेरी करते हैं, इनमेंसे एकके पास सात एकड़ और बाकीके पास एकाध एकड़ खेत है। यह मजूरी नहीं करते। गाँवमें एक घर जंगम् शैव लोगोंका है, जो कपड़ेकी सिलाई करता है, इसके पास

खेत नहीं है। ६ परिवार सातानी (रामानुजी भगत)के हैं। सबके पास एक-दो एकड़ जमीन है, लेकिन मुख्य जीविका है धनुर्मासमें शिरपर मूर्ति और हाथमें तंबूरा लेकर भीख माँगना, जिससे दस बारह बोरा अनाज उन्हें आसानीसे मिल जाया करता था, किन्तु आजकल लोगोंकी श्रद्धा कम हो गई है।

काटूर आन्ध्रके मजूरसंघके सभापति का० गोपालैय्याकी जन्मभूमि है और यहांके ४५ पार्टी मेम्बरोंके अतिरिक्त १२ बाहरके जिलेमें काम करते हैं। कुछ धनी परिवारोंको छोड़कर सारा ही गाँव कम्युनिस्टोंके रास्तेपर चलता है और धनी लोग भी विरोध करनेकी हिम्मत नहीं रखते। इसका एक प्रत्यक्ष सबूत तो एक धनीके हाल हीमें बनवाये आलीशान पक्के मकानपर सीमेंटसे बना हँसुआ-हथौड़ाका अंकित चिन्ह है। यहांकी भिन्न-भिन्न संस्थाओंमें मेम्बरोंकी संख्या निम्न प्रकार है।—

रैयत संघम (किसान सभा)	४५०
महिलासंघम्	४०६ (१० पा० मे०)
बालसंघम्	२५०
वालंटियर	१८०
कुली (मजूर)संघम्	५००
युवजन (तरुण)संघम्	२००
कुट्टुपनिवाला (दर्जी)संघम्	२०

गाँवमें नाटक, कोलाट नाच, और गायनके अपने दल हैं। महिलासंघम्में छूत-अछूत, धनी-गरीब सभी घरोंकी स्त्रियाँ शामिल हैं। पहले धनिक परिवारोंमें पुरुषोंने इसका विरोध किया था, किन्तु स्त्रियाँ महिलासंघम्‌के उद्देश्यको समझने लगी और उन्होंने पुरुषोंके विरोधकी परवाह न की। उन्होंने खाना, कपड़ा, नमक, किरासनके दामपर नियंत्रणसे लेकर बहुविवाह-निषेध और स्त्री-उत्तराधिकार-विधान तकके लिए आंदोलन किया। इनमेंसे बहुत सी बेजवाड़ा सम्मेलनमें भी आयी थीं। महिलासंघम्‌की सभानेत्री पुण्यवती ५० सालकी एक उत्साही वृद्धा पार्टी मेम्बर और पाँचवें दर्जे तक तेलुगु पढ़ी हुई हैं। सेक्रेटरी द्रौपदी अब अपने पतिके साथ अवरंग खानके मजूरोंमें काम करने चली गई हैं। सहायक सेक्रेटरी राजेश्वरी (२५ वर्ष) १९३९से ही काम कर रही हैं। यह तेलुगुके अतिरिक्त हिन्दी भी जानती हैं। मुझे पहले बहुत विरोध करते थे और पतियोंका भी कुछ विरोध रहा है, लेकिन पार्टी मेम्बर होकर यह वर्षों इसकी परवाह करने लगीं। महिलासंघम्‌ने बहुतसे पतियोंकी

मार-गालीकी आदत छुड़ा दी। एक बार गाँवमें आग लगी, तो महिलासंघमूकी स्त्रियोंने आग बुझानेके काममें मदद की, जिसका बहुत प्रभाव पड़ा। दूसरी बार आग लगने पर संघके बाहरकी ४० औरतें तुरंत पहुँच गयीं, जिनमे कितनी पर्दे वाली भी थीं। सात महिलाओंने ए० आर० पी०की शिक्षा ली हैं। कितनी ही महिलाओंने पतिका विरोध रहते हुएभी पार्टीकी सहायता की। छ स्त्रियोंने अपने सौभाग्य-चिन्ह मंगलसूत्र तकको दान दे दिया। कुछ स्त्रियाँ पतिके विरोधके रहते भी "प्रजाशक्ति" (साप्ताहिक) मँगाकर पढ़ती हैं। विचारे विरोधी पति कम्युनिस्टोंके प्रचारसे परास्त हैं। नरसैया स्वयं अपठित हैं, मगर उनकी पत्नी वेंकटरत्नम्मा शिक्षित और पार्टीकी जबर्दस्त सहायक हैं। पत्नीके सामने अपनेको अकिंचन पाकर उन्हें झुँझुलाहट होती है, मगर पत्नी सिर्फ सभा करना और पढ़ाना ही नही जानती, बल्कि घरके कामोंमें भी बड़ी चौकस है। जिस वक्त पार्टी गैरकानूनी थी और कई साथियोंके ऊपर वारंट था, उस वक्त अपनेको जोखिममें डालकर कितनी ही स्त्रियोंने उन्हें शरण दी थी। उनमें एक वृद्धा है जिनको सभी साथी 'माई' कहते हैं। माई और उनके पति दोनों ही पार्टीके तरुणों पर अपार स्नेह रखते है।

गाँवमें घूमते घूमते हमने एक जगह लाल झंडा फहराता देखा। मालूम हुआ एक गोशाला पर बालसंघमूने दखल जमा लिया है। वहाँ दीवार पर भारत, एसिया और दुनियाके नक्शे टँगे हुए थे। गाँधी, जवाहर, स्तालिन, सुन्दरैय्या आदिके फोटोसे आफिसको सजाया गया था। एक ओर तोजो, हिटलर और मुसोलिनीके कार्टून थे। तोजोके पेटमें बाँस चुभा था और हिटलरके मुँहमें सिगार था। कोलाट (चौय धन्नाकी तरह दो लकड़ी बजाते हुए लड़कोंका नाच) की मंडली बालसंघमूने तैयार की है। उनके झंडे-पताके, जुलूस और नारे तो लगते ही रहते हैं। महिला प्रेसीडेंट सूर्य्यावतीकी २ लड़कियाँ और एक लड़का बालसंघमूमें है। बड़ा लड़का नागभूषण मुसिलपटनम् कालेजका द्वितीय वर्षका छात्र तथा विद्यार्थीसंघमूका उत्साही मेम्बर है। वह साम्यवादी भागवतमूका अच्छा अभिनेता है और वेजवाड़ा सम्मेलनके वक्त उसने एक नाटकमें तोजोका पार्ट लिया था। पुण्यावतीके पति वीरैय्या किसान सभाके अध्यक्ष हैं।

दावलूरमें खेत मजूर नेतृत्व करते हैं और काटूरमें किसान।

(२३ मार्च)अगले दिनके संवत्सरारम्भ (युगादि)के लिए तैयारी हो रही थी। घर और आँगन गोबरसे पोते और सफेद चूनेसे चौक पूरे गये थे। चौका पूरनेमें कई तरहके नमूने अंकित किये गये थे, जिनसे सुरुचिका

पता लगता था। रातको पार्टी-ऑफ़िसके सामने हज़ारसे ऊपर नर-नारी जमा हुए, जिसमें उनके कहनेपर मैंने सोवियतके अपने देखे कुछ दृश्योंका वर्णन किया।

आन्ध्रके सभी गाँव दावलूर और काटूर नहीं हो गये हैं, मगर ऐसोंकी संख्या सैकड़ों है और यह दिनपर दिन बढ़ती जा रही है। आन्ध्रके तरुण कोरी कल्पनाके जगतमें नहीं विचर रहे हैं, वे गम्भीरतापूर्वक अपने देशको बदल रहे हैं। बूढ़े राष्ट्रीय नेताओंमें कितने ही इस जागृतिको देखकर प्रसन्न हैं। उन्होंने जिस छोटे बिरवेको रोपा था, उनकी सन्तान बड़ी योग्यतासे उसे विशाल वृक्ष बना रही है। लेकिन ऐसे भी नेता हैं, जो इसे ईर्षाकी चीज़ समझते हैं।

६

केरलमें

भारतके सभी प्रान्तोंको एक या अनेक बार मैं देख चुका हूँ, मगर मलबार या केरल देखनेका अभी तक अवसर न मिला था। मलबार है भी एक कोनेमें। २७ मार्चको सवेरे मैंने मैसूरसे कालीकोट (कालीकट) जानेवाली मोटरबस पकड़ी। मैसूरसे कालीकोट १३२ मील है। इतना लम्बा सफर बससे तै करना आरामकी चीज़ तो नहीं है, पर आजकल रेलमें तो और भी आफत थी। हमारी बस सवेरे साढ़े सात बजे रवाना हुई। ज़मीन पहाड़ी है, यद्यपि पहाड़ चढ़नेकी बात चालीस-पैंतालीस मील चलनेके बाद आती है। तब पहाड़ और जंगल शुरू हो जाता है। ऊँचाईके कारण गर्मी भी नहीं मालूम होती। कितनी ही जगह हरिनियाँ छलाँग मारकर आगेसे निकल जातीं। मैसूरसे ५८वें मीलपर एक छोटासा पुल है, यही राज्यकी सीमा है। पुलसे १० गज पहले ही हमारी मोटर खड़ी हो गई। मैंने समझा मोटर बिगड़ गई है या यात्रियोंको यहाँ कुछ आराम करनेका मौक़ा दिया जा रहा है। लेकिन थोड़ी देर प्रतीक्षा करनेके बाद कालीकोटकी मोटर आ गई और सवारियाँ एकसे दूसरेमें बदल दी गईं। साढ़े १२ बजे हम रवाना हुए। आगे घोर जंगल था। कहीं-कहीं टोडा लोगोंके झोपड़े थे। ये लोग अब कुछ अधिक कपड़ेका व्यवहार करने लगे हैं, उनकी स्त्रियोंको कमरसे नीचे ही कपड़े पहने देखकर समझा अभी दिल्ली दूर है। मलबारके गाँवमें चलनेपर मालूम हुआ, कि

सदा पसीना बहानेवाले इस प्रान्तमें सारे शरीरको ढाँकना झूठी शौक़ीनी है। मलवारमें कुछ नवशिक्षित स्त्रियोंको छोड़कर सभी स्त्रियाँ कटिसे ऊपर वस्त्र लेनेकी जरूरत नहीं समझतीं—हाँ, मुसलमान स्त्रियाँ इसका अपवाद है।

हम वैनाड तालुक़ामें जा रहे हैं, जो कि प्लेग और मलेरियाका घर है। चायके बग़ीचोंके बाद रबरके बग़ीचे लगातार मिलते गये। दोनों ही बड़े फ़ायदेकी चीजें हैं, लेकिन फ़ायदा तो सारा मुट्ठीभर धनियोंके जेबमें जाता है, बाक़ी लोग तो खून पसीना एककर काम करने और भूखा मरनेकेलिए है। भारतके सभी भागोंमें एक गाँवके सारे लोग अपना घर एक जगह बनाते हैं। मगर मलवारमें सभी घर दूर-दूर बिखरे होते हैं। शायद इस प्रान्तमें अनादि कालसे चोरों-लुटेरोंका उतना डर नहीं रहा, 'ग्राम' (झुंड) बसानेकी जरूरत नहीं पड़ी। हाँ, बीचमें कुछ बाजार मिले, जहाँ दुकानें पाँतीसे एक जगह बनी हुई थी। पन्द्रह-बीस मील पहिले हीसे पहाड़ और उपत्यका, नारियल और सुपारीके वृक्षोंसे ढँकी मिलने लगी। बीच-बीचमें धानके खेत भी थे। लंकाका दृश्य याद आ रहा था।

हमारी बस कालीकोटमें एक जगह जाकर रुक गई। मालूम हुआ आज गवर्नर साहब आये हैं, जिनकेलिए सड़कको रोक दिया गया था। घंटों जब गाड़ियोंको रोक दिया जाय, तो भीड़का क्या कहना? सभी मुसाफिर उकता रहे थे। एक आदमीकेलिए हजारों आदमियोंको परेशान करना—यह आश्चर्यकी बात जरूर है, किन्तु आजका समाज तो इसी व्यवस्थाको मानकर चल रहा है। शासक जनताके सुभीतेकेलिए नहीं है, बल्कि जनता शासककी सुभीतेकेलिए है। शासकको जनता-की कठिनाईसे क्या मतलब, वह तो चाहता ही है, कि जनता खूब परेशान हो और शासकका उसपर रोब छा जाय। आखिर क्यों एक गवर्नरको इतना महत्व देना चाहिए, कि सारा ट्राफ़िक रुक जाय और लोग घंटों धूपमें सड़कोंपर खड़े होनेकेलिए मजबूर हों। यदि किसी शासकको जानका खतरा हो, तो उसे अपने भक्तोंको शहरसे बाहर बुला लेना चाहिए। भक्त अपने भगवानके पास सूने जंगलमें भी पहुँच सकते हैं। उससे भी आसान यह था कि गवर्नर साहबकी सवारीके दो सौ गज आगे-आगे मोटर सायकलवाला शरीर-रक्षक चलता और उसकी सीटीपर पुलिस रास्ता बन्द करती, इससे लोगोंकी परेशानी पाँच-दस मिनट ही तक रह जाती। लेकिन अभी शायद अंग्रेज प्रभुओंको लोगोंको परेशान करके उनपर रोब जमानेके सिवा कोई रास्ता नहीं मिलता था। वह अभी पुरानी दुनियामें घूम रहे थे, जो संसारसे बड़ी तेजीसे लुप्त होती जा रही है।

रिक्शा लेकर चक्कर काटके किसी तरह मैं अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचा।

आन्ध्रकी तरह मलबार भी कई टुकड़ोंमें बँटा है। सवा करोड़की आबादीमें साठ लाख ट्रावनकोर रियासतमें और अठारह लाख आदमी कोचीनमें बसते हैं। चालीस लाख बृटिश भारतमें बसते हैं जिनका शासन केन्द्र पालीघाट है। कुछ लाख मलबारी दक्षिण, कनारा और दूसरे पार्श्ववर्ती जिलोंमें बिखरे हुए हैं।

मार्चके अन्तमें ही मलबारमें गर्मी ज्यादा मालूम हो रही थी, लेकिन यहाँ तो गर्मी और बरसात छोड़कर तीसरा मौसम होता ही नहीं। जिन मासोंमें पसीना कुछ कम हो जाता है, उन्हें ही यहाँवाले जाड़ा कहते हैं। आन्ध्रकी तरह मलबारमें भी ब्राह्मण छोड़कर बाक़ी सभी हिन्दू, मुसलमान, ईसाईका एक रोटी-पानी है, इसलिए रेलके स्टेशनोंपर हिन्दू पानी और मुसलमान पानीकी जरूरत नहीं है और ब्राह्मणके होटलोंको छोड़कर बाक़ी सभी होटलोंमें सभी खाना खा सकते हैं। पता लगानेपर तो मालूम हुआ कि मलयालम भाषामें अभी तक कोई फ़िल्म नहीं बना है। एक रात एक फ़िल्म देखने गया। देखा हॉल भरा है। मेरे दोस्तने बतलाया कि दर्शकोंमें दस सैकड़ेसे अधिक ऐसे नहीं हैं, जो हिन्दी समझते है। तामिल भाषा मलयालमसे बहुत नजदीक है—मलयालममें संस्कृत शब्दोंकी भरमार है और तमिलमें उसका अभाव, लेकिन मूल ढाँचा दोनों भाषाओंका एक है, जिससे तमिल समझना मलयालियोंकेलिए बहुत आसान है। तमिल फ़िल्म भी आते हैं, मगर उनकेलिए दर्शकोंकी उतनी भीड़ नहीं होती। यही क्या, कर्नाटक, तमिलनाड और आन्ध्रमें अपनी भाषाओंके फ़िल्म बनते हैं, तो भी लोग अपनी भाषाके फ़िल्मोंसे हिन्दी भाषाके फ़िल्मोंको अधिक पसन्द करते हैं, यद्यपि भाषा समझना उनकेलिए मुश्किल है। कारण पूछनेपर साथियोंने बतलाया, कि हिन्दी फ़िल्मोंमें अभिनय बहुत अच्छा होता है। किसीने कहा हिन्दी फ़िल्मोंके तारक-तारकायें बहुत सुन्दर होते हैं। किन्हींका कहना था कि उनका संगीत बहुत मधुर होता है। शायद तीनों ही बातें आकर्षणका कारण होंगी। दक्षिणी संगीत (कर्नाटक संगीत)ने अपने ऊपर हरिदास और तानसेनके संस्कारोंकी छींट तक नहीं पड़ने दी। दक्षिण आज तक अभिमान करता रहा कि हम शुद्ध, प्राचीन कर्नाटक संगीतके धनी हैं। सोलहवीं सदीमें जो नवीन संगीत-प्रवाह हिमालय तकको डुबाता हुआ सतपुड़ा और सह्याद्रिके पहाड़ोंमें आकर रुद्ध हो गया था आज वह दक्षिण को बहा ले जा रहा है। दक्षिणके सनातनी संगीतशास्त्री और उस्ताद बहुत नाक-भौं सिकोड़ रहे हैं। तमिल, तेलगु, कन्नड़ फ़िल्मोंमें उनके संगीतकी धाक पैदा करने

बहुत विरोध करते हैं, किन्तु इन शुद्ध आत्माओंका सारा प्रयत्न निष्फल जा रहा है, यह किसी भी दक्षिणी फिल्मको देखकर आप सहज ही समझ सकते हैं। बल्कि फ़िल्म देखनेकी जरूरत नहीं, रेलमें चलते-चलते गाकर भीख माँगते लड़के ही बतलायेंगे, कि हवाका रुख क्या है। सारा भारत संगीतके द्वारा अब एक भाषा बोल रहा है। फ़िल्मोंने संगीत और अभिनयमें ही एकता नहीं स्थापित की है, बल्कि वेष-भूषापर उसका भारी प्रभाव पड़ रहा है। किसी समय स्त्रियोंके वेषसे उनके प्रान्तका जानना आसान था, लेकिन अब शिक्षिता महिलाओंमें वह बड़ी तेज़ीसे लुप्त होता जा रहा है। पंजाब उ० प्र० बिहार, मध्यप्रदेश, बगाल और गुजरातमें साडीके-लिए अपना राज्य क़ायम करना आसान था, मगर दक्षिणकी स्त्रियाँ तीस-तीस हाथकी साड़ी न जाने कैसे तीन हाथके शरीरमें लपेटती थीं। अब वह भी ३० हाथकी जगह १० हाथपर आ रही हैं। इसमें युद्ध और मँहगाई कारण नहीं है, इसका कारण है वह सौन्दर्य, जिसे हिन्दी फ़िल्मकी तारिकाओंने अपनी साड़ीद्वारा प्रदान किया। पुरुषोंकी पोशाकपर भी प्रभाव पड़ा है, लेकिन स्त्रियोंकी अपेक्षा कम—क्या पुरुष ज्यादा रूढ़िवादी हैं? और आभूषण? मुझे हिन्दी फ़िल्मोंसे हमेशा शिकायत रही है, कि उनमें कोई स्थानीय रंग नहीं होता, घटनायें मानो हिन्दी-भाषा-भाषी किसी प्रान्त, गाँव और शहरमें नहीं बल्कि आसमान या फिल्म उत्पादकके मत्थेमें हो रही हैं। मगर इस बातकेलिए मैं उनको जरूर धन्यवाद दूँगा, कि उन्होंने पूर्वी यू० पी०के काँप (कर्णफूल) और झुमकेको हिमालयसे राजकुमारी तक फैला दिया। चाँदीका यह छटाँक-दो-छटाँकका आभूषण, जिसे मैं कभी फूल नहीं समझता था, अब वस्तुतः फूल हो गया है। फिल्म-तारिकाओंके हाथमें कुछ जादू जरूर है, लेकिन कहीं वे नाकके आभूषणोंको भी न सर्वप्रिय बनाने लगें? मलबारकी स्त्रियोंने कानोंके आभूषणकी तो दुर्गत बना दी थी। एक रुपयेके बराबर गोल सोने या चाँदीकी गुल्ली (गड़ारी)को उन्हे कानमें डालना पड़ता था, जिसकेलिए उन्हें कानोंके छेदोंको इतना बढ़ाना पड़ता था कि आभूषण पहनते वक़्त उसपर चमड़ेकी एक पतली रेखा घेर देती थी, मगर आभूषण निकाल देनेपर वह मोटे डोरे छीछड़ेसे लटकते रहते थे।

पहिले राष्ट्रीयताके ख्यालसे दूसरे प्रान्तोंमें यात्रा करनेवाले लोगोंको हिन्दी समझनेकी जरूरत पड़ती थी, लेकिन अब हिन्दी फ़िल्मोंके आकर्षणने बहुत भारी संख्याको हिन्दी पढनेकी प्रेरणा दी है। मैंने सिनेमाघरोंमें विज्ञापन दिखाये जाते देखे, जिनमें लिखा था—छुट्टियोंमें हिन्दी सीख लो।

१—मलबारके एक गाँवमें

करिवेल्लूर मलबार जिलेके सीमान्तका गाँव है। यद्यपि सरकारी दफ्तरोंके अनुसार यहीं केरल समाप्त होता है, मगर पड़ोसी दक्षिणी कन्नड़के पासवाले तालुकेमें सत्तर फ़ीसदी तक मलयाली लोग बसते हैं, इसलिए केरलकी सीमा अभी पचीसों मील उत्तर है। कोलीकोटसे रेलद्वारा ४ घंटा चलकर हम चरवत्तूर स्टेशनपर पहुँचे। करिवेल्लूर गाँव स्टेशनसे चार मील है। जमीन सारी पहाड़ी और ऊँची-नीची है, पहाड़ियाँ इतनी छोटी-छोटी हैं, कि वह पोखरोंके बड़े-बड़े भीटोंसी जान पड़ती हैं। सबसे नीचेकी जमीन धानके खेत हैं और ऊँचाईमें नारियलका बाग़, जिसमें कहीं-कहीं काजू, केले और कटहलके पेड़ भी लगाये गये हैं। लोगोंके घर दूर-दूर अपने-अपने बाग़ोंमें होते हैं, जिनके पास जमीन नहीं है वे किसी दूसरेके बाग़में रहते हैं। करिवेल्लूरके ११३० परिवारों (जनसंख्या ५,२००)मेंसे सिर्फ़ ४०० परिवारोंके पास अपना खेत है। करिवेल्लूर किसानोंका लाल गाँव है। यहाँकी किसानसभाके ६६२ मेम्बर हैं, महिला संघमके २००, बालसंघम्‌के ३००। ५३ पार्टी मेम्बर हैं, जिनमेंसे तीन सारा समय जनसेवामें लगाते हैं। पार्टी-मेम्बरोंमें व्यवसायके ख्यालसे २६ किसान ८ मजदूर, १२ शिक्षक, ५ दुकानदार और २ पुरोहित हैं। जातिके देखनेपर २ ब्राह्मण, ४ उनितिरी (क्षत्री), दो कोंकणी ब्राह्मण, बारह नायर (पोदुवाल), दो मुसलमान, सात मनियाणी, १४ थीया (कलाल), एक नानदिया (हज्जाम), एक वाणियाँ, सात चालिया (पटकार) और एक वर्णन्।

गाँवमें सबसे अधिक संख्या थीया (कलाल) लोगोंकी है, जिनके ३०० परिवार हैं। १०० परिवारोंके पास आधा एकड़से १५ एकड़ तक जमीन है, लेकिन १०से अधिक एकड़वाले परिवार सिर्फ़ १५ हैं, ५से १० एकड़वाले २० परिवार। ८ व्यक्तियोंके परिवारकेलिए ५ एकड़ खेती या बग़ीचा चाहिए। नारियलके १ एकड़में ८० वृक्ष होते हैं और १ वृक्षसे आमतौर सालमें डेढ़-दो रुपये मिल जाते हैं। थीया लोगोंकी सबसे अधिक संख्या (२०० परिवार)के पास कोई खेत नहीं। वह या तो मजूरी करते हैं या ताड़ी निकालने बेचनेका काम करते हैं। ताड़ी अधिकतर नारियलसे निकाली जाती है। ताड़ीके स्वादका तो मुझे पता नहीं, मगर ताड़ीका गुड़ मीठा-मीठा खानेमें बहुत अच्छा लगता है।

नायर-परिवारोंकी संख्या दो सौ है, जिनमें ५०को छोड़कर सभीके पास कुछ खेत हैं। पाँच परिवार १५ एकड़से अधिकवाले हैं, जिन्हें अभी किसान कहना

चाहिए, १५ परिवार १० और १५के बीचवाले हैं और ३० पाँचसे दसवाले। ५० बेज़मीनवाले परिवार मजूरी करके गुज़ारा करते हैं।

१५० वाणियाँ (तेली) परिवारोंमें सिर्फ़ ५०के पास जमीन है, जिनमेंसे दो परिवार १५से अधिक एकड़वाले हैं और पाँच १०से १५ एकड़वाले। बाकियोंके पास ५ एकड़से कम जमीन है। बिना खेतवाले सौ परिवारोंमें बहुत थोड़ेसे तेल निकालनेका काम करते हैं, बाक़ी सबकी जीविका मजूरी है।

चलिया १२० परिवार है, जिनमें ३ परिवारोंके पास खेत हैं और दो परिवारोंके पास तो १० एकड़से ज्यादा है। अधिकांश लोग मजूरी करते हैं। कितने घर कताई-बुनाईसे भी गुज़ारा करते हैं। बुननेकी मजूरी ५ आना गज़ है, लेकिन ५ गज़की धोतीमें ३ दिन लगते हैं—एक दिन ताना करना और दो दिन बुनना, इस प्रकार वह आठ आना रोज हो तक कमा सकते हैं। कातनेवाली स्त्रियाँ आजकल ४ आने रोज़ तक कमा सकती हैं, मगर कपास ही पूरा नहीं मिलता, और एक घरमें तो मैंने ४ कातनेवालियोंमें २ चर्खे देखे।

नम्बूतिरी ब्राह्मण—मलबारका यह वस्तुतः भूदेववंश है। जबसे उनका चरण मलबारमें आया (यह दो सहस्राब्दियोंसे पहिलेकी बात हो गई) तबसे इनकेलिए मलबार देवलोक रहा। इन्हें हाथसे काम करनेकी कभी ज़रूरत नहीं पड़ी। धर्मशास्त्रका नाना-बिगाड़ना अपने हाथमें था, इसलिए इन्होंने अपने और अपनी सन्तानोंके सबकेलिए पूरा प्रबन्ध किया। जिस वक़्त ये लोग केरलमें पहुँचे थे, शायद उस वक़्त मातृसत्ताका ही यहाँ रवाज था। दूसरे देशोंकी भाँति यहाँके भी समाजमें परिवर्तन हुआ होगा, पर ब्राह्मणोंने १९३३-३४ तक उसे अचल बनाये रक्खा। क्षत्रियवंश, तिरुअप्पाड़, उनीतिरि और नायर जैसी उच्च और सम्पत्तिशाली जातियोंमें हाल तक यही क़ानून रहा है, कि घरकी सम्पत्तिकी मालकिन पुत्री होगी, और पुत्र-बहनके आज्ञाकारी बने रहनेपर खाना-कपड़ा पा सकते हैं। ब्राह्मणोंने जहाँ बाकी जातियोंकेलिए मातृसत्ताका इतना कठोर नियम रक्खा, वहाँ अपनी जातिसे मातृसत्ताको छूने भी नहीं दिया। सारे दक्षिणमें जहाँ स्त्रियाँ पर्दा नहीं करतीं, वहाँ नम्बूतिरी स्त्रियोंके कठोर पर्देके सामने उत्तरी भारतका पर्दा भी झूठा है। घरके भीतर वे अपने देवर तकके सामने नहीं हो सकतीं। सन्तान जिसमें बढ़कर धनहीन न हो जाय, इसकेलिए नम्बूतिरियोंने ज्येष्ठ-उत्तराधिकारका नियम बनाया, जिसके अनुसार पिताकी सम्पत्तिका मालिक सिर्फ बड़ा लड़का ही हो सकता है। छोटे लड़के न बापकी सम्पत्तिमेंसे कुछ पा सकते थे, न अपनी जातिकी कन्याओंसे ब्याह कर सकते थे। कहना

१—मलबारके एक गाँवमें

करिवेल्लूर मलवार ज़िलेके सीमान्तका गाँव है। यद्यपि सरकारी व्यवस्थाके अनुसार यहीं केरल समाप्त होता है, मगर पड़ोसी दक्षिणी कन्नडके पासवाले तालुकेमें सत्तर फ़ीसदी तक मलयाली लोग बसते हैं, इसलिए केरलकी सीमा अभी पचीसों मील उत्तर है। कोलीकोटसे रेलद्वारा ४ घंटा चलकर हम चरवत्तूर स्टेशनपर पहुँचे। करिवेल्लूर गाँव स्टेशनसे चार मील है। ज़मीन सारी पहाड़ी और ऊँची-नीची है, पहाड़ियाँ इतनी छोटी-छोटी हैं, कि वह पोखरोंके बड़े-बड़े भीटोंसी जान पड़ती हैं। सबसे नीचेकी जमीन धानके खेत हैं और ऊँचासमें नारियलका बाग़, जिसमें कहीं-कहीं काजू, केले और कटहलके पेड़ भी लगाये गये हैं। लोगोंके घर दूर-दूर अपने-अपने बागोंमें होते हैं, जिनके पास जमीन नहीं है वे किसी दूसरेके बाग़में रहते हैं। करिवेल्लूरके ११३० परिवारों (जनसंख्या ५२००)मेंसे सिर्फ़ ४०० परिवारोंके पास अपना खेत है। करिवेल्लूर किसानोंका लाल गाँव है। यहाँकी किसानसभाके ६६३ मेम्बर हैं, महिला संघमके २००, वालसंघमके ३००। ५३ पार्टी मेम्बर हैं, जिनमेंसे तीन सारा समय जनसेवामें लगाते हैं। पार्टी-मेम्बरोंमें व्यवसायके ख़यालसे २६ किसान ८ मजदूर, १२ शिक्षक, ५ दुकानदार और २ पुरोहित हैं। जातिसे देखनेपर २ ब्राह्मण, ४ उनितिरी (क्षत्री), दो कोंकणी ब्राह्मण, बारह नायर (पोदुवल), दो मुसलमान, सात मनियाणी, १४ थीया (कलाल), एक नानदिया (हजाम), एक वाणियाँ, सात चालिया (पटकार) और एक वर्णन्।

गाँवमें सबसे अधिक संख्या थीया (कलाल) लोगोंकी है, जिनके ३०० परिवार हैं। १०० परिवारोंके पास आधा एकड़से १५ एकड़ तक जमीन है, लेकिन १०से अधिक एकड़वाले परिवार सिर्फ़ १५ हैं, ५से १० एकड़वाले २० परिवार। ८ व्यक्तियोंके परिवारकेलिए ५ एकड़ खेती या बग़ीचा चाहिए। नारियलके १ एकड़में ८० वृक्ष होते हैं और १ वृक्षसे आजकल सालमें डेढ़-दो रुपये मिल जाते हैं। थीया लोगोंकी सबसे अधिक संख्या (२०० परिवार)के पास कोई खेत नहीं। वह या तो मजूरी करते हैं या ताड़ी निकालने बेंचनेका काम करते हैं। ताड़ी अधिकतर नारियलसे निकाली जाती है। ताड़ीके स्वादका तो मुझे पता नहीं, मगर ताड़ीका गुड़ गोंधा-सोंधा खानेमें बहुत अच्छा लगता है।

नायर-परिवारोंकी संख्या दो सौ है, जिनमें ५०को छोड़कर सभीके पास कुछ न कुछ खेत हैं। पाँच परिवार १५ एकड़से अधिकवाले हैं, जिन्हें धनी किसान कहना

चाहिए, १५ परिवार १० और १५के बीचवाले हैं और ३० पाँचसे दसवाले। ५० बेजमीनवाले परिवार मजूरी करके गुजारा करते हैं।

१५० वाणियाँ (तेली) परिवारोंमें सिर्फ ५०के पास जमीन है, जिनमेंसे दो परिवार १५से अधिक एकड़वाले हैं और पाँच १०से १५ एकड़वाले। बाक़ियोंके पास ५ एकड़से कम जमीन है। बिना खेतवाले सौ परिवारोंमें बहुत थोड़ेसे तेल निकालनेका काम करते हैं, बाक़ी सबकी जीविका मजूरी है।

चलिया १२० परिवार हैं, जिनमें ३ परिवारोंके पास खेत हैं और दो परिवारोंके पास तो १० एकड़से ज्यादा है। अधिकांश लोग मजूरी करते हैं। कितने घर कताई-बुनाईसे भी गुजारा करते हैं। बुननेकी मजूरी ५ आना गज है, लेकिन ५ गजकी धोतीमें ३ दिन लगते हैं—एक दिन ताना करना और दो दिन बुनना, इस प्रकार वह आठ आना रोज हो तक कमा सकते हैं। कातनेवाली स्त्रियाँ आजकल ४ आने रोज तक कमा सकती हैं, मगर कपास ही पूरा नहीं मिलता, और एक घरमें तो मैंने ४ कातनेवालियोंमें २ चर्खे देखे।

नम्बूतिरी ब्राह्मण—मलबारका यह वस्तुतः भूदेववश है। जबसे उनका चरण मलबारमें आया (यह दो सहस्राब्दियोंसे पहिलेकी बात हो गई) तबसे इनकेलिए मलबार देवलोक रहा। इन्हें हाथसे काम करनेकी कभी जरूरत नहीं पड़ी। धर्मशास्त्रका बनाना-बिगाड़ना अपने हाथमें था, इसलिए इन्होंने अपने और अपनी सन्तानोंके सुखकेलिए पूरा प्रबन्ध किया। जिस वक़्त ये लोग केरलमें पहुँचे थे, शायद उस वक़्त मातृसत्ताका ही यहाँ रवाज था। दूसरे दोषोंकी भाँति यहाँके भी समाजमें परिवर्तन हुआ होगा, पर ब्राह्मणोंने १९३३-३४ तक उसे अचल बनाये रक्खा। राज्यवंश, तिरुअप्पाड़, उनीतिरी और नायर जैसी उच्च और सम्पत्तिशाली जातियोंमें हाल तक यही कानून रहा है, कि घरकी सम्पत्तिकी मालकिन पुत्री होगी, और पुत्र बहनके आज्ञाकारी बने रहनेपर खाना-कपड़ा पा सकते हैं। ब्राह्मणोंने जहाँ बाक़ी जातियोंकेलिए मातृसत्ताका इतना कठोर नियम रक्खा, वहाँ अपनी जातिसे मातृसत्ताको छूने भी नहीं दिया। सारे दक्षिणमें जहाँ स्त्रियाँ पर्दा नहीं करतीं, वहाँ नम्बूतिरी स्त्रियोंके कठोर पर्देके सामने उत्तरी भारतका पर्दा भी झूठा है। घरके भीतर वे अपने देवर तकके सामने नहीं हो सकतीं। सन्तान जिसमें बढ़कर धनहीन न हो जाय, इसकेलिए नम्बूतिरियोंने जेष्ठ-उत्तराधिकारका नियम बनाया, जिसके अनुसार पिताकी सम्पत्तिका मालिक सिर्फ़ बड़ा लड़का ही हो सकता है। छोटे लड़के न बापकी सम्पत्तिमेंसे कुछ पा सकते थे, न अपनी जातिकी कन्याओंसे ब्याह कर सकते थे। कहना

पड़ रहा है कि १९३३-३४के क़ानूनने अब छोटे भाइयोंको भी अधिकार दे दिये हैं। लेकिन, उनका यह सम्पत्ति और स्त्रीसे वंचित होना दुर्वासाकी तपस्याकेलिए नहीं था। छोटे लड़के राजवंश, तिरुअम्पड़, उनितिरी और नायर इन चार जातियोंकी कन्याओंमेंसे अपने लिए स्त्री ढूंढ़ सकते थे—पत्नी नहीं, क्योंकि नम्बूतिरि पुरुष उसके हाथका रोटी-पानी तो क्या ग्रहण करता, छूनेके बाद उसे वस्त्र-सहित स्नान करना पड़ता, और उसकी सन्तान ब्राह्मण नहीं राजवंशी, तिरुअवप्पाड, उनितिरी या नायर होती, अपनी माताकी सम्पत्तिकी अधिकारी होती यदि वह लड़की हो। हिन्दुस्तानके दूसरे प्रान्तोंमें शंकराचार्यके वंशकी इस प्रथाको सुनकर लोग आश्चर्य करेंगे, और कहेंगे कि उक्त चारों जातियोंने इस प्रथाको अपने आत्मसम्मानके बिलकुल विरुद्ध समझकर विरोध क्यों नहीं किया। आखिर किसी कुल-कन्याको बिना किसी जिम्मेवारी और सन्तानको पितृगोत्रका अधिकार दिये बिना ब्याहना उसे रखेली-सा बनाके रखना नहीं है तो क्या है? लेकिन बीसवीं शताब्दीके प्रथम पाद तक मलबारकी ये जातियां इसे अभिमानकी बात समझती थीं, कि उनकी लड़कीका सम्बन्ध किसी नम्बूतिरीसे है। आज भी कोचीन-राज्यकी गद्दीपर ब्राह्मणका ही पुत्र बैठता है, हां, वमके नामसे। केरलमें ब्राह्मणोंने क्षत्रियत्वकी एक नई परिभाषा ही गढ़ डाली है—राजवंशी नायर कन्यामें ब्राह्मणसे उत्पन्न हुआ पुत्र क्षत्रिय है, कोचीन राजाकी अपनी सन्तानें सिर्फ़ मेनन (नायर) होती हैं, और पत्नी सिर्फ पत्नी। रानी होगी वहन जो किसी ब्राह्मणकी पुत्री है, और किसी ब्राह्मण हीकी स्त्री तथा जिसका पुत्र गद्दीपर बैठा है। आम तौरसे कोचीनमें किसी मांको रानी बननेका मौका नहीं मिलता, क्योंकि राजवंशकी बहनों, भांजियों और भांजी-पुत्रियोंके सभी लड़के आयुके अनुसार कोचीनकी गद्दीपर बैठनेका अधिकार रखते हैं। ऐसे उत्तराधिकारियोंकी संख्या ३००के क़रीब है और ६०, ६५ वर्षकी उमरसे पहिले गद्दीपर बैठनेका अवसर शायद ही किसीको मिलता हो। हां, तो ये सारे उत्तराधिकारी ब्राह्मण-पुत्र हैं, किन्तु ब्राह्मण नहीं हैं। नम्बूतिरी छोटे पुत्रोंकेलिए यह व्यवस्था नुकसानकी नहीं है, आर्थिक दृष्टिसे और निरंकुश जीवनकी दृष्टिसे भी।

आजकल यद्यपि शिक्षित नायर इसे पसन्द नहीं करते, किन्तु ऐसे विवाह अब भी होते हैं। नये क़ानूनने एक सुभीता भी कर दिया है—नम्बूतिरि बापकी सम्पत्तिमें उसके अब्राह्मणी-पुत्रका भी अधिकार है। आज भी ऐसे सम्बन्ध क्यों होते हैं, पूछनेपर एक उन्नितिरी तरुणने बतलाया कि अभी भी उनका प्रभाव बहुत है। उन्नितिरी जातिमें भी एक विचित्र प्रथा है। यदि कन्याको किसी नम्बूतिरी (ब्राह्मण) ने

अपनी स्त्री बनाया, तो ठीक ही है, नहीं तो उसका व्याह सीधे दूसरे उन्नितिरी घरमें नहीं हो सकता, उसे पहिले अपनी जातिसे ऊपर तिरुअप्पाड जातिके किसी पुरुषसे ४ दिनकेलिए व्याह करना होगा। व्याह सयानी लडकियोंका होता है और वह चार दिन-रात एक कोठरीमें उस पुरुषके साथ रहती है। फिर तिरुअप्पाड़ नजर-भेंट लेकर चला जाता है और अब उस कन्याका व्याह किसी उन्नतिरीसे किया जा सकता। सौभाग्य या दुर्भाग्य यही है कि तिरुअप्पाड़-परिवार बहुत थोड़े हैं और उन्हें दूर-दूर तक ऐसे सम्बन्धोंकेलिए जाना पड़ता है, जिसके कारण अधिकतर बूढ़े तिरुअप्पाड़ ही रसम अदाकेलिए आते हैं। मैंने अपने उन्नितिरी दोस्तसे पूछा कि इस प्रथाको उठा क्यों नहीं देते ? उत्तर मिला---बूढे विरोध करेंगे, और उनसे भी ज्यादा नम्बूतिरी। नम्बूतिरी ? उनका सीधे नुकसान तो नही है मगर एक ईंट खिसकानेसे सारी इमारतके खसक पड़नेके डर मालूम पड़ता है। उसी गाँवमें दो उन्नितिरी बहनें दो नम्बूतिरियोंकी स्त्रियाँ थीं। उनके पिता-माता-भाई कोई नही था, और न घर छोड़ कोई जायदाद। एक नम्बूतिरी तो अपने स्त्री और बच्चोंकेलिए कुछ देता रहता था, लेकिन दूसरेने पीछे अपनी जातमें भी व्याह कर लिया। उसके पास जायदाद भी थी, मगर वह अपनी उन्नितिरी स्त्री और बच्चोंकी कुछ भी खोज-खबर नहीं लेता था। गाँवके तरुण इसे बहुत बुरा समझ रहे थे और वह ग़ैर-जिम्मेवार नम्बूतिरी बापको रास्तेपर लानेकी सोच रहे थे।

करिवेल्लूरमें ५० नम्बूतिरी-परिवार हैं, जिनमें १५ छोटे-मोटे जमींदार (जनमी) हैं। दो खेती कराके गुजारा करते हैं। बाक़ी पूजापाठ करते हैं या ब्राह्मणोंकेलिए जगह-जगह स्थापित अन्नछत्रोंमें घूमनेवाले हैं। अब घरकी सम्पत्तिके बँटनेके कारण उनका आर्थिक तल गिरता जा रहा है। कहाँ २५ एकड़ खेत पीढ़ियों तककेलिए अखंड मिला था, और कहाँ वह बँटते-बँटते दूसरी पीढ़ीमें चार-चार पाँच-पाँच एकड़ भर रह जाता है। यहाँके नम्बूतिरी तरुण होटल और दुकानदारीके तरफ़ भी बढ़े हैं।

गाँवमें ४६ परिवार मुसलमानोंके भी हैं, जिनमें चारके पास खेत है (२के पास १५ एकड़से अधिक और १के पास ५से अधिक)। १० दुकानदार हैं। इनमेसे कुछके पास काली मिर्चके बग़ीचे भी हैं। बाक़ी मजूरी करके गुजारा करते हैं।

३० परिवार मोगमें (मछुआ)के हैं। इनके पास खेत नहीं हैं। इनका काम मछुआईका है और पासकी नदियोंके अलावा ये सात-आठ मील दूर समुन्दर तक उसकेलिए जाते हैं।

तीस परिवार मुवारी (पत्थरकट) लोगोंके हैं, एक तरहके नरम पत्थरका---जो

कुओं और दीवारोंके बनानेकेलिए इस्तेमाल होता है—काटना ही इनका का है। इनके पास खेत नहीं है।

आचारी (बढ़ई) ८ परिवार बेखेतके हैं और काम है बढ़ईका।

६० उन्नितिरी परिवार हैं, जिनमें एकके पास ५ एकड़से ज्यादा जमीन है औ ४ के पास ५ एकड़से कम। दो छोटे-छोटे जमींदार हैं, ६ शिक्षक। जो सुभीत ब्राह्मणोंको उन्नितिरियोंमें है, वही उन्नितिरियोंको नायरोंमें प्राप्त है। उन्नितिरि पति अपनी नायर स्त्रीके हाथका पानी नहीं पी सकता, लेकिन उसके हाथसे चूड़ा, पान और चाय ले सकता है। विवाहका चिह्न (मंगलसूत्र) उन्नितिरी लड़कीके तिरुअप्पाडसे कैसे लेना पड़ता है, इसके बारेमें हम अभी कह आए हैं।

गाँवमें ४ परिवार कोलया (अछूत) लोगोंके हैं। इनके पास कोई खेत नहीं हैं और गरीबी हद दर्जेकी है। चटाई-टोकरी बुनना उनका काम है। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि १३ फ़ीट लम्बी १० फ़ीट चौड़ी झोपड़ीमें १२ लड़के सयाने रह कैसे सकते हैं? नारियलके पत्तियोंका छप्पर था और दीवार भी टट्टीकी। ताले, दर्वाजेकी वहाँ जरूरत नहीं थी। घरमें चार-पाँच मिट्टीके बर्तन थे। जमा अन्न कुछ भी नहीं था। उस वक्त तीन बच्चे और उनकी प्रौढ़ा माँ घरपर थी। बाकी लोग गाँवसे दूर कहीं मजूरी करने गए थे। स्त्री टोकरी बना रही थी। एक दिनमें एक टोकरी तैयार होती है। फिर उसे वह आधसेर धान पर बेचेगी। उसीमें तीन बच्चे और खुद खायगी। सिर्फ एक शाम खाना मिलता है। यदि किसीने दया करके छोड़ दे दिया तो लड़कोंको कुछ और भी मिल जाता। आधसेर धानपर मुझे आश्चर्य प्रगट करते हुए देखकर स्त्रीने कहा—निराहार रहनेमें मुझे कोई हरा नहीं सकता। इसमें थोड़ासा गर्व भी था, लेकिन वह गर्व था आफ़त झेलते-झेलते पत्थर हो गए दिलका। उसके शरीरपर कमरसे नीचे सवा हाथ चौड़ा और तीन हाथ लम्बा सिर्फ एक कपड़ा था। बच्चोंको कपड़ोंकी कोई जरूरत ही नहीं समझी जाती।

करिवेल्लूर गाँवकी ५२००की आबादीके लिए २००० एकड़ खेत हैं, जिनमेंसे १२०० एकड़ धानके खेत हैं और बाकी बगीचे। गाँवके जमींदार बाहरके हैं और किसानोंका अधिकसे अधिक दोहन उनका काम था। जमीन उपजाऊ है। धानका खेत प्रति एकड़ (२८०३४½ वर्गगज) २५०० रु० में बिक जाता है और नारियलबाग़ प्रति एकड़ २००० रु० पर। यदि सारे खेतोंपर सभी लोगोंका अधिकार होता, तब भी गाँवके सभी व्यक्तियोंके खाने-पहिननेकेलिए काफ़ी नहीं था। ऊपर जमींदारोंकी [illegible] इजारा और दूसरी तरहके नाजायज कर और बेगारका भी बोझ था।

शताब्दियोंसे लोग इस जुल्मको सनातन समझकर सहते आए थे। १९३१-३२ के सत्याग्रहमें भाग लेनेवाले तरुणोंको जब गान्धीवादसे निराशा हुई और उन्होंने साम्यवादका रास्ता पकड़ा, तो उसकी गूँज करिवेल्लूर जैसे गाँवों तक पहुँची। उन्होंने समझा था कि यह जुलम सनातन है, क्योंकि हम उसे आँख मूँदकर सहते आए थे, अब हम नहीं सहेंगे और इस सनातनको खतम करके ही छोड़ेंगे। उन्हें चिरक्कलके राजा वेंगेलके जमींदार जैसे बड़े बड़े धनियोंसे मुक़ाबला करना था, जो कि सरकारके खैर-ख्वाह और कृपापात्र थे, पुलिस उनकी पीठपर थी, कानून और कचहरीको मोहनेका मन्त्र उनके पास था। भगवानपर इनके अगुओंका विश्वास नहीं था—आखिर भगवान जीते होते तो सदियोंसे यह मेहनतकश नरककी जिन्दगीको क्यों भोगते, और उनके खून-पसीनेकी कमाई पर गुलछर्रे उड़ानेवाली कामचोर जोंके छातीपर कोदो क्यों दलती ? धरती और आसमानकी सारी शक्तियोंसे उन्हें लड़ना पडा। पहिले थोड़ेसे लोगोंने हिम्मत दिखलाई, फिर दूसरोंके भी दिलमें आत्म विश्वास बढा और सालोंके संघर्षके बाद जमींदारोंको परास्त होना पड़ा। अभी जमींदारी प्रथा उठी नहीं थी, लेकिन उसका प्रभामंडल उड़ गया था, आमदनी भी कम हो गई थी, वह दम तोड़ रही-सी मालूम होती थी। करिवेल्लूर की जनता ने यह सब अपने बूते पर किया। यद्यपि अब भी वहाँ भूख है, मगर जिन तरुणोंपर विश्वास करके लड़कर उन्होंने अपने खोये हुए आत्मसम्मानको प्राप्त किया, कितने ही आर्थिक सुभीते लिए; उन्हींके वचनोंपर विश्वास करके वह आशा करते हैं, कि किसी दिन केरल अपने और गाँवको वह साम्यवादी बनाकर सुख और समृद्धिसे पूर्ण करेंगे। गाँवके धनी लोग पहिले विरोधी थे, मझोले किसान तटस्थ; मगर आज लाल करिवेल्लूरका कोई विरोधी नहीं हो सकता। ब्राह्मण, नायर, मुसलमान आदि भिन्न-भिन्न जातियोंसे आए ५३ पार्टी-मेम्बर अपने भीतर धर्म-जाति, छूत-अछूतका कोई भेद-भाव नहीं मानते, वे सगे भाईसे भी अधिक अपने साथियोंपर विश्वास रखते हैं।

करिवेल्लूरमें घूमनेकेलिए खेतोंकी सीमासे सीमा तक जाना पड़ेगा, क्योंकि कोई घर भी सौ गज़से कम दूर पर नहीं है। गाँवके केन्द्रमें पार्टी-कार्यालय नारियलोंके बागमें था। वह उनका राजनीतिक ही नहीं सांस्कृतिक केन्द्र था। उन्होंने अपने गाने बनाए, लेकिन पुरानी लय, नाच आदि को कायम रखा। आजकल (३० मार्च) पुरक्कली (तरुण नृत्य)का मौसम था। तरुण ताली बजाते और गाते हुए एक चक्कर में गाते हैं। पुराने जमानेमें नाचमें देवी-देवताओंका गान गाया जाता था, मगर आज ये गा रहे हैं, कयूरके वीरोंका गीत, जापानी और जर्मन जुल्मोंका गीत, लाल-संसारका गीत।

उस दिन रातको गाँवके तरुणोंने अपने कई गानों और नाचोंका प्रदर्शन किया। यद्यपि उनको पहिलेसे मेरे आनेकी खबर न थी, लेकिन सारा गाँव संगठित है, १५० वालंटियरोंमें ३६ गोरिल्लाकलाको सीखे हुए थे, क्योंकि समुद्रतटपर होनेसे मलबारको भी उतना ही खतरा था जितना सिलोनको। पहला नाच लड़कोंका था, कोलक्ली। यह सारे भारतमें दो लड़कियोंको बजाते हुए नाचा जानेवाला नृत्य है। फिर ७ से १० वर्ष तककी लड़कियोंने अपना कुम्मीनृत्य दिखलाया है, यह गरबाकी तरहका नृत्य है। गाना और नाचना दोनों होको बड़े सुन्दर तौरसे उन्होंने करके दिखाया। फिर फरी मारना और दूसरे शारीरिक व्यायामोंके बाद कितने ही तरुणोंने लाठी और तलवारके हाथ दिखाए और अंतमें पूरक्ली (नृत्य) दिखलाया। मैंने कामरेड टी० ग्री० कुंजीरामन (छोटूराम), का० मुजि-कृष्णनायर (सेक्रेटरी) और का० पी० कुंजिरामनको सांस्कृतिक प्रोग्रामकी सफलता-केलिए धन्यवाद दिया।

जातियोंकी सीढ़ी—नम्बूदिरी सबसे बड़े, उनमें भी जेष्ठपुत्र सबसे बड़ा, कनिष्टपुत्र और राजवंशी नायर-पुत्रीकी संतान (कोचीनके वर्मा) का नम्बर दूसरा आता है। तीसरा नम्बर है कोयतम्पुरनका जो कि ट्रावनकोरके राजाओंके पिता या भगिनीपति होते हैं। कोचीन राजवंशमें जो काम नम्बूतिरीका है, ट्रावनकोरमें वही काम कोयतम्बुरन करता है। वर्तमान ट्रावनकोरके राजा और उनके अनुज किसी कोयतम्बुरनके पुत्र हैं। उनकी बहन भी कोयतम्बुरन कुलमें ब्याही है। कोचीनकी तरह ट्रावनकोरमें भी राज्यका उत्तराधिकार सगे भाई और भगिनी-पुत्रोंके क्रमसे चलता है। वर्तमान ट्रावनकोर महाराजाके बाद उनके अनुज गद्दीपर बैठेंगे और उनके बाद छ बरसका उनका भगिनीपुत्र बैठता, जो हाल हीमें मर गया। ट्रावनकोरका राजवंश तम्पुरन है, जो कोयतम्पूरनसे एक सीढ़ी नीचे है। ट्रावनकोरके राजाको जनेऊका अधिकारी होनेकेलिए—अर्थात् क्षत्रिय बननेकेलिए—एक सोनेकी गायके पेटसे गुजरना पड़ता है, लेकिन यह हिरण्यगर्भ-क्रिया सिर्फ उसीको क्षत्रिय बनाती है, उसकी सन्तान या कुलको नहीं। तम्पुरनके बाद उन जातियोंका नम्बर है, जो मन्दिरोंके भिन्न-भिन्न अधिकारी होती आई हैं—जैसे तिरुमप्पाड़, नम्बीसन, उन्नित्तिरी, वारियर, माडार, कुरुप्प, पिशारडी, कुड़वाल। इनमें तिरुमप्पाड़ और नम्बीसन जनेऊ रखते हैं। सारे क्षत्रियोंको विध्वंस करनेवाले परशुराम अभी मरे नहीं हैं, उन्हींके डरके मारे उन्नित्तिरी चारे जनेऊको शरीरके बाहर न रखकर धोके साथ पेटमें रख लेते हैं। इनके

बाद नायरका नम्बर आता है। नायरोंके बाद मणियानी, वाणियों (तेली), चालिया (ततवा), थीया (कलाल या पासी), मोगयार (मछुवा), नाविदियर (नापित), वन्नतन (धोबी), चेट्टी (सुनार), आशारी (बढ़ई), कोल्लन् (लोहार), मुशारी (पीतलकार), चेम्बूटी (ताम्रकार), वन्नन् (भूतनर्तक), मलयल (भूतनर्तक), पुलेया (बसोर), चिरपूती (चमार), कणिसन (छत्रकार), माइल(टोकरीकार), आदि हैं। मलवारकी जातियोंमें अन्तिम चार जातियोंके अछूत और बाकियोंके छोटे-बड़े होनेका फ़तवा ब्राह्मणोंने खुद न देकर उन्हें आपसमें लड़नेकेलिए छोड़ रखा है।

जिस तरहका घोर अपरिवर्तनवादी धर्म और सामाजिक व्यवस्था मलावारमें अबतक संचालित हो रहा था अब उसकी जगह एक घोर परिवर्तनवादी विचारधारा और सामाजिक व्यवस्था ले रही है। मलावारमें इस नई धाराके वाहक हैं कम्युनिस्टपार्टीके दो हज़ार कर्मठ मेम्बर, जिनके त्याग और निर्भीकताकी प्रशंसा शत्रु भी करते हैं।

करिवेल्लूरसे मैं ३० मार्चको शामको रवाना हुआ। ६ मीलपर पय्यनूर बाज़ार आया। यहाँ भी स्वागतकेलिए जलूस तैयार था। फिर एक सभामें थोड़ा बोलना पड़ा। रातको मैं पार्टी-सेक्रेटरी नम्बियरके घरपर रहा। यह नायरवंशी थे, लेकिन माँकी तरफ़से पिता कोई नम्बूतिरी ब्राह्मण था। अगले दिन साढ़े नौ बजेकी गाड़ी पकड़ी। कालीकोड (कालीकट) स्टेशनपर तरुण कवि के० पी० जे० नम्बूतिरी मिले; उनके साथ ही मैं शोनोर गया। स्टेशनसे आध मीलपर भरतपुरा नदी है। यही ब्रिटिश मलवार और कोचीन राज्यकी सीमा है। पुल पार करनेपर चेरुत्तुरुत्ती गाँवमें पहुँचे। केरलके सर्वश्रेष्ठ कवि नारायण मेनन वेल्लतोल्ल यही रहते हैं। वेल्लतोल्लने बहुत-से महाकाव्य और खंडकाव्य लिखे हैं। आजकल उनकी अवस्था ६० वर्षसे ऊपर है, लेकिन अब भी वह अपने क्षेत्रमें तरुण हैं—उनके विचारोंका विकास बराबर होता गया है। वह सिर्फ़ काव्य हीके आचार्य नहीं है, बल्कि केरलकी प्राचीन नाट्यकलाको जीवित करनेमें उनका बड़ा हाथ रहा है। कथाकाली (मूकनृत्य)के वह एक माने हुए आचार्य हैं। संगीत और नृत्यकलाके उज्जीवनकेलिए उन्होंने एक कलामंडलकी स्थापना की है। वैयक्तिक नेतृत्वमें पीछे कलामंडलको शायद क्षति पहुँचे, यह ख्याल करके उन्होंने कलामंडल और ५० हज़ारकी निधि राज्यको सौंप दी, लेकिन राज्यके निर्जीव यंत्रमें पड़कर कलामंडलकी उन्नति क्या होती, उसका और ह्रास होने लगा। अब कितने ही कलाप्रेमी उनपर ज़ोर दे रहे हैं, कि

कलामंडलको फिर अपने हाथमें लें। कलामंडलका नाट्यागार आजकल सैनिकोंका निवास हो गया था। वेल्लतोल्लने १९०७ में वाल्मीकि रामायणका पद्यानुवाद किया था। उनके महाकाव्योंमें "चित्रयोगम्" एक है। कालिदासके अभिज्ञान-शाकुंतलके आधारपर उन्होंने "अच्छन मकलम्" नामक काव्य लिखा है, जिसमें शकुंतलाने अपने पिता विश्वामित्रकी बड़ी भर्त्सना की है—विश्वामित्रने मेनकासे सिर्फ शारीरिक सुखका संबंध रखा और पुत्रीकी जिम्मेवारी नहीं ली थी। कविको यह बात बहुत खटकी थी। मैं जब उनके घरपर पहुँचा, तो वह कहीं बाहर गए हुए थे। उनके पाँच पुत्रोंमें दो और तीन पुत्रियोंमें एक वहाँ मौजूद थी। कविकी वृद्धा स्त्री घर पर ही थीं। उन्होंने स्वागत किया। सारा परिवार संस्कृत है, पुत्रोंमें दो पार्टी मेम्बर हैं। वल्लतोल स्वयं पार्टीसे बड़ा प्रेम रखते हैं। शामको वह आए। कानसे बहुत कम सुनाई देता है, इसलिए बात करना आसान नहीं था, तो भी कुछ बातचीत हुई।

दूसरे दिन दोपहर बाद मैंने स्टेशनका रास्ता लिया। मैंने केरल छोड़ने वक्त (२अप्रैल) अपनी डायरीमें वहाँके बारेमें लिखा था—"केरलका सामाजिक विकास तल बहुत पिछड़ा हुआ है। २० वीं सदीतक मातृसत्ता रहनेका दुष्परिणाम तो होना ही चाहिए। ऊपरसे ब्राह्मणेतर सभी उच्चजातियोंकी लड़कियाँ ब्राह्मणोंके साथ यौन सम्बन्ध करनेकेलिए तैयार। यहाँ कुछ बातोंमें तिब्बतसे समानता है। हरेक (आदमी अतिथिसे) पिण्ड छुड़ानेकेलिए तैयार।"

गाड़ी पकड़नेमें भी बहुत मुश्किल हुई। भीड़ बहुत ज्यादा थी। अगले दिन (३ अप्रैल) ८ बजे सबेरे बंगलोर पहुँचा।

२. कर्नाटकमें (१९५४ ई०)—२६ मार्चको मैं बंगलोर होते ही केरल गया था, उस वक्त मुझे सिर्फ एक दिन रहनेका मौक़ा मिला था, और अब भी दो दिन (३-४ अप्रैल) ही यहाँ रह सका। गाँवोंमें जानेका मुझे मौका नहीं मिला। बंगलोर कर्नाटकका एक सांस्कृतिक केन्द्र है, बंगलोर शहर और छावनी लगी हुई बस्तियाँ हैं, जिनमें बंगलोर छावनी अंग्रेजी अधिकारमें है। वैसे ही यहाँकी छावनी बहुत बड़ी रही है, लेकिन आजकल तो सागरसे ऊपर सेना यहीं रहती है। यहाँ सैनिक अफ़सरोंका कालेज है, कई हवाई अड्डे हैं। एक शहरमें ३० के करीब सिनेमा हैं। कन्नड़ (कर्नाटकी) भाषाके लेखकोंमें काफ़ी संख्या प्रगतिशीलोंकी है। यहाँसे जाते वक्त साथी उपाध्याय और दूसरोंने वचन ले लिया था, कि इधरसे ही जाऊँ। ... गाड़ीमें सोनेका मौका नहीं मिला, इसलिए दिनके कई घंटे सोता रहा।

मैंने चाहा कि कोई कन्नड़-फ़िल्म देखूं। कन्नडका क्षेत्र संकुचित है, जहाँ तक फ़िल्मोंका सम्बन्ध है। उनकी माँग कम है। अतः बहुत कम फिल्म बने हैं। ३० के करीब सिनेमा घर हैं, लेकिन उनमें ज्यादातर हिन्दी फ़िल्म चलते हैं। जैसा कि मैं पहिले लिख चुका हूँ, हिन्दी फिल्मोंके द्वारा हिन्दुस्तानी संगीत और वेष-भूषाने दक्षिणपथ पर विजय प्राप्त कर ली है, अशोक और समुद्रगुप्तको क्षणिक सफलता मिली, हर्षवर्धनको तो हार खाकर भागना पड़ा, लेकिन उसी दक्षिणपथको हमारी सिनेमा-तारकाओंने अपने सौन्दर्य, वेष-भूषा हाव-भाव और कोकिलकंठसे मुग्ध कर लिया। शायद इस विजयसे हमारे दक्षिणवाले भाई नाराज नहीं होंगे। मालूम हुआ "पन्तुलम्मा" नामक तेलगू चित्रपट चल रहा है। कुमार नाट्याचार्यके साथ मैं वहाँ गया। चित्रपटका कथानक था—पन्तुलम्मा अनाथालयमें पली लड़की पढ़कर ग्रेजुयेट बनी, फिर म्युनिसपैल्टीके कन्याविद्यालयमें अध्यापिका हुई। चेयरमैन एक नम्बरका रिश्वतखोर और ऐयाश था, उसने पन्तुलम्माको फँसाना चाहा। वह पन्तुलम्माके इन्कार करनेपर उसे नौकरीसे निकाल देता है। परन्तु एक संगीतज्ञ ब्राह्मण तरुण पन्तुलम्माको शरण देता है, इसकेलिए उसका पिता वैदिक ब्राह्मण बेटेको घरसे निकाल देता है। तरुण-तरुणी जाकर अब किसी जगह अपना कालयापन करते हैं। माताके मरणासन्न होनेकी खबर सुनकर पुत्र देखनेकेलिए आता है, और उसे अछूतकी तरह बाहर भोजन दिया जाता है। वह खानेसे इनकार कर निकल पड़ता है। द्वारपर पन्तुलम्मा मिलती है। गाँववाले तरुणोंको खबर लगती है। वह तरुण-तरुणीका जय-जयकार मनाने लगते हैं, वैदिक पिता महाजनके घोषको सुनता है, और समझ जाता है कि अब उसका युग नहीं रहा, इसलिए वह नवयुगका स्वागत करता है, तथा पुत्र और पुत्रवधूको आशीर्वाद देता है। घोर रूढ़िवादके विरुद्ध दक्षिणमें जो प्रतिक्रियाएँ हो रही हैं, इस फ़िल्ममें उसका थोड़ासा परिचय था। दक्षिणके फ़िल्म-उत्पादक बाजारकी कमी, अतएव घाटेके डरसे फिल्मोंपर उतना रुपया नहीं खर्च कर सकते, जितना कि हिन्दी फ़िल्मोंपर होता है, इसलिए वह उतने अच्छे-अच्छे कलाकारोंको जमा नहीं कर सकते, तो भी वहाँ उच्च कलाकार नहीं हैं, यह बात नहीं है। स्वाभाविकता वहाँके फ़िल्मोंमें बहुत ज्यादा देखनेमें आती है, खासकर देहाती जीवन का। इसका कारण एक यह भी है, कि फिल्म अपने भाषा-क्षेत्रमें तैयार होते हैं, और भाषा भी किताबी नहीं, सजीव बोलचालकी होती है।

अगले दिन (४ अप्रैल) "वार्त्ता" (दैनिक पत्रिका) केकार्यालयमें कन्नड़-साहित्यिकोंसे वार्त्तालाप हुआ। उनमें अधिकांश प्रगतिशील लेखक थे। आजकी जीवित

भाषाओंमें कन्नड़का साहित्य हिन्दी (अपभ्रंश) और तामिलके बाद सबसे पुराना है। अभी भी यहाँकी कवितामें भाषा और काव्यशैली पुरानी बरती जाती है। हाँ कहानी और उपन्यास जरूर नए ढंगके लिखे जा रहे हैं। कन्नड़ प्रान्त भी चार-चार टुकड़ोंमें बँटा है—कुछ मदरास प्रान्तमें और कुछ बम्बईमें, फिर कितना ही हिस्सा मैसूर और हैदराबादकी रियासतोंमें है। आन्ध्रके साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ है, किन्तु तब भी आन्ध्रका बहुत सा हिस्सा एक जगह है। बिखरे होनेपर भी कर्नाटकोंकी पुरानी क्षमता अभी लुप्त नहीं हुई है। कांग्रेस-आन्दोलनमें वह महाराष्ट्रकी अपेक्षा भी आगे रहे हैं। कर्नाटकमें कम्युनिस्ट पार्टीका सन्देश बहुत पीछे पहुँचा है। अभी इसको साल भर भी नहीं हुआ, तो भी वहाँ १०० मेम्बर थे, जिनमें बहुतसे अपना सारा समय पार्टी कार्यकेलिए देते थे। हम बैठकसे लौट रहे थे। एक जगह १५,२० आदमी सड़कपर थे। उनके भीतर घुसते ही कुट्ट-सी आवाज आई, मैंने जेबकी ओर देखा तो शैफ़र(फ़ाउन्टेनपेन)ग़ायब थी। पीछे घूमकर देखता हूँ, एक लड़का तेजीसे भागा जा रहा है। मैंने जब तक साथीको बतलानेकी कोशिश की, तब तक वह और आगे चला गया। तो भी हमने जाकर उसे पकड़ा। लेकिन तब तक उसने क़लम किसी दूसरेके हाथमें देदी थी। पुलिस थाने तक लेकर गए, लेकिन फिर सोचा फ़जूलकी हैरानी है, क़लम तो मिलनेवाली नहीं है, और कल ही हमें यहाँसे चल देना है। वहीं उसे छोड़ दिया। शैफ़र अच्छी फ़ाउनटेनपेन होती है, और आज तो उसका दाम चौगुना पहुँचा था, लेकिन मैंने उससे चार-पाँच हजार पृष्ठकी किताबें लिखी थीं, इसलिए कह सकता हूँ, कि दाम सध गया था। वही कलम इलाहाबादमें वह हफ़्ता गुम रहकर मिली थी। मैंने उस वक्त सन्तोष कर लिया था। सबसे बड़ी मेरी फ़िलासफ़ी यह है, जो चीज चली गई, उसकेलिए फिर अफ़सोस नहीं करना। इस तरह पाकेटमें फ़ाउनटेनपेन रखनेमें चोरीका डर है—ऐसा उपदेश मैं बहुत बार सुन चुका

१०

बंबईमें (१९४४)

६ अप्रैलकी दोपहरको हम बम्बई पहुँच गए। अभी पासपोर्टका कोई ठौर-ठिकाना नहीं था। अपने बेकार समयको बरबाद करनेका ही सवाल नहीं था, बल्कि उस तरह रहनेपर चित्तके अवसादको रोका नहीं जा सकता। सर्दार पृथ्वीसिंह की जीवनी लिखना चाहता था, किन्तु अभी वह आन्ध्रसे लौटे नहीं थे। सोचा तब तक कालक्षेपकेलिए कुछ पढ़ना ही चाहिए। ताराशंकर वंद्योपाध्यायकी पुस्तक "पंचग्राम"हाथ लगी। पीछे उनका दूसरा उपन्यास "मन्वन्तर" पढ़नेको मिला। वह एक सिद्धहस्त कलाकार हैं, साथ ही कूटस्थ नित्य निर्विकार कलाकार नहीं, वह अपने आसपासकी परिस्थितियोंसे प्रभावित होनेको दूषण नहीं भूषण समझते हैं। "पचग्राम"में लेखकने बड़ी सफलतापूर्वक पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ीके संघर्ष, पुराने वैयक्तिक स्वार्थोंके साथ नये सामाजिक स्वार्थोंके संघर्ष, पुराने आचारोंके साथ नये आचारोंको चित्रित किया है। दृश्य और पात्र सभी गाँवके हैं। उनमें एक तरहकी स्वाभाविकता है। मैंने उसपर लिखा था—"सब मिलाकर अच्छा है, यद्यपि विश्वनाथके प्रति ग्रन्थकारको आशा नहीं दिलाना चाहिए था, जबकि उसे दो पंक्तियोंमें ही मार डालना था। देव भी विचारोंमें कच्चा ही रह जाता है।" "मन्वन्तर"के बारेमें लिखा था—"अच्छा उपन्यास—विजयदाके स्वाभाविक चित्र कनाईका धीरे-धीरे आगे बढ़ना, गीताका स्वाभिमान। नीलाका चित्रण बहुत अच्छा नहीं है, देवप्रसाद टिपिकल् लिबरल (उदारवादियोंका नमूना), गुणदाकी बीबी अर्थोडक्स (सनातनी) फिर भी गांधीभक्त।"

इन वक्त दिमाग़में ४ पुस्तकें चक्कर काट रही थीं—"हिन्दीकाव्यधारा" (अभी यह नामकरण नहीं हुआ था), "सरदार पृथ्वीसिंह", "भागो नहीं बदलो", "जय यौधेय"। तो भी किसी बड़े कामके ठाननेकी हिम्मत न होती थी। समझता था, यदि जल्दी ही पासपोर्ट मिल गया, तो काम अधूरा छोड़ना पड़ेगा। बम्बईमें अभी मैं पार्टीके मकानमें था, लेकिन खटमलोंके मारे रातमें सोना मुश्किल था। दो-तीन दिनके बाद मैं फिर छतपर सोने लगा। वहाँ खटमलोंसे जान बची। खटमलोंसे बड़े-बड़े देवता भी त्राहि-त्राहि करते हैं, तो मेरी क्या बिसात है—

"क्षीराब्धौ हि हरिः शेते हरः शेते हिमालये।
ब्रह्मा च पंकजे शेते मन्ये मत्कुण-शंकया॥"

१४ अप्रैलको मैं अपनी दक्षिण-यात्रापर एक लेख लिखवा रहा था, शान्ति (इन्द्रदीपकी पत्नी) लिख रही थीं। ३ बज गया था। आज हम लोगोंको आम्र-भोजकेलिए कहीं समुद्रके किनारे जाना था। महेन्द्र आचार्य आम खरीदने गये थे। एकाएक एक आवाज आई, और साथ ही धक्का लगा, भेड़े हुये किवाड़ खुल गये। मैंने समझा भूकम्प आ गया। दो-चार मिनट बाद फिर जोरका धक्का लगा। मुझे निश्चय हो गया कि भूकम्प है। हम चौथे महलेपर थे। सामने भी एक पच-महला मकान था। बीचमें खेतवाड़ी मेनरोडकी पतली-सी सड़क थी। यदि मकान गिरनेवाला होता, तो नीचे सड़कपर जानेसे बचनेकी कोई उम्मेद नहीं थी, क्योंकि दोनों मकान ऐसी-ऐसी तीन सड़कोंको ढाँक सकते थे। तो भी खिड़कीसे झाँककर देखा। नीचे लोग एक ओरको बड़े गौरसे देख रहे थे। हम भी नीचे उतरकर गये, देखा तो डॉक (बन्दर)की ओर आसमानमें बड़े जोरका धुँआ उठ रहा है। थोड़ी देर बाद एक प्रचंड धमाका और हुआ, और आसपासके सारे मकान गनगना गये। लोग बन्दरकी ओरसे भागते चले आ रहे थे। दो-तीन साथी जाँच करनेकेलिए निकले। मालूम हुआ कि बारूदमें आग लगनेसे जहाज उड़ गये हैं, और कितने ही आदमी मरे और घायल हुए हैं, मकानोंमें आग लग गई है। थोड़ी देर बाद वहाँसे लौटकर सुनील-जानाने बतलाया, कि बहुतसे आदमी घायल हुए; सड़कपर उन्होंने ऐसी लाश देखी है कि जिसका एक हाथ तो आदमीकी तरह था, बाकी शरीर माँसका पोपला ढेर बन गया था। अँधेरा होते होते मैं और इन्द्रदीप चले। सैन्डहर्स्टरोडपर चलते गए, लेकिन रेलके पुलके पास पहुँचने पर सिपाही ने उधर जानेसे रोक दिया। रातकी अँधेरीमें आगकी लाल-लाल लपटें बड़ी भयावनी मालूम होती थीं। एक गलीसे होकर सड़कपर पहुँचे। देखा रेलके उस पारके मकान धाँय-धाँय जल रहे हैं, और इस पारके चौमहले-पँचमहले मकानोंसे लपटें निकल रही हैं। लोग घर छोड़कर भाग गए थे। रेलवे सड़कके पासके गोदामोंमें सीमेंटे सहित किवाड़ भीतर इस तरह गिरा दिए गए थे, जैसे हजारों हाथियोंके बलवाले किसी पहलवानने दोनों बाजुओंसे दबाकर उन्हें नीचे गिरा दिया हो। खिड़कियोंमें शीशेका नाम नहीं; सड़कोंपर वह चूर-चूर होकर पड़े थे। मैं चप्पल पहनकर आनेकेलिए पछता रहा था। चारों तरफ़ घबड़ाहट थी, लेकिन कुछ स्वयंसेवक और सैनिक लोगोंको खतरेकी जगहसे निकालनेमें लगे हुए थे। सड़कों और फुटपाथोंपर लोगोंने

खड़ियामिट्टीसे लिख दिया था, कि शरणार्थियोंको किस जगह जाना चाहिए। रातको मैं छतपर सोया था, धुआँ तो अँधेरेमें क्या दिखाई देता, किन्तु ज्वाला बलती हुई लौ दूर तक दिखाई देती थी।

महेन्द्र जिस वक्त आमका मोल-भाव कर रहे थे, उसी समय धड़ाका हुआ था। वह आम लेना भूल गए और दूकानदार भी दूकान बन्द करने लगा।

पासपोर्ट और वीसाके मिल जानेके बाद लड़ाईके वक्त एक और बड़ी दिक्कत थी रुपएके बदलेमें विदेशी विनिमय पौंड लेना—सरकारके हुकुमके बिना आप एक पौंड भी नहीं पा सकते। पौंडके लिए मैं रिजर्व बैंकको लिखकर गया था। १८ अप्रैल को बैंकने कुछ बातें पूछी थी, जिन्हें बतला दिया गया। २२को मैं वहाँ गया तो बैंक्क वालेने कहा, आप पहिले डिफेन्स (सेना)-विभागसे बीबी बच्चे लानेके लिए इजाजत ले लें, तो हम पौंड देंगे। मैंने खर्चका विवरण देते हुए दर्ख्वास्तमें लिख दिया था कि सोवियत जाने और बीबी-बच्चोंके लानेकेलिए मुझे इतने पौंडोंकी जरूरत है। बीवी-बच्चे लानेकी बात लिखनेकी जरूरत नहीं थी, क्योंकि वह सवाल तो सोवियत जानेके बाद होता, लेकिन न जा सकनेपर पैसोंके भेजनेकी तो जरूरत पड़ती। बैठे बैठाए मैंने एक आफ़त और मोल ले ली। आज भी अंग्रेज अफ़सरोंका दिमाग कितना आसमानपर है, यह उस आदमीसे बात करते वक्त मालूम हुआ। उसका बर्ताव बहुत रूखा था, और साधारण शिष्टाचारका जवाब तक नहीं देना चाहता था, लेकिन यह उसका दोष नहीं था, दोष था हमारी गुलामीका।

बम्बईमें रहते जब तब मैं कोई फिल्म देखने चला जाया करता था। यहाँ दो फ़िल्मोंके बारेमें मैंने जो अपनी डायरीमें लिखा है, उसे उद्धृत करता हूँ—"रातको 'शुक्रिया' फ़िल्म देखने गए, अभिनय (अच्छा इस) में सन्देह नहीं, मगर सिर्फ गाने-नाचने और सौन्दर्यप्रदर्शनके ही बलपर इस फ़िल्मको दर्शकोंके मत्थे थोपा गया। बीसवीं सदीका स्वयंवर (है), जिसमें नीना (रमोला) सभी उम्मेदवारोंको इनकार कर देती है। अन्तिमको बिना देखे ही इनकार करनेपर वह 'शुक्रिया' कहता है। बुलानेपर नीना दो चपत लगाती है, फिर नायक कई चपत लगाता है। प्रेम हो गया शुरू। हीरो (नायक) परले दर्जेका ऐयाश (शराबी, रंडीबाज) है। वह एक वेश्यापुत्रीको धोखा देता है। (रुपयोंके लोभसे) नीनाके पिताने पुत्रीके पैदा होनेसे पहिले ही, लड़कीके सुन्दरके साथ ब्याह करनेपर सम्पत्तिका अधिकारी होनेका विल (वसीयत-नामा) लिखा था। सुन्दर गुरुके पाससे उल्लू होकर निकलता है। मनोहर (नायक) उसे बेवकूफ, ऐयाश बनाता है, जिसमें वेश्यापुत्री सहायक होती है।

चाल मालूम होनेपर मीना इनकार कर देती है; अन्तमें सुन्दर बच जाता है। सुन्दरके गुरुके आदर्शकी विजय होती है। कथानक बिलकुल विश्रृंखलित, निर्जीव और निरुद्देश्य है।"

अगले दिन (२० अप्रैल) मैंने "जमीन" फ़िल्म देखा। उसके बारेमें लिखा था—"इतने दिनों बाद यह एक हिन्दी फ़िल्म आया है, जिसकी तारीफ़ कर सकते हैं। वार्त्तालाप कमालका है, कौरवी उच्चारण लानेकी कोशिश की गई है, उसमें सफलता हुई है। कथानक भी सुसंबद्ध है, गहराई है,... अभिनयमें जो कुछ है, ध्वनि उससे दूर जाती है। नायिका (दुर्गा खोटे), दाढ़ीवाले और बहरेका पार्ट बड़ी सुन्दर रीतिसे अदा किया गया है। बहरेने तो गजब ढाया है। कथा है—भूकम्पसे दाढ़ीवाले और बाढ़-अकालसे नायिकाका गाँव नष्ट हो जाता है। पहिलेके पास दो बकरियाँ और दूसरेके पास एक गाय रह जाती है। दाढ़ीवाला जमीन पकड़ लेता है, नायिका भी गाय लेकर वहाँ पहुँचती है। दोनों नया जीवन आरम्भ करते हैं—किसानका जीवन। किसान कुछ समय बाद बकरियों और सामानको बेंचकर बहरेकी गाड़ीपर खेतीके सामान (हल, घर्रा..) लिए घर पहुँचता है, तीनों काममें लग जाते हैं। जमीनपर सरकारी अफ़सर आ धमकता है। पैसा देकर वह अपना काम करते हैं। वहाँ नमक देख पूँजीपति आ टपकता है। अब आफ़तें शुरू होती हैं। उस जमीनमें नमकके बाद ताँबा निकलता है। न बेंचनेका हठ करनेपर पूँजीवाला दस्तावेज चुराना चाहता है। नायिका उसे मार देती है। बड़ा पूँजीपति स्त्रीकी लड़ाई लड़ने और पुत्रको पढ़ानेका ढंग रचकर एहसान जतलाता है, लेकिन पैरवी नहीं करता। स्त्री बारह सालकेलिए जेल चली जाती है। लड़केको मारता पीटता है। वह जहाजपर निकल जाता है। नायिका छूटके आनेपर पुत्रको माँगती है। सेठ कहता है, वह विलायत पढ़नेकेलिए गया है। सेठकी लड़की (गुरुशीद) मोटर बिगड़ जानेसे रास्तेमें खड़ी है। दोनोंकी भेंट, दोनोंका परिचय, लेकिन तरुण घृणा करता है। वह माँ-बापसे मिलता है। बहरा शुरू होंगे सेठोंके जालका विरोधी है। लड़के लड़कियोंमें प्रेम। ताँबा खतम होने पर तेल निकलता है। लड़का सेठके हाथमें जमीन बेंचनेके लिए तैयार है, माँ असहमत। सेठ भी जनम-धरती बेंचनेके लिए ताना मारता है। लड़केकी आँखें खुलती हैं। सेठको जमीन छोड़नेकी बात नहीं जाती है। सेठ डाइनामाइट लगानेका हुकुम देता है। तरुण सेठके सारनबोर्डको फेंक देता है, जिस पर गुंडे सिर फोड़ देते हैं। अब सेठके मारनेके लिए भीड़ खाली है। तरुणी कन्या पिताका पता देनेसे इनकार करती है। तरुण उसे मारनेके लिए हाथ

बढ़ाता है। स्त्री पर हाथ छोड़ना कायरता है, कहकर माँ रोक देती है। सेठको जमीन छोड़नेकी शर्त पर अभयदान मिलता है। सेठ गाँवसे चलता है, लड़की भी चलना चाहती है। माँ यह कहते हाथ पकड़कर लौटा लेती है—बेटेको साथ लाई थी, अब उसे अकेला छोड़कर जाती है। (फिल्ममें) किसानोंका बर्ताव गंभीरतापूर्ण और स्वाभाविक। दाढ़ीवाला कुछ सीधा-साधा-सा, सेठ नृशंस। चीरहरणकी जगह कोई दूसरी ग्रामीण मनोरंजनकी चीज ला सकते थे। गाने अच्छे नहीं फोटोग्राफी भी दोषपूर्ण। योगीके अनुकूल भेस नहीं।"

शहरमें जगह बहुत कम थी, पार्टी-साथियोंकी संख्या बढ़ गई थी। दूर अँधेरी-में एक बँगला किराएपर लिया गया, जिसमें चालीस-पचास आदमी रह सकते थे। २२ तारीखको मैं भी साथियोंके साथ यहाँ चला आया। अँधेरीसे भी यह बँगला बिलकुल बाहर था, अच्छा बग़ीचा था। आस-पास भी आमोंके बाग और दूसरे बँगले एक दूसरेसे हटकर थे। साथियोंको अपने कामकेलिए रोज १० बजेसे पहिले ही शहर चला जाना पड़ता, लेकिन मुझे "सरदार पृथ्वीसिंह" लिखना था, इसलिए शहर जानेकी जरूरत नही थी। मैंने २४ अप्रैलसे "सरदार पृथ्वीसिंह" लिखाना शुरू किया और जौनपुर जिलेके तरुण ठाकुर भगवानसिंह बड़ी मुस्तैदीसे लिखते गए।

बीसाकी गड़बड़ी—२७ तारीखको पता लगा, कि भारत सरकारने पहिली शर्त हटा ली है, और ईरानका बीसा लेकर मैं वहाँ जा सकता हूँ। २६ अप्रैलको १० बजे बम्बई गया। भटकते-भटकते गामड़िया रोडपर ईरान कौन्सलके पास पहुँचा। पहलेके तजर्बेसे मैं समझ रहा था, कि बीसा लेना तो घंटे आध घंटेका काम है। एक साथीके पूछनेपर मैंने कह दिया था, ९९.९% मेरा जाना ठीक होगया। ईरान कौन्सलसे बातचीत करनेपर घोर निराशा हुई। उसने कहा, जब तक तेहरानसे सरकार इजाजत नहीं भेजती, तब तक हम बीसा नहीं दे सकते। इजाजत छ महीनेसे पहिले क्या मिलेगी ? ५ मईको रिजर्व बैङ्ककी चिट्ठी आई, कि वह १२५ पौंडका विनिमय देनेको तैयार है। ८ मईको मैं विनिमयकेलिए २००० का चेक ले आया। अगले दिन ईरान कौन्सलके पास दो फ़ोटोके साथ बीसाकी दरख्वास्त दे दी। उसने जल्दी इजाजत भेजनेकेलिए एक जवानी तार लिख दिया। मैंने उसे भी भेज दिया। अब मेरे पास पासपोर्ट था। कुछ दिनों बाद टामस कूकने १२५ पौंडका चेक भी दे दिया। लेकिन ईरानी बीसाकी इजाजतका आज (२७ सितम्बर) तक कहीं पता नहीं। ईरान कौन्सलने कह दिया था—कुछ पता नहीं कब तक इजाजत आयेगी। मैंने इस समयको पुस्तकें लिखनेमें लगानेका निश्चय किया। हमारे बँगलेमें खाना पकानेका

कोई इन्तज़ाम नहीं था, इसलिए अँधेरीमें वहाँ सरदार पृथ्वीसिहके घर चला आया और भाभी प्रभा तथा उनकी देवरानी (सरदार पृथ्वीसिंहकी अनुजवधू) दुर्गाके हाथकी मीठी-मीठी रोटियाँ खाते किताब लिखनेमें लग गया।

कनेरीकी गुफ़ामें—अँधेरीसे दूर कनेरीकी गुहाएँ (लेना) हैं। मैं उनका नाम सुन चुका था। भाभीने उन्हें कई बार देखा था। १० मईको सवेरे हम रेलसे बोरीविली गए। स्टेशनसे गुहाएँ ७ मीलपर हैं। रास्ता जंगल और पहाड़ीका है। बैलगाड़ी कुछ दूर तक जा सकती है, लेकिन वह आरामकी सवारी नहीं होती, इसलिए खानेकी चीजें साथ बाँधकर हम चल पड़े। रास्तेमें करौंदोंके बहुत दरख्त हैं, हिमालय और उत्तरी भारतमें मैंने जंगली करौंदे बहुत खाए थे, लेकिन वह बहुत छोटे-छोटे होते हैं और यहाँ थे कौड़ी कौड़ी भरके। हम जहाँ तहाँ करौंदा खाने लगते, लेकिन यह भी फ़िकर थी, कि धूप तेज होनेसे पहिले ही वहाँ पहुँचना है। १० बजेके क़रीब हम गुफ़ाओंके पास पहुँचे। अजन्ता और एलोरामें भी बहुत सी गुफ़ाएँ पहाड़ काटकर बनी हैं। एलोरामें तो कुछ दोमहले तिमहले प्रासाद सी मालूम होती हैं, लेकिन वहाँ गुफ़ाएँ पाँतीसे एक जगह पर हैं, कनारीमें गुफ़ाओंकी संख्या १०० से अधिक और एक मीलके घेरेमें है। वह पहाड़में जहाँ-तहाँ बिखरी हुई हैं। नम्बर तीन गुफ़ा एक विशाल चैत्यशाला है—कार्लेकी चैत्यशालासे भी बड़ी है। इसमें यहाँ रहनेवाले भिक्षु उपोसथके समय एकत्रित हुआ करते थे। सारी शाला पहाड़ खोदकर बनाई गई है। द्वारके बाँई ओरकी दीवारपर दो राजाओं और दो रानियोंकी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। राजाओंका शरीर सुपुष्ट और सुन्दर है, रानियोंके चेहरेपर सौन्दर्यके साथ साथ निर्भयता और स्वतन्त्रता झलकती है। बाहरवाले दो खम्भोंपर ईसाकी दूसरी शताब्दीके अक्षरोंमें विस्तृत शिलालेख है। लेख कहीं-कहीं खंडित हो गया है। इस गुफ़ाको किसी शातवाहन नरेशने बनवाया था। बाहर दो सिंह-स्तंभ हैं। सबसे बाहर एक लम्बा मैदान है, जहाँ चार-पाँच हज़ार आदमी बैठ सकते हैं। इस गुफ़ाकी दाहिनी ओर एक और अपूर्ण चैत्यशाला है, जिससे थोड़ा हटकर नम्बर एकवाली गुफ़ा है, जिसे भिक्षुओंके रहनेकेलिए इस्तेमाल किया जाता था। यहाँसे फिर हम आगेकी ओर बढ़े। नीचे-ऊपर पड़ते हुए हम गुफ़ाओंमें विचरने लगे। वैसे ये पहाड़ नंगे नहीं हैं, किन्तु यहाँ चश्मे नहीं दिखाई पड़ते। दर्शकोंको प्याससे बड़ी तकलीफ़ होती, लेकिन १८०० साल पहिलेके भिक्षुओंने पानीका बड़ा सुन्दर इंतिज़ाम किया है। प्रायः सभी गुफ़ाओंके नीचे बहुबच्चे खुदे हैं, और ऐसी नालियाँ बनी हुई हैं, जिनसे बरसातका सारा पानी इन बहुबच्चोंमें जमा हो जाता है। उस

समय यहाँ हज़ार बारह सौ आदमी रहते होंगे, और रोज नहाने पीनेका खर्च होगा, तो भी यहाँ पानीका टोटा नही रहता रहा होगा। पहिले पहल जब मैंने चहबच्चेके पास बैठकर पानीके काले रंगको देखा, तो समझा कि पीने लायक नहीं होगा; लेकिन जब लोटेमें निकाला, तो बड़ा साफ दिखाई पडा, साथ ही बहुत ठंडा भी। मईके महीनेकी गर्मीमें थके-माँदे प्यासे आए बटोहीकेलिए यह पानी वस्तुतः अमृत है। आज भी वहाँ सैकड़ों दर्शक आते-जाते है और इस अमृतको पीकर उन भिक्षुओंके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं। वैसे कार्ले, वेरूल (एल्लोरा), (अजन्ता) (अजिठा) आदि गुफाओंमें भी पानीका इन्तिज़ाम है, लेकिन इतना कदम कदम पर, और इतनी अच्छी तरहका इन्तिजाम कही नहीं है। गुफ़ाएँ पर्वतकी रीढ़ तक चली गई हैं। सभी जगह यही बात है। चौंतीस नम्बरकी गुफाके छतमें अब भी कुछ रंगीन चित्र है, जिससे मालूम होता है कि गुफाओंकी दीवारें और छतें सुन्दर चित्रोंसे चित्रित थी। यहाँ राजा शातवाहन गौतमीपुत्रके कालका एक लेख है। बुद्धकी कितनी ही कुर्सीपर बैठी, खड़ी या ध्यानावस्थित उत्कीर्ण मूर्तियाँ हैं। ७६वीं गुफ़ामें बाहरका खुला आँगन पत्थरमें खुदा है। अगल-बगलमें बैठनेकेलिए पतले चबूतरे, दाहिनी ओर जलकुंड है, बाईं ओरकी कोठरी शायद रसोईकी है। दो खम्भे और तीन द्वारोंका बराण्डा है, फिर एक द्वार, जिसमें कभी किवाड़ लगा रहता था, फिर चौड़ी संघशाला है, जिसके दो ओर पतले चबूतरे हैं। बाँई ओर किवाड़वाली दो कोठरियाँ है—किवाड़ अब नहीं हैं। दीवारोंमें अब भी कहीं कहीं पलास्तर दिखाई पड़ता है। बराण्डेमें दाहिने कुर्सीपर बुद्ध आसीन हैं, जिनके बाएँ भीतमें अवलोकितेश्वर और किसी देवीकी मूर्ति खुदी हुई है। ६७ वी गुफा उत्तराभिमुख है। यहाँसे घोड़बन्दरका समुद्र और पार्वत्य दृश्य बहुत सुन्दर मालूम पड़ते हैं। इसके बाहर भी पत्थर काटकर आँगन बना हुआ है, जिसकी दो तरफ पतले चबूतरे बने हुए हैं, और एक ओर जलाधानी। बारण्डा चार खम्भेवाला है, जिसके तीन तरफ़की दीवारोंमें मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जो ज्यादातर बुद्धकी हैं, और बुद्ध भी अधिकतर कुर्सीपर बैठे हुए हैं। दाहिनी ओरकी दीवारमें अवलोकितेश्वर हैं, जिनके साथ दो स्त्री-मूर्तियाँ हैं; यह तीनों मूर्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं। दरवाजेसे भीतर घुसनेपर एक वर्गाकार हाल (शाला) है। इसकी चारों दीवारोंपर मूर्तियाँ ही मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। मूर्तियाँ सुन्दर हैं, और उनके देखनेसे हम कुछ अनुमान कर सकते है, कि यहाँकी गुफाओंको कैसे चित्रोंसे अलंकृत किया गया था।

कनेरीमें बुद्धके बाद अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ ज्यादा हैं। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बौद्धकेन्द्र रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं। शातवाहन राजाओंने नासिक और

दूसरी गुफाओंके भिक्षुओंको बहुत दान दिए थे, बड़ी चैत्यशाला उन्हींका दान मालूम होती है। लेकिन दूसरी-तीसरी सदी के बाद भी शिलाहार राजवंश बौद्धसंघका भारी पोषक रहा। सबसे पीछेके प्लास्तरोंसे मालूम होता है, कि १० वीं ११ वी सदीमें भी यहाँ भिक्षु रहा करते थे। दूसरी सदीमें अवलोकितेश्वर जैसे महायानी बोधिसत्वोंकी मूर्तियाँ बनने लगी थीं, इसे पक्का नहीं कहा जा सकता, लेकिन अवलोकितेश्वरकी मूर्तियाँ हैं यहाँ ज्यादा। क्या यही तो वह प्रसिद्ध पोतलकपर्वत नहीं है, जो कैलासके शिवकी तरह अवलोकितेश्वरका निवासस्थान माना जाता था। ल्हासामें दलाई-लामाका प्रसिद्ध पोतला प्रासाद इसी प्रसिद्ध पोतलक पर्वतके नामपर बनाया गया।

१० बजेसे साढ़े ५ बजे तक हम गुफाओंको घूम-घूमकर देखते रहे। बीचमें सिर्फ थोड़ा भोजन और विश्रामके लिए बैठे। चलते चलते बहुत थक गए थे। मुझसे भी ज्यादा भाभी प्रभा थक गई थीं। साढ़े ८ बजे हम बोरीविली स्टेशन पर चले आए और गाड़ीसे अंधेरी पहुँच गए।

बंबईमें खटमलोंसे नाकमें दम था, और अंधेरीमें मच्छरोंकी भरमार थी। लेकिन मच्छरोंको मसहरीसे रोका जा सकता है, खटमलों और पिस्सुओंकी वैसी कोई दवा नहीं।

६ मईको मालूम हुआ, कि बीमारीके कारण गांधीजी छूट गए। सभी जगह लोग खुशी मना रहे थे। अभी तक तो मच्छरोंहीकी तकलीफ थी, अब गर्मीने जोर पकड़ा था। बंबईमें लू नहीं चलती, लेकिन रात-दिन कोई समय नहीं था, जब शरीर पसीनेसे चिप-चिप न करता रहा हो, सारे शरीरमें बारीक फुन्सियाँ निकल आई, मालूम होता था, सभ्यताने कपड़े पहना कर हम लोगोंका हित नहीं किया।

१७ तारीखको मैं टामस कुकसे चेक लेने गया था। देखा "कादंबरी" फिल्म दिखलाया जा रहा था। "वसंतसेना" और "शकुंतला" को देख चुका था। शूद्रक और कालिदास पर कैसे छुरी चलाई गई थी, यह अनुभव कर चुका था। सोचा, चलो "कादंबरी" को भी देख लें। देखनेके बाद मैंने डायरीमें लिखा था—"शकुंतला, कादंबरी और वसंतसेना तीनोंका फिल्म वालोंने कत्ल किया है, और बड़ी निर्दयताके साथ, जिसमें कादंबरीकी और बुरी गत बनाई है।... 'वागीश्वरं हन्त भजेऽभिनंद अर्थेश्वरं वाक्पतिराजमीडे। रसेश्वरं स्तौमि च कालिदासं बाणं तु सर्वेश्वरमानतोऽस्मि ॥' सर्वेश्वर बाणके साथ, जिसने कादंबरीके बहुतसे स्थलोंमें मानो दापरके ही लिए संकेत कर दिया है, यह अन्याय! फिर उसमें स्वतंत्रता मैंने देख, मानर,

घोड़ा, बन्दर, पंछीकी योनिमे गए वाणसे प्रार्थना करना !! गोया वाण आज भारत के ४० करोड़ोंमें नही है। महाश्वेता (वनमाला) का पार्ट सुन्दर है, मगर आततायियोंने उसे दासी जैसा बना डाला है। कादंबरीके भीतर स्वप्नमें प्रेम पैदा किया। आच्छोद-सरोवरका पता नही। पुंडरीककी दशाका वर्णन नही, कपिंजलका सौहार्द नहीं। मदगर्भित तर्जना। गंधर्वकुल गोया वेश्याकुल है, इसीलिए तो कामदेव कुलदेव है। हन्त! कादंबरीको कुछ भी नही समझा। कार्यव्यस्त डाइरेक्टर जो ठहरे!! लोकोत्तर बातें नही छोड़ी गई (वाणकी अदभुत कलासृष्टि पर जरूर स्याही पोती गई)। आच्छोद सरोवर या चन्द्रापीड़के जन्मसे शुरू कर सकते थे। कादंबरीके दूतके साथ महाश्वेता चंद्रापीड़को लेजाती। आश्चर्य तो यह कि चन्द्रापीड़ (वननेवाला पात्र) घोड़ेपर चढ़ना नही जानता। (वाणके इंद्रायुधकी जगह एक) मरियल घोड़ा था। (इन्हें) दैव-राजाका डर नही। पैसाधर्म, टकापंथ बुरा हो तेरा! भीड़ यदि सफलता की कसौटी है, तो वेश्या नृत्य कराओ, कोकशास्त्रके चित्र दिखाओ!! राम-कृष्णके चरित जैसी स्वतंत्रता अश्वघोष-कालिदास-भास-भवभूति-वाणसे नहीं ली जा सकती। दुनियाँमें लूटने खानेके और बहुतेरे स्थान है। सहृदयोंको चुप नहीं रहना चाहिए, इस अनधिकार चेष्टा और बलात्कार को देखते। आज फिल्म हमारे हाथमें नहीं थैलीशाहोंके हाथमें है, तो यह नहीं समझना चाहिए कि कल भी ऐसा ही रहेगा। इन टकापंथियोंको नंगा कर देना चाहिए। वह मृत-शवों पर नहीं चालीस करोड़ जीवितों पर प्रहार कर रहे है।"

५ मईको ही मैंने "पृथ्वीसिंह" को लिख डाला था, तो भी मैं कुछ दिनों तक वहाँ और इस इन्तज़ारमें बैठा रहा, कि बौंसा आजायेगा। लेकिन उसका कही ठौर ठिकाना नही था, इसलिए मैंने "हिन्दी काव्यधारा" में हाथ लगाना चाहा। मुनि जिन-विजय जीके परिश्रमसे भारतीय विद्याभवनमें पुरानी हिन्दी—अपभ्रंश—का काफ़ी साहित्य एकत्रित होगया है, इसलिए १८ मईको मैं वही चला गया। "हिन्दी काव्यधारा" के सिद्ध-सामन्त युगकेलिए सामग्री जमा करनी शुरू की। २५ मईको सी० आई० डी०का टेलीफ़ोन आया, जिसमें यह भी कहा गया था कि डेढ़ रुपएके स्टाम्पवाला दस्तावेज़ी कागज लेकर आएँ। हम लोग खूब मत्था-पच्ची करते रहे, लेकिन समझमें नहीं आया। जब कि सी० आई० डी० के इशारामात्रसे अनिश्चित कालतक केलिए जेलमें बन्द कर दिया जा सकता है, तो डेढ़ रुपएके दस्तावेज़ी कागजकी क्या जरूरत? हाँ, एक बातका और ख्याल आया कि शायद सी० आई० डी०का यह "अपना काम नहीं" है। यदि अपना काम होता, तो कोई खुद यहाँ हाज़िरी देने

आता। खैर, मैंने डेढ़ रुपएका कागज तो नहीं लिया, लेकिन साथी महेन्द्र जीको ले लिया कि जरुरत पड़नेपर कागज भी आ सकेगा। सी० आई० डी० अफ़सर चाहे हिन्दुस्तानी हो, चाहे अंग्रेज, बड़े भद्र पुरुष होते हैं—क्योंकि उन्हें मीठी फाँसी देनी होती है। वहाँ जानेपर मालूम हुआ, कि मैं जो बीवी-बच्चेको बुला रहा हूँ, उनके खर्च-वर्च—यहाँ रहने और बाहर भेजनेकी जिम्मेवारी मुझे लेनी होगी, इसीलिए डेढ़ रुपएके कागजपर दस्तावेज लिखना होगा। मैंने दस्तखत कर दिया, और छुट्टी मिली।

पुराने कवियोंकी कृतियोंको देखते-देखते मैं ८ वीं सदीके महान् कवि स्वयंभूके रामायण (प उ म-च रि उ) को पढ़ने लगा। मुझे पढ़ते-पढ़ते बहुत आश्चर्य और क्षोभ होने लगा। आश्चर्य इसलिए कि इतने बड़े महान कविको मैं जानता नहीं था—पिछले तेरह सौ वर्षोंके हिन्दी काव्य-क्षेत्रमें स्वयंभूके जोड़का कोई कवि नहीं हुआ—सूरदास और तुलसीदासको लेते हुए भी। मैं तो समझता हूँ, भारतीय वाङ्मयके १२ कवि-सूर्योंमें स्वयम्भू एक है। धीरे-धीरे मुझे ७६० से १३०० ई० तक के ४५ से ऊपर कवि मिले। लेकिन उनकी भाषा इतनी पुरानी है कि यदि सहायता न दी जाय, तो पाठकोंको समझना मुश्किल हो जायेगा। ८४ सिद्धोंके दोहोंके सम्पादन-केलिए मैंने पहिले ही एक बार सोचा था, जिस तरह प्राकृतमें संस्कृत-छाया देनेका रवाज है, उसी तरह अपभ्रंश-कविताओंकी हिन्दी-छाया दी जाय तो अच्छा है—अनुवाद नहीं केवल छाया, सिर्फ तद्भव शब्दोंकी जगह तत्सम शब्द रख कर। छाया बनाते वक्त मुझे यह भी पता लगा, कि यह अपभ्रंश जिस भाषासे सबसे अधिक नजदीक है, वह है कौसली (अवधी)—सौरसेनीकी रूढ़-धारणा मुझे गलत मालूम हुई।

जूनके मध्यमें पहुँचते-पहुँचते पेटकी शिकायत होने लगी, और हल्का-हल्का दर्द बढ़ते बढ़ते तेज होने लगा। बम्बईमें मुझे हमेशा शिकायत रही। पहिले तो वह ज्वर और सिर-दर्द भेजा करती थी, अबकी उसने पेटमें छुरी भोंकी। एकाध डाक्टरोंकी दवा की, उससे कोई फ़ायदा नहीं हुआ। जान पड़ा, उत्तरसे जाने वाले सभी बुद्धि-जीवियोंको यह बीमारी सताती है। कभी कभी रोगी ज्यादा सिद्धहस्त वैद्य साबित होता है। एक मित्रने एक विलायती नमक (एंड्रूसलीवर साल्ट) बतलाया। यह बीमारीको खतम नहीं करता था, लेकिन दर्द हो रहा हो, तो पानीमें इसे डालकर पी लेनेपर मिनटों ही घंटेकेलिए दर्द जाता रहता है। मुंबादेवीने हमला तो कर दिया था, लेकिन मुझे भी दवा मिल गई। मैं बंबईमें नहीं रहना चाहता था, लेकिन

"काव्यधारा" के कामको खतम करना जरूरी था, आगे दो हफ़्ता बंबईमें मैं इसी नमकके बलपर रहा। (तब मालूम नहीं था, कि यह मधुमेहकी घंटी है।)

यद्यपि हम अपने राष्ट्रीय प्रगतिमें जहाँके तहाँ थे, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें फ़ासिस्तों और फ़ासिस्तमनोवृत्ति वालोंको हारपर हार देखनी पड़ रही थी। साम्राज्य-वादियोंने यूरोपमें जर्मनोंके खिलाफ़ दूसरा मोर्चा न खुलनेकेलिए तरह तरहकी कोशिशें कीं, लेकिन जब देखा लालसेना जर्मन सीमापर पहुँच गई, तो डर मालूम होने लगा, कि यदि हमारे बीचमें कूदे बिना लालसेनाने हिटलरको पछाड़ दिया, तो हम कहीके न रहेंगे, इसलिए ६ जूनको अंग्रेज और अमेरिकन सेनाओंने फ़ासके तटपर उतरकर हिटलरके खिलाफ़ दूसरा मोर्चा खोल दिया। अब पीछे हटनेका सवाल नहीं था। एक जगह मुँह छिपाकर बैठनेकी भी बात नही थी। ३ दिन बाद खबर मिली कि बोदो-गलियो और इतालीके बादशाह भी बिदा हुए। इन गीदड़ोंने खाल रंगकर फिर अपना जूआ इतालियन जनताके ऊपर लादना चाहा था। चर्चिल भी इनके समर्थक थे, क्योंकि पूँजीपतियोंको डर था—यदि वैसा नही करेंगे तो इतालीसे भी पूँजीवादको हाथ धोना पड़ेगा। युगोस्लावियामें विलायती थैलीशाहोंकी नीति असफल रही, अब इतालीमें भी वह असफल हुई।

११ जूनको एक ऐसी बात सुनी, जिसे सुनकर मुझे आश्चर्य भी हुआ, और साथ ही इस ख्यालको बदलना पड़ा, कि दुनियाँमें भूले-भटके भी कोई ब्रह्मचारी मिल सकते हैं। मैं समझता था, कि शरीरसे असमर्थ न रहते भी शायद कोई आदमी यौन-संयोग-में रुचि न रखता हो, आखिर खानेकी भी कितनी ऐसी चीजें हैं, जिनको कोई-कोई आदमी पसन्द नही करता। लेकिन अब इस अपवादको छोड़ देनेकी जरूरत पडी। मैंने उस दिन अपनी डायरीमें लिखा था—"मेरेलिए यह बातें आश्चर्यकर नही हैं। (तो भी मैं कहूँगा कि) सहजयानी सिद्ध अधिक ईमानदार थे, यद्यपि दिव्यमंत्रका बहाना उनकी निर्बलता थी।" चौरासी सिद्ध स्त्री-पुरुषोंमें स्वच्छन्द सम्बन्धको चाहते थे, लेकिन वह ब्रह्मचर्यकी ढोल नहीं बजाते थे। यह हद दर्जेकी बेशर्मी है कि आदमी बात-बातमें ब्रह्मचर्यकी कसम खाए, उसपर पोथेपर पोथे लिखे और फिर भी चिराग तले अँधेरा रहे। हाँ, मैं यह मानता हूँ, कि धार्मिक जगतमें ऐसा हर जगह देखा जाता है।

११

प्रयागमें (१९४४ ई०)

काव्यधाराका काम समाप्त हो गया। दवाईके बल पर मैंने और बम्बईमें रहना नहीं चाहा, इसलिए ११ जुलाईको वहाँसे कलकत्तामेल पकड़ा। यद्यपि यह गाड़ी इसी स्टेशनसे चलती है, लेकिन आज-कल पहिले हीसे गाड़ी भर जाती है। मेरे दोस्त स्टेशनपर पहुँचाने आए। वह प्लेटफ़ार्मपर आती गाड़ीपर बैठ भी गए, लेकिन इसी बीचमें इतने आदमी भर गए कि अपनी जगह पहुँचना मेरेलिए मुश्किल हो गया। किसी तरह वहाँ पहुँचा, तो देखा बक्सका पता नहीं है। इसी बक्समें "काव्यधाराका" हस्तलेख था, इसलिए चिन्ता होनी जरूरी थी। बहुत ढूँढ़-ढाँढ़ करनेपर दूसरी पाँतीमें किसीके पैरके नीचे मिला। अब २६ घंटेकेलिए मुझे अपनी जगह अचल रहना पड़ा। जगह इतनी कमी हुई थी कि उठते ही लोगोंके शरीर ढीला करने हीसे वह भर जाती, फिर झगड़ा कौन मोल लेता। मैंने २२, २३ घंटे खानेकी तो बात ही क्या चाय भी न पी। जब गाड़ी मानिकपुरके पास पहुँचने लगी, तो चाय पी और कुछ आम खाए। १२ जुलाईको साढ़े १० बजे रातको प्रयाग पहुँचा।

"जय यौधेय"—भारतमें कभी जनसत्ता थी, राजाके बिना भी शासन होता था, यह बात इतनी विस्मृत हो गई थी, कि इस शताब्दीके आरम्भमें जब कुछ योरोपीय और भारतीय विद्वानोंने लिच्छवि (वैशाली), मल्ल आदि गणराज्यों (प्रजातन्त्रों) का जिक्र किया तो हमारे कितने ही शिक्षित आँख मल मलकर देखने लगे। उनका दिल विश्वास नहीं करता था, कि बिना राजाके भी कभी हमारे यहाँ राज चलता था। लेकिन धीरे-धीरे उनको कुछ गर्व जरूर होने लगा, क्योंकि उन्होंने देखा, कि जिस बातपर यूरोपवाले गर्व करते हैं, वह जनस्वातन्त्र्य यहाँ भी किसी समय मौजूद था। गणराज्यका नाम सिक्कों, पुराने शिलालेखों, पाली पुस्तकों तथा दो-चार और ग्रन्थोंमें आते ही आये, मगर जीवित जनतामें उसका कोई पता नहीं था, और ब्राह्मणोंका विशाल संस्कृत-साहित्य उसके बारेमें भयंकर चुप्पी साधे था। सिंहल जानेसे पहिले मैंने रीजडेविड्सकी पुस्तकमें वैशालीगणके बारेमें पढ़ा था। एकाध जगह और उसका जिक्र सुना था। साथ ही जैसा कि मैंने पहिले लिखा, रूसी लाल क्रान्तिके दोएक महीने बाद हीसे मेरे लिए सोवियत-व्यवस्था एक सर्वप्रिय आदर्श बन

गई थी—हाँ, इस व्यवस्थाके वारेमें में उस वक्त इतना ही जानता था, "उसमें घनीकेलिए स्थान नहीं। आदमी-आदमी सब वरावर हैं, काम करना सवका कर्तव्य है, और खाना-कपड़ा पाना सवका अधिकार।" इसके वाद में छ साल तक कांग्रेसकी क्रियात्मक राजनीतिमें भाग लेता रहा, जेलसे वाहर रहनेपर गाँवोंमें घूमता रहा; अव मेरे विचार और दृढ़ हो गये, कि हमें इस व्यवस्थाको हटाकर एक विल्कुल नई तरहकी व्यवस्था कायम करनी होगी। लंकामें जव त्रिपिटककी पोथियोंपर पोथियाँ उलटने लगा, तो वुद्धकालीन गणराज्य मेरे सामने साकार होकर खड़े होने लगे। मैंने चाहा, ये गण दूसरे भारतीयोंके सामने भी साकार होकर प्रकट हों, इसीलिए इतिहासके एक वड़े प्रभुताशाली लिच्छिवि (वैशाली) गणको लेकर मैंने दो साल पहिले "सिंह सेनापति" उपन्यास लिखा। लेकिन उससे पहिले जव मैं "वोलगासे गंगा"की 'सुपर्ण यौवेय' कहानी लिखने लगा था, उस वक्त भी ख्याल आया कि भारतके इस अन्तिम वैभवशाली गणराज्यको लेकर एक उपन्यास लिखा जाय। यह समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यका समय था, जिससे कि मैंने उपन्यासकेलिए चुना। उस कालकी साहित्यिक और पुरातात्त्विक सामग्रीका अध्ययन करते वक्त मुझे सुपर्ण यौधेयके वक्तकी अपनी धारणाएँ कुछ गलत मालूम हुईं, मैंने समुद्रगुप्तको यौधेयगणका उच्छेत्ता माना था, लेकिन अव मैं समझता हूँ, कि वस्तुतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यने यह महान (!) कार्य किया।

कुछ समय तो सामग्रीके संग्रह करनेमें भी लगा। फिर अव किसी लेखक-के ढूंढनेकी फ़िक्र पड़ी। यद्यपि जेलमें मैंने ६ ग्रन्थ और ८ छोटे-छोटे नाटक खुद ही लिखे थे, किन्तु वहाँ मजवूरी थी, दूसरे यह भी कि खुद लिखनेसे वोलकर लिखानेमें ज्यादा जल्दी होती है। जहाँ खुद एक दिनमें एक फ़ार्म लिखना कठिन है, वहाँ वोल-वोलकर लिखानेसे डेढ़-डेढ़ फ़ार्म लिखा जा सकता है, और शीघ्र-लेखक हो तो मैं समझता हूँ, "जय यौधेय"केलिए २१ दिन (२६ जुलाई–१६ अगस्त) की जरूरत नहीं पड़ती, वह चार-पाँच दिनमें खतम हो जाता। खैर, श्री सत्यनारायण दूवे सेठवी भूलते-भटकते प्रयाग पहुँच गये, और उन्होंने लेखनी सँभाली। मैंने पहिले "जय यौधेय" लिखवाया। लिखवाते वक्त वरावर यह ख्याल था, कि जिसी वक्त वीसाकी खवर आयेगी, उसी वक्त चलनेकी तैयारी कर दूंगा।

१६को "जय यौधेय" समाप्त हुआ। फिर मैंने दूसरी पुस्तक हाथमें ली।

"भागो नहीं दुनियाको बदलो"—अगले दिन (१७ अगस्त) से मैंने "भागो नहीं बदलो"में हाथ लगा दिया। मैंने मार्क्सवाद और राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं-

पर कितने ही ग्रन्थ लिखे, लेकिन वह ज्यादातर शिक्षित लोगोंके कामकी ही चीज है। मल्लिका (भोजपुरी) भाषाके ८ नाटकोंमें भी सरल भाषामें कुछ आवश्यक बातोंका प्रतिपादन किया, लेकिन उससे एक परिमित क्षेत्रके पाठक ही फ़ायदा उठा सकते हैं। हमें इस समाजको बदलकर एक ऐसे समाजकी स्थापना करनी है, जिसका आधार न्याय और मानव-भ्रातृभाव हो। यह काम शिक्षित संस्कृत समुदाय नहीं कर सकता, इस कामको वही कर सकते हैं, जो रात-दिन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक अत्याचारके शिकार हैं, वे हैं मजदूर और किसान, यदि अनुभव करें तो कुछ हद तक शिक्षितोंका निम्न वर्ग भी। लेकिन मजदूरों-किसानोंके समझनेकेलिए जो पुस्तक लिखी जाये, उसकी भाषा किताबी भाषा नहीं होनी चाहिए; इसीलिए मैंने अपनी इस पुस्तकमें भाषाका ढाँचा तो हिन्दी का रखा—क्रिया और विभक्तियाँ उसीकी रखीं, लेकिन शब्दोंके उपयोगमें मैंने यह ध्यान रखा, कि वह वही हों, जिन्हें कि अशिक्षित ग्रामीण नर-नारी बोलते हैं। मैंने उच्चारणमें भी उन्हींके उच्चारणको प्रमाण माना। पहिले यह काम कुछ कठिन मालूम हुआ, लेकिन आगे अभ्यास बढ़नेपर उसमें आसानी मालूम होने लगी। इस पुस्तकके लिखते वक्त मैंने देखा, कि ग्रामीण जनता ऐसे चार-पाँच सौ शब्दोंको बोलती है, जो अरबी-फारसीके हैं। हाँ, उसने हरेक शब्दको अपना उच्चारण दिया है। इन चार-पाँच सौ शब्दोंकेलिए जो संस्कृत प्रतिशब्द हिन्दीमें पड़ल्लेसे चलते हैं, उनको ग्रामीण लोग नहीं समझते। मैं हिन्दी-उर्दूकी जगह एक तीसरी कृत्रिम भाषा हिन्दुस्तानीका पक्षपाती नहीं हूँ। मैंने किसी भाषाके प्रचारकेलिए नहीं, बल्कि भावोंके प्रचारकेलिए इस पुस्तकको लिखा। १२ दिन (१७-२८ अगस्त)में यह पुस्तक भी खतम हो गई।

"मेरी जीवन-यात्रा"—इसे १९४०में लिखना शुरू किया था, लेकिन डायरियोंके न होनेसे आगे दिक्कत पड़ने लगी, और उसे वहीं छोड़ देना पड़ा। इस वक्त फिर समय मिला। २६ अगस्त क्या आज (२७ सितम्बर)भी ईरानी वीसेका कहीं पता नहीं है, इसलिए सत्यनारायणजीने फिर क़लम पकड़ी, और मैंने बोलना शुरू किया। जीवन-यात्राका आज तक (२८ सितम्बर १९४४)का भाग भी अब आपके सामने है।

वीसाका झगड़ा—दो-दो तार और एकसे अधिक चिट्ठियाँ ईरान सरकारके पास भेजी गईं। ६ मईको मैंने दरख्वास्त दी थी और २६ सितम्बरको वीसा आया। लोलाकी ११ मार्च (१९४४)की चिट्ठी आई, जिसमें उसने लिखा था—

...१५ जनवरी (१९४२)से ईगर हमारे घरके पासकी सार्वजनिक शिशुशाला-

में जाता है, यह शिशुशाला बहुत अच्छी है, मैं कितनी ही बार अफ़सोस करती हूँ कि तुम्हारे कहनेके मुताबिक मैंने पहिले ही क्यों नहीं उसे भेजा। यह ईगर और मेरे दोनोंकेलिए अच्छा है। १९४२में इसी (शिशुशाला) की मददसे ईगर बच सका, नहीं तो वह जिन्दा न रहता। इस वक़्त मेरे वासस्थान पर तापमान १०° सेन्टीग्रेड है।....मौजिजा है, जो मैं जिन्दा रही, मैं इस जीवित रहनेकेलिए ज़बर्दस्त आकांक्षाको कारण मानती हूँ।....१९४२के वसन्तसे लेनिनग्रादका जीवन अधिक बेहतर होता जा रहा है। पहिले मैं विश्वविद्यालयके पुस्तकालयके पूर्वी विभागकी डाइरेक्टर थी, फिर सारे विश्वविद्यालयके पुस्तकालयकी डाइरेक्टर बनाई गई। मुझे यूनिवर्सिटीमें एक अलग घर मिला। वर्त्तमान घरमें आना सम्भव नही था। उस समय ईगर वासिलियेव्स्की ओस्त्रोवकी सार्वजनिक शिशुशालामें जाता था।....ईगर खाँसीसे बीमार था।....पहिली अप्रैलसे मैं सार्वजनिक पुस्तकालयमें काम करती हूँ, और अपने पुराने घरमे रहती हूँ। ईगर भी पहिली शिशुशालामें जाता है। ईगर लम्बा छरहरा बच्चा है, लेकिन स्वस्थ है। इस जाड़ेमें वह बीमार पड़ गया था। मसूड़े, इनफ़्लुएन्ज़ा और फेफड़ेकी सूजन थी, मगर तो भी कमज़ोर नही मालूम होता। वह बहुत ही सुन्दर है। साथ ही चतुर, गम्भीर और मनोरंजक बच्चा है। वह कितना आकर्षक है, काश, कभी तुम इसकी कल्पना करते! वह अपने पितासे बहुत प्रेम करता है और बड़ी उत्सुकतासे तुम्हारे आनेकी प्रतीक्षा करता है। वह रोज़-रोज़ पूछता है—'कितने दिनोंमें पिता आयँगे?' जब वह अपनी माँको नाराज़ देखता है, तो कहता है—'मैं तुम्हें छोड़कर भारत चला जाऊँगा, और पितासे कहूँगा, कि तुम मेरे साथ कैसा वर्त्ताव करती हो।' तुम यह भी ख्याल करो कि वह अपने सारे खिलौनोंको भारत ले जायगा। उसने भारत चलनेकेलिए शिशुशालाकी डाइरेक्टर और नर्सको भी निमन्त्रण दे रखा है।.... दिनभर काम करके....मैं बहुत थकी घर लौटती हूँ। शामको मैं ईगरको शिशुशालासे लाती हूँ, कपड़ा निकालकर उसे नहलाती हूँ, फिर सुला देती हूँ। अतवारको ईगर अपना समय घरमें बिताता है। इसे वह कहता है—'मैं अपना समय माँके साथ बिताना और विश्राम करना चाहता हूँ।' लेकिन बहुत ही अफ़सोस होता है, कि अतवारको भी मैं बहुत थोड़ा समय दे सकती हूँ। मैं अपने घरके काममें व्यस्त रहती हूँ। काम है, धोना, सफ़ाई करना आदि। नवम्बरसे मेरी भतीजी (बहनकी बेटी) लोला मेरे साथ रहती है, लेकिन हम एक दूसरेसे ज्यादा नहीं मिलतीं, क्योंकि मैं बहुत काममें व्यस्त रहती हूँ, वह सारे दिन काम करती है। भाइयोंमेंसे

विदा करने आए थे। उनके लाल सलाम और तुमुल नारेको यात्री चकित दृष्टिसे देख रहे थे।

२८ को सवेरे ही ट्रेन अहमदाबाद पहुँची। वहाँ भी सैकड़ों साथी स्वागत-विदाईके लिए मौजूद थे। मेरा शरीर निर्बल था, पथ्यका कठोर पालन कर रहा था। अहमदाबादमें छोटी लाईनकी गाड़ी पकड़नी पड़ी, जो सीधे हैदराबाद (सिंध) जानेवाली थी। बीच-बीचमें ठहरनेके कई स्टेशनोंपर नामसे परिचित साथी मिलने आए। आबूरोडमें आये एक साथीसे पूछा—गुजरातकी सीमा कहाँ आरंभ होती है? उन्होंने आबूरोडसे कुछ पीछेके किसी स्टेशनका नाम लिया। उस वक्त किसे पता था, कि सर्दार पटेल उस सीमाको ढकेल कर और आगे बढ़ा देंगे और आबूके ठंडे पहाड़ी स्थानको गुजरातका ग्रीष्मावास बना छोड़ेंगे। किंतु, सर्दारका यह अन्याय-पूर्ण कार्य कबतक चलता रहेगा? अंतमें तो वही सीमा मानी जायगी, जो वास्तविक है—जिसे भाषा-भाषी बहुमत सिद्ध करता है।

मारवाड़-जंक्शनके पास बिजलीसे जगमगाती एक आधुनिक बड़ी मिल देखी। मालूम हुआ, आयकरसे भागती पूँजीकी यह करामात है। सामंती राजस्थानमें पूँजीपति अधिक करसे उन्मुक्त तथा शोषणके लिए स्वतंत्र है। मैंने "यत्र वैश्यश्च क्षत्रंश्च सम्यंचौ चरतः सह" लिखा—सामंतोंकी छत्रच्छायामें वैश्यवर्ग यहाँ अपनेको आधुनिक शक्तियोंसे सुरक्षित मानता है, यद्यपि कुछ ही समय पहले सामंतोंके इस गढ़में पदपदपर उसे अपमानित होनेका भय बना रहता था।

रातभर रेल मारवाड़के रेगिस्तानमें चलती रही। दिनमें चलनेपर अवश्य अधिक कष्ट होता। सवेरे हम सिंधमें थे। यहाँ झाड़ियाँ भी दीख पड़ती थीं, और रेतके टीले भी। नहर भी दिखाई पड़ी, किंतु आबादी कम होनेके कारण नहरोंका पूरा लाभ उठाया जाता नहीं दिखाई पड़ा। हाँ, सिंधुनदके हम जितना समीप पहुँचते जाते थे, उतनी ही नई बस्तियाँ, सिंधी कृषकके खेत अधिक होते जा रहे थे।

दोपहरको एक बजे बाद हमारी ट्रेन हैदराबाद पहुँची। यहाँ बड़ी लाइनकी गाड़ी पकड़नी थी। द्वितीय श्रेणीके डिब्बेका यही पता नहीं था, किसी तरह चलती गाड़ीमें इधरके दर्जेमें घुस पाए। विशाल नहर, सीमेंटके पहाड़ोंमें शरणार्थियोंकी बस्तियाँ आँखोंके सामनेसे गुजरते देखा। छ बजे सामकी कोटड़ी स्टेशन आया। क्वेटाकी गाड़ी तीन घंटे बाद जानेवाली थी, किंतु विश्वास होता था, कि सेकंड क्लासमें स्थान सुरक्षित करनेके ख्यालसे कोई लाभ होगा।

क्वेटासे आगे रोज-रोज ईरानकी गाड़ी नही जाती, इसलिए कोई रास्ता नही सूझ रहा था। एक बाबूने कहा—तीन रुपया दे दें, हम अभी स्थान सुरक्षित करवा देते हैं। वही करना पड़ा। रातके जगमगाते चिरागोंके प्रकाशमें सिंधुके पुलको पार करते सिंधुके महाबंधकी भी एक झलक पाई। उस समय किसको पता था, कि भारत लौटते समयतक यह भारतकी सीमासे बाहर हो जायगा।

३० अक्तूबर (मंगल) के सवेरे हमारी ट्रेन नंगे पहाड़ोंमें दौड़ रही थी। बोलन-दर्रा भी पार हुए और स्पेजंद होते डेढ बजे दोपहरको क्वेटा (५५०० फुट) पहुँचे। दो मनसे ऊपर सामान था, किंतु बलोची भारवाहकने सभी उठा लिया। "स्टेशनव्यु होटल' बहुत दूर नहीं था, और खाने रहनेका सात रुपया रोज भी अधिक नही था। पासपोर्ट हाथमें आजानेसे समझा था, मंजिल मारली; किंतु अभी हम ब्रिटिश-सीमाके बाहर नही थे। कस्टम कार्यालयमें गए। विदेशी व्यापार नियंत्रक (कंट्रोलर) को मुकदमा भी देखना पड़ता था। आज उससे भेंट नहीं हो सकी। कल ही सप्ताहमें एक बार छूटनेवाली ट्रेन जा रही थी। कार्यालयके बाबुओंने चीजोंकी सूचीके साथ आवेदन-पत्र देनेको कहा। फिर वही लाल फीता! कलकी गाड़ी न पा सप्ताह भर यही टिकनेकी नौबत थी। उन्होंने यह भी बतलाया, कि ग्रामोफोन, कैमरा आदि चीजोंको साथ ले जानेकी आज्ञा मिलनी कठिन है। अब यह भी फिक्र पड़ी, कि उन चीजोंको किसके हाथमें दें। १० सालसे साथ घूमते रोलै-फ्लेक्स कैमराको छोड़नेका मन नही करता था। भारतीजी का नाम मालूम था, किंतु वह इस समय क्वेटासे बाहर गए हुए थे। उन्हीके घरपर श्री चावला इंजीनियर मिले। सौ-पचासकी चीजें तो बेचकर कन्या पाठशालाको दे देनेके लिए समर्पित कर दी, किंतु कैमरेको अपने मित्र सर्दार पृथ्वीसिंहके पास बंबई भेजना था। कैमरा फिर नही लौटा, न चावला महाशयने सर्दारके पत्रोंका जवाब ही देना पसंद किया। कैमरोंका मूल्य उस समय बहुत चढा हुआ था, किंतु मुझे उसका ख्याल नहीं था, ख्याल था इस बातका, कि एक छोड़ बाकी सारी तिब्बत-यात्राओंमें वह मेरे साथ रहा, जापान, चीन और दो-दो बार रूस भी हो आया था।

कुछ चीजें खरीदनी थीं, किंतु जबतक जानेका दिन निश्चित न हो जाय, उन्हें खरीदकर पैसा फँसानेकी क्या आवश्यकता? ३१ अक्तूबर (मंगल) को साढ़े दस बजे कंट्रोलके पास गया। वह अँग्रेज अफसर होते भी सज्जन थे। लेनिन-ग्राद विश्वविद्यालयमें प्रोफेसर होकर जानेकी बातसे भी प्रभावित हुए थे। कैमरा, फिल्म, हैंडबेग, ग्रामोफोन रिकार्ड, फौंटेनपेनके अतिरिक्त बाकी चीजोंकी इजाजत

मिल गई। उन चीजोंको मैं चावला साहेबको सुपुर्द कर आया। रुपये अब भी कुछ पासमें थे, जिनमेंसे थोड़े हीको मैं अपने साथ ले जानेका अधिकार रखता था, इसलिए सर्दीसे रक्षाके लिए ७५ रुपयोंमें एक पोस्तीनका कोट तथा कुछ दूसरी चीजें खरीद लीं। खा-पीकर दो बजे दिनमें स्टेशन पहुँच गया। सप्ताहमें यहाँ एक ट्रेन ईरानकी ओर जाती है, इसलिए भीड़की शिकायत क्या हो सकती थी?. लेकिन अपनी द्वितीय श्रेणीकी सीट रिजर्व थी। कस्टमवालोंने सबका सामान खुलवाकर देखा, किन्तु मुझसे कुछ नहीं पूछा। खुफिया पुलिस और कस्टमवालोंका गठबंधन है, और पुलिसचर मेरे निरंतर सहचर थे, शायद उसीका यह लाभ था। लड़ाईके कारण कपड़े, जूते आदिका दाम भारतमें जितना बढ़ा था, ईरानमें यह उससे भी अधिक था। इसीलिए हर ट्रेनमें सैकड़ों आदमी चीजोंको सरहद पार करानेमें लगे थे। कस्टमवाले बहुत सतर्क थे, किन्तु छिपाकर पार करनेवाले भी कम होशियार नहीं थे। बहुतेरे तो नई सिल्की कीमती पोशाक और बूट डाटे हुए थे। यह जानते हुए भी, कि यह छोकरे कभी इतनी महँगी पोशाक नहीं पहन सकते, कस्टमवाले उनके शरीरपर बेढंगे पड़े उन कपड़ोंको उतरवा नहीं सकते थे।

चार बजे ट्रेन नंगे पहाड़ों, सूखी उपत्यकाको फाँदती आगे बढ़ने लगी। ह्वे-जंदसे आगे बढ़नेपर सूर्य अस्त हो गए। मैं भी अब निश्चिन्त सा था, जहाँतक भारतसे निकलनेका सवाल था, वह हल हो चुका था। महीनेका आरंभ था, ट्रेन पानी और रसद बाँटनेके अतिरिक्त वेतन भी बाँटती जा रही थी, इसीलिए जल्दी करनेकी कोई जरूरत नहीं थी।

पहिली नवंबरके सबेरे अब भी दालबंदी स्टेशनपर ट्रेन खड़ी थी। ढाई बजे दोपहरको नोककुंडी आई। आजकल पासमें एक गंधककी खानमें काम हो रहा था। खुले मैदानमें मालिकों गंधक लाकर ढेर कर रखी थी, जिसकी गंध अच्छी नहीं मालूम होती थी।

कस्टमवालोंको कंट्रोलरकी हस्ताक्षरित चिट्ठी मैंने दे दी। मेरा तो काम हो गया। किसीने न सामान देखना चाहा, न यही पूछा, कि आपके पास कितने भारतीय सिक्के हैं। एक सहयात्रीने कहा, हजार दो हजार रुपया ले जानेमें भी कोई हर्ज नहीं। नोककुंडी अंतिम देखभालका स्थान था, इसीलिए गाड़ी यहाँ चार घंटे खड़ी रही। कस्टमको चकमा देनेवालोंकी एक पूरी सेना ट्रेनमें भरे हुए थी। सीमाके दोनों पार बलोंची भागाभागी रहते हैं, सीमा भी छोटे छोटे नंगे पहाड़ों और सूखे मैदानोंकी है, जहाँ डर यदि है, तो केवल जलहीन मरुभूमि का। फिर ऐसी

जगह पासपोर्टके नियम कैसे लागू किए जा सकते थे ? नियमोल्लंघनपर महीने दो महीनेंकी सजा होती, जहाँ पचासके मालका ढाई सौ बन रहा हो, वहां इस सजाकी कौन परवाह करता ? कस्टमवाले इस डिब्बेमें तलाशीके लिए घुसते, तो चकमा देनेवाले दूसरे डिब्बेमें चले जाते। पहरेकी कड़ाई होनेपर उनमेंसे जो चढ़ने नहीं पाए, उन्होंने आगे धीमी गतिसे चलती गाड़ीपर अपनी जगह सँभाल ली।

सात साल पहिलेकी नोककुंडोकी बस्ती अब बढ़ गई थी, किंतु घर अधिकतर सरकारी थे। अभी यहाँ बहुतसे सिंधी हिंदुओंकी दुकानें थी। उस वक्त क्या मालूम था, कि चौंतीस मास बाद स्वदेश लौटनेपर यह पराया देश हो जायगा और यहाँ हिंदुओंका दर्शन दुर्लभ हो जायगा। रेल ठहरती मंद गतिसे चलती गई और ग्यारह बजे रातको हम सीमा पार करके ईरानी स्टेशन मीरजावा पहुँच गए।

समाप्त